

पूर्णतल्लगच्छीय श्रीशान्तिसूरिविरचित

# न्यायावतारवार्तिकवृत्ति

(न्यायावतारसूत्र-तद्वार्तिक-तदीयवृत्तिसमवेत-विश्रुतहिन्दीटिप्पण  
अनेकपरिशिष्ट-सुविश्रुत प्रस्तावना आदि बहुविषय-समलंकृत)

संपादक

श्री दलसुख मालवणिया

सरस्वती पुस्तक भंडार  
अमदावाद

**Saraswati Oriental Research Sanskrit Series No. 14**

**NYĀYĀVATĀRAVĀRTIKA-VṚTTI  
OF  
ŚRĪ ŚĀNTI SŪRI**

**CRITICALLY AND AUTHENTICALLY EDITED IN THE ORIGINAL SANSKRIT WITH AN  
ELABORATE INTRODUCTION, NOTES, INDICES ETC. IN HINDI**

**BY**

**PANDITA DALASUKHA MALWANIYA**  
(Former Head Pandita in Jaina Śāstra teaching at Benares Hindu University, Benares)

**SARASWATI PUSTAK BHANDAR  
AHMEDABAD**

*Published By :*  
**SARASWATI PUSTAK BHANDAR**  
HATHIKHANA, RATANPOLE  
AHMEDABAD - 380001  
Ph. 535 6692

FIRST PUBLISHED IN 1949 UNDER SINGHI JAIN SERIES NO.20  
BHARATIYA VIDYA BHAVAN, MUMBAI

**Reprint 2002**

**Price : Rs. 600/-**

---

*Printed at*  
**Himanshu Printers, Main Yamuna Vihar Road**  
**Maujpur, Delhi 110092**

पूर्णतल्लगच्छीय श्रीशान्तिसूरिविरचित  
**न्यायावतारवार्तिक-वृत्ति**

न्यायावतारसूत्र-तद्वार्तिक-तदीयवृत्तिसमवेत-विस्तृतहिन्दीटिप्पण-अनेक परिशिष्ट-सुविस्तृत  
प्रस्तावना आदि बहुविषय समलंकृत

संपादक  
पण्डित श्री दलसुख मालवणिया  
(पूर्व जैनशास्त्राध्यापक - हिंदु विश्वविद्यालय, बनारस)

**सरस्वती पुस्तक भण्डार**  
अहमदाबाद



प्रकाशक  
सरस्वती पुस्तक भण्डार  
११२, हाथीखाना, रतनपोल  
अहमदाबाद ३८०००१  
फोन ५३५ ६६९२

प्रथम संस्करण १९४९ सिंघी जैन ग्रन्थमाला सं० २० के अन्तर्गत  
भारतीय विद्या भवन, मुंबई द्वारा प्रकाशित

पुनर्मुद्रण सन् २००२

मूल्य ६०० रु.

---

मुद्रण  
हिमांशु प्रिन्टर्स, गली नं० १४, अनूप मार्किट  
मेन यमुना विहार रोड, मौजपुर, दिल्ली ११००९२

# ग्रन्थानुक्रमणिका ।

| प्रस्ताविकादि ।                                   | पृष्ठ            |   | पृष्ठ |
|---|------------------|---|-------|
| विषयानुक्रमणिका                                   | १-१७             | (४) त्याग्रादके अंगोंका प्राचीन रूप       | ४४    |
| संकेत परिचय                                       | १८-१०            | १ गद्य, आवेश या इष्टियों                  | ५०    |
| बाबू श्री बहादुरसिंहजी - सरणाश्रित                | ११-१८            | (१) द्रव्य, क्षेत्र, काक और भाव           | ५०    |
| ग्रन्थमाकासंपादकके 'कुछ प्रास्ताविक विचार'        | १९-२४            | (२) द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक             | ५२    |
| पं० श्री सुखकाकजीका 'आदिपान्थ'                    | २५-२७            | (३) द्रव्यार्थिक-प्रदेशार्थिक             | ५२    |
| संपादकीय वक्तव्य                                  | २८-३१            | (४) ओषादेश-विधानादेश                      | ५३    |
|   |                  | (५) व्यावहारिक और नैतिक गद्य              | ५४    |
|   |                  | ७ नाम स्थापना द्रव्य भाव                  | ५४    |
| <b>प्रस्तावना</b>                                 | <b>पृ० १-१०२</b> | [२] प्रमाणतत्त्व                          | ५६-८२ |
| <b>१ आगमयुगका जैनदर्शन</b>                        | <b>१-१०२</b>     | १ ज्ञानचर्चाकी जैनदृष्टि                  | ५६    |
| [१] प्रमेयतत्त्व                                  | १-५६             | २ आगममें ज्ञानचर्चाके विकासकी भूमिकाएँ    | ५७    |
| प्रास्ताविक                                       | १                | ३ ज्ञानचर्चाका प्रमाणचर्चासे स्वातन्त्र्य | ६२    |
| १ भगवान् महावीरसे पूर्वकी स्थिति                  | २                | ४ जैन आगमोंमें प्रमाणचर्चा                | ६३    |
| (१) वेदसे उपनिषद् पर्यन्त                         | २                | (१) प्रमाणके भेद                          | ६३    |
| (२) भगवान् बुद्धका अनात्मवाद                      | ६                | (२) प्रत्यक्षप्रमाणचर्चा                  | ६९    |
| (३) जैन तत्त्वविचारकी प्राचीनता                   | ९                | (अ) इन्द्रियप्रत्यक्ष                     | ७०    |
| २ भगवान् महावीरकी जैन अनेकान्तवाद                 | १०               | (आ) मोहनिवृत्तप्रत्यक्ष                   | ७०    |
| (१) विभिन्नविभिन्न पक्षयुक्त पुंरुकोक्तिका स्वप्न | १०               | (३) अनुमानचर्चा                           | ७३    |
| ३ विमज्जवाद                                       | १३               | (अ) अनुमानके भेद                          | ७३    |
| ४ अनेकान्तवाद                                     | १४               | (आ) पूर्ववत्                              | ७३    |
| (१) भगवान् बुद्धके अष्टाङ्गिक प्रश्न              | १४               | (इ) होपवत्                                | ७३    |
| (२) लोककी नित्यानित्यता सामान्यतया                | १६               | १ कार्येण                                 | ७३    |
| (३) लोक क्या है ?                                 | १७               | २ कारणेण                                  | ७३    |
| (४) जीव-वारीरका भेदाभेद                           | १७               | ३ गुणेण                                   | ७३    |
| (५) जीवकी नित्यानित्यता                           | १९               | ४ अवयवेण                                  | ७३    |
| (६) जीवकी सामान्यता-अनन्तता                       | २३               | ५ आशयेण                                   | ७३    |
| (७) भ० बुद्धका अनेकान्तवाद                        | २३               | (६) दृष्टसाधर्म्यवत्                      | ७४    |
| (८) द्रव्य और पर्यायका भेदाभेद                    | २५               | (७) काकभेदसे त्रैविध्य                    | ७५    |
| (अ) द्रव्यविचार                                   | २५               | (८) अवयव चर्चा                            | ७६    |
| (ब) पर्यायविचार                                   | २६               | (क) हेतुचर्चा                             | ७८    |
| (क) द्रव्यपर्यायका भेदाभेद                        | ३०               | (४) औपम्यचर्चा                            | ७८    |
| (९) जीव और अजीवकी एकानेकता                        | ३३               | १ साधर्म्योपनीत                           | ७८    |
| (१०) परमाणुकी नित्यानित्यता                       | ३२               | (अ) किञ्चित्साधर्म्योपनीत                 | ७८    |
| (११) नसि-नासिका अनेकान्त                          | ३३               | (आ) प्रायः साधर्म्योपनीत                  | ७९    |
| ५ त्याग्राद और सप्तभंगी                           | ३५               | (इ) सर्वसाधर्म्योपनीत                     | ७९    |
| (१) अंगोंका इतिहास                                | ३६               | २ वैषम्योपनीत                             | ७९    |
| (२) अवक्तव्यका स्थान                              | ४०               | (अ) किञ्चिद्वैषम्य                        | ७९    |
| (३) त्याग्रादके अंगोंकी विशेषता                   | ४१               | (आ) प्रायोवैषम्य                          | ७९    |
| न्या० § १   |                  | (इ) सर्ववैषम्य                            | ७९    |

|                                      | पृष्ठ  |  | पृष्ठ |
|--------------------------------------|--------|--|-------|
| (५) भागमचर्चा                        | ७९     | [ १ ] प्रमेयनिरूपण                       | १०४   |
| (अ) लौकिक भागम                       | ७९     | १ तरव, अर्थ, पदार्थ, तरवार्थ             | १०४   |
| (आ) लोकोत्तर भागम                    | ८०     | २ सत्का स्वरूप                           | १०४   |
| [ ३ ] जैन आगमोंमें वाद् और वादविद्या | ८२-१०२ | ३ द्रव्य, पदार्थ और गुणका लक्षण          | १०६   |
| १ वादका महत्त्व                      | ८२     | ४ गुण और पदार्थसे द्रव्य विद्युक्त नहीं  | १०७   |
| २ कथा                                | ८६     | ५ काकद्रव्य                              | १०८   |
| ३ विवाद                              | ८७     | ६ पुद्गलद्रव्य                           | १०८   |
| ४ वाददोष                             | ८८     | ७ इन्द्रियनिरूपण                         | ११०   |
| ५ विदोषदोष                           | ८९     | ८ असूक्ष्मद्रव्योंकी एकत्रावगाहना        | ११०   |
| ६ प्रश्न                             | ९०     | [ २ ] प्रमाणनिरूपण                       | ११०   |
| ७ छलजाति                             | ९१     | १ पंच ज्ञान और प्रमाणोंका समन्वय         | ११०   |
| ( १ ) यापक                           | ९१     | २ प्रत्यक्ष-परोक्ष                       | १११   |
| ( २ ) स्थापक                         | ९२     | ३ प्रमाणसंख्यान्तरका विचार               | १११   |
| ( ३ ) व्यसक                          | ९३     | ४ प्रमाणका लक्षण                         | ११२   |
| ( ४ ) छलक                            | ९३     | ५ ज्ञानोंका सहभाव और व्यापार             | ११२   |
| ८ उदाहरण-ज्ञात-दृष्टान्त             | ९५     | ६ मति-श्रुतका विवेक                      | ११२   |
| ( १ ) आहरण                           | ९५     | ७ मतिज्ञानके भेद                         | ११३   |
| ( १ ) अपाय                           | ९५     | ८ अवग्रहादिके लक्षण और पदार्थ            | ११४   |
| ( २ ) उपाय                           | ९६     | [ ३ ] नयनिरूपण                           | ११५   |
| ( ३ ) स्थापनाकर्म                    | ९६     | प्रास्ताविक                              | ११५   |
| ( ४ ) प्रत्युरपक्षविनाश              | ९७     | १ नयसंख्या                               | ११५   |
| ( २ ) आहरणतद्देश                     | ९७     | २ नयोंके लक्षण                           | ११६   |
| ( १ ) अनुचासि                        | ९७     | ३ नई विचारणा                             | ११६   |
| ( २ ) उपाकम्भ                        | ९७     | ( ब ) आचार्य कुन्दकुम्भकी जैनदर्शनको देन | ११७   |
| ( ३ ) धृष्टता                        | ९८     | प्रास्ताविक                              | ११७   |
| ( ४ ) निष्ठावचन                      | ९८     | [ १ ] प्रमेयनिरूपण                       | ११९   |
| ( ३ ) आहरणतद्दोष                     | ९९     | १ तरव, अर्थ, पदार्थ और तरवार्थ           | ११९   |
| ( १ ) अवर्मेयुक्त                    | ९९     | २ अनेकान्तवाद                            | ११९   |
| ( २ ) प्रतिकोम                       | ९९     | ३ द्रव्यका स्वरूप                        | १२०   |
| ( ३ ) आत्मोपनीत                      | ९९     | ४ सत्-द्रव्य=सत्ता                       | १२०   |
| ( ४ ) धुरुपनीत                       | १००    | ५ द्रव्य, गुण और पदार्थका समन्वय         | १२१   |
| ( ४ ) उपपन्थास                       | १००    | ६ उपाद-भय-भौष्य                          | १२२   |
| ( १ ) तद्द्रव्यपन्थास                | १००    | ७ सत्कार्यवाद-असत्कार्यवादका समन्वय      | १२३   |
| ( २ ) तद्द्रव्यवस्तूपन्थास           | १०१    | ८ द्रव्योंका भेद-अभेद                    | १२४   |
| ( ३ ) प्रतिनिभोपपन्थास               | १०१    | ९ साक्षात्                               | १२५   |
| ( ४ ) हेतूपपन्थास                    | १०१    | १० मूर्तामूर्तविवेक                      | १२५   |
| २ आगमोत्तरसाहित्यमें जैनदर्शन        |        | ११ पुद्गलद्रव्यव्याख्या                  | १२५   |
| पृ० १०३-१४१                          |        | १२ पुद्गलस्कन्ध                          | १२६   |
| प्रास्ताविक                          | १०३    | १३ परमाणुचर्चा                           | १२६   |
| ( अ ) वाचक उमास्वातिकी देन           | १०३    | १४ आत्मनिरूपण                            | १२७   |
| प्रास्ताविक                          | १०३    | ( १ ) तिथय और व्यवहार                    | १२७   |

|   | पृष्ठ     |
|---|-----------|
| (२) बहिराभा-भन्तरारमा-परमात्मा                          | १२८       |
| (३) परमात्मबोधनार्थं सम्प्रत्यक्ष                       | १२८       |
| (४) जगत्कर्तृत्व  | १२९       |
| (५) कर्तृत्वाकर्तृत्वविशेष                              | १२९       |
| (६) शुभ-अशुभ-शुद्ध अव्यवसाय                             | १३०       |
| १५ संसार चरीत   | १३०       |
| १६ दोष चरीत   | १३१       |
| १७ सेवज्ञान   | १३३       |
| [ प्रमाण खर्चा ]  | १३४       |
| प्रस्ताविक  | १३५       |
| १ अद्वैत रहि  | १३५       |
| २ ज्ञानकी स्व-परमकायकता                                 | १३५       |
| ३ सम्प्रत्यक्ष ज्ञान                                    | १३६       |
| ४ स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान                           | १३६       |
| ५ प्रत्यक्ष-परोक्ष                                      | १३६       |
| ६ ज्ञानिका सात्विक                                      | १३७       |
| ७ ज्ञानदर्शन योगपथ                                      | १३७       |
| ८ सर्वज्ञका ज्ञान                                       | १३७       |
| ९ मतिज्ञान  | १३८       |
| १० सुलक्षण  | १३९       |
| [ ३ ] नयनिरूपण  | १३९       |
| १ व्यवहार और निश्चय                                     | १३९       |
| २ आचार्य-सिद्धसेन                                       | १४१       |
| १ सिद्धसेनका समय  | १४१       |
| २ सिद्धसेनकी प्रतिभा                                    | १४२       |
| ३ सम्मतितर्कमें अनेकान्त स्थापन                         | १४२       |
| ४ व्याख्यातारमें जैनव्यायसाक्षकी नींव                   | १४४       |
| ४ वार्तिकके कर्ता                                       | १४५       |
| ५ ज्ञानत्याचार्य और उनका समय                            | १४६       |
| १ वार्तिक और वृत्तिके कर्ता शास्त्रा-<br>चार्य          | १४९       |
| २ समय   | १५०       |
| सुविषय  | १५२       |
| *   |           |
| १ न्यायावतारसूत्रम् ।                                   | पृष्ठ १-४ |
| कारिका १ प्रमाणस्य कक्षणं विभागश्च ।                    | १         |
| २-३ प्रयोजनादङ्गा तन्निराकरणं च ।                       | "         |
| ४ प्रत्यक्षपरोक्षयोः कक्षणे ।                           | "         |
| ५ अनुमानस्य कक्षणं अज्ञानपरत्वं च ।                     | "         |
| ६ प्रत्यक्षस्य अज्ञानत्वम् ।                            | "         |
| ७ सकलप्रतिभासस्य आन्तरत्वनिर्देशः,<br>प्रमाणसिद्धिश्च । | "         |

|   | पृष्ठ |
|---|-------|
| ८ शाब्दस्य कक्षणम् ।                          | २     |
| ९ शाब्दस्य कक्षणम् ।                          | "     |
| १० परार्थमानस्य कक्षणम् ।                     | "     |
| ११ प्रत्यक्षानुमानयोः परार्थमानस्य ।          | "     |
| १२ परार्थप्रत्यक्षस्य कक्षणम् ।               | "     |
| १३ परार्थानुमानस्य कक्षणम् ।                  | "     |
| १४-१६ पक्षस्य कक्षणम्, प्रक्षप्रयोगसमर्पणम् । | "     |
| १७ हेतुप्रयोगविधिः ।                          | "     |
| १८ साधर्म्यदृष्टान्तस्वरूपम् ।                | ३     |
| १९ वैधर्म्यदृष्टान्तस्वरूपम् ।                | "     |
| २० बहिष्कारादिप्रदर्शनं व्यर्थम् ।            | "     |
| २१ पक्षाभासनिर्देशः ।                         | "     |
| २२ हेतुहेतुभासयोर्विशेषः ।                    | "     |
| २३ हेतुभासनिर्देशः ।                          | "     |
| २४ साधर्म्यदृष्टान्ताभासप्रदर्शनम् ।          | "     |
| २५ वैधर्म्यदृष्टान्ताभासप्रदर्शनम् ।          | "     |
| २६ कृष्ण-बुधणाभासयोर्विशेषः ।                 | "     |
| २७ पारमार्थिकप्रत्यक्षम् ।                    | "     |
| २८ प्रमाणकक्ष्य निर्देशः ।                    | ४     |
| २९ प्रमाणनयनोर्विषयव्यवस्था ।                 | "     |
| ३० व्याप्तादक्ष्यनिर्देशः ।                   | "     |
| ३१ प्रमादुल्लेखः ।                            | "     |
| ३२ ग्रन्थोपसंहारः ।                           | "     |
| २ न्यायावतारसूत्रवार्तिकम् ।                  | ५-१०  |
| १ सामान्यलक्षणपरिक्रमेणः ।                    | ५-६   |
| कारिका १ अभिधेयप्रयोजनाभिधानम् ।              | ५, ११ |
| २ प्रमाणस्य कक्षणं विभागश्च ।                 | " १३  |
| ३ सन्निकर्षादिप्रमापथम् ।                     | " १४  |
| ४ प्रमापथस्वरूपम् ।                           | " १४  |
| ५ स्वसंवेदनसिद्धिः ।                          | " १७  |
| ५ क० असाधितत्वसमर्पणम् ।                      | ५, २३ |
| ६ वेदादीनामप्रमापथम् अद्वैतस्य<br>प्रमापथम् । | " २८  |
| ७ वचसोऽपौरुषेयत्वनिर्देशः ।                   | ६, २९ |
| ७ ईश्वरकर्तृत्वसाधनस्य हेतुभासत्वम् ।         | " ३८  |
| ८ क० प्रकृत्यन्तरविज्ञानस्याप्रामाण्यम् ।     | " ४४  |
| ९ उ० सर्वज्ञज्ञानोपापमिर्षाः ।                | " ४५  |
| १० उ० जीवसिद्धिः ।                            | " ४५  |
| ११ उ० सर्वसिद्धिः ।                           | " ५१  |
| २ प्रत्यक्षपरिक्रमेणः ।                       | ६-८   |
| कारिका १२ उ० प्रत्यक्ष-परोक्षकथनेनैकैविध्यम्  | ६, ६० |

|  | पृष्ठ    |
|--|----------|
| १४ प्रमेयद्वैविध्यस्य प्रमाणद्वैविध्यम्                    | ६, ६१    |
| १४ ड० सादृश्यस्य पृथक् प्रमेयत्व-<br>निषेधः ।              | ॥ ६२     |
| १५ अर्थापरवभाषयोः पृथक् प्रामाण्य-<br>निषेधः ।             | ॥ ६२     |
| १६ ड० अभावस्य पृथक् प्रमेयत्व-<br>निषेधः ।                 | ७, ७३    |
| १७ प्रत्यक्षप्रमाणविभागः ।                                 | ॥ ७३     |
| १७ ड० वैशाल्यलक्षणम् ।                                     | ॥ ७३     |
| १८ इन्द्रियजानिन्द्रियजप्रत्यक्षयोः<br>लक्षणे ।            | ॥ ७६     |
| १९ अनिन्द्रियप्रत्यक्षे मतभेदाः ।                          | ॥ ७७     |
| २० ज्ञानयोग्यपक्षसमर्थनम् ।                                | ॥ ७७     |
| २१ योगजलक्षणम् ।   | ॥ ७८     |
| २२ विषयव्यवस्था ।  | ॥ ७८     |
| २३ विज्ञेयेण प्रत्यक्षपरोक्षयोः<br>विषयव्यवस्था ।          | ॥ ७८     |
| २४ विज्ञानवाद-धूम्रवादयोः समर्थनम् ।                       | ७९       |
| २५ सत्तिरासः ।   | ॥ ८०     |
| २६ प्रत्यक्षार्थयोः लक्षणे ।                               | ॥ ८०     |
| २६ ड० सामान्यस्वरूपम् ।                                    | ॥ ८१     |
| २७ सन्निकर्षकज्ञानस्वरूपम् ।                               | ॥ ८१     |
| २८ प्रत्यक्षेणेव प्रत्यक्षस्य कल्पनाज्ञानत्वं<br>सिद्धम् । | ॥ ८२     |
| २९ बौद्धसमर्थितः स्वौल्यनिषेधः ।                           | ८, ८३    |
| ३३ स्वौल्यस्वरूपनिर्णयः ।                                  | ॥ ८३     |
| ३२ रज्जुद्वयप्रतिभासे कल्पनाविरह इति<br>बौद्धाशंका         | ॥ ८४     |
| ३३ सन्निकर्षस्वरूपप्रदर्शनेनोक्त-<br>शंकान्तिरासः ।        | ॥ ८४     |
| ३४ अनेदसिद्धिः   | ॥ ८४     |
| ३५ अवादा-व्यय-भ्रौम्यात्मक-वस्तुसिद्धिः ।                  | ॥ ८७     |
| ३६ प्रतीत्यात्मकप्रतिपादनम् ।                              | ॥ ९४     |
| ३ अनुमानपरिच्छेदः ।  | ८-१०, ९५ |
| कारिका ३७ परोक्षप्रमाणस्य विषय-<br>व्यवस्थापनम् ।          | ८, ९५    |
| ३७ ड० परोक्षप्रमाणस्य फलव्यवस्था ।                         | ॥ ९९     |
| ३८ परोक्षविभागः ।  | ॥ ९९     |
| ३८ ड० अकलंकप्रामाण्यपरोक्ष-<br>प्रमाणविभागस्य निरासः ।     | ॥ ९९     |
| ३९ अनुमानस्य लक्षणनिर्देशः, तदेक-<br>विधत्वसमर्थनं च ।     | ९, १०३   |

|  | पृष्ठ       |
|--|-------------|
| ४२ हेतुसाध्ययोरेव साधनावयवत्वम्                                | ९, १०२      |
| ४३ अन्वधानुपपत्त्यस्य हेतुलक्षणम्<br>न बौद्धसम्मतं कैरूप्यम् । | ॥ १०२       |
| ४४ तर्कादन्वधानुपपत्तिनिर्णयः ।                                | ॥ १०४       |
| ४५ अन्वयमन्तरेणापि सत्तेतुत्वम् ।                              | ॥ १०४       |
| ४७ अनुपपत्तिरेव साधिका न तदतिरिक्तः<br>सम्बन्धः                | ॥ १०५       |
| ४८ पक्षधर्मत्वनिरासः ।   | ॥ १०५       |
| ४९ अनुमानप्रामाण्यसमर्थनम् ।                                   | ॥ १०६       |
| ५० पक्षपक्षाभासयोः विवेकः ।                                    | ॥ १०६       |
| ५१ बाधितोदाहरणानि ।  | ॥ १०६       |
| ५२ त्रिविधहेत्वाभासानां लक्षणानि ।                             | ॥ १०७       |
| ५३ एकान्तसाधकानां हेतुतां<br>हेत्वाभासत्वम् ।                  | १०, १०७     |
| ४ आगमपरिच्छेदः ।   | १०, १०९-१२२ |
| ५४ आगमप्रामाण्यकारणनिर्देशः ।                                  | १०, १११     |
| ५५ ड० तात्पदिव्याख्यापनम् ।                                    | ॥ ११२       |
| ५६ मल्लवादितात्पदग्रन्थः ।                                     | ॥ ११२       |
| ३ न्यायावतारसूत्रवार्तिकवृत्तिः ।<br>पृ० ११-१२२                |             |
| १ सामान्यलक्षणपरिच्छेदः ।                                      | ११-५९       |
| अभिधेयप्रयोजनाभिधानम् ।  | ११          |
| प्रयोजनाभिधानस्य किं प्रयोजनम्<br>इति चर्चा ।                  | ११          |
| वाक्याद्येसंग्रह इति पदस्य तात्पर्यार्थः ।                     | १३          |
| लक्ष्यलक्षणयोः मध्ये कदा कस्य<br>अनुवादः ?                     | १३          |
| सन्निकर्षवस्तुव्यतिरिक्तस्य सन्निकर्षस्य<br>निषेधः ।           | १४          |
| सन्निकर्षप्रामाण्यनिषेधः ।                                     | १५          |
| समवायपदार्थस्य निषेधः  | १६          |
| प्रामाण्यविचारः ।  | १७          |
| स्वसंवेदनवादः ।  | १७          |
| प्रामाण्यसिद्ध्योपायचर्चा ।                                    | १९          |
| संवादज्ञानविचारः ।   | २१          |
| वाच्यविषयकपूर्वपक्षे क्वातिविचारः ।                            | २३          |
| रस्युतिप्रमोषनिरासः ।  | २३          |
| अकौकिकक्यातिनिरासः ।   | २४          |
| आत्मक्यातिनिरासः ।   | २४          |
| वाचकविषयकः पूर्वपक्षः ।  | २५          |

|  | पृष्ठ        |
|--|--------------|
| वाक्यवाचकभावविरासस्योत्तरपक्षः ।         | २६           |
| अवाधितत्वं प्रमाणलक्षणम् ।               | २७           |
| वाक्यविचारः ।                            | २७           |
| वेदेकरादीनां प्रामाण्यस्य निषेधः ।       | २८           |
| वचसोऽपीत्येवमनिषेधः ।                    | २९           |
| वाक्यार्थसम्बन्धो नित्य इति पूर्वपक्षः । | ३१           |
| वक्तृपूर्वपक्षस्य निरासः ।               | ३२           |
| वाक्यनित्यत्वस्थापनम् ।                  | ३२           |
| वाक्यनित्यत्वस्य निषेधः ।                | ३३           |
| सामान्यविचारः ।                          | ३४           |
| वाक्यार्थसम्बन्धविचारः ।                 | ३५           |
| वर्णादीरूपेयत्वनिषेधः ।                  | ३६           |
| वाक्यविचारः ।                            | ३६           |
| ईश्वरप्रामाण्यविचारे अवयवनिषेधः ।        | ३८           |
| ईश्वरकर्तृत्वविराकरणम् ।                 | ४१           |
| सांख्यसंमतप्रकृत्यन्तरविज्ञानपरीक्षा ।   | ४४           |
| कैवल्योत्पत्तिप्रकारः ।                  | ४५           |
| जीवसिद्धिः ।                             | ४५           |
| सर्वज्ञसिद्धिः ।                         | ५१           |
| सर्वज्ञवादे मीमांसकस्य पूर्वपक्षः ।      | ५२           |
| सर्वज्ञवादे धर्मकीर्तेः पूर्वपक्षः ।     | ५८           |
| सर्वज्ञवादे उत्तरपक्षः ।                 | ५९           |
| नियोगखण्डनम् ।                           | ५९           |
| भावनादीनामपि निरासः ।                    | ८९           |
| <b>२ प्रत्यक्षपरिच्छेदः ।</b>            | <b>६०-९५</b> |
| प्रमेयहेतिव्यसिद्धिः ।                   | ६०           |
| द्विविधविषयस्य लक्षणम् ।                 | ६१           |
| प्रमाणसंख्यानिश्चयः ।                    | ६१           |
| अनुमानप्रामाण्यस्थापनम् ।                | ६१           |
| उपमाननिषेधः ।                            | ६२           |
| अर्थापत्तेः पृथक्प्रामाण्यवाभावः ।       | ६२           |
| अभावप्रामाण्यवादाः ।                     | ६३           |
| अभावस्य पृथक्प्रामाण्यनिषेधः ।           | ७२           |
| प्रत्यक्षप्रैतिष्यविचारः ।               | ७४           |
| दृष्टिवाणामाहंकारिकरूपपक्षः ।            | ७४           |
| दृष्टिवाणां भौतिकत्वसाधनम् ।             | ७५           |
| वैतसंमतमिन्द्रियस्वरूपम् ।               | ७६           |
| अतिन्द्रियप्रत्यक्षम् ।                  | ७७           |
| मनसः स्वरूपम् ।                          | ७७           |
| योगजप्रत्यक्षम् ।                        | ७८           |

|   | पृष्ठ          |
|---|----------------|
| वाक्यार्थसिद्धिः ।                        | ७८             |
| सामान्यस्य स्वरूपम् ।                     | ८१             |
| वाक्यकृतः सविकल्पकप्रत्यक्षनिषेधः ।       | ८१             |
| स्थौल्यविचारः ।                           | ८२             |
| सविकल्पकप्रत्यक्षविचारे उत्तरपक्षः ।      | ८३             |
| प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यनिषेधः ।             | ८४             |
| प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यसमर्थनम् ।           | ८६             |
| अनुगतव्यावृत्ताकारवस्तुसिद्धिः ।          | ८७             |
| पृकान्ततित्ये सत्त्वनिषेधः ।              | ९१             |
| पृकान्तक्षणिके सत्त्वनिषेधः ।             | ९१             |
| द्रव्यस्य सत्त्वसिद्धिः ।                 | ९२             |
| प्रमाणफलस्य व्यनत्या ।                    | ९४             |
| <b>३ अनुमानपरिच्छेदः ।</b>                | <b>९५-१०८</b>  |
| परोक्षप्रमाणस्य विषयव्यवस्थापनम् ।        | ९५             |
| सामान्यं न विषयः ।                        | ९५             |
| अपोहनिरासः ।                              | ९६             |
| अकलंकाभिमतपरोक्षसंशयानिरासः ।             | ९९             |
| प्रत्यभिज्ञाविचारः ।                      | ९९             |
| मतिभ्रुतयोर्धिवेकः ।                      | १००            |
| अनुमाननिरूपणम् ।                          | १०१            |
| प्रतिज्ञायाः साधनाङ्गत्वम् ।              | १०२            |
| हेतोर्लक्षणनिरासः ।                       | १०२            |
| तर्काद् व्याप्तिनिर्णयः ।                 | १०४            |
| अस्य धानुपपत्तिस्वरूपविचारः ।             | १०४            |
| पक्षधर्मैवान्नाऽप्येहि हेतुत्वम् ।        | १०५            |
| पक्षस्य लक्षणम् ।                         | १०६            |
| वाधितोदाहरणानि ।                          | १०६            |
| हेत्वाभासाः ।                             | १०७            |
| <b>४ आगमपरिच्छेदः ।</b>                   | <b>१०९-१२२</b> |
| पूर्वपक्षिणा शाब्दस्याप्रामाण्यस्थापनम् । | १०९            |
| शाब्दप्रामाण्यस्थापनम् ।                  | १११            |
| अन्यशासनस्याप्रामाण्यम् ।                 | ११३            |
| सांख्यमतस्य खण्डनम् ।                     | ११३            |
| आत्मनः सर्वगतत्वस्य खण्डनम् ।             | ११६            |
| क्षणभङ्गवादिनः पूर्वपक्षः ।               | ११७            |
| क्षणभङ्गभङ्गः ।                           | ११८            |
| स्त्रीमुक्तिवादः ।                        | १२०            |
| <b>टिप्पणानि</b>                          | <b>१२५-२८६</b> |
| प्रथमकारिका और उसकी व्याख्याके            |                |
| मूलाधारकी चर्चा                           | १२५            |



|   | पृष्ठ |
|---|-------|
| वृत्तिके संगलकी अन्य संगलोंसे           |       |
| तुलना ।                                 | १२६   |
| ममस्कारकत्वकी व्याख्या ।                | १२७   |
| वृत्तिके प्रारंभिक श्लोकोकी तुलना ।     | १२८   |
| आदिवाक्यके विषयमें तुलनात्मक            |       |
| विवेचन ।                                | १२९   |
| आदिवाक्य कौनसा प्रमाण है ?              | १३४   |
| अर्थकी हिताहितकारिता सापेक्ष है ।       | १३५   |
| उपेक्षणीयार्थके स्वातन्त्र्यमें मतभेद । | १३५   |
| लक्ष्य और लक्षणमें कौन कब अनुपाय        |       |
| है ? इस विषयमें नाना मत ।               | १३६   |
| आत्मभूत और अनात्मभूत लक्षणकी            |       |
| वर्णना                                  | १३६   |
| ज्ञानपदका व्यावर्त्य क्या है ?          | १३७   |
| संयोगके विषयमें दार्शनिकोंके नाना       |       |
| मतवादोंका निरूपण ।                      | १३९   |
| सन्निकर्षके प्रामाण्यका विचार ।         | १४०   |
| समवायके विषयमें नाना प्रकारके मतोंका    |       |
| निर्द्धारण ।                            | १४२   |
| सामग्रीप्रमाणवाद दो प्रकारका है ।       | १४६   |
| प्रामाण्यकी चर्चामें आध्यात्मिक         |       |
| और व्यावहारिक दृष्टिका निरूपण ।         | १४६   |
| प्रामाण्यके नियामकत्वोंके विषयमें       |       |
| नाना मतोंका प्रदर्शन ।                  | १४८   |
| क्रियाकारकव्यपदेशकी कल्पितता ।          | १५२   |
| आत्मव्यापारको प्रमाण कौन                |       |
| 'मानता है ?                             | १५३   |
| सुखदुःखके स्वरूपविषयक                   |       |
| नाना मतवाद ।                            | १५६   |
| स्वतः परतः प्रामाण्य ।                  | १५६   |
| मिथ्याज्ञान(व्याप्ति)के विषयमें         |       |
| दार्शनिकोंके नाना मतवादोंका             |       |
| तुलनात्मक वर्णन ।                       | १५७   |
| 'गजलिकव्याघ्रते' के विषयमें संक्षिप्त   |       |
| नोंच ।                                  | १७३   |
| शास्त्रप्रवृत्तिका प्रयोजन ।            | १७४   |
| शक्तिके विषयमें दार्शनिकोंके            |       |
| मतभेदोंका वर्णन ।                       | १७६   |
| अष्टकादि वेदकता अथि ।                   | १८७   |
| ईश्वरकारणवाद ।                          | १९०   |
| अवयवीके विषयमें दार्शनिकोंके            |       |
| मतभेदोंकी वर्णना                        | १९१   |

|  | पृष्ठ |
|--|-------|
| अवयविग्रह ।                            | २००   |
| पुरुषावर्त ।                           | २०२   |
| अनुमानप्रामाण्य ।                      | २०३   |
| चार्लोक दर्शनका संक्षिप्त इतिहास ।     | २०३   |
| जैनसंमत चैतन्यग्रन्थ और                |       |
| बौद्धसंमत चित्तसंस्तितिकी तुलना ।      | २०६   |
| सर्वज्ञवाद ।                           | २०८   |
| प्रमाणसंज्ञक और प्रमाणविपुलवादके       |       |
| विषयमें जैन-बौद्धमतधर्मोंका            |       |
| विवेचन ।                               | २१०   |
| प्रमाणभेदके नियामकत्वके                |       |
| विषयमें दार्शनिकोंके मतोंका            |       |
| विवेचन ।                               | २१७   |
| उपमानके विषयमें मतभेदोंका              |       |
| निर्द्धारण ।                           | २२०   |
| सादृश्यका विचार ।                      | २२७   |
| गवयालम्भन ।                            | २२८   |
| दृष्टानुपकटिभ और अदृष्टानुपकटिभका      |       |
| विवेक ।                                | २३२   |
| बौद्धदृष्टिसे प्राकृष्टमाहकभाव ।       | २३५   |
| प्रत्यक्षके लक्षण वैराग्यका विवेचन ।   | २३७   |
| अस्पष्टदर्शन क्षुब्ध है क्या ?         | २४०   |
| प्रत्यक्षके विभागके विषयमें नाना       |       |
| मतवाद ।                                | २४१   |
| समोद्भववाद ।                           | २४४   |
| स्मृत्यादिको मानसप्रत्यक्ष माननेवाले   |       |
| जककंकसे दूसरोंका मतभेद ।               | २४४   |
| प्रातिभके विषयमें दार्शनिकोंके मतभेद   | २४६   |
| स्वप्नविज्ञानविचार ।                   | २४७   |
| स्वसंवेदन मानस प्रत्यक्ष है ऐसा        |       |
| शास्त्राचार्यका मत ।                   | २४८   |
| सामान्यका विभिन्नदार्शनिकोंकी दृष्टिसे |       |
| तुलनात्मक विवेचन ।                     | २५०   |
| अनेकान्तके धर्मकीतिष्ठित खण्डनका       |       |
| खण्डन ।                                | २६३   |
| फलविषयक विवेचनमें शास्त्राचार्यका      |       |
| मतभेद ।                                | २६४   |
| सौत्राण्टिकसंमतभाकारवादका निरूपण       | २६५   |
| शास्त्राचार्य और अन्य जेनाचार्योंमें   |       |
| प्रमाणभेदोंके विषयमें मतभेद            | २६८   |

| पृष्ठ  | पृष्ठ  |
|--|--|
| प्रत्यभिज्ञाके विषयमें शास्त्राचार्यका मत । २६८                        | आत्माके परिणामके विषयमें ज्ञाना-<br>मतवादोंका सङ्कलन । २७८                   |
| भुतनिःसृतका जिनमङ्गल कक्षण । २६८                                       | बौद्धोंके क्षणिकवादका विकासक्रम । २८०  |
| शास्त्राचार्यसंमत अनुमानका ।<br>देखविषय । २६९                          | अमीमोक्षकी चर्चा । २८५   |
| अनुमानके अवयवोंकी चर्चा । २६९  | परिशिष्ट । २८७-३३२   |
| उर्दूके विषयमें शास्त्राचार्यका मत । २७०                               | १ न्यायावतारकी तुलना । २८७   |
| अविनाभावके नियामकसंबंधके<br>विषयमें दार्शनिकोंके मतोंकी<br>तुलना । २७१ | २ न्यायावतारसूत्रवार्तिक तुलना । २९०   |
| काकादिकी कल्पना करके पक्षधर्मत्व की<br>बौद्धसंमत बटनापर विचार । २७२    | ३ न्यायावतारसूत्रकारिका सूची । २९२   |
| वार्तिककी हेतुभासविषयक कारिका<br>की तुलना । २७३                        | ४ न्यायावतारसूत्रशब्दसूची । ३००  |
| शाब्दके विषयमें चर्चा । २७३  | ५ न्यायावतारसूत्रवार्तिककारिकासूची । ३०१                                     |
| वीतरागकी पूजाकी स्तुतताका<br>जिनमङ्गल समर्पण । २७५                     | ६ न्यायावतारसूत्रवार्तिकशब्दसूची । ३०२                                       |
| मुद्रबचनके प्रामाण्यमें धर्मकीसिद्धवृत्त<br>हेतु । २७६                 | ७ न्यायावतारवार्तिकवृत्तिगतानां<br>वाद्-वादि-ग्रन्थ-ग्रन्थकाराणां सूची । ३०४ |
| नैतेतर दार्शनिकोंकी गणानासोंमें बटना । २७७                             | ८ न्यायावतारवार्तिकवृत्तिगतानां शब्दानां<br>सूची । ३०५                       |
|  | ९ न्याया० वृत्तिगतानामवतरणानां<br>स्वोपपन्नकारिकाणां च सूची । ३१४            |
|  | १० दिव्यगणन वाद् और वादी । ३१६   |
|  | ११ दिव्यगणन ग्रन्थकार । ३२३  |
|  | १२ दिव्यगणन ग्रन्थ । ३२३   |
|  | १३ दिव्यगणन शब्दों और विषयोंकी सूची ३२७                                      |



## संकेत-परिचय ।

[ टिप्पणीमें ग्रन्थके संकेताक्षरोंके बाव पृ० का उल्लेख न हो तो अंकोंको ग्रन्थगत यथायोग्य प्रकरण, अध्याय आदिके या कारिकाके सूचक समझना चाहिए । ]

अ०, ब०, क०, और जु० ये प्रतीकोंके संकेत हैं ।

अ-दि०=अ० प्रतिगत टिप्पण ।

का०=कारिका, पं०=पङ्क्ति, पृ०=पृष्ठ ।

अनुयो० अनुयोगद्वारसूत्र, आगमोदयसमिति, सूरत ।

अनेकर० अनेकान्तव्यवस्थाप्रकरण, जैनग्रन्थप्रकाशक सभा, अमदावाद ।

अनेकान्त० डी० अनेकान्तव्यवस्थाकाटीका, गायकवाड सिरिस, बड़ोदा ।

अभिधानवि० अभिधानविन्तामणि, जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर ।

अवयव० अवयविनिराकरण, ( सिकस बुद्धिस्त न्यायवेकस्तरस् ) एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता ।

अहस० अहसायी ( अहसदृश्यन्तर्गत ) निर्णयसागर, बंबई ।

अहस० अहसहसी, निर्णयसागर, बंबई ।

अहस० वि० अहसहसीविवरण, जैनग्रन्थप्रकाशक सभा, अहमदावाद ।

आहससी० आहससीमांसा, सनातन जैनग्रन्थमाला, काशी ।

आलम्बन० आलम्बनपरीक्षा, अजियार लायमेरी, अजियार, मद्रास ।

आवनि० आवयवकनिर्मुक्ति, आगमोदय समिति, सूरत ।

उत्त० उत्तराध्ययनसूत्र

उत्पादा० उत्पादावित्तिदिः, ऋषभदेव केसरीमल, रतलाम ।

कंदली० न्यायकंदलीटीका, विजयानगरम् सिरिस, काशी ।

कठो० कठोपनिषद् ।

कर्ज० प्रमाणवार्तिककी कर्णकमोहित टीका, किताब महल, इलाहाबाद ।

कारिका० कारिकावली ।

कौपी० कौपीतकी-उपनिषद् ।

कचहन० खण्डनखण्डसाय, लाजरस कंपनी, काशी ।

कान्दो० कान्दोयुपनिषद् ।

जैनस० जैनतर्कभाषा, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, बंबई ।

तरवदि० तरवविन्तामणि, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता ।

तरववै० योगभाष्यकी तरववैशारदी टीका, चौखम्बा, काशी ।

तरवसं० तरवसंग्रह, गायकवाड सिरिस, बड़ोदा ।

तरवसं० पं० तरवसंग्रहपञ्जिका

तरवार्थ० तरवार्थाधिगमसूत्रम्, आर्हतमतप्रभाकर, पूता ।

तरवार्थटी० तरवार्थाधिगमसूत्रभाष्यकी हरिभद्रकृत टीका ।

तरवार्थभा० तरवार्थाधिगमसूत्रभाष्य, आर्हतमतप्रभाकर, पूता ।

तरवार्थभा० सि० डी० तरवार्थाधिगमसूत्रभाष्यकी सिद्धसेनकृत टीका, देवचन्द्र लालभाई, सूरत ।

तरवार्थेच्छो० तरवार्थेच्छोक्तवार्तिक, गांधी नाथारंग, बंबई ।

तरवार्थसं० तरवार्थाधिगमसूत्रभाष्यकी संबंधकारिका ।

तरवो० तरवोपप्लवसिंह, गायकवाड सिरिस, बड़ोदा ।

तज० तज्जवार्तिक, चौखम्बा संस्कृत सिरिस, काशी ।

तत्पर्य० न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका,

द्रव्यसं० पृ० द्रव्यसंग्रह-वृत्ति, जैनपब्लिशिंग हाऊस, आरा ।

धर्मसं० डी० धर्मसंग्रहणीटीका, देवचन्द्र लालभाई, सूरत ।

न्यायकु० न्यायकुमुदचन्द्र, माणिकचन्द्र जैनग्रन्थमाला, बंबई ।

- न्यायप्र० न्यायप्रवेश, गायकवाड सिरीस, बबोदा ।  
 न्यायप्र० पं० न्यायप्रवेशवृत्तिपत्रिका, ,, ,,  
 न्यायप्र० वृ० न्यायप्रवेशवृत्ति ,, ,,  
 न्यायवि० न्यायविमु धर्मकीर्तिरत्न, चौखम्बा, काशी ।  
 न्यायवि० डी० न्यायविमुटीका ,, ,,  
 न्यायवि० डीकादि० न्यायविमुटीका दिव्यणी, विधिकोशिका बुद्धिकाशिया ।  
 न्यायभा० न्यायसूत्रभाष्य, चौखम्बा, काशी ।  
 न्यायन० न्यायमञ्जरी ,, ,,  
 न्यायन० वि० न्यायमञ्जरी, विजयानगरम्, काशी ।  
 न्यायन० न्यायकीलानटी, चौखम्बा काशी ।  
 न्यायवा० न्यायवार्तिक, ,, ,,  
 न्यायवि० न्यायवित्तिव्य ( अकलंकप्रन्थप्रधान्तर्गत ) सिंधी जैनग्रन्थमाला, बंबई ।  
 न्यायसू० न्यायसूत्र, चौखम्बा, काशी ।  
 न्याया० न्यायवतार, जैन जे० कॉन्नेन्स, बंबई ।  
 न्याया० डी० न्यायवतारकी सिखविष्णुतटीका  
 पञ्चसं० पञ्चसंमद, मुलाबाई ज्ञानमेधिर, बभोई ।  
 परी० } परीक्षासुखसूत्रम् ( प्रमेयकमलमार्तैण्णान्तर्गत ) निर्णयसागर, बंबई ।  
 परीक्षा० }  
 पात० पातञ्जलमहाभाष्य, काशी ।  
 पारस्करसू० पारस्करसूत्र ।  
 प्रकरणपं० प्रकरणपत्रिका, चौखम्बा, काशी ।  
 प्रमाणन० प्रमाणनयतरवालो, आर्हतयतप्रभाकर, पूना ।  
 प्रमाणप० प्रमाणपरीक्षा, सप्ततन जैन ग्रन्थमाला, काशी ।  
 प्रमाणमी० प्रमाणमीमांसा, सिंधी-जैन ग्रन्थमाला, बंबई ।  
 प्रमाणमी० भाषा० प्रमाणमीमांसा-भाषादिप्यण ।  
 प्रमाणवा० प्रमाणवार्तिक ( मनोरथनन्दीटीकास्तर्गत ) बिहार एन्ड ओरिसा रि० सो०, पटना ।  
 प्रमाणवा० ज० } प्रमाणवार्तिकालंकार ( लिखित ), भारतीयविद्यामन्त्र, बंबई ।  
 प्रमाणवा० अकं० }  
 प्रमाणवा० ज० वृ० प्रमाणवार्तिकालंकार मुद्रित, बिहार एन्ड ओरिसा रि० सो०, पटना ।  
 प्रमाणवा० ज० प्रमाणवार्तिक-सोपलक्षित, किताबमहक, इलाहाबाद ।  
 प्रमाणव० प्रमाणसंमद ( अकलंकप्रन्थप्रधान्तर्गत ) सिंधी जैन ग्रन्थमाला, बंबई ।  
 प्रमाणसमु० प्रमाणसमुच्चय, माइसूर यूनिवर्सिटी, माइसूर ।  
 प्रमाणसमु० डी० प्रमाणसमुच्चयटीका, ,, ,,  
 प्रमाणसमु० वृ० प्रमाणसमुच्चयवृत्ति ,, ,,  
 प्रमेयक० प्रमेयकमलमार्तैण्ण, निर्णयसागर प्रेस, बंबई ।  
 प्रथम० प्रथमपादभाष्यम्, ( ज्ञोपवत्तन्तर्गत ) चौखम्बा, काशी ।  
 बृहद्० बृहदारण्यकवार्तिक, ज्ञानन्दाश्रम, पूना ।  
 ब० सांकर० ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, निर्णयसागर, बंबई ।  
 बृहत्० बृहत्कल्पभाष्य, आत्मानन्दसभा, भावनगर ।  
 मनो० प्रमाणवार्तिक-मनोरथनन्दीटीका, पटना ।  
 महायानसू० महायानसूत्रालंकार, पेरिस ।  
 माठर० सांख्यकारिका-माठरवृत्ति, चौखम्बा, काशी ।  
 माध्य० माध्यमिककारिका } निम्नलिखित बुद्धि, रसिया ।  
 माध्य० वृ० माध्यमिकवृत्ति }  
 मुक्ता० न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ।  
 न्या० १२

मैत्रु० मैत्रुपनिषद् ।

योगद० योगदर्शन, चौखम्बा, काशी ।

योगद० योगदृष्टिसमुच्चय, देवचन्द्र लालभाई, सूरत ।

योगद० डी० योगदृष्टिसमुच्चयटीका ,, ,,

योगभा० } योगसूत्रभाष्य, चौखम्बा, काशी ।

योगसू० भा० } योगसूत्रभाष्य, चौखम्बा, काशी ।

रघु० रघुवंश ।

राजवा० तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार, जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता ।

रुची० लघुयज्ञय ( अकलंकप्रन्थप्रयान्तर्गत ) सिद्धी जैन ग्रन्थमाला, बंबई ।

रुची० स्व० लघुयज्ञयसविशुद्धि ,, ,,

काव्यचमकौ० लाव्यायन श्रौतसूत्र ।

वन्दन० वन्दनकप्रकीर्णक, ( अभिधानराजेन्द्रान्तर्गत )

वाक्य० वाक्यपदीय, चौखम्बा, काशी ।

वाक्य० डी० वाक्यपदीय टीका ,,

विग्रह० विग्रहव्यावर्तिनी, बिहार एण्ड ओरिसा रि० सो०, पटना ।

विश्वसि० विश्वसिमात्रतासिद्धि, पेरिस ।

विश्वसि० भा० विश्वसिमात्रतासिद्धिभाष्य, ,,

वेदान्तप० वेदान्तपरिभाषा, चौखम्बा, काशी ।

वैशे० वैशेषिकसूत्र, ,, ,,

वैशे० उप० वैशेषिक उपस्कार ,, ,,

व्यो० प्रशस्तपादभाष्य-न्योमवती टीका, ,,

व्या० ब्रह्म० ब्रह्मसूत्र शास्त्रभाष्य, निर्णयसागर, बंबई ।

शाबर० शाबरभाष्य, आनन्दधर्म, पूना ।

शाबर० व्या० शाबरभाष्यव्याख्या ,,

शास्त्रदी० शास्त्रदीपिका, निर्णयसागर, बंबई ।

शास्त्रवा० शास्त्रवार्तासमुच्चय ।

शास्त्रवा० बहो० डी० शास्त्रवार्तासमुच्चय-न्यशोविजयटीका, देवचन्द्र लालभाई, सूरत ।

श्लोक० } मीमांसा श्लोकवार्तिक, चौखम्बा, काशी ।

श्लोकवा० } मीमांसा श्लोकवार्तिकतात्पर्यटीका, मद्रास ।

श्लोक० न्यायर० मीमांसाश्लोकवार्तिकन्यायरत्नाकरव्याख्या, चौखम्बा, काशी ।

बह्व० बह्वर्शनसमुच्चय ( हरिभद्रप्रन्थसंग्रहान्तर्गत ), जैनग्रन्थप्रकाशक सभा, अमदाबाद ।

बह्व० गुण० बह्वर्शनसमुच्चय-गुणरत्नटीका, एस्तिवाटिकसोसायटी, कलकत्ता ।

सम्मति० डी० सम्मतितर्कप्रकरणटीका, गुजरात विद्यापीठ, अमदाबाद ।

सर्वा० सर्वार्थसिद्धि, मल्लिसागर जैनग्रन्थमाला, मेरठ ।

सांख्य० सांख्यकारिका } न्यूसप्रिन्टींगप्रेस, बंबई ।

सांख्यत० सांख्यतत्त्वकौमुदी } न्यूसप्रिन्टींगप्रेस, बंबई ।

सिद्धिबि० डी० सिद्धिविनिश्चयटीका ( लिखित )

सूत्रक० सूत्रकृताज्ञसूत्र, आणमोदयसमिति, सूरत ।

स्याद्वादम० स्याद्वादमंजरी, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बंबई ।

स्याद्वादर० स्याद्वादरत्नाकर, आर्दतमतप्रभाकर, पूना ।

हेतु० हेतुमिन्दु ( लिखित )

हेतुमि० डी० } हेतुमिन्दुटीका, गायकवाड सिरीस, बड़ोदा ।

हेतु० डी० } हेतुमिन्दुटीका, गायकवाड सिरीस, बड़ोदा ।

हेतु० भा० हेतुमिन्दुटीकालोक " " "

# स्व० बाबू श्री महादुर सिंहजी सिंघी और

## सिंघी जैन ग्रन्थमाला

\*  
[स्मरणार्थ लि.]

**मेरे** अनन्य आदर्शगुरु, कार्यसाधक, उत्साहप्रेरक और सहृदय चेहाएव बाबू श्री महादुर सिंहजी सिंघी, जिन्होंने मेरी विविध प्रेरणासे, अपने स्वर्गवासी साधुचरित पिता श्री डाकचंदजी सिंघीके पुण्यस्मरण निमित्त, इस 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' की कीर्तिकारिणी स्थापना करके, इसके किन्ने प्रतिबर्तन हजारों रुपये कर्म करनेकी भावसे उदारता प्रकट की थी; और जिसकी ऐसी असाधारण ज्ञानमयिने साथ अनन्य आर्थिक उदारवृत्ति देख कर, मैंने भी अपने जीवनका विविध शक्तिसाक्षी और मूल्यवान् बहुत ही श्रेष्ठ अनन्योप उपर काक, इस ग्रन्थमालाके ही विकास और प्रकाशके किन्ने अर्वाग्रमग्न रूपसे समर्पित कर दिया था; तथा जिन्होंने इस ग्रन्थमालाका विगत ११-१४ वर्षोंमें देखा सुंदर, सहज और सर्वांगपूर्ण कार्यकल सिधाय हुआ देख कर अविष्यमें इसके कार्यको और अधिक प्रगतिमान तथा विकीर्ण रूपमें देखनेकी अवसे जीवनकी एक मात्र परम अनिकावा रही थी; और तदनुसार, मेरी प्रेरणा और धोखनाका अनुसरण करके प्रस्तुत ग्रन्थमालाकी प्रवन्धनारमक कार्य-व्यवस्था 'भारतीय विकासचन' को समर्पित कर देनेकी महती उदारता भिजा कर, जिन्होंने इसके भागीके सम्बन्धमें लिखित हो जायेकी भासा की थी; वह पुण्यवान्, साहित्यरसिक, उदारमनस्क, अनुताभिकाधी, कमिन्धुकीन आरमा, जब इस ग्रन्थमालाके प्रकाशनोंको प्रत्यक्ष देखनेके किन्ने इस संसारमें निचमाय नहीं है। सन् १९४४ की छुकाई भासकी ० वीं तारीखको, ५९ वर्षकी अवस्थामें वह महान् आत्मा कुछ कोकमेंसे प्रत्यान कर गया। उनके भज्ज, आदर्शीन, स्पृहशीन, और क्रावशीन जीवनको अपनी चेहाएव 'अमरनामलि' प्रदान करनेके निमित्त, उनके जीवनका कुछ संक्षिप्त परिचय लालेखित करना यहाँ-योग्य होगा।

सिंघीजीके जीवनके साथके मेरे ज्ञास ज्ञास कारणोंका विस्तृत आलेखन, मैंने उनके ही 'सत्यत ग्रन्थ' के रूपमें प्रकाशित किन्ने गये 'भारतीय विद्या' नामक प्रसिद्धके दलीय भागकी अनुपूर्तिमें किया है। उनके सम्बन्धमें विविध ज्ञाननेकी इच्छा रखने वाले पाठकोंको वह 'कारक ग्रन्थ' देखना चाहिये।

बाबू श्री महादुर सिंहजीका जन्म बंगाके मुर्शिदाबाद परगनेमें स्थित अजीमगंज नामक स्थानमें संवत् १९४१ में हुआ था। वह बाबू डाकचंदजी सिंघीके एकमात्र पुत्र थे। उनकी माता श्रीमती कन्हू-कुमारी अजीमगंजके ही वैद कुटुम्बके बाबू जवंचंदजीकी सुपुत्री थी। श्री मजकुमारीकी एक बहन जगतसेठजीके यहाँ ब्याही गई थी और दूसरी बहन सुप्रसिद्ध नखर कुटुम्बमें ब्याही गई थी। कलकत्तेके स्व० सुप्रसिद्ध जैन स्कॉलर और ज्योती व्यक्ति बाबू पूरणचंदजी माहर, बाबू महादुर सिंहजी सिंघीके मोतेरे भाई थे। सिंघीजीका ब्याह बम्बुचर-अजीमगंजके सुप्रसिद्ध बनावज जैनगुरुवर्य कन्धीवर्य सिंहजीकी पोत्री और कन्नपत सिंहजीकी पुत्री श्रीमती तिकचसुंदरीके साथ, संवत् १९५४ में हुआ था। इस प्रकार श्री महादुर सिंहजी सिंघीका औद्योगिक सम्बन्ध बंगाके ज्ञास प्रसिद्ध जैन कुटुम्बके साथमें प्रगाढ रूपसे संकलित था।

बाबू श्री महादुर सिंहजीके पिता बाबू डाकचंदजी सिंघी-बंगाके जैन महाजनोंमें एक बहुत ही प्रसिद्ध और सचरित पुरुष हो गये हैं। वह अपने जेठे स्वपुत्रवर्ध और स्वउपोषके, एक बहुत ही साधजन स्थितके व्यापारीकी कोठिमेंसे औद्योगिकस्थितकी स्थितिको पहुँचे थे और सारे बंगाके एक सुप्रसिद्ध और प्रामाणिक व्यापारीके रूपमें उन्होंने विविध व्यापारिक प्रसा की थी। कुछ समय से बंगाके ज्ञास



मुक्त व्यापार जूटके सबसे बड़े व्यापारी हो गये थे। उनके पुत्रवांसे उनकी व्यापारी पेड़ी जो हरि-सिंह सिंहालचंदके नामसे चकती थी, वह बंगालमें जूटका व्यापार करनेवाली देशी तथा विदेशी पेड़ी-बोमें सबसे बड़ी पेड़ी गिनी जाने लगी।

बाबू डाकचंदजी सिंधीका जन्म संवत् १९२१ में हुआ था और १९३५ में उनका श्रीमधुकुमारीके साथ विवाह हुआ। १४-१५ वर्षकी अवस्थामें डाकचंदजीने अपने पिताकी दुकानका कारभार, जो कि उस समय बहुत ही साधारणरूपसे चकता था, अपने हाथमें लिया। वह अजीमगंज छोड़ कर कलकत्ता आये और वहाँ उन्होंने अपनी परिश्रमशीलता तथा उच्च अन्वयसाधके द्वारा कारभारको धीरे धीरे बहुत ही बढ़ावा और अंतमें उसको एक सबसे बड़े 'कर्म'के रूपमें स्थापित किया। जिस समय कलकत्तामें 'जूट बैकर्स एसोसिएशन'की स्थापना हुई, उस समय बाबू डाकचंदजी सिंधी उसके सर्वप्रथम प्रेसिडेण्ट बनावे गये। जूटके व्यापारमें इस प्रकार सबसे बड़ा स्थान प्राप्त करनेके बाद उन्होंने अपना कक्ष दूसरे दूसरे उद्योगोंकी ओर भी दिया। एक ओर उन्होंने मध्यप्रान्तस्थित कोरीया स्टेटमें कोयलेकी खानोंके उद्योगकी नींव डाली और दूसरी ओर दक्षिणके ब्रकित और अकलतराके रायोंमें स्थित चूनेके पत्थरोंकी खानोंके तथा बेकगाम, सावंतवाडी, इचकराजी जैसे स्थानोंमें भाई हुई 'बोक्साइट' की खानोंके विकासकी शोभके पीछे अपना कक्ष केन्द्रित किया। कोयलेके उद्योगके लिये उन्होंने 'मेसर्स डाकचंद महादुरसिंह' इस नामकी नवीन पेड़ीकी स्थापना की, जो कि आज हिंदुस्तानमें एक अग्रगण्य पेड़ी गिनी जाती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने बंगालके चोकीलपरगना, रंगपुर, पूर्णिया आदि परगनामें बड़ी जमींदारी भी खरीदी और इस प्रकार बंगालके नामांकित जमींदारोंमें भी उन्होंने अपना कास स्थान प्राप्त किया। बाबू डाकचंदजीकी ऐसी सुप्रसिद्धा केवल व्यापारिक क्षेत्रमें ही मर्यादित नहीं थी। वह अपनी उदारता और धार्मिकताके लिये भी उतने ही सुप्रसिद्ध थे। उनकी परोपकारवृत्ति भी उतनी ही प्रसंख्य थी। परंतु साथमें परोपकारसुलभ प्रसिद्धिसे वे दूर रहते थे। बहुत अधिक परिमाणमें वे गुप्त रीतिसे ही अर्धी जनोंको अपनी उदारताका लाभ दिया करते थे। उन्होंने अपने जीवनमें लाखोंका दान किया होगा; परंतु उसकी प्रसिद्धि की कामना उन्होंने स्वयंमें भी नहीं की। उनके सुपुत्र बाबू भी महादुर सिंहजीने प्रसंगवश मुझे कहा था कि 'वे जो कुछ दान आदि करते थे उसकी खबर वे मुझ तककी भी न होने देते थे।' इसलिये उनके दान सम्बन्धी केवल २-४ प्रसंगोंकी ही खबर मुझे प्राप्त हो सकी थी।

सन् १९२६ में 'चित्रांजन सेवा सदन' के लिये कलकत्तामें चंदा किया गया था। उस समय एक धार्मिक महात्माजी उनके मकान पर गये थे तब उन्होंने जिन मीनों ही महात्माजीको इस कार्यके लिये १०००० दस हजार रुपये दिये थे।

१९१७ में कलकत्तामें 'गवर्नमेण्ट हाउस' के मेदानमें, लॉर्ड कामोइकलके सभापतित्वमें 'रेडक्रॉस'के लिये एक उत्सव हुआ था उसमें उन्होंने २१००० रुपये दिये थे; तथा प्रथम महायुद्धके समय उन्होंने ३,००,००० रुपये के 'बॉर बॉण्ड्स' खरीद कर सरकारी ऋणमें मदद की थी। अपनी अंतिम अवस्थामें उन्होंने अपने निकट कुटुम्बी जनोंको - जिनकी आर्थिक स्थिति बहुत ही साधारण प्रकारकी थी उनको - बारह कास रुपये बांट देनेकी व्यवस्था की थी; जिसका पाठन उनके सुपुत्र बाबू महादुर सिंहजीने किया था।

बाबू डाकचंदजीका गृहस्थजीवन बहुत ही आदर्शरूप था। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती मधुकुमारी एक आदर्श और धर्मपरायण पत्नी थी। पति-पत्नी दोनों सदाचार, सुविचार और सुसंस्कारकी मूर्ति जैसे थे। डाकचंदजीका जीवन बहुत ही सादा और साधुश्रवसे परिपूर्ण था। व्यवहार और व्यापार दोनोंमें उनका अत्यंत प्रामाणिक और न्यायपूर्वक वर्तन था। स्वभावसे वे बहुत ही शांत और निरभिसानी थे। ज्ञानमार्गके ऊपर उनकी गहरी श्रद्धा थी। उनकी तत्त्वज्ञानविषयक पुस्तकोंके पठन और भ्रमणकी ओर नैसर्गिक रुचि रहती थी। किन्नर कॉलेजके एक अन्त्यात्मकरी बंगाली प्रोफेसर बाबू भजलाल अधिकारी, जो योगविषयक प्रक्रियाके अच्छे अभ्यासी और तत्त्वचिंतक थे, उनके सहवाससे बाबू डाकचंदजीकी भी योगिक प्रक्रियाकी ओर खूब रुचि हो गई थी और इसलिये उन्होंने उनके पाससे इस विषयकी कुछ कास प्रक्रियाओंका गहरा अभ्यास भी किया था। शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक पवित्रताका जिससे विकास हो ऐसी, व्यावहारिक जीवनके लिये अत्यंत उपयोगी, कितनी ही योगिक प्रक्रियाओंकी ओर, उन्होंने अपनी पत्नी तथा पुत्र-पुत्री आदिको भी अभ्यास करनेके लिये प्रेरित किये थे।

जैन धर्मके विद्युत् तारोंके प्रचार और सर्वोपयोगी जैन साहित्यके प्रकाशनके लिये भी उनकी क्लास रुचि थी और पंडितमवर सुललाकजीके परिचयके बाद इस कार्यके लिये कुछ विशेष सक्रिय प्रयत्न करनेकी उनकी उत्कण्ठा जाग उठी थी । इस उत्कण्ठा को मूर्तरूप देनेके लिये वे कलकत्तामें २-४ लाख रुपये खर्च करके किसी साहित्यिक या दैक्षणिक केन्द्रको स्थापित करनेकी योजनाका विचार कर ही रहे थे जितनेमें एक-एक सन् १९२७ ( वि. सं. १९८४ )में उनका स्वर्गवास हो गया ।

\*

बाबू बाकचंदजी सिंघी, अपने समयके बंगाल निवासी जैन-समाजमें एक अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यापारी, दीर्घदर्शी उद्योगपति, बड़े जमींदार, उदारचेला सद्गृहस्थ और साधुचरित सत्पुरुष थे । वे अपनी यह सर्व सम्पत्ति और गुणवत्ताका समग्र वारसा अपने सुयोग्य पुत्र बाबू बाहादुर सिंहजीके सुपूर्द कर गये, जिन्होंने अपने इन पुण्यश्लोक पिताकी रथूल सम्पत्ति और सूक्ष्म सत्कीर्ति—दोनोंको बहुत ही सुंदर प्रकारसे बढ़ा कर पिताकी अपेक्षा भी सवाई श्रेष्ठता प्राप्त करनेकी विशिष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त की थी ।

बाबू श्री बाहादुर सिंहजीमें अपने पिताकी व्यापारिक कुशलता, व्यावहारिक निपुणता और सांस्कृतिक सज्जता तो संपूर्ण अंशमें वारसेके रूपमें उतरी ही थी; परन्तु इसके अतिरिक्त उनमें बौद्धिक विशदता, कलात्मक रसिकता और विविधविषयग्राहिणी प्राञ्जल प्रतिभाका भी उच्च प्रकारका सन्निवेश हुआ था और इसलिये वे एक असाधारण व्यक्तित्व रखनेवाले महातुभाषोंकी पंक्तिमें स्थान प्राप्त करनेकी योग्यता हासिल कर सके थे ।

वे अपने पिताके एकमात्र पुत्र थे, अतएव इन पर, अपने पिताके विद्याल कारभारमें, बचपनसे ही विशेष छद्म देनेका कर्तव्य आ पड़ा था । फलस्वरूप वे हाइस्कूलका अभ्यास पूरा करनेके सिवाय कॉलेजमें आ कर अधिक अभ्यास करनेका अवसर प्राप्त नहीं कर सके थे । फिर भी उनकी ज्ञानरुचि बहुत ही तीव्र थी, अतएव उन्होंने स्वयमेव विविध प्रकारके साहित्यके वाचनका अभ्यास खूब ही बढ़ाया और इसलिये वे अंग्रेजीके सिवाय, बंगाली, हिंदी, गुजराती भाषाएँ भी बहुत अच्छी तरह जानते थे और इन भाषाओंमें लिखित विविध पुस्तकोंके पठनमें सतत निमग्न रहते थे ।

बचपनसे ही उन्हें प्राचीन दस्तुनोंके संग्रहका भारी शौक लग गया था और इसलिये वे प्राचीन सिक्कों, चित्रों, मूर्तियों और वैसी दूसरी दूसरी मूल्यवान् चीजोंका संग्रह करनेके अत्यन्त रसिक हो गये थे । इसके साथ उनका जवाहिरातकी ओर भी खूब शौक बढ़ गया था अतः वे इस विषयमें भी खूब निष्णात बन गये थे । इसके परिणामस्वरूप उन्होंने अपने पास सिक्कों, चित्रों, इसलिये बहुतमूल्य पुस्तकों आदिका जो अमूल्य संग्रह एकत्रित किया वह आज हिंदुस्तानके इन्ने गिने हुए नानी संग्रहमें, एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करे ऐसा है । उनके प्राचीन सिक्कोंका संग्रह तो इतना अधिक विशिष्ट प्रकारका है कि उसका आज सारी दुनियामें तीसरा या चौथा स्थान आता है । वे इस विषयमें इतने निपुण हो गये थे कि बड़े बड़े म्यूजियमोंके क्यूरेटर भी बार बार उनसे सलाह और अभिप्राय प्राप्त करनेके लिये उनके पास आते रहते थे ।

वे अपने ऐसे उच्च सांस्कृतिक शौकके कारण देश-विदेशकी वैसी सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ करनेवाली अनेकों संस्थाओंके सदस्य आदि बने थे । उदाहरणस्वरूप—रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, अमेरिकन ज्योग्राफिकल सोसायटी न्यूयॉर्क, बंगीय साहित्य परिषद् कलकत्ता, म्यूमेन्सोटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया—इत्यादि अनेक प्रसिद्ध संस्थाओंके वे उत्साही सभासद थे ।

साहित्य और शिक्षण विषयक प्रवृत्ति करनेवाली जैन तथा जैनोतर अनेकों संस्थाओंको उन्होंने सुकमनसे दान दे करके, इन विषयोंके प्रसारमें अपनी उरकट अभिरुचिका उत्तम परिचय दिया था । उन्होंने इस प्रकार कितनी संस्थाओंको आर्थिक सहायता दी थी, उसकी सम्पूर्ण सूचितो नहीं मिल सकती है । ऐसे कार्योंमें वे अपने पिताकी ही तरह, प्रायः मौन रहते थे और इसके लिये अपनी प्रसिद्धि प्राप्त करनेकी आकांक्षा नहीं रखते थे । उनके साथ किसी किसी वक्त प्रसंगोचित वातांकाप करते समय इस सम्बन्धी जो थोड़ी बहुत घटनाएँ ज्ञात हो सकीं, उसके आधार परसे, उनके पाससे आर्थिक सहायता प्राप्त करनेवाली कुछ संस्थाओंके नाम आदि इस प्रकार जान सका हूँ ।

हिंदू एकेडेमी, कोकतपुर ( बंगाल ). ६० १५०००)  
 तराई-डूँ बंगाला. ५०००)  
 हिंदी-साहित्य परिषद् भवन ( इलाहाबाद ) १२५००)  
 विद्युद्दानं सरस्वती मारवाडी हॉस्पिटल, कलकत्ता. १००००)  
 एक मेटर्निटी होम कलकत्ता. २५००)  
 बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी. २५००)  
 जीवागल हाइस्कूल. ५०००)  
 जीवागल कण्डन मिशन हॉस्पिटल. ६०००)  
 कलकत्ता-सुशिक्षाबाद जैन मन्दिर. ११०००)  
 जैनधर्मप्रचारक सभा, मानभूम. ५०००)  
 जैनभवन, कलकत्ता. १५०००)  
 जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, भागरा. ७५००)  
 जैन मंदिर, भागरा. ३५००)  
 जैन हाइस्कूल, अंबाला. २१०००)  
 जैन प्राकृतकोषके लिये. २५००)  
 भारतीय विद्याभवन, बंबई. १००००)

\*

इसके अतिरिक्त हजार-हजार, पाँच पाँचसोकीसी छोटी मोटी रकमें तो उन्होंने बैंकबोंकी संख्यामें की है, जिसका योग कोई डेढ़ दो लाखसे भी अधिक होगा ।

साहित्य और शिक्षणकी प्रगतिके लिये सिंघीजी जितना उस्ताद और उद्योग दिखलाते थे, उतने ही वे सामाजिक प्रगतिके लिये भी प्रयत्नशील थे । अनेक बार उन्होंने ऐसी सामाजिक सभाओं इत्यादिमें प्रमुख रूपसे भाग ले करके अपने इस विषयका आन्तरिक उस्ताद और सहकारभाव प्रदर्शित किया था । सन् १९२६ में बंबईमें होनेवाली जैन श्वेताम्बर कॉन्फरन्सके खाल अभिवेशनके वे सभापति बने थे । अक्षयपुर राज्यमें भाये हुए केसरीयाजी तीर्थकी व्यवस्थाके विषयमें स्टेटके साथ जो प्रसन्न उपस्थित हुआ था उसमें उन्होंने सबसे अधिक तन, मन और धनसे सहयोग दिया था । इस प्रकार वे जैन समाजके हितकी प्रवृत्तियोंमें मयायोग्य सम्पूर्ण सहयोग देते थे; परंतु इसके साथ वे सामाजिक सूझा और साम्प्रदायिक कहरताके पूर्ण विरोधी भी थे । धनवान और प्रतिष्ठित मिने जाने वाले दूसरे रुढ़िमत जनोंकी तरह वे संकीर्ण मनोवृत्ति या अन्धश्रद्धाकी पोषक विह्वल भक्तिके सबंध पर रहते थे । आचार, विचार एवं व्यवहारमें वे बहुत ही उदार और विवेकशील थे ।

उनका गार्हस्थ्य जीवन भी बहुत सादा और सारिक था । बंगालके जिस प्रकारके नवाबी सिने जाने वाले वातावरणमें वे पैदा और बड़े हुए थे उस वातावरणकी उनके जीवन पर कुछ भी खराब असर नहीं हुई थी और वे लगभग उस वातावरणसे बिल्कुल अलिस जैसे थे । इतने बड़े भीमान् होने पर भी, श्रीमंताइके-धनिकताके खुरे विहाल या मिथ्या आदर्शसे वे सदैव दूर रहते थे । दुर्घ्न्य और दुर्घ्न्यसमके प्रति उनका भारी तिरस्कार था । उनके समान स्थितिवाले धनवान जब अपने भोज-शौक, आनंद-प्रमोद, विलास-प्रवास, समारम्भ-महोरसव इत्यादिमें लाखों रुपये उड़ाते थे तब सिंघीजी उनसे बिल्कुल निमुक्त रहते थे । उनका शौक केवल अच्छे वाचन और कलात्म्य वस्तुओंके देखनेका तथा संग्रह करनेका था । जब देखो तब, वे अपनी गादी पर बैठे बैठे साहित्य, इतिहास, ख्याय, चित्र, विज्ञान, भूगोल और भूगर्भविद्यासे सम्बन्ध रखने वाले सामयिकों या पुस्तकोंको पढ़ते ही दिखाई दिया करते थे । अपने ऐसे विशिष्ट वाचनके शौकके कारण वे अंग्रेजी, बंगाली, हिंदी, गुजराती आदिमें प्रकाशित होने वाले उच्च कोटिके, उक्त विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाले विविध प्रकारके सामयिक पत्रों और जर्नलोंको नियमित रूपसे मंगाते रहते थे । ऑर्ट, आर्कैऑलॉजी, एपीग्राफी, ज्योग्राफी, आर्कैऑग्राफी, इन्स्ट्री और माइलिज आदि विषयोंकी पुस्तकोंकी उन्होंने अपने पास एक अच्छी लाइब्रेरी ही बना ली थी ।

वे स्वभावसे एकान्तप्रिय और अलगाभी थे । व्यर्थकी बातें करनेकी ओर या गपें मारनेकी ओर उनका बहुत ही अभाव रहता था । अपने व्यावसायिक व्यवहारकी या विलास कारभारकी बातोंमें भी वे

बहुत ही मिलभायी थे। परंतु जब उनके प्रिय विषयोंकी—जैसे कि स्वायत्त, इतिहास, विज्ञानादिकी—बाबू चकती तब उसमें वे इतने हीमग्न हो जाते थे कि कितने ही छपटे ज्योतीय हो जाने पर भी वे उससे धकते नहीं थे और न किसी तरहकी व्याकुलताका अनुभव करते थे।

उनकी बुद्धि अत्यंत तीक्ष्ण थी। किसी भी वस्तुको समझने या उसका मर्म पकड़नेमें उनको थोड़ा सा भी समय नहीं लगता था। विज्ञान और तत्त्वज्ञानकी गंभीर बातें भी वे प्रबुद्धी तरह समझ सकते थे और उनका मनन करके उन्हें पचा लेने थे। तर्क और तर्कालबाजीमें वे बड़े बड़े कायदाबाजोंसे भी बाकी मार लेते थे तथा चाहे जैसा चालाक भी उन्हें अपनी चालाकीसे चकित या मुग्ध नहीं बना सकता था।

अपने सिद्धान्त या विचारमें वे बहुत ही दृढ़मनस्क थे। एक बार कोई विचार निश्चित कर लेनेके बाद और किसी कार्यका स्वीकार कर लेनेके बाद उसमेंसे चक-विचक होना वे बिल्कुल पसंद नहीं करते थे।

व्यवहारमें भी वे बहुत ही प्रामाणिक वृत्तिवाले थे। दूसरे धनधनोंकी तरह व्यापारमें छद्म-प्रपंच, धोखाधड़ी या सच-झूठ करके धन प्राप्त करनेकी तुष्णा उनको यत्किंचित् भी नहीं होती थी। उनकी ऐसी व्यावहारिक प्रामाणिकताको लक्ष्यमें रख करके इंग्लैण्डकी मकंटाइक बेल्के डायरेक्टरोंकी बोर्डने अपनी कलकत्ताकी शाखाके बोर्डमें, एक डायरेक्टर होनेके लिये उनसे खास प्रार्थना की थी। इसके पहले किसी भी हिंदुस्थानी व्यापारीको यह मान प्राप्त नहीं हुआ था।

प्रतिभा और प्रामाणिकताके साथ उनमें योजनाशक्ति भी बहुत उच्च प्रकारकी थी। उन्होंने अपनी ही स्वतंत्र बुद्धि और कुशलता द्वारा एक ओर अपनी बहुत बड़ी जमींदारीकी और दूसरी ओर कोलिवारी आदि माइनिंगके उद्योगकी, जो मुख्यस्थान और सुघटना की थी; उसे देख करके उस-उस विषयके ज्ञाता लोग चकित हो जाते थे। अपने घरके छोटे से छोटे कामसे शुरू करके ठेठ कोलिवारी जैसे बड़े कारखाने तकमें—जहाँ कि हजारों मनुष्य काम करते रहते हैं—बहुत ही नियमित, सुव्यवस्थित और सुबोद्धि रीतिसे काम चला करे, वैसी उनकी सदा व्यवस्था रहती थी। दरबानसे लगा कर अपने समक्ष तक जैसे पुर्ने तकमें, एक समान, उच्च प्रकारका शिक्षा-पाठन और शिष्ट-आचरण उनके यहाँ दृष्टिगोचर होता था।

सिंधीजीमें ऐसी समर्थ योजनाशक्ति होने पर भी, और उनके पास सम्पूर्ण प्रकारकी साधन-सम्पन्नता होने पर भी, वे प्रपंचमय जीवनसे दूर रहते थे और अपने नामकी प्रसिद्धिके लिये वा कोर्गोंमें बड़े आदमी गिनानेके लिये वैसी कोई प्रवृत्ति नहीं करते थे। रायबहादुर, राजाबहादुर या सर-नाइट इत्यादि सरकारी उपाधियोंको धारण करनेकी वा कोर्सिडोंमें जा करके ऑनरेबल बननेकी उनकी कभी इच्छा नहीं हुई थी। ऐसी आश्चर्यपूर्ण प्रवृत्तियोंमें पैसेका दुर्व्यय करनेकी अपेक्षा वे सदा साहित्योपयोगी और शिक्षणोपयोगी कार्योंमें अपने धनका सव्यय किया करते थे। भारतवर्षकी प्राचीन कला और उससे संबंध रखनेवाली प्राचीन वस्तुओंकी ओर उनका उत्कट अनुराग था और इसलिये उसके पीछे उन्होंने काफ़ी रुपये खर्च किये थे।

\*

सिंधीजी के साथ मेरा प्रत्यक्ष परिचय सन् १९३० में प्रारम्भ हुआ। उनकी इच्छा अपने सव्यय पुष्प-शोक पत्राके आरम्भमें, जिससे जैन साहित्यका प्रसार और प्रकाश हो वैसी, कोई विशिष्ट संस्था स्थापित करनेकी थी। मेरे जीवनके सुदीर्घकालीन सहकारी, सहचारी और सम्मित्र पंडितप्रवर श्रीधुल्लकाजी, बाबू श्री डालचंदजीके विशेष अज्ञाभाजन थे; अतएव श्री बहादुर सिंहजी भी इन पर उदया ही विशिष्ट सद्भाव रखते थे। पंडितजीके परामर्श और प्रसावसे, उन्होंने मुझसे इस कार्यकी योजना और व्यवस्था हाथमें लेनेके लिये प्रार्थना की और मैंने भी अपनी अभीष्टजम प्रवृत्तिके आधुनिके अनुरूप, उत्तम कोटिके साधनकी प्राप्ति होती देख कर, उसका सहर्ष और सोझात स्वीकार किया।

सन् १९३१ के पहले दिन, विश्वबंध कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुरके विभूतिविहारसमय विश्वविद्यालय शास्त्रिकेयनके विश्वभारती विश्वविद्यालय में 'सिंधी जैन ज्ञानपीठ' की स्थापना की और वहाँ जैन साहित्य के अध्ययन—अध्यापन और संशोधन—संपादन आदिका कार्य प्रारम्भ किया। इस प्रसंगसे सम्बन्धित कुछ प्राथमिक वर्णन, इस ग्रन्थमाकामें सबसे प्रथम प्रकाशित 'ग्रन्थ विवामणि' नामक ग्रन्थकी प्रकाशनमें दिया गया है। इसलिये उसकी यहाँ पुनरुक्ति करना अनावश्यक है।

सिंधीजीने मेरी प्रेरणासे 'सिंधी जैन ज्ञानपीठ' की स्थापनाके साथ, जैन-साहित्यके उत्तमोत्तम ग्रन्थ-रत्नोंको आधुनिक शास्त्रीय पद्धतिपूर्वक, योग्य विद्वानों द्वारा सुन्दर रीतिसे, संशोधित—संपादित करवाके प्रकाशित करनेके लिये और वैसा करके जैन साहित्यकी सार्वजनिक प्रतिष्ठा स्थापित करनेके लिये इस 'सिंधी

जैन ग्रन्थमाला' की विशिष्ट योजनाका भी सहर्ष स्वीकार किया और इसके लिये आवश्यक और अपेक्षित व्यय करनेका उद्धार उस्ताह प्रदर्शित किया ।

प्रारम्भमें शान्तिनिकेतनको रुद्धमें रख कर, एक ३ वर्षका कार्यक्रम बनाया गया और तदनुसार वहाँ काम प्रारम्भ किया गया । परन्तु इन तीन वर्षोंके अनुभवके अन्तमें, शान्तिनिकेतनका स्थान मुझे अपने कार्य और स्वास्थ्यकी दृष्टिसे बराबर अनुकूल प्रतीत नहीं हुआ । अतएव अनिच्छापूर्वक मुझे यह स्थान छोड़ना पड़ा और अहमदाबादमें 'गुजरात विद्यापीठ'के सन्निकट 'अनेकान्त विहार' बना करके वहाँ इस कार्यकी प्रवृत्ति चालू रखी । इस ग्रन्थमालामें प्रकाशित ग्रन्थोंकी सर्वत्र उत्तम प्रशंसा, प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा देख कर सिंधीजीका उस्ताह खूब बढ़ा और उन्होंने इस सम्बन्धमें जितना खर्च हो उतना खर्च करनेकी, और जैसे बने वैसे अधिक संख्यामें ग्रन्थ प्रकाशित होते हुए देखनेकी अपनी उद्धार मनोवृत्ति मेरे सामने बারंबार प्रकट की । मैं भी उनके ऐसे अर्पूर्व उस्ताहसे प्रेरित हो कर यथाशक्ति इस कार्यको, अधिक से अधिक वेग देनेके लिये प्रयत्नवान् रहा ।

सन् १९३८ के जुलाई मासमें, मेरे परम सुहृद् श्रीयुक्त कन्हैयालाल मानेकलाल मुंशीका—जो उस समय बंबईकी कॉमिंस गवर्नमेण्टके गृहमंत्रीके उच्च पद पर अधिष्ठित थे—अकस्मात् एक पत्र मुझे मिला, जिसमें इन्होंने सूचित किया था कि 'सेठ मुंशीलाल गोएलकाने दो छात्र रूपोंकी एक उद्धार रकम मुझे सुप्रप्त की है, जिसका उपयोग भारतीय विद्यार्थीके किसी विकासार्थक कार्यके लिये करना है और उसके लिये विचार-निमित्त करने तथा तदुपयोगी योजना बनानेके सम्बन्धमें मेरी आवश्यकता है अतएव मुझे तुरत बंबई आना इष्ट है'—इत्यादि । तदनुसार मैं तुरत बंबई आया और हम दोनोंने साधर्म्य बैठ करके इस योजनाकी रूपरेखा तैयार की; और उसके अनुसार संबन्ध १९३५ की कार्तिक शुद्धा पूर्णिमाके दिन, श्रीमुंशीजीके निवासस्थानपर 'भारतीय विद्याभवन' की, एक बृहत् समारम्भके साथ, स्थापना की गई ।

अवगत विकासके लिये श्रीमुंशीजीका अधिक उद्योग, अखण्ड उस्ताह और उद्धार आत्मभोग देख कर मेरी भी इनके कार्यमें वयायोग्य सहकार अर्पित करनेकी पूर्ण उत्कण्ठा हुई और मैं इसकी आन्तरिक व्यवस्थामें प्रमुख रूपसे भाग लेने लगा । अवगतकी विविध प्रवृत्तियोंमें साहित्य प्रकाशन सम्बन्धी जो एक विशिष्ट प्रवृत्ति स्वीकृत की गई थी, वह मेरे इस ग्रन्थमालाके कार्यके साथ, एक प्रकारसे परस्पर साहायक स्वरूपकी ही प्रवृत्ति थी । अतएव मुझे यह प्रवृत्ति मेरे पूर्व-अंगीकृत कार्यमें बाधक न हो कर डकड़ी साधक ही प्रतीत हुई और इसलिये मैंने इसमें यथाशक्ति अपनी विशिष्ट सेवा देनेका निर्णय किया । सिंधीजीको जब इस सारी वस्तुस्थितिसे परिचित किया गया, तब वे भी भवनके कार्यमें रस लेने लगे और इसके संस्थापक सदस्य बन करके इसके कार्यके प्रति उन्होंने अपनी पूर्ण सहानुभूति प्रकट की ।

जैसे मैंने ऊपर बतलाया है वैसे, ग्रन्थमालाके विकासके लिये सिंधीजीका उस्ताह अत्यन्त प्रशंसनीय था और इसलिये मैं भी मेरे स्वास्थ्य आदिकी किसी प्रकारकी परवाह किये बिना, इस कार्यकी प्रगतिके लिये सतत प्रयत्न करता रहता था । परन्तु ग्रन्थमालाकी व्यवस्थाका सर्व प्रकारका भार मेरे अकेलेके सिर पर आभित था, अतएव मेरा शरीर जब यह व्यवस्था करता करता रुक जाय, तब इसकी स्थिति क्या होगी इसका विचार भी मैं बारंबार किये करता था । दूसरी ओर सिंधीजीकी भी उत्तरावस्था होनेसे वे बारंबार अस्वस्थ होने लगे थे और वे भी जीवनकी अस्थिरताका आभास अनुभव करने लगे थे । इसलिये ग्रन्थमालाके भावीके विषयमें कोई स्थिर और सुनिश्चित योजना बना लेनेकी कल्पना हम बराबर करते रहते थे ।

भा० वि० भवनकी स्थापना होनेके बाद ३-४ वर्षमें ही इसके कार्यकी विद्वानोंमें अच्छी तरह प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा जमने लगी थी और विविध विषयक अध्ययन-अध्यापन और साहित्यिक संशोधन-संपादनका कार्य अच्छी तरहसे आगे बढ़ने लगा था । यह देख कर सुहृद्वर मुंशीजीकी खास आकांक्षा हुई कि 'सिंधी जैन ग्रन्थमाला'की कार्यव्यवस्थाका सम्बन्ध भी यदि भवनके साथ जोड़ दिया जाय, तो उससे परस्पर दोनोंके कार्यमें सुंदर अभिवृद्धि होनेके अतिरिक्त ग्रन्थमालाको स्थायी स्थान प्राप्त होगा और भवनको भी विशिष्ट प्रतिष्ठाकी प्राप्ति होगी, और इस प्रकार भवनमें जैन-शास्त्रोंके अध्ययनका और जैन-साहित्यके प्रकाशनका एक अद्वितीय केन्द्र बन जायगा । श्रीमुंशीजीकी यह शुभाकांक्षा, ग्रन्थमाला सम्बन्धी मेरी भावी चिंताका योग्य रूपसे निवारण करनेवाली प्रतीत हुई और इसलिये मैं उस विषयकी योजनाका विचार करने लगा । यथावसर सिंधीजीको मैंने श्रीमुंशीजीकी आकांक्षा और मेरी योजना सूचित की । वे भा० वि० भ० के स्थापक-सदस्य तो थे ही और तदुपरान्त श्रीमुंशीजीके खास जेहादस्व मित्र भी थे । इसलिये उनको भी यह योजना अपना लेने योग्य प्रतीत हुई । पंडितप्रवर श्री सुखलालजी जो इस ग्रन्थमालाके

भारतभरों ही अंदरूनी हिकयितक और सक्रिय सहायक रहे हैं, उनके साथ भी इस योजनाके सम्बन्धमें मैंने उचित परामर्श किया और संवत् २००१ के वैशाख शुद्ध (मई सन् १९४३) में सिंहीजी कार्य-प्रसङ्गसे संबंध आये तब, परस्पर निर्जीत विचार-विनिमय करके, इस ग्रन्थमाकाकी प्रकाशनसम्बन्धिनी सर्व व्यवस्था भवनके अधीन की गई। सिंहीजीने इसके अतिरिक्त उस अवसर पर, मेरी प्रेरणासे भवनको दूसरे और १० हजार रुपयेकी उदार रकम भी दी, जिसके द्वारा भवनमें उनके नामका एक 'हॉल' काया जाय और उसमें प्राचीन वस्तुओं तथा चित्र आदिका संग्रह रखा जाय।

भवनकी प्रबंधक समितिने सिंहीजीके इस विच्छिन्न और उदार दानके प्रतिघोषरूपमें भवनमें प्रचलित 'जैनशास्त्र-शिक्षणविभाग'को स्थायी रूपसे 'सिंही जैनशास्त्र शिक्षापीठ' के नामसे प्रचलित रखनेका सविशेष निर्णय किया।

\*

ग्रन्थमाकाके जनक और परिपालक सिंहीजी, भारतभरों ही इसकी सर्व प्रकारकी व्यवस्थाका भार मेरे ऊपर डोढ़ कर, वे तो केवल कास हसती ही आकांक्षा रखते थे कि ग्रन्थमाकामें किस तरह अधिकाधिक ग्रन्थ प्रकाशित हों और कैसे उनका अधिक प्रसार हो। इस सम्बन्धमें जितना खर्च हो उतना वे बहुत ही उत्साहसे करनेके लिये उत्सुक थे। भवनको ग्रन्थमाका समर्पण करते समय उन्होंने मुझसे कहा कि—“जब तक तो वर्षमें लगभग २-३ ही ग्रन्थ प्रकट होते रहे हैं परन्तु यदि आप प्रकाशित कर सकें तो प्रतिमास दो दो ग्रन्थ प्रकाशित होते देख कर भी मैं तो अग्न्य ही रहूँगा। जब तक जापका और मेरा जीवन है तब तक, जितना साहित्य प्रकट करने—करानेकी आपकी इच्छा हो तदनुसार आप व्यवस्था करें। मेरी ओरसे आपको पैसेका थोडासा भी संकोच प्रतीत नहीं होगा।” जैन साहित्यके उद्धारके लिये ऐसी उत्कट आकांक्षा और ऐसी उदार विचित्रता रखने वाला दानी और विमल पुरुष, मैंने मेरे जीवनमें दूसरा और कोई नहीं देखा। अपनी उपस्थितिमें ही उन्होंने मेरे द्वारा ग्रन्थमाकाके जाते लगभग ७५००० (कोने लाख) रुपये खर्च किये होने। परन्तु उन १५ वर्षोंके बीचमें एक बार भी उन्होंने मुझसे यह नहीं पूछा कि किसनी रकम किस ग्रन्थके लिये खर्च की गई है या किस ग्रन्थके सम्पादनके लिये किसको क्या दिया गया है? जब जब मैं प्रेस इत्यादिके निक उनके पास भेजता तब तब, वे तो केवल उनको देख कर ही ऑफिसमें बह रकम चुकानेकी रिमाईन्के साथ भेज देते। मैं उनसे कभी किसी निकके बारेमें बातचीत करना चाहता, तो भी वे उस विषयमें उत्साह नहीं बतलाते और इसके बजाय ग्रन्थमाकाकी साहज, शैश्य, मिटींग, बाईबींग, हेल्थ आदिके बारेमें वे खूब सूक्ष्मजापूर्वक विचार करते रहते और उस सम्बन्धमें विचारसे चर्चा किया करते। उनकी ऐसी अपूर्व ज्ञानलिखा और ज्ञानभक्तिने ही मुझे उनके सेहपातमें बंध किया और इसलिये मैं बारंबार इस प्रकारकी जायोपासना करनेमें समर्थ हुआ।

उक्त प्रकारसे भवनको ग्रन्थमाका समर्पित करनेके बाद, सिंहीजीकी ऊपर बतलाई हुई उत्कट आकांक्षा कल्पमें आनेसे, मेरा प्रस्तुत कार्यके लिये और भी अधिक उत्साह बढ़ा। मेरी वारिदिक स्थिति, इस कार्यके अतिरिक्त अगले प्रतिदिन बहुत अधिक सीमताके साथ क्षीण होती रहती है, फिर भी मैंने इस कार्यको अधिक वेगवाहू और अधिक विस्तृत बनानेकी दृष्टिसे कुछ योजनाएँ बनायीं छुट कीं। अनेक छोटे बड़े ग्रन्थ दुरुसाय मेझमें छपनेके लिये लिखे गये और दूसरे वैसे अनेक नवीन नवीन ग्रन्थ छपानेके लिये ठेका लिये गये छरे। जितने ग्रन्थ अब तकमें कुछ प्रकट हुए वे उतने ही दूसरे ग्रन्थ एक साथ मेझमें छपने छुट हुए और उनसे भी दूनी संख्याके ग्रन्थ प्रेस कॉपी आदिके रूपमें तैयार होने छरे।

इसके बाद योगे ही समयके पीछे—अर्थात् सेप्टेम्बर १९४३ में—भवनके लिये कलकत्ताके एक निवृत्त प्रोफेसरकी बड़ी काईमेरी करीबनेके लिये मैं वहाँ गया। सिंहीजीके द्वारा ही इस प्रोफेसरके साथ बातचीत की गई थी और मेरी प्रेरणासे वह सारी काईमेरी, जिसकी किंमत ५० हजार रुपये जितनी मांगी गई थी, सिंहीजीने अपनी ओरसे ही भवनको भेंट करनेकी अतिमहनीय मनोकृति प्रदर्शित की थी। परन्तु उस प्रोफेसरके साथ इस काईमेरीके सम्बन्धमें योग्य सोदा नहीं हो सका तब सिंहीजीने कलकत्ताके क्षुमासिद्ध स्वर्गवासी जैन सद्गुरुह्वय बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहरकी बड़ी काईमेरी से लेनेके विषयमें मुझे अपनी सलाह दी और उस सम्बन्धमें खर्च ही योग्य प्रकारसे उसकी व्यवस्था करनेका भार अपने ऊपर पर किया।

कलकत्तामें और सारे बंगालमें उस वर्ष अन्न-भुमिक्षका भयंकर कराक-काक चढ़ रहा था। सिंहीजीने अपने बहन नजीमगंज—भुमिक्षाबाद तथा दूसरे अनेक स्वकोंमें गरीबोंको उपवत और मन्वविर्त्तोंको भव्य भूखमें हजारों मन दान्य वितीर्ण करनेकी उदार और बड़ी व्यवस्था की थी, जिसके निमित्त उन्होंने उस वर्षमें

आ० ९३



कमभग तीव्र साधे-तीव्र काल रुपये कर्ष करते छिन्न छोड़े थे । बंगालके निवासियोंमें और जमींदारोंमें इतना बड़ा उदार आर्थिक भोग उस निमित्तसे अन्य किसीने देखा हो वैसा प्रकाशमें नहीं आया ।

अक्टूबर-नवम्बर मासमें उनकी वसियत विमर्शनी शुरू हुई और वह धीरे धीरे अधिकाधिक विविध होती गई । जनवरी, १९४४ के प्रारम्भमें, मैं उनसे मिलनेके लिये फिर कलकत्ता गया । सा. १ जनवरीकी संघाको उनके साथ बैठ कर ३ घण्टे पर्यंत ग्रन्थमाला, लाइब्रेरी, जैन इतिहासालेख आदिके सम्बन्धमें एक उत्साह पूर्वक बातचीत हुई; परन्तु उनको मानीं अपने जीवनकी अल्प-वाका आभास हो रहा हो उस प्रकारसे, वे बीच बीचमें वैसे उद्गार भी निकालते जाते थे । ५-७ दिन रह करके मैं बंबई आनेके लिये निकला तब वे बहुत ही भावप्रबलतापूर्वक मुझे विदाई देते समय बोले कि “कौन जाने अब फिर अपने मिलेंगे या नहीं?” मैं उनके इन दुःखद वाक्योंको बहुत ही दबे हुए हृदयसे सुना और उद्देग धारण करता हुआ उनसे लड़ाके लिये अलग हुआ । उसके बाद उनका साक्षात्कार होनेका प्रसङ्ग ही नहीं आया । ५-६ महीने तक उनकी वसियत अच्छी-बुरी चकती रही और अंतमें छुआईकी (सन् १९४४) ७ वीं तारीखको वे अपना जिनकर शरीर छोड़ कर परलोकमें चले गये । मेरी साहित्योपासनाका महान् सहायक, मेरी सुप्र सेवाका महान् पोषक और मेरी कर्तव्य निष्ठाका महान् प्रेरक सद्गुरु सुपुत्र, इस असार संसारमें मुझे शून्य हृदय बना करके स्वयं महाशून्यमें विलीन हो गया ।

बचपि सिंधीजीका इस प्रकार नाशवान् स्थूल शरीर इस संसारमेंसे विलुप्त हो गया है परन्तु उनके द्वारा स्थापित इस ग्रन्थमालाके द्वारा उनका पलाशरीर, सैंकड़ों वर्षों तक, इस संसारमें विद्यमान रह करके उनकी कीर्ति और स्मृतिकी प्रशस्तिका प्रभावदर्शक परिचय भाषी जनताको सतत देता रहेगा ।

### सिंधीजीके सुपुत्रोंका सत्कार्य

**सिंधीजीके स्वर्गवाससे जैन साहित्य और जैन संस्कृतिके महान् पोषक नररक्षकी जो बड़ी कमी हुई है उसकी वो सहज भावसे पूर्ति नहीं हो सकती है । परन्तु मुझे यह देख कर हृदयमें कैसी आत्ता और आश्वासक आश्वास होता है कि उनके सुपुत्र श्री राजेन्द्र सिंहजी, श्री भरेन्द्र सिंहजी और श्री श्रीरेन्द्र सिंहजी अपने पिताके सुयोग्य संतान हैं । अतएव वे अपने पिताकी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धिके कार्यमें अनुसृत्य भाग ले रहे हैं और पिताकी भावना और प्रवृत्तिका उदारभावसे पोषण कर रहे हैं ।**

सिंधीजीके स्वर्गवासके बाद इन बंधुओंने अपने पिताके दान-पुण्यनिमित्त अजीमगंज हस्पति स्थानोंमें कमभग ५०-६० हजार रुपये कर्ष किये थे । उसके बाद थोड़े ही समयमें सिंधीजीकी वृद्धमाताका भी स्वर्गवास हो गया और इसलिये अपनी इस परम पूजनीया दादीमाके पुण्यनिमित्त भी इन बंधुओंने ७०-८५ हजार रुपयोंका व्यय किया । ‘सिंधी जैन ग्रन्थमाला’ का पूरा भार तो इन सिंधी बंधुओंने पिताजीद्वारा निर्धारित विचारानुसार, पूर्ण उत्साहसे अपने सिर से ही लिखा है और इसके अतिरिक्त कलकत्ताके इन्विडन रीसर्च इन्स्टीट्यूटको बंगालीमें जैन साहित्य प्रकाशित करवानेकी इच्छासे सिंधीजीके क्लारककर्ममें ५००० रुपयोंकी प्रारम्भिक मदद दी ।

सिंधीजीके ज्येष्ठ विरज्जीव बाबू श्री राजेन्द्र सिंहजीने मेरी कामना और प्रेरणाके प्रेमसे बड़ी-भूल होकर अपने पुण्यश्लोक पिताकी अज्ञात इच्छाको पूर्ण करनेके लिए, ५० हजार रुपयोंकी स्मरणीय रकम भारतीय विद्याभवनको दान स्वरूप दी और उसके द्वारा कलकत्ताकी उक्त बाहर लाइब्रेरी खरीद करके भवनको एक अमूल्य साहित्यिक निधि के रूपमें सेट की है । अबबकी यह भव्य निधि ‘बाबू श्री बाहादुर सिंहजी सिंधी लाइब्रेरी’ के नामसे खदा प्रसिद्ध रहेगी और सिंधीजीके पुण्यस्मरण की एक बड़ी ज्ञानप्रपा बनेगी । बाबू श्री भरेन्द्र सिंहजीने, अपने पिताने बंगालकी सराफ जातिके सामाजिक एवं धार्मिक उत्थानके निमित्त जो प्रवृत्ति चालू की थी, उसको अपना लिया है और उसके संचालनका भार प्रमुख रूपसे स्वयं से लिया है । गत (सन् १९४४) नवम्बर मासमें कलकत्तामें दिगम्बर समाजकी ओरसे किये गये ‘वीरवासन जयंती महोत्सव’ के प्रसङ्ग पर उस कार्यके लिये इन्होंने ५००० रुपये दिये थे तथा कलकत्तामें जैन वेदाम्बर समुदायकी ओरसे बांधे जाने वाले ‘जैन भवन’ के लिये ३१००० रुपये दान करके अपनी उदारताकी छत्र छुकाव की है । भविष्यमें ‘सिंधी जैन ग्रन्थमाला’ का सर्व आर्थिक भार इन दोनों बंधुओंने उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लेनेकी अपनी प्रवृत्तनीय मनोभावना प्रकट करके, अपने स्वर्गीय पिताके इस परम पुनीत यशोमंदिरको उत्तरोत्तर उन्नत स्वरूप देनेका शुभ संकल्प किया है । तथास्तु ।

आ० वि० भ०; बंबई }  
नोवंबर, ई. स. १९४८ }

-जिनविजयसुनि

## कुछ प्रास्ताविक विचार ।

[ सिद्धसेन दिवाकरके ग्रन्थोंके प्रकाशनकी कुछ कथा ]

**मेरे** स्वर्गवासी आज गुरु, यतिप्रवर श्री देवीहंसजी— जिन्होंने मुझे सबसे पहले '३<sup>म</sup> नमः सिद्ध' ।' का मंत्र सुनाया और 'अ आ इ ई' इत्यादि स्वरूप प्रथम मातृकापाठ पढ़ाकर मेरे ज्ञानरूपी नेत्रोंका उन्मीलन किया— उन्होंने मुझे पीछेसे 'भक्तानन्द' और 'कल्याणमन्दिर' नामक प्रसिद्ध दो जैन स्तोत्रोंको भी कण्ठस्थ कराया । मेरी अवस्था उस समय प्रायः १०-१२ वर्षके बीचकी थी । वि. सं. १९५४-५५ का वह समय था । आज उस कालको व्यतीत हुए प्रायः पूरे ५० वर्ष होने आये हैं । बहुत स्पष्ट तो नहीं लेकिन कुछ कुछ स्मरण अवश्य है कि गुरुजीने 'कल्याणमन्दिर' स्तोत्र सिखाते हुए इसके कर्ता— जो शैलावर संप्रदायकी मान्यताके अनुसार सिद्धसेन दिवाकर कहे जाते हैं—के बारेमें भी प्रसंगात्पूरुषा कुछ बातें सुनाई थीं । उन बूढ़ यतिजनोंमें यह एक प्रथासी चली आती थी कि वे अपने मूलन शिष्योंको अपने पूर्वाचार्योंके उपोसिध, वैद्यक और मंत्र-तन्त्रादि प्रमुक्त चमत्कारोंका और प्रभावोंका माहात्म्यवर्णन सुनाया करते थे और उसके द्वारा अपने शिष्योंके मनमें उन उन विद्याओंके पढ़नेमें उत्कंठा और उत्साह उत्पन्न करते रहते थे ।

१ सिद्धसेन दिवाकर उस विक्रम राजाके गुरु थे जिसने उज्जयिनीमें खापरिये चोरको, ५२ वीरोंको, १४ बोलिसियों आदिको बन्ध किया था । सिद्धसेन सूरिने इस 'कल्याण मन्दिर' स्तोत्रके पाठसे उज्जयिनीके महाकालेश्वरके लिंगको फोड़ कर उससेसे पार्श्वनाथ भगवान्की मूर्ति प्रकट की थी । इत्यादि प्रकारकी चमत्कारिक कथाएं कथावत्सर गुरुजी सुनाया करते थे । उस अबोधबाल्यामें काममें पड़े हुए उन बातोंके कुछ अस्पष्ट संस्कार, मुझे जब जैन इतिहासके पढ़नेकी तरफ अधिक दक्षि उत्पन्न हुईं, तब फिर शनैः शनैः जागृत होने लगे ।

२ यतिजीके स्वर्गवासबाद ( जिनकी चरणोपासना करनेका दुर्भाग्यसे मुझे सिर्फ प्रायः ३-३½ वर्ष जितना ही समय मिला था ) मैं इधर उधर भटकता हुआ, स्थानकवासी संप्रदायमें वीक्षित हो कर बालसाधु बन गया । उस साधुसंघके साथ भ्रमण करते हुए सं. १९६०-६१ में मेरा उज्जयिनी जाना हुआ । वहां पर, खापरिया चोरकी गुफा, १४ बोलिसियोंका संभा, महाकालेश्वरका मन्दिर—आदि इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंके देखनेके निमित्त जानेका कभी कभी अवसर मिल जाता था । इससे विक्रम राजा और उनके गुरु सिद्धसेन दिवाकरकी जो कथाएं गुरुजीके मुकसे सुनी थीं उनकी कुछ कुछ स्मृति होने लगी । लेकिन उन स्थानकवासी संप्रदायके साधुओंका इतिहासविषयक चतुर्किंचिद् भी ज्ञान न होनेसे मेरी उस संस्कारस्मृतिके उद्बोधित होनेका कोई साधन नहीं मिला । एक दिन हम २-३ साधु मिल कर महाकालका मन्दिर देखनेको चले गये । मन्दिरके द्वारपर बैठे हुए ब्राह्मण पंडे, हम जैन साधुओंको—और-उनमें भी फिर मुंहपर मुखपट्टी बांधे हुए और मैले कुचेले वस्त्र धारण किये हुए स्थानकवासी साधुओंको—देख कर खूब हंसने लगे और तीव्र कटाक्ष करने लगे । कहने लगे 'क्या इन्हिये महाराज ! ( मालवामें स्थानकवासी जैन साधुओंको लोक 'इंदियों' के नामसे संबोधते हैं ) महाकालेश्वरका दर्शन करनेको आये हो ?' हमने कहा—'भाई, हम तो वों ही फिरते फिरते मन्दिर देखने चले आये हैं ।' तब पंडाने कहा—'तुम लोग मन्दिरके अन्दर तो इस तरह नहीं जा सकते; यहीं बहारसे खड़े खड़े देखना हो तो देख लो । यदि मन्दिरके अन्दर जाना हो तो 'सिप्राजी' ( जो वहांकी प्रसिद्ध नदी-है ) में जा कर स्नान करो, इन मैले कुचेले कपड़ोंको लावू लगा कर थोड़ाको, मुंहपर जो पट्टी बांध रखी है और बगलमें जो गम्हा झाड़ू ( जैन साधुओंके रजोहरणको उन्होंने झाड़ूकी उपमा दी ) दबा रखा है, उसे यहाँ बहार रख दो और फिर बंगोलेका दर्शन करो—' इत्यादि । कहनेकी आवश्यकता नहीं कि हम लोग वहांसे चुपकेसे, मन-ही-मनमें उस ब्राह्मण पंडेको गालियां देते हुए, अपने स्थानकमें चले आये । साथके और साधुओंके मनमें क्या जाया होगा सो तो मैं जान नहीं सका, परंतु मेरे अन्तर्देशीक हृद्द मनमें तो उस समय कभी तीव्र उत्तेजना उत्पन्न हुई थी । मुझे अपने

गुरुजीकी सुनाई हुई, सिद्धसेन दिवाकर द्वारा उसी महाकालेश्वरके लिंगके टुकड़े टुकड़े कर दिये जानेवाली, कथाका स्मरण हो आया । 'कल्याणमन्दिर' स्तोत्र तो मुझे उस समय भी कंठस्थ था ही । मेरे मनमें आया कि यदि मैं कुछ जरा बड़ी उम्रका होता और अपने गुरुजीके पाससे विधिपूर्वक कुछ मंत्र-तंत्र सीख पाता, और उसी कल्याणमन्दिर स्तोत्रके पाठ द्वारा, मैं भी आज यहाँ बैठ कर, इस बुढ़ा ब्राह्मण पंथके सामने ही, उसी तरह महाकालका लिंग स्फोटन कर, जैन मूर्ति प्रकट सकता, तो जैन साधुका कितना माहात्म्य बढ़ा देता और इन जैनदेवी ब्राह्मणोंको कैसा नीचा दिखा देता । महाकालके मन्दिरके देखनेकी उस उद्दिष्ट स्मृतिका चित्र मुझे बचपनसे सताता रहा, और सिद्धसेन दिवाकरकेसे मंत्रसामर्थ्यकी प्राप्तिकी मैं झंझना करता रहा ।

३ मैंने अपने बाल मनोभावके अनुसार, उस संप्रदायमें जो बड़े साधु थे उनसे महाकालके बारेमें कुछ जिज्ञासा की और अपने गुरुजीके पाससे जो सिद्धसेनकी कथा सुनी हुई थी उसके विषयमें कुछ विशेष जानना चाहा; तो उन्होंने झट से उत्तर दे दिया कि 'अरे वे जतने लोग यों ही गप्पें मारा करते हैं और मन्दिर और मूर्तिका पालख चलानेके लिये ऐसी कहानियां घडते रहते हैं !' साधुजी महाराजका यह कथन मुझे कुछ रुचा नहीं । क्यों कि मेरी श्रद्धा मेरे उन स्वर्गवासी गुरुजीके बहुविध ज्ञान और प्रभावशाली व्यक्तित्व पर जैसी जमी हुई थी वैसी इन साधु महाराज पर नहीं जमी थी । उसके बाद मैं मन-ही-मन अनेक कारणोंसे विक्षुब्ध होता रहा । खास करके जैन साहित्य और जैन इतिहासके अध्ययनकी अज्ञात उरकंठा ज्यों-ज्यों मुझे विशेष सताने लगी त्यों-त्यों मैं उस संप्रदायसे विरक्त होने लगा, और परिणाममें कुछ बचों बाद ( वि. स. १९६५ में ) उसी उम्रमें रहते हुए, मैं एक दिन उस संप्रदायसे, पिंजरेमें पड़े हुए पशु-पक्षिकी तरह, भाग निकला ।

४ इसके बीचमें, मुझे श्वेतांबर मूर्तिपूजक संप्रदायके सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य श्रीआत्मारामजी महाराजके बनाए हुए 'सम्यक्त्वशास्त्रोद्धार' तथा 'जैनतत्त्वादृश' आदि ग्रन्थ पढ़नेको मिले जिससे मेरी श्रद्धा इस संप्रदायकी तरफ विशेष आकर्षित हुई । अतः स्थानकवासी संप्रदायकी दीक्षाका त्याग कर मैंने इस संप्रदायकी दीक्षा ली - या यों कहना चाहिये कि पहली दीक्षाका त्याग कर दूसरी दीक्षाके साथ पुनर्विवाह किया । इस दूसरी दीक्षाने, मुझे अपनी अध्ययनविषयक लालसाको, थोड़े बहुत रूपमें समुद्र करनेका अवसर दिया । इससे अन्यान्य जैन पूर्वाचार्योंके साथ सिद्धसेन दिवाकरके विषयमें भी मुझे कुछ ऐतिहासिक तथ्यके जाननेका सुयोग प्राप्त हुआ ।

\*

५ मैं अपने ये 'कुछ प्रास्ताविक विचार' सिद्धसेन दिवाकरकी कृतिसं सम्बद्ध ऐसे एक ग्रन्थके विशिष्ट संस्करणको उद्दिष्ट करके लिखने प्रस्तुत हुआ हूँ, इसलिये सिद्धसेन दिवाकरका पुण्य नाम, अपने जीवनमें सबसे पहले मुझे कब श्रवणगोचर हुआ, इसकी स्मृतिके निदर्शक उपर्युक्त स्मरण-संस्कारोंको, यहाँ पर आलेखित करनेकी ऊर्मिको मैं दबा नहीं सकता और इसलिये मुझे ये कुछ पंक्तियां लिखनी पड़ीं ।

\*

६ उक्त प्रकारसे बालपनमें गुरुमुखसे सिद्धसेनका नामश्रवण करने बाद, आत्मारामजीके 'जैनतत्त्वादृश' नामक पुस्तकमें सबसे पहले सिद्धसेनका कथात्मक इतिहास मुझे पढ़नेको मिला । बादमें धीरे धीरे जिज्ञासा जैसे बढ़ती गई और अध्ययनकी दृष्टि जैसे खुलती गई, वैसे वैसे इनके विषयकी प्राचीन साहित्यिक सामग्रीका अनुशीलन करनेकी प्रवृत्ति भी बढ़ती रही । इसके परिणाममें प्रबन्धचिन्तामणि आदि ग्रन्थों तथा अन्यान्य वैसे प्रबन्धों आदिके अवलोकन द्वारा, जो कुछ मुझे ऐतिहासिक तथ्य ज्ञात हुआ तथा सिद्धसेनकी कुछ कृतियोंके पठन-मननसे जो कुछ सार मेरी समझमें आया, उसके फलस्वरूप, जैन साहित्य और इतिहासके अन्वेषणात्मक लेखों, निबन्धों, विचारों आदिको प्रकाशमें लानेकी दृष्टिसे, सर्व प्रथम मेरे द्वारा संपादित और संचालित 'जैन साहित्यसंशोधक' नामक त्रैमासिक पत्रके प्रथम अंकमें, ( सन् १९१९-२० में ) 'सिद्धसेन दिवाकर और स्वामी समन्तभद्र' इस नामका एक लेख लिख कर मैंने प्रकट किया ।

७ कोई ३० वर्ष पहले लिखे गये उस छोटेसे लेखमें, सिद्धसेनके विषयमें जो कुछ साररूपसे मैंने लिखा है उसमें कुछ विशेष संशोधन या परिवर्तन करने जैसा कोई खास विचार, अभी तक भी प्रकाशमें

नहीं आया है । जैन साहित्यके इतिहासमें सिद्धसेनका क्या स्थान है तथा जैन न्यायके प्रतिष्ठित करनेमें उनका क्या कर्तव्य है इस विषयमें मैंने उक्त लेखमें जो कुछ विचार प्रदर्शित किये हैं, वे प्रायः वैसे ही अन्य विद्वानोंको भी अभी तक मान्य हैं, यह देख कर मुझे जो कुछ अल्प-स्वल्प आत्म-सन्तोषकी अनुभूति होती हो तो वह झान्त नहीं है ऐसा समझना अनुचित नहीं होगा ।

८ तभीसे मेरी यह इच्छा रही कि सिद्धसेन दिवाकरके सभी ग्रन्थ, सुयोग्य विद्वानों द्वारा संशोधित संपादित हो कर प्रकाशमें आये तो उससे जैन साहित्यकी विशेष गौरववृद्धि होगी । सद्भाग्यसे, उसके बाद तुरन्त ही मैं, गुजरात विद्यापीठ (अहमदाबाद) की सेवामें संलग्न हो गया, जिसके अन्तर्गत मेरे तत्त्वाधानमें, महात्माजीने 'गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर'की स्थापना की । उसमें भारतीय प्राचीन साहित्य, इतिहास, दर्शनशास्त्र आदि विषयोंके अध्ययन-अध्यापनके विशिष्ट कार्यके अतिरिक्त, उसके द्वारा जैन, बौद्ध, ब्राह्मण आदि संप्रदायके विभिन्न विषयोंके महत्त्वके ग्रन्थोंका संशोधन प्रकाशन आदि करनेका कार्यक्रम भी बनाया गया । मेरा सामग्र्य आमंत्रण प्राप्त कर, मुझसे ज्ञान, दर्शन, चरित्र एवं वय आदिमें वृद्ध ऐसे मेरे सुहृन्मित्र पण्डितश्रवर श्री सुखलालजी तथा जैनागमोंके अग्रगण्य अभ्यासी पंडित श्री बेचरदासजी भी उस मन्दिरके, मेरे सहकारी, पूजारी बने । पण्डित सुखलालजीने, इसके पहले ही, आगरामें रहते हुए, सिद्धसेन दिवाकररचित महाग्रन्थ 'संनमति'के संपादन करना प्रारंभ किया था । मैंने इस ग्रन्थको पुरातत्त्व मन्दिरसे प्रकाशित होनेवाली ग्रन्थावलिमें प्रकट करनेका विचार किया जो पण्डितजीको भी बहुत उपयुक्त लगा और फिर तदनुसार, पण्डित श्री बेचरदासजीके सहयोगमें, हमोंने उसका विशिष्ट संशोधनकार्य प्रारंभ किया । कई वर्षोंके अथक परिश्रम और बहुत द्रव्यव्ययके पश्चात्, अभयदेवसूरिकी 'वादमहार्णव' नामक महती व्याख्याके साथ, बड़े बड़े ५ भागोंमें, दिवाकरका यह 'संनमति प्रकरण' नामक जैन दर्शनका महातर्कग्रन्थ समाप्त होकर प्रसिद्ध हुआ । इस ग्रन्थके संपादनकार्यकी महत्ता और विशिष्टताको देख कर, जर्मनीके प्रो० हर्मन्न् पाकोबी जैसे महान् संस्कृतविद्यालिङ्ग विद्वान्ने लिखा था कि 'भारतीय दर्शनशास्त्रके इस मौलिक एवं अतिगहन ग्रन्थका, इस तरहसे सुसंपादन करनेवाला युरोपमें तो आज कोई पण्डित विद्यमान नहीं है' इत्यादि । मूल ग्रन्थका सटीक संपादन समाप्त कर, फिर उसकी प्रस्तावनाके रूपमें, पंडितजीने गुजरातीमें एक और भाग तैयार किया, जिसमें संनमति के मूलका सविवेचन गुजराती अनुवाद तथा ग्रन्थसे संबद्ध ऐसी ऐतिहासिक एवं तारिखिक चर्चाका जहापोह करनेवाली अनेक बातोंकी मीमांसा की है । इसमें सिद्धसेन दिवाकरके विषयमें प्रायः सभी शास्त्रिक विचारोंका पण्डितजीने समग्रमात्र यथेष्ट विवेचन किया है । प्रकाशक्यु होते हुए भी पण्डितजीने इस ग्रन्थके संपादनकार्यमें अपनी जिस सूक्ष्म विचारदृष्टि और मानसिक अवगाहनशक्तिका अप्रतिम परिचय दिया है वह तत्त्वोंके लिये बड़ा आश्चर्योत्पादक है । केवल जैन शास्त्रोंकी ही दृष्टिसे नहीं, अपितु भारतके सभी दार्शनिक शास्त्रोंके संपादन-संशोधनकी दृष्टिसे पण्डितजीका यह संपादनकार्य एक आदर्शरूप होना चाहिये ।

९ 'संनमति'के संपादनके बाद, पण्डितजीने दिवाकरजीके 'न्यायावतार' मूत्रका गुजराती अनुवाद और उसमें विवेचित पदार्थोंका सारगर्भित विवेचन लिखा, जो मेरे द्वारा संपादित उसी 'जैन साहित्य संशोधक'के तीसरे खण्डमें प्रकाशित हुआ है । इस निबन्धमें पण्डितजीने जैन न्यायशास्त्रके इस आद्य ग्रन्थके विषयमें अभ्यासियोंके जानने और मनन करने लायक सभी विषयोंका, संक्षिप्त परंतु बहुत ही सरल एवं सारभूत शैलीमें, स्पष्टीकरण किया है ।

\*

१० इसके बाद, सिद्धसेन दिवाकरकी एक अतिगहन 'वेदवादव्यातिशिका' नामक काव्यकृति पर पण्डितजीने बहुत परिशीलन करके गुजरातीमें विवरण लिखा, जो मेरे संपादित 'भारतीय विद्या' नामक त्रैमासिक पत्रिकाके 'बहादुरसिंहजीसिंघी स्मारक' रूप तृतीय खण्डमें प्रकाशित हुआ है ।

इस व्यातिशिकाके 'किंचित् प्रास्ताविक'में मैंने लिखा था कि—'यह व्यातिशिका, लघुमुच, समुच्चय संस्कृत साहित्यमें, एक बहुत गूढ़ और गम्भीर अर्धपूर्ण रचना है । दार्शनिक और साहित्यिक विद्वानोंको इसका कुछ भी परिचय अद्यावधि प्राप्त नहीं हुआ है । इसका भाव भी समझना बहुत कठिन है । जैन और वेदवादके सिंगूद तर्कोंका जिसको परिपूर्ण परिचय नहीं है उसको प्रस्तुत व्यातिशिकाका कुछ भी

इसल समझमें आ सके वेला नहीं है। इसी कारणसे, मुझे लगता है कि आज तक किसी जैन विद्वान्ने, इस ऋं किसी प्रकारकी टीका-टिप्पणी आदि नहीं लिखी। बहुत समयसे मेरी इच्छा थी कि पण्डितजी इस द्वात्रिंशिकाके अर्थपर कुछ प्रकाश डालें। इनके जैसा जैन दार्शनिक और साहित्यिक मर्मज्ञ विद्वान् जैन समाजमें आज अन्य कोई मेरी दृष्टिमें नहीं है। जैनेतर समूहमें भी कोई होगा या नहीं इसकी मुझे याचना है। इस द्वात्रिंशिकाका भावार्थ लिखनेमें पण्डितजीने तब तक जितना वाचन-विम्वन-मनन किया था उस सबका सार दे दिया है। इसका रहस्य तो वे ही मर्मज्ञ ठीक समझ सकेंगे जिनका इस विषयमें विशेष प्रवेश है।

११ सिद्धसेन विवाकरकी इन द्वात्रिंशिका स्वरूप गभीर और गहन अर्थपूर्ण काव्यकृतियोंके निरूपणमें, मैंने अपने पूर्वलिखित उक्त प्रथम लेखमें लिखा था कि “सिद्धसेन सूरीकी ये द्वात्रिंशिकाएं बहुत ही गूढ़ और गभीरार्थक हैं। इनको ऊपर ऊपरसे हमने कई बार पढ़ कर देखा, परंतु सबका भावार्थ स्पष्ट रीतिसे बहुत कम समझमें आता है। अफसोस तो इस बातका है कि जैन धर्ममें हजारों ही बड़े बड़े ग्रन्थकार और टीकाकार हो गए हैं परंतु किसीने भी इन द्वात्रिंशिकाओंका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये ‘सम्बन्ध मात्र प्रकाशिका’ श्याक्या भी लिखी हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। इसका कारण हमारी समझमें नहीं आता। इन द्वात्रिंशिकाओंकी अपूर्वार्थता और कलाकी महत्ताका खयाल करते हैं, तब तो यह विचार आता है कि इनके ऊपर अनेक वार्तिक और बड़े बड़े भाष्य लिखे जाने चाहिये थे। और ‘श्यावाचचार’ के ऊपर ऐसे वार्तिक और श्याक्यान लिखे भी गये हैं। फिर नहीं मालूम, क्यों इन सबके लिये ऐसा नहीं किया गया। शायद अतिगूढ़ार्थक होनेहीके कारण, इनका रहस्य प्रकट करनेके लिये किसीकी हिम्मत न पड़ी हो। योग्य और बहुश्रुत विद्वानोंके प्रति हमारा निवेदन है कि वे इनका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये अवश्य परिश्रम करें। इन कृतियोंमें बहुत ही अपूर्व विचार भरे हुए हैं। हमारे विचारसे जैन साहित्य भर्में ऐसी अन्य अपूर्व कृतियां नहीं हैं।”

१२ तीस वर्ष पहले, अज्ञात भावसे विद्वानोंके प्रति किये गये, मानों मेरे उक्त निवेदनके ही फलस्वरूपमें, पण्डितजी द्वारा इस प्रकार सिद्धसेनीय दो कृतियोंका उत्तम विवेचन हमें प्राप्त हुआ है, वेसा सम्प्रकार मुझे आज विशिष्ट आनन्दका अनुभव होना स्वाभाविक है। मैंने, उक्त वेदवाद द्वात्रिंशिकाके उद्दी ‘किंचित् प्रास्ताविक’में सिद्धसेनकी अम्याम्य द्वात्रिंशिकाओं पर भी पण्डितजी जैसे बहुश्रुत विद्वान्के द्वारा अर्थावबोधक विवेचनादि होनेकी निम्न प्रकारसे पुनः आकांक्षा प्रकट की है।

“सिद्धसेन विवाकरकी और भी ऐसी अनेक द्वात्रिंशिकाएं हैं जो प्रस्तुत अर्थात् वेदवाद द्वात्रिंशिकाके समान ही बहुत गभीर और अर्थपूर्ण हैं। सांख्य, योग, वैशेषिक आदि अनेक मतोंके ग्रन्थोंकी इन द्वात्रिंशिकाओंमें इसी प्रकारकी निगूढ़ चर्चा करनेमें आई है। इन सब द्वात्रिंशिकाओं पर भी इस तरहका अर्थावबोधक विवेचन लिखा जाय तो वह अम्यासियोंको बहुत उपयोगी हो कर कितने ही विविध प्रमे-योंका नूतन ज्ञान प्राप्त करानेवाला सिद्ध होगा। मैं चाहता हूं कि पण्डितजीके हाथों इन अम्याम्य द्वात्रिंशिकाओं पर भी ऐसा ही समर्पक विवेचन लिखा जा कर वह निकट भविष्यमें प्रकाश प्राप्त करें।”

✽

### [ न्यायावतारवार्तिक-वृत्तिका प्रस्तुत विशिष्ट संस्करण ]

१३ पण्डितवर्य भी वलमुक्त आई मातृवर्णिया द्वारा संपादित और विवेचित हो कर, प्रस्तुत ‘न्यायाव-तारवार्तिक-वृत्ति’ नामक जो ग्रन्थरत्न अब विद्वानोंके सम्मुख उपस्थित है, यह भी उन्हीं सिद्धसेन विवाकरकी एक कृतिका विवेचनरूप है यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस ग्रन्थका, इस तरहके एक अत्यन्त विशिष्ट संस्करणके रूपमें प्रकाशित होनेका प्रथम ज्ञेय भी पण्डितप्रवर भी सुखकाक-जीको ही प्राप्त है। सिंधी जैन ग्रन्थमालामें गुप्तित करनेके लिये प्रारंभहीमें, जिन अनेक ग्रन्थोंकी माला-बलि मैंने अपने मत्तमें सोच रखी थी, उनमें इस ग्रन्थका नाम भी सन्निहित था। कमारससे जो इसका एक संस्करण बहुत वर्षों पहले निकला था वह बहुत ही अद्भुत था, इसलिये इसका अच्छा कुछ संस्करण प्रकाशित होना मुझे आवश्यक लगता था। प्रसंगावश मैंने पण्डितजीसे अपना अभिप्राय प्रकट किया

१ जैन साहित्यसंशोधक, प्रथम खण्ड, पहला अंक, पृष्ठ ९.

२ देखो, ‘वेदवादद्वात्रिंशिका’में मेरा लिखा ‘किंचित् प्रास्ताविक’ पृ. २.

जिसको इन्होंने पसन्द किया और फिर यह कार्य पण्डित श्री दलसुख भाईको समर्पित करनेका हम दोनोंने निर्णय किया । इसका जो यह सुन्दर फल निर्मित हुआ है, मेरी दृष्टिसे इस ग्रन्थमालाके लिये गौरवकी वस्तु है ।

\*

१४ पण्डित श्री दलसुख भाई, पं० श्री सुखलालजीके एक सुयोग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हैं । इन्होंने कबोंसे पण्डितजीका सौहार्दपूर्ण सहवास प्राप्त कर विविध शास्त्रोंका अध्ययन किया है और इनके साथ बैठ कर अध्यापन तथा संशोधन-संपादनका काम किया है । दलसुख भाईका दर्शनशास्त्रविषयक अध्ययन-मनन कितना विशद और विस्तृत है यह तो जो मर्मज्ञ जिज्ञासु, प्रस्तुत ग्रन्थमें लिखे गये इनके विस्तृत दिष्णों और प्रकाशमानत विविध प्रकरणोंको मननपूर्वक पढ़ेगा उसीको ठीक ज्ञात हो सकेगा । पण्डित श्री सुखलालजीने अपने 'आ विद्या न्य' में इस विषयके अधिकारपूर्ण वचनोंमें जो सारभूत उल्लेख किया है उससे कुछ विशेष कहनेका मैं अपना अधिकार नहीं समझता । मैं सिर्फ इतना कहना चाहूंगा कि जैन साहित्यके ग्रन्थप्रकाशन क्षेत्रमें, पण्डितजीके लिखे गये सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण दिष्णों और विशद एवं प्रमाणपूत 'प्रास्ताविक विवेचनों'के साथ प्रकाशित होनेवाले 'प्रमाणमीमांसा', 'ज्ञानचिन्तु' आदि ग्रन्थोंके अतिरिक्त, अधुना दलसुख भाईका यह ग्रन्थ-संस्करण ही एक उक्त कोटिके प्रकाशनक्षेत्रमें अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त करने योग्य विद्वानोंको प्रतीत होगा ।

\*

### [ कृतज्ञता ज्ञापन ]

१५ जैन साहित्यके विस्तार भण्डारमें स्वरूप मिलने जानेवाले ग्रन्थोंका इस प्रकार उत्तम स्वरूपमें संस्करण, संपादन हो कर प्रकाशन किया जाना जिनके जीवनकी एक विशिष्ट अभिलाषा थी और जिन्होंने अपनी उस अभिलाषाका मूर्तरूपमें फलित होना देखनेकी अभ्य इच्छासे, इस ग्रन्थमालाका अनन्य अक्ष-पूर्वक प्रारंभ कराया था, वे ज्ञानलिप्सु, दानवीर, बाबू श्री बहादुर सिंहजी, यदि इस ग्रन्थका अवलोकन करनेके लिये, आज विद्यमान होते तो मुझे एक प्रकारका अवर्णनीय आनन्द प्राप्त होता । परंतु, दुर्दैवके दुर्विकासने, उस दिष्ण आत्माका अनवसरमें ही, हम जैसे उनके सब प्रियजनोंको, दुःखद विषोग करा दिया और हमारे उत्साह, उन्हास और आत्मादको मूर्च्छितसा कर दिया । मेरे लिये कुछ आश्वासनकी जो कोई वस्तु है तो वह यह है कि उन स्वर्गवासी भव्यमूर्तिके सुपुत्र बाबू श्री राजेन्द्र सिंहजी तथा श्री नरेन्द्र सिंहजी, अपने पूज्य पिताकी भव्य कामनाका, उसी उत्साहसे परिपूर्ण करनेकी सविष्ठा रखते हैं और मेरे बड़े हुए मन और बड़े हुए शरीरको, अपनी अज्ञा और सङ्कल्पितसे प्रोत्साहित करते रहते हैं ।

इस प्रकार पं० श्रीसुखलालजी, पं० दलसुखभाई आदि जैसे मेरे अनेक सम्मान्य विद्वान मित्रोंके साहित्यिक सहकारसे और उक्त सुदीप्त सिंधी बन्धुओंके सौहार्दपूर्ण औदार्यसे, इस ग्रन्थ मालाके संपादन-द्वारा मुझे जो कोई सफल मिलता हो तो मैं उसके लिये अपनेको उपकृत मानता हुआ, अपने इन सब सुहृद् बन्धुओंके प्रति अपना हार्दिक कृतज्ञभाव प्रकट करता हूँ ।

\*

१६ इस ग्रन्थमालाके, इस प्रकार सुन्दर रूपमें प्रकाशित होनेके कार्यमें, यद्यपि गौणरूपसे तथापि अनन्य साधकत्व करणके भावसे, जिस कार्यालयका विशेष सहयोग मुझे मिला है उसके प्रति भी मैं आज वहाँ अपना हार्दिक कृतज्ञभाव प्रकट करना चाहता हूँ । वह है बंबईका सुविख्यातनामा 'निर्णयसागर' मुद्रणालय । 'निर्णयसागर' प्रेसने संस्कृत एवं प्राकृत साहित्यके प्रकाशनकी जितनी बड़ी सेवा की है उतनी सेवा भारत वर्षके अन्य किसी प्रेसने नहीं की । केवल भारतवर्षमें ही नहीं युरोप और अमेरिकामें भी 'निर्णयसागर'ने अपने सुन्दर प्रकाशन और मुद्रण कार्यके लिये अच्छी क्वालिटी प्राप्त की है । जर्मनी, इंग्लैंड और अमेरिकामें बड़े बड़े भारतीय साहित्यप्रेमी विद्वान् भी यह चाहते रहे हैं कि उनके संपादित संस्कृत प्राकृत भाषाके ग्रन्थ 'निर्णयसागर' प्रेसके सुन्दर अक्षरोंमें, सुबद्ध रूपसे, छप कर प्रकाशित हों तो उत्तम हो । मैं जो इस ग्रन्थमालाको इस रूपमें प्रकट करनेमें उत्साहित होता रहा हूँ, उसका बहुत कुछ भेय 'निर्णयसागर' प्रेस को भी है । इस प्रेसके सरलस्वभावी, कार्यनिष्ठ और प्रामाणिकजीवनजीवी, बृद्ध मैनेजर अधुना रामचन्द्र प्रेम्भु शोडगके संतन्त्रीके आज कोई १८ वर्षोंसे इस ग्रन्थमालाके ये अपूर्व प्रसारक



ऊपर रहे हैं। यदि मेरे द्वारा संपादित इस ग्रन्थमाकाको, मेरी क्षमि और कल्पनाके मुताबिक सुन्दर सुव्रण कार्यमें, हमका सहानुभूतिपूर्ण सहयोग न मिलता, तो शायद ही मैं इस प्रकार आज तक इतने ग्रन्थोंको प्रकट करनेमें सफल होता। विश्वव्यापी दुष्टतम विगत महायुद्धके कारण, संसारके सब व्यवहारोंमें जो भ्रष्टाविद्यमत्ता उत्पन्न हुई है, उसके निमित्त साहित्यके प्रकाशनमें भी बहुत ही विषम समस्याएं उपस्थित हो गई हैं। ऐसी परिस्थितिमें भी 'निर्णयसागर'के संव्रणाहक और कर्मकर (कामदार) गणने मुझे, अपनी इस ग्रन्थमाकाके कार्यको बालू रक्तमें, यथाशक्य जो सहयोग दिया है और दे रहे हैं, उसके लिये मैं अपनी कुशलता प्रकट करवा अपना कर्तव्य समाप्तता हूं।

मार्गशीर्ष शुक्ल १, सं. २००५ }  
( ता. १-१२-१९४८ ) }  
भारतीय विद्या भवन, नंबर ६ }

- जि न वि ज य

\* \*  
\*

† यों तो 'निर्णयसागर' प्रेसके साथ मेरा संबंध कोई ३५ वर्षोंसे ऊपरका है। मेरी सबसे पहली संपादित एक 'अन्धायलंछकुलक' नामक छोटीसी प्राकृत-संस्कृत कृति, सन् १९१४-१५ में, इस प्रेस में छपी थी और उसी समयसे मेरा इस प्रेसके साथ संबन्ध जुड़ा हुआ है। 'सिंधी जैन ग्रन्थमाला' का आरंभ करनेके पूर्वमें, 'जैन साहित्यसंशोधक ग्रन्थावलि,' तथा 'गुजरात पुरातत्त्वमणिर ग्रन्थावलि'के कई ग्रन्थ भी मैंने इसी प्रेसमें मुद्रणार्थ दिये थे। ऊपर ध्येयत सुखलाजी द्वारा संपादित जिस 'सन्मसिप्रकरण' ग्रन्थका जिक्र किया है वह पूरा ग्रन्थ इसी प्रेसमें छपवा कर प्रकट किया गया था।

# आ दि वा क्य ।

लेखक — पं० श्री सुखलालजी संघवी ।

**सिं** की जैन ग्रन्थमाफका प्रस्तुत ग्रन्थरत्न जनेक दृष्टिसे महत्त्वका एवं उपयोगी है । इस ग्रन्थमें तीन कर्त्ताओंकी कृतिर्षी सम्मिलित हैं । सिद्धसेन विचार जो जैन दर्शनशास्त्रके आद्य प्रणेता हैं उनकी 'न्यायावतार' नामक छोटीसी पद्यबद्ध कृति इस ग्रन्थका मूल आधार है । सांख्यशास्त्रके पञ्चमख्यार्थिक और गद्यमय कृति वे दोनों 'न्यायावतार'की व्याख्याएँ हैं । मूल तथा व्याख्याएँ भाषा रूप मन्त्रार्थोंमेंसे जनेक महत्त्वपूर्ण मन्त्रार्थोंको लेकर उपपर ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टिसे लिखे हुए सारगर्भित तथा बहुश्रुततापूर्ण दिव्यण, अतिविस्तृत प्रस्तावना और अन्तके तेरह परिशिष्ट — यह सब प्रस्तुत ग्रन्थके संपादक श्रीबुत पंडित माकमणियाकी कृति है । इन तीनों कृतिबोंका विशेष परिचय, विषयायुक्तम एवं प्रस्तावनाके द्वारा अच्छी तरह हो जाता है । अतः यह इस बारेमें नहीं अधिक लिखना अनावश्यक है ।

## प्रस्तुत ग्रन्थके संपादनकी विशिष्टता ।

यदि हमारा और विवेककी सर्वाधिक अतिक्रमण न हो तो किसी अतिपरिचित व्यक्तिके विषयमें लिखते समय पक्षपात एवं अनौचित्य दोषसे बचना बहुत सरल है । श्रीबुत पंडितजीसाई माकमणिया मेंरे निष्पार्थी, सहसंपादक, सहाय्यापक और मिश्ररूपसे निरपरिचित हैं । इन्होंने इस ग्रन्थके संपादनका भार अपने हाथमें लिया तबसे इसकी पूर्णाकृति तकका मैं निकट साक्षी हूँ । इन्होंने दिव्यण, प्रस्तावना आदि को कुछ किया है उसको मैं पहिलेहीसे यथामति देखता तथा उसपर विचार करता आया हूँ, इसके मैं यह तो निःसंकोच कह सकता हूँ कि भारतीय दर्शनशास्त्रके — बालकर प्रमाणशास्त्रके — अन्वयात्मिक लिखे श्रीबुत माकमणियाने अपनी कृतिमें जो सामग्री संचित व व्यवस्थित की है तथा विशेषणपूर्वक उसपर जो अपना विचार प्रकट किया है, वह सब अमूल्य किसी एक जगह चुर्लैन ही नहीं अलम्ब्यमात्र है । यद्यपि दिव्यण, प्रस्तावना आदि सब कुछ जैन परंपराको केन्द्रस्थानमें रख कर लिखा गया है, कदापि सभी संभव स्थलोंमें तुलना करते समय, करीब करीब समग्र भारतीय दर्शनको तटस्थ अवलोकनपूर्वक देखा जाहोइया किया है कि वह सर्वा किसी भी दर्शनके अन्वयात्मिक लिखे कामप्रद सिद्ध हो सके ।

प्रस्तुत ग्रन्थके ऊपरी समय दिव्यण-प्रस्तावना आदिके फॉर्म (Forms) कई भिन्न भिन्न दर्शनके पंडित एवं प्रोफेसर पढ़नेके लिये ले गये, और उन्होंने पढ़ कर बिना ही पूछे, एकमतसे जो अभिप्राय प्रकट किया है वह मेरे उपर्युक्त कथनका सिताम्य समर्थक है । मैं भारतीय प्रमाणशास्त्रके अन्वयापक, पंडित एवं प्रोफेसरोंसे इतना ही कहना आवश्यक समझता हूँ कि वे यदि प्रस्तुत दिव्यण, प्रस्तावना और परिशिष्ट ज्ञानपूर्वक पढ़ जायेंगे तो उन्हें अपने अध्यापन, लेखन आदि कार्यमें बहुमूल्य मदद मिलेगी । मेरी रायमें कमसे कम जैन प्रमाणशास्त्रके उच्च अन्वयात्मिकोंके लिये, दिव्यणोंका अनुक्त भाग तथा प्रस्तावना, पाठ्य ग्रन्थमें सबैधाने रखने योग्य है; जिससे कि ज्ञानकी सीमा एवं दृष्टिकोण विस्तार बन सके और दर्शनके मुख्यमार्ग असांप्रदायिक भावका विकास हो सके ।

दिव्यण और प्रस्तावनागत सर्वा, भिन्न भिन्न कालखण्डको लेकर की गई है । दिव्यणोंमें की गई सर्वा मुख्यतया विक्रमकी पंचम शताब्दीसे लेकर १० वीं शताब्दीतकके दार्शनिक विकासका स्पर्श करती है; जब कि प्रस्तावनामें की हुई सर्वा मुख्यतया कगमग विक्रमपूर्व सहस्राब्दीसे लेकर विक्रमकी पंचमशताब्दी तकके प्रमाण प्रमेय संबंधी दार्शनिक विचारसरणीके विकासका स्पर्श करती है । इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थमें एक तरफसे कगमग बड़े हजार वर्षकी दार्शनिक विचारधाराओंके विकासका व्यापक निरूपण है, जो एक तरफसे जैन परंपराको और दूसरी तरफसे सामान्यकालीन वा निम्नकालीन जैनपर परंपराओंको व्याप्त

करता है। इसमें जो तरह परिशिष्ट हैं वे मूल व्याख्या और टिप्पणके प्रवेशद्वार या उनके अवलोकनार्थ नेत्रस्थानीय हैं। भीषुत मालवणियाकी कृतिकी विषोषताका संक्षेपमें सूचन करना हो, तो इनकी बहुसुलता, सरलता और किसी भी प्रश्नके मूलके खोजनेकी और छुटनेवाली दार्शनिक दृष्टिकी सतर्कता द्वारा किया जा सकता है। इसका मूल ग्रन्थकार विचारकी कृतिके साथ विकासकालीन सामंजस्य है।

\*

### जैन ग्रन्थोंके प्रकाशन सम्बन्धमें दो शब्द ।

अनेक व्यक्तिजोंके तथा संस्थाओंके द्वारा, जैन परंपराके छोटे बड़े सभी चिरकोंमें प्राचीन अर्वाचीन ग्रन्थोंके प्रकाशनका कार्य बहुत जोरोंसे होता देखा जाता है, परंतु अधिकतर प्रकाशन सामंजस्यिक संकुचित भावना और स्वामिही मनोवृत्तिके प्रतीक होते हैं। उनमें जितना ध्यान संकुचित, स्वमताभिष्ट कृतिका रखा जाता है उतना जैनत्वके प्राणभूत समभाव व अनेकान्त दृष्टिमूलक सत्यस्पर्श अत एव निर्भय ज्ञानोपासनाका नहीं रखा जाता। बहुधा यह सुला दिया जाता है कि अनेकान्तके नामसे कहीं तक अनेकान्त-दृष्टिकी उपासना होती है। प्रस्तुत ग्रन्थके संपादकने, जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, ऐसी कोई स्वामिही मनोवृत्तिसे कहीं भी सोचने लिखनेका जान बुझ कर प्रयत्न नहीं किया है। यह ध्येय 'सिंधी जैनग्रन्थ-माळा'के संस्थापक और प्रधान संपादककी मनोवृत्तिके बहुत अनुरूप है और वर्तमानयुगीन व्यापक ज्ञानकोशकी दिशाका ही एक परंतु विकट संकेत है।

मैं यहाँ पर एक कटुक सत्यका निर्देश कर देनेकी अपनी नैतिक जबाबदेही समझता हूँ। जैन धर्मके प्रभावक माने मनाए जानेवाले ज्ञानोपासनामूलक साहित्यप्रकाशन जैसे पवित्र कार्यमें भी प्रतिष्ठाकोलुपता मूलक चौर्यवृत्तिका दुष्कलंक कभी कभी देखा जाता है। सांसारिक कामोंमें चौर्यवृत्तिका बचाव अनेक लोग अनेक तरहसे कर लेते हैं, पर धर्माभिमुख ज्ञानके क्षेत्रमें उसका बचाव किसी भी तरहसे अस्तव्य नहीं है। यह ठीक है कि प्राचीन कालमें भी ज्ञानचोरी होती थी जिसके प्रतीक 'वैकारणक्षीरः' 'कक्षिक्षीरः' जैसे वाक्योद्धरण हमारे साहित्यमें आज भी मिलते हैं; परंतु सत्यलक्षी दशान और धर्मका पाषाण करनेवाले, पहले और आज भी, इस दृष्टिसे अपने विचार व लेखनको दूषित होने नहीं देते और ऐसी चौर्यवृत्तिको अन्ध चोरीकी तरह पूर्णतया दूषित समझते हैं। पाठक देखेंगे कि प्रस्तुत ग्रन्थके संपादकने ऐसी दूषित दृष्टिसे नक्ष-क्षिण बचनेका समान प्रयत्न किया है। टिप्पण हों या प्रस्तावना—जहाँ जहाँ नये पुराने ग्रन्थकारों एवं लेखकोंसे बोझ भी अंश लिया हो वहाँ उन सबका या उनके ग्रन्थोंका स्पष्ट नामनिर्देश किया गया है। संपादकने अनेकोंके पूर्व प्रयत्नका अवश्य उपयोग किया है और उससे अनेकगुण लाभ भी उठाया है पर कहीं भी अन्यके प्रयत्नके सशको अपना बनानेकी प्रकट या अप्रकट चेष्टा नहीं की है। मेरी दृष्टिमें सचे संपादककी प्रतिष्ठाका यह एक मुख्य आधार है जो दूसरी अनेक चुटियोंकी भी अस्तव्य बना देता है।

\*

१ मैं यहाँ इतना यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि ऊपर जो विचार मैंने प्रदर्शित किया है वह सामान्य है। क्यों कि मैं इसके विपरीत मनोवृत्तिवाले संपादकोंको भी बोझ बहुत जानता हूँ और कुछएकका नामनिर्देश करना भी यहाँ उचित समझता हूँ। क्यों कि ऐसा विना किये कैसे परप्रयत्नजीवी लोगोंको अपने दोषका शायद ही ब्यापक आवे। मैं अपने तत्त्वार्थविवेचनकी हिन्दी आदृष्टिमें, प्रो. हीरालाल रसिकलाल कापटिया एम्. ए. तथा एक आई मुणोतके ऐसे चौर्यकार्यका उल्लेख कर चुका हूँ, जिन्होंने अनुक्रमसे तत्त्वार्थकी प्रस्तावना और उसके विवेचनको कुछ उलटा सुलटा कर और ज्यों का त्यों लेकर भी, यह स्पष्ट शब्दोंमें नहीं लिखा कि यह मौलिक चिंतन व कार्य अनुकूल है और हम तो उसका कुछ हेरफेरके साथ या सीधा अनुवाद भर करते हैं। मैं यहाँ पर एक ऐसी ही अन्य चोरीका निर्देश भी दुःखपूर्वक करना चाहता हूँ। जिस व्यक्तिका इससे संबंध है वह है तो मेरा एक विद्यार्थी, पर मैं अपने विद्यार्थीके नाते भी उसके ऐसे दोषको प्रकट करना ही अधिक न्याय्य समझता हूँ। न्यायाचार्य पं. दरबारी लाल कोटिया जो सरसावा 'वीरसेवा मंदिर'के एक कार्यकर्ता हैं, उनका अनुवादित-संपादित 'न्यायवीथिका' ग्रन्थ प्रसिद्ध हुआ है। उसकी प्रस्तावना और 'प्रमाणमीमांसा'के मेरे हिन्दी टिप्पण दोनोंको तज्ज्ञ निपुण अभ्यासी देख जाय तो वह तत्काल जान सकेगा कि कोटिया महाशयने करीब करीब मेरे सब हिन्दी टिप्पणोंकी कायाको तोड़ सरोज कर और उसमें कहीं कहीं जरासा मसाला मरके, अपनी सारी प्रस्तावनाका

मेरी तरह पं० दलकुल भाळबलिवा की भी मातृभाषा गुजराती है। ग्रन्थरूपमें हिन्दीमें इतना विलुप्त लिखनेका इनका शायद यह प्रथम ही प्रयत्न है। इस लिये कोई ऐसी भाषा तो नहीं रख सकता कि मातृ-भाषा जैसी इनकी हिन्दी भाषा हो; परंतु राष्ट्रीय भाषाका पद हिन्दीको इस लिये मिला है कि वह हर एक मान्यतावाले लिये अपने अपने ढंगसे सुगम हो जाती है। प्रस्तुत हिन्दी लेखन कोई साहित्यिक लेखन रूप नहीं है। इसमें तो दार्शनिक विचारविवेचन ही मुख्य है। जो दर्शनके और प्रमाण शास्त्रके ज्ञानसु एवं अधिकारी हैं उन्हींके उपयोगकी प्रस्तुत कृति है। वैसे ज्ञानसु और अधिकारिके लिये भाषातत्त्व गौण है और विचारतत्त्व ही मुख्य है। इस दृष्टिसे देखें तो कहना होगा कि मातृभाषा न होते हुए भी राष्ट्रीय भाषामें संपादकने जो सामग्री रखी है वह राष्ट्रीयभाषा के नाते व्यापक उपयोगकी वस्तु बन गई है।

जैन प्रमाण शास्त्रका नई दृष्टिसे सांगोपांग अध्ययन करने वालेके लिये इसके पहले भी कई महत्त्वके प्रकाशन हुए हैं जिनमें 'सम्मतितर्क', 'प्रमाणमीमांसा', 'ज्ञानचिन्तु', 'अकलंकग्रन्थत्रय', 'न्यायकुमुदचक्र' आदि मुख्य हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हीं ग्रन्थोंके अनुसन्धानमें पड़ा जाय तो भारतीय प्रमाणशास्त्रोंमें जैन प्रमाणशास्त्रका क्या स्थान है इसका ज्ञान भलीभाँति हो सकता है, और साथ ही जैनैतर अनेक परंपराओंके दार्शनिक मन्तव्योंका रहस्य भी स्फुट हो सकता है।

### सिंधी जैन ग्रन्थमालाका कार्यवैशिष्ट्य ।

सिंधी जैनग्रन्थमालाके स्थापक स्व० बाबू बहादुर सिंहजी स्वयं अज्ञातीक जैन थे पर उनका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक न हो कर उदार व सत्त्वलकी था। बाबूजीके दृष्टिकोणको विवाद और मूर्तिमाद बनानेवाले ग्रन्थमालाके मुख्य संपादक हैं। आचार्य श्री जिनविजयजीकी विविध विधोपासना, पन्थकी संकुचित मनोवृत्तिसे सर्वथा मुक्त है। जिन्होंने ग्रन्थमालाके अभीतकके प्रकाशनोंको देखा होगा उन्हें मेरे कथनकी यथार्थतामें शायद ही संदेह होगा। ग्रन्थमालाकी प्राणप्रतिष्ठा ऐसी ही भावनामें है जिसका अंतर ग्रन्थमालाके हर एक संपादककी मनोवृत्ति पर जाने अनजाने पड़ता है। जो जो संपादक विचार-स्वातंत्र्य एवं निर्ममसत्त्वके उपासक होते हैं उन्हें अपने विस्तृत लेखन कार्यमें ग्रन्थमालाकी उक्त भूमिका बहुत कुछ सुअवसर प्रदान करती है और साथ ही ग्रन्थमाला भी ऐसे सत्त्वान्वेधी संपादकोंके सहकारसे उच्चोत्तर भोजस्वी एवं समयायुक्त बनती जाती है। इसीकी विशेष प्रतीति प्रस्तुत कृति की कराने वाली सिद्ध होनी।

अनेकान्त विहार,  
नवरंगपुरा, अहमदाबाद }

— सु ख लाल

कलेवर कैसा बनाया है। साधारण पढ़नेवाला या अनजान प्रथमाभ्यासी उसे पढ़ कर यही समझ पाता है कि प्रस्तावनाकेवल महोदयने ही प्रस्तावनामें लिखा सब कुछ सोचा है और गुरुवर्य सुखलालजीके ग्रन्थका तो मात्र अध्ययनमें या शिष्टाचरणमें उपयोगभर किया है। जब कोटियाजीने आभारप्रदर्शनमें मेरे ग्रन्थके उपयोग करने की बात लिखी तब उनका यह नैतिक कर्तव्य था कि वह उपयोग किस तरह और किस रूपमें किया है यह बतावे। उपयोग शब्द इतना अधिक व्यापक, सुंदर पर संक्षिप्त, है कि जिसके द्वारा कृतज्ञता प्रकाशनका काम भी बखूबी हो सकता है और परप्रयत्नका प्रकट-अप्रकट अपहरण भी छुपाया जा सकता है। मेरे इस कटु क्लृप्तके निर्देशसे कोटियाजी सावधान हो जायेंगे तो उनका सारा आगेका साहित्यिक जीवन अवश्य यशोलाभ करेगा।

[पण्डितजीके द्वारा मुझे जब इस बातका पता लगा कि पण्डित कोटियाने, 'प्रमाणमीमांसा' में लेखक के लिये गये पण्डितजीके विस्तृतपूर्ण मौखिक विचारोंको, बनारसी ठगकी तरह, ज्यों के ज्यों उठाखिये हैं और 'वीरसेवा मन्दिर' जैसी प्रतिष्ठित और सेवानिष्ठ कहलाने वाली संस्थाके संचालकके सूचक एवं मूक सहकारसे प्रसिद्धिमें रख कर अपनी छुप्र स्वार्थसिद्धि करनी चाही है, तब मुझे अत्यन्त ग्लानि और उद्विग्नता हो आई। पण्डित कोटियाका यह तरकर कार्य तो कानुनी अपराधजनक होनेसे 'सिंधी जैन ग्रन्थमाला'के खल धारण करनेवाले भारतीय विद्या भवनके कार्यवाहक, इस पर कुछ कानुनी कार्रवाई करनेका भी मुझे सूचन करने लगे। परंतु मैंने 'दुर्जना; पतितुष्यन्तु स्वेन दौरात्यकर्मणा।' इस निवेद भावनाका विचार कर उस सूचनकी तरफ उपेक्षा करना ही समुचित समझा। — ग्रन्थमाला संपादक ]

## संपादकीय वक्तव्य ।

—०४—

### प्रस्तुत संस्करण

सन् १९१७ में बनारससे प्रकाशित 'पंडित' नामक संस्कृत ग्रन्थप्रकाशक मासिक पत्रमें 'जैन-तर्कवार्तिकम्' के नामसे जो ग्रन्थ छपा था उसीका यह नया संस्करण 'न्यायावतारसूत्र-वार्तिकवृत्ति' है । प्रस्तुत संस्करणके प्रारंभमें 'न्यायावतारसूत्र' और 'वार्तिक' दिये गये हैं तदनन्तर 'वार्तिकवृत्ति' जिसका नाम 'विचारकालिका' है, दी गई है । 'पंडित'में 'वार्तिक'को समाविष्ट करके 'वार्तिकवृत्ति' दी गई थी और 'वार्तिक'को पृथक् नहीं दिया था । अतः एव उसमें 'वार्तिक'की कई कारिकाएँ छूट गई हैं । का० ५, ७, १०, १२ ५०, २१ ३०, और ५३ ये कारिकाएँ 'पंडित' संस्करण में नहीं हैं । जो प्रतियाँ मैंने देखीं या जिनका वर्णन सूचीपत्रोंमें पड़ा, प्रायः उन सभी में यही कम है कि प्रथम 'वार्तिक' की कारिकाएँ दी गई हैं तदनन्तर 'वृत्ति' लिखी गई है । वृत्तिमें 'वार्तिक' की कारिकाओंकी प्रतीकें मात्र दी गई हैं, पूरी कारिकाओंको उद्धृत नहीं किया । यही बात 'पंडित' संस्करणकी आधारभूत प्रतिके विषय में भी कही जा सकती है । अतः एव यह संपादक महोदयकी ही त्रुटि है कि उन्होंने उस कारिकाओंको यथास्थान प्रतीकके होते हुए भी उद्धृत नहीं किया । प्रस्तुत संस्करणमें वार्तिककी सभी कारिकाओंको, यथास्थान प्रतीक देकर उद्धृत किया गया है । 'पंडित' के संस्करणको संशोधित-संपादित-सुदृष्ट पुस्तक न कह करके इतना ही कहना पर्याप्त है कि जैसे प्रतिलेखक लिखते हैं कि 'यादशं पुस्तके द्दष्टं तादृशं लिखितं मया ।' वैसे, 'पंडित' संस्करणके संपादक इतना भी नहीं कह सकते कि 'यादशं पुस्तके द्दष्टं तादृशं सुदृष्टं मया ।' क्यों कि उनको पुस्तककी प्रतिको पढ़नेमें तो अमर रहा ही, इसके अलावा मुक्त संशोधनमें और अपनी कल्पनाके बोधे दीक्षा कर भी उन्होंने उस संस्करणको अशुद्धिओंसे परिपूर्ण कर दिया है । मैंने प्राचीन ताडपत्रकी प्रतियोंके आधारसे प्रस्तुत संस्करणका संशोधन-संपादन किया है । यथाशक्ति अशुद्धि टाकनेका प्रयत्न करने पर भी कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं जिन्हें टिप्पणोंमें ठीक किया गया है और शेषके लिये एक शुद्धिपत्र भी दे दिया है । फिर भी मनुष्यशुलभ भ्रान्तियाँ रह गई हों यह संभव है । कुछ अशुद्धियोंके सूचनके लिये मुनिश्री जम्बूविजयजीका मैं आभारी हूँ ।

### प्रति परिचय

प्रस्तुत संस्करणमें निम्नलिखित प्रतियोंका उपयोग हुआ है —

'अ०' संवदीपाढा भंडार, पाटणकी यह ताडपत्रकी प्रति है । इसका नंबर १५४.१. है । इसके ऊपर 'वार्तिकवृत्ति' ऐसी संज्ञा लिखी हुई है । पत्र १ के द्वितीय पृष्ठ से वार्तिक शुरू होकर पत्र ६ के प्रथम पृष्ठपर वह पूर्ण हुआ है । इसके बादके पत्रका अंक ७ होना चाहिए था किन्तु अंक ५ दिया गया है । इस पत्रके द्वितीय पृष्ठसे वार्तिक वृत्तिका प्रारंभ हुआ है और पत्र १८५ के प्रथम पृष्ठ पर वह पूर्ण हुई है । आदिसे छह तदनन्तर पांचवा और अन्तिम दो पत्र खण्डित हैं । पत्र ७२ से ८१ गायब है । शेष पत्र अच्छी स्थितिमें हैं । प्रति सुचारु और शुद्ध है । एक पृष्ठमें अधिकसे अधिक ५ और कमसे कम ३ पंक्तियाँ हैं । प्रत्येक पंक्तिमें ६० के आस पास अक्षर हैं । लेखन संवत नहीं है ।

'ब०' यह भी संवदीपाढा भंडार, पाटण की ताडपत्रकी प्रति है । इसका नम्बर १८७.१ है । इस प्रतिके ऊपर 'वार्तिकभाषि ३ प्रकरणो' ऐसी संज्ञा दी है । अर्थात् इस प्रतिमें क्रमशः १ वार्तिक और इसकी वृत्ति, २ न्यायावतारसूत्र और उसकी वृत्ति, तथा ३ न्यायप्रवेशक सूत्र है । इस प्रतिके प्रथम

१ इस प्रतिके परिचय Catalogue of manuscripts at Patan ( G.O.S. ) में दिया है । देखो पृ० ४१ । वहाँ इसका नंबर ५३ है ।

पत्रके द्वितीय पृष्ठसे 'वार्तिक'का प्रारंभ हुआ है और पत्र ३ के प्रथम पृष्ठ पर वह पूर्ण हुआ है। पत्र ४ के द्वितीय पृष्ठसे 'वार्तिकवृत्ति' शुरू हुई है और पत्र १०१ के प्रथम पृष्ठ पर वह पूर्ण हुई है। प्रति कुचाण्य और शुद्ध है। एक पृष्ठमें अधिकसे अधिक आठ और कमसे कम पांच पंक्तियाँ हैं। एक पंक्तिमें करीब ४२ अक्षर हैं। इस प्रतिका ३९ वीं पत्र कागजका है। माप: सभी पत्रोंका दाहिनी ओरका अक्षर अक्षित है। लेकिन संभव इसमें भी नहीं है।<sup>१</sup>

'क०' श्रीआत्माराम जैनज्ञान मंदिर, बड़ौदा, की कागज पर किसी प्राचीन प्रतिके आधारसे लिखी हुई यह प्रति है। इसका नंबर ३ है और इसके ऊपर 'शास्त्रार्थसंग्रहवार्तिकवृत्ति' ऐसी संज्ञा दी हुई है। प्रति आधुनिक है और प्रतीत होता है कि जेसलमेरकी प्रतिकी यह नकल है। इसके पत्र ४१ हैं। प्राचीन प्रतिके अक्षरोंका ज्ञान ठीक न होनेके कारण लेखकने अनेक भरी भूलें की हैं। इसमें १४ वें और १५ वें पत्रोंका व्युत्क्रम हो गया है। २३ का अक्षर दो बार दिया गया है। उसमें भी ३<sup>५</sup> का स्थान ३<sup>४</sup> को मिलना चाहिए। जिस प्रतिके आधारसे यह नकल की गई है वह अंतमें नुदित होगी ऐसा इस प्रतिके ४५ और ४६ पत्र गत नुदितकी निशानीसे स्पष्ट है। साईंस १३३<sup>३</sup> "443<sup>३</sup>" हैं। प्रत्येक पृष्ठमें वंशिक १६ और अक्षर ३५ के आसपास हैं। इसकी लेखकप्रशस्तिके लिये, देखो पृ० १३२ की टिप्पणी ११।

'मु०' 'जैनतर्कवार्तिक'के नामसे बनारससे सन १९१० में जो पुस्तक मुद्रित है वही यह है। यह तो मध्यम अशुद्ध है। इसका आधार सं० १९१५ में लिखी गई कोई प्रति है। यह प्रति भी संभव है कि बनारसके रामघाट के बड़े जैनमंदिरमें स्थित श्री कुचकचण्ड जैन ज्ञानमंदार की, सं० १९४५ में लिखी गई 'जैनतर्कवार्तिक' नामक पोथी नं० ५ की प्रतिकिनि हो। मु० तथा उक्त मंदार की, प्रतिको मिलाने से यह स्पष्ट होता है। यह भी संभव है कि इन दोनोंका आधार कोई तीसरी ही प्रति हो। श्री कुचकचण्ड जैन ज्ञानमंदार की प्रति सुकम करने के लिये आचार्य श्री हीराचण्डजीका मैं आभारी हूँ।

### प्रतियोंका वर्गीकरण

अ० और ब० प्रतियोंमें कहीं कहीं पाठभेद होने पर भी इन दोनोंका वर्ग एक है, क्योंकि कि ये दोनों प्रतियों अभिक्रान्तमें एक जैसा पाठ उपस्थित करती हैं। और उनका वैकल्पिक अभिक्रान्तमें क० और मु० के स्पष्ट है। दूसरी ओर क० और मु० का भी एक वर्ग है। क्योंकि कि यत्रतत्र इन दोनोंमें पाठभेद होते हुए भी अभिक्रान्तमें इन दोनों प्रतियोंमें एक जैसा पाठ मिलता है और वह अ० और ब० इन दोनोंके निकटतम होता है। अत एव यह कहा जा सकता है कि इन चारों प्रतियोंका मूलआधार दो प्रतियाँ होंगी जिनमेंसे एकके आधारसे साक्षात् या परंपरासे अ० और ब० लिखी गई होंगी और दूसरीके परिवारमें क० और मु० का स्थान है।

### लिपिग्रन्थ

मु० प्रतिके छपाने वाले पंक्तिको जैककिनि या प्राचीन लिपिका कुछ भी ज्ञान नहीं था ऐसा मुद्रित प्रतिको देखनेसे स्पष्ट होता है। मुद्रित पुस्तकमें लिपिके अज्ञानके कारण सबकुछ का कुछ बन गया है। एकाक्ष अक्षरके पढ़नेमें अम होनेके कारण शब्दोंके दूसरे अक्षरोंका परिवर्तन अपनी नुदितसे करके शब्दोंके समूचे रूपको ही बचक कर एक विविध पाठभेद उपस्थित किया गया है। ऐसे पाठभेदोंको लेना पुस्तकके कलेवरको निरर्थक बढ़ाना है; ऐसा समझ कर मैंने उचित समझा कि लिपिग्रन्थ किन किन अक्षरों और संयुक्ताक्षरोंमें हुआ है उनकी एक तालिका की जाय। तदनुसार जो तालिका बनी है वह नीचे दी जाती है। यह तालिका प्राचीन लिपिको ठीक न पढ़नेसे कैसी भ्रान्तिपूर्ण होती है इसका विवरण करानेके साथ ही संशोधक वर्गको इसलिखित प्रतियोंमें उपलब्ध अशुद्ध पाठोंके आधारसे शुद्ध पाठोंकी कल्पना करनेमें भी सहायक होगी। क्योंकि जैसी भ्रान्तिपूर्ण मुद्रित पुस्तकके संपादक को हुई है ऐसी ही भ्रान्तिपूर्ण प्रतियोंके लेखकोंको भी अभिक्रान्तमें हुई है। निम्न तालिकामें प्रथमाक्षर शुद्धरूप है और दूसरा उसके स्थानमें जो छाया गया है वह है।

<sup>१</sup> इस प्रतिके लिये देखो, Catalogue of Manuscripts at Pattan. (G.O.S.) p. 86, वहाँ प्रतिका नंबर १९३ है।

|                    |        |              |     |           |
|--------------------|--------|--------------|-----|-----------|
| क=कु               | ख=ख, स | ख=ख          | ख=ख | म=म       |
| ख=ख                | ख=ख    | ख=ख, व, ख, न | ख=ख | ख=ख       |
| ओ=ओ                | ओ=ओ    | ख=ख          | ख=ख | ख=ख, व, न |
| ख=ख                | ख=ख    | ख=ख          | ख=ख | ख=ख       |
| को=को              | ख=ख    | ख=ख          | ख=ख | ख=ख       |
| ख=ख, व, ख, व, व, व | ख=ख    | ख=ख          | ख=ख | ख=ख       |
| ख=ख                | ख=ख    | ख=ख          | ख=ख | ख=ख       |
| ग=ग                | ग=ग    | ख=ख          | ख=ख | ख=ख       |
| ख=ख, व, न          | ख=ख    | ख=ख          | ख=ख | ख=ख       |
| ख=ख                | ख=ख    | ख=ख          | ख=ख | ख=ख       |

इसके अलावा पृष्ठभाषाके स्थानमें हकार की मात्रा और हकार की मात्राको पृष्ठभाषा समझ कर प्रकारकी मात्रा, जिसके स्थानमें अनुस्वार और अनुस्वारके स्थानमें जिसके, प्रकारके स्थानमें अनुस्वार तथाऽननुस्वारके स्थानमें आकारकी मात्रा कर देनेसे भी अनेक पाठभेद हो गये हैं । इसके अलावा अनावश्यक अनुस्वार तथा अनुस्वारके कोपजन्य भी अनेक पाठभेद हैं । इन सभी प्रकारके पाठभेदोंको मैंने दिव्यजीमें स्थान नहीं दिया है ।

### प्रस्तुत संस्करणका परिचय

न्यायावतारसूत्र, वार्तिक, विचारकलिका नामक वार्तिकवृत्ति, तुलनात्मक दिव्य और परिशिष्ट इस क्रमसे प्रस्तुत संस्करणका सुझा हुआ है । न्यायावतारका सुझा इस संस्करणमें इसलिये आवश्यक समझा गया कि वार्तिककारने उसीके ऊपर वार्तिक लिखा है । न्यायावतारका सुझा बंबईकी जैन कॉलेज द्वारा प्रकाशित सिद्धार्थकी टीकाके आधारसे तथा 'जैन साहित्य संशोधक' ३.१ में प्रकाशित पं० सुकलाजी संवादित सारुवाद न्यायावतारसे किया है । वार्तिक और वार्तिकवृत्तिका संपादन मैंने पूर्णतः प्रतिपोंके आधारसे किया है । जिस प्रतिका पाठ सुझ और संगत मात्रा पदा उसको भूकमें स्थान दिया है शेषको नीचे दिव्यजीमें स्थान दिया है । अपनी ओरसे जो कहीं कहीं पाठसुद्धि की है उसे ( ) ऐसे कोष्ठकमें रखा है । तथा कहीं कहीं पूर्वापर संबन्धको देख कर अक्षर या शब्दकी सुद्धि करना आवश्यक प्रतीत हुआ वहाँ उस सुद्धिको [ ] ऐसे कोष्ठकमें रखा है ।

जैन न्यायावतारकी टीका २ अवगत करनेके लिये अन्य दर्शनोंके तुलनात्मक अध्ययनकी आवश्यकताको महसूस करके मैंने यथाशक्ति इस ग्रन्थके हिन्दी दिव्य लिखे हैं । कहीं कहीं ग्रन्थगत विषयकी अन्य ग्रन्थोंसे शब्द और अर्थकी पुष्टता देख कर उन ग्रन्थोंके पाठ देकर या सिर्फ पृष्ठ पंक्ति देकर निर्देश कर दिया है । जिससे यह पता चले कि किन २ ग्रन्थोंका ज्ञान प्रस्तुत ग्रन्थकार पर है ।

अन्तमें प्रस्तुत संस्करणमें उपयोगी ऐसे अनेक परिशिष्ट दिये गये हैं । प्रारंभमें प्रस्तावनामें, आगमसुगीन और आगमोत्तर कालीन सिद्धांतपूर्ववर्ती जैन दर्शनकी रूपरेखा देनेका प्रयत्न किया है । तथा ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ताओंके विषयमें ज्ञातव्य बातोंकी विवेचना की गई है ।

### आभारप्रदर्शन

पूज्य पंडित श्री सुकलाजीकी केवल प्रेरणाका ही नहीं, किन्तु आदिसे अन्त तक प्रस्तुत संस्करणको उपयोगी बनानेके उनके बहुविध प्रयत्नका ही एक प्रस्तुत संस्करण है । उनके उतने प्रयत्नके होते हुए भी यदि इसमें कोई सुद्धि रह गई हो तो वह मेरी है । इस ग्रन्थके संपादनकी प्रक्रियामें उन्होंने ममत्वभावसे इस किया है । पाठसुद्धिसे लेकर परिशिष्ट तक मैं मेरे जो प्रयत्न थे उन्हें सुकलाजीके पूरा प्रयत्न किया है इतना ही नहीं किन्तु मेरे हिन्दी दिव्यजीको अक्षरशः पढ़कर आश्रितियोंको पूरा किया है । इन दिव्यजीको मैं 'मेरे' कहता हूँ इसका मतलब यह नहीं है कि इसमें जो कुछ लिखा गया है वह मेरा निजी है । प्रस्तुतः पंडितजीके दीर्घकालीन सहायके कारण जो कुछ मैंने सीखा है उसीके एक अंशमात्रको मैंने ग्रन्थ

१ इसके फल स्वरूप एक ही 'वाक्य' शब्दके वाच्य, वाक्य, और वाच्य ऐसे पाठभेद हुए हैं ।

करनेकी चेष्टा की है। इसमें मैंने उनके लिखित और अलिखित विचारोंका पूरा पूरा उपयोग किया है। उन्होंने इन टिप्पणियोंकी जाँच करके संतोष व्यक्त किया है। पंडितजीने इस संस्करणमें जो निष्काम परिश्रम उठाया है उसके लिये शब्दवाचके दो शब्द पर्याप्त नहीं। उन्हें पुष्टि इसी में है कि मेरी साहित्यिक प्रवृत्ति उत्तरोत्तर निकलित होती रहे। उनका निःस्वार्थभाव सदा बंधनीय है।

२० मुनि जी विनविजयजीने भी मेरे हिन्दी टिप्पणोंको देखकर उत्साहवर्धक पत्र लिखे हैं और ग्रन्थका टिप्पणोंके कारण अपनेमें निरुत्सुक होता देखकर भी मेरी प्रवृत्तिको सिद्धि करने के बजाय बढ़ाया है। कईबार भूक भी देखे हैं। उनका सहज कोह ही मुझमें उत्साह भर देता है। पुस्तककी छपाईकी सुन्दरताका भेष उन्होंने निकला चाहिए। मैं इस प्रसंगमें अपनी अज्ञांजली उन्हें अर्पित करता हूँ।

पृथ्वीराज मुनि जी पुष्पविजयजीकी कृपाके कारण ही मुझे पाठन संसारकी दोनों साक्षरकी प्रतियों देखनेको मिली थी और उन्होंने बड़ोदासी प्रति भी भिजवाई थी, एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

२० पं० सुखकाठजीके सम्मतिपूर्वक, प्रमाणमीमांसा आदि ग्रन्थके टिप्पणोंसे तो मैंने काफी काम उठाया ही है। पं० महेन्द्रकुमारजीके स्वायत्तमुद्रणग्रन्थके टिप्पणोंने भी मेरा परिश्रम अधिकमात्रामें बढ़का दिया है। इतना ही नहीं किन्तु कई प्रश्नोंके बारेमें उनके साथ चर्चा करके मैंने विश्वासकी पुष्टि भी की है। एतदर्थ मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

आई महेन्द्रकुमार 'अभय' जैनदर्शनशास्त्री, जो मेरे छात्र थे उन्होंने २० पंडितजीको मेरे हिन्दी टिप्पण सुनानेका तथा मेरी हिन्दीभाषाको परिमार्जित करनेका कार्य प्रेमसे किया है; अत एव वे शब्दवादाई हैं। श्री रत्नचन्द्र M. A. पार्श्वनाथ विद्याभूषणके भूतपूर्व अधिष्ठाताने भी क० प्रतिसे पाठान्तर लेनेमें सहायता की है। और श्री परमानन्द शाहने परिसिद्ध बनानेमें मदद की है, उनका भी आभार मानना मेरा कर्तव्य है।

श्री इ. नि. श. वि. शाला य }  
ब नारद

वल्लभ मालवणिया





## प्रस्तावना ।

### १. आगम युगका जैन दर्शन ।

#### [ १ ] प्रमेयतत्त्व ।

##### प्रास्ताविक —

दर्शनके सुभीतेकी दृष्टिसे जैन दर्शनके विषयोंका संक्षिप्त वर्गीकरण करना हो तो यह प्रमेयतत्त्व और प्रमाणतत्त्व इन दो भेदोंमें किया जा सकता है । न्यायावतार और उसके वार्तिकके इन दूरे विषयोंके मन्तव्योंका निरूपण करनेके पहले यह आवश्यक है कि न्यायावतारके पूर्वमें जैन दर्शनशास्त्रकी क्या स्थिति थी उसका संक्षिप्त विवेचन किया जाय । ऐसा करनेसे यह स्पष्ट होगा कि जैन दर्शनशास्त्रमें सिद्धसेन और शान्स्याचार्यकी क्या देन है ।

जैन दर्शनशास्त्रके विकासक्रमको चार युगोंमें विभक्त किया जा सकता है —

- १ आगम युग ।
- २ अनेकान्तस्वापन्न युग ।
- ३ प्रमाणशास्त्रव्यवस्था युग ।
- ४ नवीनन्याय युग ।

युगोंके लक्षण युगोंके नामसे ही स्पष्ट हैं । कालमर्यादा इस प्रकार रखी जा सकती है — आगम युग भगवान् महावीरके निर्वाणसे लेकर करीब एक हजार वर्षका है ( वि० पू० ४७०-वि० ५०० ), दूसरा वि० पाँचवींसे आठवीं शताब्दी तक; तीसरा आठवींसे सत्रहवीं तक । और चौथा अठारहवींसे आधुनिक समय पर्यन्त । इन सभी युगोंकी विशेषताओंका मैंने अन्यत्र संक्षिप्त विवेचन किया है<sup>१</sup> । दूसरे, तीसरे और चौथे युगकी दार्शनिक संपत्तिके विषयमें पू० पण्डित मुखलाळजी, पं० कैलाशचन्द्रजी, पं० महेन्द्रकुमारजी आदि विद्वानोंने पर्याप्त मात्रामें प्रकाश डाला है किन्तु आगम युगके साहित्यमें जैनदर्शनके प्रमेय और प्रमाण तत्त्वके विषयमें क्या क्या मन्तव्य हैं उनका संकलन पर्याप्तमात्रामें नहीं हुआ है । अत एव यहाँ जैन आगमोंके आधारसे उन दो तत्त्वोंका संकलन करनेका प्रयत्न किया जाता है । ऐसा होनेसे ही अनेकान्त युगके और प्रमाणशास्त्रव्यवस्था युगके विविध प्रवाहोंका उद्गम क्या है, आगममें यह है कि नहीं, है तो कैसा है यह स्पष्ट होगा, इतना ही नहीं बल्कि जैन आचार्योंने मूल तत्त्वोंका कैसा पल्लवन और विकास किया तथा किन नवीन तत्त्वोंको तत्कालीन दार्शनिक विचारधारासे अपना कर अपने तत्त्वोंको व्यवस्थित किया यह भी स्पष्ट हो सकेगा तथा प्रस्तुतमें सिद्धसेन और शान्स्याचार्यकी जैन दर्शनको क्या देन है यह भी स्पष्ट हो जायगा ।

१ प्रेमी अभिलेखन ग्रन्थमें मेरा लेख पू० ३०३, तथा जैन संस्कृति संशोधन मंडळ पत्रिका १ ।

२ वही ।

आगम युगके दार्शनिक तत्त्वोंके विवेचनमें मैंने श्वेताम्बरप्रसिद्ध मूल आगमोंका ही उपयोग किया है । द्विगम्भर्षेके मूल षट्खण्डागम आदिका उपयोग मैंने नहीं किया । उन शास्त्रोंका दर्शनके साम अधिक सम्बन्ध नहीं है । उन ग्रन्थोंमें जैन कर्मतत्त्वका ही विशेष विवरण है । श्वेताम्बरोंके निर्युक्ति आदि टीकाग्रन्थोंका कहीं कहीं स्पष्टीकरणके लिये उपयोग किया है, किन्तु जो मूलमें न हो ऐसी निर्युक्ति आदिकी बातोंको प्रस्तुत आगम युगके दर्शन तत्त्वके निरूपणमें स्थान नहीं दिया है । इसका कारण यह है कि हम आगम साहित्यके दो विभाग कर सकते हैं । एक मूल शास्त्रका तथा दूसरा टीका-निर्युक्ति-भाष्य-चूर्णिका । प्रस्तुतमें मूलका ही विवेचन अभीष्ट है क्यों कि हमें यह देखना है कि सिद्धसेनके सामने क्या वस्तु थी । निर्युक्तिके विषयमें यह निश्चित रूपसे अभी कहना कठिन है कि वे सिद्धसेनके सामने इसी रूपमें उपस्थित थी या नहीं । उपलब्ध निर्युक्तियोंसे यह प्रतीत होता है कि उनमें प्राचीन निर्युक्तियाँ समाविष्ट कर दी गई हैं । किन्तु सर्वत्र यह बताना कठिन है कि कितना अंश मूल प्राचीन निर्युक्तिका है और कितना अंश भद्रबाहुका है । अत एव निर्युक्तिका अध्ययन किसी अन्य मौकेके लिये स्थित रख कर प्रस्तुतमें मूल आगममें खास कर अंग, उपांग और नन्दी-अनुयोगके आधार पर चर्चा की जायगी ।

आगमिक दार्शनिक तत्त्वके विवेचनके पहले वेदसे लेकर उपनिषद् पर्यन्त विचारधाराके तथा बौद्ध त्रिपिटककी विचारधाराके प्रस्तुतोपयोगी अंशका भी भूमिका रूपसे आकलन किया है—तो इस दृष्टिसे कि तत्त्वविचारमें वैदिक और बौद्ध दोनों धाराओंके अचात-प्रस्वाभातसे जैन आगमिक दार्शनिक चिन्तनधाराने कैसा रूप लिया यह स्पष्ट हो जाय ।

## § १ भगवान् महावीरसे पूर्वकी स्थिति ।

### ( १ ) वेदसे उपनिषद् पर्यन्त ।

विश्वके स्वरूपके विषयमें नाना प्रकारके प्रश्न<sup>१</sup> और उन प्रश्नोंका समाधान यह विविध प्रकारसे प्राचीन कालसे होता आया है । इस बातका साक्षी ऋग्वेदसे लेकर उपनिषद् और बादका समस्त दार्शनिक सूत्र और टीका-साहित्य है ।

ऋग्वेदका दीर्घतमा ऋषि विश्वके मूल कारण और स्वरूपकी खोजमें लीन होकर प्रश्न<sup>२</sup> करता है कि इस विश्वकी उत्पत्ति कैसी हुई है, इसे कौन जानता है ? है कोई ऐसा जो जानकार से पूछ कर इसका पता लगावे ? वह फिर कहता है कि मैं तो नहीं जानता किन्तु खोजमें इधर उधर बिचरता हूँ तो वचनके द्वारा सत्यके दर्शन होते हैं । खोज करते करते दीर्घतमाने अन्तमें कह दिया कि—“एकं सत् विश्वा बहुधा षदन्ति” । सत् तो एक ही है किन्तु विद्वान् उसका वर्णन कई प्रकारसे करते हैं । अर्थात् एक ही तत्त्वके विषयमें नाना प्रकारके वचन प्रयोग देखे जाते हैं ।

१ ऋग्वेद १०.५, २७, ८८, १२९ इत्यादि । तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१ । श्वेता० १.१ ।  
२ ऋग्वेद १.१६४.४ । ३ ऋग्वेद १.१६४.३७ । ४ ऋग्वेद १.१६४.४६ ।

दीर्घतमा के इस उद्गारमें ही मनुष्यस्वभावकी उस विशेषताका हमें स्पष्ट दर्शन होता है जिसे हम समन्वयशीलता कहते हैं । इसी समन्वयशीलताका शास्त्रीय रूप जैनदर्शनसम्मत स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है ।

नासदीय सूक्तका<sup>१</sup> ऋषि जगत्के आदि कारण रूप उस परम गभीर तत्त्वको जब न सत् कहना चाहता है और न असत्, तब यह नहीं समझना चाहिए कि वह ऋषि अज्ञानी या संशयवादी था किन्तु इतना ही समझना चाहिए कि ऋषिके पास उस परम तत्त्वके प्रकाशनके लिए उपयुक्त शब्द न थे । शब्दकी इतनी शक्ति नहीं है कि वह परम तत्त्वको संपूर्ण रूपमें प्रकाशित कर सके । इसलिए ऋषिने कह दिया कि उस समय न सत् था न असत् । शब्द शक्ति की इस मर्यादाके स्वीकारमेंसे ही स्याद्वादका और अस्वीकारमेंसे ही एकान्तवादोंका जन्म होता है ।

विषयके कारण की जिज्ञासामेंसे अनेक विरोधी मतवाद उत्पन्न हुए जिनका निर्देश उपनिषदोंमें हुआ है । जिसको सोचते सोचते जो सूत्र पढ़ा उसे उसने लोगोंमें कहना शुरू किया । इस प्रकार मतोंका एक जाल बन गया । जैसे एक ही पहाड़मेंसे अनेक दिशाओंमें नदियाँ बहती हैं उस प्रकार एक ही प्रश्नमेंसे अनेक मतोंकी नदियाँ बहने लगीं । और ज्यों-ज्यों वह देश और कालमें आगे बढ़ी त्यों-त्यों विस्तार बढ़ता गया । किन्तु वे नदियाँ जैसे एक ही समुद्रमें जा मिलती हैं उसी प्रकार सभी मतवादियोंका समन्वय महासमुद्ररूप<sup>२</sup> स्याद्वाद या अनेकान्तवादमें हो गया है ।

विषयका मूल कारण क्या है ? वह सत् है या असत् ? सत् है तो पुरुष है या पुरुषेतर — अणु, वायु, अग्नि, आकाश आदिमेंसे कोई एक ? इन प्रश्नोंका उत्तर उपनिषदोंके ऋषिओंने अपनी अपनी प्रतिभाके बलसे दिया है<sup>३</sup> । और इस विषयमें नाना मतवादोंकी सृष्टि खड़ी कर दी है ।

किसीके मतसे असत्से ही सत् की उत्पत्ति हुई है<sup>४</sup> । कोई कहता है<sup>५</sup> — प्रारंभमें मृत्युका ही साम्राज्य था, अन्य कुछ भी नहीं था । उसीमेंसे सृष्टि हुई । इस कथनमें भी एक रूपकके जरिये असत् से सत् की उत्पत्तिका ही स्वीकार है । किसी ऋषिके मतसे असत् से सत् हुआ और वही अणु बन कर सृष्टिका उत्पादक हुआ<sup>६</sup> ।

इन मतोंके विपरीत सत्कारणवादियोंका कहना है कि असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे

१ ऋग्वेद १०.१२९ ।

२ “ब्रह्मणो वि सत्सर्वमिदं ब्रह्मणो नान्यत् । सत्सर्वमिदं ब्रह्मणो नान्यत् ।”

न च तासु भवान् प्रवृत्तये प्रविभक्त्यासु सतिरित्येवमिति ॥”

—सिद्धसेनद्वयार्थसिद्धि ४.१५ ।

३ Constructive Survey of Upanishads. p.78

४ “असद्वा इदम आसीत् । ततो ये सद्जायत” ।—तैत्तिरीय २.७

५ “नेवेह किंचिन्नाम आसीन्मृत्युर्नेवेदमावृतमासीत्” ।—बृहदार १.२.१

६ आदित्यो ब्रह्मणो देवः । तस्योपकथामन् । असदेवेदमत्र आसीत् । तत् सदासीत् । तत् समभवत् । तदावर्ग निरवर्तत ।” छान्दोग्य ३.१९.१

हो सकती है ? सर्व प्रथम एक और अद्वितीय सत् ही था । उसीने सोच में अनेक होठें । तब क्रमशः सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है ।

सत्कारणवादियोंमें भी ऐकमत्य नहीं । किसीने जलको, किसीने वायुको, किसीने अग्निसे, किसीने आकाश को और किसीने प्राणको विश्वका मूल कारण माना है ।

इन सभी वादोंका सामान्य तत्त्व यह है कि विश्वके मूल कारण रूपसे कोई आत्मा या पुरुष नहीं है । किन्तु इन सभी वादोंके विरुद्ध अन्य ऋषिओंका मत है कि इन जब तत्त्वमें से सृष्टि उत्पन्न हो नहीं सकती, सर्वोत्पत्तिके मूलमें कोई चेतन तत्त्व कर्त्ता होना चाहिए ।

विष्णुवाद ऋषिके मतसे प्रजापतिसे सृष्टि हुई है । किन्तु बृहदारण्यकमें आत्माको मूल कारण मानकर उसीमेंसे स्त्री और पुरुषकी उत्पत्तिके द्वारा क्रमशः संपूर्ण विश्वकी सृष्टि कही गई है । ऐतरेयोपनिषद्में भी सृष्टिक्रममें भेद होने पर भी मूल कारण तो आत्मा ही माना गया है । यही बात तैत्तिरीयोपनिषद्के विषयमें भी कही जा सकती है । किन्तु इसकी विशेषता यह है कि आत्माको उत्पत्तिका कर्त्ता नहीं बल्कि कारण मात्र माना गया है । अर्थात् अन्यत्र स्पष्ट रूपसे आत्मा या प्रजापतिमें सृष्टिकर्तृत्वका आरोप है जब कि इसमें आत्माको सिर्फ मूल कारण मान कर पंचभूतोंकी संभूति उस आत्मासे हुई है इतना ही प्रतिपाद है । मुण्डकोपनिषद्में जब और चेतन सभी की उत्पत्ति दिव्य, अमूर्त और अज ऐसे पुरुषसे मानी गई है । यहाँ भी उसे कर्त्ता नहीं कहा । किन्तु श्वेताश्वतरोपनिषद्में विश्वाधिप देवाधिदेव रुद्र ईश्वरको ही जगत्कर्त्ता माना गया है और उसीको मूल कारण भी कहा गया है ।

उपनिषदोंके इन वादोंको संक्षिप्तमें कहना हो तो कहा जा सकता है कि किसी के मतसे अस्तित्व से सत् की उत्पत्ति होती है, किसीके मतसे विश्वका मूल तत्त्व सत् जब है और किसीके मतसे वह सत् तत्त्व चेतन है ।

एक दूसरी दृष्टिसे भी कारणका विचार प्राचीन कालमें होता था । उसका पता हमें श्वेताश्वतरोपनिषद् से चलता है । उसमें ईश्वरको ही परम तत्त्व और आदि कारण सिद्ध करनेके लिये जिन अन्य मतोंका निराकरण किया गया है वे ये हैं :— १ काल, २ स्वभाव, ३ निवृत्ति, ४ ब्रह्मन्ता, ५ भूत, ६ पुरुष, ७ इन सभीका संयोग, ८ आत्मा ।

उपनिषदोंमें इन नाना वादोंका निर्देश है अतएव उस समय पर्यन्त इन वादोंका अस्तित्व था ही इस बातका स्वीकार करते हुए भी प्रो० रानडे का कहना है कि "उपनिषद्का अनेक दार्शनिकोंकी दर्शन क्षेत्रमें जो विशिष्ट देन है वह तो आत्मवाद है ।

१ "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तदेक आधुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । लब्धादसतः सजायत । कुतस्तु कालो सोम्य एवं क्वादिति होवाच कथमसतः सजायतेति । तदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् तदेकत बहुला प्रजादेयेति"—छान्दो० १.२ ।

२. बृहदा० ५.५.१ । छान्दो० ४.३ । कठो० २.५.९ । छान्दो० १.९.१ । १.११.५ । ४.३.३ । ७.१२.१ । ३ प्रश्नो० १.३-१३ । ४ बृहदा० १.४.१-४ । ५ ऐतरेय १.१-३ । ६ तैत्तिरी० २.१ । ७ मुण्ड० २.१.२-९ । ८ श्वेता० ३.२ । ६.९ ।

९ "कालः स्वभावो नियतिर्व्यवस्था भूतानि योनिः पुरुष इति विन्यस्य ।

संयोग एवा न त्वात्मभावादात्माप्यवकीचः सुखदुःखहेयोः ॥"—श्वेता० १.२ ।

१० Constructive Survey of Upanishadas, ch. V. P. 246.

अन्य सभी वार्दोंके होते हुए भी जिस वादने आगेकी पीढीके ऊपर अपना असर कायम रखा और जो उपनिषदोंका खास तत्त्व समझा जाने लगा वह तो आत्मवाद ही है। उपनिषदोंके ऋषि अन्तर्में इसी नतीजे पर पहुँचे कि विश्वका मूल कारण या परम तत्त्व आत्मा ही है। परमेश्वरको भी जो संसारका आदि कारण है अतः अन्तर्में 'आत्मत्व' देखने को कहा है—

“तमात्मस्य वेऽनुपपद्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्” ६.१२ ।

छान्दोग्यका निम्न वाक्य देखिए—

“अथातः आत्मादेशः आत्मैवाधस्तात्, आत्मोपरिष्ठात्, आत्मा पश्चात्, आत्मोऽपुनस्तात्, आत्मा दक्षिणतः, आत्मोत्तरतः आत्मैवेवं सर्वमिति । सं वा एष. एवं पश्यन् एवं मन्वान एव विजानन् आत्मरसितरात्मकीड आत्ममिश्रुन आत्मानन्दः स खराह भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।” छान्दोग्य ७.२५ ।

बृहदारण्यकमें उपदेश दिया गया है कि—

“न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । अत्मा वा अरे ब्रह्मः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे ब्रह्मैव श्रवणेन मत्या विद्वानेनेदं सर्वं विदितम् ।” २.४.५ ।

उपनिषदोंका ब्रह्म और आत्मा भिन्न नहीं किन्तु आत्मा ही ब्रह्म है— ‘अयमात्मा ब्रह्म’— बृहदा० २.५.१९ ।

इस प्रकार उपनिषदोंका तात्पर्य आत्मवाद या ब्रह्मवादमें है, ऐसा जो कहा जाता है वह उस कालके दार्शनिकोंका उस वादके प्रति जो विशेष पक्षपात या उसीको लक्ष्यमें रखकर है। परम तत्त्व आत्मा या ब्रह्मको उपनिषदोंके ऋषियोंने शाश्वत, सनातन, निष्प्र, अजन्य, ध्रुव माना है<sup>१</sup> ।

इसी आत्म तत्त्व या ब्रह्म तत्त्वको जब और चेतन जगत् का उपादान कारण, निमित्त कारण या अधिष्ठान मान कर दार्शनिकोंने केवलद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत या शुद्धाद्वैतका समर्थन किया है। इन सभी वार्दोंके अनुकूल वाक्योंकी उपलब्धि उपनिषदोंमें होती है। अतः इन सभी वार्दोंके बीच उपनिषदोंमें है ऐसा मानना युक्तिसंगत ही है<sup>२</sup> ।

उपनिषत्कालमें कुछ लोग महाभूतोंसे आत्माका समुत्थान और महाभूतोंमें ही आत्माका लय माननेवाले थे किन्तु उपनिषत्कालीन आत्मवादके प्रचण्ड प्रवाहमें उस वादका कोई खास मूल्य नहीं रह गया। इस बात की प्रतीति बृहदारण्यकनिर्दिष्ट याज्ञवल्क्य और मैत्रेयीके संकटसे हो जाती है। मैत्रेयीके सामने जब याज्ञवल्क्यने भूतवादकी चर्चा छेड़ कर कहा कि “विद्वानघन इव भूतोंसे ही समुत्पिठ होकर इन्हींमें लीन हो जाता है, परलोक या पुनर्जन्म जैसी कोई बात नहीं है”<sup>३</sup> तब मैत्रेयीने कहा कि ऐसी बात कह कर हमें मोहमें मत डालो। इससे स्पष्ट है कि आत्मवादके सामने भूतवादका कोई मूल्य नहीं रह गया था।

प्राचीन उपनिषदोंका काल मो० रानडेने ई० पू० १२०० से ६०० तक कर माना है<sup>४</sup>। वह काल भगवान् महावीर और बुद्धके पहलेका है। अतः हम कह सकते हैं कि उन दोनों

१ कठो० १.२.१८ । २.६.१ । १.३.१५ । २.४.२ । श्वेता० २.१५ । सुण्डको० १.६ । इत्यादि ।

२ Constr. p. 205—232.

३ “विद्वानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्पन्न आत्मेवाऽनुविनश्यति न प्रेत संज्ञा मसीत्यरे प्रदीपिषि होवाच याज्ञवल्क्यः ।” बृहदा० २.४.१२ ।

४ Constr. p. 18

महापुरुषोंके पहले भारतीय दर्शनकी स्थिति जाननेका साधन उपनिषदोंसे बढ़कर अन्य कुछ हो नहीं सकता । अत एव हमने ऊपर उपनिषदोंके आधारसे ही भारतीय दर्शनोंकी स्थिति पर कुछ प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया है । उस प्रकाशके आधार पर यदि हम जैन और बौद्ध दर्शनके मूल तत्त्वोंका विश्लेषण करें तो दार्शनिक क्षेत्रमें जैन और बौद्ध शास्त्रकी क्या देन है यह स्पष्ट ही में विदित हो सकता है । प्रस्तुतमें विशेषतः जैन तत्त्वज्ञानके विषयमें ही कहना इष्ट है, इस कारण बौद्ध दर्शनके तत्त्वोंका उल्लेख तुलनाकी दृष्टिसे प्रसंगवश ही किया जायगा और मुख्यतः जैन दर्शनके मौलिक तत्त्वकी विवेचना की जायगी ।

## ( २ ) भगवान् बुद्धका अनारम्भवाद ।

भगवान् महावीर और बुद्धके निर्वाणके विषयमें जैन-बौद्ध अनुश्रुतियोंको यदि प्रमाण माना जाय तो फलित यह होता है कि भगवान् बुद्धका निर्वाण ई० पू० ५४४ में हुआ था अत एव उन्होंने अपनी इहजीवनलीला भगवान् महावीरसे पहले समाप्त की थी और उन्होंने उपदेश भी भगवान् के पहले ही देना शुरू किया था । यही कारण है कि वे पार्श्व-परंपराके चातुर्यामका उल्लेख करते हैं । उपनिषत्कालीन आत्मवादकी बादको भगवान् बुद्धने अनात्मवादका उपदेश देकर मंद किया । जितने वेगसे आत्मवादका प्रचार हुआ और सभी तत्त्वके मूलमें एक परम तत्त्व शाश्वत आत्माको ही माना जाने लगा उतने ही वेगसे भगवान् बुद्धने उस बादकी जड़ काटनेका प्रयत्न किया । भगवान् बुद्ध विभज्यवादी थे । अत एव उन्होंने रूप आदि ज्ञात वस्तुओंको एक एक करके अनात्म सिद्ध किया । उनकी दलीलका क्रम ऐसा है—

‘क्या रूप अनित्य है या नित्य ?

अनित्य ।

जो अनित्य है वह दुःख है या दुःख ?

दुःख ।

जो चीज अनित्य है, दुःख है, विपरिणामी है क्या उसके विषयमें इस प्रकारके विकल्प करना ठीक है कि—यह मेरा है, यह मैं हूँ, यह मेरी आत्मा है ? ।

नहीं ।

इसी क्रमसे वेदना,<sup>१</sup> संज्ञा, संस्कार और विज्ञानके विषयमें भी प्रश्न करके भगवान् बुद्धने अनात्मवादको स्पष्ट किया है । इसी प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियाँ, उनके विषय, तत्त्वज्ञान, मन, मानसिक धर्म और मनोविज्ञान इन सबको भी अनात्म सिद्ध किया है ।

कोई म० बुद्ध से पूछता कि जरा-मरण क्या है और किसे होता है, जाति क्या है और किसे होती है, भव क्या है और किसे होता है ? तो तुरन्त ही वे उत्तर देते कि ये प्रश्न ठीक नहीं । क्यों कि प्रश्नकर्ता इन सभी प्रश्नोंमें ऐसा मान लेता है कि जरा आदि अन्य हैं और जिसको ये जरा आदि होते हैं वह अन्य हैं । अर्थात् शरीर अन्य है और आत्मा अन्य है । किन्तु ऐसा मानने पर ब्रह्मचर्यवास—धर्माचरण संगत नहीं । अत एव भगवान् बुद्धका कहना है कि प्रश्नका आकार

१ संयुक्तसिक्ख XII. 70. 82-87

२ दीपसिक्ख महासिद्धान्तसूत्र १५ । ३ मज्झिमसिक्ख उपसकसुत्त १४८ ।

ऐसा होना चाहिए — जरा कैसे होती है ? जरा-मरण कैसे होता है ? जाति कैसे होती है ? भव कैसे होता है ? तब भगवान् बुद्धका उत्तर है कि ये सब प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं । मध्यम मार्गका अवलंबन लेकर भगवान् बुद्ध समझाते हैं कि शरीर ही आत्मा है ऐसा मानना एक अन्त है और शरीरसे भिन्न आत्मा है ऐसा मानना दूसरा अन्त है । किन्तु मैं इन दोनों अन्तोंको छोड़कर मध्यम मार्गसे उपदेश देता हूँ कि: —

अविद्याके होनेसे संस्कार, संस्कारके होनेसे विज्ञान, विज्ञानके होनेसे नाम-रूप, नाम-रूपके होनेसे छः आयतन, छः आयतनोंके होनेसे स्पर्श, स्पर्शके होनेसे वेदना, वेदनाके होनेसे तृष्णा, तृष्णाके होनेसे उपादान, उपादानके होनेसे भव, भवके होनेसे जाति—जन्म, जन्मके होनेसे जरा-मरण है । यही प्रतीत्यसमुत्पाद है<sup>१</sup> ।

आनन्दने एक प्रश्न भगवान् बुद्धसे किया कि आप बारबार लोक शून्य है ऐसा कहते हैं इसका तात्पर्य क्या है ? बुद्धने जो उत्तर दिया उसीसे बौद्धदर्शनकी अनात्मविषयक मौलिक मान्यता व्यक्त होती है: —

“यस्मा च को आनन्द सुज्जं अत्तेन वा अत्तनियेन वा तस्मा सुज्जो लोको ति बुद्धति । किं च आनन्द सुज्जं अत्तेन वा अत्तनियेन वा ? चक्खुं को आनन्द सुज्जं अत्तेन वा अत्तनियेन वा .....रूपं .....रूपविज्जाणं .....” इत्यादि । — संयुत्तनिकाय XXXV. 85.

भगवान् बुद्धके अनात्मवादका तात्पर्य क्या है ? इस प्रश्नके उत्तरमें इतना स्पष्ट करना आवश्यक है कि ऊपरकी चर्चासे इतना तो मलीभौति ध्यानमें आता है कि भगवान् बुद्धको सिर्फ शरीरात्मवाद ही अमान्य है इतना ही नहीं बल्कि सर्वान्तर्यामी नित्य, ध्रुव, शाश्वत ऐसा आत्मवाद भी अमान्य है । उनके मतमें न तो आत्मा शरीरसे अख्यन्त भिन्न ही है और न आत्मा शरीरसे अभिन्न ही । उनको पार्थाक्ससम्मत भौतिकवाद भी एकान्त प्रतीत होता है और उपनिषदोंका कूटस्थ आत्मवाद भी एकान्त प्रतीत होता है । उनका मार्ग तो मध्यम मार्ग है । प्रतीत्यसमुत्पादवाद है ।

यही अपरिवर्तिष्ठ आत्मा मरकर पुनर्जन्म लेती है और संसरण करती है ऐसा मानने पर शाश्वतवाद<sup>२</sup> होता है और यदि ऐसा माना जाय कि माता-पिताके संयोगसे चार महाभूतोंसे आत्मा उत्पन्न होती है और इसी लिए शरीरके नष्ट होते ही आत्मा भी उच्छिन्न, विनष्ट और छूत होती है, तो यह उच्छेदवाद है<sup>३</sup> ।

तथागत बुद्धने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनोंको छोड़कर<sup>४</sup> मध्यम मार्गका उपदेश दिया है । भगवान् बुद्धके इस अशाश्वतानुच्छेदवादका स्पष्टीकरण निम्न संवादसे होता है—

‘क्या भगवन् गौतम ! दुःख संकृत है ?’

‘काश्यप ! ऐसा नहीं है ।’

‘क्या दुःख परकृत है ?’

‘नहीं ।’

‘क्या दुःख संकृत और परकृत है ?’

‘नहीं ।’

<sup>१</sup> संयुत्तनिकाय XII. 85. अंगुत्तरनिकाय ३ । <sup>२</sup> दीवनििकाय । <sup>३</sup> महाजालसुत्त । <sup>४</sup> संयुत्तनिकाय XII. 17.



‘क्या अव्यक्त और अपरकृत दुःख है ?’

‘नहीं !’

‘तब क्या है ? आप तो सभी प्रश्नोंका उत्तर नकारमें देते हैं, ऐसा क्यों ?’

‘दुःख स्वकृत है ऐसा कहनेका अर्थ होता है कि जिसने किया वही भोग करता है । किन्तु ऐसा कहने पर शाश्वतवादका अवलंबन होता है । और यदि ऐसा कहूँ कि दुःख परकृत है तो इसका मतलब यह होगा कि किया किसी दूसरेने और भोग करता है कोई अन्य । ऐसी स्थितिमें उच्छेदवाद आ जाता है । अत एव तथागत उच्छेदवाद और शाश्वतवाद इन दोनों अन्तोंको छोड़कर मध्यम मार्गका—प्रतीत्य समुत्पादका उपदेश देते हैं कि अविद्यासे संस्कार होता है, संस्कारसे विज्ञान.....स्पर्शसे दुःख.....इत्यादि” —संयुक्तनिकाय XII 17, XII 24

तात्पर्य यह है कि संसारमें सुख-दुःख इत्यादि अवस्थाएँ हैं, कर्म है, जन्म है, मरण है, बन्ध है, मुक्ति है—ये सब होते हुए भी इनका कोई स्थिर आधार आत्मा हो ऐसी बात नहीं है; परंतु ये अवस्थाएँ पूर्व-पूर्व कारणसे उत्तर-उत्तर कालमें होती हैं और एक नये कार्यको, एक नई अवस्थाको उत्पन्न करके नष्ट हो जाती हैं । इस प्रकार संसारका चक्र चलता रहता है । पूर्वका सर्वथा उच्छेद भी इष्ट नहीं और प्रौढ्य भी इष्ट नहीं । उत्तर पूर्वसे सर्वथा असंबन्ध हो, अपूर्व हो यह बात भी नहीं किन्तु पूर्वके अस्तित्वके कारण ही उत्तर होता है । पूर्वकी सारी शक्ति उत्तरमें आ जाती है । पूर्वका कुछ संस्कार उत्तरको मिल जाता है । अत एव पूर्व अब उत्तर रूपमें अस्तित्वमें है । उत्तर पूर्वसे सर्वथा भिन्न भी नहीं, अभिन्न भी नहीं । किन्तु अव्याकृत है । क्यों कि भिन्न कहने पर उच्छेदवाद होता है और अभिन्न कहने पर शाश्वतवाद होता है । भगवान् बुद्धको ये दोनों वाद मान्य न थे; अत एव ऐसे प्रश्नोंका उन्होंने अव्याकृत<sup>१</sup> कह कर उत्तर दिया है ।

इस संसारचक्रको काटनेका उपाय यही है कि पूर्वका निरोध करना । कारणके निरुद्ध हो जानेसे कार्य उत्पन्न नहीं होगा । अर्थात् अविद्याके निरोधसे.....तृष्णाके निरोधसे उपादानका निरोध, उपादानके निरोधसे भवका निरोध, भवके निरोधसे जन्मका निरोध, जन्मके निरोधसे मरणका निरोध हो जाता है ।

किन्तु यहाँ एक प्रश्न होता है कि मरणानन्तर तथागत बुद्धका क्या होता है ? इस प्रश्नका उत्तर भी अव्याकृत है । वह इसलिये कि यदि यह कहा जाय कि मरणोत्तर तथागत होता है तो शाश्वतवादका और यदि यह कहा जाय कि नहीं होता तो उच्छेदवादका प्रसंग आता है । अत एव इन दोनों वादोंका निषेध करनेके लिये भ० बुद्धने तथागतको मरणोत्तरदशामें अव्याकृत कहा है । जैसे गंगाकी बाढ़का नाप नहीं, जैसे समुद्रके पानीका नाप नहीं, इसी प्रकार मरणोत्तर तथागत भी गंभीर है, अप्रमेय है अत एव अव्याकृत है । जिस रूप, वेदना, संज्ञा, आदिके कारण तथागत की प्रज्ञापना होती थी वह रूपादि तो प्रहीण हो गये । अब तथागतकी प्रज्ञापनाका कोई साधन नहीं बचता इसलिये वे अव्याकृत हैं<sup>१</sup> ।

इस प्रकार जैसे उपनिषदोंमें आत्मवादकी या ब्रह्मवादकी पराकाष्ठाके समय आत्मा या ब्रह्मको ‘नेति-नेति’ के द्वारा अवक्तव्य प्रतिपादित किया गया है, उसे सभी विशेषणोंसे पर बताया जाता

हैं ठीक उसी प्रकार तथागत बुझने भी आत्माके विषयमें उपनिषदोंसे बिल्कुल उलटी राह लेकर भी उसे अव्याकृत माना है । जैसे उपनिषदोंमें परम तत्त्वको अवकल्प्य मानते हुए भी अनेक प्रकारसे आत्माका वर्णन हुआ है और वह व्यावहारिक माना गया है उसी प्रकार भ० बुझने भी कहा है कि लोकसंज्ञा, लोकनिरुक्ति, लोकव्यवहार, लोकप्रकृतिका आश्रय करके कहा जा सकता है कि “मैं पहले था, ‘नहीं था’ ऐसा नहीं, मैं भविष्यमें होऊँगा, ‘नहीं होऊँगा’ ऐसा नहीं, मैं अब हूँ, ‘नहीं हूँ’ ऐसा नहीं ।” तथागत ऐसी भाषाका व्यवहार करते हैं किन्तु इसमें फँसते नहीं ।<sup>१</sup>

### ( ३ ) जैनतत्त्वविचारकी प्राचीनता -

इतनी वैदिक और बौद्ध दार्शनिक पूर्व भूमिकाके आधार पर जैन दर्शनकी आगमवर्णित भूमिकाके विषयमें विचार किया जाय तो उचित ही होगा । जैन आगमोंमें जो तत्त्व-विचार है वह तत्कालीन दार्शनिक विचारकी भूमिकासे सर्वथा अछूता रहा होगा । इस बातका अस्वीकार करते हुए भी जैन अनुश्रुतिके आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि जैन आगमवर्णित तत्त्वविचारका मूल भगवान् महावीरके समयसे भी पुराना है । जैन अनुश्रुतिके अनुसार भगवान् महावीरने किसी नये तत्त्वदर्शनका प्रचार नहीं किया है किन्तु उनसे २५० वर्ष पहले होने वाले तीर्थंकर पार्श्वनाथके तत्त्वविचारका ही प्रचार किया है । पार्श्वनाथसम्मत आचारमें तो भगवान् महावीरने कुछ परिवर्तन किया है जिसकी साक्षी स्वयं आगम दे रहे हैं किन्तु पार्श्वनाथके तत्त्वज्ञानसे उनका कोई मतभेद जैन अनुश्रुतिमें बताया गया नहीं है । इससे हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि जैन तत्त्वविचारके मूल तत्त्व पार्श्वनाथ जितने तो पुराने अवश्य हैं ।

जैन अनुश्रुति तो इससे भी आगे जाती है । उसके अनुसार अपने से पहले हुए श्रीकृष्ण के समकालीन तीर्थंकर अरिष्टनेमिकी परंपरा को ही पार्श्वनाथने ग्रहण किया था और स्वयं अरिष्टनेमिने प्रागैतिहासिक काल में होनेवाले नमिनाथ से । इस प्रकार वह अनुश्रुति हमें ऋषभदेव, जो कि भरतचक्रवर्ती के पिता थे, तक पहुँचा देती है । उसके अनुसार तो वर्तमान वेदसे लेकर उपनिषद् पर्यन्त संपूर्ण साहित्य का मूलस्रोत ऋषभदेवप्रणीत जैन तत्त्वविचार-में ही है ।

इस जैन अनुश्रुति के प्रामाण्य को ऐतिहासिक-दृष्टिसे सिद्ध करना संभव नहीं है तो भी अनुश्रुतिप्रतिपादित जैन विचार की प्राचीनता में संदेह को कोई स्थान नहीं है । जैन तत्त्व-विचार की स्वतंत्रता इसीसे सिद्ध है कि जब उपनिषदोंमें अन्य दर्शनशास्त्रके बीज मिलते हैं तब जैन तत्त्वविचारके बीज नहीं मिलते । इतना ही नहीं किन्तु भगवान् महावीरप्रतिपादित आगमोंमें जो कर्मविचार की व्यवस्था है, मार्गणा और गुणस्थान सम्बन्धी जो विचार है, जीवों की गति और आगति का जो विचार है, लोककी व्यवस्था और रचना का जो विचार है, जड़ परमाणु पुद्गलोंकी वर्गणा और पुद्गल स्कन्धका जो व्यवस्थित विचार है, षड्द्रव्य और

१ “अहमव्यवहार्यममाहमसकृष्णमन्विष्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमर्हंतं चतुर्थं मय्यन्ते स आत्मा स विद्येयः ।” —माण्डू० ६.७ । “स एष मेति नेति इत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते ।” —बृहद० ४.५.१५ । इत्यादि Construc, p. 219 ।

२ कीचलिका-पोटुपायश्रुत ९ ।

आ० प्रस्तावना २

मनतत्त्वका जो व्यवस्थित निरूपण है उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि जैन तत्त्व-विचारधारा भगवान् महावीरसे पूर्व की कई पीढ़ियोंके परिश्रमका फल है और इस धाराका उपनिषद्प्रतिपादित अनेक मतों से पार्यक्य और स्वातंत्र्य स्वयंसिद्ध है ।

### § २ भगवान् महावीरकी देन-अनेकान्तवाद ।

प्राचीन तत्त्व व्यवस्थामें भगवान् महावीर ने क्या नया अर्पण किया इसे जाननेके लिये आगमोंसे बढ़कर हमारे पास कोई साधन नहीं है । जीव और अजीवके भेदोपभेदोंके विषयमें, मोक्षलक्षी आध्यात्मिक उत्क्रान्तिक्रमके सोपानरूप गुणस्थानके विषयमें, चार प्रकारके ध्यानके विषयमें या कर्मशास्त्रके सूक्ष्म भेदोपभेदोंके विषयमें या लोकारचनाके विषय में या परमाणुओंकी विविध वर्णनाओंके विषय में भगवान् महावीरने कोई नया मार्ग दिखाया हो यह तो आगमोंको देखने से प्रतीत नहीं होता । किन्तु तत्कालीन दार्शनिक क्षेत्रमें तत्त्वके स्वरूपके विषयमें जो नये नये प्रश्न उठते रहते थे उनका जो स्पष्टीकरण भगवान् महावीरने तत्कालीन अन्य दार्शनिकोंके विचारके प्रकाशमें किया है वही उनकी दार्शनिक क्षेत्रमें देन समझना चाहिए । जीवका जन्म-मरण होता है यह बात नई नहीं थी । परमाणुके नाना कार्य बाह्य जगतमें होते हैं और नष्ट होते हैं यह भी स्वीकृत था । किन्तु जीव और परमाणुका कैसा स्वरूप माना जाय जिससे उन भिन्न भिन्न अवस्थाओं के घटित होते रहने पर भी जीव और परमाणुका उन अवस्थाओंके साथ सम्बन्ध बना रहे । यह और ऐसे प्रश्न तत्कालीन दार्शनिकोंके द्वारा उठाये गये थे और उन्होंने अपना अपना स्पष्टीकरण भी किया था । इन नये प्रश्नोंका भगवान् महावीरने जो स्पष्टीकरण किया है वही उनकी दार्शनिक क्षेत्रमें नई देन है । अत एव आगमों के आधार पर भगवान् महावीरकी उस देन पर विचार किया जाय तो बादके जैन दार्शनिक विकासकी मूल भित्ति क्या थी यह सरलतासे स्पष्ट हो सकेगा ।

ईसाके बाद होनेवाले जैनदार्शनिकोंने जैनतत्त्वविचारको अनेकान्तवादके नामसे प्रतिपादित किया है और भगवान् महावीरको उस वादका उपदेशक बताया है ।<sup>१</sup> उन आचार्योंका उक्त कथन कहाँतक ठीक है और प्राचीन आगमोंमें अनेकान्तवादके विषय में क्या कहा गया है उसका दिग्दर्शन कराया जाय तो यह सहज ही में मालूम हो जायगा कि भगवान् महावीरने समकालीन दार्शनिकोंमें अपनी विचारधारा किस ओर बहाई और बादमें होनेवाले जैन आचार्योंने उस विचारधाराको लेकर उसमें क्रमशः कैसा विकास किया ।

#### ( १ ) चित्रविचित्र पञ्चयुक्त पुंस्कोकिल का स्वप्न ।

भगवान् महावीर को केवलज्ञान होनेके पहले जिन दश महास्वप्नोंका दर्शन हुआ था उनका उल्लेख भगवती सूत्रमें आया है ।<sup>२</sup> उनमें तीसरा स्वप्न इस प्रकार है:—

एगं थ णं महं चित्तविचित्तपक्खगं पुंसकोइल्लगं सुविणे पालिसा णं पडिबुद्धे ।<sup>३</sup>

अर्थात्— एक बड़े चित्रविचित्र पांखवाले पुंस्कोकिलको स्वप्नमें देखकर वे प्रतिबुद्ध हुए । इस महास्वप्नका फल बताते हुए कहा गया है कि:—

“अण्णे समणे भगवं महावीरे एगं महं चित्तविचित्तं जत्थ पडिबुद्धे तण्णे समणे भगवं महावीरे विचित्तं ससमयपरसमइयं दुवालसंगं गणियिडगं आघवेति पञ्चवेति पक्खेति..... ।”

अर्थात् उस खण्डका फल यह है कि भगवान् महावीर विचित्र ऐसे खपर सिद्धान्तको बताने वाले द्वादशांग का उपदेश देंगे ।

प्रस्तुतमें चित्रविचित्र शब्द खास ध्यान देने लायक है । बादके जैन दार्शनिकोंने जो चित्रज्ञान और चित्रपट को लेकर बौद्ध और नैयायिक-वैशेषिकके सामने अनेकान्तवादको सिद्ध किया है वह इस चित्रविचित्र शब्दको पढ़ते समय याद आ जाता है । किन्तु प्रस्तुतमें उसका सम्बन्ध न मी हो तब मी पुंस्कोकिलकी पांखको चित्रविचित्र कहनेका और आगमोंको विचित्र विशेषण देनेका खास तात्पर्य तो यही माछम होता है कि उनका उपदेश अनेकरंगी-अनेकान्तवाद माना गया है । चित्रविचित्र विशेषण से सूत्रकारने यही ध्वनित किया है ऐसा निश्चय करना तो कठिन है किन्तु यदि भगवान्के दर्शनकी विशेषता और प्रस्तुत चित्रविचित्र विशेषण का कुछ मेल बिठाया जाय तब यही संभावना की जा सकती है कि वह विशेषण सामिप्राय है और उससे सूत्रकारने भगवान्के उपदेशकी विशेषताः अर्थात् अनेकान्तवादको ध्वनित किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।

### § ३. विमज्जवाद ।

सूत्रकृतांग में भिक्षु कैसी भाषाका प्रयोग करे, इस प्रश्न के प्रसंगमें कहा गया है कि विमज्जवाद का प्रयोग<sup>१</sup> करना चाहिए । विमज्जवादका मतलब ठीक समझनेमें हमें जैन टीकाग्रन्थोंके अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थ मी सहायक होते हैं । बौद्ध मज्झिमनिकाय (सुत्त. ९९) में शुभ माणवकके प्रश्नके उत्तरमें भ० बुद्धने कहा कि—“हे माणवक ! मैं यहाँ विमज्ज-वादी हूँ, एकांशवादी नहीं ।” उसका प्रश्न था कि मैंने सुन रखा है कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित आराधक नहीं होता । इसमें आपकी क्या राय है ? इस प्रश्नका एकांशी हामें या नहींमें उत्तर न देकर भगवान् बुद्धने कहा कि गृहस्थ मी यदि मिथ्यात्मी है तो निर्वाणमार्गका आराधक नहीं और त्यागी मी यदि मिथ्यात्मी है तो वह मी आराधक नहीं । किन्तु यदि वे दोनों सम्यक् प्रतिपत्तिसम्पन्न हैं, तमी आराधक होते हैं । अपने ऐसे उत्तरके बल पर वे अपने आपको विमज्जवादी बताते हैं और कहते हैं कि मैं एकांशवादी नहीं हूँ ।

यदि वे ऐसा कहते कि गृहस्थ आराधक नहीं होता, त्यागी आराधक होता है या ऐसा कहते कि त्यागी आराधक होता है, गृहस्थ आराधक नहीं होता तब उनका वह उत्तर एकांशवाद<sup>२</sup> होता । किन्तु प्रस्तुतमें उन्होंने त्यागी या गृहस्थकी आराधकता और अनाराधकतामें जो अपेक्षा या कारण था उसे बताकर दोनों को आराधक और अनाराधक बताया है । अर्थात् प्रश्नका उत्तर विभाग करके दिया है अतएव वे अपने आपको विमज्जवादी कहते हैं ।

यहाँपर यह ध्यान रखना चाहिए कि भगवान् बुद्ध सर्वदा सभी प्रश्नोंके उत्तरमें विमज्जवादी नहीं थे । किन्तु जिन प्रश्नों का उत्तर विमज्जवादसे ही संभव था उन कुछ ही प्रश्नोंका उत्तर देते समय ही वे विमज्जवादका अवलम्बन लेते थे<sup>३</sup> ।

१. “सिक्ख विमज्जवायं च जियागरेजा” । सूत्रकृतांग १.१४.२२ । २ देवो-दीर्घनिकाय-३३ संनित्तिपरिचाय सुत्तमें चार प्रश्नधारण । ३ वही ।

उपर्युक्त बौद्ध सूत्रसे एकांशवाद और विभज्यवादका परस्पर विरोध स्पष्ट सूचित हो जाता है। जैन टीकाकार विभज्यवाद का अर्थ स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तवाद करते हैं। एकान्तवाद और अनेकान्तवादका भी परस्पर विरोध स्पष्ट ही है। ऐसी स्थितिमें सूत्रकृतांगत विभज्यवादका अर्थ अनेकान्तवाद या नयवाद या अपेक्षावाद या पृथक्करण करके, विभाजन करके किसी तत्त्वके विवेचन का वाद भी लिया जाय तो ठीक ही होगा। अपेक्षामेदसे स्यात्शब्दांकित प्रयोग आगममें देखे जाते हैं। एकाधिक भंगोंका स्याद्वाद भी आगममें मिलता है। अतएव आगमकालीन अनेकान्तवाद या विभज्यवादको स्याद्वाद भी कहा जाय तो अनुचित नहीं।

भगवान् बुद्धका विभज्यवाद कुछ मर्यादित क्षेत्रमें था। और भगवान् महावीरके विभज्यवादका क्षेत्र व्यापक था। यही कारण है कि जैनदर्शन आगे जाकर अनेकान्तवादमें परिणत हो गया और बौद्धदर्शन किसी अंशमें विभज्यवाद होते हुए भी एकान्तवाद की ओर अप्रसर हुआ।

भगवान् बुद्धके विभज्यवादकी तरह भगवान् महावीरका विभज्यवाद भी भगवतीगत प्रश्नोंसे स्पष्ट होता है। गणधर गौतम आदि और भगवान् महावीर के कुछ प्रश्नोत्तर नीचे दिये जाते हैं जिनसे भगवान् महावीरके विभज्यवादकी तुलना भ० बुद्धके विभज्यवादसे करनी सरल हो सके।

( १ )

गौ०—कोई यदि ऐसा कहे कि—‘मैं सर्व प्राण, सर्वभूत, सर्व जीव, सर्व सत्त्वकी हिंसा का प्रत्याख्यान करता हूँ’ तो क्या उसका वह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है या दुष्प्रत्याख्यान !  
भ० महावीर—स्यात् सुप्रत्याख्यान है और स्यात् दुष्प्रत्याख्यान है।

गौ०—मन्ते ! इसका क्या कारण ?

भ० महावीर—जिसको यह मान नहीं कि ये जीव हैं और ये अजीव, ये त्रस हैं और ये स्थावर, उसका वैसा प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। वह मृषावादी है। किन्तु जो यह जानता है कि ये जीव हैं और ये अजीव, ये त्रस हैं और ये स्थावर, उसका वैसा प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है, वह सत्यवादी है।

—भगवती श० ७. उ० २. सू० २७०।

( २ )

जयंती—मंते ! सोना अच्छा है या जगना ?

भ० महावीर—जयंती ! कितनेक जीवोंका सोना अच्छा है और कितनेक जीवोंका जगना अच्छा है।

ज०—इसका क्या कारण है ?

भ० म०—जो जीव अधर्मी हैं, अधर्मानुग हैं, अधर्मीष्ट हैं, अधर्मीह्यायी हैं, अधर्मप्रलोकी हैं, अधर्मप्ररञ्जन हैं, अधर्मसमाचार हैं, अधार्मिक वृत्तिवाले हैं वे सोते रहें यही अच्छा है; क्योंकि जब वे सोते होंगे अनेक जीवोंको पीड़ा नहीं देंगे। और इसप्रकार स्व, पर और उभयको अधार्मिक क्रियामें नहीं लगावेंगे अतएव उनका सोना अच्छा है।

किन्तु जो जीव धार्मिक हैं, धर्मानुग हैं यावत् धार्मिक वृत्तिवाले हैं उनका तो जागना ही अच्छा है । क्योंकि ये अनेक जीवोंको सुख देते हैं और स्व, पर और उभयको धार्मिक अनुष्ठान में लगाते हैं अतएव उनका जागना ही अच्छा है ।

जयंती-भन्ते ! बलवान् होना अच्छा है या दुर्बल होना ?

भ० महावीर-जयंती ! कुछ जीवों का बलवान् होना अच्छा है और कुछका दुर्बल होना । जयंती-इसका क्या कारण ?

भ० महावीर-जो जीव अधार्मिक हैं यावत् अधार्मिक वृत्तिवाले हैं उनका दुर्बल होना अच्छा है । क्यों कि वे बलवान् हों तो अनेक जीवों को दुःख देंगे ।

किन्तु जो जीव धार्मिक हैं यावत् धार्मिकवृत्तिवाले हैं उनका सबल होना ही अच्छा है क्योंकि उनके सबल होनेसे वे अधिक जीवोंको सुख पहुँचावेंगे ।

इसीप्रकार अलसत्व और दक्षत्वके प्रश्नका भी विभाग करके भगवान्ने उत्तर दिया है ।

—भगवती १२.२.४४३ ।

( ३ )

गौ०-भन्ते ! जीव सकम्प हैं या निष्कम्प ?

भ० महावीर-गौतम ! जीव सकम्प भी हैं और निष्कम्प भी ।

गौ०-इसका क्या कारण ?

भ० महावीर-जीव दो प्रकारके हैं-संसारी और मुक्त । मुक्त जीवके दो प्रकार हैं-

अनन्तरसिद्ध और परम्परसिद्ध । परंपरसिद्ध तो निष्कम्प हैं और अनन्तरसिद्ध सकम्प । संसारी जीवोंके भी दो प्रकार हैं-शैलेशी और अशैलेशी । शैलेशी जीव निष्कम्प होते हैं और अशैलेशी सकम्प होते हैं ।

—भगवती २५.४ ।

( ४ )

गौ०-जीव सवीर्य हैं या अवीर्य हैं ?

भ० महावीर-जीव सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं ।

गौ०-इसका क्या कारण ?

भ० महावीर-जीव दो प्रकारके हैं । संसारी और मुक्त । मुक्त तो अवीर्य हैं । संसारी जीव के दो भेद हैं-शैलेशीप्रतिपन्न और अशैलेशीप्रतिपन्न । शैलेशीप्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्यकी अपेक्षा से सवीर्य हैं किन्तु करणवीर्यकी अपेक्षासे अवीर्य हैं और अशैलेशी-प्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्यकी अपेक्षासे सवीर्य हैं किन्तु करणवीर्यकी अपेक्षासे सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं । जो जीव पराक्रम करते हैं वे करणवीर्य अपेक्षासे सवीर्य हैं और अपराक्रमी हैं वे करणवीर्यकी अपेक्षासे अवीर्य हैं ।

—भगवती १.८.७२ ।

भगवान् बुद्धके विभज्यवादकी तुलनामें और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं किन्तु इतने पर्याप्त हैं । इस विभज्यवादका मूलाधार विभाग करके उत्तर देना है जो ऊपरके उदाहरणोंसे स्पष्ट है । असली बात यह है कि दो विरोधी बातोंका स्वीकार एक सामान्यमें करके उसी एकको

१ मूलमें सेये-निरेया ( सेज-सिरेज ) है । तुलना करो-“तदेजति तन्नैजति”-ईशावास्यो-पनिषद् ५ ।

विभक्त करके दोनों विभागोंमें दो विरोधी धर्मोंको संगत बनाना, इसका अर्थ इस विमज्जवादका फलित होता है । किन्तु यहाँ एक बातकी ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है । भ० बुद्ध जब किसीका विभाग करके विरोधी धर्मोंको घटाते हैं और भगवान् महावीरने जो उक्त ब्रह्माहर्णोंमें विरोधी धर्मोंको घटाया है उससे स्पष्ट है कि वस्तुतः दो विरोधी धर्म एककालमें किसी एक व्यक्तिके नहीं बल्कि भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके हैं । विमज्जवादका यही मूल अर्थ हो सकता है जो दोनों महापुरुषोंके बचनोंमें एकरूपसे आया है ।

किन्तु भगवान् महावीरने इस विमज्जवादका क्षेत्र व्यापक बनाया है । उन्होंने विरोधी धर्मोंको अर्थात् अनेक अन्तोंको एक ही कालमें और एक ही व्यक्तिमें अपेक्षामेदसे घटाया है । इसी कारणसे विमज्जवादका अर्थ अनेकान्तवाद या स्याद्वाद हुआ और इसी लिये भगवान् महावीरका दर्शन आगे चलकर अनेकान्तवादके नामसे प्रतिष्ठित हुआ ।

तिर्यक्सामान्यकी अपेक्षासे जो विशेष व्यक्तियों हों उन्हीं व्यक्तियोंमें विरोधी धर्मका स्वीकार करना यह विमज्जवादका मूलाधार है जब कि तिर्यग् और ऊर्ध्वता दोनों प्रकारके सामान्योंके धर्मोंमें विरोधी धर्मोंका स्वीकार करना यह अनेकान्तवादका मूलाधार है । अनेकान्तवाद विमज्जवादका विकसित रूप है । अत एव वह विमज्जवाद तो है ही । पर विमज्जवाद ही अनेकान्तवाद है ऐसा नहीं कहा जा सकता । अत एव जैन दार्शनिकोंने अपने वादको जो अनेकान्तवादके नामसे ही विशेषरूपसे प्रख्यापित किया है वह सर्वथा उचित ही हुआ है ।

### § ४ अनेकान्तवाद ।

भगवान् महावीरने जो अनेकान्तवादकी प्ररूपणा की है उसके मूलमें तत्कालीन दार्शनिकोंमेंसे भगवान् बुद्धके निषेधात्मक दृष्टिकोणका महत्त्वपूर्ण स्थान है । स्याद्वादके मंगोंकी रचनामें संजयबेलट्टीपुत्रके 'विशेष वादसे भी मदद ली गई हो—यह संभव है । किन्तु भगवान् बुद्धने तत्कालीन नाना वादोंसे अलित रहनेके लिये जो खूब अंगीकार किया था उसीमें अनेकान्तवादका बीज है ऐसा प्रतीत होता है । जीव और जगत् तथा ईश्वरके निष्पत्त—अनिष्टात्मके विषयमें जो प्रश्न होते थे उनको उन्होंने अव्याकृत बता दिया । इसी प्रकार जीव और शरीरके विषयमें मेदा-भेदके प्रश्नको भी उन्होंने अव्याकृत कहा है । जब कि भ० महावीरने उन्हीं प्रश्नोंका व्याकरण अपनी दृष्टिसे किया है । अर्थात् उन्हीं प्रश्नोंको अनेकान्तवादके आश्रयसे सुलझाया है । उन प्रश्नोंके स्पष्टीकरणमेंसे जो दृष्टि उनको सिद्ध हुई उसीका सार्वत्रिक विस्तार करके अनेकान्तवादको सर्ववस्तुव्यापी उन्होंने बनादिया है । यह स्पष्ट है कि भ० बुद्ध दो विरोधी वादोंको देखकर उनसे बचनेके लिये अपना तीसरा मार्ग उनके अस्वीकारमें ही सीमित करते हैं, तब भ० महावीर उन दोनों विरोधी वादोंका समन्वय करके उनके स्वीकारमें ही अपने नये मार्ग अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा करते हैं । अतएव अनेकान्तवादकी चर्चाका प्रारंभ बुद्धके अव्याकृत प्रश्नोंसे किया जाय तो उचित ही होगा ।

( १ ) भगवान् बुद्धके अव्याकृत प्रश्न ।

भगवान् बुद्धने निम्नलिखित प्रश्नोंको अव्याकृत कहा है—

१ दीर्घनिकाय—सामञ्जससुत्त । २ मज्झिमनिकाय—पूजसाङ्ख्यसुत्त ११ ।

- ( १ ) लोक शाश्वत है ?
- ( २ ) लोक अशाश्वत है ?
- ( ३ ) लोक अन्तवान् है ?
- ( ४ ) लोक अनन्त है ?
- ( ५ ) जीव और शरीर एक हैं ?
- ( ६ ) जीव और शरीर भिन्न हैं ?
- ( ७ ) मरनेके बाद तथागत होते हैं ?
- ( ८ ) मरनेके बाद तथागत नहीं होते ?
- ( ९ ) मरनेके बाद तथागत होते भी हैं, और नहीं भी होते ?
- ( १० ) मरनेके बाद तथागत न-होते हैं, और न-नहीं होते हैं ?

इन प्रश्नोंका संक्षेप तीन ही प्रश्नमें है—( १ ) लोककी नित्यता-अनित्यता और सान्त्वता-निरन्तरताका प्रश्न, ( २ ) जीव-शरीरके भेदाभेदका प्रश्न और ( ३ ) तथागतकी मरणोत्तर स्थिति-अस्थिति अर्थात् जीवकी नित्यता अनित्यताका प्रश्न<sup>१</sup> । ये ही प्रश्न भगवान् बुद्धके जमानेके महान् प्रश्न थे । और इन्हींके विषयमें भ० बुद्धने एक तरहसे अपना मत देते हुए भी वस्तुतः विधायकरूपसे कुछ नहीं कहा । यदि वे लोक या जीवको नित्य कहते तो उनको उपनिषद्-मान्य शाश्वतवादको स्वीकार करना पड़ता और यदि वे अनित्य पक्षको स्वीकार करते तब चावाँक जैसे भौतिकवादि संमत उच्छेदवादको स्वीकार करना पड़ता । इतना तो स्पष्ट है कि उनको शाश्वतवादमें भी दोष प्रतीत हुआ था और उच्छेदवादको भी वे अच्छा नहीं समझते थे । इतना होते हुए भी अपने नये वादको कुछ नाम देना उन्होंने पसंद नहीं किया और इतना ही कह कर रह गये कि ये दोनों वाद ठीक नहीं । अतएव ऐसे प्रश्नोंको अव्याकृत, स्थापित, प्रतिक्षिप्त बता दिया और कह दिया कि लोक शाश्वत हो या अशाश्वत, जन्म है ही, मरण है ही । मैं तो इन्हीं जन्ममरणके विधातको बताता हूँ । यही मेरा व्याकृत है । और इसीसे तुम्हारा भला होनेवाला है । शेष लोकादिकी शाश्वतता आदिके प्रश्न अव्याकृत हैं, उन प्रश्नोंका मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया ऐसा ही समझो<sup>१</sup> ।

इतनी चर्चासे स्पष्ट है कि भ० बुद्धने अपने मन्तव्यको विधिरूपसे न रख कर अशाश्वतानु-च्छेदवादका ही स्वीकार किया है । अर्थात् उपनिषन्मान्य नेति नेति की तरह वस्तुस्वरूपका निषेधपरक ध्याख्यान करनेका प्रयत्न किया है । ऐसा करनेका कारण स्पष्ट यही है कि तत्कालमें प्रचलित वादोंके दोषोंकी ओर उनकी दृष्टि गई और इस लिये उनमें से किसी वादका अनुयायी होना उन्होंने पसंद नहीं किया । इस प्रकार उन्होंने एक प्रकारसे अनेकान्तवादका रास्ता साफ किया । भगवान् महावीरने तत्तद्वादोंके दोष और गुण दोनोंकी ओर दृष्टि दी । प्रत्येक वादका गुणदर्शन तो उस उस वादके स्थापकने प्रथमसे कराया ही था, उन विरोधीवादोंमें दोषदर्शन भ० बुद्धने किया । तब भगवान् महावीरके सामने उन वादोंके गुण और दोष दोनों आ गए । दोनों पर समान भावसे दृष्टि देने पर अनेकान्तवाद स्वतः फलित हो जाता है । भगवान् महावीरने तत्कालीनवादों के गुणदोषोंकी परीक्षा करके जितनी जिस वादमें सच्चाई थी उसे

१ इस प्रश्नको ईश्वरके स्वतन्त्र अस्तित्व या नास्तित्व का प्रश्न भी कहा जा सकता है । २ वही ।



इतनी ही मात्रामें स्वीकार करके सभी वादोंका समन्वय करनेका प्रयत्न किया। यही भगवान् महावीर का अनेकान्तवाद या विकसित विभज्यवाद है। भगवान् बुद्ध जिन प्रश्नोंका उत्तर विधिरूपसे देना नहीं चाहते थे उन सभी प्रश्नोंका उत्तर देनेमें अनेकान्तवादका आश्रय करके भगवान् महावीर समर्थ हुए। उन्होंने प्रत्येक वादके पीछे रही हुई दृष्टिको समझनेका प्रयत्न किया, प्रत्येक वादकी मर्यादा क्या है, अमुक वादका उत्थान होनेमें मूलतः क्या अपेक्षा होना चाहिए, इस बातकी खोज की और नयवादके रूपमें उस खोजको दार्शनिकोंके सामने रखा। यही नयवाद अनेकान्तवादका मूलधार बन गया।

अब मूल जैनागमोंके आधार पर ही भगवान् के अनेकान्तवादका दिग्दर्शन कराना उपयुक्त होगा।

पहले उन्हें प्रश्नोंको लिया जाता है जिनको कि भ० बुद्धने अव्याकृत बताया है। ऐसा करनेसे यह स्पष्ट होगा कि जहाँ बुद्ध किसी एक वादमें पड़जानेके भय से निषेधात्मक उत्तर देते हैं वहाँ भ० महावीर अनेकान्तवादका आश्रयकरके किस प्रकार विधिरूप उत्तर देकर अपना अपूर्व मार्ग प्रस्थापित करते हैं—

### ( २ ) लोककी नित्यानित्यता—सान्तानन्तता ।

उपर्युक्त बौद्ध अव्याकृत प्रश्नोंमें प्रथम चार लोककी नित्यानित्यता और सान्तता—अनन्तताके विषयमें हैं। उन प्रश्नोंके विषयमें भगवान् महावीर का जो स्पष्टीकरण है वह भगवतीमें 'स्कन्दक' परिव्राजकके अधिकारमें उपलब्ध है। उस अधिकारसे और 'अन्य अधिकारोंसे यह सुविदित है कि भगवान्ने अपने अनुयायियोंको लोकके संबंधमें होनेवाले उन प्रश्नोंके विषयमें अपना स्पष्ट मन्तव्य बता दिया था, जो अपूर्व था। अतएव उनके अनुयायी अन्य तीर्थिकोंसे इसी विषयमें प्रश्न करके उन्हें चूप किया करते थे। इस विषयमें भगवान् महावीरके शब्द ये हैं—

“एवं खलु मय खंद्या ! खउव्विहे लोए पन्नत्ते, तं जहा-दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ ।

दव्वओ णं एगे लोए सअंते १ ।

खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंसेणं असंखेज्जाओ जेयणकोडाकोडीओ परिकखेवेणं पन्नत्ता, अत्थि पुण सअंते २ ।

कालओ णं लोए ण कयावि न आसी, न कयावि न भवति, न कयावि न भविस्सति, भविस्सु य भवति य भविस्सइ य, धुवे गित्थि ससत्ते अक्खए अद्वए अवट्ठिण्णिं, नत्थि पुण से अन्ते ३ ।

भावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा गंध० रस० फासपज्जवा अणंता संडाणपज्जवा अणंता गदयलहुयपज्जवा अणंता अगदयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अन्ते ४ ।

से णं खंदगा ! दव्वओ लोए सअंते, खेत्तओ लोए सअंते, कालतो लोए अणंते, भावओ लोए अणंते ।” भग० २.१.९०

इसका सार यह है कि लोक द्रव्यकी अपेक्षासे सान्त है क्योंकि यह संख्यामें एक है। किन्तु भाव अर्थात् पर्यायोंकी अपेक्षासे लोक अनन्त है क्योंकि लोकद्रव्यके पर्याय अनन्त हैं। कालकी दृष्टिसे लोक अनन्त है अर्थात् शाश्वत है क्योंकि ऐसा कोई काल नहीं जिसमें लोकका

✓ १ शतक २ उद्देशक १ । २ शतक ९ उद्देशक ६ । सूत्रकृतांग १.१.४.६—“अन्तवं तिहए लोए इह चीरो तिपासई ।”

अस्तित्व न हो । किन्तु क्षेत्रकी दृष्टिसे लोक सान्त है क्योंकि सकलक्षेत्रमें से कुछ ही में 'लोक' है अन्यत्र नहीं ।

इस उत्तरणमें मुख्यतः सान्त और अनन्त शब्दोंको लेकर अनेकान्तवादकी स्थापना की गई है । भगवान् बुद्धने लोककी — सान्तता और अनन्तता दोनोंको अव्याकृत कोटिमें रखा है । तब भगवान् महावीरने लोकको सान्त और अनन्त अपेक्षामेदसे बताया है ।

अब लोककी शाश्वतता-अशाश्वतताके विषयमें जहाँ भ० बुद्धने अव्याकृत कहा वहाँ भ० महावीरका अनेकान्तवादी मन्तव्य क्या है उसे उन्हीके शब्दोंमें सुनिये:—

“सासए लोए जमाली । जअ कयावि णासी, णो कयावि ण भवति, ण कयावि ण भविस्सइ, भुधिं च भवइ य भविस्सइ य, धुवे णितिए सासए अक्खए भव्वए अवट्टिए णिच्चे ।

असासए लोए जमाली । जओ ओसप्पिणी भविच्चा उस्सप्पिणी भवइ, उस्सप्पिणी भविच्चा ओसप्पिणी भवइ ।” भग० ९.६.३८७ ।

जमाली अपने आपको अर्द्धत् समजता या किन्तु जब लोककी शाश्वतता-अशाश्वतताके विषयमें गौतम गणधरने उससे प्रश्न पूछा तब वह उत्तर न दे सका, तिसपर भ० महावीरने उपर्युक्त समाधान यह कह करके किया कि यह तो एक सामान्य प्रश्न है । इसका उत्तर तो मेरे छत्रस्थ शिष्य भी दे सकते हैं ।

जमालि ! लोक शाश्वत है और अशाश्वत भी । त्रिकालमें ऐसा एक भी समय नहीं जब लोक किसी न किसी रूपमें न हो अत एव वह शाश्वत है । किन्तु वह अशाश्वत भी है क्योंकि लोक हमेशा एकरूप तो रहता नहीं । उसमें अवसर्पिणी और उत्पत्तिर्पिणीके कारण अवन्ति और उन्नति भँ देखी जाती है । एकरूपमें—सर्वथा शाश्वत में परिवर्तन नहीं होता अत एव उसे अशाश्वत भी मानना चाहिए ।

( ३ ) लोक क्या है ?

प्रस्तुतमें लोकसे भ० महावीरका क्या अभिप्राय है यह भी जानना जरूरी है । उसके लिये नीचेके प्रश्नोत्तर पर्याप्त हैं ।

“किमियं भंते ! छोपसि पबुब्बइ ?”

“गोयमा । पंचरिथकाया, एस णं पचतिए छोपसि पबुब्बइ । तं जहा धम्मरिथकाए अहम्मरिथकाए जाव ( आगासरिथकाए जीवरिथकाए ) वाग्गलरिथकाए ।”

भग० १३.४.४८१ ।

अर्थात् पांच अस्तिकाय ही लोक है । पांच अस्तिकाय ये हैं—धर्मोस्तिकाय, अधर्मोस्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ।

( ४ ) जीव-शरीरका भेदाभेद ।

जीव और शरीरका भेद है वा अभेद इस प्रश्नको भी भ० बुद्धने अव्याकृत कोटिमें रखा है । इस विषयमें भगवान् महावीरके मन्तव्यको निम्न संवादसे जाना जा सकता है—

१ लोकका मतलब हैं पंचास्तिकाय । पंचास्तिकाय संपूर्ण आकाशक्षेत्रमें नहीं किन्तु जैसा ऊपर बताया गया है अस्वप्नायकोटाकोटी भोजन की परिधिमें हैं ।

न्या० प्रस्तावना ३

“आया मन्ते ! काये भजे काये !”

“गोयमा ! आयावि काये भजेवि काये !”

“कवि मन्ते ! काये भकवि काये !”

“गोयमा ! कवि पि काये भकवि पि काये !”

एवं एकेके पुच्छा ।

“गोयमा ! सविसे वि काये भविसे वि काये” । भग० १३.७.४९५ ।

उपर्युक्त संवाद से स्पष्ट है कि भ० महावीरने गौतमके प्रश्नके उत्तरमें आत्माको शरीरसे अभिन्न भी कहा है और उससे भिन्न भी कहा है । ऐसा कहनेपर और दो प्रश्न उपस्थित होते हैं कि यदि शरीर आत्मा से अभिन्न है तो आत्माकी तरह यह अरूपि भी होना चाहिए और सचेतन भी । इन प्रश्नोंका उत्तर भी स्पष्टरूपसे दिया गया है कि काय अर्थात् शरीर रूपि भी है और अरूपि भी । शरीर सचेतन भी है और अचेतन भी ।

जब शरीरको आत्मासे पृथक् माना जाता है तब वह रूपि और अचेतन है । और जब शरीर को आत्मासे अभिन्न माना जाता है तब शरीर अरूपि और सचेतन है ।

भगवान् बुद्धके मतसे यदि शरीरको आत्मासे भिन्न माना जाय तब ब्रह्मचर्यवास संभव नहीं । और यदि अभिन्न माना जाय तब भी—ब्रह्मचर्यवास संभव नहीं । अत एव इन दोनों अर्थों को छोड़कर भगवान् बुद्धने मध्यममार्गका उपदेश दिया और शरीरके भेदाभेदके प्रश्नको अव्याकृत बताया—

“तं जीवं तं शरीरं ति भिक्खु ! विट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति । अस्मं जीवं अस्मं शरीरं ति वा भिक्खु ! विट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति । एते ते भिक्खु ! उभो मन्ते अनुपगमम मज्झिम तथागतो धम्मं वेत्तेति—” संयुक्त XII 135

किन्तु भगवान् महावीरने इस विषय में मध्यममार्ग—अनेकान्तवादका आश्रय लेकर उपर्युक्त दोनों विरोधी वादोंका समन्वय किया । यदि आत्मा शरीरसे अत्यन्त भिन्न माना जाय तब कायकृत कर्मोंका फल उसे नहीं मिलना चाहिए । अत्यन्तभेद माननेपर इस प्रकार अकृतागम दोषकी आपत्ति है । और यदि अत्यन्त अभिन्न माना जाय तब शरीर का दाह हो जानेपर आत्मा भी नष्ट होगी जिससे परलोक संभव नहीं रहेगा । इस प्रकार कृतप्रणाश दोष की आपत्ति होगी । अत एव इन्हीं दोनों दोषोंको देखकर भगवान् बुद्धने कह दिया कि भेद पक्ष और अभेद पक्ष ये दोनों ठीक नहीं हैं । जब कि भ० महावीरने दोनों विरोधी वादोंका समन्वय किया और भेद और अभेद दोनों पक्षोंका स्वीकार किया । एकान्त भेद और अभेद माननेपर जो दोष होते हैं वे उभयवाद माननेपर नहीं होते । जीव और शरीरका भेद इसलिये मानना चाहिए कि शरीर का नाश हो जानेपर भी आत्मा दूसरे जन्ममें मौजुद रहती है या सिद्धावस्थामें अशरीरी आत्मा भी होती है । अभेद इसलिये मानना चाहिए कि संसारवस्थामें शरीर और आत्माका क्षीरनीरवद् या अमिलोद्भिपण्डवद् तादात्म्य होता है इसी लिये कायसे किसी वस्तुका स्पर्श होनेपर आत्मामें संवेदन होता है और कायिक कर्मका विपाक आत्मामें होता है ।

भगवतीसूत्रमें जीवके परिणाम दश गिनाए हैं यथा—

गतिपरिणाम, इन्द्रियपरिणाम, कषायपरिणाम, लेश्यापरिणाम, योगपरिणाम, उपयोगपरिणाम, ज्ञानपरिणाम, दर्शनपरिणाम, चारित्रपरिणाम और वेदपरिणाम । — सप्त० १४.४.५१४ ।

जीव और कायका यदि अमेद न माना जाय तो इन परिणामोंको जीवके परिणामरूपसे नहीं गिनाया जा सकता । इसी प्रकार भगवतीमें (१२.५.४५१) जो जीवके परिणामरूपसे वर्ण गन्ध स्पर्शका निर्देश है वह भी जीव और शरीरके अमेद को मान कर ही घटाया जा सकता है ।

अन्यत्र गौतमके प्रश्नके उत्तरमें निश्चयपूर्वक भगवान् ने कहा है कि—

“गोयमा ! अहमेयं जाणामि अहमेयं पासामि अहमेयं बुज्झामि...अं णं तद्दामयस्स जीवस्स सक्खिस्स सकम्मस्स सरागस्स सवेदस्स समोहस्स सलेसस्स ससरीरस्स ताओ सरीराओ अविप्पमुक्कस्स एवं पक्कयति—तं जहा कालसे वा जाव सुक्खिस्से वा, सुग्भि-गंधसे वा दुग्भिगंधसे वा, तिसे वा जाव मइरसे वा, कक्खइसे वा जाव लुक्कस्से वा ।”

भग० १७.२. ।

अन्यत्र जीवके कृष्णवर्णपर्यायका भी निर्देश है—भग० २५.४ । ये सभी निर्देश जीवशरीरके अमेदकी मान्यतापर निर्भर हैं ।

इसी प्रकार आचारांगमें आत्माके विषयमें जो ऐसे शब्दोंका प्रयोग है—

“सब्बे सत्ता नियङ्गति तक्का जत्थ न विज्जति मई तत्थ न गाहिंया । ओए अण्णइद्धानस्स खेयसे । से न दीहे न हस्से न बहे न तंसे न चउरंसे न परिमंइले न किण्ठे न नीले न हत्थी न पुरिसे न अक्खहा परिसे सब्बे उवमा न विज्जय अक्खी सत्ता अपयस्स पयं मरिथ ।”  
आत्मा० सू० १७० ।

वह भी संगत नहीं हो सकता यदि आत्मा शरीरसे भिन्न न माना जाय । शरीरभिन्न आत्माको लक्ष्य करके स्पष्टरूप से भगवान् ने कहा है कि उसमें वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श नहीं होते—

“गोयमा ! मई एवं जाणामि, जाव अं णं तद्दामयस्स जीवस्स सक्खिस्स सकम्मस्स सरागस्स सवेदस्स समोहस्स सलेसस्स ससरीरस्स ताओ सरीराओ विप्पमुक्कस्स नो एवं पक्कयति—तं जहा कालसे वा जाव लुक्कस्से वा ।” भगवती० १७.२. ।

चार्वाक शरीरको ही आत्मा मानता था और औपनिषद्-ऋषिगण आत्मा को शरीरसे अस्वन्त भिन्न मानते थे । भ० बुद्धको इन दोनों मतोंमें दोष तो नजर आया किन्तु वे विधिरूपसे समन्वय न कर सके । जब कि भगवान् महावीर ने इन दोनों मतों का समन्वय उपर्युक्त प्रकारसे भेद और अभेद दोनों पक्षोंका स्वीकार करके किया ।

(५) जीवकी नित्यानित्यता—

मृत्युके बाद तत्प्राप्त होते हैं कि नहीं इस प्रश्नको भ० बुद्धने अध्याकृत कोटिमें रखा है क्योंकि ऐसा प्रश्न और उसका उत्तर सार्थक नहीं, आदि ब्रह्मचर्यके लिये नहीं, निर्वेद, निरोध, अभिज्ञा, संबोध और निर्वाणके लिये भी नहीं ।

आत्माके विषयमें चिन्तन करना यह भ० बुद्धके मतसे अयोग्य है । जिन प्रश्नोंको भ० बुद्धने ‘अयोनिस्सो मनसिकार’—विचारका अयोग्य ढंग—कहा है वे ये हैं—“मैं भूतकालमें था कि नहीं था ? मैं भूतकालमें क्या था ? मैं भूतकालमें कैसा था ? मैं भूतकालमें क्या होकर फिर क्या हुआ ? मैं भविष्यत् कालमें होऊंगा कि नहीं ? मैं भविष्यत् कालमें क्या होऊंगा ? मैं

भविष्यत् कालमें कैसे होऊंगा ? मैं भविष्यत् कालमें क्या होकर क्या होऊंगा ? मैं हूँ कि नहीं ? मैं क्या हूँ ? मैं कैसे हूँ ? यह सत्य कहाँसे आया ? यह कहाँ जायगा ?

भगवान् बुद्धका कहना है कि 'अयोनिस्तो मनसिकार' से नये आत्मन उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न आत्मन दृष्टिगत होते हैं । अत एव इन प्रश्नोंके विचारमें लगना साधकके लिये अनुचित है ।

इन प्रश्नोंके विचारका फल बताते हुए भ० बुद्धने कहा है कि 'अयोनिस्तो मनसिकार' के कारण इन छः दृष्टिओंमें से कोई एक दृष्टि उत्पन्न होती है उसमें फँसकर अज्ञानी पृथग्जन जरा-मरणादिसे मुक्त नहीं होता —

( १ ) मेरी आत्मा है ।

( २ ) मेरी आत्मा नहीं है ।

( ३ ) मैं आत्माको आत्मा समझता हूँ ।

( ४ ) मैं अनात्माको आत्मा समझता हूँ ।

( ५ ) यह जो मेरी आत्मा है वह पुण्य और पापकर्म के विपाककी भोक्ता है ।

( ६ ) यह मेरी आत्मा निश्च है, ध्रुव है, शाश्वत है, अविपरिणामधर्मा है, जैसी है वैसी सदैव रहेगी ।

अत एव उनका उपदेश है कि इन प्रश्नोंको छोड़कर दुःख, दुःखसमुदाय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोधका मार्ग इन चार आर्यसत्त्वोंके विषयमें ही मनको लगाना चाहिए । उसीसे आत्मनिरोध होकर निर्वाणलभ हो सकता है ।

भ० बुद्धके इन उपदेशोंके विपरीत ही भगवान् महावीरका उपदेश है । इस बातकी प्रतीति प्रथम अंग आचारांगके प्रथम वाक्यसे ही हो जाती है —

“इहमेवेणंति नो सत्ता भवइ तं जहा-पुरस्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा...अस्यरीयाओ वा दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि । एवमेवेणंति नो नायं भवइ-अत्थि मे आया उववाइए । नत्थि मे आया उववाइए । के अहं जाली, के वा इओ खुओ इह पेक्का भविस्सामि ?

“से जं पुण जाणेज्जा सहसम्मुरयाय परवानरणेणं खमेसि वा अन्तिअ सोक्का तं जहा पुरस्थिमाओ...एवमेवेणंति नायं भवइ-अत्थि मे आया उववाइए जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ सोहं-से आयावाई, लोमावाई, कम्मावाई, किरियावाई ।”

भ० महावीरके मतसे जब तक अपनी वा दूसरेकी बुद्धिसे यह पता न लग जाय कि मैं या मेरा जीव एक गतिसे दूसरी गतिको प्राप्त होता है, जीव कहाँसे आया, कौन वा और कहाँ जायगा ? — तब तक कोई जीव आत्मवादी नहीं हो सकता लोकवादी नहीं होसकता कर्म और क्रियावादी नहीं हो सकता । अत एव आत्माके विषयमें विचार करना बड़ी संवरक्य और भोक्षक भी कारण है । जीवकी गति और आगतिके ज्ञान से मोक्षलभ होता है इस बातको भ० महावीरने स्पष्टरूपसे कहा है —

“इह आगच्छं गच्छं पारिजाय अश्वेह जाहमरणस्तु वहुमगं विज्जलायर” आवा० १.५.६.

यदि तथागतकी मरणोत्तर स्थिति-अस्थितिके प्रश्नको ईश्वर जैसे किसी अतिमानव के पृथक् अस्तित्व और नास्तित्वका प्रश्न समझा जाय तब भगवान् महावीरका इस विषयमें मन्तव्य क्या है यह भी जानना आवश्यक है। वैदिक दर्शनोंकी तरह शाश्वत सर्वज्ञ ईश्वरको — जो कि संसारी कभी नहीं होता, जैन धर्ममें कोई स्थान नहीं। भ० महावीरके अनुसार सामान्य जीव ही कर्मोंका नाश करके शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होता है जो सिद्ध कहलाता है। और एक बार शुद्ध होनेके बाद वह फिर कभी अशुद्ध नहीं होता। यदि भ० बुद्ध तथागतकी मरणोत्तर स्थितिका स्वीकार करते तब ब्रह्मवाद या शाश्वतवादकी आपत्ति का भय था और यदि वे ऐसा कहते कि तथागत मरणके बाद नहीं रहता तब भौतिकवादियोंके उच्छेदवादका प्रसंग आता। अत एव इस प्रश्नको भ० बुद्धने अव्याकृत कोटिमें रखा। परन्तु भ० महावीरने अनेकान्तवादका आश्रय करके उत्तर दिया है कि तथागत या अर्हत् मरणोत्तर भी है क्योंकि जीव द्रव्य तो नष्ट होता नहीं, वह सिद्ध स्वरूप बनता है। किन्तु मनुष्यरूप जो कर्मकृत है वह नष्ट हो जाता है। अत एव सिद्धावस्थामें अर्हत् या तथागत अपने पूर्वरूपमें नहीं भी होते हैं। नाना जीवोंमें आकार प्रकारका जो कर्मकृत भेद संसारवस्था में होता है वह सिद्धावस्थामें नहीं क्योंकि वहाँ कर्म भी नहीं —

“कम्मओ णं भंते जीवे नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ, कम्मओ णं जण्णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ?”

“इत्ता गोयमा !”

भगवती १२.५.४५२।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन प्रश्नों को भगवान् बुद्धने निरर्थक बताया है उन्हीं प्रश्नोंसे भगवान् महावीरने आध्यात्मिक जीवनका प्रारंभ माना है। अत एव उन प्रश्नोंको भ० महावीरने भ० बुद्धकी तरह अव्याकृत कोटिमें न रखकर व्याकृत ही किया है। इतनी सामान्य चर्चाके बाद अब आत्माकी नित्यता-अनित्यता के प्रस्तुत प्रश्न पर विचार किया जाता है —

भगवान् बुद्धका कहना है कि तथागत मरणान्तर होता है या नहीं — ऐसा प्रश्न अन्यतीर्थियोंको अज्ञानके कारण होता है। उन्हें रूपादि का अज्ञान है अत एव वे ऐसा प्रश्न करते हैं। वे रूपादिको आत्मा समझते हैं, या आत्माको रूपादियुक्त समझते हैं, या आत्मामें रूपादिको समझते हैं, या रूपमें आत्माको समझते हैं जब कि तथागत वैसा नहीं समझते<sup>१</sup>। अत एव तथागत को वैसे प्रश्न भी नहीं उठते और दूसरोंके ऐसे प्रश्नको वे अव्याकृत बताते हैं। मरणान्तर रूप वेदना आदि ग्रहीण हो जाता है अत एव अब प्रज्ञापनाके साधन रूपादि के न होनेसे तथागतके लिये ‘है’ या ‘नहीं है’ ऐसा व्यवहार किया नहीं जा सकता। अत एव मरणान्तर तथागत ‘है’ या ‘नहीं है’ इत्यादि प्रश्नोंको मैं अव्याकृत बताता हूँ।<sup>२</sup>

हम पहिले बतला आये हैं कि, इस प्रश्नके उत्तर में भ० बुद्धको शाश्वतवाद या उच्छेदवाद में पड़ जानेका डर था इसीलिये उन्होंने इस प्रश्नको अव्याकृत कोटिमें रखा है। जब कि भ० महावीरने दोनों वादोंका समन्वय स्पष्टरूपसे किया है। अत एव उन्हें इस प्रश्नको

१. सुल्लना-“अथि सिद्धी असिद्धी वा एवं सबं निवेसए।” सूत्रकुवांग २.५.२५।

२. संवुत्तनिकाय XXXIII 1। ३ वही XLIV. 8। ४ वही XLIV. 1

अव्याकृत कहने की आवश्यकता ही नहीं । उन्होंने ने जो व्याकरण किया है उसकी चर्चा भीचे की जाती है ।

म० महावीरने जीवको अपेक्षाभेदसे शाश्वत और अशाश्वत कहा है । इसकी स्पष्टताके लिये निम्न संवाद पर्याप्त है—

“जीवा जं भन्ते किं सासया असासया ?”

“गोयमा ! जीवा सिय सासया सिय असासया । गोयमा ! दब्बहुयाए सासया भाव-  
हुयाए असासया ।” भगवती - ७.२.२७३ ।

स्पष्ट है कि द्रव्यार्थिक अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षासे जीव नित्य है और भाव अर्थात् पर्यायकी दृष्टिसे जीव अनित्य है ऐसा मन्तव्य म० महावीरका है । इसमें शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों के समन्वयका प्रयत्न है । चेतन—जीव द्रव्यका विच्छेद कभी नहीं होता इस दृष्टिसे जीवको नित्य मान करके शाश्वतवादको प्रश्रय दिया है और जीवकी—नाना अवस्थाएँ जो स्पष्ट-रूपसे विच्छिन्न होती हुई देखी जाती हैं उनकी अपेक्षासे उच्छेदवादको भी प्रश्रय दिया । उन्होंने इस बातका स्पष्टरूपसे स्वीकार किया है कि ये अवस्थाएँ अस्थिर हैं इसीलिये उनका परिवर्तन होता है किन्तु चेतन द्रव्य शाश्वत स्थिर है । जीवगत बालत्व-पाण्डित्यादि अस्थिर बर्णोंका परिवर्तन होगा जब कि जीवद्रव्य तो—शाश्वत ही रहेगा ।

“से नूनं भंते अथिरे पलोहइ, नो थिरे पलोहइ, अथिरे भज्जइ नो थिरे भज्जइ, सासए बाळए बाळियत्तं असासयं, सासए पंछिइ पंछियत्तं असासयं ?”

“इंता गोयमा ! अथिरे पलोहइ जाव पंछियत्तं असासयं ।” भगवती - १.९.८० ।

द्रव्यार्थिक नयका दूसरा नाम अव्युच्छिन्नि नय है और भावार्थिकनयका दूसरा नाम व्युच्छि-  
त्तिनय है इस से भी यही फलित होता है कि द्रव्य अविच्छिन्न भुव शाश्वत होता है और पर्याय का विच्छेद—नाश होता है अत एव वह अभुव अनित्य अशाश्वत है । जीव और उसके पर्याय का अर्थात् द्रव्य और पर्याय का परस्पर अमेद और भेद भी इष्ट है इसी लिये जीव द्रव्यको जैसे शाश्वत और अशाश्वत बताया, इसी प्रकार जीवके नारक, वैमानिक आदि विभिन्न पर्यायोंको भी शाश्वत और अशाश्वत बताया है । जैसे जीवको द्रव्यकी अपेक्षासे अर्थात् जीव द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य कहा वैसे ही नारक को भी जीव द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य कहा है । और जैसे जीव द्रव्यको नारकादि पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य कहा है वैसे ही नारक जीव को भी नारकत्वरूप पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य कहा है—

“नेरइया जं भंते किं सासया असासया ?”

“गोयमा ! सिय सासया सिय असासया ।”

“से केण्हेणं भंते एवं बुद्धइ ? !”

“गोयमा ! अब्बोच्छिन्नियहुयाए सासया, वोच्छिन्नियहुयाए असासया । .....एवं जाव वेमागिया ।” भगवती ७.३.२७९ ।

जमाळीके साथ हुए प्रश्नोत्तरोंमें भगवान् ने जीवकी शाश्वतता और अशाश्वतताके मन्तव्यका जो स्पष्टीकरण किया है उससे निश्चयसे उनका क्या मतलब है व अनित्यतासे क्या मतलब है ? यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है—

“सासए जीवे जमाळी ! जं न कयाइ णासी, णो कयावि न भवति, ण कयावि ण भवि-  
स्सइ, भुवि च भवइ य भविस्सइ य, भुवे णितिए सासए अक्खए अट्ठए अट्ठिए णिणे ।  
असासए जीवे जमाळी ! जं नेरए भविस्सा तिरिक्खजोणिए भवइ तिरिक्खजोणिए  
भविस्सा मणुस्से भवइ मणुस्से भविस्सा देवे भवइ ।” भगवती ९.६.३८७ । १.४.४२. ।

तीनों कालमें ऐसा कोई समय नहीं जब कि जीव न हो । इसी लिये जीव शाश्वत भुव नित्य  
कहा जाता है । किन्तु जीव नारक मिट कर तिर्यच होता है और तिर्यच मिट कर मनुष्य होता  
है इस प्रकार जीव क्रमशः नाना अवस्थाओंको प्राप्त करता है अत एव उन अवस्थाओंकी अपेक्षासे  
जीव अनित्य अशाश्वत अधुव है । अर्थात् अवस्थाओं के नाना होते रहने पर भी जीवत्व कभी  
लुप्त नहीं होता पर जीवकी अवस्थाएँ लुप्त होती रहती हैं । इसीलिये जीव शाश्वत और अशाश्वत है ।

इस व्याकरण में औपनिषद् ऋषिसम्मत आत्माकी नित्यता और भौतिकज्ञादिसम्मत आत्माकी  
अनित्यताके समन्वयका सफल प्रयत्न है । अर्थात् भगवान् बुद्धके अशाश्वतानुच्छेदवादके स्थानमें  
शाश्वतोच्छेदवादकी स्पष्टरूपसे प्रतिष्ठा की गई है ।

#### ( ६ ) जीवकी सान्ता-अनन्तता ।

जैसे लोककी सान्ता और निरन्तताके प्रश्नको भ० बुद्धने अव्याकृत बताया है वैसे जीवकी  
सान्ता-निरन्तताके प्रश्न के विषयमें उनका मन्तव्य स्पष्ट नहीं है । यदि कालकी अपेक्षा से  
सान्ता-निरन्तता विचारणीय हो तब तो उनका अव्याकृत मत पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट हो  
जाता है । परंतु द्रव्यकी दृष्टिसे या देशकी-क्षेत्रकी दृष्टिसे या पर्याय-अवस्थाकी दृष्टिसे जीवकी  
सान्ता-निरन्तताके विषयमें उनके विचार जाननेका कोई साधन नहीं है । जब कि भगवान्  
महावीरने जीवकी सान्ता-निरन्तता का भी विचार स्पष्टरूपसे किया है क्योंकि उनके मतसे  
जीव एक स्वतन्त्र तत्त्वरूपसे सिद्ध है । इसीसे कालकृत नित्यानित्यताकी तरह द्रव्य-क्षेत्र-भाव  
की अपेक्षासे उसकी सान्ता-अनन्तता भी उनको अभिमत है । स्कंदक परित्राजक का मनोगत  
प्रश्न जीवकी सान्ता अनन्तताके विषयमें था उसका निराकरण भगवान् महावीरने इन शब्दोंमें  
किया है —

“जे वि य कंढया ! जाव सअमंते जीवे अणंते जीवे तस्सवि य णं पयमहे-एवं कल्लु  
जाव दव्वभो णं एवो जीवे सअंते, केसभो णं जीवे असंकेअपयसिए असंकेअ पयसोणाहे  
वरिय पुण से अंते, कालभो णं जीवे न कयावि न भासि जाव निचे वरिय पुण से अंते,  
भावभो णं जीवे अणंता णाणपज्जवा अणंता वंसणपज्जवा अणंता वरिसपज्जवा अणंता  
अणुदल्लुपयपज्जवा वरिय पुण से अंते ।” भगवती २.१.९० ।

सारांश यह है कि एक जीव व्यक्ति —

द्रव्यसे सान्त ।

क्षेत्रसे सान्त ।

कालसे अनन्त और

भावसे अनन्त है ।

इस प्रकार जीव सान्त भी है और अनन्त भी है ऐसा भ० महावीरका मन्तव्य है । इसमें  
कालकी दृष्टिसे और पर्यायोंकी अपेक्षासे उसका कोई अन्त नहीं । किन्तु वह द्रव्य और क्षेत्रकी  
अपेक्षा से सान्त है । ऐसा कह करके भ० महावीरने आत्माके “अणोरणीयान् महती महीयान्”



इस औपनिषद मतका निराकरण किया है। क्षेत्रकी दृष्टिसे आत्माकी व्यापकता यह भगवान् का मन्तव्य नहीं। और एक आत्मद्रव्य ही सब कुछ है यह भी भगवान् महावीरको मान्य नहीं। किन्तु आत्मद्रव्य स्वपर्याप्त है और उसका क्षेत्र भी मर्यादित है इस बातका स्वीकार करके उन्होंने उसे सांत कहते हुए भी कलकी दृष्टिसे अनन्त भी कहा है। और एक दूसरी दृष्टिसे भी उन्होंने उसे अनन्त कहा है—जीवके ज्ञान पर्यायोंका कोई अन्त नहीं, उसके दर्शन और चारित्र पर्यायोंका भी कोई अन्त नहीं। क्योंकि प्रत्येक क्षणमें इन पर्यायोंका नयानया आविर्भाव होता रहता है और पूर्वपर्याय नष्ट होते रहते हैं। इस भाव—पर्याय दृष्टिसे भी जीव अनन्त है।

(७) भ० बुद्धका अनेकान्तवाद ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् बुद्धके समी अव्याकृत प्रश्नोंका व्याकरण भ० महावीरने स्पष्टरूपसे विधिमार्गको स्वीकार करके किया है और अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा की है। इसका मूल आधार यही है कि एक ही व्यक्तिमें अपेक्षाके भेदसे अनेक संभवित विरोधी धर्मोंकी घटना करना। मनुष्य स्वभाव समन्वयशील तो है ही किन्तु सदा सर्वदा कई कारणोंसे उस स्वभावका आविर्भाव ठीक रूपसे हो नहीं पाता। इसी लिये समन्वयके स्थानमें दार्शनिकोंमें विवाद देखा जाता है। और जहाँ दूसरोंको स्पष्टरूपसे समन्वयकी संभावना दीखती है वहाँ भी अपने अपने पूर्वग्रहों के कारण दार्शनिकोंको विरोधकी गंध आती है। भगवान् बुद्धको उक्त प्रश्नोंका उत्तर अव्याकृत देना पड़ा उनका कारण यही है कि उनको आध्यात्मिक उन्नतिमें इन जटिल प्रश्नोंकी चर्चा निरर्थक प्रतीत हुई। अतएव इन प्रश्नोंको सुलझानेका उन्होंने कोई व्यवस्थित प्रयत्न नहीं किया। किन्तु इसका मतलब यह कभी नहीं कि उनके स्वभावमें समन्वयका तत्त्व बिल्कुल नहीं था। उनकी—समन्वय-शीलता सिद्ध सेनापति के साथ हुए संवादसे स्पष्ट है। भगवान् बुद्धको अनात्मवादी होनेके कारण कुछ लोग अक्रियावादी कहते थे। अत एव सिद्ध सेनापतिने भ० बुद्धसे पूछा कि आपको कुछ लोग अक्रियावादी कहते हैं तो क्या यह ठीक है? इसके उत्तरमें उन्होंने जो कुछ कहा उसीमें उसकी समन्वयशीलता और अनेकान्तवादिता स्पष्ट होती है। उत्तर में उन्होंने कहा कि सच है मैं अहुवाक संस्कारकी अक्रियाका उपदेश देता हूँ इसलिये मैं अक्रियावादी हूँ और कुशल संस्कारकी क्रिया मुझे पसंद है और मैं उसका उपदेश देता हूँ इसी लिये मैं क्रियावादी भी हूँ। इसी समन्वयप्रकृतिका प्रदर्शन अन्यत्र दार्शनिक क्षेत्रमें भी यदि भ० बुद्धने किया होता तो उनकी प्रतिभा और प्रज्ञाने दार्शनिकोंके सामने एक नया मार्ग उपस्थित किया होता। किन्तु यह कार्य भ० महावीरकी शान्त और स्थिर प्रकृतिसे ही होनेवाला था इस लिये भगवान् बुद्धने आर्य चतुःसत्यके उपदेशमें ही कृतकृत्यताका अनुभव किया। तब भगवान् महावीरने जो बुद्धसे न हो सका उसे करके दिखाया और वे अनेकान्तवादके प्रज्ञापक हुए।

अब तक मुख्य रूपसे भगवान् बुद्धके अव्याकृत प्रश्नोंको लेकर जैनागमाभित अनेकान्तवादकी चर्चा की गई है। आगे अन्य प्रश्नोंके सम्बन्धमें अनेकान्तवादके विस्तारकी चर्चा करना इष्ट है। परंतु इस चर्चे के प्रारंभ करनेके पहले पूर्वोक्त 'दुःख स्वकृत है या नहीं' इत्यादि प्रश्नका समाधान भ० महावीरने क्या दिया है उसे देख लेना उचित है। भ० बुद्धने तो अपनी प्रकृतिके

अनुसार उन सभी प्रश्नोंका उत्तर निषेधात्मक दिया है; क्यों कि ऐसा न कहते तो उनको उच्छेद-वाद और शाश्वतवादकी आपत्तिका भय था । किन्तु भगवान् का मार्ग तो शाश्वतवाद और उच्छेद-वादके समन्वयका मार्ग है अत एव उन प्रश्नोंका समाधान विधिरूपसे करने में उनको कोई भय नहीं था । उनसे प्रश्न किया गया कि क्या कर्मका कर्ता स्वयं है, अन्य है या उभय है ? इसके उत्तर में भ० महावीरने कहा कि कर्मका कर्ता आत्मा स्वयं है; पर नहीं है और न स्वपरोमय<sup>१</sup> । जिसने कर्म किया है वही उसका भोक्ता है ऐसा माननेमें ऐकान्तिक शाश्वतवादकी आपत्ति भ० महावीरके मतमें नहीं आती; क्यों कि जिस अवस्थामें किया था उससे दूसरी ही अवस्थामें कर्मका फल भोगा जाता है । तथा भोक्तृत्व अवस्थासे कर्मकर्तृत्व अवस्थाका भेद होनेपर भी ऐकान्तिक उच्छेदवादकी आपत्ति इसलिये नहीं आती कि भेद होते हुये भी जीव द्रव्य दोनों अवस्थामें एक ही मौजूद है ।

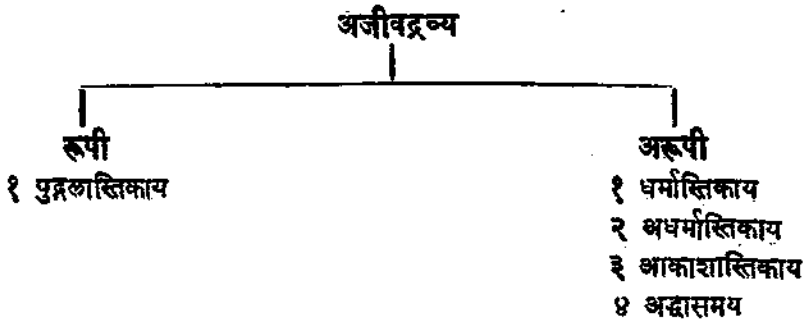
(७) द्रव्य और पर्यायका भेदाभेद ।

(अ) द्रव्यविचार — भगवती में द्रव्यके विचार प्रसंगमें कहा है कि द्रव्य दो प्रकारका है—

१. जीव द्रव्य और

२. अजीव द्रव्य ।

अजीव द्रव्यके भेद-प्रभेद इस प्रकार हैं—



सब मिलाकर छः द्रव्य होते हैं १ धर्मास्तिकाय, २ अधर्मास्तिकाय, ३ आकाशास्तिकाय, ४ जीवास्तिकाय, ५ पुद्गलास्तिकाय और ६ काल (अद्वासमय) ।

इनमेंसे पांच द्रव्य अस्तिकाय कहे जाते हैं<sup>१</sup> । क्यों कि उनमें प्रदेशोंके समूहके कारण अवयवी द्रव्य की कल्पना संभव है ।

पर्यायविचारमें पर्यायोंके भी दो भेद बताये हैं<sup>२</sup>—

१ जीवपर्याय और

२ अजीवपर्याय ।

पर्याय अर्थात् विशेष समझना चाहिए ।

सामान्य-द्रव्य दो प्रकारका है—तिर्यग् और ऊर्ध्वता । जब कालकृत नाना अवस्थाओंमें किसी द्रव्यविशेषका एकत्व या अन्वय या अविच्छेद या भुवत्व विवक्षित हो तब उस एक अन्वित अविच्छिन्न भुव या शाश्वत अंशको ऊर्ध्वतासामान्यरूप द्रव्य कहा जाता है ।

<sup>१</sup> भगवती १.६.५२. । <sup>२</sup> भगवती २५.२ । २५.४ । ३ भगवती २.१०.११७ । स्थानांगसू० ४४१ ।

<sup>४</sup> भगवती २५. ५. । प्रस्तावना पृष्ठ ५. ।

न्या० प्रस्तावना ४

एक ही कालमें स्थित माना देशमें करीबान मनेता द्रव्योंमें वा द्रव्यविशेषोंमें जो सम्बन्ध अव्युत्पन्न होती है वही तिर्यग्सामान्य द्रव्य है ।

जब यह कहा जाता है कि जीव भी द्रव्य है, धर्मास्तिकाय भी द्रव्य है, अधर्मास्तिकाय भी द्रव्य है इत्यादि; या यह कहा जाता है कि द्रव्य दो प्रकारका है—जीव और अजीव । या यों कहा जाता है कि द्रव्य छः प्रकारका है—धर्मास्तिकाय आदि; तब इन सभी वाक्योंमें द्रव्य शब्दका अर्थ तिर्यग्सामान्य है । और जब यह कहा जाता है कि जीव दो प्रकारका है—संसारी और सिद्ध; संसारी जीवके पांच भेद<sup>१</sup> हैं—एकेन्द्रियादि; पुद्गल चार प्रकारका है—स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और परमाणु; इत्यादि, तब इन वाक्योंमें जीव और पुद्गल शब्द तिर्यग्सामान्यरूप द्रव्यके बोधक हैं ।

परंतु जब यह कहा जाता है कि जीव द्रव्यार्थिकसे शाश्वत है और भावार्थिकसे अशाश्वत है<sup>२</sup>—तब जीव द्रव्यका मतलब ऊर्ध्वतासामान्यसे है । इसी प्रकार जब यह कहा जाता है कि अव्युच्छित्तिनयकी अपेक्षासे, नारक<sup>३</sup> शाश्वत है तब अव्युच्छित्तिनयका विषय जीव भी ऊर्ध्वतासामान्य ही अभिप्रेत है । इसी प्रकार एक जीवकी जब गति आगतिका विचार होता है<sup>४</sup> अर्थात् जीव मरकर कहाँ जाता है या जन्मके समय वह कहाँसे आता है इत्यादि विचार प्रसंगमें सामान्य जीव शब्द या जीवविशेष नारकादि शब्द भी ऊर्ध्वतासामान्यरूप जीवद्रव्यके ही बोधक हैं ।

जब यह कहा जाता है कि पुद्गल तीन प्रकारका है<sup>५</sup>—प्रयोगपरिणत, मिश्रपरिणत और विस्फापरिणत; तब पुद्गल शब्दका अर्थ तिर्यग्सामान्यरूप द्रव्य है । किन्तु जब यह कहा जाता है कि पुद्गल अतीत, वर्तमान और अनागत तीनों कालोंमें शाश्वत है<sup>६</sup>; तब पुद्गल शब्दसे ऊर्ध्वतासामान्यरूप द्रव्य विवक्षित है । इसी प्रकार जब एक ही परमाणुपुद्गलके विषयमें यह कहा जाता है कि वह द्रव्यार्थिक दृष्टिसे शाश्वत है<sup>७</sup> तब वहाँ परमाणुपुद्गल-द्रव्य शब्दसे ऊर्ध्वतासामान्य द्रव्य अभिप्रेत है ।

(ब) पर्यायविचार—जैसे सामान्य दो प्रकारका है वैसे पर्याय भी दो प्रकारका है । तिर्यग्द्रव्य या तिर्यग्सामान्यके आश्रयसे जो विशेष विवक्षित हों वे तिर्यक् पर्याय हैं और ऊर्ध्वतासामान्यरूप भुव शाश्वत द्रव्यके आश्रयसे जो पर्याय विवक्षित हों वे ऊर्ध्वतापर्याय हैं । नाना देशमें स्वतंत्र पृथक् पृथक् जो द्रव्य विशेष या व्यक्तियाँ हैं वे तिर्यग्द्रव्यकी पर्याय हैं उन्हें विशेष भी कहा जाता है । और नाना कालमें एक ही शाश्वत द्रव्यकी—ऊर्ध्वतासामान्यकी जो नाना अवस्थाएँ हैं, जो नाना विशेष हैं वे ऊर्ध्वतासामान्यरूप द्रव्यके पर्याय हैं । उन्हें परिणाम भी कहा जाता है । ‘पर्याय’ एवं ‘विशेष’ शब्दके द्वारा उक्त दोनों प्रकारकी पर्यायोंका बोध आत्ममें कराया गया है । किन्तु परिणाम शब्दका प्रयोग सिर्फ ऊर्ध्वतासामान्यरूप द्रव्यके पर्यायोंके अर्थमें ही किया गया है ।

१ अगवली १.१.१७ । १.८.७२ । २ प्रज्ञापना पद १ । स्थानांत सू० ७५८ । ३ अगवली ७.२.२०३ । ४ अगवली ७.३.२०२ । ५ अगवली कतक. २४ । ६ अगवली ४.१ । ७ अगवली १.४.७२ । ८ अगवली १४.४.५१२ ।

गौतमने जब भगवान्से पूछा कि जीवपर्याय कितने हैं — संख्यात, असंख्यात या अनन्त ! तब भगवान्ने उत्तर दिया कि जीवपर्याय अनन्त हैं । ऐसा कहनेका कारण बताते हुए उन्होंने कहा है कि असंख्यात नारक हैं, असंख्यात असुर कुमार हैं, यावत् असंख्यात स्तनित कुमार हैं, असंख्यात पृथ्वीकाय हैं यावत् असंख्यात वायुकाय हैं, अनन्त वनस्पतिकाय हैं, असंख्यात दीन्द्रिय हैं यावत् असंख्यात मनुष्य हैं, असंख्यात वानव्यंतर हैं यावत् अनन्त सिद्ध हैं । इसी लिये जीवपर्याय अनन्त हैं । यह कथन प्रज्ञापनाके विशेष पदमें तथा भगवतीमें ( २५.५ ) है । भगवतीमें ( २५.२ ) जहाँ द्रव्यके भेदोंकी चर्चा है वहाँ उन भेदोंकी प्रज्ञापनागत पर्यायभेदोंके समान समझ लेनेको कहा है । तथा जीव और अजीवके पर्यायोंकी ही चर्चा करने वाले समूचे उस प्रज्ञापनाके पदका नाम विशेषपद दिया गया है । इससे यही फलित होता है कि प्रस्तुत चर्चामें पर्यायशब्द का अर्थ विशेष है अर्थात् तिर्यक् सामान्यकी अपेक्षासे जो पर्याय हैं अर्थात् विशेष विशेष व्यक्तियाँ हैं वे ही पर्याय हैं । सारांश यह है कि समस्त जीव गिने जायें तो वे अनन्त होते हैं अत एव जीवपर्याय अनन्त कहे गये हैं । स्पष्ट है कि ये पर्याय तिर्यक्सामान्यकी दृष्टिसे गिनाये गये हैं ।

प्रस्तुतमें पर्याय शब्द तिर्यक्सामान्य विशेषका वाचक है यह बात अजीव पर्यायोंकी — गिनतीसे भी स्पष्ट होती है । अजीव पर्यायोंकी गणना निम्नानुसार है—( प्रज्ञापना पद ५ )

### अजीवपर्याय

#### अरूपी

- १ धर्मास्तिकाय
- २ धर्मास्तिकायदेश
- ३ धर्मास्तिकायप्रदेश
- ४ अधर्मास्तिकाय
- ५ ” देश
- ६ ” प्रदेश
- ७ आकाशास्तिकाय
- ८ ” देश
- ९ ” प्रदेश

#### १० अज्ञासमय

#### रूपी

- १ स्कंध
- २ स्कंधदेश
- ३ स्कंधप्रदेश
- ४ परमाणुपुद्गल

किन्तु जीवविशेषोंमें अर्थात् नारक देव मनुष्य तिर्यक् और सिद्धोंमें जब पर्यायका विचार होता है तब विचारका आधार बिल्कुल बदल जाता है । यदि उन विशेषोंकी असंख्यात या अनन्त संख्याके अनुसार उनके असंख्यात या अनन्तपर्याय कहे जायें तो यह तिर्यक्सामान्य की दृष्टिसे पर्यायोंका कथन समझना चाहिए परंतु भगवान्ने उन जीवविशेषोंके पर्यायके प्रश्नमें सर्वत्र अनन्त पर्याय ही बताये हैं । नारक जीव व्यक्तिशः असंख्यात ही हैं अनन्त नहीं;

तो फिर उनके अनन्त पर्याय कैसे? नारकादि सभी जीवविशेषोंके अनन्त पर्याय ही भगवानने बताए हैं तो इसपरसे यह समझना चाहिए कि प्रस्तुत प्रसंगमें पर्यायोंकी गिनती का आधार बढ़ल गया है । जीवसामान्यके अनन्तपर्यायोंका कथन तिर्यगसामान्यके पर्याय की दृष्टिसे किया गया है जब कि जीवविशेष नारकादिके अनन्त पर्यायका कथन ऊर्ध्वतासामान्यको लेकर किया गया है ऐसा मानना पड़ता है । किसी एक नारक के अनन्तपर्याय घटित हो सकते हैं इस बातका स्पष्टीकरण यों किया गया है—

“एक नारक दूसरे नारक से द्रव्यकी दृष्टिसे तुल्य है; प्रदेशोंकी अपेक्षासे भी तुल्य है; अवगाहनाकी अपेक्षासे स्यात् चतुःस्थानसे हीन, स्यात् ५, स्यात् चतुःस्थानसे अधिक है; स्थितिकी अपेक्षासे अवगाहनाके समान है; किन्तु श्याम वर्णपर्यायकी अपेक्षासे स्यात् षट्स्थानसे हीन, स्यात् तुल्य, स्यात् षट्स्थानसे अधिक है । इसी प्रकार शेष वर्णपर्याय, दोनों गंध पर्याय, पाँचों रस पर्याय, आठों स्पर्श पर्याय, मतिज्ञान और अज्ञानपर्याय, श्रुतज्ञान और अज्ञानपर्याय, अवधि और विभंगपर्याय, चक्षुर्दर्शनपर्याय, अचक्षुर्दर्शनपर्याय, अधिदर्शनपर्याय—इन सभी पर्यायोंकी अपेक्षासे स्यात् षट्स्थान पतित हीन है, स्यात् तुल्य है, स्यात् षट्स्थान पतित अधिक है । इसी लिये नारक के अनन्त पर्याय कहे जाते हैं ।” ब्रह्मापना पद ५ ।

कहनेका तात्पर्य यह है कि एक नारक जीव द्रव्यकी दृष्टिसे दूसरेके समान है । दोनोंके आत्म प्रदेश भी असंख्यात होनेसे समान है अत एव उस दृष्टिसे भी दोनोंमें कोई विशेषता नहीं । एक नारकका शरीर दूसरे नारकसे छोटा भी हो सकता है और बड़ा भी हो सकता है और समान भी हो सकता है । यदि शरीरमें असमानता हो तो उसके प्रकार असंख्यात हो सकते हैं क्योंकि अवगाहना सर्व जघन्य हो तो अंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण होगी । क्रमशः एक एक भागकी दृष्टिसे उत्कृष्ट ५०० धनुष प्रमाण तक पहुँचती है । उतनेमें असंख्यात प्रकार होंगे । इसलिये अवगाहनाकी दृष्टिसे नारकके असंख्यात प्रकार हो सकते हैं । यही बात आयुके विषयमें भी कही जा सकती है । किन्तु नारकके जो अनन्त पर्याय कहे जाते हैं उसका कारण तो दूसरा ही है । वर्ण-गंध-रस-स्पर्श ये वस्तुतः पुद्गलके गुण हैं किन्तु संसारी अवस्थामें शरीररूप पुद्गलका आत्मासे अमेद माना जाता है । अतएव यदि वर्णादिको भी नारकके पर्याय मानकर सोचा जाय, तथा मतिज्ञानादि जो कि आत्माके गुण हैं उनकी दृष्टिसे सोचा जाय तब नारकके अनन्तपर्याय सिद्ध होते हैं । इसका कारण यह है कि किसी भी गुणके अनन्त मेद माने गये हैं । जैसे कोई एक गुण श्याम हो दूसरा द्विगुण श्याम हो तीसरा त्रिगुण श्याम हो यावत् अनन्तवाँ अनन्तगुणश्याम हो इसी प्रकार शेष वर्ण और गंधादिके विषयमें भी घटाया जा सकता है । इसी प्रकार आत्माके ज्ञानादि गुणकी तरतमताकी मोत्राओंका विचार करके भी अनन्तप्रकारताकी उपपत्ति की जाती है । अब प्रश्न यह है कि नारक जीव तो असंख्यात ही हैं तब उनमें वर्णादिको लेकर एककालमें अनन्त प्रकार कैसे घटायें जायँ । इसी प्रश्नका उत्तर देनेके लिये कालभेदको बीचमें लाना पड़ता है । अर्थात् कालभेदसे नारकोंमें ये अनन्तप्रकार घट सकते हैं । कालभेद ही तो ऊर्ध्वतासामान्याश्रित पर्यायोंके विचारमें मुख्य आधार है । एक जीव कालभेदसे जिन नाना पर्यायोंको धारण करता है उन्हें ऊर्ध्वतासामान्याश्रित पर्याय समझना चाहिए ।

जीव और अजीवके जो ऊर्ध्वतासामान्याश्रित पर्याय होते हैं उन्हें परिणाम कहा जाता है । ऐसे परिणामोंका जिक्र भगवतीमें तथा प्रज्ञापनाके परिणामपदमें किया गया है<sup>१</sup>—

### परिणाम

#### १ जीवपरिणाम

- १ गतिपरिणाम—४
- २ इन्द्रियपरिणाम—५
- ३ कषायपरिणाम—४
- ४ लेइयापरिणाम—६
- ५ योगपरिणाम—३
- ६ उपयोगपरिणाम—२
- ७ ज्ञानपरिणाम—५+३
- ८ दर्शनपरिणाम—३
- ९ चारित्रपरिणाम—५
- १० वेदपरिणाम—३

#### १ अजीवपरिणाम

- १ बंधनपरिणाम—२
- २ गतिपरिणाम—२
- ३ संस्थानपरिणाम—५
- ४ भेदपरिणाम—५
- ५ वर्णपरिणाम—५
- ६ गंधपरिणाम—३
- ७ रसपरिणाम—५
- ८ स्पर्शपरिणाम—८
- ९ अगुरुलघुपरिणाम—१
- १० शब्दपरिणाम—२

जीव और अजीवके उपर्युक्त परिणामोंके प्रकार एक जीवमें या एक अजीवमें क्रमशः या अक्रमशः यथायोग्य होते हैं । जैसे किसी एक विवक्षित जीवमें मनुष्य गति पंचेन्द्रियत्व अनन्तानुबन्धी कषाय कृष्णलेइया काययोग साकारोपयोग मल्यज्ञान मिथ्यादर्शन अविरति और नपुंसक-वेद ये सभी परिणाम युगपत् हैं । किन्तु कुछ परिणाम क्रमभावी हैं । जब जीव मनुष्य होता है तब नारक नहीं । किन्तु बादमें कर्मानुसार वही जीव मरकर नारक परिणामरूप गतिको प्राप्त करता है । इसी प्रकार वह कभी देव या तिर्यंच भी होता है । कभी एकेन्द्रिय और कभी द्वीन्द्रिय । इस प्रकार ये परिणाम एक जीवमें क्रमशः ही हैं ।

वस्तुतः परिणाम मात्र क्रमभावी ही होते हैं । ऐसा संभव है कि अनेक परिणामोंका काल एक हो किन्तु कोई भी परिणाम द्रव्यमें सदा नहीं रहते । द्रव्य परिणामोंका स्वीकार और त्याग करता रहता है । वस्तुतः यों कहना चाहिए कि द्रव्य फिर वह जीव हो या अजीव स्वस्व-परिणामोंमें कालभेदसे परिणत होता रहता है । इसी लिये वे द्रव्यके पर्याय या परिणाम कहे जाते हैं ।

विशेष भी पर्याय हैं और परिणाम भी पर्याय हैं; क्योंकि विशेष भी स्थायी नहीं और परिणाम भी स्थायी नहीं । तिर्यंस्तसामान्य जीवद्रव्य स्थायी है किन्तु एककालमें वर्तमान पांच मनुष्य जिन्हें हम जीवद्रव्यके विशेष कहते हैं स्थायी नहीं । इसी प्रकार एक ही जीवके क्रमिक नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवरूप परिणाम भी स्थायी नहीं । अत एव परिणाम और विशेष दोनों अस्थिरता के कारण वस्तुतः पर्याय ही हैं । यदि दैशिक विस्तारकी ओर हमारा ध्यान हो तो नाना द्रव्योंके एक कालीन नाना पर्यायोंकी ओर हमारा ध्यान जायगा पर काल-

<sup>१</sup> भगवती १५.४ । प्रज्ञापना पद १३ ।

विस्तारकी ओर हम ध्यान दें तो एक द्रव्यके या अनेक द्रव्योंके क्रमवर्ती नाना पर्यायोंकी ओर हमारा ध्यान जायगा । दोनों परिस्थितियोंमें हम द्रव्योंके किसी ऐसे रूपको देखते हैं जो रूप स्थायी नहीं होता । अतएव उन अस्थायी दृश्यमान रूपोंको पर्याय ही कहना उचित है । इसी लिये आगममें विशेषोंको तथा परिणामोंको पर्याय कहा गया है । हम जिन्हें कण्ट दृष्टिसे परिणाम कहते हैं वस्तुतः वेही देशकी दृष्टिसे विशेष हैं ।

भगवान् बुद्धने पर्यायोंको प्राधान्य देकर द्रव्य जैसी त्रैकालिक स्थिर वस्तुका निषेध किया । इसी लिये वे ज्ञानरूप पर्यायका अस्तित्व स्वीकार करते हैं पर ज्ञानपर्यायविशिष्ट आत्मद्रव्यको नहीं मानते । इसी प्रकार रूप मानते हुए भी वे रूपवत् स्थायीद्रव्य नहीं मानते । इसके विपरीत उपनिषदोंमें कूटस्थ ब्रह्मवादका आश्रय लेकरके उसके दृश्यमान विविध पर्याय या परिणामोंको मायिक या अविद्याका विलास कहा है ।

इन दोनों विरोधी वादोंका समन्वय द्रव्य और पर्याय दोनोंकी पारमार्थिक सत्ताका समर्थन करनेवाले भगवान् महावीरके वादमें है । उपनिषदोंमें प्राचीन सांख्यिके अनुसार प्रकृति-परिणामवाद है किन्तु आत्मा तो कूटस्थ ही माना गया है । इसके विपरीत भगवान् महावीरने आत्मा और जब दोनोंमें परिणमनशीलताका स्वीकार करके परिणामवादको सर्वव्यापी कटार दिया है ।

### (क) द्रव्य-पर्यायका भेदाभेद ।

द्रव्य और पर्यायका भेद है या अभेद ? इस प्रश्नको लेकर भगवान् महावीरके जो विश्वास हैं उनकी विवेचना करना अब प्राप्त है—

भगवती सूत्रमें पार्श्वशिष्यों और महावीरशिष्योंमें हुए एक विवादका जिक्र है । पार्श्व-शिष्योंका कहना था कि अपने प्रतिपक्षी सामायिक और उसका अर्थ नहीं जानते । तब प्रति-पक्षी श्रमणोंने उन्हें समझाया कि—

“भाया जे अज्जो ! सामाइए भाया जे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे ।”

भगवती १.९.७७

अर्थात् आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है ।

आत्मा द्रव्य है और सामायिक उसका पर्याय । उक्त वाक्य से यह फलित होता है कि भगवान् महावीरने द्रव्य और पर्यायके अभेदका समर्थन किया था किन्तु उनका अभेदसमर्थन अपेक्षिक है । अर्थात् द्रव्यदृष्टिकी प्रधानतासे द्रव्य और पर्यायमें अभेद है ऐसा उनका मत होना चाहिए क्योंकि कि अन्यत्र उन्होंने पर्याय और द्रव्यके भेदका भी समर्थन किया है । और स्पष्ट किया है कि अस्थिर पर्यायके नाश होनेपर भी द्रव्य स्थिर रहता है<sup>१</sup> । यदि द्रव्य और पर्यायका ऐकान्तिक अभेद इष्ट होता तो वे पर्यायके नाशके साथ तदभिन्न द्रव्यका भी नाश प्रतिपादित करते । अत एव इस दूसरे प्रसंगमें पर्यायदृष्टिकी प्रधानतासे द्रव्य और पर्यायके भेदका समर्थन और प्रथम प्रसंगमें द्रव्यदृष्टिके प्राधान्यसे द्रव्य और पर्यायके अभेदका समर्थन किया है । इस प्रकार अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा इस विषयमें भी की है ऐसा ही मानना चाहिए ।

१ “से नृणं भंते अथिरे पलोइह नो थिरे पलोइह, अथिरे भज्जह नो थिरे भज्जह, सासए वाले बलियत्तं अज्जत्तं, सासए पंठिद पंठियत्तं असासयं ? इत्ता गोयमा ! अथिरे पलोइह जाव पंठियत्तं असासयं ।”

भगवती — १.९.८०.

आत्मद्रव्य और उसके ज्ञान परिणामको भी भ० महावीरने द्रव्य दृष्टिसे अभिन्न बताया है जिसका पता आचारांग और भगवतीके वाक्योंसे चलता है—

“जे आया से विज्ञाया, जे विज्ञाया से आया । जेण विजाणइ से आया ।”

आचारांग—१.५.५.

“आया भुंते ! नाणे अज्ञाणे ?” गोयमा ! आया सिध नाणे सिध अज्ञाणे, नाणे पुण नियमं आया ।”

भगवती—१२.१०.४६८

ज्ञान तो आत्माका एक परिणाम है जो सदा बदलता रहता है इससे ज्ञानका आत्मासे भेद भी माना गया है । क्यों कि एकान्त अभेद होता तो ज्ञान विशेषके नाशके साथ आत्माका नाश भी मानना प्राप्त होता । इस लिये पर्यायदृष्टिसे आत्मा और ज्ञानका भेद भी है । इस बातका स्पष्टीकरण भगवतीगत आत्माके आठ भेदोंसे हो जाता है । उसके अनुसार परिणामोंके भेदसे आत्माका भेद मानकर, आत्माके आठ भेद माने गये हैं—

“करविह्वा णं भंते आया पण्णत्ता ?” “गोयमा ! अट्टविह्वा आया पण्णत्ता । तं जहा-  
द्वियाया, कसायाया, योगाया, उवयोगाया, णाणाया, वंसणाया, चरिन्नाया, वीरियाया ॥”

भगवती—१२.१०.४६७

इन आठ प्रकारोंमें द्रव्यात्माको छोड़ कर बाकीके सात आत्मभेद कषाय, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य रूप पर्यायोंको लेकर किये गये हैं । इस विवेचनमें द्रव्य और पर्यायोंको भिन्न माना गया है अन्यथा उक्त सूत्रके अनन्तर प्रत्येक जीवमें उपर्युक्त आठ आत्माओंके अस्तित्वके विषयमें आनेवाले प्रश्नोत्तर संगत नहीं हो सकते । प्रश्न—जिसको द्रव्यात्मा है क्या उसको कषायात्मा आदि हैं या नहीं ? या जिसको कषायात्मा आदि हैं उसको द्रव्यात्मा आदि हैं या नहीं । उत्तर—द्रव्यात्माके होने पर यथायोग्य कषायात्मा आदि होते भी हैं और नहीं भी होते किन्तु कषायात्मा आदिके होने पर द्रव्यात्मा अवश्य होती है । इस लिये यही मानना पड़ता है कि उक्त चर्चा द्रव्य और पर्यायके भेदको ही सूचित करती है ।

प्रस्तुत द्रव्य-पर्यायके भेदाभेदका अनेकान्तवाद भी भगवान् महावीरने स्पष्ट किया है यह अन्य आगमवाक्योंसे भी स्पष्ट हो जाता है ।

( ९ ) जीव और अजीवकी एकानेकता ।

एक ही वस्तुमें एकता और अनेकता का समन्वय भी, भगवान् महावीरके उपदेशसे फलित होता है । सोमिल ब्राह्मणने भगवान् महावीरसे उनकी एकता-अनेकताका प्रश्न किया था । उसका जो उत्तर भ० महावीरने दिया है उससे इस विषयमें उनकी अनेकान्तवादिता स्पष्ट हो जाती है—

“सोमिल्ल दव्वट्ठयाए एगे अहं, नाणदंसणट्ठयाए दुव्विहे अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अक्खए वि अहं, अवट्ठिए वि अहं, उवयोगट्ठयाए अणेगभूयभावमविए वि अहं ।”

भगवती १.८.१०

अर्थात् सोमिल ! द्रव्यदृष्टिसे मैं एक हूँ । ज्ञान और दर्शन-रूप दो पर्यायोंके प्राधान्यसे मैं दो हूँ । कभी न्यूनधिक नहीं होनेवाले प्रदेशोंकी दृष्टिसे मैं अक्षय हूँ अव्यय हूँ अवस्थित हूँ । तीनों कालमें बदलते रहनेवाले उपयोग स्वभावकी दृष्टिसे मैं अनेक हूँ ।



इसी प्रकार अजीव द्रव्योंमें भी एकता-अनेकताके अनेकान्तको भगवानने स्वीकार किया है इस बातकी प्रतीति प्रज्ञापनाके अल्पबहुत्व पदसे होती है, जहाँ कि छहों द्रव्योंमें पारस्परिक न्यूनता तुल्यता और अधिकताका विचार किया है । उस प्रसंगमें निम्नवाक्य आया है—

“गोयमा ! सव्वत्थोवे एणे धम्मत्थिकाए दव्वट्टयाए, से खेव पएसट्टयाए असंखेज्जगुणे ।.....सव्वत्थोवे योग्गलत्थिकाए दव्वट्टयाए, से खेव पएसट्टयाए असंखेज्जगुणे ।”

प्रज्ञापनापद - ३. सू० ५९ ।

धर्मास्तिकायको द्रव्यदृष्टिसे एक होनेके कारण सर्वस्तोक कहा और उसी एक धर्मास्तिकायको अपने ही से असंख्यातगुण भी कहा क्यों कि द्रव्य दृष्टिके प्राधान्यसे एक होते हुए भी प्रदेशके प्राधान्यसे धर्मास्तिकाय असंख्यात भी है । यही बात अधर्मास्तिकायको भी लागू की गई है । अर्थात् वह भी द्रव्यदृष्टिसे एक और प्रदेशदृष्टिसे असंख्यात है । आकाश द्रव्य-दृष्टिसे एक होते हुए भी अनन्त है क्यों कि उसके प्रदेश अनंत हैं । संख्यामें पुद्गल द्रव्य अल्प हैं जब कि उनके प्रदेश असंख्यातगुण हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीव और अजीव दोनोंमें अपेक्षाभेदसे एकत्व और अनेकत्वका समन्वय करनेका स्पष्ट प्रयत्न भगवान् महावीरने किया है ।

इस अनेकान्तमें ब्रह्मतत्त्वकी ऐकान्तिक निरंशता और एकता तथा बौद्धोंके समुदायवादकी ऐकान्तिक सांशता और अनेकताका समन्वय किया गया है; परन्तु उस जमानेमें एक लोकायत मत ऐसा भी था जो सबको एक मानता था जब कि दूसरा लोकायत मत सबको पृथक् पृथक् मानता था । इन दोनों लोकायतोंका समन्वय भी प्रस्तुत एकता-अनेकताके अनेकान्तवादमें हो तो कोई आश्चर्य नहीं । भगवान् बुद्धने उन दोनों लोकायतोंका अस्वीकार किया है तब भ० महावीरने दोनोंका समन्वय किया हो तो यह स्वाभाविक है ।

### ( १० ) परमाणुकी नित्यानित्यता -

सामान्यतया दार्शनिकों में परमाणु शब्दका अर्थ रूपरसादियुक्त परम अपकृष्ट द्रव्य—जैसे पृथ्वीपरमाणु आदि—लिया जाता है जो कि जड़—अजीव द्रव्य है । परन्तु परमाणु शब्दका अंतिम सूक्ष्मत्व मात्र अर्थ लेकर जैनागमोंमें परमाणुके चार भेद भ० महावीरने बताये हैं—

“गोयमा ! चउत्थिहे परमाणु पससे तंजहा—१ दव्वपरमाणु, २ खेत्तपरमाणु, ३ कालपरमाणु, ४ भावपरमाणु ।” भगवती २०.५.

अर्थात् परमाणु चार प्रकारके हैं

१ द्रव्यपरमाणु

२ क्षेत्रपरमाणु

३ कालपरमाणु

४ भावपरमाणु

१. “सव्वं एकंति को ब्राह्मण वत्थिं एतं लोकायतं ।.....सव्वं पुप्फुं ति को ब्राह्मण चतुत्थं इयं लोकायतं । एते ते ब्राह्मण वत्थो जत्थो बहुपगम्म सज्जेत तथगतो धम्मं वेसेति—अस्मिन्नापचत्त वीजात्ता.....” संयुक्तनिकाय XII. 48 ।

वर्णादिपर्यायकी अविषक्षासे सूक्ष्मतम द्रव्य, द्रव्यपरमाणु कहा जाता है। यही पुद्गल परमाणु है जिसे अन्यदर्शनिकोंने भी परमाणु कहा है, आकाशद्रव्यका सूक्ष्मतम प्रदेश क्षेत्रपरमाणु है। सूक्ष्मतम समय कालपरमाणु है। जब द्रव्यपरमाणुमें रूपादिपर्याय प्रधानतया विवक्षित हों तब वह भावपरमाणु है।

द्रव्य परमाणु अच्छेब, अमेब, अदाह्य और अग्राह्य है। क्षेत्रपरमाणु अनर्ध, अमध्य, अप्रदेश और अविभाग है। कालपरमाणु अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श है। भावपरमाणु वर्ण, गंध, रस और स्पर्शयुक्त है।<sup>१</sup>

दूसरे दार्शनिकोंने द्रव्यपरमाणुको एकान्त नित्य माना है तब भ० महावीरने उसे स्पष्टरूपसे निरामित्य बताया है—

“परमाणुयोगाले णं भंते किं सासय असासय ?”

“गोयमा ! सिय सासय सिय असासय” ।

“से केणट्ठेणं ?”

“नोयमा ! दग्धदुयाय सासय वज्जपज्जवेहिं जाय फासपज्जवेहिं असासय ।”

भगवती-१४.४.५१२.

अर्थात् परमाणु पुद्गल द्रव्यदृष्टिसे शाश्वत है और वही वर्ण, रस, गंध और स्पर्श पर्यायोंकी अपेक्षासे अशाश्वत है।

अन्यत्र द्रव्यदृष्टिसे परमाणुकी शाश्वतताका प्रतिपादन इन शब्दोंमें किया है—

“एस णं भंते ! योगाले तीतमणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया ?”

“हंता गोयमा ! एस णं योगाले.....सिया ।”

“एस णं भंते ! योगाले पबुप्पणं सासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया ?”

“हंता गोयमा !”

“एस णं भंते ! योगाले अणाययमणंतं सासयं समयं भविस्सतीति वत्तव्वं सिया ?” “हंता गोयमा !”

भगवती १.४.४२.

सात्पर्य इतना ही है कि तीनों कालमें ऐसा कोई समय नहीं जब पुद्गल का सातत्य न हो इस प्रकार पुद्गल द्रव्यकी निरुताका द्रव्यदृष्टिसे प्रतिपादन करके उसकी अनिरुता कैसे है इसका भी प्रतिपादन भ० महावीरने किया है—

“एस णं भंते ! योगाले तीतमणंतं सासयं समयं लुक्खी, समयं अलुक्खी, समयं लुक्खी वा अलुक्खी वा ? पुट्ठिं च णं करजेणं अजेणवजं अजेणरुचं परिणामं परिणमति, अह से परिणमि निज्झिजे भवति तमो पच्छा एगवसे एगरुचे सिया ?”

“हंता गोयमा !.....एगरुचे सिया ।”

भगवती १४.४.५१०.

अर्थात् ऐसा संभव है कि अतीत कालमें किसी एक समयमें जो पुद्गल परमाणु रूक्ष हो वही अन्य समयमें अरूक्ष हो। पुद्गल स्कंध भी ऐसा हो सकता है। इसके अलावा वह एक देशसे रूक्ष और दूसरे देशसे अरूक्ष भी एक ही समयमें हो सकता है। यह भी संभव है कि स्वभावसे या अन्यके प्रयोगके द्वारा किसी पुद्गल में अनेकवर्णपरिणाम हो जायँ और वैसा परिणाम नष्ट होकर बादमें एकवर्णपरिणाम भी उसमें हो जाय। इस प्रकार पर्यायोंके परिवर्तन

के कारण पुद्गलकी अविवक्षता भी सिद्ध होती है और अनित्यताके होते हुए भी उसकी निश्चिता में कोई बाधा नहीं आती इस बातको भी तीनों कालमें पुद्गलकी सत्ता बताकर भ० महावीरने स्पष्ट किया है — भगवती १४.४.५१० ।

(११) अस्ति-नास्तिश्चा अनेकान्त ।

‘सर्व अस्ति’ यह एक अन्त है, ‘सर्व नास्ति’ यह दूसरा अन्त है । भगवान् बुद्धने इन दोनों अन्तोंका अस्वीकार कर के मध्यममार्गका अवलंबन करके प्रतीत्यसमुत्पादका उपदेश दिया है, कि अविद्या होनेसे संस्कार है इत्यादि —

“सत्त्वं अस्तीति को ब्राह्मण भवं एको अन्तो ।.....सत्त्वं अस्तीति को ब्रह्मण भवं दुतियो अन्तो । एते ते ब्राह्मण उभो अन्ते अनुपगम्य मज्जेन तथागतो धम्मं वेसेति-  
अविज्जापञ्चया संखारा.....” संयुत्तनिकाय XII 47

अन्यत्र भगवान् बुद्धने उक्त दोनों अन्तों को लोकायत बताया है — वही XII. 48.

इस विषयमें प्रथम तो यह बताना आवश्यक है कि भ० महावीरने ‘सर्व अस्ति’ का आग्रह नहीं रखा है किन्तु जो ‘अस्ति’ है उसेही उन्होंने ‘अस्ति’ कहा है और जो नास्ति है उसेही ‘नास्ति’ कहा है ‘सर्व नास्ति’ का सिद्धान्त उनको मान्य नहीं । इस बातका स्पष्टीकरण गौतम गणधरने भगवान् महावीरके उपदेशानुसार अन्य तीर्थिकों के प्रश्नोंके उत्तर देते समय किया है —

“नो खलु वयं देवाणुप्पिया ! अत्थिभावं नत्थिचि वदामो, नत्थिभावं अत्थिचि वदामो ।  
अग्गे णं देवाणुप्पिया ! सत्त्वं अत्थिभावं अस्तीति वदामो, सत्त्वं अत्थिभावं अस्तीति वदामो ।”  
भगवती ७.१०.३०४.

भगवान् महावीरने अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंका परिणमन स्वीकार किया है । इतना ही नहीं किन्तु अपनी आत्मामें अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंके स्वीकारपूर्वक दोनोंके परिणमनको भी स्वीकार किया है । इससे अस्ति और नास्तिके अनेकान्तवादकी सूचना उन्होंने की है यह स्पष्ट है ।

“से नूनं भंते ! अत्थिचं अत्थिसे परिणमइ, नत्थिचं नत्थिसे परिणमइ ?”

“इंता गोयमइ !.....परिणमइ ।”

“जणं भंते ! अत्थिचं अत्थिसे परिणमइ नत्थिचं नत्थिसे परिणमइ तं किं पयोगसा वीससा ?”

“गोयमा ! पयोगसा वि तं वीससापि तं ।”

“जहा ते भंते ! अत्थिचं अत्थिसे परिणमइ तथा ते नत्थिचं नत्थिसे परिणमइ ?

जहा ते नत्थिचं नत्थिसे परिणमइ तथा ते अत्थिचं अत्थिसे परिणमइ ?”

“इंता गोयमा ! जहा मे अत्थिचं.....”

भगवती १.३.३३.

जो वस्तु स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की अपेक्षासे ‘अस्ति’ है वही परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे ‘नास्ति’ है । जिस रूपसे वह ‘अस्ति’ है उसी रूपसे नास्ति नहीं किन्तु ‘अस्ति’ ही है । और जिस रूपसे वह ‘नास्ति’ है उस रूपसे ‘अस्ति’ नहीं किन्तु ‘नास्ति’ ही है । किसी वस्तुको सर्वथा ‘अस्ति’ माना नहीं जा सकता । क्योंकि कि ऐसा माननेपर ब्रह्मवाद या सर्वव्यपका सिद्धान्त फलित होता है और शाश्वतवाद भी आ जाता है । इसी प्रकार समीको सर्वथा ‘नास्ति’ मानने पर सर्वशून्यवाद या उच्छेदवाद का प्रसंग प्राप्त होता है । भ० बुद्धने अपनी प्रकृतिके अनुसार इन

दोनों वादोंको अस्वीकार करके मध्यममार्गसे प्रतीत्यसमुत्पाद वादका अवलम्बन किया है। जब कि अनेकान्तवादका अवलम्बन करके भगवान् महावीरने दोनों वादोंका समन्वय किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनागमोंमें अस्ति-नास्ति, नित्यानित्य, मेदामेद, एकानेक तथा सान्त-अनन्त इन विरोधी धर्मयुगलोंको अनेकान्तवाद के आश्रय से एक ही वस्तुमें घटाया गया है। भ० महावीरने इन नाना वादोंमें अनेकान्तवादकी जो प्रतिष्ठा की है उसी का आश्रयण करके बादके दार्शनिकोंने तार्किक ढंगसे दर्शनान्तरोके खण्डनपूर्वक इन्हीं वादोंका समर्थन किया है। दार्शनिक चर्चाके विकासके साथ ही साथ जैसे जैसे प्रश्नोंकी विविधता बढ़ती गई वैसे वैसे अनेकान्तवादका क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। परन्तु अनेकान्तवादके मूल प्रश्नोंमें कोई अंतर नहीं पड़ा। यदि आगमोंमें द्रव्य और पर्यायके तथा जीव और शरीरके मेदामेदका अनेकान्तवाद है तो दार्शनिक विकासके युगमें सामान्य और विशेष, द्रव्य और गुण, द्रव्य और कर्म, द्रव्य और जाति इत्यादि अनेक विषयोंमें मेदामेदकी चर्चा और समर्थन हुआ है। यद्यपि मेदामेदका क्षेत्र विकसित और विस्तृत प्रतीत होता है तथापि सब का मूल द्रव्य और पर्यायके मेदामेद में ही है इस बातको भूलना न चाहिए। इसी प्रकार नित्यानित्य, एकानेक, अस्ति-नास्ति, सान्त-अनन्त इन धर्मयुगलोंका भी समन्वय क्षेत्र भी कितना ही विस्तृत व विकसित क्यों न हुआ हो फिर भी उक्त धर्मयुगलोंको लेकर आगमोंमें जो चर्चा हुई है वही मूलधार है और उसीके ऊपर आगेके सारे अनेकान्तवादका महादृक्ष प्रतिष्ठित है इसे निश्चयपूर्वक स्वीकार करना चाहिए।

### ३५. स्याद्वाद और सप्तभंगी ।

विमज्जवाद और अनेकान्तवादके विषयमें इतना जान लेनेके बाद ही स्याद्वादकी चर्चा उपयुक्त है। अनेकान्तवाद और विमज्जवाद में दो विरोधी धर्मोंका स्वीकार समान मायसे हुआ है इसी आधारपर विमज्जवाद और अनेकान्तवाद पर्यायशब्द मान लिये गये हैं। परन्तु दो विरोधी धर्मोंका स्वीकार किसी न किसी अपेक्षा विशेषसे ही हो सकता है—इस भाव को सूचित करने के लिये वाक्योंमें 'स्यात्' शब्दके प्रयोगकी प्रथा हुई। इसी कारण अनेकान्तवाद स्याद्वादके नामसे भी प्रसिद्ध हुआ। अब ऐतिहासिक दृष्टिसे देखना यह है कि आगमोंमें स्याद् शब्दका प्रयोग हुआ है कि नहीं अर्थात् स्याद्वादका बीज आगमोंमें है या नहीं।

प्रो० उपाध्यायके मतसे 'स्याद्वाद' ऐसा शब्द भी आगममें है। उन्होंने सूत्रकृतांगकी एक गाथामेंसे उस शब्दको फलित किया है। अगर वे टीकाकार को उस गाथा में 'स्याद्वाद' शब्दकी गंध तक नहीं आई है। प्रस्तुत गाथा इस प्रकार है—

“ने छावए ने बि य खुसएअर माणं न सेवेअ पगासणं च ।

न याधि पजे परिहास कुआ न या सिवावाय वियागरेआ ॥” सूत्रकृ० १.१४.१२ ।

गाथागत 'न यासियावाय' इस अंशका टीकाकारने 'न चाशीर्वाद' ऐसा संस्कृत प्रतिरूप किया है किन्तु प्रो० उपाध्यायके मत से वह 'न चास्याद्वाद' होना चाहिए। उनका कहना है कि अ० हेमचन्द्रके नियमोंके अनुसार 'आशिष्' शब्दका प्राकृतरूप 'आसी' होना चाहिए। स्वयं हेमचन्द्रने 'आसीया' ऐसा एक दूसरा रूप भी दिया है। आचार्य हेमचन्द्रने स्याद्वादके

लिये प्राकृतरूप 'सियावाओ' दिया है' । प्रो० उपाध्ये का कहना है कि यदि इस 'सियावाओ' शब्दपर ध्यान दिया जाय तो उक्त गायामें अस्याद्वादवचनके प्रयोगका ही निषेध मानना ठीक होगा क्योंकि यदि टीकाकारके अनुसार आशीर्वाद वचनके प्रयोग का निषेध माना जाय तो कथानकोंमें 'धर्मलाभ' रूप आशीर्वचनका प्रयोग जो मिलता है वह असंगत सिद्ध होगा ।

आगमोंमें 'स्याद्वाद' शब्दके अस्तित्वके विषयमें टीकाकार और प्रो० उपाध्ये में मतभेद हो सकता है किन्तु 'स्यात्' शब्द के अस्तित्वमें तो विवादको कोई स्थान नहीं । भगवती सूत्रमें जहाँ कहीं एक वस्तुमें नाना धर्मोंका समन्वय किया गया है वहाँ सर्वत्र तो 'स्यात्' शब्दका प्रयोग नहीं देखा जाता किन्तु कई ऐसे भी स्थान हैं जहाँ 'स्यात्' शब्दका प्रयोग अवश्य किया गया है । उनमें से कई स्थानोंका उद्धरण पूर्वमें की गई अनेकान्तवाद तथा विभज्यवादकी चर्चामें वाचकोंके लिये सुलभ है । उन स्थानों के अतिरिक्त भी भगवतीमें कई ऐसे स्थान हैं जहाँ 'स्यात्' शब्द प्रयुक्त हुआ है । इस लिये 'स्यात्' शब्दके प्रयोगके कारण जैनागमोंमें स्याद्वादका अस्तित्व सिद्ध ही मानना चाहिए । तो भी यह देखना आवश्यक है कि आगमकालमें स्याद्वादका रूप क्या रहा है और स्याद्वादके भंगोंकी भूमिका क्या है ?

### ( १ ) भंगोंका इतिहास ।

अनेकान्तवादकी चर्चाके प्रसंगमें यह स्पष्ट होगया है कि भ० महावीरने परस्पर विरोधी धर्मोंका स्वीकार एक ही धर्ममें किया और इस प्रकार उनकी समन्वयकी भावनामेंसे अनेकान्तवादका जन्म हुआ है । किसी भी विषयमें प्रथम अस्ति — विधिपक्ष होता है । तब कोई दूसरा उस पक्षका नास्ति — निषेध पक्ष लेकरके खण्डन करता है । अत एव समन्वेताके सामने जब तक दोनों विरोधी पक्षोंकी उपस्थिति न हो तबतक समन्वयका प्रश्न उठता ही नहीं । इस प्रकार अनेकान्तवाद या स्याद्वादकी जड़में सर्वप्रथम — अस्ति और नास्ति पक्षका होना आवश्यक है । अतएव स्याद्वादके भंगोंमें सर्व प्रथम इन दोनों भंगोंको स्थान मिले यह स्वाभाविक ही है । भंगोंके साहित्यिक इतिहासकी ओर ध्यान दें तो हमें सर्व प्रथम ऋग्वेदके नासदीय सूत्रमें भंगोंका कुछ आभास मिलता है । उक्त सूत्रके ऋषिके सामने दो मत थे । कोई जगत् के आदि कारणको सत् कहते थे तो दूसरे असत् । इस प्रकार ऋषिके सामने जब समन्वयकी सामग्री उपस्थित हुई तब उन्होंने कह दिया वह सत् भी नहीं असत् भी नहीं । उनका यह निषेधमुख उत्तर भी एक पक्षमें परिणत हो गया । इस प्रकार, सत्, असत् और अनुभव ये तीन पक्ष तो ऋग्वेद जितने पुराने सिद्ध होते हैं ।

उपनिषदोंमें आत्मा या ब्रह्मको ही परमतत्त्व मान करके आन्तर-बाह्य सभी वस्तुओं को उसीका प्रपञ्च माननेकी प्रवृत्ति हुई तब यह स्वाभाविक है कि अनेक विरोधोंकी भूमि ब्रह्म या आत्मा ही बने । इस का परिणाम यह हुआ कि उस आत्मा, ब्रह्म या ब्रह्मरूप भिन्नको ऋषियोंने अनेक विरोधी धर्मोंसे अलङ्कृत किया । पर जब उन विरोधोंके तार्किक समन्वयमें भी उन्हें संपूर्ण संतोषलभ न हुआ तब उसे वचनागोचर—अवक्तव्य—अव्यपदेश्य बता कर न अनुभवगम्य कह

१ यही ८.१.१०७ । २ भगवती १.७.६२ । ३.१.८६ । ५.७.२१२ । ६.४.२३८ । ७.२.२७० । ७.२.२७३ । ७.२.२७९ । १२.१०.७६८ । १२.१०.४६९ । १४.४.५१२ । १४.४.५१३ । इत्यादि ।

कर उन्होंने वर्णन करना छोड़ दिया । यदि उक्त प्रक्रियाको ध्यानमें रखा जाय तो “तदेजति तत्रैजति” ( ईशा० ५ ), “अणोरणीयान् महतो महीयान्” ( कठो० १.२.२०. श्वेता० १.२० ) “संयुक्तमेतत् हरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वनीशः । अनीशश्चात्मः” ( श्वेता० १.८. ), “सदसद्वरेण्यम्” ( मुण्डको० २.२.१ ) इत्यादि उपनिषद्वाक्योंमें दो विरोधी धर्मोंका स्वीकार किसी एक ही धर्ममें अपेक्षानेदसे किया गया है यह स्पष्ट हो जाता है ।

विधि और निषेध दोनों पक्षोंका विधिमुखसे समन्वय उन वाक्योंमें हुआ है । ऋग्वेदके ऋषिने दोनों विरोधी पक्षोंको अस्वीकृत करके निषेध मुखसे तीसरे अनुभयपक्षको उपस्थित किया है । जब कि उपनिषदोंके ऋषियोंने दोनों विरोधी धर्मोंके स्वीकारके द्वारा उभयपक्षका समन्वय करके उक्त वाक्योंमें विधिमुखसे चौथे उभयभंगका आविष्कार किया ।

किन्तु परमतत्त्वको इन धर्मोंका आधार मानने पर उन्हें जब विरोधकी गंध आने लगी तब फिर अन्तमें उन्होंने दो मार्ग लिये । जिन धर्मोंको दूसरे लोग स्वीकार करते थे उनका निषेध कर देना यह प्रथम मार्ग है । यानि ऋग्वेदके ऋषिकी तरह अनुभय पक्षका अवलम्बन करके निषेधमुखसे उत्तर दे देना कि वह न सत् है न असत्—“न सत्तन्वास्तत्” ( श्वेता० ४.१८ ) । जब इसी निषेधको “स एष नेति नेति” ( बृहदा० ४.५.१५ ) की अंतिम मर्यादा तक पहुँचाया गया तब इसीमेंसे फलित हो गया कि वह अवक्तव्य है यही दूसरा मार्ग है । “यतो वाचो निवर्तन्ते” ( तैत्तिरी० २.४. ) “यद्वाचामभ्युदितम्” ( केन० १.४. ) “नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्योः” ( कठो० २.१.१२ ) “महद्मव्यवहार्यमप्राह्यमलक्षणम-  
विन्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शाश्वतं शिवमद्वैतं वस्तुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विधेयः ।” ( माण्डूक्यो० ७ ) इत्यादि उपनिषद्वाक्योंमें इसी अवक्तव्यभंगकी चर्चा है ।

इतनी चर्चासे स्पष्ट है कि जब दो विरोधी धर्म उपस्थित होते हैं तब उसके उत्तरमें तीसरा पक्ष निम्न तीन तरहसे हो सकता है ।

१ उभय विरोधी पक्षोंको स्वीकार करनेवाला ( उभय ) ।

२ उभय पक्षका निषेध करनेवाला ( अनुभय ) ।

३ अवक्तव्य ।

इनमेंसे तीसरा प्रकार जैसा कि पहले बताया गया, दूसरेका विकसित रूप ही है । अत एव अनुभय और अवक्तव्यको एक ही भंग समझना चाहिये । अनुभयका तात्पर्य यह है कि वस्तु उभयरूपसे वाच्य नहीं अर्थात् वह सत् रूपसे व्याकरणीय नहीं और असत् रूपसे भी व्याकरणीय नहीं । अत एव अनुभयका दूसरा पर्याय अवक्तव्य हो जाता है ।

इस अवक्तव्यमें और वस्तुकी सर्वथा अवक्तव्यताके पक्षको उक्त करनेवाले अवक्तव्यमें सूक्ष्म भेद है उसे ध्यानमें रखना आवश्यक है । प्रथमको यदि सापेक्ष अवक्तव्य कहा जाय तो दूसरेको निरपेक्ष अवक्तव्य कहा जा सकता है । जब हम किसी वस्तुके दो या अधिक धर्मोंको मनमें रख कर तदर्थ शब्दकी खोज करते हैं तब प्रत्येक धर्मके वाचक भिन्न भिन्न शब्द तो मिल जाते हैं किन्तु इन शब्दोंके क्रमिक प्रयोगसे विवक्षित सभी धर्मोंका बोध युगपत् नहीं हो

पाता । अत एव वस्तुको हम अवक्तव्य कह देते हैं । यह हुई सापेक्ष अवक्तव्यता । दूसरे निरपेक्ष अवक्तव्यसे यह प्रतिपादित किया जाता है कि वस्तुका पारमार्थिक रूप ही ऐसा है जो शब्दका नीचर नहीं, अत एव उसका वर्णन शब्दसे हो ही नहीं सकता ।

स्वाङ्गादिके भंगोंमें जो अवक्तव्यभंग है वह सापेक्ष अवक्तव्य है । और वक्तव्यत्व-अवक्तव्यत्व ऐसे दो विरोधी धर्मोंको लेकर जैनाचार्योंने खतख सप्तभंगीकी जो योजना की है वह निरपेक्ष अवक्तव्यको उल्लिखित करके की है ऐसा प्रतीत होता है । अत एव अवक्तव्य शब्दका प्रयोग संकुचित और निस्तुत ऐसे दो अर्थमें होता है ऐसा मानना चाहिए । विधि और निषेध उभय रूपसे वस्तुकी अवक्तव्यता अब अभिप्रेत हो तब अवक्तव्य संकुचित या सापेक्ष अवक्तव्य है । और जब इसी प्रकारोंका निषेध करना हो तब निस्तुत और निरपेक्ष अवक्तव्य अभिप्रेत है ।

दार्शनिक इतिहासमें उक्त सापेक्ष अवक्तव्यत्व नया नहीं है । ऋग्वेदके ऋषिने जगत्के आदि कारणको सृष्टिसे और असृष्टिसे अवक्तव्य माना क्योंकि उनके सामने दो ही पक्ष थे । जब कि ऋग्वेदकने चतुर्विपाद आत्मको अन्तःप्रज्ञः ( विधि ), अहिप्रज्ञः ( निषेध ) और उभयप्रज्ञः ( उभय ) इन तीनों रूपसे अवक्तव्य माना क्योंकि उनके सामने आत्माके उक्त तीनों प्रकार थे । किन्तु भ्राम्यनिक दर्शनके दूत भगवान् बुद्धने वस्तुको चतुष्पक्षेष्टिविनिर्मुक्त कह कर अवक्तव्य माना क्योंकि उनके सामने विधि, निषेध, उभय, और अनुभय ऐसे चार पक्ष थे । इस प्रकार धार्मिक अवक्तव्यत्व ऐकनिक इतिहासमें प्रसिद्ध ही है । इसी प्रकार निरपेक्ष अवक्तव्यत्व भी उपनिषदोंमें प्रसिद्ध ही है । जब हम 'यस्मै वाचो निवर्तन्ते' जैसे वाक्य सुनते हैं तथा जैन आगममें जब "सब्बे सखा नियहन्ति" जैसे वाक्य सुनते हैं तब वहाँ निरपेक्ष अवक्तव्यताका ही प्रतिपादन हुआ है यह स्पष्ट हो जाता है ।

इतनी बर्चाये यह स्पष्ट है कि अनुभय और सापेक्ष अवक्तव्यताका तात्पर्यार्थ एक मानने पर बड़ी मानना पड़ता है कि जब विधि और निषेध दो विरोधी पक्षोंकी उपस्थिति होती है तब उसके उत्तरमें तीसरा पक्ष या तो उभय होगा या अवक्तव्य होगा । अत एव उपनिषदोंके समय तक ये चार पक्ष स्थिर हो चुके थे ऐसा मानना उचित है—

- १ सत् ( विधि )
- २ असत् ( निषेध )
- ३ सदसत् ( उभय )
- ४ अवक्तव्य ( अनुभय )

इसी चार पक्षोंकी परंपरा बौद्ध त्रिपिटकमें भी सिद्ध होती है ।

भगवान् बुद्धने जिन प्रश्नोंके विषयमें व्याकरण करना अनुचित समझा है, उन प्रश्नोंको अव्याकृत कहा जाता है । वे अव्याकृत प्रश्न भी बड़ी सिद्ध करते हैं कि भगवान् बुद्धके समय पर्यन्त एक ही विषयमें चार विरोधी पक्ष उपस्थित करनेकी शैली दार्शनिकोंमें प्रचलित थी । इतना ही नहीं बल्कि उन चारों पक्षोंका रूप भी ठीक वैसा ही है जैसा कि उपनिषदोंमें पाया जाता है । इससे यह सहज सिद्ध है कि उक्त चारों पक्षोंका रूप तब तकमें वैसा ही स्थिर हुआ था, जो कि निम्न लिखित अव्याकृत प्रश्नोंको देखनेसे स्पष्ट होता है—

- १ होति तथागतो परंमरणाति ?
- २ न होति तथागतो परंमरणाति ?
- ३ होति च न होति च तथागतो परंमरणाति ?
- ४ नैव होति न नहोति तथागतो परंमरणाति ?

इन अक्याकृत प्रश्नोंके अतिरिक्त भी अन्य प्रश्न त्रिपिटकमें ऐसे हैं जो उक्त चार पक्षोंको ही सिद्ध करते हैं—

- १ सयंकतं दुष्कंति ?
- २ परंकतं दुष्कंति ?
- ३ सयंकतं परंकतं च दुष्कंति ?
- ४ असयंकारं अपरंकारं दुष्कंति ?

—संयुत्तनि० XII. 17.

त्रिपिटकगत संजयबेलट्टिपुस्तके मतवर्णनको देखनेसे भी यही सिद्ध होता है कि तब तकमें वही चार पक्ष स्थिर थे। संजय विक्षेपवादी या अत एव निम्न लिखित किसी विषयमें अपना निश्चित मत प्रकट करता न था।

- ( १ ) १ परलोक है ?  
२ परलोक नहीं है ?  
३ परलोक है और नहीं है ?  
४ परलोक है ऐसा नहीं, नहीं है ऐसा नहीं ?
- ( २ ) १ औपपातिक हैं ?  
२ औपपातिक नहीं हैं ?  
३ औपपातिक हैं और नहीं हैं ?  
४ औपपातिक न हैं, न नहीं हैं ?
- ( ३ ) १ सुकृत दुष्कृत कर्मका फल है ?  
२ " " फल नहीं है ?  
३ " " है और नहीं है ?  
४ " " न है, न नहीं है ?
- ( ४ ) १ मरणानन्तर तथागत है ?  
२ " " नहीं है ?  
३ " " है और नहीं है ?  
४ " " न है और न नहीं है ?

जैन आगमोंमें भी ऐसे कई पदार्थोंका वर्णन मिलता है जिनमें विभिन्न-विशेष-उक्त्य और बहु-भयके आधारपर चार विकल्प किये गये हैं। यथा—

- ( १ ) १ आत्मारंभ  
२ परारंभ

१ संयुत्तनिकाय XLIV. २ दीर्घनिकाय—आत्मरूपकमुत्तर ।



- १ तदुभयार्थम्  
४ अनारंभ
- ( २ ) १ गुरु  
२ लघु  
३ गुरु-लघु  
४ अगुरुलघु
- ( ३ ) १ सत्य  
२ मृषा  
३ सत्य-मृषा  
४ असत्यमृषा
- ( ४ ) १ आत्मार्तकर  
२ परार्तकर  
३ आत्मपरार्तकर  
४ नोआत्मार्तकर-परार्तकर—

भगवती १.१.१७

भगवती १.९.७४

भगवती १३.७.४२३

इत्यादि

स्थानांगसूत्र — २८७, २८९, ३२७, ३४४, ३५५, ३६५ ।

इतनी चर्चासे यह स्पष्ट है कि, विधि, निषेध, उभय और अवक्तव्य ( अनुभय ) ये चार पक्ष भगवान् महावीरके समय पर्यन्त स्थिर हो चुके थे इसीसे भ० महावीरने इन्हीं पक्षोंका समन्वय किया होगा—ऐसी कल्पना होती है । उस अवस्थामें स्याद्वादके मौलिक भंग ये फलित होते हैं—

- १ स्याद् सत् ( विधि )  
२ स्याद् असत् ( निषेध )  
३ स्याद् सत् स्यादसत् ( उभय )  
४ स्यादवक्तव्य ( अनुभय )

## ( २ ) अवक्तव्यका स्थान ।

इन चार भंगोंमेंसे जो अंतिम भंग अवक्तव्य है वह दो प्रकारसे लब्ध हो सकता है—

- ( १ ) प्रथमके दो भंगरूपसे वाच्यताका निषेध करके ।  
( २ ) प्रथमके तीनों भंगरूपसे वाच्यताका निषेध करके ।

( १ ) जब प्रथम दो भंगरूपसे वाच्यताका निषेध अभिप्रेत हो तब स्वाभाविक तौर पर अवक्तव्यका स्थान तीसरा पड़ता है । यह स्थिति ऋग्वेदके ऋषिके मनकी जान पड़ती है जब कि उन्होंने सत् और असत् रूपसे जगतके आदि कारणको अवक्तव्य बताया । अत एव यदि स्याद्वादके भंगोंमें अवक्तव्यका तीसरा स्थान जैनग्रन्थोंमें आता हो तो वह इतिहासकी दृष्टिसे संगत ही है । भगवती सूत्रमें<sup>१</sup> जहाँ खयं भ० महावीरने स्याद्वादके भंगोंका विवरण किया है वहाँ अवक्तव्य भंगका स्थान तीसरा है । यद्यपि वहाँ उसका तीसरा स्थान अन्य दृष्टिसे है, जिसका कि विवरण

१ भगवती—१२.१०.४१९ ।

आगे किया जायगा, तथापि भगवान् महावीरने जो ऐसा किया वह किसी प्राचीन परंपराका ही अनुगमन हो तो आश्चर्य नहीं । इसी परंपराका अनुगमन करके आचार्य उमास्वामी ( तत्त्वार्थ-भा० ५.३१ ), सिद्धसेन ( सम्मति० १.३६ ), जिनभद्र ( विशेषा० गा० २२३२ ) आदि आचार्योंने अवक्तव्यको तीसरा स्थान दिया है ।

( २ ) जब प्रथमके तीनों भंगरूपसे वाच्यताका निषेध करके वस्तुको अवक्तव्य कहा जाता है तब स्वभावतः अवक्तव्यको भंगोंके क्रममें चौथा स्थान मिलना चाहिए । माण्डूक्योपनिषद्में चतुष्पाद आरम्भका वर्णन है । उसमें जो चतुर्थपादरूप आत्मा है वह ऐसा ही अवक्तव्य है । ऋषिने कहा है कि —“नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं” ( माण्डू० ७ ) इससे स्पष्ट है कि—

१ अन्तःप्रज्ञ

२ बहिःप्रज्ञ

३ उभयप्रज्ञ

इन तीनों भंगोंका निषेध करके उस आत्माके स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है और फलित किया है कि “अदृष्टमव्यवहार्यमप्राज्ञमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यम्” ( माण्डू० ७ ) ऐसे आत्माको ही चतुर्थ पाद समझना चाहिए । कहना न होगा कि प्रस्तुतमें विधि-निषेध-उभय इन तीन भंगोंसे वाच्यताका निषेध करनेवाला चतुर्थ अवक्तव्य भंग विवक्षित है । ऐसी स्थितिमें स्याद्वादके भंगोंमें अवक्तव्यको तीसरा नहीं किन्तु चौथा स्थान मिलना चाहिए । ऐसी परंपराका अनुगमन सप्तभंगीमें अवक्तव्यको चतुर्थस्थान देनेवाले आचार्य समन्तभद्र ( आसमी० का० १६ ) और तदनुयायी जैनाचार्योंके द्वारा हुआ हो तो आश्चर्य नहीं । आचार्य कुन्दकुन्दने दोनों मतोंका अनुगमन किया है ।

( ३ ) स्याद्वादके भंगोंकी विशेषता ।

स्याद्वादके भंगोंमें भ० महावीरने पूर्वोक्त चार भंगोंके अतिरिक्त अन्य भंगोंकी भी योजना की है । इनके विषयमें चर्चा करनेके पहले उपनिषद् निर्दिष्ट चार पक्ष, त्रिपिटके चार अव्याकृत प्रश्न, संजयके चार भंग और भ० महावीरके स्याद्वादके भंग इन सभीमें परस्पर क्या विशेषता है उसकी चर्चा कर लेना विशेष उपयुक्त है ।

उपनिषदोंमें माण्डूक्यको छोड़कर किसी एक ऋषिने उक्त चारों पक्षोंको स्वीकृत नहीं किया । किसीने सत् पक्षको किसीने असत् पक्षको, किसीने उभय पक्षको तो किसीने अवक्तव्य पक्षको स्वीकृत किया है । जबकि माण्डूक्यने आत्माके विषयमें चारों पक्षोंको स्वीकृत किया है ।

भगवान् बुद्धके चारों अव्याकृत प्रश्नोंके विषयमें तो स्पष्ट ही है कि भ० बुद्ध उन प्रश्नोंका कोई हा या नांमें उत्तर ही देना नहीं चाहते थे अत एव वे प्रश्न अव्याकृत कहाँ जाये । इसके विरुद्ध भगवान् महावीरने चारों पक्षोंका समन्वय करके सभी पक्षोंका अपेक्षामेदसे स्वीकार किया है । संजयके मतमें और स्याद्वादमें मेद यह है कि स्याद्वादी प्रत्येक भंगका स्पष्ट रूपसे निश्चयपूर्वक स्वीकार करता है जब कि संजय मात्र भंगजालकी रचना करके उन भंगोंके विषयमें अपना अज्ञान ही प्रकट करता है । संजयका कोई निश्चय ही नहीं । वह भंगजालकी

रचना करके अज्ञानवादमें ही कर्तव्यकी इतिश्री समझता है तब स्याद्वादी भ० महावीर प्रत्येक भंगका स्वीकार करना क्यों आवश्यक है यह बताकर विरोधी भंगोंके स्वीकारके लिये नयवाद-अपेक्षावादका समर्थन करते हैं । यह तो संभव है कि स्याद्वादके भंगोंकी योजनामें संजयके भंगजालसे भ० महावीरने लाभ उठाया हो किन्तु उन्होंने अपना स्वतन्त्र्य भी बताया है, यह स्पष्ट ही है । अर्थात् दोनोंका दर्शन दो विरोधी दिशामें प्रवाहित हुआ है ।

ऋग्वेदसे भ० बुद्ध पर्यन्त जो विचारधारा प्रवाहित हुई है उसका विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होता है कि प्रथम एक पक्ष उपस्थित हुआ जैसे सत् या असत् का । उसके विरोधमें विपक्ष उत्पन्न हुआ असत् या सदका । तब किसीने इन दो विरोधी भावनाओंको समन्वित करनेकी दृष्टिसे कह दिया कि तत्र न सत् कहा जा सकता है और न असत्—वह तो अवक्तव्य है । और किसी दूसरेने दो विरोधी पक्षोंको मिलाकर कह दिया कि वह सदसत् है । वस्तुतः विचारधाराके उपर्युक्त पक्ष, विपक्ष और समन्वय ये तीन क्रमिक सोपान हैं । किन्तु समन्वयपर्यन्त आजानेके बाद फिरसे समन्वयको ही एक पक्ष बनाकर विचारधारा आगे चलती है, जिससे समन्वयका भी एक विपक्ष उपस्थित होता है । और फिर नये पक्ष और विपक्षके समन्वयकी आवश्यकता होती है । यही कारण है कि जब वस्तुकी अवक्तव्यतामें सत् और असत्का समन्वय हुआ तब वह भी एक एकान्त पक्ष बन गया । संसारकी गतिविधि ही कुछ ऐसी है, मनुष्यका मन ही कुछ ऐसा है कि उसे एकान्त सदा नहीं । अत एव वस्तुकी ऐकान्तिक अवक्तव्यताके विरुद्ध भी एक विपक्ष उत्पन्न हुआ कि वस्तु ऐकान्तिक अवक्तव्य नहीं उसका वर्णन भी शक्य है । इसी प्रकार समन्वयवादीने जब वस्तुको सदसत् कहा तब उसका वह समन्वय भी एक पक्ष बन गया और स्वभावतः उसके विरोधमें विपक्षका उत्थान हुआ । अत एव किसीने कहा एक ही वस्तु सदसत् कैसे हो सकती है, उसमें विरोध है । जहाँ विरोध होता है वहाँ संशय उपस्थित होता है । जिस विषयमें संशय हो वहाँ उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता । अत एव मानना यह चाहिए कि वस्तुका सम्यग्ज्ञान नहीं । हम उसे ऐसा भी नहीं कह सकते, वैसा भी नहीं कह सकते । इस संशय या अज्ञानवादका तात्पर्य वस्तुकी अज्ञेयता, अनिर्णयता, अवाच्यतामें जान पड़ता है । यदि विरोधी मतोंका समन्वय एकान्त दृष्टिसे किया जाय तब तो फिर पक्ष-विपक्ष-समन्वयका चक्र अनिवार्य है । इसी चक्रको मेदनेका मार्ग भगवान् महावीरने बताया है । उनके सामने पक्ष-विपक्ष-समन्वय और समन्वयका भी विपक्ष उपस्थित था । यदि वे ऐसा समन्वय करते जो फिर एक पक्षका रूप ले ले तब तो पक्ष-विपक्ष-समन्वयके चक्रकी गति नहीं रुकती । इसीसे उन्होंने समन्वयका एक नया मार्ग लिया, जिससे वह समन्वय स्वयं आगे जाकर एक नये विपक्षको अवकाश दे न सके ।

उनके समन्वयकी विशेषता यह है कि वह समन्वय स्वतन्त्र पक्ष न होकर सभी विरोधी पक्षोंका यथायोग्य संमेलन है । उन्होंने प्रत्येक पक्षके बलाबलकी ओर दृष्टि दी है । यदि वे केवल दौर्बल्यकी ओर ध्यान दे करके समन्वय करते तब सभी पक्षोंका सुमेल होकर एकत्र संमेलन न होता किन्तु ऐसा समन्वय उपस्थित हो जाता जो किसी एक विपक्षके उत्थानको अवकाश देता । भ० महावीर ऐसे विपक्षका उत्थान नहीं चाहते थे । अतएव उन्होंने प्रत्येक

पक्षकी सच्चाई पर भी ध्यान दिया । और सभी पक्षोंको वस्तुके दर्शनमें यथायोग्य स्थान दिया । जितने भी अबाधित विरोधी पक्ष थे उन सभीको सच बताया अर्थात् संपूर्ण सत्यका दर्शन तो उन सभी विरोधोंके मिलनेसे ही हो सकता है, पारस्परिक निरासके द्वारा नहीं, इस बातकी प्रतीति नयवादके द्वारा कराई । सभी पक्ष, सभी मत, पूर्ण सत्यको जाननेके भिन्न भिन्न प्रकार हैं । किसी एक प्रकारका इतना प्राधान्य नहीं है कि वही सच हो और दूसरा नहीं । सभी पक्ष अपनी अपनी दृष्टिसे सत्य हैं, और इन्हीं सब दृष्टिओंके यथायोग्य संगमसे वस्तुके स्वरूपका भास होता है । यह नयवाद इतना व्यापक है कि इसमें एक ही वस्तुको जाननेके सभी संभवित मार्ग पृथक् पृथक् नय रूपसे स्थान प्राप्त कर लेते हैं । वे नय तब कहलाते हैं जब कि अपनी अपनी मर्यादामें रहें, अपने पक्षका स्पष्टीकरण करें और दूसरे पक्षका मार्ग अवरुद्ध न करें । परंतु यदि वे ऐसा नहीं करते तो नय न कहे जाकर दुर्नय बन जाते । इस अवस्थामें विपक्षोंका उत्थान साहजिक है । सारांश यह है कि भगवान् महावीरका समन्वय सर्वव्यापी है अर्थात् सभी पक्षोंका सुमेल करनेवाला है अत एव उसके विरुद्ध विपक्षको कोई स्थान नहीं रह जाता । इस समन्वयमें पूर्वपक्षोंका लोप होकर एक ही मत नहीं रह जाता । किन्तु पूर्व सभी मत अपने अपने स्थानपर रह कर वस्तुदर्शनमें घड़ीके भिन्न भिन्न पुर्जेकी तरह सहायक होते हैं । इस प्रकार पूर्वोक्त पक्ष-विपक्ष-समन्वय के चक्रमें जो दोष था उसे दूर करके भगवान् ने समन्वयका यह नया मार्ग लिया जिससे फल यह हुआ कि उनका वह समन्वय अंतिम ही रहा ।

इस परसे हम देख सकते हैं कि उनका स्याद्वाद न तो अज्ञानवाद है और न संशयवाद । अज्ञानवाद तब होता जब वे संज्ञयकी तरह ऐसा कहते कि वस्तुको मैं न सत् जानता हूँ तो सत् कैसे कहूँ, और न असत् जानता हूँ तो असत् कैसे कहूँ इत्यादि । भ० महावीर तो स्पष्टरूपसे यही कहते हैं कि वस्तु सत् है ऐसा मेरा निर्णय है; वह असत् है ऐसा भी मेरा निर्णय है । वस्तुको हम उसके द्रव्य-क्षेत्रादिकी दृष्टिसे सत् समझते हैं । और परद्रव्यादिकी अपेक्षासे उसे हम असत् समझते हैं । इसमें न तो संशयको स्थान है और न अज्ञानको । नयमेदसे जब दोनों विरोधी धर्मोंका स्वीकार है तब विरोध भी नहीं ।

अत एव शंकराचार्य प्रभृति वेदान्तके आचार्य और धर्मकीर्ति आदि बौद्ध आचार्य और उनके प्राचीन और आधुनिक व्याख्याकार स्याद्वादमें विरोध; संशय और अज्ञान आदि जिन दोषोंका उद्भावन करते हैं वे स्याद्वादको लागू नहीं हो सकते किन्तु संज्ञयके संशयवाद या अज्ञानवादको ही लागू होते हैं । अन्य दार्शनिक स्याद्वादके बारेमें सहानुभूतिपूर्वक सोचते तो स्याद्वाद और संशयवादको वे एक नहीं समझते और संशयवादके दोषोंको स्याद्वादके मल्ले मढ़ते नहीं ।

जैनान्धियोंने तो बार बार इस बातकी घोषणा की है कि स्याद्वाद संशयवाद नहीं और ऐसा कोई दर्शन ही नहीं, जो किसी न किसी रूपमें स्याद्वादका स्वीकार न करता हो । सभी दर्शनोंने स्याद्वादको अपने अपने ढंगसे स्वीकार तो किया है किन्तु उसका नाम लेने पर दोष बताने लग जाते हैं ।

## (४) स्याद्वादके भंगोंका प्राचीन रूप ।

अब हम स्याद्वादका स्वरूप जैसा आगममें है उसकी विवेचना करते हैं । भगवान्‌के स्याद्वादको ठीक समझनेके लिये भगवती सूत्रका एक सूत्र अच्छी तरहसे मार्गदर्शक हो सकता है । अत एव उसीका सार नीचे दिया जाता है । क्योंकि स्याद्वादके भंगोंकी संख्याके विषयमें भगवान्‌का अभिप्राय क्या था, भगवान्‌ के अभिप्रेत भंगोंके साथ प्रचलित सप्तभंगीके भंगोंका क्या संबंध है तथा आगमोत्तरकालीन जैन दार्शनिकोंने भंगों की सात ही संख्याका जो आप्रह्न रखा है उसका क्या मूल है—यह सब उस सूत्रसे माहूम हो जाता है ।

गौतमका प्रश्न है कि रत्नप्रभापृथ्वी आत्मा है या अन्य है ? उसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—

१ रत्नप्रभापृथ्वी स्यादात्मा है ।

२ रत्नप्रभापृथ्वी स्यादात्मा नहीं है ।

३ रत्नप्रभापृथ्वी स्यादवक्तव्य है । अर्थात् आत्मा है और आत्मा नहीं है, इस प्रकारसे वह वक्तव्य नहीं है ।

इन तीन भंगोंको धुन कर गौतमने भगवान्‌ से फिर पूछा कि—आप एक ही पृथ्वीको इतने प्रकारसे किस अपेक्षासे कहते हैं ? भगवान्‌ने उत्तर दिया—

१ आत्मा—स्वके आदेशसे आत्मा है ।

२ परके आदेशसे आत्मा नहीं है ।

३ तदुभयके आदेशसे अवक्तव्य है ।

रत्नप्रभाकी तरह गौतमने सभी पृथ्वी, सभी देवलोक और सिद्धशिलाके विषयमें पूछा है और उत्तर भी वैसा ही मिला है । उसके बाद उन्होंने परमाणु पुद्गलके विषयमें भी पूछा । और वैसा ही उत्तर मिला । किन्तु जब उन्होंने द्विप्रदेशिक स्कन्धके विषयमें पूछा तब उसके उत्तरमें भंगोंका आधिक्य है सो इस प्रकार—

१ द्विप्रदेशी स्कन्ध स्यादात्मा है ।

२ ” ” ” नहीं है ।

३ ” ” स्यादवक्तव्य है ।

४ ” ” स्यादात्मा है और आत्मा नहीं है ।

५ ” ” स्यादात्मा है और अवक्तव्य है ।

६ ” ” स्यादात्मा नहीं है और अवक्तव्य है ।

इन भंगोंकी योजना के अपेक्षा कारणके विषयमें अपने प्रश्नका गौतमको जो उत्तर मिला है वह इस प्रकार—

१ द्विप्रदेशिक स्कन्ध आत्माके आदेशसे आत्मा है ।

२ परके आदेशसे आत्मा नहीं है ।

३ तदुभयके आदेशसे अवक्तव्य है ।

४ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोसे और देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोसे अत एव द्विप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और आत्मा नहीं है ।

१ एक ही स्कन्धके जुड़े जुड़े अंशोंमें विवक्षाभेदका आशय लेनेसे चौथेसे आगेके सभी भंग विषय होते हैं । इन्हीं बिकलादेशी भंगोंको दित्तानेकी प्रक्रिया इस वाक्यसे प्रारंभ होती है ।

५ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और अवक्तव्य है ।

६ देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है ।

इसके बाद गौतमने त्रिप्रदेशिक स्कन्धके विषयमें वैसा ही प्रश्न पूछा तब उत्तर निम्नलिखित भंगोंमें मिला —

- ( १ ) १ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा है ।
- ( २ ) २ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा नहीं है ।
- ( ३ ) ३ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादवक्तव्य है ।
- ( ४ ) ४ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा है और आत्मा नहीं है ।  
 ५ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा है, ( २ ) आत्माएँ नहीं हैं ।  
 ६ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्माएँ ( २ ) हैं, आत्मा नहीं है ।
- ( ५ ) ७ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा है और अवक्तव्य है ।  
 ८ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा है और ( २ ) अवक्तव्य हैं ।  
 ९ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्याद् ( २ ) आत्माएँ हैं, और अवक्तव्य है ।
- ( ६ ) १० त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्याद् आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है ।  
 ११ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा नहीं है और ( २ ) अवक्तव्य हैं ।  
 १२ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्याद् ( २ ) आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य है ।
- ( ७ ) १३ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध स्यादात्मा है, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है ।

गौतमने जब इन भंगोंकी योजनाका अपेक्षाकारण पूछा तब भगवान्ने उत्तर दिया कि —

- ( १ ) १ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्माके आदेशसे आत्मा है ।
- ( २ ) २ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध परके आदेशसे आत्मा नहीं है ।
- ( ३ ) ३ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध तदुभयके आदेशसे अवक्तव्य है ।
- ( ४ ) ४ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोसे और देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और आत्मा नहीं है ।  
 ५ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोसे और ( २ ) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और ( २ ) आत्माएँ नहीं हैं ।  
 ६ ( दो ) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोसे और देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध ( दो ) आत्माएँ हैं और आत्मा नहीं है ।
- ( ५ ) ७ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और अवक्तव्य है ।  
 ८ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोसे और ( दो ) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और ( दो ) अवक्तव्य हैं ।  
 ९ ( दो ) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध ( २ ) आत्माएँ हैं और अवक्तव्य है ।

- (६) १० देश आदिष्ट है असङ्गावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है ।
- ११ देश आदिष्ट है असङ्गावपर्यायोंसे और ( दो ) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा नहीं है और ( दो ) अवक्तव्य हैं ।
- १२ ( दो ) देश आदिष्ट हैं असङ्गावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध ( दो ) आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य है ।
- ( ७ ) १३ देश आदिष्ट है सङ्गावपर्यायोंसे, देश आदिष्ट है असङ्गावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है ।

इसके बाद गौतमने चतुष्प्रदेशिक स्कन्धके विषयमें वही प्रश्न किया है । उत्तरमें भगवान्ने १९ भंग किये । तब फिर गौतमने अपेक्षा कारणके विषयमें पूछा तब उत्तर निम्न लिखित दिया गया —

- ( १ ) १ चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्माके आदेशसे आत्मा है ।
- ( २ ) २ चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध परके आदेशसे आत्मा नहीं है ।
- ( ३ ) ३ चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध तदुभयके आदेशसे अवक्तव्य है ।
- ( ४ ) ४ देश आदिष्ट है सङ्गावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है असङ्गावपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और आत्मा नहीं है ।
- ५ देश आदिष्ट है सङ्गावपर्यायोंसे और ( अनेक ) देश आदिष्ट हैं असङ्गावपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और ( अनेक ) आत्माएँ नहीं हैं ।
- ६ ( अनेक ) देश आदिष्ट हैं सङ्गावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है असङ्गावपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध ( अनेक ) आत्माएँ हैं और आत्मा नहीं है ।
- ७ ( अनेक-२ ) देश आदिष्ट हैं सङ्गावपर्यायोंसे और ( अनेक-२ ) देश आदिष्ट हैं असङ्गावपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध ( अनेक-२ ) आत्माएँ हैं और ( अनेक-२ ) आत्माएँ नहीं हैं ।
- ( ८ ) ८ देश आदिष्ट है सङ्गावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और अवक्तव्य है ।
- ९ देश आदिष्ट है सङ्गावपर्यायोंसे और ( अनेक ) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और ( अनेक ) अवक्तव्य हैं ।
- १० ( अनेक ) देश आदिष्ट हैं सङ्गावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध ( अनेक ) आत्माएँ हैं और अवक्तव्य है ।

- ११ (अनेक—२) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे और (अनेक—२) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध (अनेक—२) आत्माएँ हैं और (अनेक—२) अवक्तव्य हैं ।
- (६) १२ देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अतएव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है ।
- १३ देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और (अनेक) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा नहीं है और (अनेक) अवक्तव्य हैं ॥
- १४ (अनेक) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य है ।
- १५ (अनेक—२) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे और (अनेक—२) देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध (अनेक—२) आत्माएँ नहीं हैं और (अनेक—२) अवक्तव्य हैं ।
- (७) १६ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है ।
- १७ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे और (दो) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है, और (दो) अवक्तव्य हैं ।
- १८ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे, (दो) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है (दो) आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य है ।
- १९ (दो) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे, देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध (दो) आत्माएँ हैं, आत्मा नहीं है, और अवक्तव्य है ।

इसके बाद पंचप्रदेशिक स्कन्धके विषयमें बेही ब्रह्म हैं और भगवान् का अपेक्षाओंके साथ २२ भंगोंमें उत्तर निम्नलिखित है—

- (१) १ पञ्चप्रदेशिक स्कन्ध आत्माके आदेशसे आत्मा है ।
- (२) २ पञ्चप्रदेशिक स्कन्ध परके आदेशसे आत्मा नहीं है ।
- (३) ३ पञ्चप्रदेशिक स्कन्ध तदुभयके आदेशसे अवक्तव्य है ।
- (४) ४—६ चतुष्प्रदेशिक स्कन्धके समान ।



- ७ देश (अनेक-२ या ३) आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे और देश (अनेक ३ या २) आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे अत एव पंचप्रदेशिक स्कन्ध आत्माएँ (२ या ३) हैं और आत्माएँ (३ या २) नहीं हैं ।

(५) ८-१० चतुष्प्रदेशिक स्कन्धके समान

- ११ चतुष्प्रदेशिक स्कन्धके समान (अनेकका अर्थ प्रस्तुत ७ वें भंगके समान)

(६) १२-१४ चतुष्प्रदेशिकके समान

- १५ चतुष्प्रदेशिक स्कन्धके समान (अनेकका अर्थ प्रस्तुत सातवें भंगके समान)

(७) १६ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे, देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव पंचप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है ।

- १७ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे, देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और (अनेक) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव पंचप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नहीं है और (अनेक) अवक्तव्य हैं ।

१८ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे, (अनेक) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव पंचप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, (अनेक) आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य है ।

१९ देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायोंसे, (अनेक-२) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे और (अनेक-२) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव पंचप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है, (अनेक-२) आत्माएँ नहीं हैं और (अनेक-२) अवक्तव्य हैं ।

२० (अनेक) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे, देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे, और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव पंचप्रदेशिक स्कन्ध आत्माएँ (अनेक) हैं, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है ।

२१ (अनेक-२) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे, देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायोंसे और देश (अनेक-२) आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोंसे अत एव पंचप्रदेशिक स्कन्ध (अनेक-२) आत्माएँ हैं, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य (अनेक-२) हैं ।

२२ (अनेक २) देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायोंसे, (अनेक २) देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायोंसे और देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायोंसे अत एव पंचप्रदेशिक स्कन्ध (अनेक-२) आत्माएँ हैं, आत्माएँ (अनेक-२) नहीं हैं और अवक्तव्य ।

इसी प्रकार षट्प्रदेशिक स्कन्धके २३ भंग होते हैं । उनमेंसे २२ तो पूर्ववत् ही हैं<sup>१</sup> किन्तु २३ का यह है—

२३ (अनेक-२) देश आदिष्ट हैं सत्रावपर्यायोसे, (अनेक-२) देश आदिष्ट हैं असत्रावपर्यायोसे और (अनेक-२) देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायोसे अत एव षट्प्रदेशिक स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ हैं, आत्माएँ नहीं हैं और अवक्तव्य हैं ।  
भगवती - १२.१०.४६९

इस सूत्रके अध्ययनसे हम नीचे लिखे परिणामोंपर पहुँचते हैं—

(१) विधिरूप और निवेधरूप इन्हीं दोनों विरोधी धर्मोंका स्वीकार करनेमें ही स्याद्वादके भंगोंका उत्थान है ।

(२) दो विरोधी धर्मोंके आधारपर विवक्षामेदसे शेष भंगोंकी रचना होती है ।

(३) मौलिक दो भंगोंके लिये और शेष सभी भंगोंके लिये अपेक्षाकारण अवश्य चाहिए । अर्थात् प्रत्येक भंगके लिये स्वतन्त्र दृष्टि या अपेक्षाका होना आवश्यक है । प्रत्येक भंगका स्वीकार क्यों किया जाता है इस प्रश्नका स्पष्टीकरण जिससे हो वह अपेक्षा है, आदेश है या दृष्टि है या नय है । ऐसे आदर्शोंके विषयमें भगवान्का मन्तव्य क्या था उसका विवेचन आगे किया जायगा ।

(४) इन्हीं अपेक्षाओंकी सूचनाके लिये प्रत्येक भंगवाक्यमें 'स्यात्' ऐसा पद रखा जाता है । इसीसे यह वाद स्याद्वाद कहलाता है । इस और अन्य सूत्रके आधारसे इतना निश्चित है कि जिस वाक्यमें साक्षात् अपेक्षाका उपादान हो वहाँ 'स्यात्' का प्रयोग नहीं किया गया है । और जहाँ अपेक्षाका साक्षात् उपादान नहीं है वहाँ स्यात् का प्रयोग किया गया है । अत एव अपेक्षाका चोतन करनेके लिये 'स्यात्' पदका प्रयोग करना चाहिए यह मन्तव्य इस सूत्रसे फलित होता है ।

(५) जैसा पहले बताया है स्याद्वादके भंगोंमेंसे प्रथमके चार भंगकी सामग्री अर्थात् चार विरोधी पक्ष तो भ. महावीरके सामने थे । उन्हीं पक्षोंके आधार पर स्याद्वादके प्रथम चार भंगोंकी योजना भगवान्ने की है । किन्तु शेष भंगोंकी योजना भगवान्की अपनी है ऐसा प्रतीत होता है । शेष भंग प्रथमके चारोंका विविधरीतिसे संमेलन ही है । भंगविषयमें कुशल भगवान्के लिये ऐसी योजना कर देना कोई कठिन बात नहीं कही जा सकती ।

(६) अवक्तव्य यह भंग तीसरा है । कुछ जैनदार्शनिकोंने इस भंगको चौथा स्थान दिया है । आगममें अवक्तव्यका चौथा स्थान नहीं है । अत एव यह विचारणीय है कि अवक्तव्यको चौथा स्थान कैसे किसने क्यों दिया ।

(७) स्याद्वादके भंगोंमें सभी विरोधी धर्मयुगलोंको लेकर सात ही भंग होने चाहिए, न कम, न अधिक, ऐसी जो जैनदार्शनिकोंने व्यवस्था की है वह निर्मूल नहीं है । क्योंकि त्रिप्रदेशिक स्कन्ध और उससे अधिक प्रदेशिक स्कन्धोंके भंगोंकी संख्या जो प्रस्तुत सूत्रमें दी गई है उससे यही मात्तम होता है कि मूल भंग सात थे ही हैं जो जैनदार्शनिकोंने अपने सप्तभंगीके विवेचनमें

१ प्रस्तुतमें अनेकका अर्थ पद्यायोग्य कर लेना चाहिए । २ भंगोंकी योजनाका कीदृश्य देखा हो जो भगवती सूत्र ४० १ ४० ५ इत्यादि देखा चाहिए ।

स्वीकृत किये हैं । जो अधिक भंग संख्या सूत्रमें निर्दिष्ट है वह मौलिकभंगोंके भेदके कारण नहीं है किन्तु एकवचन-बहुवचनके भेदकी विवक्षाके कारण ही है । यदि वचनभेदकृत संख्या-वृद्धिको निकाल दिया जाय तो मौलिक भंग सात ही रह जाते हैं । अत एव जो यह कहा जाता है कि आगममें सप्तभंगी नहीं है वह भ्रममूलक है ।

( ८ ) सकलादेश-विकलादेशकी कल्पना भी आगमिक सप्तभंगीमें मौजुद है । आगमके अनुसार प्रथमके तीन सकलादेशी भंग हैं जन शेष विकलादेशी । बादके दार्शनिकोंमें इस विषयको लेकर भी मतभेद हो गया है । ऐतिहासिक दृष्टिसे गवेषणीय तो यह है कि ऐसा मत भेद क्यों और कब हुआ ?

### § ६. नय, आदेश या दृष्टियाँ ।

सप्तभंगीके विषयमें इतना जान लेनेके बाद अब भगवान्ने किन किन दृष्टिओंके आधार पर विरोधपरिहार करनेका प्रयत्न किया या एक ही धर्ममें विरोधी अनेक धर्मोंका स्वीकार किया, यह जानना आवश्यक है । भगवान् महावीरने यह देखा कि जितने भी मत, पक्ष या दर्शन हैं वे अपना एक खास पक्ष स्थापित करते हैं और विपक्षका निरास करते हैं । भगवान्ने उन सभी तत्कालीन दार्शनिकोंकी दृष्टिओंको समझनेका प्रयत्न किया । और उनको प्रतीत हुआ कि नाना मनुष्योंके वस्तुदर्शनमें जो भेद हो जाता है उसका कारण केवल वस्तुकी अनेकरूपता या अनेकान्तात्मकता ही नहीं बल्कि नाना मनुष्योंके देखनेके प्रकारकी अनेकता या नानारूपता भी कारण है । इसी लिये उन्होंने सभी मतोंको, दर्शनोंको वस्तुरूपके दर्शनमें योग्य स्थान दिया है । किसी मतविशेषका सर्वथा निरास नहीं किया है । निरास यदि किया है तो इस अर्थमें कि जो एकान्त आप्रहका विषय या, अपने ही पक्षको, अपने ही मत या दर्शनको सत्य, और दूसरोंके मत, दर्शन या पक्षको मिथ्या माननेका जो कदाग्रह या, उसका निरास करके उन मतोंको एक नयारूप दिया है । प्रत्येक मतवादी कदाग्रही हो कर दूसरेके मतको मिथ्या बताते थे, वे समन्वय न कर सकनेके कारण एकान्तवादमें ही फँसते थे । भ. महावीरने उन्हींके मतोंको स्वीकार करके उनमेंसे कदाग्रहका विषय निकालकर सभीका समन्वय करके अनेकान्तवादरूपी संजीवनी महौषधिका निर्माण किया है ।

कदाग्रह तब ही जा सकता है जब प्रत्येक मतकी सच्चाईकी कसौटी की जाय । मतोंमें सच्चाई जिस कारणसे आती है उस कारणकी शोध करना और उस मतके समर्थनमें उस कारण को बतादेना यही भ० महावीरके नयवाद, अपेक्षावाद या आदेशवादका रहस्य है ।

अत एव जैन आगमोंके आधारपर उन नयोंका, उन आदेशों और उन अपेक्षाओंका संकलन करना आवश्यक है जिनको लेकर भगवान् महावीर सभी तत्कालीन दर्शनों और पक्षोंकी सच्चाई तक पहुँच सके और जिनका आश्रय लेकर बादके जैनाचार्योंने अनेकान्तवादके महाप्रासादको नये नये दर्शन और पक्षोंकी भूमिकापर प्रतिष्ठित किया ।

### ( १ ) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ।

एक ही वस्तुके विषयमें जो नानामतोंकी सृष्टि होती है उसमें द्रष्टाकी रुचि और शक्ति, दर्शनका साधन, दृश्यकी दैशिक और कालिकस्थिति, द्रष्टाकी दैशिक और कालिकस्थिति, दृश्यका

स्थूल और सूक्ष्मरूप इत्यादि कई कारण हैं। ये ही कारण प्रत्येक द्रष्टा और दृश्यमें प्रत्येक क्षणमें विशेषाधायक होकर नानामतोंके सर्जनमें निमित्त बनते हैं। उन कारणोंकी व्यक्तिशः गणना करना कठिन है अत एव तरकृत विशेषोंका परिगणन भी असंभव है। इसी कारणसे वस्तुतः सूक्ष्मविशेषताओंके कारण होनेवाले नानामतोंकी परिगणना भी असंभव है। जब मतोंका ही परिगणन असंभव हो तो उन मतोंके उत्थानकी कारणभूत दृष्टि या अपेक्षा या नयकी परिगणना तो सुतरां असंभव है। इस असंभवको ध्यानमें रखकर ही भगवान् महावीरने सभी प्रकारकी अपेक्षाओंका साधारणीकरण करनेका प्रयत्न किया है। और मध्यममार्गसे सभी प्रकारकी अपेक्षाओंका वर्गीकरण चार प्रकारमें किया है। ये चार प्रकार ये हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इन्हींके आधार पर प्रत्येक वस्तुके भी चार प्रकार हो जाते हैं। अर्थात् द्रष्टाके पास चार दृष्टियाँ, अपेक्षाएँ, आदेश हैं और वह इन्हीं के आधार पर वस्तुदर्शन करता है। अभिप्राय यह है कि वस्तुका जो कुछ रूप हो वह उन चारमेंसे किसी एकमें अवश्य समाविष्ट हो जाता है और द्रष्टा जिस किसी दृष्टिसे वस्तुदर्शन करता है उसकी वह दृष्टि भी इन्हीं चारमेंसे किसी एकमें अन्तर्गत हो जाती है।

भगवान् महावीरने कई प्रकारके विरोधोंका, इन्हीं चार दृष्टियों और वस्तुके चार रूपोंके आधार पर, परिहार किया है। जीवकी और लोककी सांतता और अनन्तता के विरोधका परिहार इन्हीं चार दृष्टियोंसे जैसे किया गया है उसका वर्णन पूर्वमें हो चुका है। इसी प्रकार नित्यनित्यताके विरोधका परिहार भी उन्हींसे हो जाता है वह भी उसी प्रसंगमें स्पष्ट कर दिया गया है। लोकके, परमाणुके और पुद्गलके चार भेद इन्हीं दृष्टियोंको लेकर भगवतीमें किये गये हैं। परमाणुकी चरमता और अचरमताके विरोधका परिहार भी इन्हीं दृष्टियोंके आधारपर किया गया है।

कभी कभी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दृष्टियोंके स्थानमें अधिक दृष्टियाँ भी बताई गई हैं। किन्तु विशेषतः इन चारसे ही काम लिया गया है। वस्तुतः चारसे अधिक दृष्टियोंको बताते समय भावके अवान्तर भेदोंको ही भावसे पृथक् करके स्वतन्त्र स्थान दिया है ऐसा अधिक अपेक्षाभेदोंको देखनेसे स्पष्ट होता है अत एव मध्यममार्गसे उक्त चार ही दृष्टियाँ मानना न्यायोचित है।

म. महावीरने धर्मास्तिकायादि द्रव्योंको जब—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण दृष्टिसे पांच प्रकारका बताया तब भावविशेष गुणदृष्टिको पृथक् स्थान दिया है यह स्पष्ट है क्योंकि गुण वस्तुतः भाव अर्थात् पर्याय ही है। इसी प्रकार भगवान् ने जब कारणके पांच प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावके भेदसे बताये तब वहाँ भी प्रयोजनवशात् भावविशेष भावको पृथक् स्थान दिया है यह स्पष्ट है। इसी प्रकार जब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव और संस्थान इन छः दृष्टियोंसे तुल्यताका विचार किया है तब वहाँ भी भावविशेष भव और संस्थानको स्वातन्त्र्य दिया गया है। अत एव वस्तुतः मध्यममार्गसे चार दृष्टियाँ ही प्रधानरूपसे भगवान् को अभिमत हैं ऐसा मानना उपयुक्त है।

१ पृ० १६-२४। २ भगवती २.१.२०। ५.८.२२०। ११.१०.४२०। १४.४.५१३। २०.४।  
३ भगवतीसूत्र २.१०। ४ भगवतीसूत्र १९.९। ५ भगवतीसूत्र १४.७।

## ( २ ) द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक ।

उक्त चार दृष्टिओंका भी संक्षेप दो नयोंमें, आदेशोंमें या दृष्टिओंमें किया गया है । वे हैं द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक अर्थात् भावार्थिक । वस्तुतः देखा जाय तो काल और देशके भेदसे द्रव्योंमें विशेषताएँ अवश्य होती हैं । किसी भी विशेषता को काल या देश—क्षेत्रसे मुक्त नहीं किया जा सकता । अन्य कारणोंके साथ काल और देश भी अवश्य साधारण कारण होते हैं । अत एव काल और क्षेत्र, पर्यायोंके कारण होनेसे, यदि पर्यायोंमें समाविष्ट कर लिये जायँ तब मूलतः दो ही दृष्टियाँ रह जाती हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । अतएव आचार्य सिद्धसेनने यह स्पष्ट बताया है कि भगवान् महावीरके प्रवचनमें वस्तुतः येही मूल दो दृष्टियाँ हैं और शेष सभी दृष्टियाँ इन्हीं दोनों की शाखा-प्रशाखाएँ हैं<sup>१</sup> ।

जैन आगमोंमें सात मूल नयोंकी<sup>२</sup> गणना की गई है । उन सातोंके मूलमें तो ये दो नय हैं ही किन्तु 'जितने भी वचनमार्ग हो सकते हैं उतने ही नय हैं' इस<sup>३</sup> सिद्धसेनके कथनको सच मानकर यदि असंख्य नयोंकी कल्पना की जाय तब भी उन सभी नयोंका समावेश इन्हीं दो नयोंमें हो जाता है ऐसी इन दो दृष्टिओंकी व्यापकता है ।

इन्हीं दो दृष्टिओंके प्राधान्यसे भ० महावीरने जो उपदेश दिया था उसका संकलन जैनागमोंमें मिलता है । द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो दृष्टिओंसे भगवान् महावीरका क्या अभिप्राय था यह भी भगवतीके वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है । नारक जीवोंकी शाश्वतता और अशाश्वतता का प्रतिपादन करते हुए भगवान्ने कहा है<sup>४</sup> कि अविच्छिन्नित्यार्थताकी अपेक्षा वह शाश्वत है और व्युच्छिन्नित्यार्थताकी अपेक्षासे वह अशाश्वत है । इससे स्पष्ट है कि वस्तुकी निश्चयताका प्रतिपादन द्रव्यदृष्टि करती है और अनिश्चयताका प्रतिपादन पर्याय दृष्टि । अर्थात् द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य । इसीसे यह भी फलित हो जाता है कि द्रव्यार्थिक दृष्टि अमेदगामी है और पर्यायार्थिक दृष्टि भेदगामी । क्योंकि नित्यमें अमेद होता है और अनित्यमें भेद । यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यदृष्टि एकत्वगामी है और पर्यायदृष्टि अनेकत्वगामी<sup>५</sup> क्योंकि नित्य एकरूप होता है और अनित्य वैसा नहीं । विच्छेद कालकृत, देशकृत और वस्तुकृत होता है और अविच्छेद भी । कालकृत विच्छिन्नको अनित्य, देशकृत विच्छिन्नको भिन्न और वस्तुकृत विच्छिन्नको अनेक कहा जाता है । कालसे अविच्छिन्नको नित्य, देशसे अविच्छिन्नको अभिन्न और वस्तुकृत अविच्छिन्नको एक कहा जाता है । इस प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकका क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें सभी दृष्टिओंका समावेश सहज रीतिसे हो जाता है ।

भगवतीसूत्रमें पर्यायार्थिकके स्थानमें भावार्थिक शब्द भी आता है<sup>६</sup> । जो सूचित करता है कि पर्याय और भाव एकार्थक हैं ।

## ( ३ ) द्रव्यार्थिक-प्रदेशार्थिक ।

जैसे वस्तुको द्रव्य और पर्याय दृष्टिसे देखा जाता है उसी प्रकार द्रव्य और प्रदेशकी दृष्टिसे भी देखा जा सकता है<sup>७</sup>—ऐसा भगवान् महावीरका मन्तव्य है । पर्याय और प्रदेशमें क्या

१ भगवती ७.२.२७३ । १४.४.५१२ । १८.१० । २ सम्प्रति १.३ । ३ अनुयोगद्वार सू० १५६ । स्थानांग सू० ५५२ । ४ सम्प्रति ३.४७ । ५ भगवती ७.२.७७९ । ६ भगवती १८.१० में आत्माकी एकनिकता की बढता बताई है । वहाँ द्रव्य और पर्यायनयका आश्रय स्पष्ट है । ७ भगवती ७.२.२७३ । ८ भगवती १८.१० । २५.३ । २५.४ । इत्यादि ।

अन्तर है यह विचारणीय है । एक ही द्रव्यकी नाना अवस्थाओंको या एक ही द्रव्यके देशकाल-कृत नानारूपोंको पर्याय कहा जाता है । जब कि द्रव्यके घटक अर्थात् अवयव ही प्रदेश कहे जाते हैं । भगवान् महावीरके मतानुसार कुछ द्रव्योंके प्रदेश नियत हैं और कुछके अनियत । सभी देश और सभी कालमें जीवके प्रदेश नियत हैं, कभी वे घटते भी नहीं और बढ़ते भी नहीं, उतने ही रहते हैं । यही बात धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकायको भी लागू होती है । किन्तु पुद्गलस्कंध(अवयवी)के प्रदेशोंका नियम नहीं । उनमें न्यूनाधिकता होती रहती है । प्रदेश — अंश और द्रव्य — अंशीका परस्पर तादात्म्य होनेसे एक ही वस्तु द्रव्य और प्रदेशविषयक भिन्न भिन्न दृष्टिसे देखी जा सकती है । इस प्रकार देखनेपर विरोधी धर्मोंका समन्वय एक ही वस्तुमें घट जाता है ।

भगवान् महावीरने अपने आपमें द्रव्यदृष्टि, पर्यायदृष्टि, प्रदेशदृष्टि और गुणदृष्टिसे नाना विरोधी धर्मोंका समन्वय दरसाया है । और कहा है कि मैं एक हूँ द्रव्य दृष्टिसे; दो हूँ ज्ञान और दर्शन रूप दो पर्यायोंकी अपेक्षासे; प्रदेश दृष्टिसे तो मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ, अवस्थित हूँ; जब कि उपयोगकी दृष्टिसे मैं अस्थिर हूँ क्योंकि अनेक भूत, वर्तमान और भावी परिणामोंकी योग्यता रखता हूँ<sup>१</sup> । इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुतमें उन्होंने पर्यायदृष्टिसे भिन्न ऐसी प्रदेश दृष्टिको भी माना है । परन्तु प्रस्तुत स्थलमें उन्होंने प्रदेश दृष्टिका उपयोग आत्माके अक्षय, अव्यय और अवस्थित धर्मोंके प्रकाशनमें किया है । क्योंकि पुद्गलप्रदेशकी तरह आत्मप्रदेश व्ययशील, अनवस्थित और क्षयी नहीं । आत्मप्रदेशोंमें कभी न्यूनाधिकता नहीं होती । इसी दृष्टिबिन्दुको सामने रखकर प्रदेश दृष्टिसे आत्माका अव्यय इत्यादि रूपसे उन्होंने वर्णन किया है ।

प्रदेशार्थिक दृष्टिका एक दूसरा भी उपयोग है । द्रव्यदृष्टिसे एक वस्तुमें एकता ही होती है किन्तु उसी वस्तुकी अनेकता प्रदेशार्थिक दृष्टिसे बताई जा सकती है क्योंकि प्रदेशोंकी संख्या अनेक होती है । प्रज्ञापनामें द्रव्य दृष्टिसे धर्मास्तिकायको एक बताया है और उसीको प्रदेशार्थिक दृष्टिसे असंख्यातगुण भी बताया गया है । तुल्यता-अतुल्यताका विचार भी प्रदेशार्थिक और द्रव्यार्थिक की सहायतासे किया गया है । जो द्रव्य द्रव्यदृष्टिसे तुल्य होते हैं वही प्रदेशार्थिक दृष्टिसे अतुल्य हो जाते हैं । जैसे धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य दृष्टिसे एक एक होनेसे तुल्य हैं किन्तु प्रदेशार्थिक दृष्टिसे धर्म और अधर्म ही असंख्यात प्रदेशी होनेसे तुल्य हैं जब कि आकाश अनन्तप्रदेशी होनेसे अतुल्य हो जाता है । इसी प्रकार अन्य द्रव्योंमें भी इन द्रव्य-प्रदेशदृष्टिओंके अवलम्बनसे तुल्यता-अतुल्यतारूप विरोधी धर्मों और विरोधी संख्याओंका समन्वय भी हो जाता है<sup>२</sup> ।

#### (४) ओघादेश-विधानादेश ।

तिर्यग्सामान्य और उसके विशेषोंको व्यक्त करनेके लिये जैनशास्त्रमें क्रमशः ओघ और विधान शब्द प्रयुक्त हुए हैं । किसी वस्तुका विचार इन दो दृष्टिओंसे भी किया जा सकता है । कृतयुग्मादि संख्याका विचार ओघादेश और विधानादेश इन दो दृष्टिओंसे भ० महावीरने किया है<sup>३</sup> । उसीसे हमें यह सूचना मिल जाती है कि इन दो दृष्टिओंका प्रयोग कब करना चाहिए ।

सामान्यतः यह प्रतीत होता है कि वस्तुकी संख्या तथा मेदामेदके विचारमें इन दोनों दृष्टिओंका उपयोग किया जा सकता है ।

(५) व्यावहारिक और नैश्चयिक नय ।

प्राचीन कालसे दार्शनिकोंमें यह संघर्ष चला आता है कि वस्तुका कौनसा रूप सत्य है— जो इन्द्रियगम्य है वह या इन्द्रियातीत अर्थात् प्रज्ञागम्य है वह ? उपनिषदों के कुछ ऋषि प्रज्ञावादका आश्रयण करके मानते रहे कि आत्माद्वैत ही परम तत्त्व है उसके अतिरिक्त दृश्यमान सब शब्दमात्र है, विकारमात्र है या नाममात्र है<sup>१</sup> उसमें कोई तथ्य नहीं । किन्तु उस समय भी सभी ऋषिओंका यह मत नहीं था । चार्वाक या भौतिकवादी तो इन्द्रियगम्य वस्तुको ही परमतत्त्व-रूपसे स्थापित करते रहे । इस प्रकार प्रज्ञा या इन्द्रियके प्राधान्यको लेकर दार्शनिकोंमें विरोध चल रहा था । इसी विरोधका समन्वय भगवान् महावीरने व्यावहारिक और नैश्चयिक नयोंकी कल्पना करके किया है । अपने अपने क्षेत्रमें ये दोनों नय सत्य हैं । व्यावहारिक सभी मिथ्या ही है या नैश्चयिक ही सत्य है ऐसा भगवान् को मान्य नहीं है । भगवान् का अभिप्राय यह है कि व्यवहारमें लोक इन्द्रियोंके दर्शनकी प्रधानतासे वस्तुके स्थूल रूपका निर्णय करते हैं और अपना निर्बाध व्यवहार चलाते हैं अत एव वह लौकिक नय है । पर स्थूल रूपके अलावा वस्तुका सूक्ष्मरूप भी होता है जो इन्द्रियगम्य न होकर केवल प्रज्ञागम्य है । यही प्रज्ञामार्ग नैश्चयिक नय है । इन दोनों नयोंके द्वारा ही वस्तुका संपूर्ण दर्शन होता है ।

गौतमने भ० महावीरसे पूछा कि मन्ते ? फाणित—प्रवाही गुड़में कितने वर्ण गन्ध रस और स्पर्श होते हैं ? इसके उत्तरमें उन्होंने कहा कि गौतम ! मैं इस प्रश्नका उत्तर दो नयोंसे देता हूँ—व्यावहारिकनय की अपेक्षासे तो वह मधुर कहा जाता है । पर नैश्चयिक नयसे वह पांच वर्ण, द्विगन्ध, पांच रस और आठ स्पर्शोंसे युक्त है । अमरके विषयमें भी उनका कथन है कि व्यावहारिक दृष्टिसे अमर कृष्ण है पर नैश्चयिक दृष्टिसे उसमें पांचों वर्ण, दोनों गन्ध, पांचों रस और आठों स्पर्श होते हैं । इसी प्रकार उन्होंने उक्त प्रसंगमें अनेक विषयों को लेकर व्यवहार और निश्चय नयसे उनका विच्छेपण किया है<sup>२</sup> ।

आगेके जैनाचार्योंने व्यवहार-निश्चयनयका तत्त्वज्ञानके अनेक विषयोंमें प्रयोग किया है इतना ही नहीं बल्कि तत्त्वज्ञानके अतिरिक्त आचारके अनेक विषयोंमें भी इन नयोंका उपयोग करके विरोधपरिहार किया है ।

जब तक उक्त सभी प्रकारके नयोंको न समझा जाय तब तक अनेकान्तवादका समर्थन होना कठिन है । अत एव भगवान् ने अपने मन्तव्योंके समर्थन में नाना नयोंका प्रयोग करके शिष्योंको अनेकान्तवाद हृदयंगम करा दिया है । ये ही नय अनेकान्तवादरूपी महाप्रासादकी भूमिकारूप हैं ऐसा कहा जाय तो अनुचित न होगा ।

### §७. नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव ।

जैन सूत्रोंकी व्याख्याविधि अनुयोगद्वारा सूत्रमें बताई गई है । यह विधि कितनी प्राचीन है, इसके विषयमें निश्चित कुछ कहा नहीं जा सकता । किन्तु अनुयोगद्वारे परीक्षितकर्ताको

<sup>१</sup> Constructive survey of Upanishadic Philosophy p. 227 । छान्दोग्योप-निषद् ६.१.४ । २ भगवती १८.६ ।

इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि व्याख्याविधिका अनुयोगद्वारागत रूप स्थिर होनेमें पर्याप्त समय व्यतीत हुआ होगा । यह विधि स्वयं भ० महावीरकी देन है या पूर्ववर्ती ? इस विषयमें इनाहीं निश्चयरूपसे कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती न हो तब भी—उनके समयमें उस विधिका एक निश्चितरूप बन गया था । अनुयोग या व्याख्याके द्वारोंके वर्णनमें नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपोंका वर्णन आता है । यद्यपि नयोंकी तरह निक्षेप भी अनेक हैं तथापि अधिकांशमें उक्त चार निक्षेपोंको ही प्राधान्य दिया गया है—

“अथ य जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खिखे निरवसेसं ।

अथ वि य न जाणिज्जा अउकं निक्खिखे तत्थ ॥” अनुयोगद्वारा ८ ।

अत एव इन्हीं चार निक्षेपोंका उपदेश भगवान् महावीरने दिया होगा ऐसा प्रतीत होता है । अनुयोगद्वारासूत्रमें तो निक्षेपोंके विषयमें पर्याप्त विवेचन है किन्तु वह गणधरकृत नहीं समझा जाता । गणधरकृत जंगोंमेंसे स्थानांग सूत्रमें ‘सर्व’ के जो प्रकार गिनाये हैं वे सूचित करते हैं कि निक्षेपोंका उपदेश स्वयं भ० महावीरने दिया होगा—

“वक्तादि सत्त्वा पञ्चत्ता—नामसत्त्वप ठवणसत्त्वप आयससत्त्वप निरवसेससत्त्वप”  
स्थानांग २९९ ।

प्रस्तुत सूत्रमें सर्वके निक्षेप बताये गए हैं । उनमें नाम और स्थापना निक्षेपोंको तो शब्दतः तथा द्रव्य और भावको अर्थतः बताया है । द्रव्यका अर्थ उपचार या अप्रधान होता है और आदेशका अर्थ भी वही है । अत एव ‘द्रव्यसर्व’ न कह करके ‘आदेश सर्व’ कहाँ । सर्व शब्दका तात्पर्यार्थ निरवशेष है । भावनिक्षेप तात्पर्यग्राही है । अत एव ‘भाव सर्व’ कहनेके बजाय ‘निरवशेष सर्व’ कहा गया है ।

अत एव निक्षेपोंने भगवान्‌के मौलिक उपदेशोंमें स्थान पाया है ऐसा कहा जा सकता है ।

शब्द व्यवहार तो हम करते हैं क्योंकि इसके बिना हमारा काम चलता नहीं । किन्तु कभी ऐसा हो जाता है कि इन्हीं शब्दोंके ठीक अर्थको—वक्ताके विवक्षित अर्थको न समझनेसे बड़ा अनर्थ हो जाता है । इसी अनर्थका निवारण निक्षेपविद्याके द्वारा भगवान् महावीरने किया है । निक्षेपका मतलब है अर्थनिरूपण पद्धति । भगवान् महावीरने शब्दोंके प्रयोगोंको चार प्रकारके अर्थोंमें विभक्त कर दिया है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । प्रत्येक शब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध एक अर्थ होता है किन्तु वक्ता सदा उसी व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थकी विवक्षा करता ही है यह बात व्यवहारमें देखी नहीं जाती । इन्द्रशब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ कुछ भी हो किन्तु यदि उस अर्थकी उपेक्षा करके जिस किसी वस्तुमें संकेत किया जाय कि यह इन्द्र है तो वहाँ इन्द्र शब्दका प्रयोग किसी व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थके बोधके लिये नहीं किन्तु नाममात्रका निर्देश करनेके लिये हुआ है अत एव वहाँ इन्द्रशब्दका अर्थ नाम इन्द्र है । यह नाम निक्षेप है<sup>१</sup> । इन्द्रकी मूर्तिको जो इन्द्र कहा जाता है वहाँ सिर्फ नाम नहीं किन्तु वह मूर्ति इन्द्रका प्रतिनिधित्व करती

१ भगवान्, जिनभग्न और धत्ति हुएभके उल्लेखोंसे यह भी प्रतीत होता है कि निक्षेपोंमें ‘आदेश’ वह एक द्रव्यसे स्वतन्त्र निक्षेप भी था । यदि सूत्रकारको वही अभिप्रेत हो तो प्रस्तुत सूत्रमें द्रव्य निक्षेप उल्लिखित नहीं है ऐसा समझना चाहिए । जयधरका पृ० २८३ । २ “वद्वत्तुनोभिधानं स्थितमन्वार्थं तत्परिनिर्देशं । पर्यायानभिधेयं च नाम आदिष्ठकं च तथा ॥” अनु० टी० पृ० ११ ।



हे ऐसा ही भाव वस्तुको विवक्षित है अत एव वह स्थापना इन्द्र है । यह दूसरा स्थापना निक्षेप है<sup>१</sup> । इन दोनों निक्षेपोंमें शब्दके व्युत्पत्तिसिद्धि अर्थकी उपेक्षा की गई है यह स्पष्ट है । द्रव्य निक्षेपका विषय द्रव्य होता है अर्थात् भूत और भाविपर्यायोंमें जो अनुयायी द्रव्य है उसीकी विवक्षासे जो व्यवहार किया जाता है वह द्रव्य निक्षेप है । जैसे कोई जीव इन्द्र होकर मनुष्य हुआ या मरकर मनुष्यसे इन्द्र होगा तब वर्तमान मनुष्य अवस्थाको इन्द्र कहना यह द्रव्य इन्द्र है । इन्द्रभावापन्न जो जीव द्रव्य था वही अभी मनुष्यरूप है अत एव उसे मनुष्य न कह करके इन्द्र कहा गया है । या भविष्यमें इन्द्रभावापत्तिके योग्य भी वही मनुष्य है ऐसा समझकर भी उसे इन्द्र कहना यह द्रव्य निक्षेप है । वचन व्यवहारमें जो हम कार्यमें कारणका या कारणमें कार्यका उपचार करके जो औपचारिक प्रयोग करते हैं वे सभी द्रव्यान्तर्गत हैं<sup>२</sup> ।

व्युत्पत्तिसिद्धि अर्थ उस शब्दका भाव निक्षेप है । परमैश्वर्य संपन्न जीव भाव इन्द्र है यानि मयार्थ इन्द्र है<sup>३</sup> ।

वस्तुतः जुदे जुदे शब्दव्यवहारोंके कारण जो विरोधी अर्थ उपस्थित होते हैं उन सभी अर्थोंकी विवक्षाको समझना और अपने इष्ट अर्थका बोध करना-कराना, इसीके लिये ही भगवान् ने निक्षेपोंकी योजना की है यह स्पष्ट है ।

जैनदार्शनिकोंने इस निक्षेपतत्त्वको भी नयोंकी तरह विकसित किया है । और इन निक्षेपोंके सहारे शब्दाद्वैतवाद आदि विरोधी वादोंका समन्वय करनेका प्रयत्न भी किया है ।

## [ २ ] प्रमाणतत्त्व ।

### § १. ज्ञानवर्षाकी जैनदृष्टि ।

जैन आगमोंमें अद्वैतवादिओं की तरह जगत्को वस्तु और अवस्तु—मायामें तो विभक्त नहीं किया है किन्तु संसारकी प्रत्येक वस्तुमें स्वभाव और विभाव सम्मिश्रित है ऐसा प्रतिपादित किया है । वस्तुका परानपेक्ष जो रूप है वह स्वभाव है, जैसे, आत्माका चैतन्य, ज्ञान, सुख आदि, और पुद्गलकी जडता । किसी भी कालमें आत्मा ज्ञान या चेतना रहित नहीं और पुद्गलमें जडता भी त्रिकालाबाधित है । वस्तुका जो परसापेक्षरूप है वह विभाव है जैसे आत्माका मनुष्यत्व, देवत्व आदि और पुद्गलका शरीररूप परिणाम । मनुष्यको हम न तो कोरा आत्मा ही कह सकते हैं और न कोरा पुद्गल ही । इसी तरह शरीर भी सिर्फ पुद्गलरूप नहीं कहा जा सकता । आत्माका मनुष्यरूप होना परसापेक्ष है और पुद्गलका शरीररूप होना भी परसापेक्ष है । अतः आत्माका मनुष्यरूप और पुद्गलका शरीररूप ये दोनों क्रमशः आत्मा और पुद्गलके विभाव हैं ।

१ “वस्तु त्वर्थविशुद्धं तदभिप्रायेण वच्यं तत्करणि । लेखादिकर्म तत् स्थापनेति क्रियतेऽव्यकाशं च ॥” अनु० टी० १२ । २ “भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु वक्ष्यते । तत् द्रव्यं तत्रचैः कथेतवाचेतनं कथितम् ॥” अनु० टी० पृ० १४ । ३ “भावो विवक्षितविक्षाऽनुभूतिशुद्धो हि वे सनाभ्यासः । सर्वज्ञैरेन्द्रादिवदिदेन्द्रादिकिपात्रुसबाध ॥” अनु० टी० पृ० २८ ।

स्वभाव ही सत्य है और विभाव मिथ्या है ऐसा जैनोंने कभी प्रतिपादित नहीं किया । क्योंकि उनके मतमें त्रिकाळाबाधित वस्तु ही सत्य है ऐसा एकान्त नहीं । प्रत्येक वस्तु, फिर वह अपने स्वभावमें ही स्थित हो वा विभावमें वर्तमान हो, सत्य है । हाँ, तद्विषयक हमारा ज्ञान मिथ्या हो सकता है, लेकिन वह भी तब, जब हम स्वभावको विभाव समझें या विभावको स्वभाव यानी तत् में अतत् का ज्ञान होने पर ज्ञान में मिथ्यात्वकी संभावना है ।

विज्ञानवादि बौद्धोंने प्रत्यक्ष ज्ञानको वस्तुग्राहक और साक्षात्कारात्मक तथा इतर ज्ञानोंको अवस्तुग्राहक, आमक, अस्पष्ट और असाक्षात्कारात्मक माना है । जैनागमोंमें इन्द्रियनिरपेक्ष ऐसे मात्र आत्मसापेक्ष ज्ञानको ही साक्षात्कारात्मक प्रत्यक्ष कहा गया है तथा इन्द्रियसापेक्ष ज्ञानोंको असाक्षात्कारात्मक और परोक्ष माना गया है । जैनदृष्टिसे प्रत्यक्ष ही वस्तुके स्वभाव और विभावका साक्षात्कार कर सकता है और वस्तुका विभावसे पृथक् ऐसा जो स्वभाव है उसका स्पष्ट पता लगा सकता है । इन्द्रियसापेक्ष ज्ञानमें यह कभी संभव नहीं कि वह किसी वस्तुका साक्षात्कार कर सके और किसी वस्तुके स्वभावको विभावसे पृथक् कर उसको स्पष्ट जान सके । लेकिन इसका मतलब जैन मतानुसार यह कभी नहीं कि इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान भ्रम है । विज्ञानवादि बौद्धोंने तो परोक्ष ज्ञानोंको अवस्तुग्राहक होनेसे भ्रम ही कहा है किन्तु जैनाचार्योंने वैसा नहीं माना । क्योंकि उनके मतमें विभाव भी वस्तुका परिणाम है अत एव वह भी वस्तुका एक रूप है । अतः उसका ग्राहकज्ञान भ्रम नहीं कहा जा सकता । वह अस्पष्ट हो सकता है, साक्षात्काररूप न भी हो तब भी वस्तुस्पर्शी तो है ही ।

भगवान् महावीरसे लेकर उ० यशोविजयजी तकके साहित्यको देखनेसे यही पता लगता है कि जैनोंकी ज्ञानचर्चामें उपर्युक्त मुख्य सिद्धान्तकी कभी उपेक्षा नहीं की गई बल्कि यों कहना चाहिए कि ज्ञानकी जो कुछ चर्चा हुई है वह उसी मध्यबिन्दुके आसपास ही हुई है । उपर्युक्त सिद्धान्तका प्रतिपादन प्राचीन कालके आगमोंसे लेकर अबतकके जैन साहित्यमें अविच्छिन्न रूपसे होता चला आया है ।

## § २. आगममें ज्ञानचर्चाके विकासकी भूमिकाएँ -

पंचज्ञानचर्चा जैन परंपरामें भगवान् महावीरसे भी पहले होती थी इसका प्रमाण राज-प्रश्रीय सूत्रमें है । भगवान् महावीरने अपने मूँहसे अतीतमें होनेवाले केशीकुमार श्रमणका वृत्तान्त राजप्रश्रीयमें कहा है । शास्त्रकारने केशी कुमारके मुखसे निम्न वाक्य कहलवाया है -

“एवं खु पण्ठी अहं समणाणं निर्गथाणं पंचविहे नाणे पण्णत्ते - तंजहा आभिणिबोहि-  
यनाणे सुयनाणे ओहिणाणे मणपज्जवणाणे केवलणाणे” (सू० १६५) इत्यादि

इस वाक्यसे स्पष्ट फलित यह होता है कि कमसे कम उक्त आगमके संकलनकर्ताके मतसे भगवान् महावीरसे पहले भी श्रमणोंमें पांच ज्ञानोंकी मान्यता थी । उनकी यह मान्यता निर्मूल भी नहीं । उत्तराध्ययनके २३ वें अध्यायनसे स्पष्ट है कि भगवान् महावीरने आचारविषयक कुछ संशोधनोंके अतिरिक्त पार्श्वनाथके तत्त्वज्ञानमें विशेष संशोधन नहीं किया । यदि भगवान् महावीरने तत्त्वज्ञानमें भी कुछ नई कल्पनाएँ की होती तो उनका निरूपण भी उत्तराध्य-  
यनमें होता ।

न्या० प्रस्तावना ८

आगमोंमें पांचज्ञानोंके मेदोपमेदोंका जो वर्णन है, कर्मशास्त्रमें ज्ञानावरणीयके जो मेदोपमेदोंका वर्णन है, जीवमार्गणाओंमें पांच ज्ञानोंकी जो घटना वर्णित है, तथा पूर्वगतमें ज्ञानोंका स्वतन्त्र निरूपण करनेवाला जो ज्ञानप्रवाद पूर्व है इन सबसे यही फलित होता है कि पंचज्ञानकी चर्चा यह भगवान् महावीरने नहीं नहीं शुरू की है किन्तु पूर्वपरंपरासे जो चली आती थी उसका ही स्वीकार कर उसे आगे बढ़ाया है ।

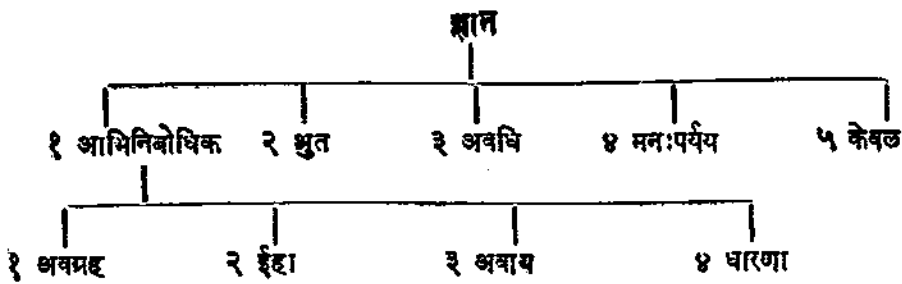
इस ज्ञान चर्चाके विकासक्रमको आगमके ही आधार पर देखना हो तो उसकी तीन भूमिकाएँ हमें स्पष्ट दीखती हैं —

(१) प्रथम भूमिका तो यह है जिसमें ज्ञानोंको पांच मेदोंमें ही विभक्त किया गया है ।

(२) द्वितीय भूमिकामें ज्ञानोंको प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो मेदोंमें विभक्त करके पांच ज्ञानोंमेंसे मति और श्रुतको परोक्षान्तर्गत और शेष अवधि, मनःपर्यय और केवलको प्रत्यक्षमें अन्तर्गत किया गया है । इस भूमिकामें लोकानुसरण करके इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षको अर्थात् इन्द्रियजन्यमतिको प्रत्यक्षमें स्थान नहीं दिया है किन्तु जैन सिद्धान्तके अनुसार जो ज्ञान आत्मनाप्रसापेक्ष हैं उन्हें ही प्रत्यक्षमें स्थान दिया गया है । और जो ज्ञान आत्माके अतिरिक्त अन्य साधनोंकी भी अपेक्षा रखते हैं उनका समावेश परोक्षमें किया गया है । यही कारण है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान जिसे जैनतर सभी दार्शनिकोंने प्रत्यक्ष कहा है प्रत्यक्षान्तर्गत नहीं माना गया ।

(३) तृतीयभूमिकामें इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको प्रत्यक्ष और परोक्ष उभयमें स्थान दिया गया है । इस भूमिकामें लोकानुसरण स्पष्ट है ।

(१) प्रथम भूमिकाके अनुसार ज्ञानका वर्णन हमें भगवती सूत्रमें (८८.२.११७) मिलता है । उसके अनुसार ज्ञानोंको निम्न सूचित नकशेके अनुसार विभक्त किया गया है —

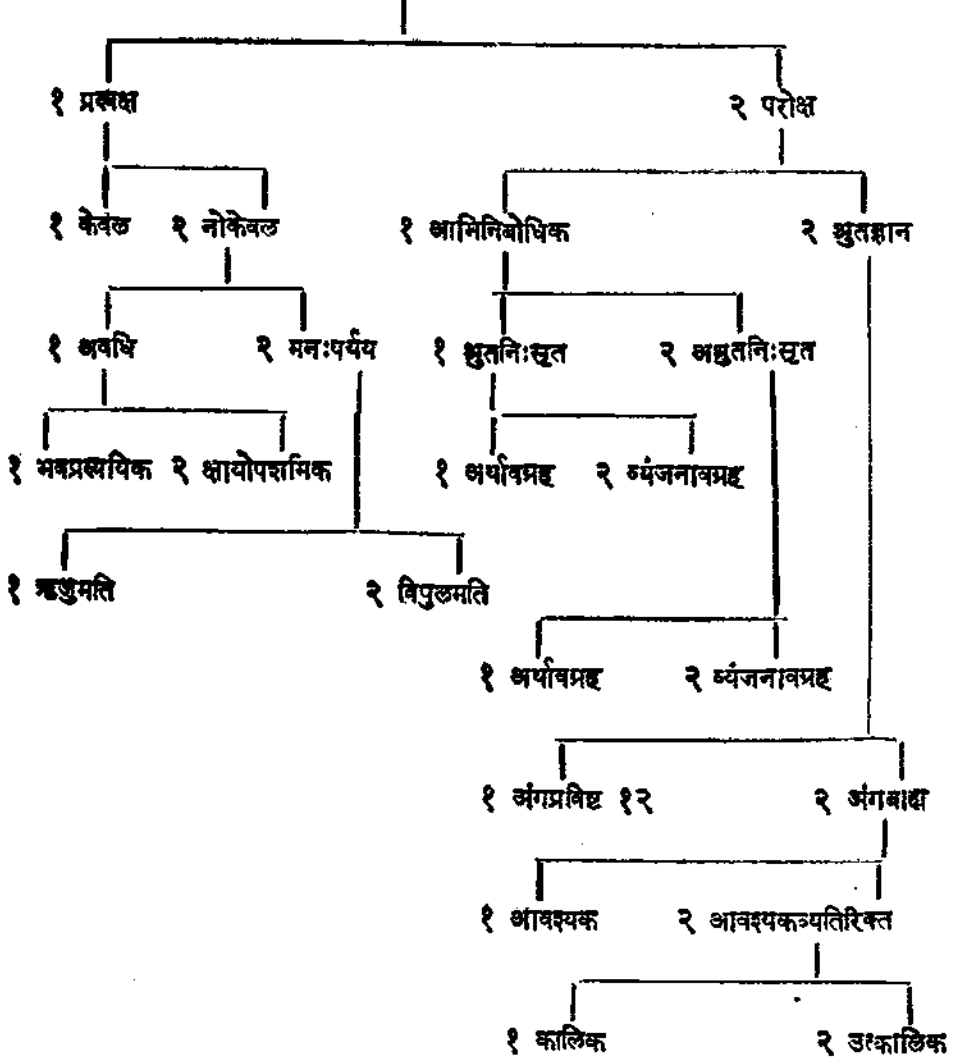


सूत्रकारने आगेका वर्णन राजप्रश्नीयसे पूर्ण कर लेनेकी सूचना दी है । और राजप्रश्नीयको (सू० १६५) देखनेपर माद्धम होता है कि उसमें पूर्वोक्त नकशेमें सूचित कथनके अलावा अवग्रहके दो मेदोंका कथन करके शेषकी पूर्ति नन्दीसूत्रसे कर लेनेकी सूचना दी है ।

सार यही है कि शेष वर्णन नन्दी के अनुसार होते हुए भी फर्क यह है कि इस भूमिकामें नन्दीसूत्रके प्रारंभ में कथित प्रत्यक्ष और परोक्ष मेदोंका जिक्र नहीं है । और दूसरी बात यह भी है कि नन्दीकी तरह इसमें आभिनिबोधके श्रुतनिःसृत और अश्रुतनिःसृत ऐसे दो मेदोंको भी स्थान नहीं है । इसीसे कहा जा सकता है कि यह वर्णन प्राचीन भूमिकाका है ।

( २ ) स्थानांगगत ज्ञान चर्चा द्वितीयभूमिकाकी प्रतिनिधि है । उसमें ज्ञानको प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेदोंमें विभक्त करके उन्ही दोमें पंच ज्ञानोंकी योजना की गई है —

ज्ञान ( सूत्र० ७१ )



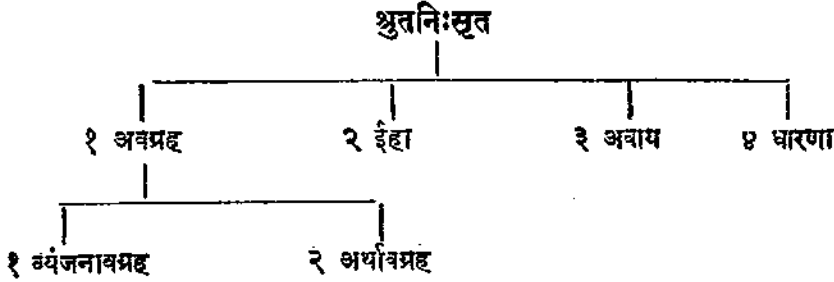
इस नकशेमें यह स्पष्ट है कि ज्ञानके मुख्य दो भेद किये गये हैं, पांच नहीं । पांच ज्ञानोंको तो उन दो भेद — प्रत्यक्ष और परोक्षके प्रभेदरूपसे गिना है । यह स्पष्ट ही प्राथमिक भूमिकाका विकास है । इसी भूमिकाके आधार पर उमास्वातिने भी प्रमाणोंको प्रत्यक्ष और परोक्षमें विभक्त करके उन्ही दोमें पंचज्ञानोंका समावेश किया है ।

बादमें होनेवाले जैनतार्किकोंने प्रत्यक्षके दो भेद बताये हैं — विकल और सकल<sup>१</sup> । केवलका

१ प्रमाणव० २.२० ।

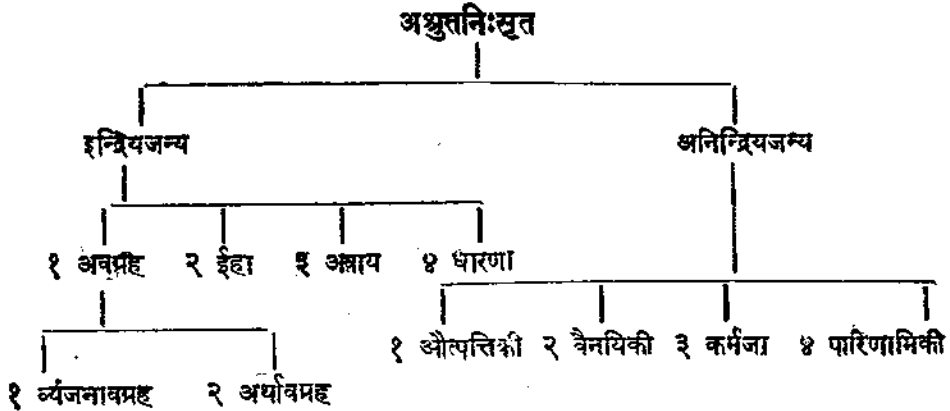
अर्थ होता है सर्व—सकल और नोकेवलका अर्थ होता है असर्व—विकल । अतः एव तार्किकोंके उक्त वर्गीकरणका मूल स्थानांग जितना तो पुराना मानना ही चाहिए ।

यहाँ पर एक बात और भी ध्यान देनेके योग्य है । स्थानांगमें श्रुतनिःसृतके मेदरूपसे व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह ये दो बताये हैं । वस्तुतः वहाँ इसप्रकार कहना प्राप्त था—



किन्तु स्थानांगमें द्वितीय स्थानकका प्रकरण होनेसे दो दो बातें गिनाना चाहिए ऐसा समझकर अवग्रह, ईहा, आदि चार मेदोंको छोड़कर सीधे अवग्रहके दो मेद ही गिनाये गये हैं ।

एक दूसरी बातकी ओर भी ध्यान देना जरूरी है । अश्रुतनिःसृतके मेदरूपसे भी व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रहको गिना है किन्तु वहाँ टीकाकारके मतसे ऐसा चाहिए—



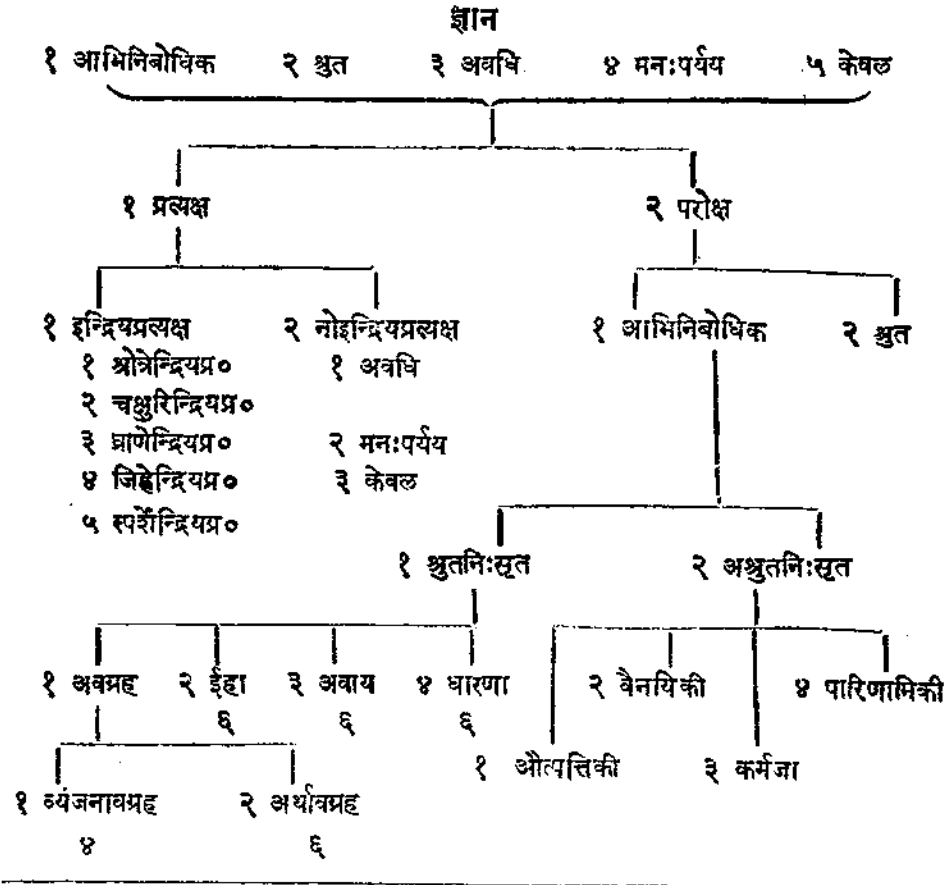
औत्पत्तिकी आदि चार बुद्धियाँ मानस होने से उनमें व्यञ्जनावग्रहका संभव नहीं । अतएव मूलकारका कथन इन्द्रियजन्य अश्रुतनिःसृतकी अपेक्षासे द्वितीयस्थानकके अनुकूल हुआ है ऐसा टीकाकारका स्पष्टीकरण है । किन्तु यहाँ प्रश्न है कि क्या अश्रुतनिःसृतमें औत्पत्तिकी आदिके अतिरिक्त इन्द्रियजन्योंका समावेश साधार है ? और यह भी प्रश्न है कि आश्विनि-बोधिकके श्रुतनिःसृत और अश्रुतनिःसृत ऐसे मेद क्या प्राचीन है ? यानी क्या ऐसा मेद प्रथमभूमिकाके समय होता था ?

नन्दीसूत्र जो कि मात्र ज्ञानकी ही विस्तृत चर्चा करनेके लिये बना है, उसमें श्रुतनिःसृत-मतके ही अवग्रह आदि चार मेद हैं । और अश्रुतनिःसृतके मेदरूपसे चार बुद्धियोंको गिना दिया गया है । उसमें इन्द्रियज अश्रुतनिःसृतको कोई स्थान नहीं है । अतः एव टीकाकारका

स्पष्टीकरण कि अश्रुतनिःसृतके वे दो भेद इन्द्रियज्ञ अश्रुतनिःसृतकी अपेक्षासे समझना चाहिए, नन्दीसूत्रानुकूल नहीं किन्तु कल्पित है । मतिज्ञानके श्रुतनिःसृत और अश्रुतनिःसृत ऐसे दो भेद भी प्राचीन नहीं । दिगम्बरीयवाङ्मयमें मतिके ऐसे दो भेद करनेकी प्रथा नहीं । आवश्यक निर्युक्तिके ज्ञानवर्णनमें भी मतिके उन दोनों भेदोंने स्थान नहीं पाया है ।

आचार्य उमास्वातिने तरवार्यसूत्रमें भी उन दोनों भेदोंका उल्लेख नहीं किया है । यद्यपि स्वयं नन्दीकारने नन्दीमें मतिके श्रुतनिःसृत और अश्रुतनिःसृत ऐसे दो भेद तो किये हैं तथापि मतिज्ञानको पुरानी परंपराके अनुसार अठाईस भेदवाला ही कहा है<sup>१</sup> उससे भी यही सूचित होता है कि औत्पत्तिकी आदि बुद्धिओंको मतिमें समाविष्ट करनेके लिये ही उन्होंने मतिके दो भेद तो किये पर प्राचीन परंपरामें मतिमें उनका स्थान न होनेमें<sup>२</sup> नन्दी कारने उसे २८ भेदभिन्न ही कहा । अन्यथा उन चार बुद्धिओं को मिलाने से तो वह ३२ भेदभिन्न ही हो जाता है ।

( ३ ) तृतीय भूमिका नन्दीसूत्रगत ज्ञानचर्चामें व्यक्त होती है — वह इस प्रकार —



१ “एवं अट्टाधीनसहस्रविहस्र आभिनिबोधिवनाणस” इत्यादि नन्दी० ३५ ।

२ स्थानांगमें ये दो भेद मिलते हैं । किन्तु वह नन्दीप्रभाषित हो तो कोई आश्चर्य नहीं ।

अंकित नक्षत्रोंको देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि सर्वप्रथम इसमें ज्ञानोंको पांच भेदमें विभक्त करके संक्षेपसे उन्हींको प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेदोंमें विभक्त किया गया है। स्थानागते विशेषता यह है कि इसमें इन्द्रियजन्य पांच मतिज्ञानोंका स्थान प्रत्यक्ष और परोक्ष उभयमें है। क्योंकि जैनेतर सभी दर्शनोंने इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको परोक्ष नहीं किन्तु प्रत्यक्ष माना है, उनको प्रत्यक्षमें स्थान देकर उस लौकिक मतका समन्वय करना भी नन्दीकारको अभिप्रेत था। आचार्य जिनभद्रने इस समन्वय को लक्ष्यमें रखकर ही स्पष्टीकरण किया है कि वस्तुतः इन्द्रियज-प्रत्यक्षको सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहना चाहिए। अर्थात् लोकव्यवहारके अनुरोधसे ही इन्द्रियज मतिको प्रत्यक्ष कहा गया है। वस्तुतः वह परोक्ष ही है। क्योंकि प्रत्यक्षकोटिमें परमार्थतः आत्ममात्र सापेक्ष ऐसे अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ही हैं। अतः इस भूमिकामें ज्ञानोंका प्रत्यक्ष-परोक्षत्व व्यवहार इस प्रकार स्थिर हुआ —

१ अवधि, मनःपर्यय और केवल पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।

२ श्रुत परोक्ष ही है।

३ इन्द्रियजन्य मतिज्ञान पारमार्थिक दृष्टिसे परोक्ष है और व्यावहारिक दृष्टिसे प्रत्यक्ष है।

४ मनोजन्य मतिज्ञान परोक्ष ही है।

आचार्य अकलंकने तथा तदनुसारी अन्य जैनाचार्योंने प्रत्यक्षके सांख्यव्यवहारिक और पारमार्थिक ऐसे जो दो भेद किये हैं सो उनकी नई सूझ नहीं है। किन्तु उसका मूल नन्दीसूत्र और उसके जिनभद्रकृत स्पष्टीकरणमें<sup>१</sup> है।

### § ३. ज्ञानचर्चाका प्रमाणचर्चासे स्वातन्त्र्य ।

पंचज्ञानचर्चाके क्रमिक विकास की उक्त तीनों आगमिक भूमिकाकी एक खास विशेषता यह रही है कि इनमें ज्ञानचर्चाके साथ इतर दर्शनोंमें प्रसिद्ध प्रमाणचर्चाका कोई सम्बन्ध या समन्वय स्थापित नहीं किया गया है। इन ज्ञानोंमें ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके भेदके द्वारा जैनागमिकोंने वही प्रयोजन सिद्ध किया है जो दूसरोंने प्रमाण और अप्रमाणके विभागके द्वारा सिद्ध किया है। अर्थात् आगमिकोंने प्रमाण या अप्रमाण ऐसे विशेषण बिना दिये ही प्रथमके तीनोंमें अज्ञान — विपर्यय — मिथ्यात्वकी तथा सम्यक्त्वकी संभावना मानी है और अंतिम दोमें एकान्त सम्यक्त्व ही बतलाया है। इस प्रकार ज्ञानोंको प्रमाण या अप्रमाण न कह करके भी उन विशेषणोंका प्रयोजन तो दूसरी तरहसे निष्पन्न कर ही दिया है।

जैम आगमिक आचार्य प्रमाणाप्रमाणचर्चा, जो दूसरे दार्शनिकोंमें चलती थी, उससे सर्वथा अन्भिन्न तो थे ही नहीं किन्तु वे उस चर्चाको अपनी मौलिक और स्वतन्त्र ऐसी ज्ञानचर्चासे पृथक् ही रखते थे। जब आगमोंमें ज्ञानका वर्णन आता है तब प्रमाणों या अप्रमाणों से उन ज्ञानोंका क्या संबन्ध है उसे बतानेका प्रयत्न नहीं किया है। और जब प्रमाणोंकी चर्चा आती है तब, किसी प्रमाणको ज्ञान कहते हुए भी आगम प्रसिद्ध पांच ज्ञानों का समावेश और समन्वय उस में किस प्रकार है यह भी नहीं बताया है इससे फलित यही होता है कि आगमिकोंने

१ “एगन्तेण परोक्खं किंनियमोहाइयं च पक्खवत्तं ।

इदियमणोभवं अं सं संववहारपक्खत्तं ॥” विशेषा० ९५ ।

जैनशास्त्रप्रसिद्ध ज्ञानचर्चा और दर्शनान्तरप्रसिद्ध प्रमाणचर्चाका समन्वय करनेका प्रयत्न नहीं किया—दोनों चर्चाका पार्थक्य ही रखा । आगेके वक्तव्यसे यह बात स्पष्ट हो जायगी ।

### § ४. जैन आगमोंमें प्रमाणचर्चा ।

#### ( १ ) प्रमाणके भेद ।

जैन आगमोंमें प्रमाणचर्चा ज्ञानचर्चासे स्वतन्त्ररूपसे आती है । प्रायः यह देखा गया है कि आगमोंमें प्रमाणचर्चाके प्रसंगमें नैयायिकादिसंमत चार प्रमाणोंका उल्लेख आता है । कहीं कहीं तीन प्रमाणोंका भी उल्लेख है ।

भगवती सूत्र ( ५.३.१९१-१९२ ) में गौतम गणधर और भगवान् महावीरके संवादमें गौतमने भगवान्से पूछा कि जैसे केवल ज्ञानी अंतकर या अंतिम शरीरीको जानते हैं वैसे ही क्या छद्मस्थ भी जानते हैं ? इसके उत्तरमें भगवान् महावीरने कहा है कि—

“भोयमा णो तिण्ठे समुदे । सोच्चा जाणति पासति पमाणतो वा । से किं तं सोच्चा ? केवलस्स वा केवलिसावयस्स वा केवलिसावियाण वा केवलिउवासगस्स वा केवलिउवासियाण वा ..... से तं सोच्चा । से किं तं पमाणं ? पमाणे चउव्विहे पणत्ते—तं जहा पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मि आगमे जहा अणुओगदारे तहा णेयव्वं पमाणं” भगवतीसूत्र ५.३.१९१, १९२ ।

प्रस्तुतमें स्पष्ट है कि पांच ज्ञानोंके आधार पर उत्तर न देकर मुख्य रूपसे प्रमाणकी दृष्टिसे उत्तर दिया गया है । ‘सोच्चा’ पदसे श्रुतज्ञानको लिया जाय तो विकल्पसे अन्यज्ञानोंको लेकरके उत्तर दिया जा सकता था । किन्तु ऐसा न करके परदर्शनमें प्रसिद्ध प्रमाणोंका आश्रय लेकरके उत्तर दिया गया है । यह सूचित करता है कि जैनतंत्रोंमें प्रसिद्ध प्रमाणोंसे शास्त्रकार अनभिज्ञ नहीं थे । और वे स्वसंमत ज्ञानोंकी तरह प्रमाणोंको भी ज्ञतिमें स्वतन्त्र साधन मानते थे ।

स्थानांगसूत्रमें प्रमाणशब्दके स्थानमें हेतुशब्दका प्रयोग भी मिलता है । ज्ञतिके साधनभूत होनेसे प्रत्यक्षादिको हेतुशब्दसे व्यवहृत करने में औचित्यमंग भी नहीं है ।

“अहवा हेउ चउव्विहे पणत्ते, तंजहा पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मि आगमे ।” स्थानांग-सू० ३३८ ।

चरकमें भी प्रमाणोंका निर्देश हेतु शब्दसे हुआ है—

“अथ हेतुः—हेतुर्नाम उपलब्धिकारणं तत् प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यमौपम्यमिति । पभिर्हेतुभिर्येदुपलभ्यते तत् तत्त्वमिति ।” चरक० विमानस्थान अ० ८ सू० ३३ ।

उपायहृदयमें भी चार प्रमाणोंको हेतु कहा गया है—पृ० १४

स्थानांगमें ऐतिह्यके स्थानमें आगम है किन्तु चरकमें ऐतिह्यको आगम ही कहा है अत एव दोनोंमें कोई अंतर नहीं—“येतिह्यं नामातोपदेशो वेदादिः” वही सू० ४१ ।

अन्यत्र जैननिक्षेप पद्धतिके अनुसार प्रमाणके चार भेद भी दिखाये गये हैं—

“चउव्विहे पमाणे पन्नत्ते तं जहा—द्व्यप्पमाणे खेत्तप्पमाणे कालप्पमाणे भावप्पमाणे” स्थानांग सू० २५८ ।

प्रस्तुत सूत्रमें प्रमाण शब्दका अतिविस्तृत अर्थ लेकर ही उसके चार भेदोंका परिगणन



किया गया है । स्पष्ट है कि इस में दूसरे दार्शनिकोंकी तरह सिर्फ प्रमेयसाधक तीन, चार या छः आदि प्रमाणों का ही समावेश नहीं है किन्तु व्याकरण कोषादिसे सिद्ध प्रमाणशब्दके यावत् अर्थोंका समावेश करनेका प्रयत्न है । स्थानांग मूल सूत्रमें उक्त भेदोंकी परिगणनाके अलावा विशेष कुछ नहीं कहा गया है, किन्तु अन्यत्र उसका विस्तृत वर्णन है, जिसके विषयमें आगे हम कुछ कहेंगे ।

चरकमें बादमार्गपदोंमें एक स्वतंत्र व्यवसायपद है ।

“अथ व्यवसायः—व्यवसायो नाम निश्चयः” विमानस्थान अ० ८ सू० ४७ ।

सिद्धसेननसे लेकर सभी जैनतार्किकोंने प्रमाणको स्वपरव्यवसायि माना है । वार्तिककार-शान्साचार्यने न्यायावतारगत अवभास शब्दका अर्थ करते हुए कहा है कि—

“भवभासो व्यवसायो न तु ग्रहणमात्रकम्” का० ३ ।

अकलंकादि सभी तार्किकोंने प्रमाणलक्षणमें ‘व्यवसाय’पदको स्थान दिया है । और प्रमाणको व्यवसायात्मक माना है । यह कोई आकस्मिक बात नहीं । न्यायसूत्रमें प्रत्यक्षको व्यवसायात्मक कहा है । सांख्यकारिकामें भी प्रत्यक्षको अप्यवसायरूप कहा है । इसी प्रकार जैन आगमोंमें भी प्रमाणको व्यवसाय शब्दसे व्यवहृत करनेकी प्रथाका स्पष्टदर्शन निम्नसूत्रमें होता है । प्रस्तुतमें तीन प्रकारके व्यवसायका जो विधान है वह सांख्यादिसंमत<sup>१</sup> तीन प्रमाण माननेकी परंपरा-मूलक हो तो आश्चर्य नहीं—

“तिविद्मे व्यवसाय पण्णसे तं जहा—पण्णसे पण्णतित्ते आणुगामिए ।” स्थानांग-सू० १८५ ।

प्रस्तुत सूत्रकी व्याख्या करते हुए अभयदेवने लिखा है कि—

“व्यवसायो निश्चयः स च प्रत्यक्षः—अवधिमनःपर्ययकेवलारूपः, प्रत्ययात् इन्द्रिया-निन्द्रियलक्षणात् निमित्ताज्जातः प्रात्ययिकः, साध्यम् आयादिकम् अनुगच्छति—साध्या-भावे न भवति यो भूमादिहेतुः सोऽनुगामी ततो जातम् आनुगामिकम्—अनुमानम्—तद्वृत्तौ व्यवसाय आनुगामिक एवेति । अथवा प्रत्यक्षः स्वयंदर्शनलक्षणः, प्रात्ययिकः—आसवचनप्रभवः, तृतीयस्तथैवेति” ।

स्पष्ट है कि प्रस्तुत सूत्रकी व्याख्यामें अभयदेवने विकल्प किये हैं अत एव उनको एकतर अर्थका निश्चय नहीं था । वस्तुतः प्रत्यक्षशब्दसे सांख्यव्यवहारिक और पारमार्थिक दोनों प्रत्यक्ष, प्रत्ययित शब्दसे अनुमान और आनुगामिक शब्दसे आगम, सूत्रकारको अभिप्रेत माने जायें तो सिद्धसेनसंमत तीन प्रमाणोंका मूल उक्त सूत्रमें मिल जाता है । सिद्धसेनने न्यायपरंपरासंमत चार प्रमाणोंके स्थानमें सांख्यादिसंमत तीन ही प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमको माना है । आचार्य हरिभद्रको भी येही तीन प्रमाण मान्य हैं<sup>२</sup> ।

ऐसा प्रतीत होता है कि चरकसंहितामें कई परंपराएँ मिल गई हैं क्योंकि कहीं तो उसमें चार प्रमाणोंका वर्णन है और कहीं तीनका तथा विकल्पसे दोका भी स्वीकार पाया जाता है । ऐसा

१ देवो दिप्पण ५० १४८-१५१ । २ चरक विमानस्थान अध्याय ४ । अ० ८. सू० ८४ ।

३ अनेकास्तज० टी० ५० १४२, अनेकास्तज० ५० २१५ ।

होनेका कारण यह है कि चरकसंहिता किसी एक व्यक्तिकी रचना न होकर कालक्रमसे संशोधन और परिवर्धन होते होते वर्तमानरूप बना है । यह बात-निम्न कोष्ठकसे स्पष्ट हो जाती है —

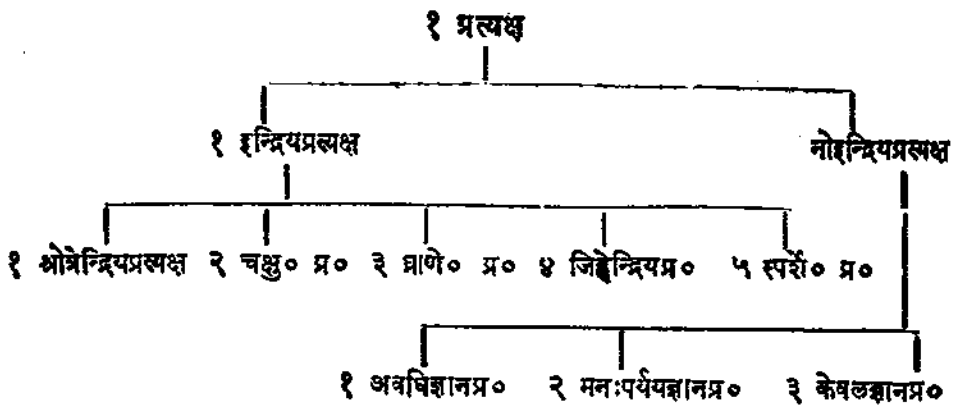
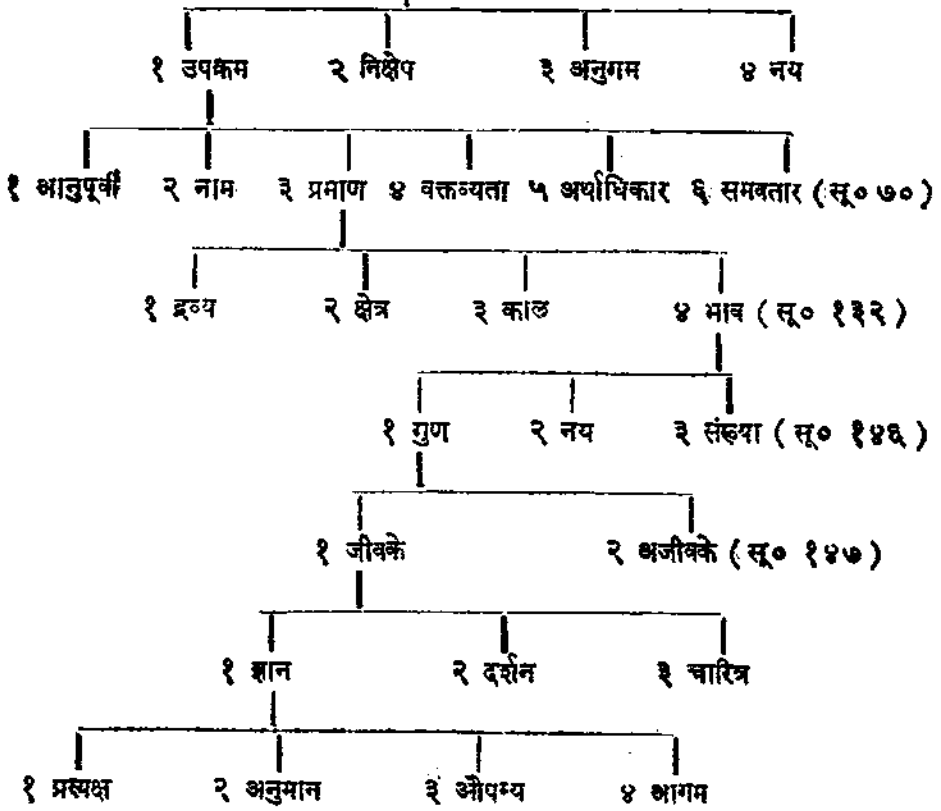
| सूत्रस्थान अ० ११. | आप्तोपदेश          | प्रत्यक्ष | अनुमान | युक्ति |
|-------------------|--------------------|-----------|--------|--------|
| विमानस्थान अ० ४   | ”                  | ”         | ”      | ×      |
| ” ” अ० ८          | ऐतिह्य (आप्तोपदेश) | ”         | ”      | औपम्य  |
| ” ” ”             | ×                  | ”         | ”      | ×      |
| ” ” ”             | उपदेश              | ”         | ”      | ×      |

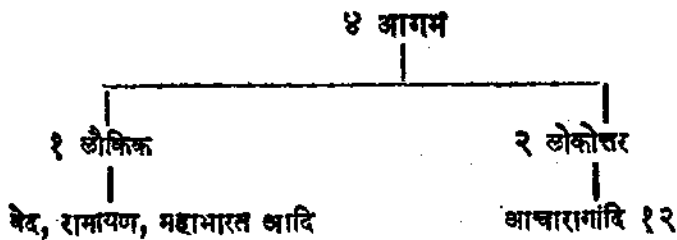
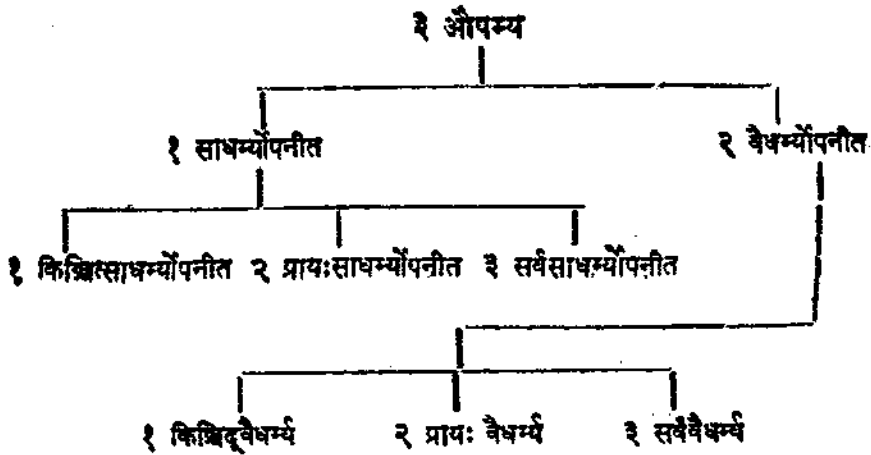
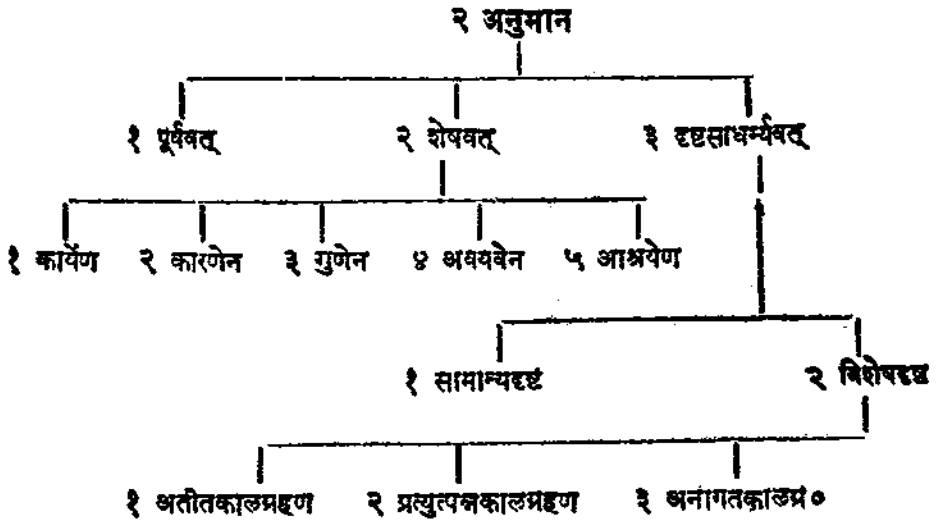
यही दशा जैनआगमोंकी है । उसमें भी चार और तीन प्रमाणोंकी परंपराओंने स्थान पाया है । स्थानांगके उक्त सूत्रसे भी पंच ज्ञानोंसे प्रमाणोंका पार्यव्य सिद्ध होता ही है । क्योंकि व्यवसायको पंच ज्ञानोंसे संबद्ध न कर प्रमाणोंसे संबद्ध किया है ।

फिर भी आगममें ज्ञान और प्रमाणका समन्वय सर्वथा नहीं हुआ है यह नहीं कहा जा सकता । उक्त तीन प्राचीन भूमिकाओंमें असमन्वय होसे हुए भी अनुयोगद्वारासे यह स्पष्ट है कि बादमें जैनाचार्योंने ज्ञान और प्रमाणका समन्वय करनेका प्रयत्न किया है । किन्तु यह भी ध्यानमें रहे कि पंच ज्ञानोंका समन्वय स्पष्टरूपसे नहीं है, पर अस्पष्ट रूपसे है । इस समन्वयके प्रयत्नका प्रथम दर्शन अनुयोगमें होता है । न्यायदर्शनप्रसिद्ध चार प्रमाणोंका ज्ञानमें समावेश करनेका प्रयत्न अनुयोगमें है ही । किन्तु वह प्रयत्न जैन दृष्टिको पूर्णतया लक्ष्यमें रख कर नहीं हुआ है अतः बादके आचार्योंने इस प्रश्नको फिरसे सुलझानेका प्रयत्न किया और वह इस लिये सफल हुआ कि उसमें जैन आगमके मौलिक पंचज्ञानोंको आधारभूत मान कर ही जैन दृष्टिसे प्रमाणोंका विचार किया गया है ।

स्थानांगसूत्रमें प्रमाणोंके द्रव्यादि चार भेद जो किये गये हैं उनका निर्देश पूर्वमें हो चुका है । जैनव्याख्यापद्धतिका विस्तारसे वर्णन करनेवाला ग्रन्थ अनुयोगद्वारा सूत्र है । उसको देखनेसे पता चलता है कि प्रमाणके द्रव्यादि चार भेद करके की प्रथा, जैनोंकी व्याख्यापद्धतिमूलक है । शब्दके व्याकरण-कोषादिप्रसिद्ध सभी संभवित अर्थोंका समावेश करके, व्यापक अर्थमें अनुयोगद्वाराके रचयिताने प्रमाणशब्द प्रयुक्त किया है यह निम्न नकशेसे सूचित हो जाता है—

## अनुयोगद्वार (सू० ५९)





अनुयोगद्वारके प्रारंभमें ही ज्ञानोंके पांच भेद बताये हैं - १ अभिनिबोधिक, २ श्रुत, ३ अवधि, ४ मनःपर्यय और ५ केवल । ज्ञानप्रमाणके विवेचनके प्रसंगमें प्राप्त तो यह था कि अनुयोगद्वारके संकलनकर्ता उन्हीं पांच ज्ञानोंको ज्ञानप्रमाणके भेदरूपसे बता देते । किन्तु ऐसा न करके उन्होंने नैयायिकोंमें प्रसिद्ध चार प्रमाणोंको ही ज्ञानप्रमाणके भेदरूपसे जता दिया है ।

ऐसा करके उन्होंने सूचित किया है कि दूसरे दार्शनिक जिन प्रत्यक्षादि चार प्रमाणोंको मानते हैं वस्तुतः वे ज्ञानात्मक हैं और गुण है—आत्माके गुण हैं ।

इस समन्वयसे यह भी फलित हो जाता है कि अज्ञानात्मक सन्निकर्ष इन्द्रिय आदि पदार्थ प्रमाण नहीं हो सकते । अत एव हम देखते हैं कि सिद्धसेनसे लेकर प्रमाणविवेचक सभी जैनदार्शनिकोंने प्रमाणके लक्षणमें ज्ञानपदको अवश्य स्थान दिया है । इतना होते हुए भी जैन संमत पांच ज्ञानोंमें चार प्रमाणका स्पष्ट समन्वय करनेका प्रयत्न अनुयोगद्वारेके कर्ताने नहीं किया है । अर्थात् यहाँ भी प्रमाणचर्चा और पंचज्ञानचर्चाका पार्थक्य सिद्ध ही है । शास्त्रकारने यदि प्रमाणोंको पंचज्ञानोंमें समन्वित करनेका प्रयत्न किया होता तो उनके मतसे अनुमान और उपमान प्रमाण किस ज्ञानमें समाविष्ट है यह अस्पष्ट नहीं रहता । यह बात नीचे के समीकरणसे स्पष्ट होती है—

| ज्ञान              | प्रमाण    |
|--------------------|-----------|
| १ (अ) इन्द्रियजमति | प्रत्यक्ष |
| (ब) मनोजन्यमति     | •         |
| २ श्रुत            | आगम       |
| ३ अवधि             | प्रत्यक्ष |
| ४ मनःपर्यय         |           |
| ५ केवल             |           |
| •                  | अनुमान    |
| •                  | उपमान     |

इससे साफ है कि ज्ञानपक्षमें मनोजन्य मतिको कौनसा प्रमाण कहा जाय तथा प्रमाणपक्षमें अनुमान और उपमानको कौनसा ज्ञान कहा जाय—यह बात अनुयोगद्वारमें अस्पष्ट है । वस्तुतः देखें तो जैन ज्ञानप्रक्रियाके अनुसार मनोजन्यमति जो कि परोक्ष ज्ञान है वह अनुयोगके प्रमाण वर्णनमें कहीं समावेश नहीं पाता ।

न्यायादिशास्त्रके अनुसार मानस ज्ञान दो प्रकारका है प्रत्यक्ष और परोक्ष । सुख-दुःखादिको विषय करनेवाला मानस ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है और अनुमान उपमान आदि मानसज्ञान परोक्ष कहलाता है । अत एव मनोजन्य मति जो कि जैनोंके मतसे परोक्षज्ञान है उसमें अनुमान और उपमानको अन्तर्भूत करदिया जाय तो उचित ही है । इस प्रकार पंचज्ञानोंका चार प्रमाणोंमें समन्वय घट जाता है । यदि यह अभिप्राय शास्त्रकारका भी है तो कहना होगा कि परप्रसिद्ध चार प्रमाणोंका पंचज्ञानोंके साथ समन्वय करनेकी अस्पष्ट सूचना अनुयोगद्वारसे मिलती है । किन्तु जैनदृष्टिसे प्रमाण विभाग और उसका पंचज्ञानोंमें स्पष्ट समन्वय करनेका श्रेय तो उमा-स्वामीको ही है ।

इतनी चर्चासे यह स्पष्ट है कि जैनशास्त्रकारोंने आगमकालमें जैनदृष्टिसे प्रमाणविभागके विषयमें खतम विचार नहीं किया है किन्तु उस कालमें प्रसिद्ध अन्य दार्शनिकोंके विचारोंका संग्रह-मात्र किया है ।

प्रमाणभेदके विषयमें प्राचीन कालमें अनेक परंपराएँ प्रसिद्ध रहीं । उनमेंसे चार और तीन भेदोंका निर्देश आगममें मिलता है जो पूर्वोक्त विवरणसे स्पष्ट है । ऐसा होनेका कारण यह है कि प्रमाणचर्चामें निष्णात ऐसे प्राचीन नैयायिकोंने प्रमाणके चार भेद ही माने हैं । उन्हींका अनुकरण चरक और प्राचीन बौद्धोंने भी किया है । और इसीका अनुकरण जैनागमोंमें भी हुआ है । प्रमाणके तीन भेद माननेकी परंपरा भी प्राचीन है । उसका अनुसरण सांख्य, चरक, और बौद्धोंमें हुआ है । यही परंपरा स्थानागके पूर्वोक्त सूत्रमें भी सुरक्षित है । योगाचार बौद्धोंने तो दिग्भागके सुधारको अर्थात् प्रमाणके दो भेदकी परंपराको भी नहीं माना है और दिग्भागके बाद भी अपनी तीनप्रमाणकी परंपराको ही मान्य रखा है जो स्थिरमतिकी मध्यान्तविभागकी टीकासे स्पष्ट होता है । नीचे दिया हुआ तुलनात्मक नकशा<sup>१</sup> उपर्युक्त वाचनका साक्षी है—

| अनुयोगद्वार            | १ प्रत्यक्ष | २ अनुमान | ३ उपमान | ४ आगम |
|------------------------|-------------|----------|---------|-------|
| भगवती                  |             |          |         |       |
| स्थानाग                |             |          |         |       |
| चरकसंहिता              | "           | "        | "       | "     |
| न्यायसूत्र             | "           | "        | "       | "     |
| विग्रहव्यावर्तनी       | "           | "        | "       | "     |
| उपायहृदय               | "           | "        | "       | "     |
| सांख्यकारिका           | "           | "        | ×       | "     |
| योगाचारभूमिसाल         | "           | "        | ×       | "     |
| अभिधर्मसंगितिशास्त्र   | "           | "        | ×       | "     |
| विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि | "           | "        | ×       | "     |
| मध्यान्तविभागवृत्ति    | "           | "        | ×       | "     |
| वैशेषिकसूत्र           | "           | "        | ×       | ×     |
| प्रशस्तपाद             | "           | "        | ×       | ×     |
| दिग्भाग                | "           | "        | ×       | ×     |
| धर्मकीर्ति             | "           | "        | ×       | ×     |

## (२) प्रत्यक्षप्रमाणचर्चा ।

हम पहले कह आये हैं कि अनुयोगद्वारमें प्रमाण शब्दको उसके विस्तृत अर्थमें लेकर प्रमाणोंका भेदवर्णन किया गया है । किन्तु ज्ञप्ति साधन जो प्रमाण ज्ञान अनुयोगद्वारको अमीष्ट है उसीका विशेष विवरण करना प्रस्तुतमें इष्ट है । अत एव अनुयोगद्वार संमत चार प्रमाणोंका क्रमशः वर्णन किया जाता है—

नकशेसे स्पष्ट है कि अनुयोगद्वारके मतसे प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण के दो भेद हैं—

( अ ) इन्द्रियप्रत्यक्ष

( आ ) नोइन्द्रियप्रत्यक्ष

(अ) इन्द्रियप्रत्यक्ष में अनुयोगद्वारेण १ श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्ष, २ चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्ष ३ घ्राणेन्द्रियप्रत्यक्ष, ४ जिह्वेन्द्रियप्रत्यक्ष, और ५ स्पर्शेन्द्रियप्रत्यक्ष—इन पांच प्रकारके प्रत्यक्षोंका समावेश किया है ।

(आ) नोइन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण में जैनशास्त्र प्रसिद्ध तीन प्रत्यक्ष ज्ञानोंका समावेश है— १ अवधिज्ञान प्रत्यक्ष, २ मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष और ३ केवलज्ञान प्रत्यक्ष । प्रस्तुत में 'नो'का अर्थ है इन्द्रियका अभाव । अर्थात् ये तीनों ज्ञान इन्द्रिय जन्य नहीं है । ये ज्ञान सिर्फ आत्म-सापेक्ष हैं ।

जैनपरंपराके अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको परोक्षज्ञान कहा जाता है किन्तु प्रस्तुत प्रमाण चर्चा परसमत प्रमाणोंके ही आधारसे है अत एव यहाँ उसीके अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है । नन्दीसूत्रमें जो इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है वह भी पर-सिद्धान्तका अनुसरण करके ही ।

वैशेषिकसूत्रमें लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकारके प्रत्यक्षकी व्याख्या दी गई है<sup>१</sup> । किन्तु न्यायसूत्र<sup>२</sup>, और मीमांसादर्शनमें<sup>३</sup> लौकिक प्रत्यक्षकी ही व्याख्या दी गई है । लौकिक प्रत्यक्षकी व्याख्यामें, दार्शनिकोंने प्रधानतया बहिरिन्द्रियजन्य ज्ञानोंको लक्ष्यमें रखा हो ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र और मीमांसादर्शनकी लौकिक प्रत्यक्षकी व्याख्यामें सर्वत्र इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है ।

मन इन्द्रिय है या नहीं इस विषयमें न्यायसूत्र और वैशेषिकसूत्र विधिरूपसे कुछ नहीं बताते । प्रस्तुत न्यायसूत्रमें प्रमेय निरूपणमें मनको इन्द्रियोंसे पृथक् गिनाया है ( १.१.९ ) और इन्द्रिय-निरूपणमें ( १.१.१२ ) पांच बहिरिन्द्रियोंका ही परिगणन किया गया है । इस लिये सामान्यतः कोई यह कह सकता है कि न्यायसूत्रकारको मन इन्द्रियरूपसे इष्ट नहीं था किन्तु इसका प्रतिवाद करके वात्स्यायनने कह दिया है कि मन भी इन्द्रिय है । मनको इन्द्रियसे पृथक् बतानेका तात्पर्य यह है कि वह अन्य इन्द्रियोंसे विलक्षण है ( न्यायभा० १.१.४ ) । वात्स्यायनके ऐसे स्पष्टीकरणके होते हुए भी तथा सांख्यकारिकामें ( का० २७ ) स्पष्टरूपसे इन्द्रियोंमें मनका अन्तर्भाव होनेपर भी माठरने प्रत्यक्षको पांच प्रकार का बताया है, उससे फलित यह होता है कि लौकिक प्रत्यक्षमें स्पष्टरूपसे मनोजन्यज्ञान समाविष्ट नहीं था । इसी बातका समर्थन नन्दी और अनुयोगद्वारेण भी होता है क्योंकि उनमें भी लौकिक प्रत्यक्षमें पांच इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको ही स्थान दिया है । किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि प्राचीन दार्शनिकोंने मानस ज्ञानका विचार ही नहीं किया हो । प्राचीन कालके ग्रन्थोंमें लौकिक प्रत्यक्षमें मानस प्रत्यक्षको भी स्वतन्त्रस्थान मिला है । इससे पता चलता है कि वे मानस प्रत्यक्षसे सर्वथा अनभिज्ञ नहीं थे । चरकमें प्रत्यक्षको इन्द्रियज और मानस ऐसे दो भेदोंमें विभक्त किया है<sup>४</sup> । इसी परंपराका अनुसरण करके बौद्ध मैत्रेयनाथने श्री योगाचारभूमिशास्त्रमें प्रत्यक्षके चार भेदोंमें मानसप्रत्यक्षको स्वतन्त्र स्थान दिया है<sup>५</sup> । यही कारण है कि आगमोंमें सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्षमें मानसका स्थान न होनेपर भी आचार्य अकलंकने उसे सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूपसे गिनाया है<sup>६</sup> ।

१ वैशे० १.१.१८, १.१.११-१५ । २ १.१.४ । ३ १.१.४ । ४ विमानस्थान अ० ४ सू० ५ । अ० ८ सू० १९ । ५ J. R. A. S. 1929 p. 465-466. ६ वैशे० विष्णु ४० २४३ ।

( ३ ) अनुमानचर्चा ।

( अ ) अनुमानके भेद - अनुयोगद्वारा सूत्रमें तीन भेद किये गये हैं -

( १ ) पूर्ववत्

( २ ) शेषवत्

( ३ ) दृष्टसाधर्म्यवत्

प्राचीन चरक, न्याय, बौद्ध ( उपायहृदय पृ० १३ ) और सांख्यने भी अनुमानके तीन भेद तो बताये हैं<sup>१</sup> । उनमें प्रथमके दो तो वही हैं जो अनुयोगमें हैं । किन्तु अन्तिम भेदका नाम अनुयोग की तरह दृष्टसाधर्म्यवत् न न होकर सामान्यतोदृष्ट है ।

प्रस्तुतमें यह बता देना आवश्यक है कि अनुयोगमें अनुमानके स्वार्थ और परार्थ ऐसे दो भेद नहीं किये गये । अनुमानको इन दो भेदोंमें विभक्त करनेकी परंपरा बादकी है । न्यायसूत्र और उसके भाष्य तक यह स्वार्थ और परार्थ ऐसे भेद करनेकी परंपरा देखी नहीं जाती । बौद्धोंमें दिग्भागे पहले के मैत्रेय, असंग और वसुबन्धुके ग्रन्थोंमें भी वह नहीं देखी जाती । सर्व प्रथम बौद्धोंमें दिग्भागे प्रमाणसमुच्चयमें और वैदिकोंमें प्रशस्तपादके भाष्यमें ही स्वार्थ-परार्थ भेद देखे जाते हैं<sup>२</sup> । जैनदार्शनिकोंने अनुयोगद्वारास्वीकृत उक्त तीन भेदोंको स्थान नहीं दिया है किन्तु स्वार्थपरार्थरूप भेदोंको ही अपने ग्रन्थोंमें लिया है इतना ही नहीं बल्कि तीन भेदोंकी परंपराका कुछने खण्डन भी किया है ।<sup>३</sup>

( आ ) पूर्ववत्

पूर्ववत् की व्याख्या करते हुए अनुयोगमें कहा है कि -

“माया पुस्तं जहा नट्टं शुवाणं पुणरागयं ।

कार्त्तं पञ्चभिजाणेजा पुट्ठलिङ्गेण केणई ॥

तं जहा - खत्तेण वा घण्णेण वा लंछणेणवा मत्सेण वा तिलपण वा”

तार्पर्य यह है कि पूर्वपरिवित किसी लिङ्गके द्वारा पूर्वपरिवित वस्तुका प्रत्यभिज्ञान करना पूर्ववत् अनुमान है ।

उपायहृदय नामक बौद्धग्रन्थमें भी पूर्ववत् का वैसा ही उदाहरण है -

“यथा पङ्कजलिं सपिडकमूर्धानं बालं दृष्ट्वा पञ्चाह्वयं बहुभुतं देवदत्तं दृष्ट्वा पङ्कजलि-  
स्तरणात् सोपमिति पूर्ववत्” पृ० १३ ।

उपायहृदयके बादके ग्रन्थोंमें पूर्ववत् के अन्य दो प्रकारके उदाहरण मिलते हैं । उक्त उदा-  
हरण छोड़नेका कारण यही है उक्त उदाहरणसूचित ज्ञान वस्तुतः प्रत्यभिज्ञान है । अतः एवं  
प्रत्यभिज्ञान और अनुमानके विषयमें जबसे दार्शनिकोंने भेद करना शुरू किया तबसे पूर्ववत्का

१ विशेषके लिये देखो प्रो० ध्रुवका ‘त्रिविधमनुमानम्’ ओरिएण्टल कॉलेजके प्रथम अधिवेशनमें पढ़ा गया व्याख्यान । २ चरक सूत्रस्थानमें अनुमानका तीन प्रकार है ऐसा कहा है किन्तु नाम नहीं दिये - देखो सूत्रस्थान अध्याय ११. श्लो० २१, २२; न्यायसूत्र १.१.५ । मूल सांख्यकारिकामें नाम नहीं है सिर्फ तीन प्रकारका उल्लेख है का० ५ । किन्तु माठरने तीनोंके नाम दिये हैं । तीसरा नाम मूलकारको सामान्यतो दृष्ट ही दृष्ट है - का० ६ । ३ प्रमाणसमु० २.१ । प्रशस्त० पृ० ५६३, ५७७ । ४ न्यायवि० ३४१, ३४२ । तत्पर्यलो० पृ० २०५ । स्वाध्याकर० पृ० ५२७ ।



उदाहरण बदलना आवश्यक हो गया । इससे यह भी कहा जा सकता है कि अनुयोगमें जो विवेचन है वह प्राचीन परंपरासूत्री है ।

कुछ दार्शनिकोंने कारणसे कार्यके अनुमानको और कुछने कार्यसे कारणके अनुमानको पूर्ववत् माना है ऐसा उनके दिये हुए उदाहरणोंसे प्रतीत होता है —

मेघोन्नतिसे वृष्टिका अनुमान करना यह कारणसे कार्यका अनुमान है इसे पूर्ववत् का उदाहरण माननेवाले माठर, वात्स्यायन और गौडपाद हैं ।

अनुयोगद्वारेके मतसे कारणसे कार्यका अनुमान शेषवदनुमानका एक प्रकार है । किन्तु प्रस्तुत उदाहरणका समावेश शेषवदके 'आश्रयेण' भेदके अन्तर्गत है ।

वात्स्यायनने मतान्तरसे धूमसे बहिके अनुमानको भी पूर्ववत् कहा है । यही मत चरक<sup>१</sup> और मूळमाध्यमिककारिकाके टीकाकार पिङ्गल (?) को भी मान्य था । शबर<sup>२</sup> भी वही उदाहरण लिता है ।

माठर भी कार्यसे कारणके अनुमानको पूर्ववत् मानता है किन्तु उसका उदाहरण दूसरा है — बघा, नदीपूरसे वृष्टिका अनुमान ।

अनुयोगके मतसे धूमसे बहिका ज्ञान शेषवदनुमानके पाँचवें भेद 'आश्रयेण' के अन्तर्गत है ।

माठरनिर्दिष्ट नदीपूरसे वृष्टिके अनुमानको अनुयोगमें अतीतकालप्रवृत्त कहा है । और वात्स्यायनने कार्यसे कारणके अनुमानको शेषवद कह कर माठरनिर्दिष्ट उदाहरणको शेषवत् बता दिया है ।

पूर्वका अर्थ होता है कारण । किसीने कारणको साधन मानकर, किसीने कारणको साध्य मानकर और किसीने दोनों मानकर पूर्ववत्की व्याख्या की है अत एव पूर्वोक्त मतवैविध्य उपलब्ध होता है । किन्तु प्राचीनकालमें पूर्ववत्से प्रत्यभिज्ञा ही समझी जाती थी ऐसा अनुयोग और उपायद्वयसे स्पष्ट है ।

न्यायसूत्रकारको 'पूर्ववत्' अनुमानका कैसा लक्षण इष्ट था उसका पता लगाना भी आवश्यक है । प्रो० ध्रुवका अनुमान है कि न्यायसूत्रकारने पूर्ववत् आदि शब्द प्राचीन मीमांसकोंसे लिया है और उस परंपराके आधारपर यह कहा जा सकता है कि पूर्वका अर्थ कारण और शेषका अर्थ कार्य है । अत एव न्यायसूत्रकारके मतमें पूर्ववत् अनुमान कारणसे कार्यका और शेषवत् अनुमान कार्यसे कारणका है<sup>३</sup> । किन्तु न्यायसूत्रकी अनुमान परीक्षाके ( २.१.३७ ) आधारपर प्रो० ज्वालाप्रसादने<sup>४</sup> पूर्ववत् और शेषवत् का जो अर्थ स्पष्ट किया है वह प्रो० ध्रुवसे ठीक उलटा है । अर्थात् पूर्व — कारणका कार्यसे अनुमान करना पूर्ववत् है और कार्यका या उत्तरकालीनका कारणसे अनुमान करना शेषवदनुमान है । वैशेषिकसूत्रमें कार्य हेतुको प्रथम और कारण हेतुको द्वितीयस्थान प्राप्त है ( ९.२.१ ) । उससे भी पूर्ववत् और शेषवत् के उक्त अर्थकी पुष्टि होती है ।

१ सूत्रस्थान अ० ११ श्लो० २१ । २ Pre-Diñnāga Buddhist Text, Intro. P. XVII. ३ १.१.५ । ४ पूर्वोक्त व्याख्यान पृ० २६२-२६३ । ५ Indian Epistemology p. 171.

## (इ) शेषवत् ।

अनुयोगद्वारका पूर्वचित्रित नकशा देखनेसे स्पष्ट होता है कि शेषवत् अनुमानमें पांच प्रकारके हेतुओंको अनुमापक बताया गया है । यथा —

“से किं तं सेसवं ? सेसवं पंचविहं पण्णसं तं जहा कज्जेणं कारणेणं गुणेणं अवयवेणं भासयणं ।”

१ कार्येण — कार्यसे कारणका अनुमान करना । यथा शब्दसे शंखका, ताडनसे भेरीका-  
ढकितसे वृषभका, केकायितसे मयूरका, हणहणाटसे ( हेवित ) अश्वका, गुलगुलायितसे गजका  
और घणघणायितसे रथका ।<sup>१</sup>

२ कारणेण — कारणसे कार्यका अनुमान करना । इसके उदाहरण में अनुमान प्रयोगको तो नहीं बताया किन्तु कहा है कि ‘तन्तु पटका कारण है, पट तन्तुका कारण नहीं, वीरणा कटका कारण है, कट वीरणाका कारण नहीं, मृत्पिण्ड घटका कारण है, घट मृत्पिण्डका कारण नहीं । इस प्रकार कह करके शास्त्रकारने कार्यकारणभावकी व्यवस्था दिखा दी है । उसके आधारपर जो कारण है उसे हेतु बनाकर कार्यका अनुमान कर लेना चाहिए ऐसा सूचित किया है ।

३ गुणेण — गुणसे गुणीका अनुमान करना यथा, निकषसे सुवर्णका, गन्धसे पुष्पका, रससे लवणका, आस्वादसे मदिराका, स्पर्शसे वस्त्रका ।

४ अवयवेण — अवयवसे अवयवीका अनुमान करना । यथा, सींगसे महिषका, शिखासे कुक्कुटका, दांतसे हस्तिका, दाढासे वराहका, पिच्छसे मयूरका, खुरासे अश्वका, नखसे व्याघ्रका, बालाग्रसे चमरी गायका, लांगूलसे बन्दरका, दो पैरसे मनुष्यका, चार पैरसे गो आदिका, बहु पैरसे गोजर आदिका, केसरसे सिंहका, ककुभसे वृषभका, चूडीसहित बाहुसे महिलाका; बद्ध परिकरतासे योद्धाका, वस्त्रसे महिलाका, धान्यके एक कणसे द्रोणपाकका और एक गायसे कविका ।

५ आश्रयेण — ( आश्रितेन ) आश्रित वस्तुसे अनुमान करना, यथा धूससे अग्निका, बलाकासे पानीका, अभ्रविकारसे वृष्टिका और शील समाचारसे कुलपुत्रका अनुमान होता है<sup>२</sup> ।

१ “संखं सहेणं, मेरिं ताडिणं, वसमं ढक्किणं, मोरं किंकाइणं, हयं हेसिणं, गयं गुलगुलाइणं, रहं घणघणाइणं ।”

२ “तंतयो पडस्स कारणं ण पडो तंतुकारणं, वीरणा कडस्स कारणं ण कडो वीरणा-  
कारणं, मिप्पिडो घडस्स कारणं ण घडो मिप्पिडकारणं ।”

३ “सुवणं निकसेणं, पुष्पं गंधेणं, लवणं रसेणं, महरं आसायणं, वरधं फासेणं ।”

४ “महिसं सिंहेणं, कुक्कुडं सिंहाणं, हत्थिं विसाणेणं, वराहं दाढाय, मोरं पिच्छेणं, आसं खुरेणं, चयं नहेणं, चमरिं बालगेणं, धाणरं लंशुलेणं, कुपयं मणुस्सादि, चउपयं गवमादि, बहुपयं गोमिआदि, सीहं केसरेणं, वसहं कुक्कुहेणं, महिलं बलयबाहाय, गाहा-प-  
रिअरवंधेण भजं जाणिआ महिलिअं निवसणेणं । सित्थेण दोणपागं, कविं च एकआय गाहाय ॥”

५ “अग्निं धूमेणं, सलिलं बलागेणं बुद्धिं अभ्रविकारेणं, कुलपुत्तं सीलसमायारेणं ।”

न्या० प्रस्तावना १०

अनुयोगद्वारके शेषवत्के पांच भेदोंके साथ अन्य दार्शनिककृत अनुमानभेदोंकी तुलनाके लिये नीचे नकशा दिया जाता है—

| वैशेषिक  | अनुयोगद्वार       | योगाचारभूमिशिख'                | धर्मकीर्ति              |
|----------|-------------------|--------------------------------|-------------------------|
| १ कार्य  | १ कार्य           | } १ कार्य-कारण                 | १ कार्य                 |
| २ कारण   | २ कारण            |                                |                         |
| ३ संयोगी | ३ आश्रित          |                                |                         |
| ४ समवायी | { ४ गुण<br>५ अवयव | { २ कर्म<br>३ धर्म<br>४ स्वभाव |                         |
| ५ विरोधी |                   |                                | २ स्वभाव<br>३ अनुपलब्धि |

५ निमित्त

उपायहृदयमें शेषवत् का उदाहरण दिया गया है कि—

“शेषवद् यथा, सागरसलिलं पीत्वा तल्लवणरसमनुभूय शेषमपि सलिलं तुल्यमेव लवणमिति—” पृ० १३ ।

अर्थात् अवयवके ज्ञानसे संपूर्ण अवयवीका ज्ञान शेषवत् है ऐसा उपायहृदयका मत है ।

माठर और गौडपाद का भी यही मत है । उनका उदाहरण भी वही है जो उपायहृदयमें है ।

Tsing-mu (पिङ्गल) का भी शेषवत् के विषयमें यही मत है । किन्तु उसका उदाहरण उसी प्रकारका दूसरा है कि एक चावलके दानेको पके देखकर समीको पका समझना ।

अनुयोगद्वारके शेषवत्के पांच भेदोंमें से चतुर्थ ‘अवयवेन’ के अनेक उदाहरणोंमें उपायहृद-यनिर्दिष्ट उदाहरणका स्थान नहीं है किन्तु पिङ्गलसंमत उदाहरणका स्थान है ।

न्यायभाष्यकारने कार्यसे कारणके अनुमानको शेषवत् कहा है और उसके उदाहरणरूपसे नदीपूरेसे बृष्टिके अनुमानको बताया है । माठरके मतसे तो यह पूर्ववत् अनुमान है । अनुयोगद्वारने ‘कार्येण’ ऐसा एक भेद शेषवत् का माना है पर उसके उदाहरण भिन्न ही हैं ।

मतान्तरसे न्यायभाष्यमें परिशेषानुमानको शेषवत् कहा है । ऐसा माठर आदि अन्य किसीने नहीं कहा । स्पष्ट है कि यह कोई भिन्न परंपरा है । अनुयोगने शेषवत् के जो पांच भेद बताये हैं उनका मूल क्या है सो कहा नहीं जा सकता ।

(ई) दृष्टसाधर्म्यवत् ।

दृष्टसाधर्म्यवत् के दो भेद किये गये हैं—१ सामान्यदृष्ट और २ विशेषदृष्ट । किसी एक वस्तुको देखकर तत्सजातीय सभी वस्तुका साधर्म्यज्ञान करना या बहुवस्तुको देखकर किसी विशेषमें तत्साधर्म्यका ज्ञान करना यह सामान्यदृष्ट है ऐसी सामान्यदृष्टकी व्याख्या शास्त्रकारको अभिप्रेत जान पड़ती है । शास्त्रकारने इसके उदाहरण ये दिये हैं—जैसा एक पुरुष है अनेक पुरुष भी वैसे ही हैं, जैसे अनेक पुरुष हैं वैसा ही एक पुरुष है । जैसा एक कार्षापण है अनेक कार्षापण भी वैसे ही हैं, जैसे अनेक कार्षापण हैं एक भी वैसा ही है ।

१ वैशेष० १.२.१ । २ J. R. A. S. 1929, P. 474. ३ Pre-Dig. Intro. XVIII.

४ “ते किं तं सामण्यदिष्टं? जहा एगो पुरिसो तहा बहव्वे पुरिसा जहा बहव्वे पुरिसा तहा एगो पुरिसो । जहा एगो करिसावणो तहा बहव्वे करिसावणा, जहा बहव्वे करिसावणा तहा एगो करिसावणो ।”

विशेषदृष्ट दृष्टसाधर्म्यवत् वह है जो अनेक वस्तुओंमें से किसी एक को पृथक् करके उसके वैशिष्ट्य का प्रत्यभिज्ञान करता है । शास्त्रकारने इस अनुमानको भी पुरुष और कार्षापणके दृष्टान्तसे स्पष्ट किया है—यथा, कोई एक पुरुष बहुतेसे पुरुषोंके बीचमेंसे पूर्वदृष्ट पुरुषका प्रत्यभिज्ञान करता है कि यह वही पुरुष है; या इसी प्रकार कार्षापण का प्रत्यभिज्ञान करता है, तब उसका वह ज्ञान विशेषदृष्ट साधर्म्यवत् अनुमान है<sup>१</sup> ।

अनुयोगद्वारमें दृष्टसाधर्म्यवत् के जो दो भेद किये गये हैं उनमें प्रथम तो उपमानसे और दूसरा प्रत्यभिज्ञानसे भिन्न प्रतीत नहीं होता । माठर आदि अन्य दार्शनिकोंने सामान्यतोदृष्टके जो उदाहरण दिये हैं उनसे अनुयोगद्वाराका पार्थक्य स्पष्ट है ।

उपायद्वयमें सूर्य-चन्द्र की गतिका ज्ञान उदाहरण है । यही उदाहरण गौडपादमें, शबरमें, न्यायभाष्यमें और पिंगलमें है ।

सामान्यतोदृष्टका एक ऐसा भी उदाहरण मिलता है—यथा, इच्छादिसे आत्माका अनुमान करना । उसका निर्देश न्यायभाष्य और पिंगलमें है ।

अनुयोग, माठर और गौडपादने सिद्धान्ततः सामान्यतोदृष्टका लक्षण एक ही प्रकारका माना है भले ही उदाहरण भेद हो । माठर और गौडपादने उदाहरण दिया है कि “पुष्पिताम्न-दर्शनात्, अन्यत्र पुष्पिता आम्ना इति ।” यही भाव अनुयोगका भी है जब कि शास्त्रकारने कहा कि “जहा एगो पुरिसो तहा यहवे पुरिसा ।” इत्यादि ।

अनुमान सामान्यका उदाहरण माठरने दिया है कि “लिङ्गेन त्रिदण्डादिदर्शनेन अष्टशेषि लिङ्गी साध्यते नूनमसौ परित्राडस्ति, अस्येवं त्रिदण्डमिति ।” गौडपादने इस उदाहरणके साध्य-साधन का विपर्यास किया है—“यथा दृष्ट्वा यतिम् यस्येवं त्रिदण्डमिति ।”

### (उ) कालभेदसे त्रैविध्य ।

अनुमानग्रहण कालकी दृष्टिसे तीन प्रकारका होता है उसे भी शास्त्रकारने बताया है—यथा १ अतीतकालग्रहण २ प्रत्युत्पन्नकालग्रहण और ३ अनागतकालग्रहण ।

१ अतीतकालग्रहण—उत्तुण वन, निष्पन्नसस्या पृथ्वी, जलपूर्ण कुण्ड-सर-नदी-दीर्घिका-तडाग—इत्यादि देखकर सिद्ध किया जाय कि सृष्टि हुई है तो वह अतीतकालग्रहण है ।<sup>१</sup>

२ प्रत्युत्पन्नकालग्रहण—भिक्षाचर्यामें प्रचुर भिक्षा मिलती देखकर सिद्ध किया जाय कि सुभिक्ष है तो वह प्रत्युत्पन्न काल ग्रहण है ।<sup>२</sup>

३ अनागतकालग्रहण—बादलकी निर्मलता, कृष्ण पहाड़, सविद्युत् मेघ, मेघगर्जन,

१ “से जहाणामप केई पुरिसे कंचि पुरिसं बहूणं पुरिसाणं मज्जे पुव्वदिट्ठं पच्चभिजा-णिज्जा अयं से पुरिसे । बहूणं करिसावणाणं मज्जे पुव्वदिट्ठं करिसावणं पच्चभिजाणिज्जा-अयं से करिसावणे ।”

२ उत्तणाणि वणाणि निष्पण्णसस्सं वा मेहणि पुण्णाणि अ कुण्ड-सर-ण-दीहिभा-तडागां पालिन्ना तेणं साहिज्जइ जहा सुबुद्धो आसी । ३ “साहुं गोअरगगयं विच्छद्दि-अपडरअसपाणं पालिन्ना तेणं साहिज्जइ जहा सुभिक्षे चट्ठई ।”

वातोद्धम, रक्त और प्रक्षिप्त सन्ध्या, वारुण या माहेन्द्र सम्बन्धी या और कोई प्रशस्त उत्पात—इनको देखकर जब सिद्ध किया जाय कि कुवृष्टि होगी—यह अनागतकालग्रहण है ।<sup>१</sup>

उक्त लक्षणोंका विपर्यय देखनेमें आवे तो तीनों कालोंके ग्रहणमें भी विपर्यय हो जाता है अर्थात् अतीत कुवृष्टिका, वर्तमान दुर्भिक्षका और अनागत कुवृष्टिका अनुमान होता है यह भी अनुयोगद्वारमें सोदाहरण<sup>२</sup> दिखाया गया है ।

कालमेदसे तीन प्रकारका अनुमान होता है इस मतको चरकने भी स्वीकार किया है —

“प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चाऽनुमीयते ।

चक्षुर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात् ॥ २१ ॥

एवं ध्वस्यन्त्यतीतं बीजात् फलमनागतम् ।

दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिदं सद्यः शं बुधाः” ॥ २२ ॥

चरक सूत्रस्थान अ० ११

अनुयोगगत अतीतकालग्रहण और अनागतकालग्रहणके दोनों उदाहरण माठरमें पूर्ववत् के उदाहरणरूपसे निर्दिष्ट हैं जब कि स्वयं अनुयोगने अभ्रविकारसे वृष्टिके अनुमानको शेषवत् माना है । तथा न्यायभाष्यकारने नदीपूरसे भूतवृष्टिके अनुमानको शेषवत् माना है ।

### ( ऊ ) अवयवचर्चा ।

अनुमानप्रयोग या न्यायवाक्यके कितने अवयव होने चाहिरे इस विषयमें मूल आगमोंमें कुछ नहीं कहा गया है । किन्तु आ० भद्रबाहुने दशवैकालिकनिर्युक्तिमें अनुमानचर्चामें न्यायवाक्यके अवयवोंकी चर्चा की है । यद्यपि संख्या गिनाते हुए उन्होंने पाँच<sup>३</sup> और दश<sup>४</sup> अवयव होनेकी बात कही है किन्तु अन्यत्र उन्होंने मात्र उदाहरण या हेतु और उदाहरण से भी अर्थसिद्धि होनेकी बात कही है<sup>५</sup> । दश अवयवोंको भी उन्होंने दो प्रकारसे गिनाए हैं<sup>६</sup> । इस प्रकार भद्रबाहुके मतमें अनुमानवाक्यके दो, तीन, पाँच, दश, दश इतने अवयव होते हैं ।

प्राचीन वादशास्त्रका अध्ययन करने से पता चलता है कि शुरूमें किसी साध्यकी सिद्धिमें हेतुकी अपेक्षा दृष्टान्तकी सहायता अधिकांशमें ली जाती रही होगी । यही कारण है कि बादमें जब हेतुका स्वरूप व्याप्तिके कारण निश्चित हुआ और हेतुसे ही मुख्यरूपसे साध्यसिद्धि मानी जाने लगी तथा हेतुके सहायकरूपसे ही दृष्टान्त या उदाहरण का उपयोग मान्य रहा तब केवल दृष्टान्तके बलसे की जानेवाली साध्यसिद्धिको जात्युत्तरोंमें समाविष्ट किया जाने लगा । यह स्थिति न्यायसूत्रमें स्पष्ट है । अत एव मात्र उदाहरणसे साध्यसिद्धि होनेकी भद्रबाहुकी बात किसी प्राचीन परंपराकी ओर संकेत करती है ऐसा मानना चाहिए ।

१ “अभ्रस्त निम्नलसं कसिणा या गिरी सविज्जुआ मेहा । धणियं वा उभामो संसा रत्ता पणिट्ठा(स्त्रा) या ॥ १ ॥ वारुणं वा महिदं वा अण्णयरं वा पसस्यं उप्पायं पासित्ता तेणं साहिज्जह जहा—सुबुद्धी भविस्सह ।” २ “एपासिं चेव विवज्जासे तिविहं गहणं भवह, तं जहा” इत्यादि ।

१ दश० नि० ५० । या० ८९ से ९१ । ३ गा० ५० गा० ९२ से । ५ गा० ४९ । ६ गा० ९२ से तथा १३० ।

आचार्य मैत्रेयने<sup>१</sup> अनुमानके प्रतिज्ञा हेतु और दृष्टांत ऐसे तीन अवयव माने हैं । भद्रबाहुने भी उन्हीं तीनोंको निर्दिष्ट किया है । माठर और दिग्भागने भी पक्ष, हेतु और दृष्टान्त ये तीन ही अवयव माने हैं और पांच अवयवोंका मतान्तर रूपसे उल्लेख किया है ।

पांच अवयवोंमें दो परंपराएँ हैं एक माठरनिर्दिष्ट<sup>२</sup> और प्रशस्तसंमत तथा दूसरी न्यायसूत्रादि संमत । भद्रबाहुने पांच अवयवोंमें न्यायसूत्रकी परंपराका ही अनुगमन किया है । पर दश अवयवोंके विषयमें भद्रबाहुका स्थातक्य स्पष्ट है । न्यायभाष्यकारने भी दश अवयवोंका उल्लेख किया है किन्तु भद्रबाहुनिर्दिष्ट दोनों दशप्रकारोंसे वात्स्यायनके दशप्रकार भिन्न हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि न्यायवाक्यके दश अवयवोंकी तीन परंपराएँ सिद्ध होती हैं । यह बात नीचे दिये जानेवाले नकशे से स्पष्ट हो जाती है—

| मैत्रेय   | माठर      | दिग्भाग  | प्रशस्त      | न्यायसूत्र | न्यायभाष्य |              |
|-----------|-----------|----------|--------------|------------|------------|--------------|
| ३         | ३         | ३        | ५            | ५          | ५          | १०           |
| प्रतिज्ञा | पक्ष      | पक्ष     | प्रतिज्ञा    | प्रतिज्ञा  | प्रतिज्ञा  | प्रतिज्ञा    |
| हेतु      | हेतु      | हेतु     | अपदेश        | हेतु       | हेतु       | हेतु         |
| दृष्टान्त | दृष्टान्त | दृष्टांत | निदर्शन      | उदाहरण     | उदाहरण     | उदाहरण       |
|           |           |          | अनुसन्धान    | उपनय       | उपनय       | उपनय         |
|           |           |          | प्रत्यान्नाय | निगमन      | निगमन      | निगमन        |
|           |           |          |              |            |            | जिज्ञासा     |
|           |           |          |              |            |            | संशय         |
|           |           |          |              |            |            | शक्यप्राप्ति |
|           |           |          |              |            |            | प्रयोजन      |
|           |           |          |              |            |            | संशयव्युदास  |

|           |           | भद्रबाहु  |                   |                  |
|-----------|-----------|-----------|-------------------|------------------|
| २         | ३         | ५         | १०                | १०               |
| प्रतिज्ञा | प्रतिज्ञा | प्रतिज्ञा | प्रतिज्ञा         | प्रतिज्ञा        |
| उदाहरण    | हेतु      | हेतु      | प्रतिज्ञाविशुद्धि | प्रतिज्ञाविभक्ति |
|           | उदाहरण    | दृष्टांत  | हेतु              | हेतु             |
|           |           | उपसंहार   | हेतुविशुद्धि      | हेतुवि०          |
|           |           | निगमन     | दृष्टान्त         | विषय             |
|           |           |           | दृष्टान्तविशुद्धि | प्रतिषेध         |
|           |           |           | उपसंहार           | दृष्टांत         |
|           |           |           | उपसंहारविशुद्धि   | आशंका            |
|           |           |           | निगमन             | तत्प्रतिषेध      |
|           |           |           | निगमनविशुद्धि     | निगमन            |

<sup>१</sup> J. R. A. S. 1929, P. 476 । <sup>२</sup> प्रशस्तवाद्ने उन्हीं पांच अवयवोंको माना है जिनका निर्देश माठरने मतान्तररूपसे किया ।

## (क) हेतुचर्चा ।

स्थानांगसूत्रमें हेतुके निम्नलिखित चार भेद बताये गये हैं—

- १ ऐसा विधिरूप हेतु जिसका साध्य विधिरूप हो ।
- २ ऐसा विधिरूप हेतु जिसका साध्य निषेधरूप हो ।
- ३ ऐसा निषेधरूप हेतु जिसका साध्य विधिरूप हो ।
- ४ ऐसा निषेधरूप हेतु जिसका साध्य निषेधरूप हो ।

स्थानांगनिर्दिष्ट इन हेतुओंके साथ वैशेषिकसूत्रगत हेतुओंकी तुलना हो सकती है—

| स्थानांग        | वैशेषिकसूत्र   |
|-----------------|--|
| हेतु — साध्य    | संयोगी, समवायी,  |
| १ विधि — विधि   | एकार्थ समवायी ३.१.९<br>भूतो भूतस्य — ३.१.१३<br>भूतमभूतस्य — ३.१.१२<br>अभूतं भूतस्य ३.१.११<br>कारणाभावात् कार्याभावः<br>१.२.१ |
| २ विधि — निषेध  |  |
| ३ निषेध — विधि  |  |
| ४ निषेध — निषेध |  |

आगेकै बौद्ध और जैन दार्शनिकोंने हेतुओंको जो उपलब्धि और अनुपलब्धि ऐसे दो प्रकारमें विभक्त किया है उसके मूलमें वैशेषिकसूत्र और स्थानांगनिर्दिष्ट परंपरा हो तो आश्चर्य नहीं ।

## (ख) औपम्यचर्चा ।

अनुयोगद्वारा सूत्रमें औपम्य दो प्रकारका है— १ साधर्म्योपनीत और २ वैधर्म्योपनीत ।

१ साधर्म्योपनीत तीन प्रकारका है—

- (अ) किञ्चित्साधर्म्योपनीत ।
- (आ) प्रायः साधर्म्योपनीत ।
- (इ) सर्वसाधर्म्योपनीत ।

(अ) किञ्चित्साधर्म्योपनीत के उदाहरण हैं—जैसा मंदर—मेरु है वैसा सर्प है, जैसा सर्प है वैसा मंदर है; जैसा समुद्र है वैसा गोप्यद है, जैसा गोप्यद है वैसा समुद्र है । जैसा आदित्य है वैसा खद्योत है, जैसा खद्योत है वैसा आदित्य है । जैसा चन्द्र है वैसा कुमुद है, जैसा कुमुद है वैसा चन्द्र है ।<sup>१</sup>

१ “अथवा हेऊ चउव्विहे पज्जते तं जहा—अत्थिस्सं अत्थि सो हेऊ १, अत्थिस्सं णत्थि सो हेऊ २, णत्थिस्सं अत्थि सो हेऊ ३, णत्थिस्सं णत्थि सो हेऊ ४ ।”

२ “जहा मंदरो तहा सरिसवो, जहा सरिसवो तहा मंदरो, जहा समुदो तहा गोप्ययं, जहा गोप्ययं तहा समुदो । जहा आदित्तो तहा खज्जोतो, जहा खज्जोतो तहा आदित्तो, जहा चन्दो तहा कुमुदो जहा कुमुदो तहा चन्दो ।”

(आ) प्रायः साधर्म्योपनीत के उदाहरण हैं—जैसा गौ है वैसा गवय है, जैसा गवय है वैसा गौ है ।<sup>१</sup>

(इ) सर्वसाधर्म्योपनीत—वस्तुतः सर्वसाधर्म्योपमान हो नहीं सकता है फिर भी किसी व्यक्तिकी उसीसे उपमा की जाती है ऐसा व्यवहार देखकर उपमान का यह भेद भी शास्त्रकारने मान्य रखा है । इसके उदाहरण बताये हैं कि—अरिहंतने अरिहंत जैसा ही किया—चक्रवर्तीने चक्रवर्ती जैसा ही किया इत्यादि ।<sup>२</sup>

२ वैधर्म्योपनीत भी तीन प्रकारका है—

(अ) किञ्चिद्वैधर्म्य

(आ) प्रायो वैधर्म्य

(इ) सर्ववैधर्म्य

(अ) किञ्चिद्वैधर्म्य का उदाहरण दिया है कि जैसा शाबलेय है वैसा बाहुलेय नहीं । जैसा बाहुलेय है वैसा शाबलेय नहीं ।<sup>३</sup>

(आ) प्रायोवैधर्म्य का उदाहरण है—जैसा वायस है वैसा पायस नहीं है । जैसा पायस है वैसा वायस नहीं है ।<sup>४</sup>

(इ) सर्ववैधर्म्य—सब प्रकारसे वैधर्म्य तो किसीका किसीसे नहीं होता । अत एव वस्तुतः यह उपमान बन नहीं सकता किन्तु व्यवहाराश्रित इसका उदाहरण शास्त्रकारने बताया है । इसमें स्वकीयसे उपमा दी जाती है—जैसे नीचने नीच जैसा ही किया, दासने दास जैसा ही किया । इत्यादि ।<sup>५</sup>

शास्त्रकारने सर्ववैधर्म्यका जो उक्त उदाहरण दिया है उसमें और सर्वसाधर्म्यके पूर्वोक्त उदाहरणमें कोई भेद नहीं दिखता । वस्तुतः प्रस्तुत उदाहरण सर्वसाधर्म्यका हो जाता है ।

न्यायसूत्रमें उपमानपरीक्षामें पूर्वपक्षमें कहा गया है कि अत्यन्त, प्रायः और एकदेशसे जहाँ साधर्म्य हो वहाँ उपमान प्रमाण हो नहीं सकता है । इत्यादि । यह पूर्वपक्ष अनुयोगगत साधर्म्योपमानके तीन भेद की किसी पूर्वपरंपराको लक्ष्यमें रख कर ही किया गया है यह उक्त सूत्रकी व्याख्या देखनेसे स्पष्ट हो जाता है । इससे फलित यह होता है कि अनुयोगका उपमान वर्णन किसी प्राचीन परंपराानुसारी हैं ।<sup>६</sup>

(५) आगमचर्चा ।

अनुयोगद्वारमें आगमके दो भेद किये गये हैं (अ) लौकिक (आ) लोकोत्तर ।

(अ) लौकिक आगममें जेनेतर शास्त्रोंका समावेश अभीष्ट है जैसे महाभारत, रामायण, वेद आदि और ७२ कलाशास्त्रोंका समावेश भी उसीमें किया है ।

१ “जहा गो तहा गवओ, जहा गवओ तहा गो ।” २ “सब्वसाहम्मं ओवम्मं नत्थि, तहावि तेणेव तस्स ओवम्मं कीरइ जहा अरिहंतेहिं अरिहंतसरिसं कयं” इत्यादि—

३ “जहा सामलेरो न तहा बाहुलेरो, जहा बाहुलेरो न तहा सामलेरो ।” ४ “जहा वायसो न तहा पायसो, जहा पायसो न तहा वायसो ।” ५ “सब्ववेहम्मं ओवम्मं नत्थि तहावि तेणेव तस्स ओवम्मं कीरइ, जहा णीपण णीअसरिसं कयं, दासेण दाससरिसं कयं ।” इत्यादि । ६ देखो, दिव्यण—पृष्ठ १२२-२२३ ।



( आ ) लोकोत्तर आगमनें जैनसाक्षात्कारोंका समावेश है । जैतिक आगमोंके विषयमें कहा गया है कि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवोंने अपने स्वच्छन्दमति-विकारोंसे बनाये हैं । किन्तु लोकोत्तर—जैन आगमके विषयमें कहा है कि वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पुरुषोंने बनाये हैं ।

आगमके भेद एक अन्य प्रकारसे भी किये गये हैं—जैसे

( १ ) आत्मागम ।

( २ ) अनन्तरागम ।

( ३ ) परंपरागम ।

सूत्र और अर्थकी अपेक्षासे आगमका विचार किया जाता है । क्योंकि यह माना गया है कि तीर्थंकर अर्थका उपदेश करते हैं जब कि गणधर उसके आधारसे सूत्रकी रचना करते हैं अत एव अर्थरूप आगम स्वयं तीर्थंकरके लिये आत्मागम है और सूत्ररूप आगम गणधरोंके लिये आत्मागम है । अर्थका मूल उपदेश तीर्थंकरका होनेसे गणधरके लिये वह आत्मागम नहीं किन्तु गणधरोंको ही साक्षात् लक्ष्यकरके अर्थका उपदेश दिया गया है अत एव अर्थागम गणधरके लिये अनन्तरागम है गणधरशिष्योंके लिये अर्थरूप आगम परंपरागम है क्योंकि तीर्थंकर से गणधरोंको प्राप्त हुआ और गणधरोंसे शिष्योंको । सूत्ररूप आगम गणधरशिष्योंके लिये अनन्तरागम है क्योंकि सूत्रका उपदेश गणधरोंसे साक्षात् उनको मिला है । गणधरशिष्योंके बादमें होनेवाले आचार्योंके लिये सूत्र और अर्थ उभयरूप आगम परंपरागम ही है—

|                | आत्मागम, | अनन्तरागम, | परंपरागम          |
|----------------|----------|------------|-------------------|
| तीर्थंकर       | अर्थागम  | ×          | ×                 |
| गणधर           | सूत्रागम | अर्थागम    | ×                 |
| गणधरशिष्य      | ×        | सूत्रागम   | अर्थागम           |
| गणधरशिष्यशिष्य | ×        | ×          | सूत्रागम, अर्थागम |
| आदि            |          |            |                   |

मीमांसकके सिवाय सभी दार्शनिकोंने आगमको पौरुषेय ही माना है । और सभीने अपने अपने इष्ट पुरुषको ही आत मानकर अन्यको अनात सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है । अन्ततः सभीको दूसरोंके सामने आगमका प्रामाण्य अनुमान और युक्तिसे आगमोक्त बातोंकी संगति दिखाकर स्थापित करना ही पड़ता है । यही कारण है कि निर्मुक्तिकारने आगमको स्वयंसिद्ध मानकर भी हेतु और उदाहरणकी आवश्यकता, आगमोक्त बातोंकी सिद्धिके लिये स्वीकार की है—

“जिणवयणं सिद्धं चेव भणय कथं उदाहरणं ।

भासज्ज उ'सोयारं हेऊ वि कहिंनि भण्णेआ ॥”

दशवै० नि० ४९ ।

किस पुरुषका बनाया हुआ शास्त्र आगमरूपसे प्रमाण माना जाय इस विषयमें जैनोंने अपना जो अभिमत आध्यात्मिककालमें स्थिर किया है उसे भी बता देना आवश्यक है । सर्वदा यह तो स्मरण नहीं कि तीर्थप्रवर्तक और उनके गणधर मौजूद रहें और शंकास्थानोंका समाधान करते रहें । इसी आवश्यकतामेंसे ही तदतिरिक्त पुरुषोंको भी प्रमाण माननेकी परंपरा ने जन्म

लिया और गणधरप्रणीत आचारांगआदि अंगशास्त्रोंके अलावा स्थविरप्रणीत अन्यशास्त्र भी आगमान्तर्गत होकर अंगबाह्यरूपसे प्रमाण माने जाने लगे—

“कुतं गणधरकथिदं तद्देव पत्तेयबुद्धकथिदं च ।  
श्रुतकेवलिणा कथिदं अभिण्णदसपुण्ड्रकथिदं च ॥”

इस गायकके अनुसार गणधरकथितके अलावा प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और दशपूर्वोंके द्वारा कथित भी सूत्र आगम में अन्तर्भूत है। प्रत्येकबुद्ध सर्वज्ञ होनेसे उनका वचन प्रमाण है। जैन परंपराके अनुसार अंगबाह्य ग्रन्थोंकी रचना स्थविर करते हैं<sup>१</sup>। ऐसे स्थविर दो प्रकारके होते हैं संपूर्ण श्रुतज्ञानी और कमसे कम दशपूर्व<sup>२</sup>। संपूर्ण श्रुतज्ञानीको चतुर्दशपूर्व<sup>३</sup> श्रुतकेवली कहते हैं। श्रुतकेवली गणधरप्रणीत संपूर्ण द्वादशांगीरूप जिनागमके सूत्र और अर्थके विषयमें निपुण होते हैं। अत एव उनकी ऐसी योग्यता मान्य है कि वे जो कुछ कहेंगे या लिखेंगे उसका द्वादशाङ्गी रूप जिनागमके साथ कुछ भी विरोध हो नहीं सकता। जिनागमके विषयोंका संक्षेप या विस्तार करके तत्कालीन समाजके अनुकूल ग्रन्थरचना करना ही उनका प्रयोजन होता है अत एव संघने ऐसे ग्रन्थोंको सहज ही में जिनागमान्तर्गत कर लिया है। इनका प्रामाण्य स्वतन्त्र भावसे नहीं किन्तु गणधरप्रणीत आगमके साथ अविसंवादके कारण है।

कालक्रमसे जैन संघमें वीर नि० १७० वर्षके बाद श्रुतकेवलीका भी अभाव होगया और सिर्फ दर्शपूर्वधर ही रहगए तब उनकी विशेषयोग्यताको ध्यानमें रखकर जैन संघने दशपूर्वधर-प्रथित ग्रन्थोंको भी आगममें शामिल कर लिया। इन ग्रन्थोंका भी प्रामाण्य स्वतन्त्रभावसे नहीं किन्तु गणधरप्रणीत आगमके साथ अविरोधमूलक है।

जैनोंकी मान्यता है कि चतुर्दशपूर्वधर और दर्शपूर्वधर वेही साधक हो सकते हैं जिनमें नियमतः सम्यग्दर्शन होता है<sup>४</sup>। अतएव उनके ग्रन्थोंमें आगमविरोधी बातोंकी संभावना ही नहीं है।

आगे चलकर ऐसे कई आदेश जिनका समर्थन किसी शास्त्रसे नहीं होता है किन्तु जो स्थविरोंने अपनी प्रतिभाके बलसे किसी विषय में दी हुई संमतिमात्र हैं, उनका समावेश भी अंग-बाह्य आगममें करलिया गया है। इतना ही नहीं कुछ मुक्तकोंको भी उसीमें स्थान प्राप्त है<sup>५</sup>।

अभीतक हमने आगमके प्रामाण्य-अप्रामाण्यका जो विचार किया है वह वक्ताकी दृष्टिसे। अर्थात् किस वक्ताके वचनको व्यवहारमें सर्वथा प्रमाण माना जाय। किन्तु आगमके प्रामाण्य या अप्रामाण्यका एक दूसरी दृष्टिसे भी अर्थात् श्रोताकी दृष्टिसे भी आगमों में विचार हुआ है उसे भी बता देना जरूरी है।

शब्द तो निर्जीव हैं और सभी सांकेतिक अर्थके प्राप्तिपादनकी योग्यता रखते हैं अतएव सर्वार्थक भी हैं। ऐसी स्थिति में निश्चयदृष्टिसे विचार करने पर शब्दका प्रामाण्य जैसा मीमांसक मानता है स्वतः नहीं किन्तु प्रयोक्ताके गुण के कारण सिद्ध होता है। इतना ही नहीं बल्कि श्रोता या पाठकके गुणदोषके कारण भी प्रामाण्य या अप्रामाण्यका निर्णय करना

१ मूलाचार ५.८०। अथवक्ता टीकामें उद्धृत है पृ० १५३। जोषतिर्युक्ति टीकामें भी वह उद्धृत है पृ० ३। २ विशेषा० ५५०। बुद्धप० १४४। लखादीमा० १.२०। सर्वादी० १.२०। ३ बुद्धप० १३२। ४ बुद्ध १४४ और उसकी पादटीप। विशेषा० ५५०।

पड़ता है । अत एव यह आवश्यक हो जाता है कि वक्ता और श्रोता दोनोंकी दृष्टिसे आगमके प्रामाण्यका विचार किया जाय ।

शास्त्रकी रचना निष्प्रयोजन नहीं किन्तु श्रोताको अभ्युदय और निःश्रेयस मार्गका प्रदर्शन करनेकी दृष्टिसे ही है—यह सर्वसंमत है । किन्तु शास्त्रकी उपकारकता या अनुपकारकता मात्र शब्दोंपर निर्भर न होकर श्रोताकी योग्यता पर भी निर्भर है । यही कारण है कि एकही शास्त्रवचनके नाना और परस्पर विरोधी अर्थ निकालकर दार्शनिक लोग नानामतवाद खड़े कर देते हैं । एक भगवद्गीता या एकही ब्रह्मसूत्र कितने विरोधी वादोंका मूल बना हुआ है । अतः श्रोताकी दृष्टिसे किसी एक ग्रन्थको नियमतः सम्यक् या मिथ्या कहना या किसी एक ग्रन्थको ही आगम कहना निश्चयदृष्टिसे भ्रमजनक है । यही सोचकर मूल ध्येय मुक्तिकी पूर्तिमें सहायक ऐसे सभी शास्त्रोंको जैनाचार्योंने सम्यक् या प्रमाण कहा है । ऐसा व्यापक दृष्टिबिन्दु आध्यात्मिकदृष्टिसे जैन परंपरामें पाया जाता है । इस दृष्टिके अनुसार वेदादि सब शास्त्र जैनोको मान्य हैं । जिस जीवकी श्रद्धा सम्यक् है उसके सामने कोई भी शास्त्र आ जाय वह उसका उपयोग मोक्ष मार्गको प्रशस्त बनानेमें ही करेगा । अतएव उसके लिये सब शास्त्र प्रामाणिक हैं, सम्यक् हैं किन्तु जिस जीवकी श्रद्धा ही निपरीत है यानी जिसे मुक्तिकी कामना ही नहीं उसके लिये वेदादि तो क्या तथाकथित जैनागम भी मिथ्या हैं, अप्रमाण हैं । इस दृष्टिबिन्दुमें सत्यका आग्रह है, सांप्रदायिक कदाग्रह नहीं—“भारहं रामायणं.....चत्वारि य वेया संगोषंगा—एयाहं मिच्छादिद्विस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाहं मिच्छासुयं । एयाहं केव सम्मदिद्विस्स सम्मत्तपरिग्गहियाहं सम्मसुयं — नंदी — ४१ ।

### [ ३ ] जैन आगमोंमें वाद और वादविद्या —

#### § १ वादका महत्त्व ।

जैनधर्म आचारप्रधान है किन्तु देशकालकी परिस्थिति का असर उसके ऊपर न हो यह कैसे हो सकता है ! स्वयं भगवान् महावीरको भी अपनी धर्मदृष्टिका प्रचार करनेके लिये अपने चारित्रबलके अलावा वाक्बलका प्रयोग करना पड़ा है । तब उनके अनुयायी मात्र चारित्रबलके सहारे जैनधर्मका प्रचार और स्थापन करें यह संभव नहीं ।

भगवान् महावीरका तो युग ही, ऐसा माहूम देता है कि, जिज्ञासका था । लोग जिज्ञासा-तृप्तिके लिए इधर उधर घूमते रहे और जो भी मिला उससे प्रश्न पूछते रहे । लोक कोरे कर्मकाण्ड — यज्ञयागादिसे हट करके तत्त्वजिज्ञासु होते जा रहे थे । वे अकसर किसी की बातके तमी मानते जबकि वह तर्ककी कसौटी पर खरी उतरे अर्थात् अहेतुवादके स्थानमें हेतुवादका महत्त्व बढ़ता जा रहा था । कई लोग अपने आपको तत्त्वब्रह्म बताते थे । और अपने तत्त्व-दर्शनको लोगोंमें फैलानेके लिये उत्सुकतापूर्वक इधरसे उधर बिहार करते थे और उपदेश देते थे । या जिज्ञासु स्वयं ऐसे लोगोंका नाम सुनकर उनके पास जाता था और नानाविध प्रश्न पूछता था । जिज्ञासुके सामने नानामतवादों और समर्थक युक्तिओंकी धारा बहती रही । कभी जिज्ञासु उन मतोंकी तुलना अपने आप करता था तो कभी तत्त्वब्रह्म ही दूसरोंके मतकी त्रुटि दिखा करके अपने मतको श्रेष्ठ सिद्ध करते रहे । ऐसेही वादप्रतिवादमेंसे वादके नियमोपनियमोंका विकास हो कर क्रमशः वादका भी एक शास्त्र बन गया । न्यायसूत्र, चरक या प्राचीन

बौद्ध तर्कशास्त्रमें वादशास्त्रका जो विकसित रूप देखा जाता है उसकी पूर्वभूमिका जैन आगम और बौद्धपिटकोंमें मौजूद है । उपनिषदोंमें वादविवाद तो बहुतेरे हैं किन्तु उन वादविवादोंके पीछे कोनसे नियम काम कर रहे हैं इसका जिक्र नहीं । अतएव वादविद्याके नियमोंका प्राचीन रूप देखना हो तो जैनागम और बौद्ध पालि त्रिपिटक ही की शरण लेनी पड़ती है । इसीसे वाद और वादशास्त्रके पदार्थोंके विषयमें जैनआगमका आश्रयण करके कुछ लिखना अप्रस्तुत न होगा । ऐसा करनेसे यह ज्ञात हो सकेगा कि वादशास्त्र पहिले कैसा अव्यवस्थित था और किस तरह बादमें व्यवस्थित हुआ । तथा जैनदार्शनिकोंने अपने ही आगमगत पदार्थोंसे क्या छोड़ा और क्या किस रूपमें कायम रखा ।

कथासाहित्य और कथापद्धतिके वैदिक, बौद्ध और जैनपरंपरागत विकासकी रूपरेखाका चित्रण<sup>१</sup> पं० मुखलाजजीने विस्तारसे किया है । विशेष जिज्ञासुओंको उसीको देखना चाहिए । प्रस्तुतमें जैनआगमको केन्द्रमें रखकर ही कथा या वादमें उपयुक्त ऐसे कुछ पदार्थोंका निरूपण करना इष्ट है ।

श्रमण और ब्राह्मण अपने अपने मतकी पुष्टि करनेके लिये विरोधिओंके साथ वाद करते हुए और युक्तिओंके बलसे प्रतिवादीको परास्त करते हुए बौद्धपिटकोंमें देखे जाते हैं । जैनागममें भी प्रतिवादिओंके साथ हुये श्रमणों, श्रावकों और स्वयं भगवान् महावीरके वादोंका वर्णन आता है । उपासकदशांगमें गोशालकके उपासक सशालपुत्तके साथ नियतिवादके विषयमें हुए भगवान् महावीरके वादका अत्यंत रोचक वर्णन है—अध्य० ७ । उसी सूत्रमें उसी विषयमें कुंडकोलिक और एक देवके बीच हुए वादका भी वर्णन है—अ० ६ ।

जीव और शरीर भिन्न हैं इसविषयमें पार्श्वानुयायी केशीश्रमण और नास्तिक राजा पप्सीका वाद रायपसेणइय सूत्रमें निर्दिष्ट है । ऐसा ही वाद बौद्धपिटकके दीघनिकायमें पायासीसुत्तमें भी निर्दिष्ट है ।

सूत्रकृतांगमें आर्य अहंका अनेक मतवादिओंके साथ नानामन्तव्योंके विषयमें जो वाद हुआ है उसका वर्णन है—सूत्रकृतांग २.६ ।

भगवतीसूत्रमें लोककी शाश्वतता और अशाश्वतता, सान्तता और अनन्तताके विषयमें; जीवकी सान्तता, अनन्तता, एकता, अनेकता आदिके विषयमें; कर्म खकृत है, परकृत है कि उभयकृत है—क्रियमाण कृत है कि नहीं; इत्यादि विषयमें भगवान् महावीरके अन्यतीर्थीकोंके साथ हुए वादोंका तथा जैन श्रमणोंके अन्यतीर्थीकोंके साथ हुए वादोंका विस्तृत वर्णन पदपदपर मिलता है—देखो स्कंधक, जमाली आदिकी कथाएँ ।

उत्तराध्ययनगत पार्श्वानुयायी केशी-श्रमण और भगवान् महावीरके प्रधान शिष्य गौतमके बीच हुआ जैन-आचारविषयक वाद सुप्रसिद्ध है—अध्ययन—२३ ।

भगवतीसूत्रमें भी पार्श्वानुयायियोंके साथ महावीरके श्रावक और श्रमणोंके वादोंका जिक्र अनेक स्थानोंपर है—भगवती १.९; २.५; ५.९; ९.३२ ।

१ पुरातत्त्व २.३. में 'कथापद्धतिषु स्वरूप अने तेना साहित्यं विवक्षेन' तथा प्रमाणमीमांसा-भाषा टिप्पण पृ० १०८-१२४ ।

सूत्रकृतांगमें गौतम और पार्श्वानुयायी उदक पेढालपुत्तका वाद भी सुप्रसिद्ध है—सू० २.७ । गुरुशिष्यके बीच होनेवाला वाद वीतरागकथा कही जाती है क्योंकि उसमें जय-पराजयको अवकाश नहीं । इस वीतरागकथासे तो जैनआगम भरे पड़े हैं । किन्तु विशेषतः इसके लिये भगवतीसूत्र देखना चाहिए । उसमें भगवान्‌के प्रधान शिष्य गौतमने मुख्यरूपसे तथा प्रसंगतः अनेक अन्य शिष्योंने अनेक विषयोंमें भगवान्‌से प्रश्न पूछे हैं और भगवान्‌ने अनेक हेतुओं और दृष्टान्तोंके द्वारा उनका समाधान किया है ।

इन सब वादोंसे स्पष्ट है कि जैनश्रमणों और श्रावकोंमें वादकलाके प्रति उपेक्षाभाव नहीं था । इतनाही नहीं किन्तु धर्मप्रचारके साधनरूपसे वादकलाका पर्याप्तमात्रामें महत्त्व था । यही कारण है कि भगवान्‌ महावीरके ऋद्धिप्राप्त शिष्योंकी गणनामें वादप्रवीणशिष्योंकी पृथक् गणना की है । इतना ही नहीं किन्तु सभी तीर्थंकरोंके शिष्योंकी गणनामें वादिओंकी संख्या पृथक् बतलानेकी प्रथा हो गई है<sup>१</sup> । भगवान्‌ महावीरके शिष्योंमें वादीकी संख्या बताते हुए स्थानांगमें कहा है—

“समणस्स णं भगवओ महावीरस्स चत्तारिसया वादीणं सदेवमणुयासुराते परिसाते अपराजियाणं उक्कोसिता वादिसंपया ह्वया” — स्थानांग ३८२ । यही बात कल्पसूत्रमें (सू० १४२) भी है ।

स्थानांगसूत्रमें जिन नव प्रकारके निपुण पुरुषोंको गिनाया है उनमें भी वादविद्याविशारदका स्थान है—सू० ६७९ ।

धर्मप्रचारमें वाद मुख्य साधन होनेसे वादविद्यामें कुशल ऐसे वादी साधुओंके लिये आचारके कठोर नियम भी मृदु बनाये जातेथे इसकी साक्षी जैनशास्त्र देते हैं । जैनआचारके अनुसार शरीरशुचिता परिहार्य है । साधु खानादि शरीर संस्कार नहीं कर सकता, इसी प्रकार स्निग्ध-भोजनकी भी मनाई है । तपस्याके समय तो और भी रूक्ष भोजनका विधान है । साफ-सुथरे कपड़े पहनना भी अनिवार्य नहीं । पर कोई पारिवारिक तपस्वी साधु वादी हो और किसी सभामें वादके लिये जाना पड़े तब सभाकी दृष्टिसे और जैनधर्मकी प्रभावनाकी दृष्टिसे उसे अपना नियम मृदु करना पड़ता है तब वह ऐसा कर लेता है । क्यों कि यदि वह सभायोग्य शरीर-संस्कार नहीं कर लेता तो विरोधिओंको खुगुप्साका एक मौका मिल जाता है । मलिनवस्त्रोंका प्रभाव भी सभाजनों पर अच्छा नहीं पड़ता अत एव वह साफ सुथरे कपड़े पहन कर सभामें जाता है । रूक्षभोजन करनेसे बुद्धिकी तीव्रतामें कमी न हो इसलिये वाद करनेके प्रसंगमें प्रणीत अर्थात् स्निग्ध भोजन लेकर अपनी बुद्धिको सर्वशाली बनानेका यत्न करता है । ये सब संस्कारण आपवादिक प्रतिसेवना हैं<sup>२</sup> । प्रसंग पूर्ण हो जाने पर गुरु उसे अपवादसेवनके लिये हल्का प्रायश्चित्त दे करके शुद्ध कर लेता है ।

सामान्यतः नियम है कि साधु अपने गण-गच्छको छोड़ कर अन्यत्र न जाय किन्तु ज्ञान-दर्शन और चारित्रिकी वृद्धिकी दृष्टिसे अपने गुरुको पूछ कर दूसरे गणमें जा सकता है । दर्शनको लक्ष्यमें रख कर अन्य गणमें जानेके प्रसंगमें स्पष्टीकरण किया गया है कि यदि

१ कल्पसूत्र सू० १६५ इत्यादि । २ “याया वा दंतास्त्रिया क. बोधा, वा बुद्धिहेतुं व पणीयभर्त्त । तं वातिगं वा महत्सत्तेवं सभाजगद्वा सिचयं व सुखं ॥” बृहत्कल्पभाष्य ६०३५ ।

स्वगणमें दर्शनप्रभावक<sup>१</sup> शास्त्र (सन्मत्यादि) का कोई ज्ञाता न हो तो जिस गणमें उसका ज्ञाता हो वहाँ जाकर पढ़ सकता है। इतना ही नहीं किन्तु दूसरे आचार्यको अपना गुरु या उपाध्यायका स्थान भी हेतुविद्याके लिये दे तो अनुचित नहीं समझा जाता। ऐसा करनेके पहले आवश्यक है कि वह अपने गुरु या उपाध्यायकी आज्ञा ले ले। बृहत्कल्पभाष्यमें कहा है कि “विज्ञामंतनिमित्ते हेउसत्थद्व दंसणद्वपाए” बृहत्कल्पभाष्य गा० ५४७३।

अर्थात् दर्शनप्रभावना की दृष्टिसे विद्या-मन्त्र-निमित्त और हेतुशास्त्रके अध्ययनके लिये कोई साधु दूसरे आचार्योपाध्यायको भी अपना आचार्य वा उपाध्याय बना सकता है।

अथवा जब कोई शिष्य देखता है कि तर्कशास्त्रमें उसके गुरुकी गति न होनेसे दूसरे मत-वाले उनसे वाद करके उन तर्कानभिज्ञ गुरुको नीचा गिरानेका प्रयत्न करते हैं तब वह गुरुकी अनुज्ञा लेकर गणान्तरमें तर्कविद्यामें निपुण होनेके लिये जाता है या स्वयं गुरु उसे भेजते हैं।<sup>२</sup> अंतमें वह तर्कनिपुण होकर प्रतिवादिओंको हराता है। और इस प्रकार दर्शनप्रभावना करता है।

यदि किसी कारणसे आचार्य दूसरे गणमें जानेकी अनुज्ञा न देते हों तब भी दर्शनप्रभावना की दृष्टिसे विना आज्ञाके भी वह दूसरे गणमें जाकर वादविद्यामें कुशलता प्राप्त कर सकता है। सामान्यतः अन्य आचार्य विना आज्ञा के आये हुए शिष्यको स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु ऐसे प्रसंगमें वह भी उसे स्वीकार करके दर्शनप्रभावना की दृष्टिसे तर्क विद्या पढ़ानेके लिये बाध्य हैं<sup>३</sup>।

विना कारण श्रमण रथयात्रामें नहीं जासकता ऐसा नियम है। क्योंकि रथयात्रामें शामिल होनेसे अनेक प्रकारके दोष लगते हैं—(बृहत् गा० १७७१ से)। किन्तु कारण हो तो रथयात्रामें अवश्य जाना चाहिए यह अपवाद है। यदि नहीं जाता है तो प्रायश्चित्तभागी होता है ऐसा स्पष्ट विधान है—“कारणेषु तु समुत्पन्नेषु प्रवेष्टव्यम् यदि न प्रविशति तदा चत्वारो लघवः।” बृहत् गा० टी० गा० १७८९।

रथयात्रामें जानेके अनेक कारणोंको गिनाते हुए बृहत्कल्पके भाष्यमें कहा गया है कि—

“मा परत्वा ई विग्धं करिज्ज वा ई अग्घो विसइ ॥ १७९२ ॥”

अर्थात् कोई परदर्शनका वादी रथयात्रामें विघ्न न करे इस लिये वादविद्यामें कुशल वादी श्रमणको रथयात्रामें अवश्य जाना चाहिए। उनके जानेसे क्या लाभ होता है उसे बताते हुए कहा है—

“नवधम्ममाण धिरसं पभाषणा सासणे य बहुमाणो ।

अभिगच्छन्ति य विहुसा अविग्घपूया य सेयाए ॥ १७९३ ॥”

वादी श्रमणके द्वारा प्रतिवादीका जब निग्रह होता है तब अभिनव श्रावक अन्य धार्मिकोंका पराभव देखकर जैन धर्ममें दृढ़ हो जाते हैं। जैन धर्मकी प्रभावना होती है। लोक कहने लग जाते हैं कि जैन सिद्धांत अप्रतिहत है इसी लिये ऐसे समर्थ वादिने उसे अपनाया है। दूसरे लोग भी वादको सुनकर जैन धर्मके प्रति आदरशील होते हैं। वादीका वैदग्ध्य देखकर दूसरे विद्वान् उनके पास आने लगते हैं और धीरे धीरे जैन धर्मके अनुयायी हो जाते हैं। इस प्रकार इन आनुवंशिक लाभोंके अलावा रथयात्रामें श्रेयस्कर पूजाकी निर्विघ्नता का लाभ भी है। अत एव वादीको रथयात्रामें अवश्य जाना चाहिए।

१ वही ५४२५ । २ वही ५४२६-२७ । ३ वही गा० ५४३९ । ४ गा० १७९० ।

निम्नलिखित श्लोकमें धर्मप्रभावकों में वादीको भी स्थान मिला है ।

“प्रायश्चमी धर्मकथी वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च ।

जिनवचनब्रह्म कविः प्रवचनमुद्गाधयन्त्येते ॥”

कमी कमी ध्यान-स्वाध्याय छोड़कर ऐसे वादीओंको वादकधाममें ही लगना पड़ता था जिससे वे परेशान भी थे और गच्छ छोड़कर किसी एकान्तस्थानमें जानेकी वे सोचते थे । ऐसी स्थितिमें गुरु उन पर प्रतिबन्ध लगाते थे कि मत जाओ । फिर भी वे स्वच्छन्द होकर गच्छको छोड़कर चले जाते थे । ऐसा बृहत्कल्पके भाष्यसे पता चलता है— गा० ५६९१, ५६९७ इत्यादि ।

## § २ कथा ।

स्थानांगसूत्रमें कथाके तीन भेद बताये हैं । वे ये हैं—

“तिविहा कहा—अर्थकहा, धम्मकहा कामकहा ।” सू० १८९ ।

इन तीनोंमें धर्मकथा ही यहाँ प्रस्तुत है । स्थानांगमें ( सू० २८२ ) धर्मकथाके भेदोपभेदोंका जो वर्णन है उसका सार नीचे दिया जाता है ।

### धर्मकथा

#### १ आक्षेपणी

- १ आचाराक्षे०
- २ व्यवहारा०
- ३ प्रज्ञप्ति
- ४ दृष्टिवाद

#### २ विक्षेपणी

- १ स्वसमय कह कर परसमय कथन
- २ परसमयकथनपूर्वक स्वसमयस्थापन
- ३ सम्यग्वादके कथनपूर्वक मिथ्यावादकथन
- ४ मिथ्यावादकथनपूर्वक सम्यग्वादस्थापन

#### ३ संवेजनी

- १ इहलोकसं०
- २ परलोकसं०
- ३ स्वशरीरसं०
- ४ परशरीरसं०

#### ४ निर्वेदनी—

| १ इहलोकमें | किये | दुःखरितका | फल | इसीलोकमें | दुःखदायी |
|------------|------|-----------|----|-----------|----------|
| २ ”        | ”    | ”         | ”  | परलोकमें  | ”        |
| ३ परलोकमें | ”    | ”         | ”  | इसलोकमें  | ”        |
| ४ ”        | ”    | ”         | ”  | परलोकमें  | ”        |

इसी प्रकार सुचरितकी भी चतुर्भंगी होती है ।

इनमेंसे वादके साथ संबन्ध प्रथमकी दो धर्मकथाओंका है । संवेजनी और निर्वेदनी कथा तो यही है जो गुरु अपने शिष्यको संवेग और निर्वेदकी वृद्धिके लिये उपदेश देता है । आक्षेपणी कथाके जो भेद हैं उनसे प्रतीत होता है कि यह गुरु और शिष्यके बीच होनेवाली धर्मकथा है ।

१ बृहत्० टी० सा० १०९८ में उद्धृत ।

उसे जैनपरिभाषामें वीतराग कथा और न्यायशास्त्रके अनुसार तत्त्वबुद्धिकथा कहा जा सकता है । इसमें आचारादि विषयमें शिष्यकी शंकाओंका समाधान आचार्य करते हैं । अर्थात् आचार-दिके विषयमें जो आक्षेप होते हों उनका समाधान गुरु करता है । किन्तु विक्षेपणी कथामें खसमय और परसमय दोनोंकी चर्चा है । यह कथा गुरु और शिष्यमें हो तब तो वह वीतरागकथा ही है पर यदि जयार्थी प्रतिवादी के साथ कथा हो तब वह वादकथा या विवाद कथामें समाविष्ट है । विक्षेपणीके पहले प्रकारका तात्पर्य यह जान पड़ता है कि वादी प्रथम अपने पक्षकी स्थापना करके प्रतिवादीके पक्षमें दोषोद्घावन करता है । दूसरा प्रकार प्रतिवादी को लक्ष्यमें रखकर किया गया जान पड़ता है । क्योंकि उसमें परपक्षका निरास और वादमें खप-क्षका स्थापन है । अर्थात् वह वादीके पक्षका निराकरण करके अपने पक्षकी स्थापना करता है । तीसरी और चौथी विक्षेपणी कथाका तात्पर्य टीकाकारने जो बताया है उससे यह जान पड़ता है कि वादी प्रतिवादीके सिद्धान्तमें जितना सम्यगंश हो उसका स्वीकार करके मिथ्यांश का निराकरण करता है और प्रतिवादी भी ऐसा ही करता है ।

निशीथभाष्यके पंचम उद्देशकमें ( पृ० ७६ ) कथाके मेद बताते हुए कहा है—

“वादो जल्प वितंडा पट्टणमकहा य णिच्छयकहा य ।”

इससे प्रतीत होता है कि टीकाके युगमें अन्यत्र प्रसिद्ध वाद, जल्प और वितण्डाने भी कथामें स्थान पा लिया था । किन्तु इसकी विशेषचर्चा यहाँ प्रस्तुत नहीं । इतना ही प्रस्तुत है कि मूल आगममें इन कथाओंने जल्पादि नामोंसे स्थान नहीं पाया है ।

### § ३ विवाद ।

स्थानांग सूत्रमें विवादके छ प्रकारोंका निर्देश है—

“छविह्वे विवादे पं० तं० १ ओसकत्तिता, २ उस्सकइत्ता, ३ अणुलोमइत्ता, ४ पळिल्लो-मइत्ता, ५ मइत्ता, ६ सेलइत्ता ।” सू० ५१२.

ये विवादके प्रकार नहीं हैं किन्तु वादी और प्रतिवादी विजयके लिये कैसी कैसी तरकीब किया करते थे, इसीका निर्देश मात्र है । टीकाकारने प्रस्तुतमें विवादका अर्थ जल्प किया है सो ठीक ही है । जैसे कि—

१ नियतसमयमें यदि वादीकी वाद करनेके लिये तैयारी न हो तो वह बहाना बनाकर सभास्थानसे खिसक जाता है या प्रतिवादीको खिसका देता है जिससे वादमें विलम्ब होनेके कारण उसे तैयारीका समय मिल जाय ।

२ जब वादी अपने जय का अवसर देख लेता है तब वह खयं उत्सुकतासे बोलने लगता है या प्रतिवादीको उत्सुक बनाकर वादका शीघ्र प्रारंभ करा देता है ।<sup>१</sup>

१ चरकके इस वाक्यके साथ उपर्युक्त दोनों विवादोंकी तुलना करना चाहिए—

“परस्य साहृण्यदोषबलमवेक्षितज्यम्, समवेक्ष्य च यत्रैनं भेदं मन्येत तस्य तत्र जल्पं योजयेद् अनाविष्कृतमयोगं कुर्वन् । यत्र त्वेनमवरं मन्येत तत्रैवेनमागु विप्रकीर्यात् ।”

विमानस्थान अ० ८. सू० २१ ।

उपर टीकाकारके अनुसार नर्थ किया है किन्तु चरकको देखते हुए यह अर्थ किया जा सकता है कि जिसमें अपनी अयोग्यता हो उस बातको टाल देना और जिसमें सामनेवाका अयोग्य हो उसीमें विवाद करना ।



३ वादी सामनीतिसे विवादाध्यक्षको अपने अनुकूल बनाकर वादका प्रारंभ करता है । या प्रतिवादीको अनुकूल बनाकर वाद शुरू करदेता है और वादमें पड़ जानेके बाद उसे हराता है ।

४ यदि वादी देखता है कि वह प्रतिवादीको हरानेमें सर्वथा समर्थ है तब वह सभापति और प्रतिवादीको अनुकूल बनानेकी अपेक्षा प्रतिकूल ही बनाता है और प्रतिवादी को हराता है ।

५ अध्यक्षकी सेवाकरके किया जानेवाला वाद ।

६ अपने पक्षपाती सम्प्रदायसे अध्यक्षका मेल कराके या प्रतिवादीके प्रति अध्यक्षको द्वेषी बनाकर किया जानेवाला वाद ।

वादी वाद शुरू होनेके पहले जो प्रपञ्च करता है उसके साथ अन्तिम दो विवादों की तुलना की जा सकती है । ऐसे प्रपञ्चका जिक्र चरकमें इन शब्दोंमें है—

“प्रागेव तावदिदं कर्तुं यतते सन्धाय परिषदाऽयनभूतमात्मनः प्रकरणमादेशमित्यम् ; यद्वा परस्य शृशुर्न स्यात् पक्षम्, अथवा परस्य शृशं विमुखमानयेत् । परिषदि चोपसंहितायामशक्यमस्माभिर्वक्तुम् एवैव ते परिषद् यथेष्टं यथायोग्यं यथाभिप्रायं वादं वादमयोदां च स्थापयिष्यतीत्युक्त्वा तूष्णीमासीत् ।” विमानस्थान अ० ८. सू० २५ ।

§ ४ वाददोष ।

स्थानांगसूत्रमें जो दश दोष गिनाए गए हैं उनका भी संबन्ध वाद कथासे है अत एव यहाँ उन दोषोंका निर्देश करना आवश्यक है—

“वसविहे दोसे पं० तं०

१ तज्जातदोसे, २ मतिभंगदोसे, ३ पक्षधारदोसे, ४ परिहरणदोसे ।

५ खलकण, ६ कारण, ७ हेउदोसे ८ संकामण, ९ निगग्रह, १० वस्तुदोसे ॥”

सू० ७४३ ।

१ प्रतिवादिके कुलका निर्देश करके वादमें दूषण देना । या प्रतिवादिकी प्रतिभासे क्षोभ होनेके कारण वादीका चूप हो जाना तज्जातदोष है ।

२ वादप्रसंगमें प्रतिवादि या वादि का स्मृतिभंग मतिभंग दोष है ।

३ वादप्रसंगमें सभ्य या सभापति पक्षपाती होकर जयदान करे या किसीको सहायता दे तो वह प्रशास्तदोष है ।

१ चरकमें सन्धान संभाषा वीतराग कथाको कहा है । इसका दूसरा नाम अनुकोम संभाषा भी कहलें हैं । विमानस्थान अ० ८. सू० १६ । प्रस्तुतमें टीकाकार के अनुसार अर्थ किया गया है किन्तु संभव है कि अनुकोमइत्या इसका संबन्ध चरकका अनुकोमसंभाषासंभाषाके साथ हो । चरककृत व्याख्या इस प्रकार है—

तत्र ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिषेधनशक्तिसंपन्नेनाकोपनेनानुपस्कृतविद्येनानस्यैकानुनेयेनानुमयकोविदेन क्लेशक्षमेण प्रियसंभाषणेन च सह सन्धायसंभाषा विधीयते । तथाविधेन सह कथयन् विभ्रमः कथयेत् पृच्छेदपि च विभ्रमः, पृच्छते चास्मै विभ्रमधाय विशदमर्थं ब्रूयात्, न च निग्रहभयावुद्भिजेत निगृह्य चैनं न ब्रूयेत्, न च परेषु विकस्येत न च मोहावेकान्तप्राप्ती स्यात्, न चाविहितमर्थमनुवर्णयेत् सम्यक् आनुनयेनानुनयेत्, तत्र आवहितः स्यात् । इति अनुकोमसंभाषाविधयः ।”

चरककी विपुलसंभाषाकी स्थानांगगत प्रतिकोम से तुलना की जा सकती है । क्योंकि चरकके अनुसार विपुलसंभाषा अपनेसे हीन या अपनी बराबरी करने वालेके साथ ही करना चाहिये, जेइसे कभी नहीं ।

२ “युते हि शुक्लशिष्ययोः वादिप्रतिवादिनोर्वा वादाजया इव कइयन्ते” ।

स्थानांगसूत्रटीका० सू० ७४३ ।

४ सभाके नियमके विरुद्ध चूँचना या दूषणका परिहार जात्युत्तरसे करना परिहरणदोष है ।

५ अतिध्यासि आदि दोष खलक्षण दोष हैं ।

६ युक्तिदोष करणदोष कहलाता है ।

७ असिद्धादि हेत्वाभास हेतुदोष हैं ।

८ प्रतिहान्तर करना संक्रमण है या प्रतिवादीके पक्षका स्वीकार करना संक्रमण दोष है । टीकाकारने इसका ऐसा भी अर्थ किया है कि प्रस्तुत प्रमेयकी चर्चाको छोड़ अप्रस्तुत प्रमेय की चर्चा करना संक्रमणदोष है ।

९ छलाहिके द्वारा प्रतिवादीको निगूहीत करना निग्रह दोष है ।

१० पक्षदोषको वस्तुदोष कहा जाता है जैसे प्रत्यक्षनिराकृत आदि ।

इनमें से प्रायः सभी दोषोंका वर्णन न्यायशास्त्रमें स्पष्टरूपसे हुआ है । अतएव विशेष विवेचनकी आवश्यकता नहीं ।

### §५ विशेषदोष ।

स्थानागसूत्रमें विशेषके दश प्रकार<sup>१</sup> गिनाए गये हैं उनका संबन्ध भी दोषसे ही है ऐसा टीकाकारका अभिप्राय है । मूलकारका अभिप्राय क्या है कहा नहीं जा सकता । टीकाकारने उन दस प्रकारके विशेषका जो वर्णन किया है वह इस प्रकार है—

१ वस्तुदोषविशेष से मतलब है पक्षदोषविशेष; जैसे प्रत्यक्षनिराकृत, अनुमाननिराकृत, प्रतीतिनिराकृत, स्ववचननिराकृत और लोकरूढिनिराकृत ।

२ जन्म मर्म कर्म आदि विशेषोंको लेकर किसीको वादमें दूषण देना तज्जातदोषविशेष है ।

३ पूर्वोक्त मतिभंगादि जो आठ दोष गिनाए हैं वे भी दोषसामान्यकी अपेक्षासे दोषविशेष होनेसे दोषविशेष कहे जाते हैं ।

४ एकार्थिकविशेष अर्थात् पर्यायवाची शब्दोंमें जो कथञ्चिद् भेदविशेष होता है वह; अथवा एक ही अर्थका बोध करानेवाले शब्दविशेष ।<sup>२</sup>

५ कारणविशेष—परिणामिकारण और अपेक्षाकारण ये कारणविशेष हैं । अथवा उपादान, निमित्त, सहकारि, ये कारणविशेष हैं । अथवा कारणदोषविशेष का मतलब है युक्तिदोष । दोष सामान्यकी अपेक्षा से युक्तिदोष यह एक विशेष दोष है ।

६ वस्तुको प्रत्युत्पन्न ही माननेपर जो दोष हो वह प्रत्युत्पन्नदोषविशेष है । जैसे अकृता-भ्यागमकृतविप्रणाशादि ।

७ जो दोष सर्वथा हो वह नित्यदोषविशेष है जैसे अभव्य में मिथ्यात्वादि । अथवा वस्तुको सर्वथा नित्य माननेपर जो दोष हो वह नित्यदोषविशेष है ।

१ “इसविधे बिसेसे ५० तं० वस्तु १ तज्जात दोसे २ त, दोसे एगद्विसेति ३ त । कारणे ४ त पञ्चपञ्चो ५, दोसे ६ तिब्बो ७ हि अद्दुसे ८ ॥ १ ॥ अज्जणा ९ उवणीसे १० त बिसेसेति त, ते इस ।” स्थानाग सूत्र० ५४३ । २ इस दोषसे मूलकारका अभिप्राय पुनश्चत निग्रहस्थानसे (प्यायसू० ५.२.१४) और चरकसंमत अधिक नामक कायमदोषसे (“यद्वा सम्बद्धार्यमपि द्विरभिधीयते तत् पुनश्चतत्वाद् अधिकम्”—विमान० अ० ८. सू. ५४) हो तो आश्चर्य नहीं ।

८ अधिकदोषविशेष वह है जो प्रतिपक्षिके लिये अनावश्यक ऐसे अवयवोंका प्रयोग होनेपर होता है ।

न्यायसूत्रसंमत अधिक निग्रहस्थान यहाँ अभिप्रेत है ।

९ स्वयंकृत दोष ।

१० परापादित दोष ।

§ ६ प्रश्न ।

स्थानांगसूत्रमें प्रश्नके छ प्रकार बताए गये हैं —

१ संशयप्रश्न

२ व्युद्बुद्धप्रश्न

३ अनुयोगी

४ अनुलोम

५ तथाज्ञान

६ अतथाज्ञान

वादमें, चाहे वह वीतराग कथा हो या जल्प हो, प्रश्न का पर्याप्त महत्त्व है । प्रस्तुत सूत्रमें प्रश्नके भेदोंका जो निर्देश है वह प्रश्नोंके पीछे रही प्रष्टाकी भावना या भूमिकाके आधारपर है ऐसा प्रतीत होता है ।

१ संशयको दूर करनेके लिये जो प्रश्न पूछा जाय वह संशयप्रश्न है ।

इस संशयने न्यायसूत्रके सोलह पदार्थोंमें और चरकके वादपदोंमें स्थान पाया है ।

संशय प्रश्नकी विशेषता यह है कि उसमें दो कोटिका निर्देश होता है । जैसे “किंतु कलु अस्यकालमृत्युः उत नास्तीति” विमान० अ० ८. सू० ४३ ।

२ प्रतिवादी जब अपने मिथ्याभिनिवेशके कारण प्रश्न करता है तब वह व्युद्बुद्ध प्रश्न है ।

३ स्वयं वक्ता अपने वक्तव्यको स्पष्ट करनेके लिये प्रश्न खड़ा करके उसका उत्तर देता है तब वह अनुयोगी प्रश्न है अर्थात् व्याख्यान या प्ररूपणाके लिये किया गया प्रश्न । चरकमें एक अनुयोग वादपद है उसका लक्षण इस प्रकार चरकने किया है —

अनुयोगो नाम स यत्तद्विधानां तद्विधैरेव सार्धं तन्मे तन्मैकदेशे वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिषेधनपरीक्षार्थमादिदयते, यथा नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञाते यत् परः ‘को हेतुः’ इत्याह सोऽनुयोगः ।

स्थानांगका अनुयोगी प्रश्न वस्तुतः चरकके अनुयोगसे अभिन्न होना चाहिए ऐसा चरकके उक्त लक्षण से स्पष्ट है ।

४ अनुलोमप्रश्न वह है जो दूसरेको अपने अनुकूल करनेके लिये किया जाता है जैसे कुशलप्रश्न ।

५ जिस वस्तुका ज्ञान पृच्छक और प्रष्टव्यको समान भावसे हो फिर भी उस विषयमें पूछा जाय तब वह प्रश्न तथाज्ञानप्रश्न है । जैसे भगवतीमें गौतमके प्रश्न ।

६ इससे विपरीत अतथाज्ञान प्रश्न है ।

इन प्रश्नोंके प्रसंगमें उत्तरकी दृष्टिसे चार प्रकारके प्रश्नोंका जो वर्णन बौद्धग्रन्थोंमें आता है उसका निर्देश उपयोगी है—

- १ कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनका है या नहीं में उत्तर दिया जाता है—एकांशव्याकरणीय ।
- २ कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर प्रति प्रश्न के द्वारा दिया जाता है—प्रतिपृच्छाव्याकरणीय ।
- ३ कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर विभाग करके अर्थात् एक अंशमें 'है' कहकर और दूसरे अंशमें 'नहीं' कहकर दिया जाता है—विभज्यव्याकरणीय ।
- ४ कुछ प्रश्न ऐसे हैं जो स्थापनीय—अव्याकृत हैं जिनका उत्तर दिया नहीं जाता ।<sup>१</sup>

### §७ छल-जाति ।

स्थानांगसूत्रमें हेतुशब्दका प्रयोग नाना अर्थमें हुआ है । प्रमाणसामान्य अर्थमें हेतुशब्दका प्रयोग प्रथम (पृ० ६३) बताया गया है । साधन अर्थमें हेतुशब्दका प्रयोग भी हेतुचर्चामें (पृ० ७८) बताया गया है । अब हम हेतुशब्दके एक और अर्थकी ओर भी वाचकका ध्यान दिलाना चाहते हैं । स्थानांगमें हेतुके जो—यापक आदि निम्न लिखित चार भेद बताये हैं उनकी व्याख्या देखनेसे स्पष्ट है कि यापक हेतु असद्वेतु है और स्थापक ठीक उससे उलटा है । इसी प्रकार व्यंसक और लक्षकमें भी परस्पर विरोध है । अर्थात् ये चार हेतु दो द्वन्द्वोंमें विभक्त हैं ।

यापक हेतुमें मुख्यतया साध्यसिद्धिका नहीं पर प्रतिवादीको जात्युत्तर देनेका ध्येय है । उसमें कालयापन करके प्रतिवादिको धोखा दिया जाता है । इसके विपरीत स्थापक हेतुसे अपने साध्यको शीघ्र सिद्ध करना इष्ट है । व्यंसक हेतु यह छल प्रयोग है तो लक्षक हेतु प्रतिच्छल है । किन्तु प्रतिच्छल इस प्रकार किया जाता है जिससे कि प्रतिवादीके पक्षमें प्रसंगापादान हो और परिणामतः वह वादीके पक्षको स्वीकृत करनेके लिये बाध्य हो । अब हम यापकादिका शास्त्रोक्त विवरण देखें—(स्थानांग सू० ३३८)

- (१) जावते (यापकः)
- (२) थावते (स्थापकः)
- (३) वंसते (व्यंसकः)
- (४) लसते (लक्षकः)

इन्हीं हेतुओंका विशेष वर्णन दशवैकालिकसूत्र की निर्युक्तिमें (गा० ८६ से) आ० भद्रबाहुने किया है उसीके आधारसे उनका परिचय यहाँ कराया जाता है, क्योंकि स्थानांगमें हेतुओंके नाममात्र उपलब्ध होते हैं । भद्रबाहुने चारों हेतुओंको लौकिक उदाहरणोंसे स्पष्ट किया है किन्तु उन हेतुओंका द्रव्यानुयोगकी चर्चामें कैसे प्रयोग होता है उसका स्पष्टीकरण दशवैकालिकचूर्णामें है इसका भी उपयोग प्रस्तुत विवरणमें किया है ।

### (१) यापक ।

जिसको विशेषणोंकी बहुलताके कारण प्रतिवादी शीघ्र न समझसके और प्रतिवाद करनेमें असमर्थ हो, ऐसे हेतु को कालयापनमें कारण होनेसे यापक कहा जाता है । अथवा जिसकी व्याप्ति प्रसिद्ध न होनेसे तत्साधक अन्य प्रमाणकी अपेक्षा रखनेके कारण साध्यसिद्धिमें विलम्ब होता हो उसे यापक कहते हैं ।

<sup>१</sup> दीप० ३३ । मिलिन्द पृ० १७५ ।

इसका लौकिक उदाहरण दिया गया है— किसी असाध्वी स्त्रीने अपने पतिको ऊंटकी लँछिया देकर कहा कि उज्जयिनीमें प्रत्येकका एक रूपया मिलेगा अत एव वहीं जाकर बेचो। मूर्ख पति जब लोभवश उज्जयिनी गया तो उसे काफी समय लग गया। इस बीच उस स्त्रीने अपने जारके साथ कालयापन किया<sup>१</sup>।

यापकका अर्थ टीकाकारोंने जैसा किया है ऊपर लिखा है। वस्तुतः उसका तात्पर्य इतना ही जान पड़ता है कि प्रतिवादीको समझनेमें देरी लगे वैसे हेतुके प्रयोगको यापक कहना चाहिए। यदि यापकका यही मतलब है तो इसकी तुलना अविज्ञातार्थ निग्रहस्थानयोग्य वाक्यप्रयोगसे करना चाहिए। न्यायसूत्रकारने कहा है कि वादी तीन दफह उच्चारणकरे फिर भी यदि प्रतिवादी और पर्यत् समझ न सके तो वादीको अविज्ञातार्थनिग्रहस्थान प्राप्त होता है। अर्थात् न्यायसूत्रकारके मतसे यापक हेतुका प्रयोक्ता निगृहीत होता है।

“परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमपि अविज्ञातमविज्ञातार्थम्।” न्यायसू० ५.२.९।

ऐसा ही मत उपायहृदय (पृ० १) और तर्कशास्त्र (पृ० ८) कार्मी है।

चरकसंहितामें विगृह्यसंभाषाके प्रसंगमें कहा है कि “तद्विद्येन सह कथयता स्वविज्ञदीर्घ-सूत्रसंकुलैर्वाक्यदण्डकैः कथयितव्यम्।” विमानस्थान अ० ८. सू० २०। इसका भी उद्देश्य यापक हेतुके समान ही प्रतीत होता है।

वादशास्त्रके विकासके साथ साथ यापक जैसे हेतुके प्रयोक्ताको निग्रहस्थानकी प्राप्ति मानी जाने लगी यह न्यायसूत्रके अविज्ञात निग्रहस्थानसे स्पष्ट है।

तर्कशास्त्र (पृ० ३९) उपायहृदय (पृ० १९) और न्यायसूत्रमें (५.२.१८) एक अज्ञान निग्रहस्थान भी है उसका कारण भी यापक हेतु हो सकता है क्योंकि अज्ञान निग्रहस्थान तब होता है जब प्रतिवादी वादीकी बातको समझ न सके। अर्थात् वादीने यदि यापक हेतुका प्रयोग किया हो तो प्रतिवादी शीघ्र उसे नहीं समझ पाता और निगृहीत होता है। इसी अज्ञानको चरकने अविज्ञान कहा है—वही ६५।

## (२) स्थापक ।

प्रसिद्धव्याप्तिक होनेसे साध्यको शीघ्र स्थापित कर देनेवाले हेतुको स्थापक कहते हैं। इसके उदाहरणमें एक संन्यासीकी कथा है<sup>२</sup>, जो प्रत्येक ग्राममें जाकर उपदेश देता था कि लोकमध्यमें दिया गया दान सफल होता है। पूछने पर प्रत्येक गांवमें किसीभागमें लोकमध्य बताता था और दान लेता था। किसी श्रावकने उसकी धूर्तता प्रकट की। उसने कहा कि यदि उस गांवमें लोकमध्य था तो फिर यहां नहीं और यदि यहां है तो उधर नहीं। इस प्रकार वादचर्चामें ऐसा ही हेतु रखना चाहिए कि अपना साध्य शीघ्र सिद्ध हो जाय और संन्यासीके वचन की तरह परस्पर विरोध न हो। यह हेतु यापकसे ठीक विपरीत है और सञ्चेतु है।

चरकसंहितामें वादपदोंमें जो स्थापना और प्रतिस्थापनाका द्वन्द्व है उसमेंसे प्रतिस्थापनाकी स्थापकके साथ तुलना की जा सकती है। जैसे स्थापक हेतुके उदाहरणमें कहा गया है कि संन्यासीके वचनमें विरोध बता कर प्रतिवादी अपनी बातको सिद्ध करता है उसी प्रकार

१ “उक्तमिषा य महिला जावगहेउमि उण्डलिंङाई ।” दशवे० लि० गा० ८७। २ “लोगस्स मज्झजाणण थावमहेउ उदाहरणं” दशवे० लि० ८७।

चरकसंहितामें भी स्थापनाके विरुद्धमें ही प्रतिस्थापना का निर्देश है “प्रतिस्थापना नाम या तस्या एव परप्रतिज्ञायाः प्रतिविपरीतार्थस्थापना” वही ३२ ।

### ( ३ ) व्यंसक ।

प्रतिवादीको मोहमें डालनेवाले अर्थात् छलनेवाले हेतुको व्यंसक कहते हैं । लौकिक उदाहरण शकटतित्तिरी<sup>१</sup> है । किसी धूर्तने शकटमें रखी हुई तित्तिरीको देखकर शकटवालेसे छलपूर्वक पूछा कि शकटतित्तिरीकी क्या कीमत है ? शकटवालेने उत्तरदिया तैर्पणालोडिका-जलमिश्रित सक्तु । धूर्तने उतनी कीमतमें शकट और तित्तिरी—दोनों ले लिये । इसी प्रकार वादमें भी प्रतिवादी जो छलप्रयोग करता है वह व्यंसक हेतु है । जैन वादीके सामने कोई कहे कि जिनमार्गमें जीव भी अस्ति है और घट भी अस्ति है तब तो अस्तित्वविशेषात् जीव और घटका ऐक्य मानना चाहिए । यदि जीवसे अस्तित्व को भिन्न मानते हो तब जीवका अभाव होगा । यह व्यंसक हेतु है ।

### ( ४ ) लूषक ।

व्यंसक हेतुके उत्तरको लूषक हेतु कहते हैं । अर्थात् इससे व्यंसक हेतुसे आपादित अनिष्टका परिहार होता है ।

इसके उदाहरणमें भी एक धूर्तके छल और प्रतिच्छलकी कथा है । ककडीसे भरा शकट देखकर धूर्तने शाकटिकसे पूछा—शकटकी ककडी खाजानेवालेको क्या दोगे ? उत्तर मिला—ऐसा मोदक जो नगरद्वारसे बहार न निकलसके<sup>२</sup> । धूर्त शकटपर चढ़कर थोड़ा थोड़ा सभी ककडीमें से खाकर इनाम मांगने लगा । शाकटिकने आपत्ति की कि तुमने सभी ककडी तो खाई नहीं । धूर्तने कहा कि अच्छा तब बेचना शुरू करो । इतनेमें ग्राहकोंने कहा—‘ये सभी ककडी तो खाई हुई है’ । सुनकर धूर्तने कहा देखो ‘सभी ककडी खाई है’ ऐसा अन्य लोग भी स्वीकार करते हैं । मुझे इनाम मिलना चाहिए । तब शाकटिकने भी प्रतिच्छल किया । एक मोदक नगरद्वारके पास रखकर कहा ‘यह मोदक द्वारसे नहीं निकलता । इसे ले लो’ । जैसा ककडीके साथ ‘खाई है’ प्रयोग देखकर धूर्तने छल कियाया वैसा ही शाकटिकने ‘नहीं निकलता’ ऐसे प्रयोगके द्वारा प्रतिच्छल किया । इसी प्रकार वादचर्चामें उक्त व्यंसक हेतुका प्रत्युत्तर लूषक हेतुका प्रयोग करके देना चाहिए । जैसे कि यदि तुम जीव और घटका ऐक्य सिद्ध करते हो वैसे तो अस्तित्व होनेसे सभी भावोंका ऐक्य सिद्ध हो जायगा । किन्तु वस्तुतः देखा जाय तो घट और पटादि ये सभी पदार्थ एक नहीं, तो फिर जीव और घट भी एक नहीं ।

व्यंसक और लूषक इन दोनोंके उक्त दो उदाहरण जो लौकिक कथासे लिये गये हैं वे वाक्छलान्तर्गत हैं । किन्तु द्रव्यानुयोगके उदाहरणोंमें जो बात कही गई है वह वाक्छल नहीं । चरकगत सामान्य छलके उदाहरणको देखते हुए कहा जा सकता है कि इन दोनों हेतुओंके द्रव्यानुयोग विषयक उदाहरणोंको चरकके अनुसार सामान्य छल कहा जा सकता है, चरकमें सामान्य छलका उदाहरण इस प्रकार है—“सामान्यच्छलं नाम यथा व्याधिप्रशमनावौषध-

१ “सा सनाडतित्तिरी—वसगमि होई नायव्वा ।” वही ८८ । ‘शकटतित्तिरी’ के दो अर्थ हैं शकटमें रखी हुई तित्तिरी और शकटके साथ तित्तिरी । २ तैर्पणालोडिकाके दो अर्थ हैं जलमिश्रित सक्तु और सक्तुका मिश्रण करती बी । ३ “तद्वसगवसग लूसगहेडमि य मोवगो य पुणो ।” वही गा० ८८ ।

मित्युक्ते परो ब्रूयात् सत् सत्प्रशमनायेति किं नु भवानाह । सन् हि रोगः सर्वोषधम्, यदि च सत् सत्प्रशमनाय भवति तत्र सन् ही कासः सन् क्षयः सत्सामान्यात् कासस्ते क्षयप्रशमनाय भविष्यति इति ।” वही ५६ ।

न्यायसूत्रके अनुसार मी द्रव्यानुयोगके उदाहरणोंको सामान्य छलान्तर्गत कहा जा सकता है न्यायसू० १. २. १३ ।

अथवा न्यायसूत्रगत अविशेषसमजाति प्रयोगके अन्तर्गत मी कहा जा सकता है, क्यों कि उसका लक्षण इस प्रकार है—“एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात् सङ्गावोपपत्तेरविशेषसमः ।” न्यायसू० ५.१.२३ “एको धर्मः प्रयत्नानन्तरीयकत्वं शब्दपदयोरुपपद्यत इत्यविशेषे उभयोरनित्यत्वे सर्वस्याविशेषः प्रसज्यते । कथम् ? सङ्गावोपपत्तेः । एको धर्मः सङ्गावः सर्वस्योपपद्यते । सङ्गावोपपत्तेः सर्वाविशेषप्रसङ्गात् प्रत्यवस्थानमविशेषसमः ।” न्यायभा० ।

बौद्धग्रन्थ तर्कशास्त्रगत ( ५० १५ ) अविशेषलण्डन की तुलना मी यहाँ कर्तव्य है । न्यायमुख गत अविशेषदूषणाभास मी इसी कोटिका है ।

छलवादी ब्राह्मण सोमिलके प्रश्नमें रहे हुए शब्दच्छलको ताड़ करके भगवान् महावीरने उस छलवादीके शब्दच्छलका जो उत्तर दिया है उसका उद्धरण यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा । क्योंकि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं भगवान् महावीर बादविद्यामें प्रवीण थे और उस समय लोक कैसा शब्दच्छल किया करते थे —

“सरिसवा ते भन्ते किं भक्खेया अभक्खेया ?”

“सोमिला ! सरिसवा भक्खेया वि अभक्खेया वि ।”

“ते केणट्ठेणं भन्ते एवं दुब्बह-सरिसवा मे भक्खेया वि अभक्खेया वि ?”

“ते नूनं ते सोमिला ! बंभजपसु नपसु दुविहा सरिसवा पज्जता, तंजहा-मिच्छसरिसवा य धजसरिसवा य । तत्थ णं जे ते मिच्छसरिसवा.....ते णं समणाणं निग्गंधाणं अभक्खेया । तत्थ णं जे ते धजसरिसवा.....अणेलणिज्जा ते समणाणं निग्गंधाणं अभक्खेया ।.....तत्थणं जे ते जातिया.....लज्जा ते णं समणाणं निग्गंधाणं भक्खेया.....।”

“मासा ते भन्ते किं भक्खेया अभक्खेया ?”

“सोमिला ! मासा मे भक्खेया वि अभक्खेया वि ।”

“ते केणट्ठेणं.....”

“ते नूनं ते सोमिला ! बंभजपसु नपसु दुविहा मासा पज्जता । तंजहा-द्वयमासा य कालमासा य । तत्थ णं जे ते कालमासा ते णं सावणादीया.....ते णं समणाणं निग्गंधाणं अभक्खेया । तत्थ णं जे ते द्वयमासा ते दुविहा पज्जता अरथमासा य धजमासा य । तत्थणं जे ते अरथमासा.....ते.....निग्गंधाणं अभक्खेया । तत्थणं जे ते धजमासा.....एवं जहा धजसरिसवा.....।”

“कुलत्था ते भन्ते किं भक्खेया अभक्खेया ?”

“सोमिला ! कुलत्था भक्खेया वि अभक्खेया वि ।”

“ते केणट्ठेणं ?”

“ते नूनं सोमिला ! ते बंभजपसु दुविहा कुलत्था पज्जता, तंजहा, इत्थिकुलत्था य धजकुलत्था य । तत्थ जे ते इत्थिकुलत्था.....ते.....निग्गंधाणं अभक्खेया । तत्थ णं जे ते धजकुलत्था एवं जहा धजसरिसवा.....।”

भगवती १८. १० ।

इस चर्चामें प्राकृत भाषाके कारण शब्दच्छलकी गुंजाईश है यह बात भाषाविदोंको कहनेकी आवश्यकता नहीं ।

### §८ उदाहरण—ज्ञात—दृष्टांत ।

जैनशास्त्रमें उदाहरणके भेदोपभेद बताये हैं किन्तु उदाहरणका नैयायिकसंमत संकुचित अर्थ न लेकर किसी वस्तुकी सिद्धि या असिद्धिमें दी जानेवाली उपपत्ति उदाहरण है ऐसा विस्तृत अर्थ लेकर उदाहरण शब्दका प्रयोग किया गया है । अतएव किसी स्थानमें उसका अर्थ दृष्टान्त तो किसी स्थानमें आख्यानक, और किसी स्थानमें उपमान तो किसी स्थानमें युक्ति या उपपत्ति होता है । वस्तुतः जैसे चरकने बादमार्गपद<sup>१</sup> कह करके या न्यायसूत्रने<sup>२</sup> तत्त्वज्ञानके विषयभूत पदार्थोंका संग्रह करना चाहा है वैसे ही किसी प्राचीन परंपराका आधार लेकर स्थानांग सूत्रमें उदाहरणके नामसे बादोपयोगी पदार्थोंका संग्रह किया है । जिस प्रकार न्यायसूत्रसे चरकका संग्रह स्वतन्त्र है और किसी प्राचीनमार्गका अनुसरण करता है उसी प्रकार जैन शास्त्रगत उदाहरणका वर्णन भी उक्त दोनोंसे पृथक् ही किसी प्राचीन परंपराका अनुगामी है ।

यद्यपि निर्युक्तिकारने उदाहरणके निम्न लिखित पर्याय बताये हैं किन्तु सूत्रोक्त उदाहरण उन पर्यायोंसे प्रतिपादित अर्थोंमें ही सीमित नहीं है जो अगले वर्णनसे स्पष्ट है—

“नायमुदाहरणं ति य दिदृंतोवम निदिरिस्सणं तहय । एगद्वं” — दशवै० नि० ५२ ।

स्थानांगसूत्रमें ज्ञात—उदाहरणके चार भेदोंका उपभेदोंके साथ जो नामसंकीर्तन है वह इस प्रकार है—सू० ३३८ ।

| १ आहरण                  | २ आहरणतद्देश  | ३ आहरणतद्दोष   | ४ उपन्यासोपनय   |
|-------------------------|---------------|----------------|-----------------|
| (१) अपाय                | (१) अनुशक्ति  | (१) अधर्मयुक्त | (१) तद्रस्तुक   |
| (२) उपाय                | (२) उपालम्भ   | (२) प्रतिलोभ   | (२) तदन्यवस्तुक |
| (३) स्थापनाकर्म         | (३) पृच्छा    | (३) आत्मोपनीत  | (३) प्रतिनिभ    |
| (४) प्रत्युत्पन्नविनाशी | (४) निश्रावचन | (४) दुरुपनीत   | (४) हेतु        |

उदाहरणके इन भेदोपभेदोंका स्पष्टीकरण दशवैकालिकनिर्युक्ति और चूर्णामि<sup>३</sup> है । उसीके आधारपर हरिभद्रने दशवैकालिकटीकामें और अभयदेवने स्थानांगटीकामें स्पष्टीकरण किया है । निर्युक्तिकारने अपायादि प्रत्येक उदाहरणके उपभेदोंका चरितानुयोगकी दृष्टिसे तथा द्रव्यानुयोगकी दृष्टिसे वर्णन किया है किन्तु प्रस्तुतमें प्रमाण चर्चोपयोगी द्रव्यानुयोगानुसारी स्पष्टीकरण ही करना इष्ट है ।

#### (१) आहरण ।

(१) अपाय अनिष्टापादन करदेना अपायोदाहरण है । अर्थात् प्रतिवादीकी मान्यतामें अनिष्टापादन करके उसकी सदोषताके द्वारा उसके परित्यागका उपदेश देना यह अपायोदाहरणका प्रयोजन है । भद्रबाहुने अपायके विषयमें कहा है कि “जो लोग आत्माको एकान्त निष्ठ

१ वही सू० २० । २ न्यायसू० १.१.१ ।

३ “वदधादिपहिं निष्ठो एगंतेणेष जेसि अप्पा उ ।

होइ अभावो तेसि सुहदुहसंसारभोक्काणं ॥ ५९ ॥

सुहदुक्कासंपभोगो न विज्झई निष्ठवायपक्कंसि ।

एगंनुच्छेअंसि अ सुहदुक्खविगप्पणमज्जुत्तं ॥ ६० ॥” दशवै० नि०



या एकान्त अनित्य मानते हैं उनके मतमें सुख-दुख-संसार-भोक्षकी घटना बन नहीं सकती । इस लिये दोनों पक्षोंको छोड़कर अनेकान्तका आश्रय लेना चाहिए । दूसरे दार्शनिक जिसे प्रसंगपादन कहते हैं उसकी तुलना अपायसे करना चाहिए ।

सामान्यतया दूषणको भी अपाय कहा जा सकता है । वादीको स्वपक्षमें दूषणका उद्धार करना चाहिए और परपक्षमें दूषण देना चाहिए ।

( २ ) उपाय—इष्ट वस्तुकी प्राप्ति या सिद्धिके व्यापार विशेषको उपाय कहते हैं । आत्मस्थित्वरूप इष्टके साधक समी हेतुओंका अवलंबन करना उपायोदाहरण है । जैसे आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है फिर भी सुख-दुःखादि धर्मका आश्रय—धर्मी होना चाहिए । ऐसा जो धर्मी है वही आत्मा है । तथा जैसे देवदत्त हाथीसे घोड़ेपर संक्रान्ति करता है, ग्रामसे नगरमें, वर्षासे शरदमें और औदयिकादिभावे उपशममें संक्रान्ति करता है वैसेही जीव भी—द्रव्यक्षेत्रा-विमें संक्रान्ति करता है तो वह भी देवदत्तकी तरह है<sup>१</sup> ।

बौद्धग्रन्थ ‘उपायद्वय’में जिस अर्थमें उपाय शब्द है उसी अर्थका बोध प्रस्तुत उपाय शब्दसे भी होता है । बादमें वादीका धर्म है कि वह स्वपक्षके साधक समी उपायोंका उपयोग करे और स्वपक्षदूषणका निरास करे । अतएव उसके लिये वादोपयोगी पदार्थोंका ज्ञान आवश्यक है । उसी ज्ञानको करानेके लिये ‘उपायद्वय’ ग्रन्थ की रचना हुई है । स्थानांगगत अपाय और उपायका भी यही भाव है कि अपाय अर्थात् दूषण और उपाय अर्थात् साधन । दूसरेके पक्षमें अपाय बताना चाहिए और स्वपक्षमें अपायसे बचना चाहिए । स्वपक्षकी सिद्धिके लिये उपाय करना चाहिए और दूसरेके उपायमें अपायका प्रतिपादन करना चाहिए ।

( ३ ) स्थापनाकर्म—इष्ट अर्थकी सम्यग्रूपरूपणा करना स्थापनाकर्म है । वादी प्रतिवादीद्वारा व्यभिचार बतलाये जानेपर व्यभिचार निवृत्तिद्वारा यदि हेतुकी सम्यग् स्थापना करता है तब वह स्थापना कर्म है—

“संयमिचारं हेतुं सङ्गसा बोधुं तमेव भवेहि ।

उच्चबुद्धि सप्यसरं सामर्थ्यं अप्यणो नाडं ॥ ६८ ॥”

अभयदेवने इस विषयमें निम्नलिखित प्रयोग दर्साया है “अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्” यहाँ कृतकत्वहेतु सव्यभिचार है क्योंकि वर्णात्मकशब्द नित्य है । किन्तु वादी वर्णात्मकशब्दको भी अनित्य सिद्ध कर देता है—कि “वर्णात्मा शब्दः कृतकः, निजकारणमेवेन विद्यमानत्वात् घटपटादिवत्” । यहाँ घटपटादिके दृष्टान्तसे वर्णात्मकशब्दका अनित्यत्व स्थापित हुआ है अतएव यह स्थापनाकर्म हुआ ।

‘स्थापनाकर्म’ की भ्रवाहुकृत व्याख्याको अलग रखकर अगर शब्दसादृश्य की ओर ही ध्यान दिया जाय तो चरकसंहितागत स्थापनासे इसकी तुलना की जा सकती है । चरकके मतसे किसी प्रतिज्ञाको सिद्ध करनेके लिये हेतु दृष्टान्त उपनय और निगमनका आश्रय

<sup>१</sup> वही ११—११ । २ दृष्टीने चीनीसे संस्कृतमें इस ग्रन्थका अनुवाद किया है । उन्होंने जो प्रतिसंस्कृत ‘उपाय’ शब्द रखा है वह ठीक ही अंशदा है । यद्यपि स्वयं दृष्टीकी प्रतिसंस्कृतमें संदेह है ।

लेना स्थापना है । अर्थात् न्याय वाक्य दो भागोंमें विभक्त है — प्रतिज्ञा और स्थापना । प्रतिज्ञासे अतिरिक्त जिन अवयवोंसे वस्तु स्थापित — सिद्ध होती है उनको स्थापना कहा जाता है —

“स्थापना नाम तस्या एव प्रतिज्ञायाः हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनैः स्थापना । पूर्वं हि प्रतिज्ञा पश्चात् स्थापना । किं हि अप्रतिज्ञातं स्थापयिष्यति ।” वही ३१ ।

आ० भद्रबाहुने जो अर्थ किया है वही अर्थ यदि स्थापनाकर्मका लिया जाय तब चरकसंहितागत ‘परिहार’के साथ स्थापनाकर्मका सादृश्य है । क्यों कि परिहारकी व्याख्या चरकने ऐसी की है — “परिहारो नाम तस्यैव दोषवचनस्य ( हेतुदोषवचनस्य ) परिहरणम्” वही ६० ।

( ४ ) प्रत्युत्पन्नविनाशी — जिससे आपन्न दूषणका तत्काल निवारण हो वह प्रत्युत्पन्न-विनाशी है जैसे किसी शून्यवादीने कहा कि जब समी पदार्थ नहीं तो जीवका सञ्जाव कैसे ? तब उसको तुरंत उत्तर देना कि

“जं भणसि नत्थि भावा वयणमिदं अत्थि नत्थि अइ अत्थि ।  
एव पइसाहाणी असओ णु निसेहए को णु ॥ ७१ ॥

अर्थात् निषेधक वचन है या नहीं ? यदि है तो सर्व निषेध नहीं हुआ क्यों कि वचन सत् हो गया । यदि नहीं तो सर्वभावका निषेध कैसे ? असत् ऐसे वचनसे सर्ववस्तुका निषेध नहीं हो सकता । और जीवके निषेधका भी उत्तर देना कि तुमने जो शब्दप्रयोग किया वह तो विवक्षा-पूर्वक ही । यदि जीव ही नहीं तो विवक्षा किससे होगी ? अजीवको तो विवक्षा होती नहीं । अत एव जो निषेधवचनका संभव हुआ उसीसे जीवका अस्तित्व भी सिद्ध हो जाता है । यह उत्तरका प्रकार प्रत्युत्पन्नविनाशी है — दशवै० नि० ग० ७०-७२ ।

आ० भद्रबाहुकी कारिकाके साथ विग्रहव्यावर्तनीकी प्रथम कारिकाकी तुलना करना चाहिए । प्रतिपक्षीको प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थानसे निगृहीत करना प्रत्युत्पन्नविनाशी आहरण है । प्रतिज्ञा-हानि निग्रहस्थान न्यायसूत्र ( ५. २. २ ) चरक ( वही ६१ ) और तर्कशास्त्रमें ( पृ० ३३ ) है ।

( २ ) आहरणतद्देश ।

( १ ) अनुशास्ति — प्रतिवादीके मन्तव्यका आंशिक स्वीकार करके दूसरे अंशमें उसको शिक्षा देना अनुशास्ति है जैसे सांख्य को कहना कि सच है आत्माको हम भी तुम्हारी तरह सञ्ज्ञत मानते हैं किन्तु वह अकर्ता नहीं, कर्ता है, क्यों कि वही सुखदुःखका वेदन करता है । अर्थात् कर्मफल पाता है —

“जेसि पि अत्थि आया वचनद्वया ते पि अम्ह वि स अत्थि ।  
किन्तु अकत्ता न भवइ वेययइ जेण सुहदुक्कं ॥ ७५ ॥”

( २ ) उपालम्भ — दूसरेके मतको दूषित करना उपालम्भ है । जैसे चार्वाकको कहना कि यदि आत्मा नहीं है तो ‘आत्मा नहीं है’ ऐसा तुम्हारा कुविज्ञान भी संभव नहीं है । अर्थात् तुम्हारे इस कुविज्ञानको स्वीकार करके भी हम कह सकते हैं कि उससे आत्माभाव सिद्ध नहीं । क्यों कि ‘आत्मा है’ ऐसा ज्ञान हो या ‘आत्मा नहीं है’ ऐसा कुविज्ञान हो ये दोनों कोई चेतन जीवके अस्तित्वके बिना संभव नहीं क्यों कि अचेतन घटमें न ज्ञान है न कुविज्ञान — दशवै० नि० ७६ — ७७ ।

न्या० प्रस्तावना ११

उपालम्भका दार्शनिकोंमें सामान्य अर्थ तो यह किया जाता है कि दूसरेके पक्षमें दूषणका उद्भावन करना<sup>१</sup> किन्तु चरकने वादपदोंमें भी उपालम्भ को खतञ्जरूपसे गिनाया है और कहा है कि “उपालम्भो नाम हेतोर्बोद्धव्यम् ।” (५९.) अर्थात् चरकके अनुसार हेत्वाभासोंका उद्भावन उपालम्भ है । न्यायसूत्रका हेत्वाभासरूप निग्रहस्थान (५.२.२५) ही चरकका उपालम्भ है । स्वयं चरकने भी अहेतु (५७) नामक एक खतञ्ज वादपद रखा है । अहेतुका उद्भावन ही उपालम्भ है । तर्कशास्त्र (पृ० ४०) और उपायहृदयमें भी (पृ० १४) हेत्वाभासका वर्णन आया है । विशेषता यह है कि उपायहृदयमें हेत्वाभासका अर्थ विस्तृत है । छल और जातिका भी समावेश हेत्वाभासमें स्पष्टरूपसे किया है ।

(३) पृच्छा—प्रश्न करनेको पृच्छा कहते हैं—अर्थात् उत्तरोत्तर प्रश्न करके परमतको असिद्ध और खमतको सिद्ध करना पृच्छा है जैसे चार्वाकसे प्रश्न करके जीवसिद्धि करना ।

प्रश्न—आत्मा क्यों नहीं है ?

उत्तर—क्यों कि परोक्ष है ।

प्रश्न—यदि परोक्ष होनेसे नहीं तो तुम्हारा आत्मनिवेधक कुबिज्ञान भी दूसरों को परोक्ष है अत एव नहीं है । तब जीवनिवेध कैसे होगा ?

इस प्रश्नमें ही आत्मसिद्धि निहित है । और चार्वाकके उत्तरको स्वीकार करके ही यह प्रश्न किया गया है ।

इस पृच्छाकी तुलना चरकगत अनुयोगसे करना चाहिए । अनुयोगको चरकने प्रश्न और प्रश्नैकदेश कहा है—चरक बिमान० ८. ५२

उपायहृदयमें दूषण गिनाते हुए प्रश्नबाहुल्यमुत्तराल्पता तथा प्रश्नाल्पतोत्तरबाहुल्य ऐसे दो दूषण भी बताये हैं । इस पृच्छाकी तुलना उन दो दूषणोंसे की जा सकती है । प्रश्नबाहुल्य-मुत्तराल्पताका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

“आत्मा नित्योऽनैन्द्रियकरवात् यथाकाशोऽनैन्द्रियकरवाचित्य इति भवतः स्थापना । अथ यदनैन्द्रियकं तन्मावश्यं नित्यम् । तत्कथं सिद्धम्” उपाय० पृ० २८ ।

प्रश्नाल्पतोत्तरबाहुल्यका स्वरूप ऐसा है—

“आत्मा नित्योऽनैन्द्रियकरवादिति भवरस्थापना । अनैन्द्रियकस्य त्रैविध्यम् । यथा परमाण्वोऽनुपलभ्या अनित्याः । आकाशस्त्विन्द्रियानुपलभ्यो नित्यम् । कथं भवतोऽप्येतं यदनुपलभ्यत्वाचित्य इति ।” उपाय० पृ० २८ ।

उपायहृदयने प्रश्नके अज्ञान को भी एक खतञ्ज निग्रहस्थान माना है । और प्रश्नका त्रैविध्य प्रतिपादित किया है—

“तनु प्रश्नाः कतिविधाः ? उच्यते । त्रिविधाः । यथा वचनसमः, अर्थसमः, हेतुसमश्च । यदि वादिनस्तैस्त्रिभिः प्रश्नोत्तराणि न कुर्वन्ति तद्विभ्रान्तम् ।” पृ० १८ ।

(४) निश्चावचन—अन्यके बहानेसे अन्यको उपदेश देना निश्चावचन है । उपदेश तो देना स्वशिष्यको किन्तु अपेक्षा यह रखना कि उससे दूसरा प्रतिबुद्ध हो जाय । जैसे अपने

शिष्यको कहना कि जो लोग जीवका अस्तित्व नहीं मानते उनके मतमें दानादिका फल भी नहीं घटेगा । तब यह सुन कर बीचमें ही चार्वाक कहता है कि ठीक तो है फल न मिले तो नहीं । उसको उत्तर देना कि तब संसारमें जीवोंकी विचित्रता कैसे घटेगी ! यह निश्रावचन है—  
दशवै० नि० गा० ८० ।

### ( ३ ) आहरणतद्दोष

( १ ) अधर्मयुक्त—प्रवचनके हितार्थ सावधकर्म करना अधर्मयुक्त होनेसे आहरणतद्दोष है । जैसे प्रतिवादी पोद्दशाळ परिव्राजकने बादमें हारकर जब विद्याबलसे रोहगुप्त मुनिके विनाशार्थ बिच्छुओंका सर्जन किया तब रोहगुप्तने बिच्छुओंके विनाशार्थ मयूरोंका सर्जन किया जो अधर्मकार्य है । फिर भी प्रवचनके रक्षार्थ ऐसा करनेको रोहगुप्त भाष्य थे—दशवै० नि० गा० ८१ चूर्णी ।

( २ ) प्रतिलोम—‘शाश्वं कुर्यात्, शठं प्रति’ का अवलंबन करना प्रतिलोम है । जैसे रोहगुप्तने पोद्दशाळ परिव्राजकको हरानेके लिये किया । परिव्राजकने जान कर ही जैन पक्ष स्थापित किया तब प्रतिवादी जैन मुनि रोहगुप्तने उसको हरानेके लिये ही जैनसिद्धान्तके प्रतिकूल त्रैशक्तिक पक्ष लेकर उसका पराजय किया । उनका यह कार्य अपसिद्धान्तके प्रचारमें सहायक होनेसे आहरणतद्दोषकोटिमें है ।

भरकने वाक्यदोषोंको गिनाते हुये एक विरुद्ध भी गिनाया है । उसकी व्याख्या करते हुए कहा है—

“विरुद्धं नाम यद् दृष्टान्तसिद्धान्तसमयेविरुद्धम् ।” बही ५४ ।

इस व्याख्याको देखते हुए प्रतिलोम की तुलना ‘विरुद्धवाक्यदोषसे’ की जा सकती है । न्यायसूत्रसंमत अपसिद्धान्त और प्रतिलोममें फर्क यह है कि अपसिद्धान्त तब होता है जब शुरुमें वादी अपने एक सिद्धान्तकी प्रतिज्ञा करता है और बादमें उसकी अवहेलना करके उससे विरुद्ध वस्तुको स्वीकार कर कथा करता है—“सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसंगोपसिद्धान्तः ।” न्यायसू० ५.२.२४ । किन्तु प्रतिलोममें वादी किसी एक संप्रदाय या सिद्धान्तको वस्तुतः मानते हुए भी बादकथाप्रसंगमें अपनी प्रतिभाके बलसे प्रतिवादीको हरानेकी दृष्टिसे ही स्वसंमतसिद्धान्तके विरोधी सिद्धान्तकी स्थापना कर देता है । प्रतिलोममें यह आवश्यक नहीं की वह शुरुमें अपने सिद्धान्तकी प्रतिज्ञा करे । किन्तु प्रतिवादी के मंतव्यसे विरुद्ध मंतव्यको सिद्ध कर देता है । वैतण्डिक और प्रातिलोमिकमें फर्क यह है कि वैतण्डिकका कोई पक्ष नहीं होता अर्थात् किसी दर्शनकी मान्यतासे वह बद्ध नहीं होता । किन्तु प्रातिलोमिक वह है जो किसी दर्शन से तो बद्ध होता है किन्तु वादकथामें प्रतिवादी यदि उसीके पक्ष को स्वीकार कर वादका प्रारंभ करता है तो उसे हरानेके लिये ही स्वसिद्धान्तके विरुद्ध भी वह दलील करता है और प्रतिवादीको निगृहीत करता है ।

( ३ ) आत्मोपनीत—ऐसा उपन्यास करना जिससे स्वका या स्वमतका ही घात हो । जैसे कहना की एकेन्द्रिय सजीव हैं क्यों कि उनका आसोच्छ्वास स्पष्ट दिखता है—दशवै० नि० चू० गा० ८३ ।

यह तो स्पष्टतया असिद्ध हेत्वाभास है। किन्तु चूर्णीकारने इसका स्पष्टीकरण घटमें व्यतिरेकव्याप्ति दिखाकर किया है, जिसका फल घटकी तरह एकेन्द्रियोंका भी निर्जीव सिद्ध हो जाना है क्योंकि जैसे घटमें आसोष्णता व्यक्त नहीं वैसे एकेन्द्रियमें भी नहीं। “जहा को बि भजेज्जा-एरेन्द्रिया सजीवा, कम्हा जेण तेसिं फुडो उस्सासनिस्सासो दीसइ। विट्ठो घडो। जहा घडस्स निज्जीवत्तणेण उस्सासनिस्सासो नत्थि। ताण उस्सास-निस्सासो फुडो दीसइ तम्हा एते सजीवा। एवमादीहिं विरुद्धं न भासितव्वं।”

(४) दुरुपनीत—ऐसी बात करना जिससे स्वधर्मकी निन्दा हो यह दुरुपनीत है। इसका उदाहरण एक बौद्धभिक्षुके कथनमें है। यथा—

“कम्हाऽऽचार्योघना ते ननु शफरवधे जालमभासि मस्सान्,  
ते मे मचीपवंशान् पिबसि ननु युतो वेदयया यासि वेदयाम्।  
कृत्वासीणां गल्लेऽहिं क तु तव रिपवो येषु सम्मिध छिनधि,  
चौरस्त्वं घृतहेतोः कितव इति कथं येन दासीसुतोऽस्मि ॥”

नि० गा० ८३—हारि० टीका ।

यह भी चरकसंगत विरुद्ध वाक्यदोषसे तुलनीय है। उनका कहना है कि खसमय विरुद्ध नहीं बोलना चाहिए। बौद्धदर्शन मोक्षशास्त्रिक समय है। चरकके अनुसार मोक्षशास्त्रिक समय है कि—“मोक्षशास्त्रिकसमयः सर्वभूतेष्वर्हिसेति” वही ५४। अतएव बौद्ध भिक्षुका हिंसाका समर्थन खसमय विरुद्ध होनेसे वाक्यदोष है।

उपायद्वयमें विरुद्ध दो प्रकारका है दृष्टान्तविरुद्ध और युक्तिविरुद्ध—पृ० १७। उपायद्वयके मतसे जो जिसका धर्म हो उससे उसका आचरण यदि विरुद्ध हो तो वह युक्तिविरुद्ध है<sup>१</sup>। जैसे कोई ब्राह्मण क्षत्रियधर्मका पालन करे और मृगयादिकी शिक्षा ले तो वह युक्तिविरुद्ध है। युक्तिविरुद्धकी इस व्याख्याको देखते हुए दुरुपनीतकी तुलना उससे की जा सकती है।

#### (४) उपन्यास

(१) तद्वस्तूपन्यास—प्रतिपक्षीकी वस्तुका ही उपन्यास करना अर्थात् प्रतिपक्षीके ही उपन्यस्त हेतुको उपन्यस्त करके दोष दिखाना तद्वस्तूपन्यास है। जैसे—किसीने (वैशेषिकने) कहा कि जीव नित्य है क्योंकि अमूर्त है। तब उसी अमूर्तत्वको उपन्यस्त करके दोष देना कि कर्म तो अमूर्त होते हुए भी अनित्य हैं—दशवै० नि० चू० ८४।

आचार्य हरिभद्रने इसकी तुलना साधर्म्यसमा जातिसे की है। किन्तु इसका अधिक साम्य प्रतिदृष्टान्तसमा जातिसे है—“क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगात् लोहवदित्युक्ते प्रतिदृष्टान्त उपादीयते क्रियाहेतुगुणयुक्तं आकाशं निष्क्रियं दृष्टमिति।” न्यायभा० ५.१.९।

साधर्म्यसमा और प्रतिदृष्टान्तसमामें भेद यह है कि साधर्म्यसमामें अन्यदृष्टान्त और अन्य-हेतुवत् साधर्म्य को लेकर उत्तर दिया जाता है जब कि प्रतिदृष्टान्तसमा में हेतु तो वादिप्रोक्त ही रहता है सिर्फ दृष्टान्त ही बदल दिया जाता है। तद्वस्तूपन्यासमें भी यही अभिप्रेत है। अतएव उसकी तुलना प्रतिदृष्टान्तके साथ ही करना चाहिए।

१ “युक्तिविरुद्धो यथा, ब्राह्मणस्य क्षत्रधर्मानुपालनम्, मृगयादिशिक्षा च। क्षत्रियस्य ध्यानसमाप-  
त्तिरिति युक्तिविरुद्धः। पञ्चभूतौ धर्मौ अत्रा अनुद्धेयं सर्वं मन्वन्ते।” उपाय० पृ० १७।

वस्तुतः देखो तो भङ्गवन्तरसे हेतुकी अनैकान्तिकताका उद्भावन करना ही तद्वस्तूपन्यास और प्रतिदृष्टान्तसमा जातिका प्रयोजन है ।

उपायद्वयगत प्रतिदृष्टान्तसम दूषण (पृ० ३०) और तर्कशास्त्रगत प्रतिदृष्टान्तखण्डनसे यह तुलनीय है—पृ० २६ ।

( २ ) तदन्यवस्तूपन्यास—उपन्यस्त वस्तुसे अन्यमें भी प्रतिवादीकी बातका उपसंहार कर पराभूत करना तदन्यवस्तूपन्यास है—जैसे जीव अन्य है शरीर अन्य है । तो दोनों अन्य-शब्दवाच्य होनेसे एक हैं ऐसा यदि प्रतिवादी कहे तो उसके उत्तरमें कहना कि परमाणु अन्य है, द्विप्रदेशी अन्य है तो दोनों अन्यशब्दवाच्य होनेसे एक मानना चाहिए—यह तदन्यवस्तूपन्यास है—दशवै० नि० गा० ८४ ।

यह स्पष्टरूपसे प्रसंगापादन है । पूर्वोक्त व्यंसक और लक्षक हेतुसे क्रमशः पूर्वपक्ष और उत्तर पक्षकी तुलना करना चाहिए ।

( ३ ) प्रतिनिभोपन्यास—वादीके ‘मेरे वचनमें दोष नहीं हो सकता’ ऐसे साभिमान कथनके उत्तरमें प्रतिवादी भी यदि वैसा ही कहे तो वह प्रतिनिभोपन्यास है । जैसे किसीने कहा कि ‘जीव सत् है’ तब उसको कहना कि ‘घट भी सत् है तो वह भी जीव होजायगा’ । इसका लौकिक उदाहरण निर्युक्तिकारने एक संन्यासीका दिया है । उसका दावा था कि मुझे कोई अश्रुत बात सुनादे तो उसको मैं सुवर्णपात्र दूंगा । धूर्त होनेसे अश्रुत बातको भी वह श्रुत बता देता था । तब एक पुरुषने उत्तर दिया कि तेरे पितासे मेरे पिता एक लाख मांगते हैं । यदि श्रुत है तो एक लाख दो, अश्रुत है तो सुवर्णपात्र दो । इस तरह किसीको उभयपाश-रञ्जुन्याय से उत्तर देना प्रतिनिभोपन्यास है—दशवै० नि० गा० ८५ ।

यह उपन्यास सामान्यच्छल है । इसकी तुलना लक्षक हेतुसे भी की जा सकती है ।

अविशेषसमा जातिके साथ भी इसकी तुलना की जा सकती है, यद्यपि दोनों में थोड़ा भेद अवश्य है ।

( ४ ) हेतूपन्यास—किसीके प्रश्नके उत्तरमें हेतु बता देना हेतूपन्यास है । जैसे किसीने पूछा—आत्मा चक्षुरादि इन्द्रियप्राप्त क्यों नहीं ? तो उत्तर देना कि वह अतीन्द्रिय है—दशवै० नि० गा० ८५ ।

चरकने हेतुके निषयमें प्रश्नको अनुयोग कहा है और भद्रबाहुने प्रश्नके उत्तरमें हेतुके उपन्यासको हेतूपन्यास कहा है—यह हेतूपन्यास और अनुयोगमें भेद है ।

“अनुयोगो नाम स यत्तद्विद्यानां तद्विद्यैरेव सार्धं तन्मे तन्मैकदेशो वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनपरीक्षार्थमादिश्यते यथा नित्यः पुरुषः इति प्रतिज्ञाते यत् परः ‘को हेतुरित्याह’ सोऽनुयोगः । चरक विमान० १०८-५२

पूर्वोक्त तुलनाका सरलतासे बोध होनेके लिये नीचे तुलनात्मक मकशा दिया जाता है उससे स्पष्ट है कि जैनागममें जो वादपद बताये गये हैं यद्यपि उनके नाम अन्य सभी परंपरासे भिन्न ही हैं फिर भी अर्थतः सादृश्य अवश्य है । जैनागमकी यह परंपरा वादशास्त्रके अव्यवस्थित और अविकसित किसी प्राचीन रूपकी ओर संकेत करती है । क्यों कि जबसे वादशास्त्र व्यवस्थित हुआ है तबसे एक निश्चित अर्थमें ही पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग समान रूपसे

वैदिक और बौद्ध विद्वानोंने किया है। उन पारिभाषिक शब्दोंका व्यवहार जैन आगममें नहीं है। इससे फलित यह होता है कि आगमवर्णन किसी छत प्राचीन परंपराका ही अनुगमन करता है। यद्यपि आगमका अंतिम संस्करण विक्रम पांचवी शताब्दीमें हुआ है तब भी इस विषयमें नई परंपराको न अपना कर प्राचीन परंपराका ही अनुसरण किया गया जान पड़ता है।

जैनागम चरकसंहिता तर्कशास्त्र उपायहृदय म्यायसूत्र

#### ४. हेतु

|           |                        |                 |             |                   |
|-----------|------------------------|-----------------|-------------|-------------------|
| १. यापक   | १. अविज्ञदीर्घसूत्र-   | १. अविज्ञातार्थ | १. अविज्ञात | १. अविज्ञातार्थ   |
|           | संकुलैर्वाक्यदण्डकैः । |                 |             |                   |
|           | २. अविज्ञान            | २. अज्ञान       | २. अविज्ञान | २. अज्ञान         |
| २. स्वापक | १. प्रतिष्ठापना        | —               | —           | —                 |
| ३. व्यंसक | १. वाक्छल              | १. अविशेषखण्डन  | —           | १. अविशेषसमाजाति. |
| ४. लक्षक  | २. सामान्यच्छल         |                 |             | २. सामान्यच्छल    |

#### ४. आहरण

|                        |                  |                  |   |                  |
|------------------------|------------------|------------------|---|------------------|
| १. अपाय                | —                | —                | — | —                |
| २. उपाय                | —                | —                | — | —                |
| ३. स्वापमाकर्म         | १. स्वापमा       | —                | — | —                |
|                        | २. परिहार        | —                | — | —                |
| ४. प्रत्युत्पन्नविनाशी | १. प्रतिज्ञाहानि | १. प्रतिज्ञाहानि | — | १. प्रतिज्ञाहानि |

#### ४. आहरणतद्दोष

|              |            |              |                              |              |
|--------------|------------|--------------|------------------------------|--------------|
| १. अनुशास्ति | —          | —            | —                            | —            |
| २. उपाखम्भ   | १. उपाखम्भ | १. उपाखम्भ   | —                            | १. उपाखम्भ   |
|              | २. अहेतु   | २. हेत्वाभास | २. हेत्वाभास                 | २. हेत्वाभास |
| ३. पृच्छा    | १. अनुयोग  | —            | १. प्रभास्यतुल्यमुत्तराल्पता |              |
|              |            |              | २. प्रभास्यतोत्तरबाहुल्य     |              |
| ४. निआवचन    | —          | —            | —                            | —            |

#### ४. आहरणतद्दोष

|               |                    |   |                  |   |
|---------------|--------------------|---|------------------|---|
| १. अकर्मयुक्त | —                  | — | —                | — |
| २. प्रतिलोम   | १. विरुद्धवाक्यदोष | — | —                | — |
| ३. आत्मोपनीत  | —                  | — | —                | — |
| ४. दुरुपनीत   | १. विरुद्धवाक्यदोष | — | १. युक्तिविरुद्ध | — |

#### ४. उपन्यास

|                     |                        |                         |                          |
|---------------------|------------------------|-------------------------|--------------------------|
| १. तद्वस्तूपन्यास   | १. प्रतिदृष्टान्तखण्डन | १. प्रतिदृष्टान्तसमवृषण | १. प्रतिदृष्टान्तसमाजाति |
| २. तदन्यवस्तूपन्यास | —                      | —                       | —                        |
| ३. प्रतिनिधोपन्यास  | १. सामान्यच्छल         | १. अविशेषखण्डन          | १. अविशेषसमाजाति         |
|                     |                        |                         | २. सामान्यच्छल           |
| ४. हेतूपन्यास       | १. अनुयोग              | —                       | —                        |

## २. आगमोत्तरसाहित्यमें जैन दर्शन

### प्रास्ताविक

जैन आगम और सिद्धसेनके बीचका जो जैन साहित्य है उसमें दार्शनिक दृष्टिसे इन दोनों साहित्य आचार्य कुन्दकुन्दका तथा वाचक उमास्वातिका है। जैन आगमोंकी प्राचीन टीकाओंमें उपलब्ध निर्युक्तियोंका स्थान है। उपलब्ध निर्युक्तियोंमें प्राचीनतर निर्युक्तियोंका समावेश हो गया है और अब तो स्थिति यह है कि प्राचीनतर अंश और भद्रबाहुका नया अंश इन दोनोंका पृथक्करण कठिन हो गया है। आचार्य भद्रबाहुका समय मान्यवर मुनिश्री पुण्यविजयजीने वि० छठी शताब्दीका उत्तरार्ध माना है<sup>१</sup>। यदि इसे ठीक माना जाय तब यह मानना पड़ता है कि निर्युक्तियाँ अपने मौजूदा रूपमें सिद्धसेनके बादकी कृतियाँ हैं। अत एव उनको सिद्धसेन पूर्ववर्ती साहित्यमें स्थान नहीं। भाष्य और चूर्णियाँ तो सिद्धसेनके बादकी हैं ही। अतएव सिद्धसेन पूर्ववर्ती आगमोत्तर साहित्यमेंसे कुन्दकुन्द और उमास्वातिके साहित्यमें दार्शनिक तत्त्वकी क्या स्थिति थी—इसका दिग्दर्शन यदि हम करें तो सिद्धसेनके पूर्वमें जैनदर्शन की स्थितिका पूरा चित्र हमारे सामने उपस्थित हो सकेगा और यह हम जान सकेंगे कि सिद्धसेनको विरासतमें क्या और कितना मिला था :

### (अ) वाचक उमास्वातिकी देन

#### प्रास्ताविक

वाचक उमास्वातिका समय पं० श्री मुखलाजजीने तीसरी चौथी शताब्दी होनेका अंदाज किया है। आ० कुन्दकुन्दके समयमें अभी विद्वानोंका एकमत नहीं। आचार्य कुन्दकुन्दका समय जो भी माना जाय किन्तु तत्त्वार्थ और आ० कुन्दकुन्दके ग्रन्थगत दार्शनिकविकासकी ओर यदि ध्यान दिया जाय तो वा० उमास्वातिके तत्त्वार्थगत जैनदर्शनकी अपेक्षा आ० कुन्दकुन्दके ग्रन्थगत जैनदर्शनका रूप विकसित है यह किसी भी दार्शनिकसे छिपा नहीं रह सकता। अत एव दोनोंके समय विचारमें इस पहलुको भी यथायोग्य स्थान अवश्य देना चाहिए। इसके प्रकाशमें यदि दूसरे प्रमाणोंका विचार किया जायगा तो संभव है दोनोंके समयका निर्णय सहजमें हो सकेगा।

प्रस्तुतमें दार्शनिक विकासक्रमका दिग्दर्शन करना मुख्य है अतएव आचार्य कुन्दकुन्द और वाचकके पूर्वापरभावके प्रश्नको अलग रख कर ही पहले वाचकके तत्त्वार्थके आश्रयसे जैनदार्शनिक तत्त्वकी विवेचना करना प्राप्त है। और उसके बाद ही आ० कुन्दकुन्दकी जैनदर्शनको क्या देन है उसकी चर्चा की जायगी। ऐसा होनेसे क्रमविकास कैसा हुआ है यह सहज ही में ज्ञात हो सकेगा।

दार्शनिक सूत्रोंकी रचनाका युग समाप्त हो चुका था और दार्शनिक सूत्रोंके भाष्योंकी रचना भी होने लगी थी किन्तु जैनपरंपरामें अभी तक सूत्रशैलीका संस्कृत ग्रन्थ एक भी नहीं बना था। इसी बुटिको दूर करनेके लिये सर्वप्रथम वा० उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्र की रचना की। उनका तत्त्वार्थ जैन साहित्यमें सूत्रशैलीका सर्वप्रथम ग्रन्थ है इतना ही नहीं किन्तु जैन



साहित्यके संस्कृतभाषानिबद्ध ग्रन्थोंमें भी यह सर्वप्रथम है । जिस प्रकार बादरायणने उपनिषद्वांका दोहन करके ब्रह्मसूत्रोंकी रचनाके द्वारा वेदान्त दर्शनको व्यवस्थित किया है उसी प्रकार उमास्वातिने आगमोंका दोहन करके तत्त्वार्थसूत्रकी रचनाके द्वारा जैन दर्शनको व्यवस्थित करनेका प्रयत्न किया है । उसमें जैन तत्त्वज्ञान, आचार, भूगोल, खगोल, जीवविद्या, पदार्थविज्ञान इत्यादि नाना प्रकारके विषयोंके मौलिक मन्तव्योंको मूल आगमोंके आधारपर<sup>१</sup> सूत्रबद्ध किया है । और उन सूत्रोंके स्पष्टीकरणके लिये खोपज्ञ भाष्यकी भी रचना की है । वा० उमास्वातिने तत्त्वार्थ सूत्रमें आगमोंकी बातोंको संस्कृत भाषामें व्यवस्थित रूपसे रखनेका प्रयत्न तो किया ही है किन्तु उन विषयोंका दार्शनिक ढंगसे समर्थन उन्होंने कबित् ही किया है । यह कार्य तो उन्होंने अकलंकादि समर्थ टीकाकारोंके लिये छोड़ दिया है । अत एव तत्त्वार्थसूत्रमें प्रमेयतत्त्व और प्रमाणतत्त्वके विषयमें सूक्ष्म दार्शनिक चर्चा या समर्थनकी आशा नहीं करना चाहिए । तथापि उसमें जो अल्प मात्रामें ही सही, दार्शनिक विकासके सीमाचिह्न दिखाई देते हैं उनका निर्देश करना आवश्यक है । प्रथम प्रमेयतत्त्वके विषयमें चर्चा की जाती है ।

### [ १ ] प्रमेयनिरूपण

#### § १. तत्त्व, अर्थ, पदार्थ, तत्त्वार्थ

तत्त्वार्थसूत्र और उसका खोपज्ञ भाष्य यह दार्शनिक भाष्ययुगकी कृति है । अत एव वाचकने उसे दार्शनिकसूत्र और भाष्यकी कोटिका ग्रन्थ बनानेका प्रयत्न किया है । दार्शनिकसूत्रोंकी यह विशेषता है कि उनमें स्वसमत तत्त्वोंका निर्देश प्रारंभमें ही सत्, अर्थ, पदार्थ, या तत्त्व जैसे शब्दोंसे किया जाता है । अत एव जैन दृष्टिसे भी उन शब्दोंका अर्थ निश्चित करके यह बताना आवश्यक हो जाता है कि तत्त्व कितने हैं ? वैशेषिक सूत्रमें द्रव्यादि छः को पदार्थ कहा है ( १. १. ४ ) किन्तु अर्थसंज्ञा द्रव्य, गुण और कर्मकी ही की गई है ( ८. २. ३ ) । सत्ता संबंधके कारण सत् ऐसी पारिभाषिक संज्ञा भी इन्हीं तीनकी रखी गई है ( १. १. ८ ) । न्यायसूत्रगत प्रमाणादि १६ तत्त्वोंको भाष्यकारने सत् शब्दसे व्यवहृत किया है<sup>२</sup> । सांख्यिके मतसे प्रकृति और पुरुष ये दो ही तत्त्व माने गये हैं ।

वाचकने इस विषयमें जैनदर्शनका मन्तव्य स्पष्ट किया कि तत्त्व, अर्थ, तत्त्वार्थ और पदार्थ एकार्थक हैं । और तत्त्वोंकी संख्या सात है<sup>३</sup> । आगमोंमें पदार्थकी संख्या ९ बताई गई है ( स्था० सू० ६६५ ) जब कि वाचकने पुण्य और पापको बंधमें अन्तर्भूत करके सात तत्त्वोंका ही उपादान किया है । यह वाचककी नई सूझ जान पड़ती है ।

#### § २. सत्का स्वरूप

वा० उमास्वातिने नयोंकी विवेचनानामें कहा है कि “सर्वमेकं सदविशेषात्” ( तत्त्वार्थभा० १.३५ ) । अर्थात् सब एक है क्योंकि सभी समानभावसे सत् हैं । उनका यह कथन ऋग्वेदके दीर्घतमा ऋषिके “एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति” ( १. १६४. ४६ ) की तथा उपनिषदोंके

१ वेदों, ‘तत्त्वार्थसूत्र जैनानामसाम्प्रदायिकम्’ । २ “सच्च जडु बोद्धवशा भ्यूहमुपदेक्ष्यते” न्यायभा० १.१.१ । ३ ‘सप्तविधोऽर्थस्तत्त्वम् ।’ १.४ । १. २ । “एते वा सप्तपदार्थोक्तवन्ति ।” १.४ । “तत्त्वार्थ-अज्ञानम्” १.२. ।

सन्मूलक सर्वप्रपञ्चकी उत्पत्तिके बादकी (छान्दो० ६.२) याद दिलाता है । स्थानांगसूत्रमें 'एगे आया' (सू० १) तथा 'एगे लोए' (सू० ६) जैसे सूत्र आते हैं । उन सूत्रोंकी संगतिके लिये संग्रहणयका अवलम्बन लेना पड़ता है । आत्मत्वेन समी आत्माओंको एक मानकर 'एगे आया' इस सूत्रको संगत किया जा सकता है तथा 'पञ्चास्तिकायमयो लोकः' के सिद्धान्तसे 'एगे लोए' सूत्रकी भी संगति हो सकती है । यहाँ इतना तो स्पष्ट है कि आगमिक मान्यताकी मर्यादाका अतिक्रमण बिना किये ही संग्रहणयका अवलम्बन करनेसे उक्त सूत्रोंकी संगति हो जाती है । किन्तु उमास्वातिने जब यह कहा कि 'सर्वमेकं सदविशेषात्' तब इस वाक्यकी व्याप्ति किसी एक या समग्र द्रव्य तक ही नहीं है किन्तु द्रव्यगुणपर्यायव्यापी महासामान्यका भी स्पर्श करती है । उमास्वातिके समयपर्यन्तमें वेदान्तिओंके सद्ब्रह्मकी और न्याय-वैशेषिकोंके सत्तासामान्यरूप महासामान्यकी प्रतिष्ठा हो चुकी थी । उसी दार्शनिक कल्पनाको संग्रहणयका अवलम्बन करके जैन परिभाषा का रूप उन्होंने दे दिया है ।

अनेकान्तवादके विवेचनमें हमने यह बताया है कि आगमोंमें तिर्यग् और ऊर्ध्व दोनों प्रकारके पर्यायोंका आधारभूत द्रव्य माना गया है । जो सर्वद्रव्योंका अविशेष—सामान्य था—“अ-विसेसिए दब्बे विसेसिए जीवदब्बे अजीवदब्बे य ।” अनुयोग० सू० १२३ । पर उसकी 'सत्' संज्ञा आगममें नहीं थी । वा० उमास्वातिको प्रश्न होना स्वाभाविक है कि दार्शनिकोंके परमतत्त्व 'सत्' का स्थान ले सके ऐसा कौन पदार्थ है ? वाचकने उत्तर दिया कि द्रव्य ही सत् है । वाचकने जैनदर्शनकी प्रकृतिका पूरा ध्यान रख करके 'सत्' का लक्षण कर दिया है कि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (५. २९) । इससे स्पष्ट है कि वाचकने जैनदर्शनके अनुसार जो 'सत्' की व्याख्या की है वह औपनिषददर्शन और न्याय-वैशेषिकोंकी 'सत्ता'से जैनसंमत 'सत्' को विलक्षण सिद्ध करती है । वे 'सत्' या सत्ताको नित्य मानते हैं । वा० उमास्वातिने भी 'सत्'को कहा तो नित्य किन्तु उन्होंने 'नित्य' की व्याख्या ही ऐसी की है जिससे एकान्तवादके विषसे नित्य ऐसा सत् मुक्त हो और अखण्डित रह सके । नित्यका लक्षण उमास्वातिने किया है कि—“तद्वावाव्ययं नित्यम् ।” ५. ३० । और इसकी व्याख्या की कि—“यत् सतो भावात् व्येति न व्येप्यति तन्नित्यम् ।” अर्थात् उत्पाद और व्ययके होते हुए भी जो सत्प्रप मिटकर असत् नहीं हो जाता वह नित्य है । पर्यायें बदल जाने पर भी यदि उसमें सत् प्रत्यय होता है तो वह नित्य ही है अनित्य नहीं । एक ही सत् उत्पादव्ययके कारण अस्थिर और ध्रौव्यके कारण स्थिर ऐसे परस्पर विरोधी धर्मोंकी भूमि कैसे हो सकता है इस विरोधका परिहार भी वा० उमास्वातिने “अर्पितानर्पितसिद्धेः ।” (५. ३१.) सूत्रसे किया है । और उसकी व्याख्यामें आगमोक्त पूर्वप्रतिपादित सत्समंगीका निरूपण किया है । सत्समंगीका वही आगमोक्त पुराना रूप प्रायः उन्हीं शब्दोंमें भाष्यमें उद्धृत हुआ है । जैसा आगममें वचनभेदको मंगोंकी योजनामें महत्त्व दिया गया है वैसा वा० उमास्वातिने भी किया है । अवक्तव्य मंगका स्थान

१ “धर्मादीनि सन्निह इति कथं गृह्यते ? इति । अत्रोच्यते लक्षणतः । किञ्च सतो लक्षणमिति ? अत्रोच्यते—‘उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्’ ।” तत्त्वार्थभा० ५. २९ । सर्वार्थसिद्धिर्मे तथा श्लोकवार्तिकमें ‘सत् द्रव्यलक्षणम्’ ऐसा स्पष्ट सूत्र भी है—५. २९ । २ गृह्यता करो “यस्य गुणान्तरेषु अपि प्रादुर्भवस्तु सर्वं न विहस्यते सत् द्रव्यम् । किं पुनस्तत्त्वम् ? तज्ज्ञातव्यम् ।” पार्वत्यलम्बाभाष्य ५.१.११९ ।

न्या० प्रस्तावना १४

तीसरा है । प्रथमके तीन भंगोंकी योजना दिखाकर शेष विकल्पोंको शब्दतः उद्धृत नहीं किया किन्तु प्रसिद्धिके कारण विस्तार करना उन्होंने उचित न समझकर—‘देशादेशेन विकल्पयितव्यम्’ ऐसा आदेश दे दिया है ।

वा० उमास्वातिने सत्के चार भेद बताये हैं—१ द्रव्यास्तिक, २ मातृकापदास्तिक, ३ उत्पन्नास्तिक, और ४ पर्यायास्तिक । सत्का ऐसा विभाग अन्यत्र देखा नहीं जाता, इन चार भेदोंका विशेष विवरण वा० उमास्वातिने नहीं किया । टीकाकारने व्याख्यामें मतभेदोंका निर्देश किया है । प्रथमके दो भेद द्रव्यनयाश्रित हैं और अन्तिम दो पर्यायनयाश्रित हैं । द्रव्यास्तिकसे परमसंप्रवृत्तविषयभूत सत् द्रव्य और मातृकापदास्तिकसे सत् द्रव्यके व्यवहारनयाश्रित धर्मास्ति-कायादि द्रव्य और उनके भेदप्रभेद अभिप्रेत हैं । प्रत्येक क्षणमें नवनवोत्पन्न वस्तुका रूप उत्पन्नास्तिकसे और प्रत्येक क्षणमें होनेवाला विनाश या भेद पर्यायास्तिकसे अभिप्रेत है ।

### § ३. द्रव्य, पर्याय और गुणका लक्षण ।

जैन आगमोंमें सत्के लिये द्रव्यशब्दका प्रयोग आता है । किन्तु द्रव्यशब्दके अनेक अर्थ प्रचलित थे<sup>१</sup> । अतएव स्पष्ट शब्दोंमें जैनसंमत द्रव्यका लक्षण भी करना आवश्यक था । उत्तराध्ययनमें मोक्षमार्गाध्ययन ( २८ ) है । उसमें ज्ञानके विषयभूत द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीन पदार्थ बताए गये हैं ( गा० ५ ) अन्यत्र भी येही तीन पदार्थ गिनाये हैं<sup>२</sup> । किन्तु द्रव्यके लक्षणमें सिर्फ गुणको ही स्थान मिला है—“गुणाणमासओ दब्बं” ( गा० ६ ) । वाचकने गुण और पर्याय दोनोंको द्रव्य लक्षणमें स्थान दिया है—“गुणपर्यायवद् द्रव्यम्” ( ५. ३७ ) । वाचकके इस लक्षणमें आगमाश्रय तो स्पष्ट है ही किन्तु शाब्दिक रचनामें वैशेषिकके “क्रियागुणवत्” ( १.१.१५ ) इत्यादि द्रव्यलक्षणका प्रभाव भी स्पष्ट है ।

गुणका लक्षण उत्तराध्ययनमें किया गया है कि “एगदब्बस्सिया गुणा” ( २८.६ ) । किन्तु वैशेषिक सूत्रमें “द्रव्याश्रयगुणवान्” ( १.१.१६ ) इत्यादि है । वाचक अपनी आगमिक परंपराका अवलंबन लेते हुए भी वैशेषिक सूत्रका उपयोग करके गुणका लक्षण करते हैं कि “द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः ।” ( ५. ४० ) ।

यहाँ एक विशेष बातका ध्यान रखना जरूरी है । यद्यपि जैन आगमिक परंपराका अवलंबन लेकर ही वाचकने वैशेषिक सूत्रोंका उपयोग किया है । तथापि अपनी परंपराकी दृष्टिसे उनका द्रव्य और गुणका लक्षण जितना निर्दोष और पूर्ण है उतना खय वैशेषिकका भी नहीं है<sup>३</sup> ।

बौद्धोंके मतसे पर्याय या गुण ही सत् माना जाता है और वेदान्तके मतसे पर्यायविरुद्ध द्रव्य ही सत् माना जाता है । इन्हीं दोनों मतोंका निरास वाचकके द्रव्य और गुणलक्षणोंमें स्पष्ट है ।

उत्तराध्ययनमें पर्यायका लक्षण है—“लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे ।” ( २८.६ ) उभयपदका टीकाकारने जैनपरंपराके हार्दको पकड़करके द्रव्य और गुण अर्थ करके कहा है कि द्रव्य और गुणाश्रित जो हो वह पर्याय है । किन्तु खय मूलकारने जो पर्यायके विषयमें आगे चलकर यह गाया कही है—

<sup>१</sup> प्रमाणभी० भाषा० पृ० ५४ । <sup>२</sup> “हे किं तं तिभासे द्रव्यभासे, गुणभासे, पञ्चवचनासे ।” अनु-योगपृ० १२४ । <sup>३</sup> देखो, वैशेषिक-उपस्कार १.१.१५, १६ ।

“एकत्वं च पुद्गलं च संज्ञा संज्ञाणमेव च ।  
संज्ञोपाय विभागा य पञ्चाधारं तु लक्षणं ॥”

उससे यह प्रतीत होता है कि मूलकारको उभयपदसे दो या अधिक द्रव्य अभिप्रेत हैं । इसका मूल गुणोंको एकद्रव्याश्रित और अनेकद्रव्याश्रित ऐसे दो प्रकारोंमें विभक्त करनेवाली किसी प्राचीन परंपरामें हो तो आश्चर्य नहीं । वैशेषिक परंपरामें भी गुणोंका ऐसा विभाजन देखा जाता है — “संयोगविभागद्विवृद्धिपृथक्त्वादयोऽनेकाश्रिताः ।” प्रसस्त० गुणनिरूपण ।

पर्यायका उक्त आगमिक लक्षण सभी प्रकारके पर्यायोंको व्याप्त नहीं करता । किन्तु इतना ही सूचित करता है कि उभय द्रव्याश्रितको गुण कहा नहीं जाता उसे तो पर्याय कहना चाहिए । अत एव वाचकने पर्यायका निर्दोष लक्षण करनेका यत्न किया है । वाचकके “भावा-  
न्तरं संहान्तरं च पर्यायः ।” (५.३७) इस वाक्यमें पर्यायके स्वरूपका निर्देश अर्थ और व्यंजन — शब्द दोनों दृष्टिओंसे हुआ है । किन्तु पर्यायका लक्षण तो उन्होंने किया है कि “तद्भावः परिणामः ।” (५.४१) यहाँ पर्यायके लिये परिणाम शब्दका प्रयोग साम्प्रदायिक है ।

मैं पहले यह तो बता आया हूँ कि आगमोंमें पर्यायके लिये परिणाम शब्दका प्रयोग हुआ है । सांख्य और योगदर्शनमें भी परिणाम शब्द पर्याय अर्थमें ही प्रसिद्ध है । अत एव वाचकने उसी शब्दको लेकर पर्यायका लक्षण प्रयुक्त किया है और उसकी व्याख्यामें कहा है कि, “धर्मादीनां द्रव्याणां यथोक्तानां च गुणानां स्वभावः स्वतत्त्वं परिणामः” । अर्थात् धर्मादि द्रव्य और गुण जिस जिस स्वभावमें हो अर्थात् जिस जिस रूपमें आत्मलाभ प्राप्त करते हों उनका वह स्वभाव या स्वरूप परिणाम है अर्थात् पर्याय है ।

परिणामोंको वाचकने आदिमान् और अनादि ऐसे दो भेदोंमें विभक्त किया है<sup>१</sup> । प्रत्येक द्रव्यमें दोनों प्रकारके परिणाम होते हैं । जैसे जीवमें जीवत्व, द्रव्यत्व, इत्यादि अनादि परिणाम हैं और योग और उपयोग आदिमान् परिणाम हैं । उनका यह विश्लेषण जैनागम और इतर दर्शनके मार्मिक अभ्यासका फल है ।

### §४. गुण और पर्यायसे द्रव्य विद्युक्त नहीं ।

वा० उभास्वातिकृत द्रव्यके लक्षण से यह तो फलित हो ही जाता है कि गुण और पर्यायसे रहित ऐसा कोई द्रव्य हो नहीं सकता । इस बातको उन्होंने अन्यत्र स्पष्ट शब्दोंमें कहा भी है — “द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञास्वापितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो जीव इति ।” तत्त्वार्थभा० १५ । अर्थात् गुण और पर्यायसे वस्तुतः पृथक् ऐसा द्रव्य नहीं होता किन्तु प्रज्ञासे उसकी कल्पना की जा सकती है । अर्थात् गुण और पर्यायकी विवक्षा न करके द्रव्यको गुण और पर्यायसे पृथक् समझा जा सकता है पर वस्तुतः पृथक् नहीं किया जा सकता । वैशेषिक परिभाषामें कहना हो तो द्रव्य और गुण-पर्याय अव्युत्तसिद्ध हैं ।

गुण-पर्यायसे रहित ऐसे द्रव्यकी अनुपलब्धिके कथनसे यह तो स्पष्ट नहीं होता है कि द्रव्यसे रहित गुण-पर्याय उपलब्ध हो सकते हैं या नहीं । इसका स्पष्टीकरण बादके आचार्योंने किया है ।

१ “कः पुनरसौ पर्यायः इत्याह — तद्भावः परिणामः ।” तत्त्वार्थको० पृ० ४४० । २ तत्त्वार्थको० ५.४१. से ।

## §५. कालद्रव्य ।

जैन आगमोंमें द्रव्यवर्णन प्रसंगमें कालद्रव्यको पृथक् गिनाया गया है<sup>१</sup>। और उसे जीवाजी-वात्मक भी कहा है<sup>२</sup>। इससे आगमकालसे ही कालको स्वतन्त्र द्रव्य मानने न माननेकी दो परंपराएँ थीं यह स्पष्ट है। वा० उमास्वाति 'कालश्च इत्येके' (५. ३८) सूत्रसे यह सूचित करते हैं कि वे कालको पृथक् द्रव्य माननेके पक्षपाती नहीं थे। कालको पृथक् नहीं माननेका पक्ष प्राचीन माछम होता है क्योंकि लोक क्या है इस प्रश्न का उत्तर श्वेताम्बर दिगम्बर दोनोंके मतसे एकही है कि लोक पंचास्तिकायमय है<sup>३</sup>। कहीं यह उत्तर नहीं देखा गया कि लोक षड्द्रव्यात्मक है<sup>४</sup>। अत एव मानना पड़ता है कि जैनदर्शनमें कालको पृथक् माननेकी परंपरा उतनी प्राचीन नहीं। यही कारण है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनोंमें कालके स्वरूपके विषय में मतभेद भी देखा जाता है<sup>५</sup>।

उत्तराख्ययनमें कालका लक्षण है "वस्तुनालंक्खणो कालो" (२८.१०)। किन्तु वाचकने कालके विषयमें कहा है कि "वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य" (५.२२)। वाचकका यह कथन वैशेषिकसूत्रसे<sup>६</sup> प्रभावित है।

## §६. पुद्गल द्रव्य ।

आगममें पुद्गलास्तिकायका लक्षण 'ग्रहण' किया गया है— "ग्रहणलक्खणे णं पोगलत्थिकाय" (भगवती—१३.४.४८१)। "गुणओ ग्रहणगुणे" (भगवती—२.१०.११७। स्थानांग सू० ४४१) इस सूत्रसे यह फलित होता है कि वस्तुका अव्यभिचारी—सहभावी गुण ही आगमकारको लक्षणरूपसे इष्ट था। सिर्फ पुद्गलके विषयमें ही नहीं किन्तु जीवादि विषयमें भी जो उनके उपयोगादि गुण हैं उन्हीं का लक्षणरूपसे भगवतीमें निर्देश है इससे यही फलित होता है कि आगमकालमें गुणही लक्षण समझा जाता रहा।

ग्रहणका अर्थ क्या है यह भी भगवतीके निम्न सूत्रसे स्पष्ट होता है—

"पोगलत्थिकाय णं जीवाणं ओराळिय-वेउडिविय-आहारए तेयाकम्मए सोइदिय-खक्खिदिय-धाणिदिय-जिग्मिदिय-फालिंदिय-मणजोग-वयजोग-कायजोग-भाणत्ताणूणं च ग्रहणं पवत्तति ग्रहणलक्खणे णं पोगलत्थिकाय" भगवती १३.४.४८१।

अर्थात् जीव अपने शरीर, इन्द्रिय, योग और आसोच्छ्वास रूपसे पुद्गलोंका ग्रहण करता है क्योंकि पुद्गलका लक्षण ही ग्रहण है। अर्थात् फलित यह होता है कि पुद्गलमें जीवके साथ संबंध होनेकी योग्यताका प्रतिपादन उसके सामान्य लक्षण ग्रहण अर्थात् संबंधयोग्यताके आधार

१ चौथा कर्मग्रन्थ पृ० १५७। २ भगवती २.१०.१२०। ३ १.११.४२४। ४ १३.४.४८२, ४८३। ५ २५.४। इत्यादि। मल्लापना पद १। उत्तरा० २८.१०। ६ स्थानांग सूत्र २५। जीवाभिगम। ७ "किमियं भंते ! लोपति वसुधै ? गोचमा, पंचरथिकाया।" भगवती १३.४.४८१। पंचास्तिकाय गा० ३। तरुवार्थभा० ३.६। ८ इसमें एक ही अपवाद उत्तराख्ययनका है २८.७। किन्तु इसका स्पष्टीकरण यही है कि वहाँ छः द्रव्य मानकर वर्णन किया है अत एव उस वर्णनके साथ संगति रखनेके लिये लोकको छः द्रव्यरूप कहा है। अन्यत्र छः द्रव्य माननेवालोंने भी लोकको पंचास्तिकायमय ही कहा है। जैसे आचार्य कुम्भकुन्द षड्द्रव्यवादी होते हुए भी लोकको जब पंचास्तिकायमय ही कहते हैं तब उस परंपराकी प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। ९ चौथा-कर्मग्रन्थ पृ० १५८। १० वैशे० २.१.६।

पर किया गया है । तात्पर्य इतना ही जान पड़ता है कि जो बंधयोग्य है वह पुद्गल है । इस प्रकार पुद्गलोंमें परस्पर और जीवके साथ बद्ध होनेकी शक्तिका प्रतिपादन ग्रहण शब्दसे किया गया है ।

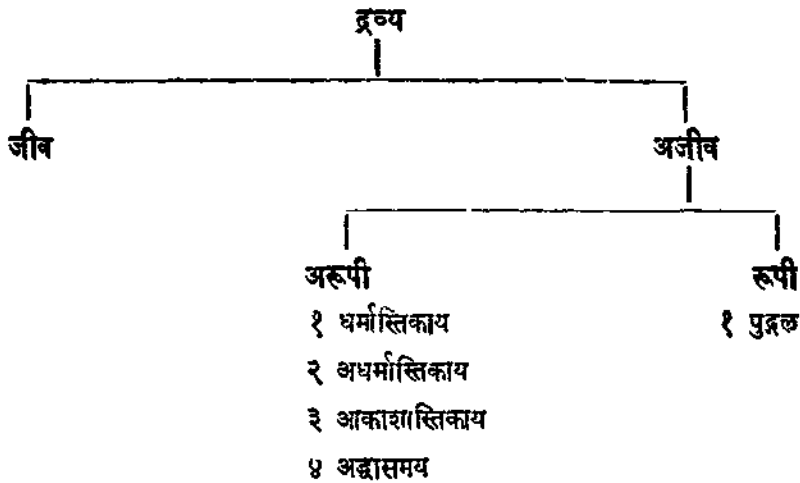
इस व्याख्यासे पुद्गलका स्वरूपबोध स्पष्ट रूपसे नहीं होता । उत्तराध्ययनमें उसकी जो दूसरी व्याख्या ( २८.१२ ) की गई है वह स्वरूपबोधक है —

“सहस्रधारउज्जोओ पहा छायातवेइ वा ।

वण्णरसगन्धफास्सा पुग्गलाणं तु लक्षणं ॥”

दर्शनान्तरमें शब्दादिको गुण और द्रव्य माननेकी जुदी जुदी कल्पनाएँ प्रचलित हैं । इसके स्थानमें उक्त सूत्रमें शब्दादिका समावेश पुद्गल द्रव्यमें करनेकी सूचना की है । और पुद्गल द्रव्य की व्याख्या भी की है कि वर्णादियुक्त है सो पुद्गल ।

वाचकके सामने आगमोक्त द्रव्योंका निम्न वर्गीकरण था ही —



इसके अनुसार पुद्गलके अलावा कोई द्रव्य रूपी नहीं है अत एव मुख्यरूपसे पुद्गलका लक्षण वाचकने किया कि “स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।” ( ५.२३ ) । तथा “शब्द-बन्ध-सौ-हृद्य-स्थौष्य-संस्थान-मेद-तमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ।” ( ५.२४ ) इस सूत्रमें बन्धादि अनेक नये पदोंका भी समावेश करके उत्तराध्ययनके लक्षणकी विशेष पूर्ति की ।

पुद्गलके विषयमें पृथक् दो सूत्रोंकी क्यों आवश्यकता है इसका स्पष्टीकरण करते हुए वाचकने जो कहा है उससे उनकी दार्शनिक विस्लेषण शक्तिका पता हमें लगता है । उन्होंने कहा है कि —

“स्पर्शादयः परमाणुषु स्कन्धेषु च परिणामजा एव भवन्ति । शब्दादयश्च स्कन्धेष्वेव भवन्ति अनेकनिमित्ताश्च इत्यतः पृथक्करणम्” तत्त्वार्थभा० ५.२४ ।

परंतु द्रव्योंका साधर्म्य-वैधर्म्य बताते समय उन्होंने जो “रूपिणः पुद्गलाः” ( ५.४ ) कहा है वही वस्तुतः पुद्गलका सर्वसंक्षिप्त लक्षण है और दूसरे द्रव्योंसे पुद्गलका वैधर्म्य भी प्रतिपादित करता है ।

‘रूपिणः पुद्गलः’ में रूपशब्दका क्या अर्थ है इसका उत्तर—“रूपं मूर्तिः मूर्त्त्यश्रयाश्च स्पर्शादय इति ।” (तत्त्वार्थभा० ५.३) इस वाक्यसे मिल जाता है । रूपशब्दका यह अर्थ, बौद्धधर्मप्रसिद्ध नाम-रूपगत रूप<sup>१</sup> शब्दके अर्थसे मिलता है ।

वैशेषिक मनको मूर्त मानकर भी रूपादि रहित मानते हैं । उसका निरास ‘रूपं मूर्तिः’ कहनेसे हो जाता है ।

### § ७. इन्द्रियनिरूपण —

वाचकने इन्द्रियोंके निरूपणमें कहा है कि इन्द्रियाँ पांच ही हैं । पांच संख्याका ग्रहण करके उन्होंने नैयायिकोंके षडिन्द्रियवाद और सांख्यिकोंके एकादशेन्द्रियवाद तथा बौद्धोंके नानेन्द्रियवादका निरास किया है ।

### § ८. अमूर्तद्रव्योंकी एकत्रावगाहना --

एक ही प्रदेशमें धर्मदि सभी द्रव्योंका अस्तित्व कैसे हो सकता है ? यह प्रश्न आगमोंमें चर्चित देखा नहीं गया । पर वाचकने इसका उत्तर दिया है कि धर्म-अधर्म आकाश और जीवकी परस्परमें वृत्ति और पुद्गलमें उन सभीकी वृत्तिका कोई विरोध नहीं क्योंकि वे अमूर्त हैं ।

ऊपर वर्णित तथा अन्य कई विषयोंमें वा० उमास्वातिने अपने दार्शनिक पाण्डित्यका प्रदर्शन किया है । जैसे जीवकी नाना प्रकारकी शरीरावगाहनाकी सिद्धि, ( ५.१६ ), अपवर्त्य और अनपवर्त्य आयुषोंकी योगदर्शन भाष्यका अवलम्बन करके सिद्धि ( २.५२ ) इत्यादि ।

## [ २ ] प्रमाणनिरूपण ।

### § १ पंच ज्ञान और प्रमाणोंका समन्वय ।

इस बातकी चर्चा मैंने पहले की है कि आगमकालमें स्वतन्त्र जैन दृष्टिसे प्रमाणकी चर्चा नहीं हुई है । अनुयोगद्वारमें ज्ञानको प्रमाण कह कर भी स्पष्ट रूपसे जैनानुगम प्रसिद्ध पांच ज्ञानोंको प्रमाण नहीं कहा है । इतना ही नहीं बल्कि जैन दृष्टिसे ज्ञानके प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रकार होने पर भी उनका वर्णन न करके दर्शनान्तरके अनुसार प्रमाणके तीन या चार प्रकार बताये गये हैं । अत एव स्वतन्त्र जैन दृष्टिसे प्रमाणकी चर्चाकी आवश्यकता रही । इसकी पूर्ति वाचकने की है । वाचकने समन्वय कर दिया कि मत्वादि पांच ज्ञान ही प्रमाण हैं<sup>१</sup> ।

### § २ प्रत्यक्ष-परोक्ष ।

मत्वादि पाँचों ज्ञानोंका मामोलेख करके वाचकने कहा है कि ये ही पांच ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाणोंमें विभक्त हैं<sup>१</sup> । स्पष्ट है कि वाचकने ज्ञानके आगमप्रसिद्ध प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेदको लक्ष्य करके ही प्रमाणके दो भेद किये हैं । उन्होंने देखा कि जैन आगमोंमें जब ज्ञानके दो प्रकार ही सिद्ध हैं तब प्रमाणके भी दो प्रकारही करना उचित है । अत एव उन्होंने अनुयोग और स्थानांगगत प्रमाणके चार या तीन भेद, जो कि लोकानुसारी हैं उन्हें छोड़ ही दिया । ऐसा करनेसे ही स्वतन्त्र जैन दृष्टिसे प्रमाण और पंच ज्ञानका संपूर्ण समन्वय सिद्ध हो जाता है और जैन आगमोंके अनुकूल प्रमाणव्यवस्था भी बन जाती है ।

१ “चत्वारि महाभूतानि चतुर्लोकं च महाभूतानं उपादाय रूपं ति दुषिधमपेतं रूपं एकादशविधेन संग्रहं गच्छति ।” अभिधम्मसंघसंग्रह ६.१. से । २ तत्त्वार्थ० १.१० । ३ “मत्तिश्रुतावधिमानः पर्यायकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥ तत् प्रमाण ॥ १० ॥” तत्त्वार्थ० १. ।

वाचका उमाखाति लौकिक परंपराको अपनी आगमिक मौलिक परंपराको जितना महत्त्व देना चाहते न थे और दार्शनिक जगतमें जैन आगमिक परंपराका स्वातंत्र्य भी दिखाना चाहते थे । यही कारण है कि अनुयोगद्वारमें जो लोकानुसरण करके इन्द्रिय प्रत्यक्षरूप आंशिकमतिज्ञानको प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है उसे उन्होंने अमान्य रखा इतना ही नहीं किन्तु नन्दीमें जो इन्द्रियज-मतिको प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है उसे भी अमान्य रखा । और प्रत्यक्ष-परोक्षकी प्राचीन मौलिक आगमिक व्यवस्थाका अनुसरण करके कह दिया कि मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं और अवधि, मनःपर्यय और केवल प्रत्यक्ष प्रमाण हैं<sup>१</sup> ।

बादके जैन दार्शनिकोंने इस विषयमें वा० उमाखातिका अनुसरण नहीं किया बल्कि लोकानुसरण करके इन्द्रिय प्रत्यक्षको सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है ।

### § ३ प्रमाणसंख्यानंतरका विचार ।

जब वाचकने प्रमाणके दो भेद किये तब प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जैनगममें जो प्रत्यक्षादि चार प्रमाण माने गये हैं उसका क्या स्पष्टीकरण है? तथा दूसरोंने जो अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, संभव और अभाव प्रमाण माने हैं उनका इन दो प्रमाणोंके साथ क्या मेल है?

उन्होंने उसका उत्तर दिया कि आगमोंमें प्रमाणके जो चार भेद किये गये हैं वे नयवादान्तरसे हैं<sup>२</sup> । तथा दर्शनान्तरमें जो अनुमानादि प्रमाण माने जाते हैं उनका समावेश मतिश्रुतरूप परोक्ष प्रमाणमें करना चाहिए । क्योंकि उन सभीमें इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप निमित्त मौजुद है<sup>३</sup> ।

इस उत्तरसे उनको संपूर्ण संतोष नहीं हुआ क्योंकि मिथ्याग्रह होनेके कारण जैनतर दार्शनिकोंका ज्ञान आगमिक परिभाषाके अनुसार अज्ञान ही कहा जाता है । अज्ञान तो अप्रमाण है । अंत एव उन्होंने इस आगमिक दृष्टिको सामने रख कर एक दूसरा भी उत्तर दिया कि दर्शनान्तर संमत अनुमानादि अप्रमाण ही हैं<sup>४</sup> ।

उपर्युक्त दो विरोधी मन्तव्य प्रकट करनेसे उनके सामने ऐसा प्रश्न आया कि दर्शनान्तरीय चार प्रमाणोंको नयवादसे प्रमाण कोटिमें गिनते हो और दर्शनान्तरीय सभी अनुमानादि प्रमाणोंको मति श्रुतमें समाविष्ट करते हो इसका क्या खुलासा ?

इसका उत्तर यों दिया है — शब्दनयके अभिप्रायसे ज्ञान — अज्ञानका विभाग ही नहीं । सभी साकार उपयोग ज्ञान ही हैं । शब्दनय श्रुत और केवल इन दो ज्ञानोंको ही मानता है । बाकीके सब ज्ञानोंको श्रुतका उपग्राहक मानकर उनका पृथक् परिगणन नहीं करता । इसी दृष्टिसे आगममें प्रत्यक्षादि चारको प्रमाण कहा गया है और इसी दृष्टिसे अनुमानादिका अन्तर्भाव मति-श्रुतमें किया गया है<sup>५</sup> । प्रमाण और अप्रमाणका विभाग नैगम, संप्रह और व्यवहारनयके अवलम्बनसे होता है क्योंकि इन तीनों नयोंके मतसे ज्ञान और अज्ञान दोनोंका पृथक् अस्तित्व माना गया है<sup>६</sup> ।

१ “आधे परोक्षम् । प्रत्यक्षमव्ययम् ।” तत्त्वार्थ १.१०, ११ । २ तत्त्वार्थ० भा० १.१ । ३ तत्त्वार्थभा० १.१२ । ४ “अप्रमाणाभ्येव वा । कुतः ? मिथ्यादर्शनपरिग्रहात् विपरीतोपदेशाच्च । मिथ्यादृष्टेर्हि मतिश्रुतावधयो नियतमज्ञानमेवेति ।” तत्त्वार्थभा० १.१२ । ५ तत्त्वार्थभा० १.२५ । ६ तत्त्वार्थभा० १.२५ ।



### § ४ प्रमाणका लक्षण ।

वाचकके मतसे सम्म्यग्ज्ञान ही प्रमाणका लक्षण है । सम्म्यग्शब्दकी व्याख्यामें उन्होंने कहा है कि जो प्रशस्त अव्यभिचारि या संगत हो वह सम्म्यग् है<sup>१</sup> । इस लक्षणमें नैयायिकोंके प्रत्यक्ष लक्षणगत अव्यभिचारिविशेषण और उसीको स्पष्ट करनेवाला संगत विशेषण जो आगे जा कर वाचविवर्जित या अविसंवादरूपसे प्रसिद्ध हुआ, आये हैं, किन्तु उसमें 'स्वपरव्यवसाय'ने स्थान नहीं पाया है । वाचकने कर्मण शरीरको स्व और अन्य शरीरोंकी उत्पत्तिमें कारण सिद्ध करनेके लिये आदिष्वकी स्वपरप्रकाशकताका दृष्टान्त दिया है<sup>२</sup> । किन्तु उसी दृष्टान्तके बलसे ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकताकी सिद्धि, जैसे आगेके आचार्योंने की है उन्होंने नहीं की ।

### § ५ ज्ञानोंका सहभाव और व्यापार ।

वाचक उमास्त्रातिने आगमोंका अवलम्बन लेकर ज्ञानोंके सहभावका विचार किया है (१.११) । उस प्रसंगमें एक प्रश्न उठाया है कि केवलज्ञानके समय अन्य चार ज्ञान होते हैं कि नहीं । इस विषयको लेकर आचार्योंमें मतभेद था । कुछ आचार्योंका कहना था कि केवलज्ञानके होने पर मत्स्यादिका अभाव नहीं हो जाता किन्तु अभिमव हो जाता है जैसे सूर्यके उदयसे चन्द्र नक्षत्रादिका अभिमव हो जाता है । इस मतको अमान्य करके वाचकने कह दिया है कि—“क्षयोपशमजालि चत्वारि ज्ञानानि पूर्वानि क्षयादेव केवलम् । तस्मान्न केवलिनः क्षेपाणि ज्ञानानि भवन्ति ।” तत्त्वार्थभा० १.३१ । उनके इस अभिप्रायको आगेके सभी जैन दार्शनिकोंने मान्य रखा है ।

एकाधिक ज्ञानोंका व्यापार एक साथ हो सकता है कि नहीं इस प्रश्नका उत्तर दिया है कि प्रथमके मत्स्यादि चार ज्ञानोंका व्यापार (उपयोग) क्रमशः होता है । किन्तु केवल ज्ञान और केवल दर्शनका व्यापार युगपद् ही होता है<sup>३</sup> । इस विषयको लेकर जैन दार्शनिकोंमें काफी मतभेद हो गया है<sup>४</sup> ।

### § ६ मति-श्रुतका विवेक ।

नन्दीसूत्रकारका अभिप्राय है कि मति और श्रुत अन्योन्यानुगत—अविभाज्य हैं अर्थात् जहाँ मतिज्ञान होता है वहाँ श्रुतज्ञान, और जहाँ श्रुतज्ञान होता है वहाँ मतिज्ञान होता ही है<sup>५</sup> । नन्दीकारने किसी आचार्यका मत उद्धृत किया है कि—“मह पुब्बं जेण सुयं न मई सुय-पुब्बिया” (सू० २४) अर्थात् श्रुत ज्ञान तो मतिपूर्वक है किन्तु मति श्रुतपूर्वक नहीं अत एव मति और श्रुतका भेद होना चाहिए । मति और श्रुतज्ञानकी इस भेदरेखाको<sup>६</sup> मानकर वाचकने उसे और भी स्पष्ट किया कि—“उत्पन्नाविनष्टार्थप्राहकं सांप्रतकालविषयं मति-ज्ञानं श्रुतज्ञानं तु त्रिकालविषयम्, उत्पन्नाविनष्टानुत्पन्नार्थप्राहकमिति ।” तत्त्वार्थभा० १.२० । इसी भेदरेखाको आ० जिनभद्रने और भी पुष्ट की है ।

१ तत्त्वार्थभा० १.१ । २ तत्त्वार्थभा० २.४९ । ३ तत्त्वार्थभा० १.३१ । ४ ज्ञानविन्दु—परिषद पृ० ५४ । ५ नन्दीसूत्र २४ । ६ “श्रुतं मतिपूर्वम्” तत्त्वार्थ १.२० । तत्त्वार्थभा० १.३१ ।

### § ७ मतिज्ञानके भेद ।

आगमोंमें मतिज्ञानको अवग्रहादि चार भेदोंमें या श्रुतनिश्चितादि दो भेदोंमें विभक्त किया गया है । तदन्तर प्रभेदोंकी संख्या दी गई है । किन्तु वाचकने मतिज्ञानके भेदोंका क्रम कुछ बदल दिया है ( १. १४ से ) । मतिज्ञानके मौलिक भेदोंको साधनभेदसे वाचकने विभक्त किया है । उनका क्रम निम्न प्रकारसे है । एक बातका ध्यान रहे कि इसमें स्थानांग और नन्दीगत श्रुतनिः-श्रित और अश्रुतनिःश्रित ऐसे भेदोंको स्थान नहीं मिला किन्तु उस प्राचीन परंपराका अनु-सरण है जिसमें मतिज्ञानके ऐसे भेद नहीं थे । दूसरा इस बातका भी ध्यान रखना आवश्यक है कि नन्दी आदि शास्त्रोंमें अवग्रहादिके बह्मादि प्रकार नहीं गिनाये हैं । जबकि तत्त्वार्थमें वे मौजूद हैं । स्थानांगसूत्रके छठे स्थानकमें ( सू० ५१० ) बह्मादि अवग्रहादिका परिगणन क्रमभेदसे है किन्तु वहाँ तत्त्वार्थगत प्रतिपक्षी भेदोंका उल्लेख नहीं । इससे पता चलता है कि ज्ञानोंके भेदोंमें बह्मादि अवग्रहादिके भेदकी परंपरा प्राचीन नहीं ।

#### ( २ ) मतिज्ञानके दो भेद

१ इन्द्रियनिमित्त

२ अनिन्द्रियनिमित्त

#### ( ४ ) मतिज्ञानके चार भेद

१ अवग्रह

२ ईशा

३ अवाय

४ धारणा

#### ( २८ ) मतिज्ञानके अठ्ठाईस भेद

२४ इन्द्रियनिमित्तमतिज्ञानके —

५ स्पर्शनेन्द्रियजन्य व्यंजनावग्रह,  
अर्थावग्रह, ईशा, अवाय और धारणा

५ रसनेन्द्रियजन्य ”

५ घ्राणेन्द्रियजन्य ”

५ श्रोत्रेन्द्रियजन्य ”

४ चक्षुरिन्द्रियजन्य अर्थावग्रहादि

४ अनिन्द्रियजन्य अर्थावग्रहादि

#### ( १६८ ) मतिज्ञानके एकसौ अडसठ भेद

उक्त अठ्ठाईस भेदके प्रत्येकके १ बहु, २ बहुविध, ३ क्षिप्र, ४ अनिश्रित,  
५ असंदिग्ध और ६ ध्रुव ये छः भेद करनेसे २८×६=१६८ भेद होते हैं ।

१ स्थानांगका क्रम है—क्षिप्र, बहु, बहुविध, ध्रुव, अनिश्रित और असंदिग्ध । तत्त्वार्थका क्रम है—  
बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव । दिगम्बर पाठमें असंदिग्धके स्थानमें अनुक्त है ।  
न्या० प्रस्तावना १५

( ३३६ ) मतिज्ञानके तीन सौ छत्तीस भेद

उक्त २८ भेदके प्रत्येकके—१ बहु, २ अल्प, ३ बहुविध, ४ अल्पविध,  
५ क्षिप्र, ६ अक्षिप्र, ७ अनिश्रित, ८ निश्चित, ९ असंदिग्ध, १० संदिग्ध,  
११ ध्रुव और १२ अध्रुव ऐसे बारह भेद करनेसे  $२८ \times १२ = ३३६$  होते हैं ।

मतिज्ञानके ३३६ भेदके अतिरिक्त वाचकने प्रथम १६८ जो भेद दिये हैं उसमें स्थानांग-निर्दिष्ट अवग्रहादिके प्रतिपक्षरहित छद्मी भेद माननेकी परंपरा कारण हो सकता है । अन्यथा वाचकके मतसे जब अवग्रहादि बह्मादि सेतर होते हैं तो १६८ भेद नहीं हो सकते । २८ के बाद ३३६ ही को स्थान मिलना चाहिए ।

इससे हम कह सकते हैं कि प्रथम अवग्रहादिके बह्मादि भेद नहीं किये जाते थे । जबसे किये जाने लगे सिर्फ छः ही भेदोंने सर्व प्रथम स्थान पाया और बादमें १२ भेदोंने ।

§ ८ अवग्रहादिके लक्षण और पर्याय ।

नन्दीसूत्रमें मतिज्ञानके अवग्रहादि भेदोंका लक्षण तो नहीं किया गया किन्तु उनका स्वरूप-बोध पर्यायवाचक शब्दोंके द्वारा और दृष्टान्त द्वारा कराया गया है । वाचकने अवग्रहादि मति-भेदोंका लक्षण कर दिया है और पर्यायवाचक शब्द भी दे दिये हैं । ये पर्यायवाचक शब्द एक ही अर्थके बोधक हैं या नाना अर्थके ? इस विषयको लेकर टीकाकारोंमें विवाद हुआ है । उसका मूल यही मालूम होता है कि मूलकार ने पर्यायोंका संग्रह करनेमें दो बातोंका ध्यान रखा है । वे ये हैं—समानार्थक शब्दोंका संग्रह करना और सजातीय ज्ञानोंका संग्रह करनेके लिये तद्वाचक शब्दोंका संग्रह भी करना । अर्थात् अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय दोनोंका संग्रह किया गया है ।

यहां नन्दी और उमास्वातिके पर्याय शब्दों का तुलनात्मक कोष्ठक देना उपयुक्त होगा

| मतिज्ञान         | अवग्रह    | ईहा              | अवाय             | धारणा            |
|------------------|-----------|------------------|------------------|------------------|
| नन्दी-तत्त्वार्थ | नन्दी     | तत्त्वार्थ नन्दी | तत्त्वार्थ नन्दी | तत्त्वार्थ नन्दी |
| आभिनिबोधिक,,     | अवग्रह    | „ ग्रह           | अवाय             | धारणा „          |
| ईहा              | अवग्रहणता | ग्रहण ईहा        | „ अवर्तनता       | धारणा ×          |
| अपोह             | उपधारणता  | अवधारण           | आभोगनता ×        | प्रत्यावर्तनता × |
| विमर्श           | अवणता     | × विमर्श         | अपाय             | अपाय प्रतिष्ठा × |
| मार्गणा          | अवलम्बनता | × मार्गणा        | × बुद्धि         | × कोष्ठ ×        |
| गवेषणा           | मेधा      | × गवेषणा         | × विज्ञान        | × × प्रतिपत्ति   |
| संज्ञा           | „ ×       | आलोचन चिंता      | × × अपगम         | × अवधारण         |
| स्मृति           | „         | × ऊहा            | × अपनोद          | × अवस्थान        |
| मति              | „         | × तर्क           | × अपव्याध        | × निश्चय         |
| प्रज्ञा          | ×         | × परीक्षा        | × अपेत           | × अवगम           |
| चिंता            |           | × विचारणा        | × अपगत           | × अवबोध          |
|                  |           | × जिज्ञासा       | × अपविद्ध        | अपनुत्य          |

## [ ३ ] नयनिरूपण ।

## प्रास्ताविक -

वाचक उमास्वातिने कहा है कि नामादि निक्षेपोंसे न्यस्त जीवादि तत्त्वोंका अधिगम प्रमाण और नयसे करना चाहिए<sup>१</sup>। इस प्रकार हम देखते हैं कि निक्षेप, प्रमाण और नय मुख्यतः इन तीनोंका उपयोग तत्त्वके अधिगममें है। यही कारण है कि सिद्धसेनादि सभी दार्शनिकोंने उपायतत्त्वके निरूपणमें प्रमाण, नय और निक्षेपका विचार किया है।

अनुयोगके मूलद्वार उपक्रम, निक्षेप अनुगम और नय ये चार हैं<sup>२</sup>। इनमेंसे दार्शनिक युगमें प्रमाण, नय और निक्षेप, ही का विवेचन मिलता है। नय और निक्षेपने तो अनुयोगके मूल द्वारमें स्थान पाया है पर प्रमाण स्वतन्त्र द्वार न होकर उपक्रम द्वारके प्रभेद रूपसे आया है<sup>३</sup>।

अनुयोगद्वाराके मतसे भावप्रमाण तीन प्रकारका है—गुणप्रमाण (प्रत्यक्षादि), नयप्रमाण और संख्याप्रमाण<sup>४</sup>। अतएव तत्त्वतः देखा जाय तो नय और प्रमाणकी प्रकृति एकही है अर्थात् प्रमाण और नयका तार्त्विक भेद नहीं है। दोनों वस्तुके अधिगमके उपाय हैं। किन्तु प्रमाण अखण्ड वस्तुके अधिगमका उपाय है और नय वस्त्वंशके अधिगमका। इसी भेदको लक्ष्य करके जैनशास्त्रोंमें प्रमाणसे नयका पार्थक्य मानकर दोनोंका स्वतन्त्र विवेचन किया जाता है<sup>५</sup>। यही कारण है कि वाचकने भी 'प्रमाणनयैरधिगमः' (१. ६) इस सूत्रमें प्रमाणसे नयका पृथगुपादान किया है।

## § १ नयसंख्या ।

तत्त्वार्थसूत्रके खोपशभाष्यसंमत और तदनुसारी टीका संमत पाठके आधार पर यह सिद्ध है कि वाचकने पांच मूल नय माने हैं<sup>६</sup> "नैगमसंप्रहव्यवहारजुसूत्रशब्दा नयाः" (१. ३४)। यह ठीक है कि आगममें स्पष्टरूपसे पांच नहीं किन्तु सात मूल नयोंका उल्लेख है<sup>७</sup>। किन्तु अनुयोगमें शब्द, समभिरूढ और एवंभूतकी सामान्य संज्ञा शब्दनय दी गई है—"सिष्टं सहनयाणं" (सू० १४८, १५१)। अत एव वाचकने अंतिम तीनोंको शब्द सामान्य के अन्तर्गत करके मूल नयोंकी पांच संख्या बतलाई है सो अनागमिक नहीं।

दार्शनिकोंने जो नयोंके अर्थनय और शब्दनय ऐसे दो विभाग किये हैं उसका मूल भी इस तरहसे आगम जितना पुराना है क्योंकि आगममें जब अंतिम तीनोंको शब्द नय कहा तब अर्थात् सिद्ध हो जाता है कि प्रारंभके चार अर्थनय हैं।

वाचकने शब्दके तीन भेद किये हैं—सांप्रत, समभिरूढ और एवंभूत। प्रतीत होता है कि शब्दसामान्यसे विशेष शब्द नयको पृथक् करनेके लिये वाचकने उसका सार्थक नाम सांप्रत रखा है।

१ "एवां च जीवादितत्त्वानां यथोद्दिष्टानां नामादिभिर्बन्धनानां प्रमाणनयैर्विस्तारविगमो भवति ।"  
तत्त्वार्थभा० १.६ । २ अनुयोगद्वार सू० ५९ । ३ अनुयोगद्वार सू० ७० । ४ अनुयोगद्वार सू० १४१ ।  
५ तत्त्वार्थभा० टीका १.६ । ६ दिगम्बर पाठके अनुसार सूत्र ऐसा है—"नैगमसंप्रहव्यवहारजुसूत्र-  
शब्दसमभिरूढैवैवंभूता नयाः ।" ७ अनुयोगद्वार सू० १५६ । स्वामीग सू० ५५२ ।  
८ प्रमाणभा० ७.४४, ४५ ।

### § २ नयोंके लक्षण ।

अनुयोगद्वारसूत्रमें नयविवेचन दो स्थानपर आया है । अनुयोगका प्रथम मूल द्वार उपक्रम है । उसके प्रमेद रूपसे नय प्रमाणका विवेचन किया गया है तथा अनुयोगके चतुर्थ मूलद्वार नयमें भी नयवर्णन है । नय प्रमाण वर्णन तीन दृष्टान्तों द्वारा किया गया है — प्रत्यक्ष, वसति<sup>१</sup> और प्रदेश (अनुयोग सू० १४८) । किन्तु यहां नयोंका लक्षण नहीं किया गया । मूल नयद्वारके प्रसंगमें सूत्रकारने नयोंका लक्षण किया है । सामान्यनयका नहीं ।

उन लक्षणोंमें भी अधिकांश नयोंके लक्षण निरुक्तिका आश्रय लेकर किये गये हैं । सूत्रकारने सूत्रोंकी रचना गद्यमें की है किन्तु नयोंके लक्षण गायामें दिये हैं । प्रतीत होता है कि अनुयोगसे भी प्राचीन किसी आचार्यने नय लक्षणकी गायामें की रचना की होगी । जिनका संग्रह अनुयोगके कर्ताने किया है ।

वाचकने नय का पदार्थनिरूपण निरुक्ति और पर्यायका आश्रय लेकर किया है —

“जीवादीन् पदार्थान् नयमिति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्मासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नयाः ।” ( १. ३५ )

अर्थात् जीवादि पदार्थोंका जो बोध करावे वे नय हैं ।

वाचकने आगमिक उक्त तीन दृष्टान्तोंको छोड़कर घटके दृष्टान्तसे प्रत्येक नयका स्वरूप स्पष्ट किया है । इतनाही नहीं बल्कि आगममें जो नाना पदार्थोंमें नयावतारणा की गई है उसमें प्रवेश करानेकी दृष्टिसे जीव, नोजीव, अजीव, नोजीव इन शब्दोंका प्रत्येक नयकी दृष्टिमें क्या अर्थ है तथा किस नयकी दृष्टिसे कितने ज्ञान अज्ञान होते हैं इसका भी निरूपण किया है ।

### § ३ नई विचारणा ।

नयोंके लक्षणमें अधिक स्पष्टता और विकास तत्त्वार्थमें है यह तो अनुयोग और तत्त्वार्थगत नयोंके लक्षणोंकी तुलना करनेवालेसे छिपा नहीं रहता । किन्तु वाचकने नयके विषयमें जो विशेष विचार उपस्थित किया जो संभवतः आगमकालमें नहीं हुआ था, वह तो यह है कि क्या नय वस्तुतः किसी एक तत्त्वके विषयमें तन्त्रान्तरीयोंके नाना मतवाद हैं या जैनाचार्योंके ही पारस्परिक मतभेद को व्यक्त करते हैं ?

इस प्रश्नके उत्तरसे ही नयका स्वरूप वस्तुतः क्या है, या वाचकके समयपर्यन्तमें नयविचारकी व्याप्ति कहाँ तक थी इसका पता लगता है । वाचकने कहा है कि नयवाद यह तन्त्रान्तरीयोंका वाद नहीं है और न जैनाचार्योंका पारस्परिक मतभेद । किन्तु वह तो “क्षेयस्य तु अर्थ-व्याप्यवसायान्तराणि एतानि ।” ( १. ३५ ) है । अर्थात् क्षेय पदार्थके नाना अध्यवसाय हैं । अर्थात् एक ही अर्थके विषयमें भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे होनेवाले नाना प्रकारके निर्णय हैं । ऐसे नाना निर्णय नयभेदसे किस प्रकार होते हैं इसे दृष्टान्तसे वाचकने स्पष्ट किया है ।

१ प्रो० चक्रवर्तीने स्याद्वाचमंजरीगत ( का० २८ ) मिलपन दृष्टान्तका अर्थ किया है — House-building ( पंचासिकावप्रस्तावना पृ० ५५ ) किन्तु उसका ‘वसति’ से मतभेद है । और उसका निबर्णन जो अनुयोगमें है उससे स्पष्ट है कि प्रो० चक्रवर्तीका अर्थ भ्रान्त है । २ “किमेते तन्त्रान्तरीया वादिन आहोस्विद् स्वतन्त्रा एव चोपपन्नमादिणो मतिभेदेन विप्रवाहिता इति ।” १. ३५ ।

एक ही अर्थके विषयमें ऐसे अनेक विरोधी निर्णय होनेपर क्या विप्रतिपत्तिका प्रसंग नहीं होगा ! ऐसा प्रश्न उठाकर अनेकान्तवादके आश्रयसे उन्होंने जो उत्तर दिया है उसीमेंसे विरोधके शमन या समन्वयका मार्ग निकल आता है । उनका कहना है कि एक ही लोकको महासामान्य सत् की अपेक्षासे एक; जीव और अजीव के भेदसे दो; द्रव्य, गुण और पर्यायके भेदसे तीन; चतुर्विध दर्शनका विषय होनेसे चार; पांच अस्तिकायकी अपेक्षासे पांच; छः द्रव्योंकी अपेक्षा से छः कहा जाता है । जिस प्रकार एक ही लोकके विषयमें अपेक्षाभेदसे ऐसे नाना निर्णय होनेपर भी विवादको कोई स्थान नहीं उसी प्रकार नयाश्रित नाना अण्ववसायोंमें भी विवादको अवकाश नहीं है—

“यथैता न विप्रतिपत्तयोऽथ चाध्यवसायस्थानान्तराणि एतानि, तद्वक्ष्यमावाः ।”  
१.३५ ।

धर्मास्तिकायादि किसी एक तत्त्वके बोधप्रकार मत्यादिके भेदसे भिन्न होते हैं । एक ही वस्तु प्रत्यक्षादि चार प्रमाणोंके द्वारा भिन्न भिन्न प्रकारसे जानी जाती है । इसमें यदि विवादको अवकाश है तो नयवाद में भी विवाद नहीं हो सकता है । ऐसा भी वाचकने प्रतिपादन किया है—( १.३५ )

वाचकके इस मन्तव्यकी तुलना न्यायभाष्यके निम्न मन्तव्यसे करना चाहिए । न्यायसूत्रगत—  
‘संख्यैकान्तःसिद्धिः’ ( ४.१.४१ ) की व्याख्या करते समय भाष्यकारने संख्यैकान्तोंका निर्देश किया है और बताया है कि ये सभी संख्यायें सच हो सकती हैं, किसी एक संख्याका एकान्त युक्त नहीं—“अथेमे संख्यैकान्तः सर्वमेकं सद्विशेषात् । सर्वे द्वेधा तित्यानित्यमेवात् । सर्वे द्वेधा ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमिति । सर्वे चतुर्धा प्रमाता प्रमाणं प्रमेयं प्रमितिरिति । एवं यथा संभवमन्येपि इति ।” न्यायभा० ४.१.४१ ।

वाचकके इस स्पष्टीकरणमें कई नये वादोंका बीज है—जैसे ज्ञानभेदसे अर्थभेद है या नहीं ? प्रमाणसंख्य मानना योग्य है या विप्लव ? धर्मभेदसे धर्मभेद है या नहीं ? सुनय और दुर्णवका भेद, इत्यादि । इन वादोंके विषयमें बादके जैनदार्शनिकोंने विस्तारसे चर्चा की है ।

वाचकके कई मन्तव्य ऐसे हैं जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संप्रदायोंके अनुकूल नहीं । उनकी चर्चा पं० श्री सुखलालजीने तत्त्वार्थसूत्रके परिचयमें की है अतएव उस विषयमें यहाँ विस्तार करना अनावश्यक है । उन्हीं मन्तव्योंके आधारपर वाचककी परम्पराका निर्णय होता है कि वे यापनीय थे । उन मन्तव्योंमें दार्शनिक दृष्टिसे कोई महत्त्वका नहीं है । अतएव उनका वर्णन करना यहाँ प्रस्तुत भी नहीं है ।

## ( ब ) आ० कुन्दकुन्दकी जैन दर्शनको देन ।

### प्रास्ताविक—

वा० उमास्वामिने जैन आगमिक तत्त्वोंका निरूपण संस्कृत भाषामें सर्वप्रथम किया है तो आ० कुन्दकुन्दने आगमिक पदार्थोंकी दार्शनिक दृष्टिसे तार्किक चर्चा प्राकृत भाषामें सर्व प्रथम

१ “ते कश्चिमे संख्यैकान्ता यदि विशेषकारितस्य अर्थमेवविस्तारस्य प्रत्याख्याननेन वर्तन्ते, प्रत्यक्षानुमानागमविशेषाभिप्रायाश्च भवन्ति । अभाष्यनुज्ञानेन वर्तन्ते समावर्तनकारितोऽर्थसंग्रहो विशेषकारितस्य अर्थमेव इति एवं एकान्तत्वं जहतीति ।” न्यायभा० ४.१.४१ ।

की है ऐसा उपलब्ध साहित्य सामग्रीके आधार पर कहा जा सकता है । आ० कुन्दकुन्दने जैन तत्त्वोंका निरूपण वा० उमास्वातिकी तरह मुख्यतः आगमके आधारपर नहीं किन्तु तत्कालीन दार्शनिक विचारधाराओंके प्रकाशमें आगमिक तत्त्वोंको स्पष्ट किया है इतना ही नहीं किन्तु अन्य दर्शनोंके मन्तव्योंका यत्र तत्र निरास करके जैन मन्तव्योंकी निर्दोषता और उपादेयता भी सिद्ध की है ।

आचार्य उमास्वातिके तत्त्वार्थकी रचनाका प्रयोजन मुख्यतः संस्कृत भाषामें सूत्र शैलीके ग्रन्थकी आवश्यकताकी पूर्ति करना था । तब आ० कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंकी रचनाका प्रयोजन कुछ दूसरा ही था । उनके सामने तो एक महान् ध्येय था । दिगम्बर संप्रदायकी उपलब्ध जैन आगमोंके प्रति अरुचि बढ़ती जा रही थी । किन्तु जब तक ऐसा ही दूसरा साधन आध्यात्मिक-भूखको मिटानेवाला उपस्थित न हो तब तक प्राचीन जैन आगमोंका सर्वथा त्याग संभव न था । आगमोंका त्याग कई कारणों<sup>१</sup> से करना आवश्यक हो गया था किन्तु दूसरे प्रबल समर्थ साधनके अभावमें वह पूर्णरूपसे शक्य न था । इसीको लक्ष्यमें रख कर आ० कुन्दकुन्दने दिगम्बर संप्रदायकी आध्यात्मिक भूख भांगनेके लिये अपने अनेक ग्रन्थोंकी प्राकृत भाषामें रचना की । यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द के विविध ग्रन्थोंमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र्यका निरूपण प्राचीन आगमिक शैलीमें और आगमिक भाषामें पुनरुक्तिका दोष स्वीकार करके भी विविध प्रकारसे हुआ है । उनको तो एक एक विषयका निरूपण करनेवाले स्वतन्त्र ग्रन्थ बनाना अभिप्रेत था और समग्र विषयोंकी संक्षिप्त संकलना करनेवाले ग्रन्थ बनाना भी अभिप्रेत था । इतनाही नहीं किन्तु आगमके मुख्य विषयोंका यथाशक्य तत्कालीन दार्शनिक प्रकाशमें निरूपण भी करना था जिससे जिज्ञासुकी श्रद्धा और बुद्धि दोनोंको पर्याप्त मात्रामें संतोष मिल सके ।

आचार्य कुन्दकुन्दके समयमें अद्वैतवादोंकी बाढसी आई थी । औपनिषद् ब्रह्माद्वैतके अतिरिक्त शून्याद्वैत और विज्ञानाद्वैत जैसे वाद भी दार्शनिकोंमें प्रतिष्ठित हो चुके थे । तार्किक और श्रद्धालु दोनोंके ऊपर उन अद्वैतवादोंका प्रभाव सहज ही में जम जाता था । अतएव ऐसे विरोधी वादोंके बीच जैनोंके द्वैतवादकी रक्षा करना कठिन था । इसी आवश्यकतामें से आ० कुन्दकुन्दके निश्चयप्रधान अण्वात्मवादका जन्म हुआ है । जैन आगमोंमें निश्चयनय प्रसिद्ध था ही और निक्षेपोंमें भावनिक्षेप भी मौजूद था । भावनिक्षेपकी प्रधानतासे निश्चयनय का आश्रय लेकर, जैन तत्त्वोंके निरूपणद्वारा आ० कुन्दकुन्दने जैनदर्शनको दार्शनिकोंके सामने एक नये रूपमें उपस्थित किया । ऐसा करनेसे वेदान्त का अद्वैतानन्द साधकोंको और तत्त्वज्ञानियोंको जैनदर्शनमें ही मिल गया । निश्चयनय और भावनिक्षेप का आश्रय लेनेपर—द्रव्य और पर्याय; द्रव्य और गुण; धर्म और धर्मि; अवयव और अवयवी इत्यादिका भेद मिटकर अमेद हो जाता है । आ० कुन्दकुन्दको इसी अमेदका निरूपण परिस्थितिवश करना था अत एव उनके ग्रन्थोंमें निश्चय प्रधान वर्णन हुआ है । और नैश्चयिक आत्माके वर्णनमें ब्रह्मवादके समीप जैन आत्मावाद पहुँच गया है । आ० कुन्दकुन्दकृत ग्रन्थोंके अध्ययनके समय उनकी इस निश्चय और

<sup>१</sup> काल कर, व्यवहारण, केवली कवकाहार, क्षीयुक्ति, आपवादिक मांसान्न इत्यादिके उल्लेख जैन आगमोंमें वे जो दिगम्बरसंप्रदायके अनुकूल न थे ।

भावनिक्षेपप्रधान दृष्टिको सामने रखने से कई गुथियाँ सुलझ सकती हैं । और आ० कुन्द-कुन्दका तात्पर्य सहज ही में प्राप्त हो सकता है ।

अब हम आ० कुन्दकुन्दके द्वारा चर्चित कुछ विषयोंका निर्देश करते हैं । क्रम प्रायः वही रखा हो जो उमास्वातिकी चर्चामें अपनाया है । इससे दोनोंकी तुलना हो जायगी और दार्शनिक विकासका क्रम भी ध्यानमें आ सकेगा ।

## [ १ ] प्रमेयनिरूपण ।

### § १ तत्त्व, अर्थ, पदार्थ और तत्त्वार्थ ।

वाचककी तरह आ० कुन्दकुन्द भी तत्त्व, अर्थ, पदार्थ और तत्त्वार्थ इन शब्दोंको एकार्थक मानते हैं<sup>१</sup> । किन्तु वाचक ने तत्त्वोंके विभाजनके अनेक प्रकारोंमेंसे सात तत्त्वोंको<sup>२</sup> ही सम्यग्दर्शनके विषयभूत माने हैं । तब आचार्य कुन्दकुन्दने स्वसमयप्रसिद्ध सभी विभाजन प्रकारोंको एकसाथ सम्यग्दर्शनके विषयरूपसे बता दिया है<sup>३</sup> । उनका कहना है कि षड्द्रव्य, नव पदार्थ, पंच अस्तिकाय और सात तत्त्व इनकी श्रद्धा करनेसे जीव सम्यग्दृष्टि होता है ।

आचार्य कुन्दकुन्दने इन सभी प्रकारोंके अलावा अपनी ओरसे एक नये विभाजनप्रकारका भी प्रचलन किया । वैशेषिकोंने द्रव्य, गुण और कर्मको ही अर्थ संज्ञा दी थी ( ८.२.३ ) । इसके स्थानमें आचार्यने कह दिया कि अर्थ तो द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीन हैं<sup>४</sup> । वाचकने जीवादि सातों तत्त्वोंको अर्थ<sup>५</sup> कहा है तब आ० कुन्दकुन्दने खतत्र दृष्टिसे उपर्युक्त परिवर्धन भी किया है । जैसा मैंने पहले बताया है जैन आगमोंमें द्रव्य, गुण और पर्याय तो प्रसिद्ध ही थे । किन्तु आ० कुन्दकुन्द ही प्रथम हैं जिन्होंने उनको वैशेषिकदर्शनप्रसिद्ध अर्थसंज्ञा दी ।

आचार्य कुन्दकुन्दका यह कार्य दार्शनिक दृष्टिसे हुआ है यह स्पष्ट है । विभागका अर्थ ही यह है कि जिसमें एक वर्गके पदार्थ दूसरे वर्गमें समाविष्ट न हों तथा विभाज्य यावत् पदार्थोंका किसी न किसी वर्गमें समावेश भी हो जाय । इसी लिये आचार्य कुन्दकुन्दने जैनशास्त्रप्रसिद्ध अन्य विभाग प्रकारोंके अलावा इस नये प्रकारसे भी तार्किक विवेचना करना उचित समझा है ।

आचार्य कुन्दकुन्दको परमसंग्रहावलंबी अमेदवादका समर्थन करना भी इष्ट था अत एव द्रव्य, पर्याय और गुण इन तीनोंकी अर्थ संज्ञाके अलावा उन्हींके मात्र द्रव्यकी भी अर्थ संज्ञा रखी है और गुण तथा पर्यायको द्रव्यमें ही समाविष्ट कर दिया है<sup>६</sup> ।

### § २ अनेकान्तवाद ।

आचार्यने आगमोपलब्ध अनेकान्तवादको और स्पष्ट किया है और प्रायः उन्हीं विषयोंकी चर्चा की है जो आगमकालमें चर्चित थे । विशेषता यह है कि उन्होंने अधिक मार व्यवहार और निश्चयावलंबी पृथक्करणके ऊपर दिया है । उदाहरणके तौर पर आगममें जहाँ द्रव्य और

१ पंचास्तिकाय गा० ११२, ११६ । विषयसार गा० ९ । दर्शनप्रामाण्य गा० १९ । २ तत्त्वार्थसूत्र १.४ । ३ “छद्मव जव पयस्यो पंचस्थी, सत्त तत्त्व मिद्विद्वा । सहहृ पाण क्वं सो सविद्दी गुणे-  
यव्यो ॥” दर्शनप्रामा० १९ । ४ प्रवचनसार १.८७ । ५ “तत्त्वानि जीवादीनि वक्ष्यन्ते । त एव  
चाप्योः ।” तत्त्वार्थना. १.२ । ६ प्रवचन० २.१. । २.९ से



पर्यायका भेद और अमेद माना गया है वहाँ आचार्य स्पष्टीकरण करते हैं कि द्रव्य और पर्यायका भेद व्यवहारके आश्रय से है जबकि निश्चयसे दोनोंका अमेद है<sup>१</sup>। आगममें वर्णादिका सद्भाव और असद्भाव आत्मामें माना है उसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि व्यवहासे तो ये सब आत्मामें हैं, निश्चयसे नहीं, इत्यादि<sup>२</sup>। आगममें शरीर और आत्माका भेद और अमेद माना गया है। इस विषयमें आचार्य ने कहा है कि देह और आत्माका ऐक्य यह व्यवहारनयका वक्तव्य है और दोनोंका भेद यह निश्चयनयका वक्तव्य है<sup>३</sup>। इत्यादि।

### § ३ द्रव्यका स्वरूप ।

वाचकके 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' 'गुणपर्यायवद्रव्यम्' और 'तद्भावाभ्ययं नित्यम्' इन तीन सूत्रों (५.२९, ३०, ३७) का संमिलित अर्थ आ० कुन्दकुन्दके द्रव्यलक्षणमें है।

“अपरिच्युतसहावेणुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तसंस्तुतं ।  
गुणवं सपञ्चायं अं तं वृण्वन्ति वृण्वन्ति ॥”

प्रवचन० २.३ ।

द्रव्य ही जब सत् है तो सत् और द्रव्यके लक्षणमें भेद नहीं होना चाहिए। इसी अभिप्रायसे 'सत्' लक्षण और 'द्रव्य' लक्षण अलग अलग न करके एक ही द्रव्यके लक्षणरूपसे दोनों लक्षणोंका समन्वय आ० कुन्दकुन्दने कर दिया है<sup>४</sup>।

### § ४ सत्=द्रव्य=सत्ता ।

द्रव्यके उक्त लक्षणमें जो यह कहा गया है कि 'द्रव्य अपने स्वभावका परिछाग नहीं करता' वह 'तद्भावाभ्ययं नित्यम्' को लक्ष्य करके है। द्रव्यका यह भाव या स्वभाव क्या है जो त्रैकालिक है? इस प्रश्नका उत्तर आ० कुन्दकुन्दने दिया कि 'स्वभावो हि सभावो...व्यवस्थ सव्यवकाळं' (प्रवचन० २.४) तीनों कालमें द्रव्यका जो सद्भाव है, अस्तित्व है, सत्ता है वही स्वभाव है। हो सकता है कि यह सत्ता कभी किसी गुणरूपसे कभी किसी पर्यायरूपसे, उत्पाद, न्यय और ध्रौव्य रूपसे उपलब्ध हो<sup>५</sup>।

यह भी माना कि इन सभीमें अपने अपने विशेष लक्षण हैं तथापि उन सभीका सर्वगत एक लक्षण 'सत्' है ही<sup>६</sup> इस बातको स्वीकार करना ही चाहिए। यही 'सत्' द्रव्यका स्वभाव है अत एव द्रव्य को स्वभावसे सत् मानना चाहिए<sup>७</sup>।

यदि वैशेषिकोंके समान द्रव्यको स्वभावसे सत् न मानकर द्रव्यवृत्ति सत्तासामान्यके कारण सत् माना जाय तब स्वयं द्रव्य असत् हो जायगा, या सत्से अन्य हो जायगा। अतएव द्रव्य स्वयं सत्ता है ऐसा ही मानना चाहिए<sup>८</sup>।

१. समयसार ० इत्यादि । २. समयसार ११ से । ३. समयसार ११, १० । ४. वाचकके दोनों लक्षणोंको विकल्पसे भी-द्रव्यके लक्षणरूपसे आ० कुन्दकुन्दने निर्दिष्ट किया है-पंचाङ्गि० १० । ५. 'गुणेहि सहपञ्चवेहि चित्तेहि...उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तोहि' प्रवचन० २.४ । ६. प्रवचन० २.५ । ७. वही २.६ । ८. प्रवचन० २.१३ । २.१८ । १.९१ ।

यही द्रव्य या सत्ता परमतत्त्व है । नाना देश और कालमें इसी परमतत्त्वका विस्तार है । जिन्हें हम द्रव्य, गुण या पर्यायके नामसे जानते हैं<sup>१</sup> । वस्तुतः द्रव्यके अभावमें गुण या पर्याय तो होते ही नहीं<sup>२</sup> । यही द्रव्य क्रमशः नाना गुणोंमें या पर्यायोंमें परिणत होता रहता है अत एव वस्तुतः गुण और पर्याय द्रव्यसे अन्य है — द्रव्यरूप ही है<sup>३</sup> । तब परमतत्त्व सत्ताको द्रव्यरूप ही मानना<sup>४</sup> उचित है ।

आगमेंमें भी द्रव्य और गुण-पर्यायके अमेदका कथन मिलता है किन्तु अमेद होते हुए भी भेद क्यों प्रतिभासित होता है इसका स्पष्टीकरण जिस ढंगसे आ० कुन्दकुन्दने किया वह उनके दार्शनिक अध्यवसायका फल है ।

आचार्य कुन्दकुन्दने अर्थको परिणमनशील बताया है । परिणाम और अर्थका तादात्म्य माना है । उनका कहना है कि कोई भी परिणाम द्रव्यके बिना नहीं और कोई द्रव्य परिणामके बिना नहीं<sup>५</sup> । जिस समय द्रव्य जिस परिणामको प्राप्त करता है उस समय वह द्रव्य तन्मय होता है<sup>६</sup> । इस प्रकार द्रव्य और परिणामका अविनाभाव बता कर दोनोंका तादात्म्य सिद्ध किया है ।

आचार्य कुन्दकुन्दने परमतत्त्व सत्ताका स्वरूप बताया है कि — (पंचा० ८)

“सत्ता सव्ययतया सविस्तरा अणंतपञ्चया ।

भंगुपादधुवत्ता सपञ्चिकता इवदि एका ॥”

§ ५ द्रव्य, गुण और पर्यायका सम्बन्ध ।

संसारके सभी अर्थोंका समावेश आ० कुन्दकुन्दके मतसे द्रव्य, गुण और पर्यायमें हो जाता है<sup>७</sup> । इन तीनोंका परस्पर संबंध क्या है ? वाचकने कहा है कि द्रव्यके या द्रव्यमें गुणपर्याय होते हैं (तत्त्वार्थ० भा० ५.३७) । अत एव प्रश्न होता है कि यहाँ द्रव्य और गुणपर्यायका कुण्डबदरवत् आधारभेद संबंध है या दंडदंडीवत् स्त-स्त्वामिभाव संबंध है ? या वैशेषिकोंके समान समवाय संबंध है ? वाचकने इस विषयमें स्पष्टीकरण नहीं किया ।

आचार्य कुन्दकुन्दने इसका स्पष्टीकरण करनेके लिये प्रथम तो पृथक्त्व और अन्यत्त्व की व्याख्या की है —

“पविभक्तपदेसत्तं पुथक्त्वमिदि सासर्गं द्वि वीरस्स ।

अणत्तमतत्त्वमाद्यो ण तत्त्वमव होदि कथमेगं ॥” प्रवचन० २.१४ ।

अर्थात् जिन दो वस्तुओंके प्रदेश भिन्न होते हैं वे पृथक् कही जाती हैं । किन्तु जिनमें अतद्भाव होता है अर्थात् वह यह नहीं है ऐसा प्रत्यय होता है वे अन्य कही जाती हैं ।

द्रव्य गुण और पर्यायमें प्रदेशभेद तो नहीं है अत एव वे पृथक् नहीं कहे जा सकते किन्तु अन्य तो कहे जा सकते हैं क्यों कि ‘जो द्रव्य है वह गुण नहीं’ तथा ‘जो गुण है वह द्रव्य नहीं’ ऐसा प्रत्यय होता है<sup>८</sup> । इसीका विशेष स्पष्टीकरण उन्होंने यों किया है कि यह कोई नियम नहीं है कि जहाँ अत्यन्त भेद हो वहीं अन्यत्वका व्यवहार हो । अभिन्नमें भी व्यपदेश, संस्थान, संख्या और विषय के कारण भेदज्ञान हो सकता है<sup>९</sup> । और समर्थन किया है कि

१ प्रवचन० २.१५ । २ प्रवचन २.१८ । ३ सम्यसार ३३६ । ४ प्रवचन० २.११, १२ । पंचा० ९ । ५ प्रवचन० १.१० । ६ प्रवचन० १.८ । ७ प्रवचन० १.८७ । ८ प्रवचन० २.१६ । ९ पंचांगिकाय ५२ ।

द्रव्य और गुण-पर्यायमें भेद व्यवहार होनेपर भी वस्तुतः भेद नहीं। दृष्टांत देकर इस बातको समझाया है कि स्व-स्वामिभावसंबंध संबंधिओंके पृथक् होनेपर भी हो सकता है और एक होनेपर भी हो सकता है—जैसे धन और धनीमें तथा ज्ञान और ज्ञानीमें<sup>१</sup>। ज्ञानीसे ज्ञानगुणको, धनीसे धनके समान, अत्यन्त भिन्न नहीं माना जा सकता। क्योंकि ज्ञान और ज्ञानी अत्यन्त भिन्न हों तो ज्ञान और ज्ञानी—आत्मा ये दोनों अचेतन हो जायेंगे<sup>२</sup>। आत्मा और ज्ञानमें समवाय संबंध मानकर वैशेषिकोंने आत्माको ज्ञानी माना है। किन्तु आ० कुन्दकुन्दने कहा है कि ज्ञानके समवायसंबंधके कारण भी आत्मा ज्ञानी नहीं हो सकती। किन्तु गुण और द्रव्यको अपृथग्भूत अयुतसिद्ध ही मानना चाहिए<sup>३</sup>। आचार्यने वैशेषिकोंके समवायैलक्षणगत अयुतसिद्ध शब्दको स्वाभिप्रेत अर्थमें घटाया है। क्योंकि वैशेषिकोंने अयुतसिद्धोंमें समवाय मानकर भेद माना है जबकि आ० कुन्दकुन्दने अयुतसिद्धोंमें तादात्म्य माना है। आचार्यने स्पष्ट कहा है कि दर्शन-ज्ञान गुण आत्मासे स्वभावतः भिन्न नहीं किन्तु व्यपदेश भेदके कारण पृथक् (अन्य) कहे जाते हैं<sup>४</sup>।

इसी अभेदको उन्होंने अविनाभाव संबंधके द्वारा भी व्यक्त किया है। वाचकने इसना तो कहा है कि गुणपर्याय वियुक्त द्रव्य नहीं होता। उसी सिद्धान्तको आचार्य कुन्दकुन्दने पल्लवित करके कहा है कि द्रव्यके बिना पर्याय नहीं और पर्यायके बिना द्रव्य नहीं। तथा गुणके बिना द्रव्य नहीं और द्रव्यके बिना गुण नहीं। अर्थात् भाव—वस्तु द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक है<sup>५</sup>।

### § ६ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ।

सत् को वाचकने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त कहा है। किन्तु यह प्रश्न होता है कि उत्पादादिका परस्पर और द्रव्य-गुण-पर्यायके साथ कैसा संबंध है।

आचार्य कुन्दकुन्दने स्पष्ट किया है कि 'उत्पत्ति नाशके बिना नहीं और नाश उत्पत्तिके बिना नहीं। अर्थात् जब तक किसी एक पर्यायका नाश नहीं, दूसरे पर्याय की उत्पत्ति संभव नहीं और जब तक किसी की उत्पत्ति नहीं दूसरेका नाश भी संभव नहीं'। इस प्रकार उत्पत्ति और नाशका परस्पर अविनाभाव आचार्यने बताया है।

उत्पत्ति और नाशके परस्पर अविनाभाव का समर्थन करके ही आचार्यने संतोष नहीं किया किन्तु दार्शनिकोंमें सत्कार्यवाद-असत्कार्यवादको लेकर जो विवाद था उसे सुलझानेकी दृष्टिसे कहा है कि ये उत्पाद और व्यय तभी घट सकते हैं जब कोई न कोई ध्रुव अर्थ माना जाय<sup>६</sup>। इस प्रकार उत्पादादि तीनोंका अविनाभावसंबंध जब सिद्ध हुआ तब अभेद दृष्टिका अवलम्बन लेकर आचार्यने कह दिया कि एक ही समयमें एक ही द्रव्यमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यका समवाय होनेसे द्रव्य ही उत्पादादित्रयरूप है<sup>७</sup>।

१ पंचा० ५३। २ वही ५३। ३ वही ५५। ४ वही ५६। ५ वैशे० ७.२.१३। प्रसक्त० समवायनिरूपण। ६ पंचासि० ५८। ७ "पञ्चमविशुद्धं द्रव्यं द्रव्यविशुद्धा य पञ्चया नसि। कोणं अणवणभूदं भावं समया परूषिति ॥ द्रव्येण विना ण गुणा गुणेहि द्रव्यं विना ण संभवति। अन्वदितिको भावो द्रव्यगुणाणं इवदि जहा ॥" पंचा० १२,१३। ८ प्रवचन २.८। ९ प्रवचन २.८। १० प्रवचन २.१०।

आचार्यने उत्पादविषय और द्रव्य गुण-पर्यायका संबंध बताते हुए यह कहा है कि उत्पाद और विनाश ये द्रव्यके नहीं होते किन्तु गुण-पर्यायके होते हैं<sup>१</sup>। आचार्यका यह कथन द्रव्य और गुणपर्यायके व्यवहारन्याश्रित भेदके आश्रयसे है; इतना ही नहीं किन्तु सांख्यसंमत आत्माकी कूटस्थता तथा नैयायिक-वैशेषिकसंमत आत्मद्रव्यकी नित्यताका भी समन्वय करनेका प्रयत्न इस कथनमें है। बुद्धिप्रतिबिम्ब या गुणान्तरोत्पत्तिके होते हुए भी जैसे आत्माको उक्त दार्शनिकोंने उत्पन्न या विनष्ट नहीं माना है वैसे प्रस्तुतमें आचार्यने द्रव्यको भी उत्पाद और व्ययशील नहीं माना है। द्रव्यनयके प्राधान्यसे जब वस्तुदर्शन होता है तब इसी परिणाम पर हम पहुँचते हैं।

किन्तु वस्तु केवल द्रव्य अर्थात् गुण-पर्यायशून्य नहीं है और न स्वमित्र गुणपर्यायोंका अभिष्टानमात्र। वह तो वस्तुतः गुणपर्यायमय है। हम पर्यायनयके प्राधान्यसे वस्तुको एकरूपताके साथ नानारूपमें भी देखते हैं। अर्थात् अनादिअनन्तकाल प्रवाहमें उत्पन्न और विनष्ट होनेवाले नानागुण-पर्यायोंके बीच हम संकलित ध्रुवता भी पाते हैं। यह ध्रुवांश कूटस्थ न हो कर सांख्यसंमत प्रकृतिकी तरह परिणामिनित्य प्रतीत होता है। यही कारण है कि आचार्यने पर्यायोंमें सिर्फ उत्पाद और व्यय ही नहीं किन्तु स्थिति भी मानी है<sup>२</sup>।

#### §७ सत्कार्यवाद-असत्कार्यवादका समन्वय ।

सभी कार्योके मूलमें एकरूप कारण को माननेवाले दार्शनिकोंने, चाहे वे सांख्य हों या प्राचीन वेदान्ती मर्त्यप्रपञ्च आदि या मध्यकालीन ब्रह्मभाचार्य आदि, सत्कार्यवादको माना है। अर्थात् उनके मतमें कार्य अपने अपने कारणमें सत् होता है<sup>३</sup>। तात्पर्य यह है कि असत् की उत्पत्ति नहीं और सत् का विनाश नहीं। इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक और पूर्वमीमांसाका मत है कि कार्य अपने कारणमें सत् नहीं होता। पहले असत् ऐसा अर्थात् अपूर्व ही उत्पन्न होता है<sup>४</sup>। तात्पर्य यह हुआ कि असत् की उत्पत्ति और उत्पन्न सत् का विनाश होता है।

आगमोंके अभ्यासमें हमने देखा है कि द्रव्य और पर्याय दृष्टिसे एक ही वस्तुमें नित्यानित्यता सिद्ध की गई है। उसी तत्त्वका आश्रय लेकर आ० कुन्दकुन्दने सत्कार्यवाद—परिणामवाद और असत्कार्यवाद—आरंभवादका समन्वय करनेका प्रयत्न किया है। उन्होंने द्रव्यनयका आश्रय लेकर सत्कार्यवादका समर्थन किया कि “भावस्त्व णत्थि णासो णत्थि अभावंस्त्व उप्पादो।” (पंचा० १५) अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तो भाव-वस्तुका कभी नाश नहीं होता और अभावकी उत्पत्ति नहीं होती। अर्थात् असत् ऐसा कोई उत्पन्न नहीं होता। द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता और जो कुछ उत्पन्न होता है वह द्रव्यात्मक होनेसे पहले सर्वथा असत् था यह नहीं कहा जासकता। जैसे जीव द्रव्य नाना पर्यायोंको धारण करता है फिर भी यह नहीं कहा जासकता कि वह नष्ट हुआ या नया उत्पन्न हुआ। अत एव द्रव्यदृष्टिसे यही मानना उचित है कि—“एवं सद्दो विणासो असद्दो जीवस्त्व परिध उप्पादो।” पंचा० १९।

इस प्रकार द्रव्यदृष्टिसे सत्कार्यवादका समर्थन करके पर्यायनयके आश्रयसे आ० कुन्दकुन्दने असत्कार्यवादका भी समर्थन किया कि “एवं सद्दो विणासो असद्दो जीवस्त्व होइ

१ पंचा० ११, १५ । २ प्रवचन० २.९ । पंचा० ११ । ३ प्रमाणगी० प्रवच० ४० ० ।

४ वही ४० ० ।

व्यवहारो ॥” पंचा० ६० । अर्थात् गुण और पर्यायोंमें उत्पाद और व्यय होते हैं<sup>१</sup> अत एव यह मानना पड़ेगा कि पर्याय दृष्टिसे सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति होती है । जीवका देव पर्याय जो पहले नहीं था अर्थात् असत् था वह उत्पन्न होता है और सत्-विद्यमान ऐसा मनुष्य पर्याय नष्ट भी होता है ।

आचार्यका कहना है कि यद्यपि ये दोनों वाद अन्योन्य विरुद्ध दिखाई देते हैं किन्तु नयोंके आश्रयसे वस्तुतः कोई विरोध नहीं<sup>२</sup> ।

### §८ द्रव्योंका भेद-अभेद ।

वाचकने यह समाधान तो किया कि धर्मादि अमूर्त हैं अत एव उन समी की एकत्र वृत्ति हो सकती है । किन्तु एक दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि यदि इन समी की वृत्ति एकत्र है, वे समी परस्पर प्रविष्ट हैं, तब उन समी की एकता क्यों नहीं मानी जाय ? इस प्रश्नका समाधान आचार्य कुन्दकुन्दने किया कि छहों द्रव्य अन्योन्यमें प्रविष्ट हैं एक दूसरेको अवकाश भी देते हैं, इनका नित्यसंमेलन भी है फिर भी उन समीमें एकता नहीं हो सकती क्यों कि वे अपने स्वभावका परित्याग नहीं करते<sup>३</sup> । स्वभावभेदके कारण एकत्र वृत्ति होनेपर भी उन समी का भेद बना रहता है ।

धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों अमूर्त हैं और भिन्नावगाह नहीं हैं तब तीनोंके बजाय एक आकाशका ही स्वभाव ऐसा क्यों न माना जाय जो अवकाश, गति और स्थितिमें कारण हो ऐसा मानने पर तीन द्रव्यके बजाय एक आकाश द्रव्यसे ही काम चल सकता है—इस शंकाका समाधान भी आचार्यने किया है कि यदि आकाशको अवकाशकी तरह गति और स्थितिमें भी कारण माना जाय तो ऊर्ध्वगतिस्वभाव जीव लोकाकाशके अंत पर स्थिर क्यों हो जाते हैं ? इस लिये आकाशके अतिरिक्त धर्म-अधर्म द्रव्योंको मानना चाहिए । दूसरी बात यह भी है कि यदि धर्म-अधर्म द्रव्योंको आकाशातिरिक्त न माना जाय तब लोकालोकका विभाग भी नहीं बनेगा<sup>४</sup> ।

इस प्रकार स्वभावभेदके कारण पृथगुपलब्धि होनेसे तीनोंको पृथक्—अभ्य सिद्ध करके आचार्यका अभेद पक्षपाती मानस संतुष्ट नहीं हुआ अत एव तीनोंका परिमाण समान होनेसे तीनोंको अपृथग्भूत भी कह दिया है<sup>५</sup> ।

### §९ स्याद्वाद ।

वाचकके तत्त्वार्थमें स्याद्वादका जो रूप है वह आगमगत स्याद्वादके विकासका सूचक नहीं है । भगवतीसूत्रकी तरह वाचकने भी भंगोंमें एकवचन आदि वचनभेदोंको प्राधान्य दिया है । किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें सप्तभंगीका वही रूप है जो बादके समी दार्शनिकों में देखा जाता है । यानि भंगोंमें आचार्यने वचनभेदको महत्त्व नहीं दिया है । आचार्यने प्रवचनसारमें (२.२३) अवक्तव्य भंगको तृतीय स्थान दिया है किन्तु पंचास्तिकायमें उसका स्थान चतुर्थ

१ “गुणपञ्चसु भावा उत्पादवधौ पञ्चवर्षि ॥” १५ । २ “इति जिगबरेहिं अनिगं अनोप्यविश्व-मविश्वं ॥” पंचा० ६० । पंचा०

३ “अणोऽणं पयिसंवा दिंता ओगासमणमणसस ।

मिळता मि व मिळं सगं समावं न विजहंति ॥” पंचा० ७ ।

४ पंचा० ९९-१०२ । ५ पंचा० १०३ ।

रखा है (गा० १४) । दोनों ग्रन्थोंमें चार भंगोंका ही शब्दतः उपादान है और शेष तीन भंगोंकी योजना करनेकी सूचना की है । इस सप्तभंगीका समर्थन आचार्यने भी द्रव्य और पर्यायनयके आश्रयसे किया है (प्रवचन २.१९) ।

### § १० मूर्ता-मूर्तविवेक ।

मूल वैशेषिकसूत्रोंमें द्रव्योंका साधर्म्य-वैधर्म्य मूर्तत्व-अमूर्तत्व धर्मको लेकर बताया नहीं है । इसी प्रकार गुणोंका भी विभाग मूर्तगुण अमूर्तगुण उभयगुण रूपसे नहीं किया है परंतु प्रशस्त पादमें ऐसा हुआ है । अत एव मानना पड़ता है कि प्रशस्तपादके समयमें ऐसी निरूपण की पद्धति प्रचलित थी ।

जैन आगमोंमें और वाचकके तत्त्वार्थमें द्रव्योंके साधर्म्य वैधर्म्य प्रकरणमें रूपि और अरूपि शब्दोंका प्रयोग देखा जाता है । किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दने उन शब्दोंके स्थान में मूर्त और अमूर्त शब्दका प्रयोग किया है<sup>१</sup> । इतना ही नहीं किन्तु गुणोंको भी मूर्त और अमूर्त ऐसे विभागोंमें विभक्त किया है<sup>२</sup> । आचार्य कुन्दकुन्दका यह वर्गीकरण वैशेषिक प्रभावसे रहित है ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

आचार्य कुन्दकुन्दने मूर्तकी जो व्याख्या की है वह अपूर्व तो है किन्तु निर्दोष है ऐसा नहीं कहा जा सकता । उन्होंने कहा है कि जो इंद्रियग्राह्य है वह मूर्त है और शेष अमूर्त है<sup>३</sup> । इस व्याख्याके स्वीकार करनेपर परमाणु पुद्गलको जिसे स्वयं आचार्यने मूर्त कहा है और इंद्रियग्राह्य कहा है अमूर्त मानना पड़ेगा<sup>४</sup> । परमाणुमें रूप-रसादि होनेसे ही स्कन्धमें वे होते हैं और इसी लिये यह प्रत्यक्ष होता है यदि ऐसा मानकर परमाणुमें इंद्रियग्राह्यताकी योग्यता का स्वीकार किया जाय तो वह मूर्त कहा जा सकता है । इस प्रकार लक्षणकी निर्दोषता भी घटाई जा सकती है ।

### § ११ पुद्गलद्रव्यव्याख्या ।

आचार्यने व्यवहार और निश्चय नयसे पुद्गलद्रव्यकी जो व्याख्या की है वह अपूर्व है । उनका कहना है कि निश्चयनयकी अपेक्षासे परमाणु ही पुद्गलद्रव्य कहा जाना चाहिए और व्यवहार नयकी अपेक्षासे स्कन्धको पुद्गल कहना चाहिए<sup>५</sup> ।

पुद्गल द्रव्यकी जब ऐसी व्याख्या की तब पुद्गलके गुण और पर्यायोंमें भी आचार्यको स्वभाव और विभाव ऐसे दो भेद करना प्राप्त हुआ । अतएव उन्होंने कहा है कि परमाणुके गुण स्वाभाविक हैं और स्कन्धके गुण वैभाविक हैं । इसी प्रकार परमाणुका अन्यनिरपेक्ष परिणमन स्वभाव पर्याय है और परमाणुका स्कन्धरूप परिणमन अन्यसापेक्ष होनेसे विभाव पर्याय है<sup>६</sup> ।

प्रस्तुतमें अन्यनिरपेक्ष परिणमनको जो स्वभाव पर्याय कहा गया है उसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि वह परिणमन कालभिन्न निमित्तकारणकी अपेक्षा नहीं रखता । क्योंकि स्वयं आ० कुन्दकुन्दके मतसे भी समी प्रकरके परिणामोंमें काल कारण होता ही है ।

आगेके दार्शनिकोंने यह सिद्ध किया है कि किसी भी कार्यकी निष्पत्ति सामग्रीसे होती है किसी एक कारणसे नहीं । इसे ध्यानमें रख कर आ० कुन्दकुन्दके उक्त शब्दोंका अर्थ करना चाहिए ।

१ पंचा० १०४ । २ प्रवचन० २.३८, ३९ । ३ पंचा० १०६ । प्रवचन० २.३९ । ४ नियमसार २६ । पंचा० ८३ । ५ नियमसार २९ । ६ नियमसार २७, २८ ।

## § १२ पुद्गलस्कन्ध ।

आ० कुन्दकुन्दने स्कन्धके छः भेद बताये हैं जो वाचकके तत्त्वार्थमें तथा आगमोंमें उस रूपमें देखे नहीं जाते । ये छः भेद ये हैं —

१ अतिसूक्ष्मसूक्ष्म — पृथ्वी, पर्वतादि ।

२ सूक्ष्म — वृत्त, जल, तैलादि ।

३ सूक्ष्मसूक्ष्म — छाया, आतप आदि ।

४ सूक्ष्म-सूक्ष्म — स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्रेन्द्रियके विषयभूत स्कन्ध ।

५ सूक्ष्म — कर्मण्यवर्गणाप्रायोग्य स्कन्ध ।

६ अतिसूक्ष्म — कर्मण्यवर्गणाके भी योग्य जो न हों ऐसे अतिसूक्ष्म स्कन्ध ।

## § १३ परमाणुचर्चा ।

आगमवर्णित द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव परमाणुकी तथा उसकी निष्कानित्यताविषयक चर्चा हमने पहले की है । वाचकने परमाणुके विषयमें 'उक्तं च' कह करके किसीके परमाणुलक्षणको उद्धृत किया है यह इस प्रकार है —

“कारणमेव तद्वन्धं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः ।

एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥”

इस लक्षणमें निम्न बातें स्पष्ट हैं —

१ द्विप्रदेशादि समी स्कन्धोंका अंशकारण परमाणु है ।

२ परमाणु सूक्ष्म है ।

३ „ नित्य है ।

४ परमाणुमें एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण, दो स्पर्श होते हैं ।

५ परमाणुकी सिद्धि कार्यसे होती है ।

इन पांच बातोंके अलावा वाचकने 'भेदादणुः' ( ५.२७ ) इस सूत्रसे परमाणुकी उत्पत्ति भी बताई है । अत एव यह स्पष्ट है कि वाचकने परमाणुकी निष्कानित्यताका स्वीकार किया है जो आगममें प्रतिपादित है ।

परमाणुके सम्बन्धमें आचार्य कुन्दकुन्दने परमाणुके उक्त लक्षणको और भी स्पष्ट किया है । इतना ही नहीं किन्तु उसे दूसरे दार्शनिकों की परिभाषामें समझानेका प्रयत्न भी किया है । परमाणुके मूल गुणोंमें शब्दको स्थान नहीं है तब पुद्गल शब्दरूप कैसे और कब होता है ( पंचा० ८६ ) इस बातका भी स्पष्टीकरण किया है ।

आ० कुन्दकुन्दके परमाणुलक्षणमें निम्न बातें हैं<sup>१</sup> ।

१ समी स्कन्धोंका अंतिमभाग परमाणु है ।

२ परमाणु शाश्वत है ।

३ अशब्द है । फिर भी शब्दका कारण है ।

४ अविभाज्य ऐसा एक है ।

५ मूर्त है ।

<sup>१</sup> पंचा० ८४, ८५, ८७, ८८ । नियमसार २५-२७ ।

- ६ चतुर्धातुका कारण है और कार्य भी है ।
- ७ परिणामी है ।
- ८ प्रदेशभेद न होनेपर भी वह वर्णोंदिको अवकाश देता है ।
- ९ स्कन्धोंका कर्ता और स्कन्धान्तरसे स्कन्धका भेदक है ।
- १० काल और संख्याका प्रविभक्ता — व्यवहारनियामक भी परमाणु है ।
- ११ एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्शयुक्त है ।
- १२ भिन्न होकर भी स्कन्धका घटक है ।
- १३ आत्मादि है, आत्ममध्य है, आत्मान्त है ।
- १४ इन्द्रियाप्राप्त है ।

आचार्यने 'धातु चतुस्स कारणं' (पंचा० ८५) अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार धातुओंका मूल कारण परमाणु है ऐसा कह करके यह साफ कर दिया है कि जैसा वैशेषिक या चार्वाक मानते हैं वे धातुएँ मूल तत्त्व नहीं किन्तु समीका मूल एकलक्षण परमाणु ही है ।

### § १४ आत्मनिरूपण ।

( १ ) निश्चय और व्यवहार — जैन आगमोंमें आत्माको शरीरसे भिन्न भी कहा है और अभिन्न भी । जीवका ज्ञानपरिणाम भी माना है और गत्यादि भी, जीवको कृष्णवर्ण भी कहा है और अवर्ण भी कहा है । जीवको नित्य भी कहा है और अनित्य भी, जीवको अमूर्त कहा कर भी उसके नारकादि अनेक मूर्त भेद बताये हैं । इस प्रकार जीवके शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपोंका वर्णन आगमोंमें विस्तारसे है । कहीं कहीं द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयोंका आश्रय लेकर विरोधका समन्वय भी किया गया है । वाचकने भी जीवके वर्णनमें सकर्मक और अकर्मक जीवका वर्णन मात्र कर दिया है । किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दने आत्माके आगमोक्त वर्णनको समझनेकी चाबी बता दी है जिसका उपयोग करके आगमके प्रत्येक वर्णनको हम समझ सकते हैं कि आत्माके विषयमें आगममें जो अमुक बात कही गई वह किस दृष्टिसे है । जीवका जो शुद्धरूप आचार्यने बताया है वह आगमकालमें अज्ञात नहीं था । शुद्ध और अशुद्ध स्वरूपके विषयमें आगम कालके आचार्योंको कोई भ्रम नहीं था । किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दके आत्मनिरूपणकी जो विशेषता है वह यह है कि इन्होंने खसामयिक दार्शनिकोंकी प्रसिद्ध निरूपण शैलीको जैन आत्मनिरूपणमें अपनाया है । दूसरोंके मन्तव्योंको, दूसरोंकी परिभाषाओंको अपने ढंगसे अपनाकर या खण्डन करके जैन मन्तव्यको दार्शनिकरूप देनेका प्रबल प्रयत्न किया है ।

औपनिषद दर्शन, विज्ञानवाद और सूत्र्यवादमें वस्तुका निरूपण दो दृष्टिओंसे होने लगा था । एक परमार्थ दृष्टि और दूसरी व्यावहारिक दृष्टि । तत्त्वका एक रूप पारमार्थिक और दूसरा सांभृतिक वर्णित है । एक भूतार्थ है तो दूसरा अभूतार्थ । एक अलौकिक है तो दूसरा लौकिक । एक शुद्ध है तो दूसरा अशुद्ध । एक सूक्ष्म है तो दूसरा स्थूल । जैन आगममें जैसा हमने पहले देखा व्यवहार और निश्चय ये दो नय या दृष्टियाँ क्रमशः स्थूल — लौकिक और सूक्ष्म-तत्त्वप्राप्ति मानी जाती रहीं ।



आचार्य कुन्दकुन्दने आत्मनिरूपण उन्हीं दो दृष्टिओंका आश्रय लेकर किया है । आत्माके पारमार्थिक शुद्ध रूपका वर्णन निश्चय नयके आश्रयसे और अशुद्ध या लौकिक-स्थूल आत्माका वर्णन व्यवहार नयके आश्रयसे उन्होंने किया है ।

( २ ) बहिरात्मा-अन्तरात्मा-परमात्मा — माण्डूक्योपनिषदमें आत्माको चार प्रकार का माना है — अन्तःप्रज्ञ, बहिःप्रज्ञ, उभयप्रज्ञ और अवाच्य । किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दने बहिरात्मा, अन्तरात्मा, और परमात्मा ऐसे तीन प्रकार बतलाये हैं । बाह्य पदार्थोंमें जो आसक्त है, इन्द्रियोंके द्वारा जो अपने शुद्ध स्वरूपसे ग्रह हुआ है तथा जिसे देह और आत्माका भेदज्ञान नहीं जो शरीरको ही आत्मा समझता है ऐसा विषयगामी मूढ़ात्मा बहिरात्मा है । सांख्योंके प्राकृतिक, वैकृतिक और दाक्षणिक बन्धका समावेश इसी बाह्यात्मामें हो जाता है ।

जिसे भेदज्ञान तो हो गया है पर कर्मबन्ध सशरीर है और जो कर्मोंके नाशमें प्रयत्नशील है ऐसा मोक्षमार्गारूढ अन्तरात्मा है । शरीर होते हुए भी वह समझता है कि यह मेरा नहीं, मैं तो इससे भिन्न हूँ । ध्यानके बलसे कर्म क्षय करके आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपको जब प्राप्त करता है वह परमात्मा है ।

( ३ ) परमात्मवर्णनमें समन्वय — परमात्म वर्णनमें आचार्य कुन्दकुन्दने अपनी समन्वय शक्तिका परिचय दिया है । अपने कालमें स्वयंभूकी प्रतिष्ठाको देखकर स्वयंभू शब्दका प्रयोग परमात्माके लिये जैनसंमत अर्थमें उन्होंने करदिया है । इतना ही नहीं किन्तु कर्मविमुक्त शुद्ध आत्मा के लिये शिव, परमेष्ठिन्, विष्णु, चतुर्मुख, बुद्ध परमात्मा जैसे शब्दोंका प्रयोग करके यह सूचित किया है कि तत्त्वतः देखा जाय तो परमात्माका रूप एक ही है नाम भले ही नाना हों ।

परमात्माके विषयमें आचार्यने जब यह कहा कि वह न कार्य है और न कारण; तब बौद्धोंके असंस्कृत निर्वाणकी, वेदान्तिओंके ब्रह्मभाव की तथा सांख्योंके कूटस्थ पुरुष मुक्त स्वरूप की कल्पनाका समन्वय उन्होंने किया है ।

तत्कालीन नाना विरोधी वादोंका सुन्दर समन्वय उन्होंने परमात्माके स्वरूप वर्णनके बहाने करदिया है । उससे पता चलता है कि वे केवल पुराने शास्त्र और उच्छेदवादसे ही नहीं बल्कि नवीन विज्ञानाद्वैत और शून्यवादसे भी परिचित थे । उन्होंने परमात्माके विषयमें कहा है —

“सस्सदमघ उच्छेदं भवमभयं च सुण्णमिवरं च ।  
विण्णाणमविण्णाणं ण वि सुखदि असदि सत्तावे ॥”

पंचा० ३७ ।

यद्यपि उन्होंने जैनागमोंके अनुसार आत्माको कायपरिमाण भी माना है फिर भी उपनिषद् और दार्शनिकोंमें प्रसिद्ध आत्मसर्वगतत्व — विभुत्वका भी अपने ढंगसे समर्पण किया है कि —

१ समय० ६ से, ३१ से, ६१ से । पंचा० १३४ । निबम० ३८ से । भावमा० ६४, १४६ । प्रवचन० २.२.८०, १०० । २ मोक्षमा० ४ से । निबमतार १४९ से । ३ सांख्यत० ४४ । ४ प्रवचन० १.१६ ।

५ “णाणी सिव परमेठ्ठी सव्विण्ह विण्हु वडमुहो वुहो ।  
अण्यो विय परमण्यो कम्मविमुक्को य होइ कुहं ॥”

भावमा० १४९

६ पंचा० ३६ ।

“आवा जाणपमाणं जाणं ज्ञेयवमाणमुद्दिष्टं ।  
 ज्ञेयं लोयालोयं तन्हा जाणं तु सव्वगयं ॥  
 सव्वगदो जिण वसदो सव्वे विय तग्गया जगदि अट्ठा ।  
 जाणमयादो य जिणो विससयादो तस्स ते भणिया ॥”

प्रवचन० १.२३, २६ ।

यहाँ सर्वगत शब्द कायम रखकर अर्थमें परिवर्तन किया गया है क्योंकि उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि ज्ञान या आत्मा सर्वगत है इसका मतलब यह नहीं कि ज्ञानी ज्ञेयमें प्रविष्ट है या व्याप्त है किन्तु जैसे चक्षु अर्थसे दूर रह कर भी उसका ज्ञान कर सकती है वैसे आत्मा भी सर्व पदार्थोंको जानता भर है—प्रवचन० १.२८-३२ ।

अर्थात् दूसरे दार्शनिकोंने सर्वगत शब्दका अर्थ, गम धातुको गत्यर्थक मानकर सर्वव्यापक या विभु, ऐसा किया है जब कि आचार्यने गमधातुको ज्ञानार्थक मानकर सर्वगतका अर्थ किया है सर्वज्ञ । शब्द वही रहा किन्तु अर्थ जैनाभिप्रेत बन गया<sup>१</sup> ।

(४) जगत्कर्तृत्व—आचार्यने विष्णुके जगत्कर्तृत्वके मन्तव्यका भी समन्वय जैन दृष्टिसे करनेका प्रयत्न किया है । उन्होंने कहा है कि व्यवहारनयके आश्रयसे जैनसंमत जीवकर्तृत्वमें और लोकसंमत विष्णुके जगत्कर्तृत्वमें विशेष अन्तर नहीं है । इन दोनों मन्तव्योंको यदि पारमार्थिक माना जाय तब दोष यह होगा कि दोनोंके मतसे मोक्षकी कल्पना असंगत हो जायगी<sup>२</sup> ।

(५) कर्तृत्वाकर्तृत्वविवेक—सांख्योंके मतसे आत्मामें कर्तृत्व नहीं<sup>३</sup> है क्योंकि उसमें परिणमन नहीं । कर्तृत्व प्रकृतिमें है क्योंकि वह प्रसवधर्मा है<sup>४</sup> । पुरुष वैसा नहीं । तात्पर्य यह है कि जो परिणमनशील हो वह कर्ता हो सकता है । आचार्य कुन्दकुन्दने भी आत्माको सांख्यमतके समन्वयकी दृष्टिसे अकर्ता तो कहा ही है किन्तु अकर्तृत्वका तात्पर्य जैन दृष्टिसे उन्होंने बताया है कि आत्मा पुद्गलकर्मोंका अर्थात् अनात्म-परिणमनका कर्ता नहीं है<sup>५</sup> । जो परिणमनशील हो वह कर्ता है इस सांख्यसंमत व्याप्तिके बलसे आत्माको कर्ता<sup>६</sup> भी कहा है क्योंकि वह परिणमनशील है । सांख्यसंमत आत्माकी कूटस्थता—अपरिणमनशीलता आचार्यको मान्य नहीं । उन्होंने जैनागम प्रसिद्ध आत्मपरिणमनका समर्थन किया है<sup>७</sup> और सांख्योंका निरास करके आत्माको स्वपरिणामोंका कर्ता माना है<sup>८</sup> ।

कर्तृत्वकी व्यावहारिक व्याख्या लोकप्रसिद्ध भाषाप्रयोगकी दृष्टिसे होती है इस बातको स्वीकार करके भी आचार्यने बताया है कि नैश्चयिक या पारमार्थिक कर्तृत्वकी व्याख्या दूसरी ही करना चाहिए । व्यवहारकी भाषामें हम आत्माको कर्मका भी कर्ता कह सकते हैं<sup>९</sup> किन्तु नैश्चयिक दृष्टिसे किसी भी परिणाम या कार्यका कर्ता स्वद्रव्य ही है पर द्रव्य नहीं<sup>१०</sup> । अतएव

१ बौद्धोंने भी विभुत्वका स्वाभिप्रेत अर्थ किया है कि “विभुत्वं पुनश्चानुमहाणप्रभावसंपन्नता”  
 मध्याह्नविभाषटीका पृ० ८३ । २ समयसार ३५०-३५२ । ३ सांख्यका० १९ । ४ वही ११ ।  
 ५ समयसार ८१-८८ । ६ वही ८९, ९८ । प्रवचन० २.९२ से । नियमसार १८ । ७ प्रवचन १.७६ ।  
 १.८-से । ८ समयसार १२८ से । ९ समयसार १०५, ११२-११५ । १० समयसार ११०, १११ ।  
 न्या० प्रस्तावना १७

आत्माको ज्ञानादि स्वपरिणामोंका ही कर्ता मानना चाहिए । आलस्य कर्मादि धात्व् करणोंको अपेक्षाकारण या निमित्त कहना चाहिए<sup>१</sup> ।

वस्तुतः दार्शनिकोंकी दृष्टिसे जो उपादान कारण है उसीको आचार्यने पारमार्थिक दृष्टिसे कर्ता कहा है । और अन्य कारणोंको बौद्धदर्शन प्रसिद्ध हेतु, निमित्त या प्रत्यय शब्दसे कहा है ।

जिस प्रकार जैनोंको ईश्वरकर्तृत्व मान्य नहीं है<sup>२</sup> उसी प्रकार सर्वथा कर्मकर्तृत्व भी मान्य नहीं है । आचार्यकी दार्शनिक दृष्टिने यह दोष देख लिया कि यदि सर्वकर्तृत्वकी जवाबदेही ईश्वरसे छिनकर कर्म के ऊपर रखी जाय तब पुरुषकी स्वाधीनता खंडित हो जाती है इतना ही नहीं किन्तु ऐसा मानने पर जैनके कर्मकर्तृत्वमें और सांख्योंके प्रकृतिकर्तृत्वमें भेद भी नहीं रह जाता और आत्मा सर्वथा अकारक—अकर्ता हो जाता है । ऐसी स्थितिमें हिंसा या अश्रद्धाचर्यका दोष आत्मामें न मान कर कर्ममें ही मानना पड़ेगा<sup>३</sup> । अत एव मानना यह चाहिए कि आत्माके परिणामोंका स्वयं आत्मा कर्ता है और कर्म अपेक्षा कारण है तथा कर्मके परिणामोंमें स्वयं कर्म कर्ता है और आत्मा अपेक्षा कारण है<sup>४</sup> ।

जब तक मोहके कारणसे जीव परब्रह्मोंको अपना समझ कर उनके परिणामोंमें निमित्त बनता है तब तक संसारवृद्धि निश्चित है<sup>५</sup> । जब भेदज्ञानके द्वारा अनात्मको पर समझता है तब वह कर्ममें निमित्त भी नहीं बनता और उसकी मुक्ति अवश्य होती है<sup>६</sup> ।

(६) शुभ-अशुभ-शुद्ध अध्यवसाय — सांख्य कारिकामें कहा है कि धर्म—पुण्यसे ऊर्ध्वगमन होता है, अधर्म—पापसे अधोगमन होता है किन्तु ज्ञानसे मुक्ति मिलती है<sup>७</sup> । इसी बातको आचार्यने जैन परिभाषाका प्रयोग करके कहा है कि आत्माके तीन अध्यवसाय होते हैं—शुभ, अशुभ और शुद्ध । शुभाध्यवसायका फल स्वर्ग है, अशुभका नरकादि और शुद्धका मुक्ति है<sup>८</sup> । इस मतकी न्याय-वैशेषिकके साथ भी तुलना की जा सकती है । उनके मतसे भी धर्म और अधर्म ये दोनों संसारके कारण हैं और धर्माधर्मसे मुक्त शुद्ध चैतन्य होने पर ही मुक्तिलभ होता है । भेद यही है कि वे मुक्त आत्माको शुद्ध रूप तो मानते हैं किन्तु ज्ञानमय नहीं ।

### § १५ संसारवर्णन ।

आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंसे यह जाना जाता है कि वे सांख्य दर्शनसे पर्याप्तमात्रामें प्रभावित हैं । जब वे आत्माके अकर्तृत्व आदिका समर्थन करते हैं<sup>९</sup> तब वह प्रभाव स्पष्ट दिखता है । इतना ही नहीं किन्तु सांख्योंकी ही परिभाषाका प्रयोग करके उन्होंने संसार वर्णन भी किया है । सांख्योंके अनुसार प्रकृति और पुरुषका बन्ध ही संसार है । जैमागमोंमें प्रकृतिबंध नामक बंधका एव प्रकार माना गया है । अत एव आचार्यने अन्य शब्दोंकी अपेक्षा प्रकृति शब्दको संसार वर्णन प्रसंगमें प्रयुक्त करके सांख्य और जैन दर्शनकी समानता की ओर संकेत किया है । उन्होंने कहा है—

१ समवसार १०७, १०९ । २ समवसार ८६-८८, ३३९ । ३ समवसार ३५०-३५२ । ४ समवसार ३९६-३९८ । ५ समवसार ८६-८८, ३३९ । ६ समवसार ७४-७५, ९९, ४१७-४१९ । ७ यही ७६-७९, १००, १०४, ३४३ । ८ "धर्मेण गमनमूर्ध्व गमनमधस्ताद्वयवसायेण । ज्ञानेन चापवर्गा" सांख्यका० ४४ । ९ प्रवचन० १.९, ११, १२, १३; २.८९ । समवसार १५५-१६१ । १० समवसार ८०, ८१ ३४८, ।

“वेदा उ पयस्विदं उपजदि विणस्सदि ।  
पयसी वि वेदयदं उपजदि विणस्सदि ॥  
एवं बंधो दुषहंवि अण्णोणपच्चयाण हवे ।  
अण्णो पयसीय य संसारो तेण जायदे ॥” समयसार ३४०-४१ ।

सांख्योंने पुरुषव्याप्यसे प्रकृति और पुरुषके संयोगसे जो सर्ग माना है उसकी तुलना यहाँ करणीय है—

“पुरुषस्य वर्शानाथं कैवल्यार्थं तथा प्रघामस्य ।  
पुरुषवन्धुमयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥” सांख्यका० २१ ।

### § १६ दोषवर्णन ।

संसारचक्रकी गति रुकनेसे मोक्षलब्धि कैसे होती है इसका वर्णन दार्शनिकसूत्रोंमें विविधरूपसे आता है किन्तु सभी का तात्पर्य एक ही है कि अविद्या—मोहकी निवृत्तिसे ही मोक्ष प्राप्त होता है । न्यायसूत्रके अनुसार मिथ्याज्ञान मोह ही सभी अनर्थोंका मूल है । मिथ्याज्ञानसे राग और द्वेष और अन्य दोषकी परंपरा चलती है । दोषसे शुभ और अशुभ प्रवृत्ति होती है । शुभसे धर्म और अशुभसे अधर्म होता है । और उसीके कारण जन्म होता है और जन्मसे दुःख प्राप्त होता है । यही संसार है । इसके विपरीत जब तत्त्वज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान होता है तो मिथ्याज्ञान—मोहका नाश होता है और उसके नाशसे उत्तरोत्तरका भी निरोध हो जाता है<sup>१</sup> । और इस प्रकार संसारचक्र रुक जाता है । न्यायसूत्रमें सभी दोषोंका समावेश राग, द्वेष और मोह इन तीनमें कर दिया है<sup>२</sup> । और इन तीनोंमें भी मोहको ही सबसे प्रबल माना है क्योंकि यदि मोह नहीं तो अन्य कोई दोष उत्पन्न ही नहीं होते<sup>३</sup> । अतएव तत्त्वज्ञानसे वस्तुतः मोहकी निवृत्ति होनेपर संसार निर्मूल हो जाता है । योगसूत्रमें क्लेश—दोषोंका वर्गीकरण प्रकारान्तरसे है<sup>४</sup> किन्तु सभी दोषोंका मूल अविद्या—मिथ्याज्ञान मोहमें ही माना गया है<sup>५</sup> । योगसूत्रके अनुसार क्लेशोंसे कर्माशय—पुण्यापुण्य—धर्माधर्म होता है<sup>६</sup> । और कर्माशयसे उसका फल जाति-वेद, आयु और भोग होता है<sup>७</sup> । यही संसार है । इस संसारचक्रको रोकनेका एक ही उपाय है कि भेदज्ञानसे—विवेकव्याप्तिसे अविद्याका नाश किया जाय । उसीसे कैवल्यप्राप्ति होती है<sup>८</sup> ।

सांख्योंकी प्रकृति त्रिगुणात्मक है<sup>९</sup>—सत्त्व, रजस् और तमोरूप है । दूसरे शब्दोंमें प्रकृति सुख, दुःख और मोहात्मक है अर्थात् प्रीति—राग, अप्रीति—द्वेष और विषाद—मोहात्मक है<sup>१०</sup> । सांख्योंने<sup>११</sup> विपर्ययसे बन्ध—संसार माना है । सांख्योंके अनुसार पाँच विपर्यय यही हैं जो योगसूत्रके अनुसार क्लेश हैं<sup>१२</sup> । तत्त्वके अभ्याससे जब अविपर्यय हो जाता है तब केवल ज्ञान—भेदज्ञान हो जाता है<sup>१३</sup> । इसीसे प्रकृति निवृत्त हो जाती है और पुरुष कैवल्यलाभ करता है ।

१ न्यायसू० १.१.२ । और न्यायभा० । २ न्यायसू० ४.१.३ । ३ “तेषां मोहः पापीयाश्च मामृद्वलेतरौप्येः ।” न्यायसू० ४.१.६ । ४ “अविद्याविद्यारागद्वेषाभिमिद्वेषाः पञ्चक्लेशाः” । ५ “अविद्या क्षेत्रसुत्तरेणाम्” २.४ । ६ योग० २.१२ । ७ यही २.१३ । ८ यही० २.२५, २६ । ९ सांख्यका० ११ । १० सांख्यका० १२ । ११ सांख्यका० ४४ । १२ यही ४०-४८ । १३ यही ६४ ।

बौद्धदर्शनका प्रतीत्यसमुत्पाद प्रसिद्ध ही है उसमें भी संसारचक्रके मूलमें अविद्या ही है । उसी अविद्याके निरोधसे संसारचक्र रुक जाता है<sup>१</sup> । सभी दोषोंका संग्रह बौद्धोंने भी राग, द्वेष और मोहमें किया है<sup>२</sup> । बौद्धोंने भी राग द्वेषके मूलमें मोह ही को माना है<sup>३</sup> । यही अविद्या है ।

जैन आगमोंमें दोषवर्णन दो प्रकारसे हुआ है । एक तो शास्त्रीय प्रकार है जो जैन कर्म-शास्त्रकी विवेचनाके अनुकूल है । और दूसरा प्रकार लोकादर द्वारा अन्य तैर्थिकोंमें प्रचलित ऐसे दोष वर्णनका अनुसरण करता है ।

कर्मशास्त्रीय परंपराके अनुसार कषाय और योग येही दो बंध हेतु हैं और उसीका विस्तार करके कमी कमी मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग ये चार और कमी कमी इनमें प्रमाद मिलाकर पांच हेतु बताये जाते हैं<sup>४</sup> कषायरहित योग बन्धका कारण होता नहीं है इसी लिये वस्तुतः कषाय ही बन्धका कारण है इसका स्पष्ट शब्दोंमें बांधकने इस प्रकार निरूपण किया है—

“सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुत्रलान् भावते । स बन्धः ।” तत्त्वार्थ० ८.२.३ ।

उक्त शास्त्रीय निरूपणप्रकारके अलावा तैर्थिकसंमत मूलको भी जैन आगमोंमें स्वीकृत किया है । उसके अनुसार राग, द्वेष और मोह ये तीन संसारके कारणरूपसे जैन आगमोंमें बताये गये हैं और उनके ह्यागका प्रतिपादन किया गया है<sup>५</sup> । जैन संमत कषायके चार प्रकारोंको राग और द्वेषमें समन्वित करके यह भी कहा गया है कि राग और द्वेष ये दो ही दोष हैं<sup>६</sup> । दूसरें दार्शनिकोंकी तरह यह भी स्वीकृत किया है कि राग और द्वेषके भी मूलमें मोह है—  
“रागो य दोषो वि य कम्मवीर्यं कम्मं च मोहोपमं वयंति ।” उत्तरा० ३२.७ ।

जैन कर्मशास्त्रके अनुसार मोहनीय कर्मके दो भेद हैं । दर्शनमोह और चारित्रमोह । दूसरे दार्शनिकोंने जिसे अविद्या, अज्ञान, तमस्, मोह या मिथ्यात्व कहा है वही जैनसंमत दर्शनमोह है । और दूसरोंके राग और द्वेषका अन्तर्भाव जैनसंमत चारित्रमोहमें है । जैन-संमत ज्ञानावरणीय कर्मसे अन्य अज्ञानमें और दर्शनान्तरसंमत अविद्या मोह या मिथ्याज्ञानमें अत्यन्त वैलक्षण्य है इसको ध्यान रखना चाहिए । क्योंकि अविद्यासे उनका तात्पर्य है जीवको निपयगाभी करनेवाला मिथ्यात्व या मोह किन्तु ज्ञानावरणीयजन्य अज्ञानमें ज्ञानका अभावमात्र निबधित है । अर्थात् दर्शनान्तरीय अविद्या कदाग्रहका वस्तरण होती है अनात्ममें आत्माके अभ्यासका कारण बनती है जब कि जैनसंमत उक्त अज्ञान ज्ञाननेकी अशक्तिको सूचित करता है । एक—अविद्याके कारण संसार नवता ही है जब कि दूसरा—अज्ञान संसारको नवता ही है ऐसा स्थिति नहीं है ।

१ बुद्धचर्य ५०.१० । २ बुद्धचर्य ५०.२२ । अमिधम्म० ३.५ । ३ बुद्धचर्य ५०.५० । ४ तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुककाजी) ८.१ । ५ तत्त्वार्थसूत्र २१.१९ । २३.४३ । २८.२० । २९.७१ । ३२.२,९ । ६ “दोहिं ठाणेहिं पत्थकम्मा बंधंति । तं जहा—रागेण च दोसेण च । रागे दुषिहे पवनेसे कं जहा माया च कोमे च । दोसे...कोहे च माणे च ।” स्वप्न० २.७०.२ । प्रज्ञापनावध २३ । उक्त० ३०.१ ।

नीचे दोषोंका तुलनात्मक कोष्ठक दिया जाता है ।

| जैन              | नैयायिक | सांख्य    | योग         | बौद्ध              |
|------------------|---------|-----------|-------------|--------------------|
| मोहनीय           | दोष     | गुण       | विपर्यय     | अकुशलहेतु          |
| १ दर्शन मोह      | मोह     | तमोगुण    | तमस्<br>मोह | अविद्या<br>अस्मिता |
| २ चारित्र मोह    |         |           |             |                    |
| माया }<br>लोभ }  | राग     | सत्त्वगुण | महामोह      | राग                |
| क्रोध }<br>मान } | द्वेष   | रजोगुण    | तामिस       | द्वेष              |

अन्धतामिस अमिनिवेश

आचार्य कुन्दकुन्दने जैन परिभाषाके अनुसार संसारवर्धक दोषोंका वर्णन किया तो है किन्तु अधिकतर दोषवर्णन सर्वसुगमताकी दृष्टिसे किया है । यही कारण है कि उनके ग्रन्थोंमें राग, द्वेष और मोह इन तीन मौलिक दोषोंका बार बार जिक्र आता है और मुक्तिके लिये इन्हीं दोषोंको दूर करनेके लिये भार दिया गया है ।

### § १७ मेदज्ञान ।

सभी आस्तिक दर्शनोंके अनुसार खास कर अनात्मसे आत्माका विवेक करना या मेदज्ञान करना यही सम्यग्ज्ञान है, अमोह है । बौद्धोंने सत्कायदृष्टिका निवारण करके मूढदृष्टिके स्वागका जो उपदेश दिया है उसमें भी रूप, विज्ञान आदिमें आत्म बुद्धिके स्वागकी ओर ही लक्ष्य दिया गया है । आचार्य कुन्दकुन्दने भी अपने ग्रन्थोंमें मेदज्ञान करानेका प्रयत्न किया है । वे भी कहते हैं कि आत्मा मार्गास्थान गुणस्थान, जीवस्थान, नारक, तिर्यच्छ, मनुष्य, और देव, नहीं है; वह आल, हृद्य, और तरुण नहीं है; वह राग-द्वेष, मोह नहीं है; क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं है; वह कर्म, नोकर्म नहीं है; उसमें वर्णादि नहीं है इत्यादि मेदाम्यास करना चाहिए<sup>१</sup> । शुद्धात्माका यह मेदाम्यास जैनागमोंमें भी मौजुद है ही । उसे ही पल्लवित करके आचार्यने शुद्धात्मस्वरूपका वर्णन किया है ।

तत्त्वाम्यास होने पर पुरुषको होनेवाले विशुद्ध ज्ञानका वर्णन सांख्योंने किया है कि —

“यच्च तत्त्वाम्यास्तात्माकि न मे नाहमित्यपरिरोषम् ।

अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥” सांख्यका० १४ ।

इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दने भी आत्मा और अनात्मा, बन्ध और मोक्षका वर्णन करके साधकको उपदेश दिया है कि आत्मा और बन्ध दोनोंके खभावको जानकर जो बन्धनमें नहीं रमण करना वह मुक्त हो जाता है<sup>२</sup> । मर आत्मा भी प्रज्ञाके सहारे आत्मा और अनात्माका मेद जान लेता है<sup>३</sup> । उन्होंने कहा है —

१ समवसार ९४, ९६, ११६, १८५, १८८ । पंचा० ४७, १४७ इत्यादि । निबन्धसार ८१ । २ प्रवचन १.८४, ८८ । पंचा० १३५, १३६, १४९, १५३, १५६ । समवसार १६५, १८९, १९१, २०१, ३०६, ३०७, ३०९, ३१० । निबन्धसार ५७, ८० इत्यादि । ३ निबन्धसार ७७-८३, १०६ । समवसार ६, ९९, २५-६० ७९-८३३ । प्रवचन० २.९९ को । ४ समवसार ३२३ । ५ वही ३२२ ।

“एकस्याय वेदस्यो जो वेदो सो अहं तु निष्कल्पयो ।

एकस्याय वेदस्यो जो वेदो सो अहं तु निष्कल्पयो ॥

एकस्याय वेदस्यो जो वेदो सो अहं तु निष्कल्पयो ।

अथसेवा जे भाषा ते मज्झ पदेति पादुका ॥” समयसार ३२५-२७ ।

आचार्यके इस वर्णनमें आत्माके द्रव्य और हातुत्वकी जो बात कही गई है वह सांख्य संमत पुरुषके द्रव्यत्वकी याद दिलाती है ।

## [ २ ] प्रमाणचर्चा ।

### प्रासंगिक ।

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने ग्रन्थोंमें स्वतन्त्रभावसे प्रमाणकी चर्चा तो नहीं की है । और न उमाकाशिकी तथा समुद्रतः पांच ज्ञानोंको प्रमाणसंज्ञा दी थी है । फिर भी ज्ञानोंका जो प्रासंगिक वर्णन है वह दार्शनिकोंकी प्रमाणचर्चासे प्रभावित है ही अत एव ज्ञानचर्चाको ही प्रमाणचर्चा मान कर प्रस्तुतमें वर्णन किया जाता है । इतना तो किसीसे छिपा नहीं रहता कि वा० उमाकाशिकी ज्ञानचर्चासे आ० कुन्दकुन्दकी ज्ञानचर्चामें दार्शनिकनिकासकी मात्र वृद्धि है । यह बात आगेकी चर्चासे स्पष्ट हो सकेगी ।

### § १ अद्वैतचरित ।

आचार्य कुन्दकुन्दका अष्ट ग्रन्थ समयसार है । उसमें उन्होंने तत्त्वोंका विवेचन नैश्चयिक दृष्टिको अवलम्बन लेकर किया है । खास उद्देश्य तो है आत्माके निरुपाधिक शुद्धस्वरूपका प्रतिपादन किन्तु उसीके लिये अन्यतत्त्वोंका भी पारमार्थिकरूप बतानेका आचार्यने प्रयत्न किया है । आत्माके शुद्धस्वरूपका वर्णन करते हुए आचार्यने कहा है कि व्यवहार दृष्टिके आश्रयसे कथि आत्मा और उसके ज्ञानादि गुणोंमें तथा ज्ञानादि गुणोंमें पारस्परिक, वेदका प्रतिपादन किया जाता है फिर भी निश्चय दृष्टिसे इतनाही कहना पर्याप्त है कि जो ज्ञाता है वही आत्मा है या आत्मा ज्ञायक है अन्य कुछ नहीं । इस प्रकार आचार्य की अमेदगामिनी दृष्टिने आत्माके सभी गुणोंका अमेद ज्ञानगुणमें कर दिया है और अन्यत्र स्पष्टतया समर्थन भी किया है कि संपूर्णज्ञान ही ऐकान्तिक सुख है । इतना ही नहीं किन्तु द्रव्य और गुणमें अर्थात् ज्ञान और ज्ञानीमें भी कोई भेद नहीं है ऐसा प्रतिपादन किया है । उनका कहना है कि आत्मा कर्ता हो, ज्ञान कर्ता हो यह बात भी नहीं किन्तु “जो जाणदि सो जाणं न हवदि जाणेण जाणगो जादा ।” प्रवचन० १.३५ । उन्होंने आत्माको ही उपनिषद्की भाषामें सर्वत्र बताया है और उसीका अवलम्बन मुक्ति है ऐसा प्रतिपादन किया है ।

आ० कुन्दकुन्दकी अमेददृष्टिके इन्होंने भी संतोष नहीं हुआ । उनके सामने विज्ञानाद्वैत तथा आत्माद्वैतका आदर्श भी था । विज्ञानाद्वैतवादिओंका कहना है कि ज्ञानमें ज्ञानातिरिक्त बाधा पदार्थोंका प्रतिभास नहीं होता अतः ही प्रतिभास होता है । ज्ञानाद्वैत का भी यही

१ लोकवच० १५,१६ । २ समयसार ३,७ । ३ प्रवचन० १.५९,६० । ४ समयसार १०,११,४३३ वचन० ४०,४१ देखीं ब्रह्मवचन पृ० १३१,१३२ । ५ समयसार १६-२१ । निबन्धसार ९५-१०० ।

अभिप्राय है कि संसारमें ब्रह्मातिरिक्त कुछ नहीं है अत एव सभी प्रतिभासोंमें ब्रह्म ही प्रतिभासित होता है ।

इन दोनों मतोंके समन्वयकी दृष्टिसे आचार्यने कह दिया कि निश्चयदृष्टिसे केवलज्ञानी आत्माको ही जानता है बाह्य पदार्थोंको नहीं । ऐसा कह करके तो आचार्यने जैन दर्शन और अद्वैतवादका अन्तर बहुत कम कर दिया है और जैन दर्शनको अद्वैतवादके निकट रख दिया है ।

आ० कुन्दकुन्दकृत सर्वज्ञकी उक्त व्याख्या अपूर्व है और उन्हींके कुछ अनुयायियों तक सीमित रही है । दिगम्बर जैन दार्शनिक अकलंकादिने भी इसे छोड़ ही दिया है ।

### § २ ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकता ।

दार्शनिकोंमें यह एक विवादका विषय रहा है कि ज्ञानको स्वप्रकाशक, परप्रकाशक या स्वपरप्रकाशक माना जाय । वाचकने इस चर्चाको ज्ञानके विवेचनमें छोड़ा ही नहीं है । संभवतः आचार्य कुन्दकुन्द ही प्रथम जैन आचार्य हैं जिन्होंने ज्ञानको स्वपरप्रकाशक मान कर इस चर्चाका सूत्रपात जैनदर्शनमें किया । आ० कुन्दकुन्दके बादके सभी आचार्योंने आचार्यके इस मन्तव्यको एकस्वरसे माना है ।

आचार्यकी इस चर्चाका सार नीचे दिया जाता है जिससे उनकी दलीलोंका क्रम ध्यानमें आ जायगा — ( नियमसार—१६०—१७० ) ।

प्रश्न—यदि ज्ञानको परद्रव्यप्रकाशक, दर्शनको आत्माका—स्वद्रव्यका ( जीवका ) प्रकाशक और आत्माको स्वपरप्रकाशक माना जाय तब क्या दोष है ? ( १६० )

उत्तर—यही दोष है कि ऐसा माननेपर ज्ञान और दर्शनका अत्यन्त वैलक्षण्य होनेसे दोनोंको अत्यन्त भिन्न मानना पड़ेगा । क्योंकि ज्ञान तो परद्रव्यको जानता है, दर्शन नहीं । ( १६१ )

दूसरी आपत्ति यह है कि स्वपरप्रकाशक होनेसे आत्मा तो परका भी प्रकाशक है अत एव वह दर्शनसे जो कि परप्रकाशक नहीं, भिन्न ही सिद्ध होगा । ( १६२ )

अत एव मानना यह चाहिए कि ज्ञान व्यवहार नयसे परप्रकाशक है और दर्शन भी । आत्मा भी व्यवहार नयसे ही परप्रकाशक है और दर्शन भी । ( १६३ )

किन्तु निश्चयनयकी अपेक्षासे ज्ञान स्वप्रकाशक है, और दर्शन भी । तथा आत्मा स्वप्रकाशक है और दर्शन भी है । ( १६४ )

प्रश्न—यदि निश्चयनयका ही स्वीकार किया जाय और कहा जाय कि केवलज्ञानी आत्मस्वरूपको ही जानता है लोकालोकको नहीं तब क्या दोष है ? ( १६५ )

उत्तर—जो मूर्त और अमूर्तको, जीव और अजीवको; स्व और समीको जानता है उसके ज्ञानको अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा जाता है । और जो पूर्वोक्त सकलद्रव्योंको उनके नाना पर्यायोंके

१ “आज्ञादि परसदि सत्त्वं व्यवहारणयेन केवली भगवं ।

केवलज्ञानी जानदि परसदि विषयेन अप्याजं ॥” नियमसार १५८



साथ नहीं जानता उसके ज्ञानको परोक्ष कहा जाता है । अत एव यदि एकान्त निश्चयनयका आम्रह रखा जाय तब केवलज्ञानीको प्रत्यक्ष नहीं किन्तु परोक्ष ज्ञान होता है यह मानना पड़ेगा । ( १६६-१६७ )

ग्रन्थ—और यदि व्यवहारनयका ही आम्रह रख कर ऐसा कहा जाय कि केवलज्ञानी छोटा-छोटाको तो जानता है किन्तु सद्रव्य आत्माको नहीं जानता तब क्या दोष होगा ? ( १६८ )

उत्तर—ज्ञान ही तो जीवका स्वरूप है । अत एव परद्रव्यको जाननेवाला ज्ञान सद्रव्य आत्माको न जाने यह कैसे संभव है । और यदि ज्ञान सद्रव्य आत्माको नहीं जानता है ऐसा आम्रह हो तब यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान जीवस्वरूप नहीं किन्तु उससे भिन्न है । वस्तुतः देखा जाय तो ज्ञान ही आत्मा है और आत्मा ही ज्ञान है अत एव व्यवहार और निश्चय दोनोंके समन्वयसे यही कहना उचित है कि ज्ञान स्वपरप्रकाशक है और दर्शन भी । ( १६९-१७० )

### § ३ सम्प्रज्ञान ।

वाचकने सम्प्रज्ञानका अर्थ किया है अव्यभिचारि, प्रशस्त और संगत । किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दने सम्प्रज्ञानकी जो व्याख्या की है उसमें दार्शनिकप्रसिद्ध समारोपका व्यञ्जकेद अभिप्रेत है । उन्होंने कहा है—

“संसर्गविमोहविभ्रमविचलितं होति सम्प्रज्ञानं ॥” नियमसार ५१ ।

अर्थात् संशय, विमोह और विभ्रमसे वर्जित ज्ञान सम्प्रज्ञान है ।

एक दूसरी बात भी ध्यान देने योग्य है । कास्कर बौद्धवि दार्शनिकोंने सम्प्रज्ञानके प्रसंगमें हेय और उपादेय शब्दका प्रयोग किया है । आचार्य कुन्दकुन्द भी हेयोपादेय तत्त्वोंके अभिप्रेतको सम्प्रज्ञान कहते हैं<sup>१</sup> ।

### § ४ स्वभावज्ञान और विभावज्ञान ।

वाचकने पूर्ववदंपराके अनुसार-मति, भुत, अवधि और प्रमःपर्याय ज्ञानोंको क्षायोपसमिक और केवलको क्षायिक ज्ञान कहा है । किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दके दर्शन की विशेषता यह है कि वे सर्वगम्य परिभाषाका उपयोग करते हैं । अत एव उन्होंने क्षायोपसमिक ज्ञानोंके लिये विभाव ज्ञान और क्षायिक ज्ञानने लिये स्वभावज्ञान इन शब्दोंका प्रयोग किया है<sup>२</sup> । उनकी व्याख्या है कि कर्मोपाविर्जित जो पर्याय हों वे स्वाभाविक पर्याय हैं और कर्मोपाधिक जो पर्याय हो वे वैमलिक पर्याय हैं<sup>३</sup> । इस व्याख्याके अनुसार शुद्ध आत्माका ज्ञानोपयोग स्वभाव-ज्ञान है और अशुद्ध आत्माका ज्ञानोपयोग विभावज्ञान है ।

### § ५ प्रत्यक्ष-परोक्ष ।

आचार्य कुन्दकुन्दने वाचककी तरह प्राचीन आगमोंकी व्यवस्थाके अनुसार ही ज्ञानोंमें प्रत्यक्ष-परोक्षत्वकी व्यवस्था की है । पूर्वोक्त स्वपरप्रकाशकी चर्चके प्रसंगमें प्रत्यक्ष-परोक्षज्ञानकी जो व्याख्या की गई है वही प्रवचनसार ( १.४०, ४१, ५४-५८ ) में भी है किन्तु प्रवचन-

१ “अधिगममात्रो जायं हेयोपादेयतत्त्वम् ॥” नियमसार ५१ । कुत्सवकुट ५ । नियमसार १८ ।  
२ नियमसार १०, ११, १२ । ३ विचनसार १५ ।

सारमें उक्त व्याख्याओंको युक्तिसे भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि दूसरे दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको प्रत्यक्ष मानते हैं, किन्तु वह प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? क्यों कि इन्द्रियाँ तो अनामरूप होनेसे परद्रव्य हैं अत एव इन्द्रियोंके द्वारा उपलब्ध वस्तुका ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इन्द्रियजन्य ज्ञानके लिये परोक्ष शब्द ही उपयुक्त है क्यों कि परसे होनेवाले ज्ञान ही को तो परोक्ष कहते हैं।

### § ६ शक्तिका तात्पर्य ।

ज्ञानसे अर्थ जाननेका मतलब क्या है? क्या ज्ञान अर्थरूप हो जाता है यानि ज्ञान और ज्ञेयका भेद मिट जाता है? या जैसा अर्थका आकार होता है वैसा आकार ज्ञानका हो जाता है? या ज्ञान अर्थमें प्रविष्ट हो जाता है? या अर्थ ज्ञानमें प्रविष्ट हो जाता है? या ज्ञान अर्थमें उत्पन्न होता है? इन प्रश्नोंका उत्तर आचार्यने अपने ढंगसे देनेका प्रयत्न किया है।

आचार्यका कहना है कि ज्ञानी ज्ञानस्वभाव है और अर्थ ज्ञेयस्वभाव। अत एव भिन्न स्वभाव ये दोनों स्वतन्त्र हैं एककी वृत्ति दूसरेमें नहीं है। ऐसा कह करके वस्तुतः आचार्यने यह बताया है कि संसारमें मात्र विज्ञानाद्वैत नहीं, बाह्यार्थ भी हैं। उन्होंने दृष्टांत दिया है कि जैसे चक्षु अपनेमें रूपका प्रवेश न होने पर भी रूपको जानती है वैसे ही ज्ञान बाह्यार्थोंको विषय करता है। दोनोंमें विषयविषयीभावरूप संबंधको छोड़ कर और कोई संबंध नहीं। 'अर्थोंमें ज्ञान है' इसका तात्पर्य बतलाते हुए आचार्यने इन्द्रनील मणिका दृष्टांत दिया है और कहा है कि जैसे दूधके वर्तनमें रखा हुआ इन्द्रनील मणि अपनी दीप्तिसे दूधके रूपका अभिभव करके उसमें रहता है वैसे ज्ञान भी अर्थोंमें है। तात्पर्य यह है कि दूधगत मणि स्वयं द्रव्यतः संपूर्ण दूधमें व्याप्त नहीं है फिर भी उसकी दीप्तिके कारण समस्त दूध नीलवर्णका दिखाई देता है उसी प्रकार ज्ञान संपूर्ण अर्थमें द्रव्यतः व्याप्त नहीं होता है तथापि विचित्र शक्तिके कारण अर्थको जान लेता है इसी लिये अर्थमें ज्ञान है ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार, यदि अर्थमें ज्ञान है तो ज्ञानमें भी अर्थ है यह भी मानना उचित है। क्यों कि यदि ज्ञानमें अर्थ नहीं तो ज्ञान किसका होगा? इस प्रकार ज्ञान और अर्थका परस्परमें प्रवेश न होते हुए भी विषय-विषयीभावके कारण 'ज्ञानमें अर्थ' और 'अर्थमें ज्ञान' इस व्यवहारकी उपपत्ति आचार्यने बतलाई है।

### § ७ ज्ञान-दर्शन यौगपद्य ।

वाचककी तरह आ० कुन्दकुन्दने भी केवलीके ज्ञान और दर्शनका यौगपद्य माना है। विशेषता यह है कि आचार्यने यौगपद्यके समर्थनमें दृष्टांत दिया है कि जैसे सूर्यके प्रकाश और ताप युगपद् होते हैं वैसे ही केवलीके ज्ञान और दर्शनका यौगपद्य है।—

“जुगयं बह्वृष णाणं केवलणागिस्स वंसणं तथा ।

दिणयर पयासतापं जह बह्वृष तह मुजेयव्वं ॥” नियमसार १५९ ।

### § ८ सर्वज्ञका ज्ञान ।

आचार्य कुन्दकुन्दने अपनी अमेद दृष्टिके अनुरूप निश्चय दृष्टिसे सर्वज्ञ की नई व्याख्या

१ प्रवचनसार ५७, ५८ । २ प्रवचन० १.२८ । ३ प्रवचन० १.२८, २९ । ४ प्रवचन० १.३० ।  
५ वही ३१ ।  
न्या० प्रस्तावना १८

की है । और मेद दृष्टिका अवलंबन करनेवालों के अनुकूल होकर व्यवहार दृष्टिसे सर्वज्ञ की वही व्याख्या की है जो आगमोंमें तथा वाचकके तत्त्वार्थमें है । उन्होंने कहा है—

“आणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयण केवली भगव ।

केवलजाणी आणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥” नियमसार १५८ ।

अर्थात् व्यवहार दृष्टिसे कहा जाता है कि केवली सभी द्रव्योंको जानते हैं किन्तु परमार्थतः वह आत्माको ही जानता है ।

सर्वज्ञके व्यावहारिक ज्ञानकी वर्णना करते हुए उन्होंने इस बातको बलपूर्वक कहा है कि त्रैकालिक सभी द्रव्यों और पर्यायोंका ज्ञान सर्वज्ञको युगपद् होता है ऐसा ही मानना चाहिये । क्यों कि यदि वह त्रैकालिक द्रव्यों और उनके पर्यायोंको युगपद् न जानकर क्रमशः जानेगा तब तो वह किसी एक द्रव्यको भी उनके सभी पर्यायोंके साथ नहीं जान सकेगा । और जब एक ही द्रव्यको उसके अनंत पर्यायोंके साथ नहीं जान सकेगा तो वह सर्वज्ञ कैसे होगा ? दूसरी बात यह भी है कि यदि अर्थोंकी अपेक्षा करके ज्ञान क्रमशः उत्पन्न होता है ऐसा माना जाय तब कोई ज्ञान निष्प्र, क्षापिक और सर्वविषयक सिद्ध होगा नहीं । यही तो सर्वज्ञ ज्ञानका माहात्म्य है कि वह निष्प्र त्रैकालिक सभी विषयोंको युगपद् जानता है<sup>१</sup> ।

किन्तु जो पर्याय अनुत्पन्न हैं और विनष्ट हैं ऐसे असंज्ञत पर्यायोंको केवलज्ञानी किस प्रकार जानता है ? इस प्रश्नका उत्तर उन्होंने दिया है कि समस्त द्रव्योंके सञ्ज्ञत और असंज्ञत सभी पर्याय विशेषरूपसे कर्तमानकालिक पर्यायोंकी तरह स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं<sup>२</sup> । यही तो उस ज्ञानकी दिव्यता है कि वह अज्ञात और नष्ट दोनों पर्यायोंको जान लेता है<sup>३</sup> ।

### § ९ मतिज्ञान ।

आचार्य कुन्दकुन्दने मतिज्ञानके मेदोंका निरूपण प्राचीन परंपराके अनुकूल अवग्रहादि रूपसे करके ही संतोष नहीं माना किन्तु अन्य प्रकारसे भी किया है । वाचकने एक जीवमें अधिकसे अधिक चार ज्ञानोंका योगपत्र मानकर भी कहा है कि उन चारोंका उपयोग तो क्रमशः ही होगा<sup>४</sup> । अत एव यह तो निश्चित है कि वाचकने मतिज्ञानादिके लब्धि और उपयोग ऐसे दो मेदोंका स्वीकार किया ही है । किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दने मतिज्ञानके उपलब्धि, भावना और उपयोग ये तीन मेद भी किये हैं<sup>५</sup> । प्रस्तुतमें उपलब्धि लब्धिसमानार्थक नहीं है । वाचकका मतिउपयोग उपलब्धि शब्दसे विवक्षित जान पड़ता है । इन्द्रियजन्य ज्ञानोंके लिये दार्शनिकोंमें उपलब्धि शब्द प्रसिद्ध ही है । उसी शब्दका प्रयोग आचार्यने उसी अर्थमें प्रस्तुतमें किया है । इन्द्रियजन्य ज्ञानके बाद मनुष्य उपलब्धि विषयमें संस्कार दृढ़ करनेके लिये जो मनन करता है वह भावना है । इस ज्ञानमें मनकी मुख्यता है । इसके बाद उपयोग है । यहाँ उपयोग शब्दका अर्थ सिर्फ ज्ञान व्यापार नहीं किन्तु भावित विषयमें आत्माकी तन्मयता ही उपयोग शब्दसे आचार्यको इष्ट है ऐसा जान पड़ता है ।

१ प्रवचन० १.४७ । २ प्रवचन० १.४८ । ३ वही १.४९ । ४ वही १.५० । ५ वही १.५१ ।  
६ प्रवचन० १.२७, ३८ । ७ वही १.३९ । ८ तत्त्वार्थभा० १.३१ । ९ पंचाक्षि० ३२ ।

### § १० श्रुतज्ञान ।

वाचकने 'प्रमाणनयैरधिगमः' (१.६) इस सूत्रमें नयोंको प्रमाणसे पृथक् रखा है । वाचकने पाँच ज्ञानोंके साथ प्रमाणोंका अमेद तो बताया ही है किन्तु नयोंको किस ज्ञानमें समाविष्ट करना इसकी चर्चा नहीं की है । आचार्य कुन्दकुन्दने श्रुतके मेदोंकी चर्चा करते हुए नयोंको भी श्रुतका एक मेद बतलाया है । उन्होंने श्रुतके मेद इस प्रकार किये हैं—छब्धि, भावना, उपयोग और नय ।

आचार्यने सम्यग्दर्शनकी व्याख्या करते हुए कहा है कि आत-आगम और तत्त्वकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है । आतके लक्षणमें अन्य गुणोंके साथ क्षुधा-तृष्णादिका अभाव भी बताया है । अर्थात् उन्होंने आत की व्याख्या दिग्गम्बर मान्यताके अनुसार की है । आगमकी व्याख्यामें उन्होंने वचनको पूर्वापरदोषरहित कहा है । उससे उनका तात्पर्य दार्शनिकोंके पूर्वापरविरोधदोषके रहितसे है ।

### [ ३ ] नयनिरूपण ।

#### § १ व्यवहार और निश्चय ।

आचार्य कुन्दकुन्दने नयोंके नैगमादि मेदोंका विवरण नहीं किया है । किन्तु आगमिक व्यवहार और निश्चय नयका स्पष्टीकरण किया है और उन दोनों नयोंके आधारसे मोक्षमार्गका और तत्त्वोंका पृथक्करण किया है । आगममें निश्चय और व्यवहारकी जो चर्चा है उसका निर्देश हमने पूर्वमें किया है । निश्चय और व्यवहारकी व्याख्या आचार्यने आगमानुकूल ही की है किन्तु उन नयोंके आधारसे विचारणीय विषयोंकी अधिकता आचार्यके ग्रन्थोंमें स्पष्ट है । उन विषयोंमें आत्मादि कुछ विषय तो ऐसे हैं जो आगममें भी हैं किन्तु आगमिक वर्णनमें यह नहीं बताया गया कि यह वचन अमुक नयका है । आचार्यके विवेचनके प्रकाशमें यदि आगमोंके उन वाक्योंका बोध किया जाय तब यह स्पष्ट हो जाता है कि आगमके वे वाक्य कौनसे नयके आश्रयसे प्रयुक्त हुए हैं । उक्त दो नयों की व्याख्या करते हुए आचार्यने कहा है—

“व्यवहारोऽभूदर्थो भूदर्थो वेत्तिदो तु सुद्वन्द्वयो ।”

स्मयसार १३ ।

अर्थात् व्यवहार नय अभूतार्थ है और शुद्ध अर्थात् निश्चयनय भूतार्थ है ।

तात्पर्य इतना ही है कि वस्तुके पारमार्थिक तात्त्विक शुद्धस्वरूपका ग्रहण निश्चय नयसे होता है और अशुद्ध अपारमार्थिक या लौकिकस्वरूपका ग्रहण व्यवहारसे होता है । वस्तुतः छः द्रव्योंमेंसे जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंके विषयमें सांसारिक जीवोंको भ्रम होता है । जीव संसारावस्थामें प्रायः पुद्गलसे भिन्न उपलब्ध नहीं होता है अत एव साधारण लोग जीवमें कई ऐसे धर्मोंका अध्यास कर देते हैं जो वस्तुतः उसके नहीं होते । इसी प्रकार पुद्गलके विषयमें भी विपर्यास कर देते हैं । इसी विपर्यास की दृष्टिसे व्यवहारको अभूतार्थग्राही कहा गया है और निश्चयको भूतार्थग्राही । परंतु आचार्य इस बातको भी मानते ही हैं कि विपर्यास भी निर्मूल नहीं है । जीव अनादि कालसे सिद्धात्त्व, अज्ञान और अविरति इन तीन परिणामोंसे

परिणत होता है<sup>१</sup>। इन्ही परिणामोंके कारण यह संसारका सारा विपर्यास है, इसका इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि हम संसारका अस्तित्व मानते हैं तो व्यवहारनयके विषयका भी अस्तित्व मानना पड़ेगा। वस्तुतः निश्चय नय भी तब तक एक स्वतन्त्र नय है जब तक उसका प्रतिपक्षी व्यवहार मौजूद है। यदि व्यवहार नय नहीं तो निश्चय भी नहीं। यदि संसार नहीं तो मोक्ष भी नहीं। संसार—मोक्ष जैसे परस्पर सापेक्ष हैं वैसे ही व्यवहार और निश्चय भी परस्पर सापेक्ष हैं<sup>२</sup>। आचार्य कुन्दकुन्दने परम तत्त्वका वर्णन करते हुए इन दोनों नयोंकी सापेक्षताको ध्यानमें रख कर ही कह दिया है कि वस्तुतः तत्त्वका वर्णन न निश्चयसे हो सकता है न व्यवहारसे। क्योंकि ये दोनों नय अमर्यादितको, अवाच्यको, मर्यादित और वाच्य बनाकर वर्णन करते हैं। अत एव वस्तुका परमशुद्ध स्वरूप तो पक्षातिक्रान्त है। वह न व्यवहारप्राप्त है और न निश्चयप्राप्त। जैसे जीवको व्यवहारके आश्रयसे बद्ध कहा जाता है और निश्चयके आश्रयसे अबद्ध कहा जाता है। साफ है कि जीवमें अबद्धका व्यवहार भी बद्धकी अपेक्षासे हुआ है। अत एव आचार्यने कह दिया कि वस्तुतः जीव न बद्ध है और न अबद्ध किन्तु पक्षातिक्रान्त है। यही समयसार है, यही परमात्मा है<sup>३</sup>। व्यवहार नयके निराकरणके लिये निश्चय नयका अवलंबन है किन्तु निश्चयनयावलंबन ही कर्तव्यकी इतिश्री नहीं है। उसके आश्रयसे आत्माके स्वरूपका बोध करके उसे छोड़ने पर ही तत्त्वका साक्षात्कार संभव है।

आचार्यके प्रस्तुत मतके साथ नागार्जुनके निम्न मतकी तुलना करना चाहिए।

“शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।

येषां तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् वभाषिरे ॥” माध्य० १३.८।

“शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्।

उभयं नोभयं चेति प्रवक्ष्ये तु कथ्यते ॥” माध्य० २२.११।

प्रसंगसे नागार्जुन और आ० कुन्दकुन्दकी एक अन्य बात भी तुलनीय है जिसका निर्देश भी उपयुक्त है। आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है—

“अहं नवि सक्रमणञ्चो भणञ्जभासं विणा दुगाहेतुं।

तह वयद्वारेण विणा परमत्पुवदेसणमसकं ॥” समयसार ८।

ये ही शब्द नागार्जुनके कथनमें भी हैं—

“नान्यया भाषया स्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा।

न लौकिकमृते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा ॥” माध्य० पृ० ३७०।

आचार्यने अनेक विषयों की चर्चा उक्त दोनों नयोंके आश्रयसे की है जिनमेंसे कुछ ये हैं—  
ज्ञानादि गुण और आत्माका संबन्ध, आत्मा और देहका संबन्ध, जीव और अध्यवसाय, गुणस्थान

१ समयसार ९१। २ समयसार० तात्पर्य० पृ० ६०।

३ “कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु आण गणपवस्सं।

पक्खासिक्खो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥” समयसार १५२।

“दोवणवि गवाण मणियं अणहं गवर्हं तु समयपण्डितो।

ण तु गणपवस्सं सिण्हसि किंवि वि गणपवक्खपसिद्धीणो ॥” समय० १५३।

४ समय० ७, १९, ३० से। ५ समयसार ३२ से।

आदिका संबंध; मोक्षमार्ग ज्ञानादि<sup>१</sup>; आत्मै; कर्तृत्व; आत्मा और कर्म, क्रिया, भोग; ब्रह्मत्व-अब्रह्मत्व; मोक्षोपयोगी लिंग; बंधविचार; सर्वज्ञत्व; पुद्गल इत्यादि ।

### ३. आचार्य सिद्धसेन ।

#### § १ सिद्धसेनका समय ।

सिद्धसेन दिवाकरको 'सम्प्रति प्रकरण' की प्रस्तावनामें (पृ० ४३) पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने विक्रमकी पांचवी शताब्दीके आचार्य माने हैं । उक्त पुस्तकके अंग्रेजी संस्करणमें मैंने सूचित किया था कि धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक आदि ग्रन्थके प्रकाशमें सिद्धसेनके समयको शायद परिवर्तित करना पड़े, अर्थात् पांचवीके स्थानमें छठी-सातवी शताब्दीमें सिद्धसेनकी स्थिति मानना पड़े । किन्तु अभी अभी पंडित सुखलालजीने सिद्धसेनके समयकी पुनः चर्चा की है<sup>२</sup> । उसमें उन्होंने सिद्ध किया है कि सिद्धसेनको पांचवी शताब्दीका ही विद्वान् मानना चाहिए । उनकी मुख्य दलील है कि पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिमें सिद्धसेनकी द्वार्त्रिशिकाका उद्धरण है<sup>३</sup> । अत एव पांचवीके उत्तरार्धसे छठीके पूर्वार्ध तकमें माने जानेवाले पूज्यपादसे पूर्ववर्ती होनेके कारण सिद्धसेनको विक्रम पांचवी शताब्दीका ही विद्वान् मानना चाहिए । इस दलीलके रहते अब सिद्धसेनके समयकी उत्तरावधि पांचवी शताब्दीसे आगे नहीं बढ़ सकती । उन्हें पांचवी शताब्दीसे अर्वाचीन नहीं माना जा सकता ।

वस्तुतः सिद्धसेनके समयकी चर्चाके प्रसंगमें न्यायावतारगत कुछ शब्दों और सिद्धान्तोंको लेकर प्रो० जेकोबीने यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की थी<sup>४</sup> कि सिद्धसेन धर्मकीर्तिके बाद हुए हैं । प्रो० वैष्णवे भी उन्हींका अनुसरण किया<sup>५</sup> । कुछ विद्वानोंने न्यायावतारके नवम श्लोकके लिये कहा कि वह समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डका है अत एव सिद्धसेन समन्तभद्रके बाद हुए इस प्रकार सिद्धसेनके समयके निश्चयमें न्यायावतारने काफी विवाद खड़ा किया है । अत एव न्यायावतारका विशेष रूपसे तुलनात्मक अध्ययन मैंने प्रस्तुत संस्करणके प्रथम परिशिष्टमें किया है । उस परिशिष्टके आधारसे यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि सिद्धसेनको धर्मकीर्तिके पहलेका विद्वान् माननेमें कोई समर्थ बाधक प्रमाण नहीं है । रत्नकरण्डके विषयमें अब तो प्रो० हीरालालने यह सिद्ध किया है कि वह समन्तभद्रकृत नहीं,<sup>६</sup> तब उसके आधारसे यह कहना कि, सिद्धसेन समन्तभद्रके बाद हुए, युक्तियुक्त नहीं ।

अत एव पंडित सुखलालजीके द्वारा निर्णीत विक्रमकी पांचवी शताब्दीमें सिद्धसेनकी स्थिति निर्बाध प्रतीत होती है ।

१ समयसार ११ से । २ पंचा० १६७ से । नियम० ५४ से । दर्शन प्रा० २० । ३ समय० ६, १६ इत्यादि; नियम ४९ । ४ समय० २४, ९० आदि; नियम० १८ । ५ समय० ३८६ से । ६ समय० १५१ । ७ समय० ४४४ । ८ प्रवचन २.९७ । ९ नियम० १५८ । १० नियम० २९ । ११ 'श्रीसिद्धसेन दिवाकरना समयनो प्रश्न' भारतीयविद्या वर्ष ३ पृ० १५२ । १२ सर्वार्थसिद्धि ७. १३ में सिद्धसेन की तीसरी द्वार्त्रिशिकाका ११ वॉ पद्य उद्धृत है । १३ समराहचक्रहा, प्रस्तावना पृ० ३ । १४ न्यायावतार प्रस्तावना पृ० १८ । १५ अनेकान्त वर्ष० ८ किरण १-३ ।

### § २ सिद्धसेनकी प्रतिभा ।

आचार्य सिद्धसेनके जीवन और लेखनके सम्बन्धमें 'सन्मतितर्कप्रकरणम्' के समर्थ संपादकोंने पर्याप्त मात्रामें प्रकाश डाला है<sup>१</sup> । जैनदार्शनिक साहित्यकी एक नई धारा प्रवाहित करनेमें सिद्धसेन सर्व प्रथम है इतना ही नहीं किन्तु जैनसाहित्यके मंडारमें संस्कृतभाषामें काव्यमय तर्कपूर्ण श्रुतिसाहित्यको प्रस्तुत करनेमें भी सिद्धसेन सर्वप्रथम है । पंडित सुखलालजीने उनको प्रतिभामूर्ति कहा है यह अत्युक्ति नहीं । सिद्धसेनका प्राकृत ग्रन्थ सन्मति देखा जाय, या उनकी द्वात्रिंशिकाएँ देखी जाय, पद पद पर सिद्धसेनकी प्रतिभा का वाचकको साक्षात्कार होता है । जैन साहित्यकी जो न्यूनता थी, उसीकी पूर्तिकी ओर उनकी प्रतिभाका प्रयाण हुआ है । चर्चितचर्चण उन्होंने नहीं किया । टीकाएँ उन्होंने नहीं लिखीं किन्तु समयकी गतिविधिको देखकर जैन आगमिक साहित्यसे ऊपर उठ कर तर्कसंगत अनेकान्तवादके समर्थनमें उन्होंने अपना बल लगाया । फलस्वरूप 'सन्मतितर्क' जैसा शासनप्रभावक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ ।

### § ३ सन्मतितर्कमें अनेकान्त स्थापन ।

'नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, और दिग्गगने भारतीय दार्शनिक परंपराको एक नई गति प्रदान की है । नागार्जुनने तत्कालीन बौद्ध और बौद्धेतर सभी दार्शनिकोंके सामने अपने शून्यवादको उपस्थित करके वस्तुको सापेक्ष सिद्ध किया । उनका कहना था कि वस्तु न भावरूप है, न अभावरूप, न भावाभावरूप, और न अनुभयरूप । वस्तुको कैसा भी विशेषण देकर उसका रूप बताया नहीं जा सकता, वस्तु निःस्वभाव है; यही नागार्जुनका मन्तव्य था । असङ्ग और वसुबन्धु इन दोनों भाइयोंने वस्तुमात्रको विज्ञानरूप सिद्ध किया और बाह्य जड़ पदार्थोंका अपलाप किया । वसुबन्धुके शिष्य दिग्गगने भी उनका समर्थन किया और समर्थन करनेके लिये बौद्ध दृष्टिसे नवीन प्रमाणशास्त्रकी भी नींव रखी । इसी कारणसे वह बौद्ध न्यायशास्त्रका पिता कहा जाता है । उसने प्रमाणशास्त्रके बलपर सभी वस्तुकी क्षणिकताके बौद्ध सिद्धान्तका भी समर्थन किया ।

बौद्ध विद्वानोंके विरुद्धमें भारतीय सभी दार्शनिकोंने अपने अपने पक्षकी सिद्धि करनेके लिये पूरा बल लगाया । नैयायिक वात्स्यायनने नागार्जुन और अन्य दार्शनिकोंका खण्डन करके आत्मादि प्रमेयोंकी भावरूपता और सभी का पार्थक्य सिद्ध किया । मीमांसक शबरने विज्ञानवाद और शून्यवादका निरास किया तथा वेदापौरुषेयता सिद्ध की । वात्स्यायन और शबर दोनोंने बौद्धोंके 'सर्व क्षणिकम्' सिद्धान्त की आलोचना करके आत्मादि पदार्थोंकी निश्चिताकी रक्षा की । सांख्योंने भी अपने पक्षकी रक्षाके लिये प्रयत्न किया । इन सभीको अकेले दिग्गगने उत्तर दे करके फिर विज्ञानवादका समर्थन किया । तथा बौद्धसंमत सर्ववस्तुओंकी क्षणिकताका सिद्धान्त स्थिर किया ।<sup>२</sup>

ईसाकी प्रथम शताब्दीसे लेकर पांचवी शताब्दी तककी इस दार्शनिकवादोंकी पृष्ठभूमिको यदि ध्यानमें रखें तो प्रतीत होगा कि जैन दार्शनिक सिद्धसेनका आविर्भाव यह एक आकस्मिक घटना नहीं किन्तु जैन साहित्यके क्षेत्रमें भी दिग्गगके जैसे एक प्रतिभासंपन्न विद्वान् की आवश्यकताने ही प्रतिभामूर्ति सिद्धसेनको उत्पन्न किया है ।

<sup>१</sup> 'सन्मति प्रकरण' (गुजराती) की प्रकाशना । उसीका अंग्रेजी-संस्करण-जैन के० कोम्फरन्सद्वारा प्रकाशित । 'प्रतिभामूर्ति हुआ है सिद्धसेन'-भारतीयविद्या दृतीयभाग पृ० ९ ।

आगमगत अनेकान्तवाद और स्याद्वादका वर्णन पूर्वमें हो चुका है । उससे पता चलता है कि भगवान् महावीरका मानस अनेकान्तवादी था । आचार्योंने भी अनेकान्तवादको कैसे विकसित किया यह भी मैंने बताया है । आचार्य सिद्धसेनने जब अनेकान्तवाद और स्याद्वादके प्रकाशमें उपयुक्त दार्शनिकोंके वादविवादोंको देखा तब उनकी प्रतिभाकी स्फूर्ति हुई और उन्होंने अनेकान्तवादकी स्थापनाका श्रेष्ठ अवसर समझकर सन्मतितर्क नामक ग्रन्थ लिखा । वे प्रबल वादी तो थे ही । इस बातकी साक्षी उनकी वादत्रात्रिंशिकाएँ ( ७ और ८ ) दे रही हैं । अत एव उन्होंने जैन सिद्धान्तोंको तार्किकभूमिका पर लेजा करके एक वादीकी कुशलतासे दार्शनिकोंके बीच अनेकान्तवादकी स्थापना की । सिद्धसेनकी विशेषता यह है कि उन्होंने तत्कालीन नाना वादोंको सन्मतितर्कमें विभिन्न नयवादोंमें सन्निविष्ट कर दिया । अद्वैत वादोंको उन्होंने द्रव्यार्थिक नयके संग्रहनयरूप प्रभेदमें समाविष्ट किया । क्षणिकवादी बौद्धोंकी दृष्टिको सिद्धसेनने पर्यायनयान्तर्गत ऋजुसूत्रनयानुसारी बताया । सांख्य दृष्टिका समावेश द्रव्यार्थिक नयमें किया और काणाददर्शनको उभयनयान्त्रित सिद्ध किया । उनका तो यहाँ तक कहना है कि संसारमें जितने वचन प्रकार हो सकते हैं, जितने दर्शन—नाना मतवाद हो सकते हैं उतने ही नयवाद हैं । उन सभीका समागम ही अनेकान्तवाद है—

“जावइया सयणवहा तावइया खेव होमि नयवाया ।  
जावइया नयवाया तावइया खेव परसमया ॥  
जं काखिलं वरिसणं एयं वडवट्टियस्स वत्तव्वं ।  
सुखोभणतणभस्स उ परिसुखो पज्जवविभण्यो ॥  
दोहिं वि भयेहिं णीयं सत्थमुल्लपण तव्वि मिच्छसं ।  
जं सविसभण्यहाणसणेण भण्णोणनिरवेक्खता ॥”

सन्मति० ३.४७-४९ ।

सिद्धसेनने कहा है कि सभी नयवाद, सभी दर्शन मिथ्या हैं यदि वे एक दूसरेकी परस्पर अपेक्षा न करते हों और अपने मतको ही सर्वथा ठीक समझते हों । संग्रहनयावलंबी सांख्य या पर्यायनयावलंबी बौद्ध अपनी दृष्टिसे वस्तुको नित्य या अनित्य कहें तब तक वे मिथ्या नहीं किन्तु सांख्य जब यह आम्रह रखे कि वस्तु सर्वथा नित्य ही है और वह किसी भी प्रकार अनित्य हो ही नहीं सकती; या बौद्ध यदि यह कहे कि वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है, वह किसी भी प्रकारसे अक्षणिक हो ही नहीं सकती; तब सिद्धसेनका कहना है कि उन दोनोंने अपनी मर्यादाका अतिक्रमण किया है अत एव वे दोनों मिथ्यावादी हैं ( सन्मति १.२८ ) । सांख्यकी दृष्टि संग्रहावलंबी है, अमेदगामी है अत एव वह वस्तुको नित्य कहे यह स्वाभाविक है, उसकी वही मर्यादा है; और बौद्ध पर्यायानुगामी या मेददृष्टि होनेसे वस्तुको क्षणिक या अनित्य कहे यह भी स्वाभाविक है, उसकी वही मर्यादा है । किन्तु वस्तुका संपूर्ण दर्शन न तो सिर्फ द्रव्य-दृष्टिमें पर्यवसित है और न पर्यायदृष्टिमें ( सन्मति १०.१२, १३ ); अत एव सांख्य या बौद्धको परस्पर मिथ्यावादी कहनेका स्वातन्त्र्य नहीं । नानावाद या दर्शन अपनी अपनी दृष्टिसे वस्तुतत्त्वका दर्शन करते हैं इसलिये नयवाद कहे जाते हैं । किन्तु वे तो परमतके निराकरणमें भी तत्पर हैं इसलिये मिथ्या हैं ( सन्मति १.२८ ) । द्रव्यार्थिक जय सम्पग् है किन्तु तदवलंबी सांख्य दर्शन मिथ्या है क्यों कि उसने उस नयका आश्रय लेकर एकाग्र नित्य पक्षका



अवलम्बन लिया । इसी प्रकार पर्यायनयके सम्यक् होते हुए भी यदि बौद्ध उसका आश्रय लेकर एकान्त अमिल्य पक्षको ही मान्य रखे तब वह मिथ्यावाद बन जाता है । इसी लिये सिद्धसेनने कहा है कि जैसे वैदूर्यमणि जब तक पृथक् पृथक् होते हैं, वैदूर्यमणि होनेके कारण कीमती होते हुए भी उनको रत्नावलीहार नहीं कहा जाता किन्तु वे ही किसी एक सूत्रमें सुव्यवस्थित हो जाते हैं तब रत्नावली हारकी संज्ञाको प्राप्त करते हैं । इसी प्रकार नयवाद भी जब तक अपने अपने मतका ही समर्थन करते हैं और दूसरोंके निराकरणमें ही तत्पर रहते हैं वे सम्यग्दर्शन नामके योग्य नहीं । किन्तु अनेकान्तवाद जो कि उन नयवादोंके समूहस्वरूप है सम्यग् दर्शन है क्योंकि अनेकान्तवादमें सभी नयवादोंको वस्तुदर्शनमें अपना अपना स्थान दिया गया है, वे सभी नयवाद एकसूत्रबद्ध हो गये हैं, उनका पारस्परिक विरोध छुट हो गया है (सन्मति १.२२-२५), अत एव अनेकान्तवाद वस्तुका संपूर्ण दर्शन होनेसे सम्यग्दर्शन है । इस प्रकार हम देखते हैं कि सिद्धसेनने अनेक युक्तिओंसे अनेकान्तवादको स्थिर करने की चेष्टा सन्मतितर्कमें की है ।

### § ४ न्यायावतारमें जैन न्यायशास्त्रकी नींव ।

जैसे दिग्भागने बौद्धसंमत विज्ञानवाद और एकान्त क्षणिकताको सिद्ध करने लिये पूर्वपरंपरामें थोड़ा बहुत परिवर्तन करके बौद्ध प्रमाणशास्त्रको व्यवस्थित रूप दिया । उसी प्रकार सिद्धसेनने भी जैन न्यायशास्त्रकी नींव न्यायावतारकी रचना करके रखी<sup>१</sup> । जैसे दिग्भागने अपनी पूर्वपरंपरामें परिवर्तन भी किया है उसी प्रकार न्यायावतारमें भी सिद्धसेनने पूर्वपरंपराका सर्वथा अनुकरण न करके अपनी स्वतन्त्र बुद्धिप्रतिभासे काम लिया है ।

न्यायावतारकी तुलनाके परिशिष्ट (नं० १) में मैंने न्यायावतारकी रचनाका आधार क्या है उसका निर्देश, उपलब्ध सामग्रीके आधार पर, यत्र तत्र किया है । उससे इतना तो स्पष्ट है कि सिद्धसेनने जैन दृष्टिकोणको अपने सामने रखते हुए भी लक्षणप्रणयनमें दिग्भागके ग्रन्थों का पर्याप्तमात्रा में उपयोग किया है । और स्वयं सिद्धसेनके लक्षणोंका उपयोग अनुगामी जैन-चायोंने अत्यधिक मात्रा में किया है यह भी स्पष्ट है ।

आगमयुगके जैनदर्शनके पूर्वोक्त प्रमाण तत्त्वके विवरणसे (पृ० ५६) स्पष्ट है कि आगममें मुख्यतः चार प्रमाणोंका वर्णन आया है । किन्तु आचार्य उमास्वातिने प्रमाणके दो भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे किये और उन्हीं दो में पांचज्ञानोंको विभक्त कर दिया । आचार्य सिद्धसेनने भी प्रमाण तो दो ही रखे — प्रत्यक्ष और परोक्ष । किन्तु उनके प्रमाणनिरूपणमें जैनपरंपरासंमत पांच ज्ञानोंकी मुख्यता नहीं । किन्तु लोकसंमत प्रमाणोंकी मुख्यता है । उन्होंने प्रत्यक्षकी व्याख्यामें लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रत्यक्षोंका समावेश कर दिया है और परोक्षमें अनुमान और आगमका । इस प्रकार सिद्धसेनने आगममें मुख्यतः वर्णित चार प्रमाणोंका नहीं किन्तु सांख्य और प्राचीन बौद्धोंका अनुकरण करके प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमका वर्णन किया है ।

न्यायशास्त्र या प्रमाणशास्त्रमें दार्शनिकोंने प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति इन चार तत्त्वोंके निरूपण को प्राधान्य दिया है । आचार्य सिद्धसेन ही प्रथम जैन दार्शनिक है जिन्होंने

१ विशेष विवेचनके लिये देखो पं० सुखलालजी कृत न्यायावतारविवेचनकी प्रस्तावना ।

न्यायकार जैसी छोटीसी कृतिमें जैनदर्शन संमत इन चारों तत्त्वोंकी व्याख्या करनेका सफल व्यवस्थित प्रयत्न किया है। उन्होंने प्रमाणका लक्षण किया है और उसके भेद-प्रभेदोंका भी लक्षण किया है। खासकर अनुमानके विषयमें तो उसके हेत्वादि सभी अंगप्रत्यंगोंकी संक्षेपमें मार्मिक चर्चा की है।

जैन न्यायशास्त्रकी चर्चा प्रमाणनिरूपणमें ही उन्होंने समाप्त नहीं की किन्तु नयोंका लक्षण और विषय बताकर जैनन्याय शास्त्रकी विशेषताकी ओर भी दार्शनिकोंका ध्यान खींचा है।

इस छोटीसी कृतिमें सिद्धसेन स्वमतानुसार न्यायशास्त्रोपयोगी प्रमाणादि पदार्थोंकी व्याख्या करके ही संतुष्ट नहीं हुए किन्तु परमतका निराकरण भी संक्षेपमें करनेका उन्होंने प्रयत्न किया है। लक्षणप्रणयनमें दिग्भाग जैसे बौद्धोंका यत्र तत्र अनुकरण करके भी उन्हींके 'सर्वमालम्बने भ्रान्तम्' तथा पक्षाप्रयोगके सिद्धान्तोंका युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। बौद्धोंने जो हेतुलक्षण किया था उसके स्थानमें अन्तर्व्यक्तिके बौद्धसिद्धान्तसे ही फलित होनेवाला 'अन्यथानुपपत्तिरूप' हेतुलक्षण अपनाया जो आज तक जैनाचार्योंके द्वारा प्रमाणभूत माना जाता है।

## ४. वार्तिकके कर्ता ।

वार्तिककी रचना किसने की इस विषयमें अभी तक किसीने निर्णय नहीं किया है। प्रतिभोंमें वार्तिककी समाप्तिके बाद कोई प्रशस्ति लेख नहीं है। उसकी अन्तिम कारिकामें 'सूत्रके ऊपर मैंने वार्तिककी रचना की है' सिर्फ इतना ही सूचन है—

“सूत्रं सूत्रकृता कृतं सुकलितं सञ्जरिबीजैर्धनम्,  
तद्वाचः किल वार्तिकं मृदु मया प्रोक्तं शिशूनां कृते ।  
भानोर्यत्किरणैर्विकासि कमलं मेन्दोः करैस्तथा,  
यद्वेन्दुव्यत्यो विकासि जलजं भानोर्न तस्मिन्मति ॥”

‘मैंने’ अर्थात् किसने इसका कुछ पता नहीं लगता। इसी लिये जैनभाण्डारोंकी सूचियोंमें वार्तिकके कर्ताका नाम दिया नहीं जाता, देखो—‘पञ्चमस्यप्राच्यजैनभाण्डागारीयग्रन्थसूची,’ भाग १. पृ० ४१, ८६, २९९।

इन सूचियोंके आधारसे अन्य लेखकोंने भी वार्तिकको अज्ञातकर्तृक कृति माना है।

किन्तु निम्न कारणोंसे यह वार्तिक शान्स्याचार्यकी ही कृति है ऐसा मेरा अनुमान है—

१ वार्तिक अत्यन्त प्राचीन कृति नहीं है जिससे उसके कर्ताका नाम विस्तृत हो जाय। आचार्य अकलंक ही नहीं किन्तु उनके ग्रन्थके कई टीकाकारोंको भी वार्तिककारने देखा है यह बात कारिका १९, २८—४० से स्पष्ट है।

२ शान्स्याचार्यने वार्तिककी अंतिम पूर्णकृत कारिका जिसमें ‘मैंने वार्तिक बनाया’ ऐसी सूचना है, उसकी व्याख्या नहीं की है। इससे भी यही फलित होता है कि शान्स्याचार्यके अतिरिक्त और कोई वार्तिकका कर्ता नहीं है।

३ जिस कालकी (सं० ९००—१३००) यह रचना है उस कालमें प्रथित अन्य दार्शनिक कारिकाबद्ध छोटे छोटे ग्रन्थ प्रायः ऐसे ही हैं जिनमें मूल कारिका और उनकी टीका एक-कर्तृक ही हैं। जैसे विद्यानन्दकी आत्मपरीक्षा और उसकी वृत्ति, जिनेश्वरका प्रमालक्ष्म और उसकी वृत्ति, चन्द्रसेनकी उत्पादविसिद्धि और उसकी टीका इत्यादि।

४ कारिका नं० १९ में 'नः' शब्द है । उसकी व्याख्यामें शान्त्याचार्यने 'नः' का अर्थ 'अस्माकम्' ही किया है । कहीं ग्रन्थकारका नाम नहीं दिया । विशेष विवरणमें 'नः' का मतलब 'वार्तिककार' शब्दसे बताया है । खोपट्टीकाकार मूल यदि सूत्ररूप हो तो मूलकारको सूत्रकाररूपसे संबोधित करते हुए प्रायः देखे जाते हैं । प्रस्तुतमें मूलग्रन्थ वार्तिकरूप होनेसे टीकामें उसके कर्ताको 'वार्तिककार' कहा है । वार्तिककार यदि दूसरे होते तो यह संभव नहीं है कि शान्त्याचार्य उसका नाम न जानते क्योंकि वार्तिक शान्त्याचार्यके कालकी कृति है इसमें तो संदेह है ही नहीं ।

५ वार्तिककारने सिद्धसेनको तो सूर्य की उपमा दी है (का० १, ५७) और खुदको चन्द्रकी (का० ५७) । इससे भी यही नतीजा निकलता है कि यह शान्त्याचार्यकी ही कृति होनी चाहिए क्योंकि चन्द्र शान्त होता है, अतएव श्रेष्ठसे शान्त्याचार्यके नामकी सूचना वार्तिककी अंतिम कारिकामें मानी जा सकती है ।

इन कारणोंसे जब तक कोई बाधक प्रमाण न मिले वार्तिकके कर्तारूपसे शान्त्याचार्यको ही मानना उचित है ।

## ५. शान्त्याचार्य और उनका समय ।

शान्त्याचार्य नामके अनेक खेताम्बर आचार्य हुए हैं । उनमेंसे किसने वार्तिक और उसकी कृत्तिकी रचना की इसका निर्णय करना आवश्यक है । शान्त्याचार्य या शान्तिस्वरिके नामसे प्रसिद्ध जिन आचार्योंका पता मैंने लगाया है वे ये हैं—

१ धारापद्मगच्छीय शान्तिस्वरि—इन्होंने उत्तराभ्ययनसूत्रकी बृहत् टीकाकी रचना की है । उत्तराभ्ययनकी टीकाकी प्रशस्तिमें स्पष्टरूपसे इन्होंने अपना गच्छ धारापद्म बताया है । इनका जो चरित्र प्रभावकचरितमें वर्णित है उससे पता चलता है कि उनका गच्छ धारापद्म था, उनके गुरुका नाम विजयसिंह था । वे राजा भोज और कवि धनपालके समकालीन थे । उनकी मृत्यु वि० सं० १०९६ के ज्येष्ठ शुक्ल ९ को हुई । प्रभावकचरितमें कहा गया है कि वादिवेताल ऐसा विरुद्ध राजा भोजने शान्त्याचार्यको दिया था । इन्होंने धनपालकृत तिळक-मञ्जरीका संशोधन किया है और उत्तराभ्ययनटीकाकी रचना की है—प्रभावकचरित पृ० १३३-१३७ ।

२ पूर्णतल्लुगच्छीय शान्तिस्वरि—तिळकमञ्जरी टिप्पणकी प्रशस्तिमें उसके कर्ता शान्तिस्वरिने अपनेको पूर्णतल्लुगच्छीय कहा है । अपना परिचय देते हुए कहा है कि मैं मतिमानोंमें श्रेष्ठ हूँ और बहुशास्त्रको जाननेवाला हूँ ।

“भीशान्तिस्वरिरिह भीमति पूर्णतल्ले,  
गच्छे वरो मतिमता बहुशास्त्रवेत्ता ।  
तेनामलं विरचितं बहुधा विस्तृत्य,  
संक्षेपतो वरमिदं बुध ! टिप्पणं भो ॥”

इन्ही शान्त्याचार्यने मेवाभ्युदयकाव्यकी वृत्तिकी भी रचना की है । उसकी प्रशस्तिमें अपना परिचय देते हुए लिखा है कि वे पूर्णतल्लुगच्छके वर्धमानसूरिके शिष्य थे —

“भीपूजेतल्लुगच्छसंबंधिभीवर्धमानाचार्यस्त्वपदस्थापितभीशांतिसूरिविरचिता मेवाभ्युदयकाव्यवृत्तिः” ।

पं० छालचन्द्रने ‘जैसख्मीरभाण्डागारीयग्रन्थानां सूची’ की प्रस्तावना ‘अप्रसिद्धग्रन्थरूप-रिचय’ (पृ० ५९) में लिखा है कि शान्त्याचार्यने पाँच यमककाव्योंकी टीका करनेकी प्रतिज्ञा की थी<sup>१</sup> तदनुसार उन्होंने बृन्दावनकाव्य, घटखर्परकाव्य, मेवाभ्युदयकाव्य, शिवभद्र-काव्य और चन्द्रदूतकाव्य इन पाँच यमककाव्योंकी टीकाओंकी रचना की थी ।

पं० छालचन्द्रका अनुमान है कि ये आचार्य वि० ११ से १२ वीं शताब्दीके बीचमें हुए हैं ।

३ बृहद्रच्छीय शान्तिसूरि—इनके गुरुका नाम नेमिचन्द्र है । इन्होंने अपना परिचय पृथ्वीचन्द्र चरित्रकी प्रशस्तिमें दिया है । पृथ्वीचन्द्रचरित्र बृहत् और लघु की रचना विक्रमसं० ११६१ में हुई है ।<sup>२</sup> धर्मरत्न प्रकरणमें पृथ्वीचन्द्र चरित्र देखनेकी प्रेरणा की गई है । अतएव उसके रचयिता शान्तिसूरि भी यही हो सकते हैं ।

४ खंडिल्लुगच्छीय शान्तिसूरि—जैनग्रन्थावली (पृ० २८५) में भक्तामरसूत्रकी वृत्ति खंडिल्लुगच्छीय शान्तिसूरिके नाम दर्ज है ।

५ मन्नेश्वरशिष्य शान्तिसूरि—गर्गशि सूरिके कर्मविपाकके ऊपर परमानन्दने टीका लिखी है । उसकी प्रशस्तिमें उन्होंने आचार्यपरंपरा दी है उससे पता चलता है कि वे मन्नेश्वरसूरिके शिष्य शान्तिसूरिके शिष्य अभयदेवके शिष्य थे । श्री मो. द. देसाईने अनुमान किया है कि परमानन्द वि. सं. १२२१ में विद्यमान थे (देखो, जैन. सा० सं० १० पृ० २८०); अतएव प्रस्तुत शान्त्याचार्यका समय बारहवींका उत्तरार्ध निश्चित होता है ।

इनके गच्छका टीका निश्चय करना कठिन है ।

६ संडेरगच्छके शान्त्याचार्य—सं० १५९७ के एक लेखसे पता चलता है कि संडेर गच्छमें दो शान्त्याचार्य हुए हैं । दोनों सुमतिके शिष्य थे । किन्तु एक १५९७ सं० में हुए और दूसरे उनसे कई पीढ़ी पहले हुए—प्राचीन लेखसंग्रह, लेख नं० ३३६ ।

७ नाणकीयगच्छके शान्तिसूरि—इनका एक शिलालेख सं० १२६५ का ‘प्राचीन जैन लेखसंग्रह’ में उद्धृत है । देखो लेख नं० ४०३ । उसमें उनके गुरुका नाम कल्याण-विजय और गच्छकानाम नाणकीय निर्दिष्ट है ।

८ नागेन्द्रकुलके शान्त्याचार्य—उपदेशमाला वृत्ति(कर्णिका)के रचयिता उदयप्रभने अपनी गुरुपरंपराका वर्णन करते हुए कहा है कि नागेन्द्रकुलके महेन्द्रसूरिके पदपर शान्तिसूरि हुए । उनका परिचय उन्होंने इस प्रकार दिया है—

१ जैसख्मीरभाण्डागारीयग्रन्थानां सूची पृ० ४३ ।

२ “बृन्दावनादिकाव्यानां यमकैरतिबुद्धिबाम् ।

वक्ष्ये मन्दप्रबोधाय पञ्चानां वृत्तिमुत्तमात् ॥”

३ जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० २३८ ।

“भीमायेन्द्रकुले मुनीन्द्रसन्निभः श्रीमन्महेन्द्रप्रभो,  
 पट्टे पारगतागमोपनिषदां पारंगममामणीः ।  
 देवः संयमदैवतं निरवधिलैविद्यवागीश्वरः,  
 संजज्ञे कलिकल्मषैरकलुषः श्रीशान्तिसूरिगुरुः ॥  
 शक्तिः कापि न कापिलस्य न नये नैयायिको मायकः  
 चायौकः परिपाकमुष्णितमतिचौक्ष्ण नौक्ष्यभाक् ।  
 स्याद्वैशेषिकशेमुषी च विमुक्षी वावाय वेदान्तिके  
 दांतिः केवलमस्य वक्ष्यते सीमां न मीमांसकः ॥”

देखो, पत्तनस्य० पृ० २३६ ।

ये सिद्धराजके समकालीन या कुछ पूर्ववर्ती होंगे । क्योंकि उसी दृष्टिमें कहा है कि इनके प्रशिष्य अमरचन्द्रका सिद्धराजकी सभामें काफी सम्मान था । सिद्धराजने इनको ‘सिद्ध-शिष्यक’ का विरुद दिया था ( जै० सा० सं० पृ० २४९ ) सिद्धराजका राजत्व काल वि० सं० ११५०-११९९ है ।

‘प्राचीन लेख संग्रह’में ( लेख ३८१ ) विजयसेनसूरिका प्रतिष्ठालेख सं० १२८८ का है । उससे सूचित होता है कि शान्तिसूरि महेन्द्रके साक्षात् शिष्य नहीं किन्तु उनकी परंपरामें हुए थे—

“सं० १२८८ वर्षे.....भीमायेन्द्रगच्छे भट्टारकभीममहेन्द्रसूरिसन्ताने शिष्यभी-  
 शान्तिसूरिशिष्यभीभानंदसूरिभीममरसूरिपदे भट्टारकश्रीहरिभद्रसूरिपद्मलंकरणमभुभी-  
 विजयसेनसूरिप्रतिष्ठित.....”

९ मडाहडीयगच्छके शान्तिसूरि—मडाहडीय गच्छके यशोदेव सूरिकी मूर्तकी प्रतिष्ठा सं० १३८७ में इन्होंने की थी । इसीसे अनुमान होता है कि वे उक्त गच्छके होंगे । देखो ‘प्राचीन जैन लेख संग्रह,’ लेख ५०८ । मडाहडीय गच्छके वर्धमानने अपने गच्छको कहीं कहीं बृहद्रच्छ भी कहा है । इससे पता चलता है कि मडाहडीय गच्छ बृहद्रच्छकी शाखा होगी ( प्राचीन जैन लेख सं० लेख, ५५०, २९२ ) ।

पूर्वोक्त बृहद् गच्छीय शान्तिसूरिसे प्रस्तुत शान्तिसूरि भिन्न हैं क्योंकि वे सं० ११६१ में विद्यमान थे और प्रस्तुत शान्तिसूरि सं० १३८७ में ।

१० तपागच्छके शान्त्याचार्य—बादी देवसूरिने अपने शिष्योंमेंसे २४ मुनियोंको आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया । उनमेंसे एक शान्त्याचार्य भी थे । अतएव उनका समय क्रि० १२ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध से १३ वीं का पूर्वार्ध सिद्ध होता है—जैनगूर्जर कविजो भाग २ पृ० ७५७ ।

११ पछीवालगच्छके शान्त्याचार्य—पछीवाल गच्छकी एक पट्टावली श्री नाहटाजीने श्रीआत्मानन्द शताब्दी स्मारकमें ( पृ० १८४ ) प्रकाशित करवाई है । सं० १६१ में एक शान्त्याचार्य हुए । उनके बाद १ यशोदेव, २ नम, ३ उद्योतन, ४ महेश्वर, ५ अभयदेव ६ आमदेव ये छः आचार्य हुए । इनके बाद फिर लगातार उक्त नामके सात-सात आचार्योंका क्रम सं० १६८७ तक चला है । और क्रमशः निम्नोक्त संवत्तोंमें शान्त्याचार्य खर्गित हुए हैं—

सं० १६१, ४९५, ७६८, १०३१, १२२४, १४४८, १६६१ अतएव इस गण्डमें कुल सात शान्स्याचार्य हुए ।

श्री माहटाजीने १४४८ में खर्गत होने वाले शान्स्याचार्यके नाम कुछ प्रतिष्ठा लेख चढाये हैं (पृ० १९२) किन्तु संवत् भिजाकर देखनेसे पता चलता है कि वे लेख सं० १४५६, १४५८, १४६२ के हैं अतएव वे १४४८ में खर्गत होने वाले शान्स्याचार्यके हो नहीं सकते । इसलिये उक्त संवत्के लेखोंमें सूचित शान्स्याचार्य सं० १४४८ में खर्गत होने वाले शान्स्याचार्यसे भिन्न होने चाहिए । या शान्स्याचार्यके खर्गमनसंवत्में कुछ भ्रम मानना चाहिए ।

इनके अलावा जीवविचार,<sup>१</sup> चैत्यवन्दनसूत्रमहाभाष्य,<sup>२</sup> बृहत् शान्तिस्तोत्र<sup>३</sup> इत्यादि ग्रन्थोंके रचयिता भी शान्तिपुर हैं, इनका कुछ भी विशेष परिचय ग्रन्थान्तमें दिया नहीं गया । अतएव कहना कठिन है कि उक्त शान्स्याचार्योंसे ये भिन्न थे या उनमेंसे किसी एक से अभिन्न थे ।

इन सब शान्स्याचार्योंमेंसे प्रस्तुत ग्रन्थ वार्तिक और उसकी वृत्तिक रचयिता कौन थे इसका निर्णय करना अब प्रस्तुत है ।

### १ वार्तिक और वृत्तिके कर्ता शान्स्याचार्य —

इन सभी आचार्योंमेंसे प्रस्तुत वार्तिक और वृत्तिके कर्ता शान्स्याचार्य नं० २ ही संभव है । यद्यपि वार्तिक वृत्तिके अन्तमें उसके कर्ताने अपने गुरुका नाम वर्धमान बताया है किन्तु पूर्णतः गण्डका उल्लेख नहीं किया है । किन्तु उल्लिखित चन्द्रकुलमें ही पूर्णतः गण्ड हुआ है<sup>४</sup> यह बात निर्विवाद होनेसे निःसंदेह कहा जा सकता है कि नं० २ शान्स्याचार्यसे ही वार्तिक और वृत्तिके कर्ता शान्स्याचार्यका अमेद है अन्यसे नहीं । क्यों कि उपरिनिर्दिष्ट आचार्योंमेंसे —

नं० १ हो नहीं सकते क्योंकि नं० १ के गुरुका नाम विजयसिंह था ।

नं० ३ हो नहीं सकते क्योंकि उनके गुरुका नाम नेमिचन्द्र है ।

नं० ४ के साथ अमेद सिद्ध करनेके लिये कोई प्रमाण नहीं क्योंकि नं० ४ के शान्स्याचार्यके गुरुके नामका पता नहीं ।

नं० ५ के गुरुका नाम भद्रेश्वर है ।

नं० ६ सुमतिके शिष्य थे ।

नं० ७ इनके गुरुका नाम कल्याणविजय है ।

नं० ८ गुरुका नाम महेश्वर है । या 'सप्ताने' शब्दका अर्थ 'परंपरामें' ऐसा करें तो गुरुका नाम अज्ञात है ।

यद्यपि इनका परिचय आ० उदयप्रभने एक प्रबल दार्शनिकरूपसे दिया है । किन्तु गुरुका

१ इसके कई संस्करण निकले हैं । २ आर्यभट्टसमाधारा प्रकाशित । ३ संवत् १०३१, १०३२, १०३३, १०३४, १०३५ । ४ आचार्य हेमचन्द्र भी चन्द्रकुलके पूर्णतः गण्डमें हुए हैं—देखो महावक्त्ररीत, पृ० १०३ । प्रबन्धकोष, पृ० ४६ ।

नाम निश्चित न होनेसे या महेन्द्र होने की संभावना होनेसे प्रस्तुत शान्खाचार्यके साथ इनका अमेद हो नहीं सकता ।

नागेन्द्र गच्छमें भी दो वर्धमान हुए हैं । दूसरेका अस्तित्व १२९९ में था । इनके शिष्य वार्तिककार हो नहीं सकते क्योंकि वार्तिक की कारिकाएँ इसके पूर्ववर्ती ग्रन्थकारोंमें उद्धृत हैं । प्रथम वर्धमानके पट्टधर रामसूरि थे, शान्खाचार्यका उल्लेख पट्टधररूपसे नहीं किया गया है— देखो जैनसाहित्यनो सं० इतिहास पृ० १४३ । इसलिये वार्तिककारका गच्छ नागेन्द्र हो नहीं सकता ।

नं. ९ इनका समय १३८७ है । और वार्तिककारका समय बहुत पहले है ।

नं. १० गुरुका नाम वादीदेव है ।

नं. ११ गुरुका नाम वर्धमान नहीं ।

अतएव जितने शान्खाचार्य हमें ज्ञात हैं उनमेंसे यदि किसीके साथ वार्तिक और वृत्तिके रचयिता शान्खाचार्यका अमेद होनेकी संभावना करनी हो तो वह नं. २ के साथ ही हो सकती है । नं. २ के शान्खाचार्यके गुरुका नाम वर्धमान है, और वार्तिककारके गुरुका नाम भी वर्धमान है । दूसरे गच्छोंके शान्खाचार्योंके साथ वार्तिककारका अमेद सिद्ध हो नहीं सकता तब उनका गच्छ भी पूर्णतः मानना उचित है । अतएव यही मानना ठीक है कि वार्तिककार शान्खाचार्य पूर्णतः गच्छके वर्धमानके शिष्य थे ।

पं० छालचन्द्रजीने भी इन्हीं शान्खाचार्यको वार्तिकवृत्तिके कर्तारूपसे माना है । उन्होंने अपनी मान्यताके लिये कोई युक्ति नहीं दी । किन्तु उनका कथन उक्त समर्थनके कारण युक्ति-संगत है । जेसल० अग्रसि० पृ० ५९ । श्री मो. द. देसाईने भी पं० छालचन्द्रके मतानुसार अपना मत स्थिर किया है—जैन० सा० पृ० २३० ।

## २ शान्खाचार्यका समय निर्णय—

पं० छालचन्द्रजीने शान्खाचार्यका समय ११ और १२ वीं शताब्दीके मध्य माना है । उनकी यह मान्यता भी ठीक जंचती है ।

उत्पादादिसिद्धिमें उसके कर्ताने वार्तिक और उसकी वृत्तिका काफी उपयोग किया है । वार्तिककी का० २३, २५, २९, ३०, ३१, ३४ और ३५ उत्पादादिसिद्धि की टीकामें उद्धृत हैं<sup>१</sup> । वार्तिकवृत्तिकी विषयोपसंहारके लिये निबद्ध एक कारिका भी उत्पादादिसिद्धिटीका में उद्धृत है<sup>२</sup> । सर्वहवादायें मीमांसकका समूचा पूर्वपक्ष शब्दशः वार्तिकवृत्तिमें से लेकर उत्पादादिसिद्धिमें दिया गया है<sup>३</sup> । उत्पा० की अपोह चर्चा भी वार्तिक वृत्तिसे प्रभावित है—उत्पादा० पृ० ६७ और प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० ९६ । सटीक उत्पादादिसिद्धिके कर्ता चन्द्रसेनाचार्य आचार्य हेमचन्द्रके गुरु भाई प्रद्युम्न सूरिके शिष्य थे । उनका समय उन्होंने स्वयं अपनी उत्पादादिसिद्धि की टीकाके अन्तमें दिया है उससे पता चलता है कि उन्होंने उक्त ग्रन्थको १२०७ वि० में समाप्त किया

<sup>१</sup> देखो वार्तिककी शुद्धताका परिशिष्ट । <sup>२</sup> देखो, प्रस्तुत ग्रन्थके 'द्विपद्यानि' पृ० २०३ । <sup>३</sup> यही पृ० २०९ ।

था<sup>१</sup> । अत एव वार्तिक और वार्तिक वृत्तिकी रचना वि० १२०७ के पहले हो चुकी थी ऐसा सिद्ध है ।

स्याद्वादरत्नाकर (पृ० १२३२<sup>१</sup>) में भी वार्तिककी कारिका नं० ५३ उद्धृत है । स्याद्वाद-रत्नाकरके कर्ता वादी देव सूरिने ११७४ में आचार्यपद प्राप्त किया था और उनका स्वर्गवास वि० १२२६ में हुआ । अत एव सं० ११७४ से १२२६ के बीचमें स्याद्वादरत्नाकरकी रचना हुई है । अत एव कहा जा सकता है कि वार्तिककी रचना सं० ११७४ से पहले हुई ।

न्यायावतारकी सिद्धविकृत टीकाका टिप्पण आ० देवभद्रकी रचना है । आचार्य देवभद्रने मलधारी हेमचन्द्रसे अध्ययन करते करते उसकी रचना की थी । आचार्य मलधारी हेमचन्द्रकी अंतिम रचना विशेषावश्यक बृहद्भुति सं० ११७५ में पूर्ण हुई थी । अतएव उनसे पढ़नेवाले देवभद्रने इसी समयके आसपास टिप्पणकी रचना की होगी । अतएव टिप्पणीमें उद्धृत<sup>२</sup> वार्तिककी रचना सं० ११७५ के पहले माननेमें कोई आपत्ति नहीं ।

इस प्रकार शान्खाचार्यकी उत्तरावधि वि० ११७५ मानना संगत है ।

शान्खाचार्यने वार्तिकवृत्तिमें सन्मतिटीकाका कई स्थानोंमें उपयोग किया है । १०९६ वि० में खर्मस्य होनेवाले वादी वेताल शान्खाचार्यने (नं. १) अभयदेवको प्रमाणशास्त्रके गुरुरूपसे उल्लिखित किया है<sup>३</sup> । अभयदेवके शिष्य धनेश्वर और जिनेश्वर मुंजराजकी समाके प्रतिष्ठित पंडित थे । मुंजराजकी मृत्यु वि० सं० १०५० से १०५४ के बीच हुई । अतएव मुंजराजकी समामें मान पानेवाले धनेश्वर और जिनेश्वरके गुरु अभयदेवका समय विक्रम ९५० से १०५० के बीच मानना उचित है<sup>४</sup> । यही पूर्वावधि वार्तिककार शान्खाचार्यकी है । अतएव वार्तिककार शान्खाचार्यको हम वि० १०५०-११७५ के बीचमें होनेवाले विद्वान् मानें तो योग्य ही होगा ।

शान्खाचार्यने अनन्तवीर्य और अनन्तकीर्तिका नामोल्लेख किया है । अनन्तकीर्ति यदि बही हो जिन्होंने सर्वज्ञसिद्धिकी रचना की है, तो उनका समय श्रीमिनीजीने<sup>५</sup> वि० सं० ८४० से १०८२ के बीच अनुमित किया है ।

अनन्तवीर्य नामके दो विद्वान् हुए हैं—एक रविभद्र शिष्य अनन्तवीर्य और दूसरे प्रमेय-रत्नमालाकार अनन्तवीर्य<sup>६</sup> । प्रथम अनन्तवीर्य आचार्य प्रभाचन्द्रसे पहले हुए हैं । आचार्य प्रभाचन्द्र वि० १०३७ से ११२२ के विद्वान् हैं<sup>७</sup> । और दूसरे अनन्तवीर्य प्रभाचन्द्रके बाद हुए हैं । प्रस्तुतमें प्रथम अनन्तवीर्य शान्खाचार्यको विवक्षित है ऐसा पं० महेन्द्रकुमारजीका मन्तव्य योग्य है । अत एव अनन्तवीर्य और अनन्तकीर्तिके समयके साथ ही शान्खाचार्यके समयकी पूर्वनिर्दिष्ट मर्यादाका विरोध नहीं आता ।

१ जैनसा० सं० इ. पृ० २७५ । २ वस्तुतः यह पृष्ठ १०३२ होना चाहिए । मूलतः कहा है ।  
३ व्या० वि० पृ० १२ में वार्तिककी चतुर्थ कारिका उद्धृत है । ४ उत्तरा० टीकाकी प्रशस्ति ।  
५ सन्मतिके प्रकरण भा. १ प्रस्तावना पृ० ८५ । ६ जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४५२ ।  
७ व्याचक्र० भा. २ प्रस्तावना पृ० २९, ३५ । ८ वही पृ० ५८ ।



## शुद्धिपत्रक ।

| पृष्ठ          | पंक्ति            | अशुद्ध               | शुद्ध  |
|----------------|-------------------|----------------------|--|
| ३              | २                 | च                    | स  |
| ७              | ३                 | त्रिषे               | त्रिषे ( धे )  |
| ९              | १३                | व्यतिरेका०           | व्यतिरेको  |
| ४६             | २१                | सिद्धता              | 'सिद्धसाध्यता' ऐसा पाठान्तर है<br>वही मूल में लेना ठीक है ।            |
| ४६             | २६                | दृष्टेः । कस्यचित्तु | 'दृष्टेः कस्यचिज्जाति' पाठान्तरनि-<br>र्दिष्ट पाठ मूलमें लेना ठीक है । |
| ७२             | १३                | निरस्तात्वात्        | निरस्तात्वात्  |
| ११५            | १९                | मनःसंविधि०           | मनः संनि०  |
| १३१            | ११                | न्याया० टि०          | न्याया० टी०  |
| १३३            | २२, २४            | प्रमाणलक्ष्य         | प्रमालक्ष्य  |
| १५१            | ३०                | प्रमाण०              | प्रमाणवा०  |
| १६९            | ३                 | ८                    | ( ८ )  |
| १८४ से १८७ में |                   | कर्ण० ३              | कर्ण० १  |
| १८५            | १४                | वचनादय अन०           | वचनादयोऽन०   |
| १८५            | १९                | व्यक्तिव्यक्ति०      | व्यक्ति०   |
| १८५            | ३४                | 'इमां                | 'य इमां  |
| १८७            | १                 | ख० ३.२८४             | ख० १.२८७   |
| १८९            | ४                 | प्रभा                | प्रमा  |
| २१४            | २                 | वस्तुनः              | वस्तुतः  |
| २१५            | ६                 | कल्पनाभू०            | कल्पनाभू०  |
| २४२            | ४                 | योनि                 | योनि   |
| २५६            | २८                | प्राभाक०             | प्राभाक०   |
| २५७            | २३                | मान                  | मान  |
| २८६            | उपाख्यमें बका दो— |                      |  |

“दस य नपुंसपसु वीस इत्थियासु य ।

पुरिसेसु अहुसयं समयेणेणेण सिग्गाई ॥”

उत्तराध्ययन ३६.५२



श्रीसिद्धसेनदिवाकरविरचितं

# न्यायावतारसूत्रम् ।

प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् ।  
प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा मेयविनिश्चयात् ॥ १

प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारश्च तत्कृतः ।  
प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम् ॥ २

प्रसिद्धानां प्रमाणानां लक्षणोक्तौ प्रयोजनम् ।  
तद्व्यामोहनिवृत्तिः स्याद् व्यामूढमनसामिह ॥ ३

अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम् ।  
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया ॥ ४

साध्याविनामुनो लिङ्गात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम् ।  
अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत् ॥ ५ ॥

न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं प्रमाणत्वविनिश्चयात् ।  
भ्रान्तं प्रमाणमित्येतद् विरुद्धं वचनं यतः ॥ ६

सकलप्रतिभासस्य भ्रान्तत्वासिद्धितः स्फुटम् ।  
प्रमाणं स्वान्यनिश्चायि द्वयसिद्धौ प्रसिष्यति ॥ ७

दृष्टेष्टाव्याहताद् वाक्यात् परमार्थोभिधायिनः ।  
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥

८

आप्तोपज्ञमनुलुङ्घ्यमदृष्टविरोधकम् ।  
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥

९

स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः ।  
परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः ॥

१०

प्रत्यक्षेणानुमानेन प्रसिद्धार्थप्रकाशनात् ।  
परस्य तदुपायत्वात् परार्थत्वं द्वयोरपि ॥

११

प्रत्यक्षप्रतिपन्नार्थप्रतिपादि च यद्वचः ।  
प्रत्यक्षं प्रतिभासस्य निमित्तत्वात् तदुच्यते ॥

१२

साध्याविनामुबो हेतोर्वचो यत् प्रतिपादकम् ।  
परार्थमनुमानं तत् पक्षादिवचनात्मकम् ॥

१३

साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिर्वाकृतः ।  
तत्प्रयोगोऽत्र कर्तव्यो हेतोर्गोचरदीपकः ॥

१४

अन्यथा बाधभिप्रेतहेतुगोचरमोहिनः ।  
प्रत्याख्यस्य भवेत् हेतुर्विरुद्धारेकितो यथा ॥

१५

घानुष्कगुणसंप्रेक्षिजनस्य परिविध्यतः ।  
घानुष्कस्य विना लक्ष्यनिर्देशेन गुणेतरो ॥

१६

हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात् प्रयोगोऽन्यथापि वा ।  
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति ॥

१७

|  |    |
|--|----|
| श्रीसिद्धसेनविवाकरविरचितं न्यायावतारसूत्रम् ।      | ३  |
| साध्य-साधनयोर्व्याप्तिर्यत्र निश्चीयतेतराम् ।      |    |
| साधर्म्येण च दृष्टान्तः संबन्धस्मरणान्मतः ॥        | १८ |
| साध्ये निवर्तमाने तु साधनस्याप्यसंभवः ।            |    |
| ख्याप्यते यत्र दृष्टान्ते वैधर्म्येणेति स स्मृतः ॥ | १९ |
| अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धेर्बहिर्बुदाहतिः । |    |
| व्यर्था स्यात् तदसङ्गावेऽप्येवं न्यायविदो विदुः ॥  | २० |
| प्रतिपाद्यस्य यः सिद्धः पक्षाभासोऽक्षलिङ्गतः ।     |    |
| लोक-स्ववचनाभ्यां च बाधितोऽनेकधा मतः ॥              | २१ |
| अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम् ।             |    |
| तदप्रतीतिसंदेहविपर्ययसैस्तदाभता ॥                  | २२ |
| असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवोपपद्यते ।          |    |
| विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु ॥   | २३ |
| साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः ।      |    |
| अपलक्षणहेतूत्थाः साध्यादिविकलादयः ॥                | २४ |
| वैधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः ।      | २५ |
| साध्य-साधनयुग्मानामनिवृत्तेश्च संशयात् ॥           |    |
| वायुक्ते साधने प्रोक्तदोषाणामुद्भावनम् ।           |    |
| दूषणं निरवधे तु दूषणाभासनामकम् ॥                   | २६ |
| सकलावरणमुक्तात्म केवलं यत् प्रकाशते ।              |    |
| प्रत्यक्षं सकलार्थात्मसततप्रतिभासनम् ॥             | २७ |

प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम् ।  
केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः ॥

२८

अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम् ।  
एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः ॥

२९

नयानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तेः श्रुतवर्त्मनि ।  
संपूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते ॥

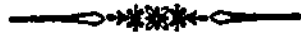
३०

प्रमाता स्वान्यनिर्भासी कर्ता भोक्ता विवृत्तिमान् ।  
स्वसंवेदनसंसिद्धो जीवः क्षित्याधनात्मकः ॥

३१

प्रमाणादिव्यवस्थेयमनादिनिधनात्मिका ।  
सर्वसंन्यवहर्तृणां प्रसिद्धापि प्रकीर्तिता ॥

३२



श्रीशान्त्याचार्यविरचितं

# न्यायावतारसूत्रवार्तिकम् ।

१. सामान्यलक्षणपरिच्छेदः ।

ॐ  
नमः सर्वज्ञाय ।

हिताहितार्थसंप्राप्ति-त्यागयोर्यन्निबन्धनम् ।  
तत् प्रमाणं प्रवक्ष्यामि सिद्धसेनार्कसूत्रितम् ॥ १

ॐ  
'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् ।  
प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा मेयविनिश्चयात् ॥'  
॥ इति शास्त्रार्थसंग्रहः ॥ २

ॐ  
सन्निकर्षादिकं नैव प्रमाणं तदसंभवात् ।  
अवभासो व्यवसायो न तु ग्रहणमात्रकम् ॥ ३  
दीपवज्रोपपद्येत बाधवस्तुप्रकाशकम् ।  
अनात्मवेदने ज्ञाने जगदान्ध्र्यं प्रसज्यते ॥ ४  
प्रत्यक्षं च परोक्षं च ग्राहकं नोपपत्तिमत् ।  
बाधनात् संशयाद्यासे सूक्तं सामान्यलक्षणम् ॥ ५  
वेदेष्वरादयो नैव प्रमाणं बाधसंभवात् ।  
प्रमाणं बाधवैकल्यादर्हस्तत्त्वार्थवेदनैः ॥ ६ ॥

१. ॐ नमः सर्वज्ञाय क० । नमो वीतरागाय अ० । २. हिताहितार्थयोः प्राप्ति० अ० । ३. द्विधेयं च विनिश्चितम् मु० । ४. व्यवसायस्तु ग्रह० मु० । ५. बाध्य० मु० । ६. इदं पद्यं मुद्रितपुस्तके उद्धृतं नास्ति सर्व० । ७. सर्वज्ञेयः मु० ।

- वचसोऽपौरुषेयत्वं नाऽविशेषात् पटादिवत् ।  
स्वरूपेण विशेषेण न सिद्धं भूधरादिषु ॥ ७
- विरुद्धं चेष्टयातेन न कार्यं कर्तृसाधनम् ।  
प्रकृतेरन्तरज्ञानं पुंसो नित्यमथाऽन्यथा ॥ ८
- नित्यत्वे सर्वदा मोक्षोऽनित्यत्वे न तदुद्भवः ।  
कालवैपुल्ययोग्यत्वकुशलाभ्याससंभवे ॥ ९
- आवृत्तिप्रक्षयाज्ज्ञानं सार्वश्यमुपजायते ।  
सदहेतुकमस्तीह सदैव क्षमादितत्त्ववत् ॥ १०
- आहारासक्तिष्वेतन्मं जन्मादौ मध्यवत्तथा ।  
अन्यसामर्थ्यवद्वेतुः संपूर्णः कार्यकृत्सदा ॥ ११
- ज्योतिः साक्षात्कृतिः कश्चित् संपूर्णस्तत्त्ववेदने ।

॥ सामान्यलक्षणपरिच्छेदः ॥

✽

## २. प्रत्यक्षपरिच्छेदः ।

✽

- ज्ञानपेक्षं प्रमेयस्य द्वैविध्यं न तु वास्तवम् ॥ १२
- दूरासन्नादिभेदेन प्रतिभासं भिनत्ति यत् ।  
तत् प्रत्यक्षं परोक्षं तु ततोऽन्यद् वस्तु कीर्तितम् ॥ १३
- तन्निमित्तं त्रिधा मानं न त्रिधा नैकधा ततः ।  
सादृश्यं चेत् प्रमेयं स्यात् वैलक्षण्यं न किं तथा ॥ १४
- अर्थापत्तेर्न मानत्वं नियमेन विना कृतम् ।  
प्रमाणपञ्चकाभावेऽभावोऽभावेन गम्यते ॥ १५

१. इदं पद्यं मुद्रितपुस्तके उद्धृतं नास्ति सं० । २. वेष्टं मु० । ३. कार्यं मु० । ४. 'प्रकृत्यन्तर-  
विज्ञानम्' इति वृत्तिसंमतः पाठः सं० । प्रकृतेरवरं ज्ञानं मु० । ५. पुंसोऽनित्यलमन्यथा मु० ।  
६. 'योगे तु कुश' मु० । 'योग्यत्वं कुश' अ० । ७. 'संभवे' मु० । 'संभवे' अ० । ८. इदं पद्यं  
नास्त्युद्धृतं मुद्रितपुस्तके सं० । ९. आहाराशक्तिं क० । आहाराशक्तिं ब० । १०. 'सामर्थ्यं' मु० ।  
११. इदं पद्यं नास्ति उद्धृतं मुद्रितपुस्तके सं० । १२. ज्ञानपेक्षं मु० । ज्ञानपेक्षं ब० । १३. प्रतिभा  
सं भिन० अ० । १४. न अ० ।

|   |      |
|---|------|
| न, नास्तीति यतो ज्ञानं नाध्यक्षोद्भिन्नगोचरम् ।     |      |
| अभावोऽपि च नैवास्ति प्रमेयो वस्तुनः पृथक् ॥         | १६   |
| प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधेन्द्रियमनिन्द्रियम् । |      |
| योगजं चेति वैशद्यमिदन्त्वेनावभासनम् ॥               | १७   |
| जीवांशात् कर्मनिर्मुक्तादिन्द्रियाण्यधितिष्ठतः ।    |      |
| ज्ञातमिन्द्रियजं ज्ञानं विनेन्द्रियमनिन्द्रियम् ॥   | १८   |
| स्मृत्यूहादिकमित्येके प्रातिभं च तथाऽपरे ।          |      |
| स्वप्नविज्ञानमित्यन्ये स्वसंवेदनमेव नः ॥            | १९   |
| मनःसंज्ञस्य जीवस्य ज्ञानावृत्तिश्मक्षयौ ।           |      |
| यतश्चित्रौ ततो ज्ञानयोगपथं न दुष्यति ॥              | २० " |
| जिनस्यांशेषु सर्वेषु कर्मणः प्रक्षयेऽक्रमम् ।       |      |
| ज्ञानदर्शनमन्येषां न तथेत्यागमावधः ॥                | २१   |
| तत्रेन्द्रियजमध्यक्षमेकांशव्यवसायकम् ।              |      |
| वेदनं च परोक्षं च योगजं तु तदन्यथा ॥                | २२   |
| द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषास्तस्य गोचराः ।            | "    |
| अविस्पष्टास्तथेव स्युरनध्यक्षस्य गोचराः ॥           | २३   |
| न जडस्यावभासोऽस्ति भेदाभेदविकल्पनात् ।              |      |
| न भिन्नविषयं ज्ञानं शून्यं वा यदि वा ततः ॥          | २४   |
| ज्ञानशून्यवन्तो नास्ति निरासेऽर्थस्य साधनम् ।       |      |
| संवित्सिद्धप्रतिक्षेपे कथं स्यात् तद्व्यवस्थितिः ॥  | २५ " |
| पर्ययस्यन्ति पर्याया द्रव्यं द्रवति सर्वदा ।        |      |
| सदृशः परिणामो यः तत् सामान्यं द्विधा स्थितम् ॥      | २६   |
| विपरीतो विशेषश्च तान्युगपद् व्यवस्यति ।             |      |
| तेन तत्कल्पनाज्ञानं न तु शब्दार्थयोजनात् ॥          | २७   |
| निरंशपरमाणूनामभासे स्थौल्यवेदने ।                   | "    |
| प्रत्यक्षं कल्पनायुक्तं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ॥     | २८   |

१. नाभास्ती० मु० । २. 'ध्यक्षमिन्न' व० । ३. अभावोऽपि मु० । ४. वस्तुतः अ० । ५. विषय-  
ज्ञानं अ० क० मु० । ६. मनेन्द्रि० मु० । ७. ज्ञातमि० व० । ज्ञानमि० मु० । ८. 'वृत्तिग' मु० ।  
९. इदं कारिकायां ज्ञानं व० । मुद्रितपुस्तके उद्धृतं नास्ति सं० । १०. 'ज्ञानवतोर्नास्ति अ० मु० ।  
११. पर्ययस्य अ० मु० । १२. विशेषस्तु मु० ।



|   |  |    |
|---|--|----|
|   | नासंयुक्तैर्न संयुक्तैर्निरंशैः क्रियते महत् ।<br>अयोगे प्रतिभासोऽपि संयोगेऽप्यणुमात्रकम् ॥    | २९ |
|   | भिन्नदेशस्वरूपाणामणूनामग्रहे सति ।<br>तत्स्थौल्यं यदि कल्पेत नावभासेत किञ्चन ॥                 | ३० |
| १ | नैतदस्ति यतो नास्ति स्थौल्यमेकान्ततस्ततः ।<br>भिन्नमस्ति समानं तु रूपमंशेन केनचित् ॥           | ३१ |
|   | अथास्तु युगपद्भासो द्रव्य-पर्याययोः स्फुटम् ।<br>तथापि कल्पनां नैषा शब्दोल्लेखविवर्जिता ॥      | ३२ |
| " | अकास्ति योजितं यत्र सोपाधिकमनेकधा ।<br>वस्तु तत् कल्पनाज्ञानं निरंशाप्रतिभासने ॥               | ३३ |
|   | भेदज्ञानात् प्रतीयन्ते यथा भेदाः परिस्फुटम् ।<br>तथैवाभेदविज्ञानादभेदस्य व्यवस्थितिः ॥         | ३४ |
|   | घटमौलिसुवर्णेषु बुद्धिर्भेदावभासिनी ।<br>संविम्लिष्टा हि भावानां स्थितिः काऽत्र विरुद्धता ॥    | ३५ |
| " | प्रतीतेस्तु फलं नान्यत् प्रमाणं न ततः परम् ।<br>अताद्रूप्येऽपि योग्यत्वान्नियतार्थस्य वेदकम् ॥ | ३६ |
|   | ॥ प्रत्यक्षपरिच्छेदः ॥   |    |

✽

### ३. अनुमानपरिच्छेदः ।

✽

|   |  |    |
|---|--|----|
|   | पूर्वमेव परोक्षस्य विषयः प्रतिपादितः ।<br>प्रमाणफलसद्भावो ज्ञेयः प्रत्यक्षबहुधैः ॥                 | ३७ |
| " | परोक्षं द्विविधं प्राहुर्लिङ्ग-शब्दसमुद्भवम् ।<br>लैङ्गिकात् प्रत्यभिज्ञादि भिन्नमन्ये प्रचक्षते ॥ | ३८ |

१. 'पूर्वा' संग्रहे सु० । २. कल्पमानैषा व० । ३. वेदनम् व० । ४. अ० प्रती नास्ति ।

|  |    |
|--|----|
| परोपदेशजं श्रौतं मतिं शेषं जगुर्जिनाः ।                |    |
| परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि त्रिधा श्रौतं न युक्तिमतम् ॥    | ३९ |
| अन्यथेहादिकं सर्वं श्रौतमेवं प्रसज्यते ।               |    |
| यद्योक्तं नागमापेक्षं मानं तज्जावजृम्भितम् ॥           | ४० |
| लिङ्गाल्लिङ्गिनि यज् ज्ञानमनुमानं तदेकधा ।             |    |
| प्रत्येति हि यथा वादी प्रतिवाचयति तत् तथा ॥            | ४१ |
| उपचारेण चेत् तत् स्यादनवस्था प्रसज्यते ।               |    |
| अन्यस्यासाधनादाह लक्षणे हेतु-साध्ययोः ॥                | ४२ |
| ‘अन्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।            |    |
| नान्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥’           | ४३ |
| कार्यकारणसद्भावस्तादात्म्यं चेत् प्रतीयते ।            |    |
| प्रत्यक्षपूर्वकात् तर्कात् कथं नानुपपन्नता ॥           | ४४ |
| व्यतिरेकाऽनुपपत्तिर्येदन्वयनिबन्धनम् ।                 |    |
| कथं सर्वं विना तेन क्षणिकत्वप्रसाधकम् ॥                | ४५ |
| विनाप्यन्वयमात्मादौ प्राणादिः <sup>१</sup> साधनं यदा । |    |
| तदा स्यान्मान्वापेक्षा हेतोः साध्यस्य साधने ॥          | ४६ |
| संबन्धिभ्यां विभिन्नश्चेत् संबन्धः स्यान्न लोच्यते ।   |    |
| अनवस्था प्रसज्येत तदन्यपरिकल्पने ॥                     | ४७ |
| कृत्तिकोदयपूरादेः कालादिपरिकल्पनात् ।                  |    |
| यदि स्यात् पक्षधर्मत्वं चाक्षुषत्वं न किं ध्वनौ ॥      | ४८ |
| समानपरिणामस्य द्वयस्य नियमग्रहे ।                      |    |
| नाशक्तिर्न च वैफल्यं साधनस्य प्रसज्यते ॥               | ४९ |
| इष्टं साधयितुं शक्यं वादिना साध्यमन्यथा ।              |    |
| साध्याभासमैशक्यत्वात् साधनागोचरत्वतः ॥                 | ५० |
| यथा सर्वगमध्यक्षं बहिरन्तरनात्मकम् ।                   |    |
| नित्यमेकान्ततः सत्त्वात् धर्मः प्रेत्यासुखप्रदः ॥      | ५१ |
| रूपायसिद्धितोऽसिद्धो विरुद्धोऽनुपपत्तिमान् ।           |    |
| साध्याभावं विना हेतुः व्यभिचारी विपक्षगः ॥             | ५२ |

१. शेषं प्र० मु० । २. व्यतिरेकोऽनु० व० अ० । ३. कथं अ० क० । ४. कथं संबंधिता सेत व० क० । ५. साधनम् व० । ६. प्राणादि सा० मु० । ७. समसाध्यताय मु० । ८. प्रेत्यासुखप्रदः मु० ।  
न्या० २

असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो मल्लवादिनः ।

द्वेषा समन्तभद्रस्य हेतुरेकान्तसाधने' ॥

५३

॥ अनुमानपरिच्छेदः ॥

✽

## ४. आगमपरिच्छेदः ।

✽

ताप-च्छेद-कषैः शुद्धं वचनं त्वागमं विदुः ।

तापो ह्याप्तप्रणीतत्वमाप्तो रागादिसंक्षयात् ॥

५४

कषः पूर्वापराघातश्छेदो मानसमन्वयः ।

५५

✽

‘विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकवचोवत् ।

जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥’

५६

॥ आगमपरिच्छेदः ॥

✽

सूत्रं सूत्रकृता कृतं मुकुलितं सङ्गरिषीजैर्यनम्,

तद्वाचंः किल वार्तिकं मृदु मया प्रोक्तं शिशूनां कृते ।

भानोर्यत्किरणैर्विकासि कमलं नेन्दोः करैस्तत् तथा,

यद्वेन्दूदयतो विकसि जलजं भानोर्न तस्मिन् गतिः ॥ ५७

[ समाप्तमिदं न्यायावतारसूत्रवार्तिकम् । ]



१. अलिङ्गिः अ० । २. इदं पद्यं मुद्रिते उद्धृतं नास्ति स्तं० । ३. इदं पद्यं मुद्रितपुस्तके कृतेः प्रथम-  
पद्यरूपेण वर्तते स्तं० । ४. तद्वाचं किल अ० । तद्वाचं किल अ० । ५. भानोर्यमस्तेन तत् मु० ।

श्रीशान्त्याचार्यविरचिता  
न्यायावतारसूत्रवार्तिकवृत्तिः ।

•१. सामान्यलक्षणपरिच्छेदः ।

हिताहितार्थसंप्राप्ति-त्यागयोर्व्यभिचयनम् ।

तत् प्रमाणं प्रवक्ष्यामि सिद्धसेनार्कसूत्रितम् ॥ १ ॥

नमः स्वतःप्रमाणाय वचःप्रामाण्यहेतवे ।

जिनाय पञ्चरूपेण प्रत्यक्षात् पक्षदेशिने ॥

अन्यार्थवत्तेति न वाच्यमेतत् सामान्यमन्येन ततोऽन्यथा तु ।

व्युत्पादितं तत्र वैदन्तु सन्तो निर्मत्सरा एव भवन्तु यद्वा ॥

§ १. हिताहितेत्यादिना अभिधेयप्रयोजनमभिधीयते । तदभिधानात् संबन्धमभिधेय-  
अभिधेयप्र- प्रयोजनान्तराण्यपि अभिहितानि । तथाहि—प्रमाणम् अभिधेयम् । प्रयोजनं  
योजनाभि- व्युत्पत्तिः व्युत्पादकत्वं च शिष्याचार्ययोः, परं तु निःश्रेयसमिति । संबन्धस्तु  
धानम् ।  
उपायोपेयलक्षण इति ।

§ २. तच्च श्रोतृप्रवृत्त्यर्थमिति कञ्चित् । तदुक्तम्—

प्रयोजन-  
मिधावत्य  
किं प्रयोज-  
नमिति  
वर्त्तते ।

“अनिर्विष्टफलं सर्वं न प्रेक्षापूर्वकारिमिः ।  
शास्त्रमाद्रियते तेन वाच्यमग्रे प्रयोजनम् ॥”

§ ३. तदेतदन्त्ये न क्षमन्ते । यतो यथा ते प्रेक्षापूर्वकारितया फलमभिलषन्तः प्रवर्तन्ते,  
तथा प्रेक्षापूर्वकारितयैव प्रमाणात् प्रवर्तन्ते । अप्रमाणात् प्रवर्तमानानां प्रेक्षार्थस्यैव न स्मात् ।  
न च स्रब्दानां बहिरर्थे प्रत्यक्षवत् प्रामाण्यम् । नापि प्रदीपवत् असंबद्धानामपि प्रकाश-

१. 'येन नमः प्रत्यक्षदेशिने मु० । २. 'व्यवर्त्तति व० । ३. उत्पादितं व० अ० क० । ४. भवन्तु  
मु० । ५. 'सरा वच भवेदुद्बुधा मु० । ६. शिष्याचार्य० मु० । ७. श्रोतृजनप्र० क० मु० ।  
८. प्रेक्षावत् न मु० ।

कत्वम् । किन्तु संबन्धबलात् । न च तेषां बहिरर्थः संबन्धोऽस्ति । विवक्षायां संबन्धेऽपि—  
न ये यथा यमर्थं विवक्षन्ति ते तथैव तमर्थं प्रतिपादयन्तीति, विसंवादानभिप्रायाणाम-  
न्यथाभिधाय अन्यथा प्रवृत्तिदर्शनात् इति' कथं प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थमादिवाक्यमिति ? ।

§ ४. तत्राक्षेपपरिहारः । 'निष्फलमिदं शास्त्रं काकदन्तपरीक्षावत् । अशैक्यानुष्ठानं वा  
उपरहरतश्चकचूडारजालङ्कारोपदेशवत् । अनभिमतं वा मातृविवाहोपदेशवत् । अतो वा  
शास्त्रात् लघुतर उपायः प्रमाणव्युत्पत्तेः । अनुपाय एव वा इदम्'—इत्यनर्थसंशयनिवृत्त्यर्थम्,  
अर्थसंशयोत्पादनार्थं प्रेक्षावतामैदिवाक्यमिति । ते हि कृषीवलादय इव अर्थसंशयात्  
प्रवर्तन्त इति ।

§ ५. एतदन्ये दूषयन्ति । युक्ता कृषीवलादीनाम् अवधृतबीजाबीजस्वभावाणाम् उपायनिश्चये  
॥ सति उपेये 'संदेहेऽपि प्रवृत्तिरिति । अत्र तु उपायनिश्चयाभावात् कथं प्रवृत्तिरिति ? । साधक-  
बाधकप्रमाणाभावाद्यर्थसंशयस्यानिवारितत्वात् । तथा, प्रमाणव्युत्पादकानां च शास्त्रान्त-  
राणां दर्शनात्—'किं अस्य प्रमाणव्युत्पत्तिः प्रयोजनम्, एतान्यद्' इति प्राक्प्रवर्तमानः संशयः  
केन विनिवार्येत । तस्मात्—'प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः प्रयोजनवत्तया व्याप्तेति निःप्रयोजनमिदं शास्त्रं  
नारब्धव्यम्' इति व्यापकानुपलब्ध्या प्रत्यवतिष्ठमानस्य परस्मादिद्वतोद्भावनम् अनेन क्रियत  
॥ इति । न चैतद् वाक्यम्—अप्रमाणकेनानेन कथमेतदपि क्रियत इति । यतः अप्रमाणकेनैव  
वचसा परेण व्यापकानुपलब्धिरुपन्यस्ता । सा च वचनमात्रेणैवासिद्धोद्भाव्यत इति ।

§ ६. एतदप्यपरे दूषयन्ति । यतो यथाऽसिद्धसाधनमादाय वादी प्रत्यवतिष्ठमानो  
निगृह्यते तथाऽसद्वृषणवादी प्रतिवाद्यपीति । अथ अग्रे तस्यार्थस्य शास्त्रेण समर्थनात् न  
दोष इति । यद्येष तर्हि आदिवाक्येन शास्त्रार्थः प्रतिज्ञायत इति युक्तम् ।

§ ७. एतदप्ययुक्तम् । यतः शास्त्रार्थोऽनेन किं प्रमाणभूतेन प्रतिज्ञायते, किंवाऽप्रमाण-  
भूतेनेति ? । तत्र यदि प्रतिज्ञैव प्रमाणभूता सांप्रत्यार्थं प्रतिपादयति, किमङ्ग हेतूपन्यासेन ? ।  
अथ अप्रमाणभूता, तर्हि तदेव दूषणमिति । तस्मात् वचनस्य प्रत्यक्षाविवत् प्रमाणभूतत्वात्  
ततः प्रेक्षावतां फलार्थिनां युक्ता प्रवृत्तिरिति युक्तम् । अथ कस्यचिद्वाक्यस्य—'नद्यास्तीरे  
शर्कराशकटं पर्यस्तम्'—इत्यादिकस्य मिथ्यारूपस्योपलब्धेः कथं प्रेक्षावतां ततः प्रवृत्तिरित्य-  
॥ मिधीयते; तर्हि मरुमरीचिकाजलोत्प्लेखिनो ज्ञानस्य मिथ्यात्वोपलब्धेः कथं प्रेक्षावतां प्रत्यक्षो-  
देरपि प्रवृत्तिरिति ? । अथ मिध्येतरयोः संवादासंवादलक्षणो विशेषोऽस्तीत्युच्यते; अत्रापि  
आप्तप्रणीतैस्त्वानाप्तप्रणीतत्वलक्षणोऽस्तीति वक्ष्यामः । नच शब्दानां संबन्धबलादर्थप्रतिपाद-  
कत्वम्, किन्तु विवक्षावशात् । सा च पुरुषसर्वैस्त्वासत्यत्वेन सत्येतरा भवन्ती शब्दानां  
सर्वैस्त्वासत्यत्वं क्वापयतीति पुरुषप्रामाण्यमेव दर्पणसंक्रान्तं प्रतिबिम्बमिव शब्देष्वभिधीयत

१. विसंवादानभि० मु० । २. इति तत्राक्षेपपरिहारः अ० । ३. तत्र निष्फलमिदं अ० क० मु० ।  
४. असाध्यानु० मु० । ५. 'तामादौ वाच्यं' मु० । ६. कृषिवला० अ० अ० । ७. उपेयसंदे० क० मु० ।  
८. 'स्य निवा' मु० क० । ९. विनिवार्यते अ० । १०. साध्यमर्थम् मु० क० । ११. इत्यादिवाक्यस्य अ० ।  
१३. प्रत्यक्षादपि मु० । १३. 'प्रणीतत्वात्प्रणीतत्वलक्ष' क० मु० । १४. वक्ष्यामः क० । १५. 'तस्या-  
सत्यत्वेन अ० । १६. सत्यतासत्यत्वं मु० क० । १७. संक्रान्तम् क० ।

इति । अयेष्टोऽयमर्थः शङ्क्येत ज्ञातुम् अतिशयो येदीत्यभिधीयते । एतत् पञ्चात् प्रतिपाद-  
यिष्यामः ।

§ ८. हितोऽपि कालान्तरेण उचरितादेरिव दृष्ट्यादिकं यद्यप्यहितो भवति, तथापि इष्ट-  
प्रथमकारि-  
कार्यः त्वाद्वितः । अहितोऽप्येवम् । उपेक्षणीयोऽपि प्रमाणाविषयत्वात्, यदि वा  
अनुपादेयत्वात् सोऽप्यहित एव । तयोर्हिताहितयोः प्राप्ति-त्यागौ यतः प्रमाणनिबन्धनौ ।  
अतः तत् प्रकर्षेण—संख्या-लक्षण-गोचर-फलविप्रतिपत्तिनिराकरणरूपेण, स्वतः परतः  
प्रामाण्यलक्षणेन वा, प्रत्यक्ष-परोक्षरूपेण वा ब्रूयामः ।

§ ९. नन्वतीत-वर्तमानयोरुपयुक्तफलत्वेन प्रवृत्त्यविषयत्वात्, भाविनस्त्वर्थक्रियाकारिणः  
प्रमाणागोचरत्वात्, भाविनि प्रमाणाभावादिति । तत् कथं हिताहितयोः प्राप्ति-त्यागौ प्रमाण-  
निबन्धनाविति ? । नैव दोषः, अतीत-वर्तमान-भविष्यतां कथञ्चिदेकत्वस्य प्रतिपादयिष्य- ॥  
माणत्वादिति ।

§ १०. यदि वा हितो मोक्षः, अहितः संसारः, तयोः प्राप्ति-त्यागौ सर्वज्ञनिबन्धनौ,  
अतस्तमेव भगवन्तं प्रमाणभूतं प्रतिपादयिष्याम इति ।

§ ११. तत् किं स्थातव्येण ? । न इत्याह—सिद्धसेनार्कघ्नितम्—इति । सिद्धसेन एव  
जगज्जन्तुमनोमोहसंततितामसीतमःसमूहापोहकारित्वात् अर्क इव अर्कः, तेन सूत्रितम् ॥  
तत्सूत्राणामतिगम्भीरार्थत्वात् किञ्चिद्विशतो यथाबोधं व्याख्यास्यामः [ १ ] ।

§ १. तदेवाह—प्रमाणम्—इत्यादि ।

प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् ।

प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा मेयविनिश्चयात् ॥ २ ॥

—इति शास्त्रार्थसंग्रहः ॥

§ २. अयेवं सूत्रं—किं सकलमेव ज्ञाकार्यं प्रतिपादयति, किं वा एकदेशमिति ? । न  
ज्ञाकार्यसं-  
ग्रह इति तावत् सकलम्, फलप्रमाणाभासताद्यप्रतिपत्तेः । नाप्येकदेशम्, सकलप्रमाण-  
पक्षस्य ता-  
त्पर्यार्थः लक्षणप्रतिपादनात्—इत्याशङ्क्याह—ज्ञाकार्यसंग्रह इति । तथाहि—प्रमाणं सामान्य-  
विशेषरूपतयाऽनेन संगृह्यत इति । स एव च ज्ञाकार्य इति । संग्रहस्तु विस्तार-  
विरोधीत्यनैवयवेनाप्रतीताद्यपि न दोषः । यल्लक्षणं च यद् वस्तु येषां प्रतिपाद्यते तल्लक्षण-  
विकलं तद् वस्तु तदाभासतया ते स्वयमेव प्रतिपद्यन्त इति किं प्रमाणाभासप्रतिपादनेनेति ? ।  
निश्चयात्मकप्रमाणप्रतिपादनात् तद्रूपस्य फलस्य प्रतीतेः किं तदुपन्यासेन ? ।

§ ३. तत्र सूत्रपूर्वार्धेन प्रमाणसामान्यम्, उत्तरार्धेन तद्विशेषोऽभिहित इति समुदा-  
यार्थः । अत्रयवार्थं तु सकलमेव ज्ञाकमभिधास्यतीति ।

§ ४. तत्र विधिवाक्ये लक्ष्यानुवादेन लक्षणं विधीयते । तदुत्तरकालं तु तत्र तत्र लक्ष-

१. शब्दे तण्ठः मु० । २. मदिलः क० मु० । ३. ंरिणः प्रमाणाभावादिति अ० । ४. अतीतानगत-  
वर्तमानानां मु० । ५. एव ज्ञाकां मु० । ६. सकल्येन अ-टि० ।

णानुवादेन लक्ष्यमिति । तत्र प्रमाणम् इति लक्ष्यनिर्देशः । शेषं लक्षणमिति । नचैतद्वाच्यम्—तादात्म्यात् लक्षणासिद्धौ लक्ष्यस्याप्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ वा नस्यापीति । यस्मात् यदेतत् प्रमाणशब्दवाच्यं वस्तु सर्वेषां प्रसिद्धं, तदनुवादेन विप्रतिपत्त्याऽसिद्धं लक्षणं विधीयत इति । [ २ ]

१. § १. तत्र ज्ञानं प्रमाणम्, न सन्निकर्षादि । तदाह—सन्निकर्षादिकम्—इत्यादि  
**सन्निकर्षादिकं नैव प्रमाणं तदसंभवात् ।**  
**अवभासो व्यवसायो न तु ग्रहणमात्रकम् ॥ ३ ॥**

- § २. तदसंभवादिति । तस्यैव सन्निकर्षस्यैव संभवात् । यदि वा तस्य प्रमाणत्वस्यासंभवात् । तथाहि—न सन्निकर्षवस्तुद्वयव्यतिरिक्तः कश्चिद् दण्डायमानः संयोगः प्रत्यक्षेणोपलभ्यते । 'द्वयोरङ्गुल्योरयं संयोगः' इति प्रतीतेः कथं नोपलभ्यत इति चेत्; 'तासामङ्गुलीनाम् अयं मुष्टिः' इति किं न प्रतीतिः ? । तत्रापि संयोगविशेषो निमित्तमिति चेत्; न, 'संयोगविशेषः' इति स्यात्, न 'मुष्टिः' इति । न हि नीले 'पीतम्' इति प्रत्ययो भवति । अथ संकेतवशात् तथाप्रतीतिः । तर्हि पुरुषेच्छानिर्मितसंकेतवशात् प्रवर्तमाना एवविधाः शब्दविकल्पा न किञ्चिद्वस्तुभूतं निमित्तमवलम्बन्त इति नैतद्वशाद् वस्तुव्यवस्था विदुषानुपपन्नेति । अन्यथा 'इदं नगरम्' इत्यादिष्वपि निमित्तमभिधानीयम् । तत्र न तावत् नगरं द्रव्यम्, गृहैरसंयुक्तैर्विजातीयैश्च तस्यानारम्भात् । कतिपयगृहानामस्ति संयोग इति चेत्; तर्हि किं संयोगेष्वपि संयोगः ? । यतो गृहाण्यपि न द्रव्याणि, विजातीयैः काष्ठेष्टकैदिभिस्तर्दनारम्भात् । सत्ता नगरमिति चेत्; किं नाटव्यां तत्प्रत्ययमुत्पादयति ? । गृहैर्विशेषितेति चेत्; न, कूटस्थनित्याया विशेषणाऽयोगात् । अकिञ्चित्करस्याविशेषणत्वात् । किञ्चित्करत्वे नित्यताहानेः । घण्णगरीत्यत्र च समूहार्थो वाच्यः । सत्ताया एकरूपत्वेन समूहार्थत्वानुपपत्तेः । सत्तां च निषेत्स्यामः । गृहाणां संयोगरूपाणां संयोगाभावात्, गुणैर्द्रव्यानारम्भाच्चेति न कश्चित् समूहार्थः । तेनैवविधाः प्रत्यया वस्तु व्यवस्थापयन्तीति न संयोगः प्रत्यक्षगम्यः ।

- § ३. अथानुमानात् तत्प्रतीतिः । तथा हि—क्षिति-बीज-सलिलादयः सर्वे विरलदेशस्थाः अन्यनिमित्तापेक्षाः, सामर्थ्ये सति कार्यानुत्पादकत्वात् । यद्यत् सामर्थ्ये सति कार्यानुत्पादकम्, तत्तद् अन्यपेक्षं दृष्टम् । यथा त एव बीजादयोऽन्यतरविकला । नोत्पादयन्ति च समर्था अपि विरलदेशस्थाः सर्वे 'बीजादयोऽङ्गुरमिति । तस्मादन्यनिमित्तापेक्षाः । यत् सन्नित्तं स संयोग इति ।

- § ४. ननु बीजादयो दूरदेशस्था अपि सहकारिणं किं न संयोगमुपपा(मुत्पा)दयन्ति ? । तस्याभावादिति चेत् । स किं न भवति ? । कारणाभावात् । किं तस्य कारणम् ? । त एव । किं

१. सर्वेषु मु० । २. °र्वस्याऽसंभ० व० मु० क० । ३. तयोर० मु० व० क० । ४. तत्रापि न संयो० क० । ५. °स्तुतनिमि० मु० । ६. तत्तु संयो० मु० । ७. काष्ठेष्टिका० व० व० । ८. तदारम्भात् मु० क० । ९. °हार्थः तेनैवविधाः क० मु० । १०. सर्वे अङ्गुर० मु० ।

न वूरत्याः ? । संयोगाभावात् । तत् किं संयोगोऽपि संयोगः ? । तत्राप्येव प्रत्यक्षेण ।  
अथ योग्यदेशाः संयोगमन्तरेणापि संयोगमुत्पादयन्ति । कार्येण किमेवामपराद्धं यत्तज्ज्ञो-  
त्पादयन्ति ? ।

§ ५. अपि च, किमेवां दूरस्थानां कार्यानुत्पादकत्वं संयोगापेक्षया व्याप्तम्, प्रत्यक्षेण  
प्रतीयते, किं वाऽनुमानेन ? । न तावत् प्रत्यक्षेण, तेन तस्याप्रतीतेरित्युक्तम् । नाप्यनुमानेन,  
अनवस्थाप्रसंगात् । अथ निमित्तमात्रापेक्षया व्याप्तं प्रतीयते । तर्हि योग्यदेशादिभिर्निमित्तैः  
जननसामर्थ्यात्मपर्यायमपेक्षमाणास्ते कार्ये न कुर्वन्तीति, न पुनः संयोगमिति । तन्नाश-  
कमित् सन्निकर्ष इति ।

§ ६. भवतु वा, तथापि तस्य प्रमाणत्वं न संभवति । तथा हि—किमसौ स्वयमेव ज्ञा-  
तसन्निकर्षप्र- णम्, किं वा प्रमाणजननाविति । स्वयमेव किं ज्ञातोऽर्थं ज्ञापयति, अज्ञातो-  
वेधः । वा ? । ज्ञातोऽपि किं प्रत्यक्षेण, किं वाऽनुमानेन ? । प्रत्यक्षेणापि किं सामान्य-  
रूपतया, किं वा विशेषरूपतया ? । यदि सामान्यरूपतया; न प्रतिकर्मव्यवस्थां कुर्यात् ।  
विशेषरूपतयाऽपि तद्विज्ञानं कर्मणि ज्ञाते स्मात् । नहि नीलाज्ञाने 'नीलस्यायं सन्निकर्षः' इति  
ज्ञानं भवति । नीलज्ञानं किं तत् एव सन्निकर्षात्, अथान्यतः ? । यदि तत् एव तदा  
इतरेतराश्रयत्वम्, नीले ज्ञाते तद्विज्ञानम्, तद्विज्ञानाच्च नीलज्ञानमिति । अथान्यतः सन्निक-  
र्षात् । तदा तदेव चोद्यम्, तदेवोत्तरमिति, अनवस्था च । अथान्यतः प्रमाणाधीन-  
ज्ञानम् । तर्हि किमन्तर्गुणो तेन ? । तदर्थं हि स परिकल्प्यत इति । किञ्च । स्वसंवेदन-  
प्रत्यक्षं नाभ्युपगम्यते । तत्परिज्ञानं पुनरन्येन्द्रियसन्निकर्षेण । तस्याप्यन्येनैतदनवस्था । न च  
सन्निकर्षं सन्निकर्षो, निर्गुणा गुणा इत्यभ्युपगमात् ।

§ ७. अथ संयुक्तसमवायात् तस्य ग्रहणम् । तथाहि—संयोगात् द्रव्यग्रहणम् । संयुक्त-  
समवायात् गुणग्रहणम् । संयुक्तसमवेतसमवायात् गुणत्वग्रहणम् । समवायात् शब्दग्रहणम् ।  
समवेतसमवायात् शब्दत्वग्रहणम् । विशेषणविशेष्यभावात् अभावग्रहणमिति शोढा  
सन्निकर्ष इति ।

§ ८. तदसत् । यतश्चक्षुर्नीलसन्निकर्षः किं स एव यः संयुक्तसमवायाद् गृह्यते, किं वा  
सन्निकर्षान्तरमिति ? । यदि स एव । तन्न । यतो न स्वयमेव स्वं ज्ञापयति, स्वसंवेदनप्रस-  
ङ्गात् । सन्निकर्षान्तरैकल्पनेऽनवस्था । तन्न प्रत्यक्षप्रतीतः सन्निकर्षः । अनुमानं तु तस्मिन्  
प्रागेव निरसीति न पुनरुच्यते । तन्न ज्ञातो ज्ञापयति ।

§ ९. अज्ञातस्यार्थज्ञापकत्वे शब्दविषाणस्यापि प्रसङ्गः । असमवायात् न शब्दविषाणमिति  
चेत्; किं न रूपावि ? । अज्ञापकत्वाच्चेति चेत्; न, तत्र समवाय एव सन्निकर्षस्यापि ज्ञाप-

१. दूरस्थानां मु० । २. प्रतीतिरि० क० मु० । ३. निमित्तमात्रेण व्या० ब० । ४. 'निमित्तं  
सामर्थ्यमात्रपर्यायं' मु० । ५. किं प्रमा० अ० । ६. स्वयमेव किं मु० । ७. 'ज्ञानाधीनं' अ० ब० ।  
८. परिकल्पत अ० । ९. किं वा स्व० मु० क० । १०. 'यावत् शब्दं' मु० । ११. 'ग्रहणमिति । विशेषे  
ब० मु० क० । १२. 'न्तरपरिकल्पं' क० मु० । १३. निरसीति क० मु० ।



कत्वम् । तच्च रूपादेरप्यस्तीति । वस्तुस्वभावैकतरं वाक्यमिति चेत् ; तदेतत् पादप्रसारण-  
मिति । तन्नाज्ञातस्यापि ज्ञापकत्वम् ।

§ १०. अथ प्रमाणजननात् सन्निकर्षादिः प्रमाणम् । नन्वौपचारिकमिवं स्यात् । किञ्च,  
इदं लक्षणमतिव्यापकम्, अव्यापकं च स्यात् । तथाहि—आत्मनोऽपि प्रमाणजनकत्वात्  
१ प्रमाणत्वं स्यात् । ईश्वरस्य च इन्द्रियादिसन्निकर्षाभावात् प्रामाण्यं न स्यात् । अथ ईश्वर-  
स्यापि ज्ञेयार्थैः सहास्ति सन्निकर्षः । कथमविद्यमानैरतीतानागतैरिति ? । मा भूदिति चेत् ;  
कथमतीतानागतज्ञः ? । अथ नित्यं तस्य प्रमाणम् । तर्हि न सन्निकर्षस्तत्रेत्यव्यापकम् ।

§ ११. अथोत्सर्गोऽपवादेन प्रमातृत्वेन बाध्यत इति नातिव्याप्तिः । किं न प्रमेयत्वेन  
सन्निकर्षादौ ? । अपि च कारणत्वाविशेषेऽपि 'इदं प्रमाणम्' 'अयं प्रमाता' इति विशेषो  
२ वक्तव्यः । अथ यत्र प्रमाणं समवेतं स प्रमाता, तदितरत् प्रमाणमिति । नैतदस्ति । यतः  
समवायस्य व्यापित्व-नित्यत्वोपगमात् सर्वप्रमाणैः सर्वे प्रमातारः प्रसज्येरन् । समवायि-  
विशेषाद् विशेषोपगमे नित्यत्वक्षतिः ।

§ १२. न च कञ्चित्समवायं प्रत्यक्षात् प्रतीमः । अनुमानतस्तत्प्रतीतिरिति चेत्—तथाहि—  
समवाय- इतिप्रत्ययः संबन्धनिबन्धनः, अबाधितोऽप्रत्ययत्वात् । यो योऽबाधितोऽप्रत्ययः  
३ बाध्यः । स स संबन्धनिबन्धनः, यथा 'इह कुण्डे दधि' इति प्रत्ययः । तथा च 'इह  
तन्तुषु पटः' इति प्रत्ययः । तस्यात् संबन्धनिबन्धन इति । 'इह ग्रामे वृक्षाः' इति भ्रान्त-  
प्रत्ययनिवृत्त्यर्थमबाधितग्रहणम् । तथा सामान्येन संबन्धनिबन्धनत्वे साध्ये नाऽन्यदोषः ।  
सामर्थ्याच्च विशेषसिद्धिरिति । उक्तमत्र—एवंविधानां कल्पनाज्ञानानां वस्तुव्यवस्थापकत्वा-  
भावादिति । न चासंबन्धलिङ्गादुद्यतामनुमानानां प्रामाण्यमुपपत्तिम् । अन्यथा, 'स  
४ इयामः, तत्पुत्रत्वात्, परिदृश्यमानेतत्पुत्रवद्' इत्यादीनां प्रामाण्यं स्यात् । बाधितत्वाच्चेति चेत् ;  
अत्र किं न बाधा ? । काऽसाविति चेत् ; इयमेव तावद् यदनियमतो लिङ्गादुत्पत्तिरिति ।

§ १३. तथा, अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानां स व्यावर्ण्यत इति । तत्र अयुतसिद्धि-  
( सिद्धिः ) किं देशैकत्वेन, किम् एककालत्वेन, अथ स्वरूपैकत्वेनेति ? । तत्र न तावदेशै-  
कत्वेन । न हि य एव तन्तूनां देशः, स एव पटस्यापि । तथाहि—तन्तवः स्वारम्भकेष्वं-  
५ शुषु स्थिताः, पटस्तु तेज्जित् कथं देशैकत्वम् ? । आकाशैकत्वे सर्वेषामेकदेशत्वं स्यात् । न  
च तदेकदेशत्वेन एकदेशत्वम्, निर्देशत्वात् नभसः । कल्पितास्तस्य त इति चेत् ; तत् किं  
कल्पनातो वस्तुव्यवस्था ? । तत्र प्रथमः पक्षः । नापि कालैकत्वेन । न हि य एव तन्तूनां  
कालः, स एव पटस्यापि, कार्यकारणभावाभावाप्रसङ्गात् । कारणेन हि कार्यस्य समानकाल-  
त्वमन्यतः सिद्धस्य स्यात् । ततश्च किं सिद्धोपस्थापिना कारणेन ? । तत्र कालैकत्वेनाप्ययुत-  
६ सिद्धिः । स्वरूपैकत्वे किं कुत्र समवेतु ? । तन्नायुतसिद्धिः ।

१. च तथाहि—अ० ब० । २. प्रामाण्यम् क० मु० । ३. 'बाधितोऽप्रत्ययत्वात् क० मु० । ४. तथा  
मु० । ५. नान्वययोषः अ० । ६. 'यानां कुक्लप' मु० । ७. 'चासंबन्धि' अ० ब०  
क० । ८. जलपुत्रं मु० क० । ९. 'मानपुत्र' ब० क० । 'मानत्वापुत्र' मु० । १०. यद्विनियं मु० ।  
११. तदेकदेशदेशत्वेन मु० । १२. स्वरूपैकत्वे क० ।

§ १४. आधारावेयभावोप्यात्म-ज्ञानयोर्नोपपद्यते । यथा आधारावेयभावो नास्ति तथा नास्तिकनिराकृतावभिधास्यते । यथा चाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपतया नित्यः समवायोऽन्यो वा न संभवति तथा यथावसारं प्रतिपादयिष्यते । तन्न कश्चित्समवायः । तदभावात् नात्मनो विशेषः । तस्मात् प्रमाणजननात् सोऽपि प्रमाणं स्यात्, न वाऽन्यदपीति । तन्न सन्निकर्षः ।

§ १५. आदिग्रहणात् सामर्थ्येकदेशश्चक्षुरादिर्न<sup>१</sup> प्रमाणम्, किन्तु ज्ञानमिति ।

§ १६. अथ किमिदं ज्ञानस्य प्रामाण्यम् ? । किम् अर्थग्रहणम्, उतागृहीतार्थप्रापणम्, <sup>प्रामाण्य-  
विचारः</sup> आहोषिद् गृहीतार्थप्रापणमिति ? । तन्नार्थग्रहणम्, अगृहीतार्थप्रापणं च सिध्या-  
ज्ञानेऽप्यस्तीति तस्यापि प्रामाण्यं स्यात् । गृहीतार्थप्रापणं तु क्षणिकपर्यायवादिनो न संम-  
वति । तथाहि — यः पर्यायो गृहीतः नासौ प्राप्यते । यस्तु प्राप्यते न स गृहीत इति । अथ  
वस्तुमात्रं गृहीतं प्राप्यते । तदपि 'सर्वमेकं कथञ्चित्' इति वादिनो सिध्याज्ञानेऽप्यस्तीति ॥  
तस्यापि प्रामाण्यं स्यादित्याशङ्क्याह—'अवभासो व्यवसायो न तु ग्रहणमात्रकम्' इति । तेन  
यद्यपि मरुमरीचिकैर्निष्ठुरन्ध्रचुम्बिज्ञानम् 'इदम्' इत्यंशेन मरीचिकास्वरूपमुल्लिखदुत्पद्यते,  
तथापि विपर्ययाक्रान्तत्वात् न प्रमाणमिति ।

§ १७. अथ कोऽयं व्यवसायः ? । किमर्थग्रहणम्, उताग्रहणमिति ? । यदि ग्रहणम्;  
तदा तदेव दूषणम् । अग्रहणे कथं प्रामाण्यमिति ? । अत्रोच्यते । सद्यवहारजननसामर्थ्यं ॥  
व्यवसायः । तथाहि — सवितिज्ञानाभिधानप्रवृत्तिलक्षणः सद्यवहारः । नास्तीत्यादिलक्षणश्च  
असद्यवहारः । तयोर्जननसामर्थ्यं व्यवसायं ब्रुवते । तेन सिध्याज्ञाने तन्नास्तीति न तस्य  
प्रामाण्यमिति । [ ३ ]

§ १८. भवतु ज्ञानं प्रमाणम् । तत् पुनः केन वेद्यते ? किं स्वयमेव, किं वा ज्ञानान्त-  
स्वसंवेदन-  
वादः । रेणेति ? । यदि ज्ञानान्तरेण; तदाऽभ्युपेतहानिः । अथ स्वयम् । तदपि नास्ति । ॥  
यतः —

“यद्यर्थवेदनं ज्ञानमात्मनोऽपि प्रकल्प्यते ।

सुक्षिप्तितो बद्धः स्वगन्धं स्वमारोहतु दासवत् ॥”

यथाहि — वेद्यतेऽनेनेति वेदनम्, वेद्यते तदिति वेद्यमिति विरुद्धयोः करणकर्मणोः कथ-  
मेकत्र सद्भाव इति ? । कथमात्मानमात्मना आत्मो वेत्तीति व्यपदेशः ? । तस्मात् कस्मिन्नाः ॥  
क्रियाकारकव्यपदेशाः प्रवर्तमाना न वर्तुं विरुन्धन्ति । अपि च — प्रमाणसिद्धे वस्तुनि को  
विरोधः ? । एतदेवाह —

दीपवज्रोपपद्येत बाणवस्तुप्रकाशकम् ।

अनात्मवेदने ज्ञाने जगदान्ध्र्यं प्रसज्यते ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षं च परोक्षं च ग्राहकं नोपपत्तिमतः ।

१. नास्तिकमतनिरा° मु० । २. सामर्थ्येकदेशं अ० क० मु० । ३. 'रादि प्रमां' ब० । नेतिशेषः—  
ब-दि० । ४. उताग्रहणं ब० क० । ५. 'चिक्षासु उदकचुम्बि' मु० । ६. चुम्बिज्ञानं ब० ।  
७. 'तना असौ वेत्ती' मु० क० । ८. वस्तुं वि० मु० क० । ९. वस्तु विरुन्धति अ० । वस्तु निर्व° ब० ।  
न्या० ३

§ २. प्रदीपवदिति सजातीयानपेक्षत्वेन दृष्टान्तः । तथाहि — ज्ञानम् आत्मप्रकाशकम्, अर्थप्रकाशकत्वान्वयानुपपत्तेः प्रदीपवत् । एनमेव हेतुं विपर्यये बाधकप्रमाणेन समर्थयितु-  
माह — नोपपद्येत इत्यादि । आत्मानं वेदयतीति आत्मवेदनम्, न तथा । तस्मिन् सति न  
किञ्चित् केनचित् विज्ञायेत इत्यन्धमूकं जगत् स्यात् । [ ४ ]

§ ३. इतश्चानात्मवेदनं ज्ञानं नाभ्युपगम्यते, प्रमाणेनाप्रतीतेः । तथाहि — यत् सदुपलम्भ-  
कप्रमाणगोचरं चारि न भवति, तत् सकलमेव न सञ्चवद्वृत्तिपथमवतरति । यथा सञ्चविषा-  
णम् । नावतरति च सदुपलम्भकप्रमाणगोचरताम् आत्मव्यापारादिलक्षणं विज्ञानमिति ।  
तथाहि — तद्वाहकं प्रत्यक्षं वा स्यात्, परोक्षं वा ? ।

§ ४. प्रत्यक्षमपि किम् इन्द्रियार्थसंप्रयोगजम्, आहोस्विद् आत्म-मनःसन्निकर्षसमुत्थम्,  
उत्तथित् स्वसंवेदनं यदर्थोऽयमारम्भ इति ? । तत्र ज्ञानेनेन्द्रियस्य सन्निकर्षाभावात्, अन-  
भ्युपगमाच्च न प्रथमः पक्षः । नापि द्वितीयः, मनःसङ्गावे प्रमाणाऽभावात् । न चाप्रमाणकं  
वस्तु विपर्ययितः समाश्रयन्ते । न च युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः तत्प्रमाणम्, तस्या अन्यथाप्यु-  
पपत्तेः । तथाहि — यस्मिन्नात्मा आभिमुख्यं प्रतिपद्यते तस्मिन् विज्ञानमुदेति, अन्यत्र नेति  
किं मनःपरिकल्पनया ? ।

§ ५. अथेदमाभिमुख्यं किम् आत्मनो व्यतिरिक्तम्, आहोस्विद् अन्यतिरिक्तमिति ? । तत्र  
यदि व्यतिरिक्तम्; तदा संज्ञामात्रं भिद्यते नार्थ इति । अथाव्यतिरिक्तम्; तदाऽऽत्मनः  
स्वरूपाप्रच्युतेः सर्वदा तदस्तीति सर्वदा सर्वविषयं विज्ञानं स्यात् । नन्वात्मनो मनसा  
संयोगकर्तृत्वं किं भिन्नम्, अभिन्नं वेति ? । यदि भिन्नम्; नात्मनः कर्तृत्वम् । अथाभिन्नम्;  
तदा तदपि तत्स्वरूपवत् सर्वदाऽस्तीति सर्वदा संयोगः स्यात् । ततश्च सर्वदा ज्ञानोत्पत्तिरपि  
स्यादिति ।

§ ६. अथ शक्तेः कर्तृत्वम्, सा च सहकारिकारणवशात् कदाचिद्वचन्ती न दोषपोष-  
मावहति । यद्येवं तर्हि कर्मणः सामर्थ्यादाभिमुख्यमात्मनः समुत्पद्यमानं कर्मवर्ती ज्ञानो-  
त्पत्तिं विधास्यतीति किं मनःपरिकल्पनया ? । विधास्यते चायमर्थो “जीवांशात् कर्मनिर्मु-  
क्तात्” [ का० १८ ] इत्यत्रान्तरे । तज्ज्ञात्म-मनोजनितमपि प्रत्यक्षं ग्राहकमिति ।

§ ७. अपि च — तत् तस्य कारणं, कार्यम्, अनुभयं वा सत् ग्राहकं स्यात् ? । न तावत्  
कारणम्; तदानीं ग्राह्यस्याभावात् । नाप्यनुभयम्; असंबन्धात् । अयैकसामग्रीतस्तदुभयं  
ग्राह्यग्राहकरूपं समुत्पद्यत इति । तन्न, युगपज्ज्ञानोत्पत्त्यनभ्युपगमात् । किञ्च ज्ञानाविशेषे-  
ऽप्येकं ग्राह्यम्, अपरं ग्राहकमिति किञ्चितोऽयं विशेषः ? । अथ कार्यम्; तदा तदपि ज्ञातम्,  
अज्ञातं वा ? । [ अथाज्ञातम्; तन्न, ] अज्ञातस्य ज्ञापकत्वाऽयोगात् । तदुक्तम् —

“अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्धयति” ।

अथ ज्ञातम्; तदपि यदि प्रत्यक्षान्तरेण, तदा किं ग्राह्येण किं वा ज्ञानान्तरेण ? । यदि

१. न केनचित् किञ्चित् ब० क० मु० । २. चरतावतारि मु० । ३. उत्तथित् मु० क० ।  
४. प्युत्पत्तेः अ० । ५. विषयज्ञानं ब० । ६. भिन्नमथाभिन्नमिति ब० । ७. दोषमावहति क० मु० ।  
८. ज्ञानं संभवन्तीं ज्ञानो मु० ।

प्राक्षेण; तदा तस्य ग्राहकत्वात् कार्यत्वम् । ततश्चाग्रे पातो द्वितीयस्य । तस्याप्येवमिति काचपक्षं ज्ञानयोः स्यात् । तत्र प्राक्षेण । ज्ञानान्तरेणापि प्रहणे तस्याप्यन्येनेत्यनवस्था । तत्र प्रत्यक्षं तद्ग्राहकम् ।

§ ८. नापि परोक्षम्; यतः तदपि किम् अर्थापत्तिः, उतानुमानमिति ? । तत्र न तावत् प्रथमः पक्षः, अर्थापत्तेरप्रमाणत्वात् । तथाहि—अर्थप्राकट्यादसावुत्पद्यते इत्यभ्युपगमः । तत्र सत्र किं नियतम्, अनियतम् वा ? । यद्यनियतम्; कथं नियमेन गमयेत् ? । अथ नियतम्; तदा नियमग्रहः किं तस्मिन्नेव धर्मिणि, किं वा धर्म्यन्तर इति ? । यदि तस्मिन्नेव; तदा येनैव प्रमाणेन नियमग्रहः, तेनैव साध्यस्यैव साधितत्वात् किमर्थापत्त्या ? । अथ धर्म्यन्तरे; तदा अन्यत्र गृहीतप्रतिबन्धम् अन्यत्र गमयदनुमानतां नातिक्रामति ।

§ ९. अपि च—अर्थापत्तिरपि किमर्थापत्त्या ज्ञायते, किं वा स्वसंवेदनेनेति ? । यदि स्वसंवेदनेन; तदा प्रथमे कः प्रद्वेषः ? । अथार्थापत्त्या; तदा किं तेनैव प्राकट्येनोत्थाप्यते, किं वाऽन्येन ? । यदि तेनैव; तदा किं युगपत्, किं वा क्रमेण ? । प्रथमपक्षे अभ्युपगम-हानिः । अथ क्रमेण; तदपि नास्ति, अननुभवात् । अथान्येन; तदा तदार्थापत्तावपि ज्ञान-प्रभेऽपरिमितार्थापत्तिमाला प्रसज्येत । तन्नार्थापत्त्याऽपि ज्ञायत इति । निषेत्स्यते चार्थापत्ति-स्तत्प्रस्ताव इति ।

§ १०. अनुमानमपि न तद्व्यवस्थापकम्, यतस्तदपि गृहीतसंबन्धमेव प्रवर्तते । संबन्ध-ग्रहस्तु किमन्वयमुखेन, किं वा व्यतिरेकमुखेन ? । न तावदन्वयमुखेन, यतः 'तद्भाव एव भावः' इति स प्रतीयते । तद्भावभावित्वं च किं प्रत्यक्षेण प्रतीयते, किं वाऽनुमानेन ? । न तावद् अत्यन्तपरोक्षे विज्ञाने प्रत्यक्षेण । नाप्यनुमानेन, अनवस्थाप्रसङ्गात् । व्यतिरेकमुखेणापि नास्ति, यतो विपक्षे हेतोरभावः किमभावप्रमाणेन प्रतीयते, आहोभिदनुपलम्भेन ? । अभावप्रमाणाभावाद् न प्रथमः पक्षः । अनुपलम्भोऽपि किं दृश्यानुपलम्भः, किं वा अदृश्या-नुपलम्भः ? । अन्यस्य सत्यपि वस्तुनि भावाद् न व्यतिरेकसाधकत्वम् । दृश्यानु-पलम्भमपि स्वभाव-कारण-व्यापकाद्यनुपलम्भभेदेन व्यावर्णयन्ति । तत्र दृश्यानुपलम्भो नादृश्ये ज्ञाने संभवति । नापि कार्यकारणभावः । स हि प्रत्यक्षानुपलम्भसाधकः कथं परोक्षे वस्तुनि स्यात् ? । व्याप्यव्यापकभावोऽपि प्रत्यक्षानुमानाभ्यां तस्य न प्रतीयते इत्युक्तम्, अतः कथं तर्तस्तद्भाव इति । तत्र व्यतिरेकद्वारेणापि संबन्धनिश्चयः ।

§ ११. किञ्च, तल्लिङ्गम् अर्थः, चक्षुरादयो वा ? । अर्थोऽपि किं सामान्यरूपः, विशेषरूपो वा ? । सामान्यस्य ज्ञापकत्वे अतिप्रसङ्गः । विशेषोऽपि यदि प्राकट्यम्, आभि-शुक्लम्; तदपि अर्थात् भिन्नम्, अमिन्नं वा ? । यदि मिन्नं स्वप्रकाशम्; तदा सिद्धं साध्यम्, किमनेन ? । अथाभिन्नम्; तदा स्वप्रकाशोऽर्थः प्रसज्येत । एवं चक्षुरादिवपि वाक्यम् ।

१. तदस्य व० । २. द्वितीयस्याप्ये० क० अ० व० । ३. गमयेतामुमां अ० । ४. एतदपि मु० क० । ५. अनुपलम्भमात्रस्य अ० व० क० । ६. प्रत्यक्षानुपलम्भौ साधकौ यस्य इति विग्रहः कार्यः-सं० । ७. 'कम् तद् कथं क० मु० । ८. अनुपलम्भात् अ-टि० । ९. विपक्षे हेतोरभावः अ-टि० । १०. किमन्येन क० मु० । ११. प्रसज्येत अ० व० ।

§ १२. किञ्च—इदमर्थशून्यं विकल्पविज्ञानं केन ज्ञायते ? । न च तस्याननुभवः । नापि तद् बाह्यम्, अध्यात्मं परिस्पन्दात् । योऽपि कारकसंबन्धानुपपत्त्या व्यापारः परिकल्प्यते; सोऽपि न युक्तः, यतो यदि तेन तेषां मीलनं क्रियते तदा तेषां सै न स्यात्, पूर्वमेव सिद्धत्वात् । संबद्धानां यदि स स्यात्; तदा किं तेन ? स्वयमेव संबन्धात् ।

§ १३. अपि च—स किं कारकजन्यः, अजन्यो वा ? । अजन्योऽपि भावरूपः, अभावरूपो वा ? । अभावरूपत्वे न फलजनकत्वं स्यात् । भावोऽपि किं नित्यः, अनित्यो वा ? । नित्यत्वे न कदाचिद् अर्थाधिगतिविरतिः स्यात् । ‘अजन्यश्च अनित्यश्च’ इति व्याहृतम् । जन्योऽपि किमेकक्षणस्यायी, किं वा कालान्तरस्यायी ? । प्रथमपक्षे क्षणादूर्ध्वं प्रतीतिविरतिः स्यात् । प्रतिक्षणमपरापरोत्पत्तौ न कदाचिद्विरमेत । अथ कालान्तरस्यायीः तदा “क्षणिका हि सा” [ शाबर० पृ० ३२ ] इत्यभ्युपेतहानिः ।

§ १४. अपि च—असौ कियारूपः, अक्रियारूपो वा ? । सौऽपि किं परिस्पन्दरूपः, अपरिस्पन्दरूपो वा ? । परिस्पन्दात्मिका नास्पन्दस्यात्मनः स्यात् । यदर्थः प्रयासः स एवैत्यक्तः स्यात् । अपरिस्पन्दः किं परिस्पन्दाभावः, किं वा वस्तुवन्तरमिति ? । अभावस्य जनकत्वविरोधादियुक्तम् । वस्तुवन्तरमपि किं चिद्रूपः, किं वा जडः ? । चिद्रूपोऽपि किं धर्मी, किं वा धर्मः ? । यदि धर्मी; न प्रमाणं स्यात्, आत्मवत् । अथ धर्मो यदि आत्मनोऽभिन्नः; न प्रमाणम् । भिन्नोऽपि असंबन्धात् न तस्य । ‘तत्कार्यत्वात् तस्य’ इति चेत्, तत्कर्तृत्वं यदि व्यापारान्तरेण; तदा अनवस्था । निर्व्यापारस्य कार्यकर्तृत्वे; किं तेन ? । जडोऽपि यदि धर्मी; लोष्टवत् न किञ्चित् । अथ धर्मः; तदाऽऽत्मनः कथं जडो धर्मः ? ।

§ १५. अपि च—व्यापारेण फलं यदि व्यापारवता जन्यते; तदा अनवस्था । अव्यापारपक्षे प्रथमेनापि तेन किम् ? । अथ व्यापारस्य तद्रूपत्वाद् न तदन्तरमिति चेत्, किमिदं तद्रूपत्वम्—किं पराश्रितत्वम्, किं वा परजन्यत्वम् ? । संयोग-समवायनिराकरणेन आश्रितत्वानुपपत्तेः । जन्यत्वमपि अविचलितानुत्पन्नस्थिरैकरूपेणात्मना क्रमाऽक्रमाभ्यां नोपपद्यत इति न व्यापारः कश्चित् । तन्न परोक्षं ज्ञानं प्रमाणमिति ।

§ १६. किञ्च—

अनात्मविदि विज्ञाने तादात्म्यात् सुखदुःखयोः ।

वेदनं नोपपद्येत न स्यातां प्रीतितापने ॥ १ ॥

एकार्थसमवायस्य पूर्वमेव निराकृतेः ।

नैषामज्ञानरूपत्वं एकहेतुसमुद्भवात् ॥ २ ॥

§ १७. उक्तं च—

“तद्वत्तद्रूपिणो भावास्तद्वत्तद्रूपहेतुजाः ।

तत्सुखादि किमेतानां विज्ञानाभिन्नहेतुजम् ॥” [ प्रमाणवा० २.२५१. ]

१. ‘शून्यमिकं’ ब० । २. यदि तेषां मु० क० । ३. तेषां संबन्धः स्यात् मु० । ४. अजन्यो भावः क० मु० । ५. ‘भ्युपगतहानिः’ ब० । ६. सोऽपि मु० । ७. ‘रूपोऽयं’ मु० । ८. रूपो वा मु० । ९. एवं प्रत्युक्तः मु० । १०. ‘रस्याकार्थं’ क० मु० । ११. अव्यापारवता जन्यते पक्षे प्रथं ब० । १२. ‘रस्यात्तद्रूपं’ क० । १३. ‘सम् परा’ अ० । १४. ‘दिकमज्ञां’ क० मु० ।

“अविशेषेपि बाह्यस्य विशेषात् प्रीतितापयोः ।  
 भावनाया विशेषेण नार्थरूपाः सुखादयः ॥  
 प्रकादिविद्विष्यन्ते भावनाचलभावतः ।  
 नाथेन अनिताकारो बुद्धौ भोगस्तदात्मनः ॥  
 नियतविषयत्वेन ज्ञानाकारो निवर्तितः ।  
 अर्थान्वयातिरेकेण ज्ञातो नीलादिभासवत् ॥  
 मित्राभाः सितदुःखादिरनिष्ठे बुद्धिवेदने ।  
 अभिज्ञाने विभिन्ने चेद्भेदामेवौ किमाभयौ ॥  
 नानात्वैकत्वलोपः स्यादेवं सति जगद्भये ।  
 तस्मादन्तर्भावा एते चेदनाश्रयेति साधितम् ॥”

तर्हः स्थितमेतत् स्वसंवेदनं विज्ञानमिति ॥ [५<sup>१</sup>] ]

§ १. अथ प्रमाणान् प्रवर्तमानाः किं निश्चितप्रामाण्यात् प्रवर्तन्ते, किं वाऽनिश्चितप्रामा-  
 ण्यनि- प्यादिति ? । यदि अनिश्चितप्रामाण्यात् किं प्रमाणपरीक्षया ? । अथ निश्चित-  
 योपाय- प्रामाण्यात्; तन्निश्चयः किं संवादज्ञानात्, किं वा कारणगुणज्ञानादिति ? ।  
 वर्चा । प्रमाणपरीक्षया; तन्निश्चयः किं संवादज्ञानात्, किं वा कारणगुणज्ञानादिति ? ।  
 प्रथमपक्षे संवादज्ञानं किं सहकारिकारणं सत् तन्निश्चयमुत्पादयति, किं वा ग्राहकं ॥  
 सविति ? । यदि सहकारिकारणम्; तन्नोपपद्यते, भिन्नकालत्वात् । ग्राहकमपि किं प्रत्यक्षं  
 सत्, किं वा लिङ्गभूतमिति ? । न तावत् प्रत्यक्षं सत्, प्रवर्तकस्य सुदूरं नष्टत्वात् । अपि  
 च—इन्द्रियजं प्रत्यक्षं ज्ञानान्तरस्वरूपमपि न प्रतिपद्यते । कुत एव तत्प्रामाण्यमिति ? ।  
 लिङ्गभूतमपि नास्ति, यतो लिङ्गं गृहीतसंबन्धं ज्ञापयति । संबन्धग्रहो<sup>१०</sup> न ताभ्याम्, परस्पर-  
 स्याग्रहणात् । नापि ज्ञानान्तरेण तत्स्वरूपग्रहणादेव ।

§ २. अथानादित्वात् संसारस्य संवादकज्ञाननिबन्धनं प्रवर्तकस्य प्रामाण्यसनेकशो  
 विनिश्चित्य संवेदभाजि प्रवर्तकज्ञाने संवादकज्ञानात् निश्चय इति । ननु अत्र चक्रेकं दूषणम् ।  
 तथाहि—निश्चितप्रामाण्यात् प्रवृत्तिः । प्रवृत्तौ संवादज्ञानम् । ततः प्रामाण्यनिश्चय इति ।

§ ३. किञ्च—अनादौ संसारे निरात्मवादिनः(ना) केन संबन्धो गृह्यते ? । अथ अस्त्यनन्त-  
 वासनाऽऽलम्ब्यभूतम् आलम्ब्यविज्ञानं रागादिबाह्याहङ्कारास्पदभूतम्, तेनेति । ननु निरन्वय-  
 क्षणिकविनाशे भेदाविशेषात् विभिन्नसंतानवासनासंक्रान्तिरपि कस्मान्न भवति ? । अथ

“यस्मिन्नेव हि संताने आहिता कर्मवासना ।

फलं तत्रैव संघटते कर्पासे रक्तता यथा ॥”

इत्यभिधीयते । न, संतानिन्यतिरिक्तस्य संतानस्याभावात् । अथ अस्ति कार्यकारणप्रबोह-  
 रूपः संतानः । न, कार्यकारणभावस्य निरन्वयक्षणिकपक्षे निवेद्यमानत्वादिति ।

§ ४. किञ्च—“संवादज्ञानमपि यदि संवादज्ञानापेक्षया प्रमाणम् । तदा तदपि तदन्या-  
 पेक्षयेत्यनवस्था । अथ स्वतः; तदा पूर्वमपि तथैवास्तु, किं संवादज्ञानेन ? ।

१. व्याप्ता मु० क० । २. “रभिज्ञो” अ० घ० । ३. “कत्वयोर्वः स्या” मु० । ४. तत् मु० ।  
 ५. “दनं ज्ञानं” मु० क० । ६. यदि निश्चितं अ० । ७. “ज्ञानं सह” मु० । ८. ग्रहणं मु० क० ।  
 ९. ज्ञानान्तरे स” मु० । १०. “ग्रहोऽपि न” मु० क० । ११. चक्रेकं घ० । १२. कार्यकारणरूपः  
 अ० । १३. किञ्च संवादज्ञानापेक्षया अ० । १४. णम् तदपि अ० ।



न व्यभिचारः । अथ अनुमानम् । तदपि प्रतिबन्धबलाद् उदयमात्रादयति । प्रतिबन्धग्रहणं न तावत् प्रत्यक्षेण—

“क्षिप्तसंबन्धसंविधिः नैकरूपप्रवेदनात् ।”

इति । अनुमानेन प्रतिबन्धग्रहणे अनवस्था, इतरेतराश्रयत्वं वा स्यात् । लिङ्गमपि नानुपलब्धः, तस्याः अभावसाधनत्वात् । स्वभावहेतुरपि दृश्ये व्यवहारमात्रसाधनफलः । कार्यमपि यदि प्रामाण्यनिश्चयः तदेतरेतराश्रयत्वम् ।

§ ९. न च नैर्मल्यादयो गुणाः दोषाभावव्यतिरेकिणः केचित् । भावेऽपि च तद्वाहिकानां तदन्यकारणगुणज्ञानापेक्षम् । तदपि तदन्यापेक्षमिति अनवस्था स्यात् । तत्र कारणगुणज्ञानापेक्षोऽपि प्रामाण्यनिश्चय इत्याशङ्क्याह—बाधनेत्यादि—

बाधनात् संशयाद्यासे सूक्तं सामान्यलक्षणम् ॥ ५ ॥

§ १०. बाधनं बाधितत्वम्, तस्मात् । संशयश्च । आदिग्रहणात् विपर्ययश्च । तस्य असनं क्षेपणम् आसः । तस्मिन् सति प्रामाण्यं निश्चीयत इति ।

§ ११. ननु किं बाध्यम्, किं वा बाधकम्, कञ्च तदभाव इति ? । बाध्यम् मिथ्यात्व-  
मिति चेत्; किमिदं मिथ्यात्वम् ? । वैपरीत्यमिति चेत्; कस्य वैपरीत्यम् ? , किं  
यत्पूर्वपक्षे क्स्याति-  
विचारः । क्स्याते; क्स्यायमानस्य वा ? । तदपि तयोः किम् अभावः, किं वाऽन्यरूपा-  
विनाऽवभासनम् ? । अभावोऽपि किम् अवभासकाले, कालान्तरे वा ? । न  
तावद् अवभासकाले, तदानीमेव अवभासमानत्वात् । कालान्तरे चेत्; क्षणिकत्वात् सर्व-  
ख्यातीनां वैपरीत्यप्रसङ्गः । अर्थक्रियाऽभावाद् अभाव इति चेत्; कथमन्यस्याभावे अन्य-  
स्याभावोऽतिप्रसंगात् ? । तदानीं च सर्वस्यार्थक्रियाविरहोऽस्तीति तथाभावः स्यात् । काला-  
न्तरे तदभावो नासत्तां क्स्यापयति, अतिप्रसंगात् ।

§ १२. रूपविबैपरीत्यं च केन प्रतीयते ? किं पूर्वज्ञानेन, किं वा तेनैव, आहोयिद्  
उत्तरकालभाविनेति ? । पूर्वज्ञानेन किं बाध्यकालादित्येन, स्वकालादित्येन वा ? । न तावत्  
पूर्वपक्षः, तदानीं तस्याविद्यमानत्वात् । नापि द्वितीयः, तत्काले मिथ्याज्ञानस्याभावात्,  
प्रमाणाभावेन विषयैक्यस्याभावाद् न तथाप्रतीतिरिति । अथ तेनैवात्सनोऽन्यदेक्षया प्रती-  
यते । तत् किं सा तस्मिन् काले अस्ति, किं वा नास्ति ? । यद्यस्ति; कथं वैपरीत्यम् ? ।  
अथ नास्ति; कथं विपरीतक्यातिः ? । तथा सत्यसत्क्यातिः स्यात् । उत्तरकालभावि च  
विरविनष्टस्य कथं तथात्वं प्रतिपद्यते ? । किञ्च—बाधकम् ‘असत्’ इति प्रत्येति न वैपरीत्य-  
मिति । तत्र विपरीतक्यातिः ।

§ १३. अथ स्मृतेः प्रमोषः तथाहि—नागृहीतरजतस्य शुर्किंकाशकलावलोकनेऽपि ‘इदं  
रजतम्’ इति प्रतिभासो भवति । किन्तु गृहीतरजतस्य तदनुभवाहितसंस्कारस्य चाकचिन्त्य-  
साम्यापहतचेतसः शुर्किंकाखण्डदर्शनेन प्रबोधितस्मृतिबीजस्य तत्र ‘अनेन सहस्रं रजतम्’

१. ‘पि वा तद्वा’ ब० क० मु० । २. तावत् तदानीमेव ब० अ० क० । ३. रूपवै० मु० ।  
४. पूर्वः पक्षः मु० क० । ५. विषयैक्यामां ब० क० । ६. ‘नोऽन्यादेशं’ ब० अ० । ७. शुर्कि-  
कावलो० मु० । ८. शुर्किखण्डं क० मु० ।



इति स्मरणं नोद्पादि, किन्तु 'इदमेव रजतम्' इति दर्शन-स्मरणयोस्तद्विषययोर्लौकिकत्वप्रति-  
पत्तिः तत्प्रमोषः ।

§ १४. ननु किं दर्शनविषयस्य स्मृतिविषये आरोपः, किं वा स्मृतेः दर्शनविषय इति ? ।  
यत्र प्रथमपक्षे यत्र यद् आरोप्यते तत्र तत्प्रतिभासो भवति । यथा मरीचिकासु जलमारो-  
प्यमाणं मरीचिकादेशे र्वकास्ति । ततः स्मर्यमाणदेशे शुक्तिप्रतिभासः स्यात्, नेदंतया रजत-  
त्वेति । द्वितीयेऽपि पक्षे स्मर्यमाणस्य अस्पष्टत्वात् परोक्षत्वाद् 'इदम्' इति दर्शनं कथं स्पष्ट-  
तयाऽपरोक्षतया प्रतिभासेत ? ।

§ १५. किञ्च — तयोरैक्यं केन प्रतीयते ? । किं ताभ्यामेव, अथान्येन ? । तत्र अस्वसंवे-  
दनाभ्यां दर्शनस्मरणाभ्याम् औत्मापि न प्रतीयते, कुत एव अन्येन सैहैक्यमिति ? ।  
॥ स्वसंवेदनाभ्यामपि स्वात्मनिमग्नाभ्यां न द्वयस्यैक्यप्रतीतिः । अपि च — यदि द्वयं वेद्यते,  
कथमैक्यम् ?; अथ न वेद्यते; कथमैक्यम् ? । अथ पूर्वं द्वयं प्रतीय तदेवैकत्वेन प्रत्येति ।  
न, संवेदनस्य क्षणिकत्वेन एतावन्तं कालमनवस्थानात् । तत्तादात्म्येन च स्वसंवेदनमपि  
विभिन्नमिति कथं पूर्वापरयोरैक्यं प्रतिपद्येत ? । भ्रान्तत्वात् तथाप्रत्येति<sup>१</sup> इति चेत्; न,  
आत्मक्यातिव्यवसायात् । तत्र च वक्ष्यामः । अथ अन्यत् । तत्र पूर्वदर्शनाहितसंस्कारस्य  
॥ उत्तरदर्शनप्रबोधितस्मृतिबीजस्य विकल्पकं विज्ञानं तयोरसन्तमभेदं क्वापयति । तर्हि  
असत्ख्यातिः स्यात्, न स्मृतिप्रमोष इति । तत्र स्मृतिप्रमोषोऽपि मिथ्यात्वम् ।

§ १६. अलौकिकत्वमिति चेत्; किमिदं अलौकिकत्वम् ? । किम् अन्यरूपत्वम्, अथ  
अनैवक्रियाकारित्वम्, किं वा अन्यकारणजन्यत्वम्, आहोधिदजन्यत्वमिति ? । तत्र न  
तावद् अन्यरूपत्वम् । यदेव हि सत्यस्य रूपं प्रतिभाति, तदेवासत्याभिमतस्यापि । न चान्य-  
॥ क्रियाकारित्वम्, अदर्शनात् । अन्यजन्यत्वे; सर्वत्र नियमो न स्यात् । लौकिकेऽप्येव स इति  
चेत्, इतरेतराभयत्वम् । सत्यनियमेऽलौकिकत्वम्, सति अलौकिकत्वेऽनियम इति । अजन्यत्वे;  
मित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा भवेत् । ततश्च सत्यज्ञानविषयोऽपि स्यात् । तृणालौकिकत्वमिति ।

§ १७. आत्मक्यातिरिति चेत्; तर्हि परं ब्रह्म, आहोधिद विज्ञानमिति ? । तत्र यदि तद्  
अद्वयं; तदा द्वयदर्शननिबन्धना कथं तत्र भ्रान्तिः ? । अन्तरूपप्लवाविति चेत्; तत्रापि  
॥ यदि स्वरूपप्रतिभासः कथं भ्रान्तिः ? । अथ अन्यरूपप्रतिभासः; कथमात्मक्यातिः ? । अथ  
आत्मरूपस्यैव भ्रान्त्या अन्यरूपत्वेन अवभासनम् । ननु इतरेतराभयत्वम् । तथाहि — अन्य-  
स्वरूपमवभासन्ती भ्रान्तिः, भ्रान्त्याऽन्यरूपावभासनमिति ।

§ १८. अथ अविद्याया भ्रान्तं वेदनं जन्यते । कथं नित्यत्वं ब्रह्मणः ? । न च तद्व्यतिरेकेण  
तद्वक्ति, माह्यमाहकारयोरनात्मरूपत्वात् । आत्मरूपत्वे वा तयोरपि सत्यत्वम्, आत्मनो  
॥ वाऽसत्यत्वमिति । अथ संवेदनमात्रं सत्यमात्मनो रूपम् । तथाप्रतिभासस्त्वविद्यावशादिति ।

१. 'शेऽवभासते मु० । २. स्वरूप[म्] अ-टि० । ३. अन्येन स्वात्मैक्यम् मु० । ४. स्वात्मनि निमग्ना  
अ० ब० । ५. च संवेदन ब० क० मु० । ६. 'त्येति चेत् क० मु० । ७. अन्यस्य अ-टि० ।  
८. 'रित्तमिति, किं अ० मु० । ९. 'यत्नमिति सत्य' अ० । १०. तत्र मु० । ११. अतद्रूपप्रमादिति मु० ।  
१२. अन्यरूपमव० मु० ब० । १३. 'मवभासयन्ती क० । 'मवभासयतीति आ० मु० ।

ननु वा अभिधा किम् आत्मरूपम्, अयान्यदेव किञ्चित् ? । यथात्मरूपम्; कप्रमविधा ? ।  
अवाच्यत्वं; कथमहेतुम् ? ।

§ १९. अथ भेदे प्रमाणाभावात् तथाप्रतिभासो भ्रान्तिरिति । तथाहि—भेदो वस्तुतः किं  
भिन्नः, किं वा अभिन्नः ? । यद्यभिन्नः; न भेदः । अथ भिन्नः । स किं प्रत्यक्षेण प्रतीयते,  
अवाच्यत्वेन ? । प्रत्यक्षेणैव किं तद्वस्तुमाहिणा, उक्तान्येन ? । यदि तद्वस्तुमाहिणा; तदा किं  
तस्मिन्नेव काले, कालान्तरे वा ? । न तावत् तस्मिन्नेव काले, द्वयोः प्रतिभासाभावात् ।  
कालान्तरे प्रत्यक्षेणैव नष्टत्वात् न तेन भेदग्रहः । अन्यस्य तु तदानीमनुभवात् । अनुमानमपि  
न प्रत्यक्षाभावे भेदग्राहि । किञ्च—भेदस्यापि वस्तुनोऽप्यो भेदः । तत्राप्यन्य इत्यनन्तभेदाव-  
भासः क्वात् । न वासावसि ।

§ २०. इत्यादिपरविकल्पितं गजविकल्पापत्ते । यतो भेद एव प्रत्यक्षे प्रतिभासते । तथाहि—  
ग्राह्यकारमईकारास्वयमूतम्, ग्रीकादिकं च ग्राह्यकारं मुक्त्वा नान्यैत् संवेदनमात्रं प्रतिभासि ।  
केवलमहेतुवादी तदाज्ञया उत्सृज्यत इति । अपि च—अयमभेदः किं वस्तुनो भिन्नः, किं  
वाऽभिन्नः ? । यद्यभिन्नः तदा नाऽभेदः । अथ भिन्नः; स किं प्रत्यक्षेण प्रतीयते, किं  
वाऽनुमानेन ? । प्रत्यक्षेणैव किं वस्तुमाहिणा, उक्तान्येन ? । वस्तुमाहिणापि किं युगपत्,  
क्रमेण वा ? । न तावत् युगपत्, द्वयप्रतीतेरयोगात् । प्रतीतौ वा छुटितोऽभेदः । नापि  
क्रमेण, क्षणिकत्वात् । न चान्यत् प्रतिभासि । प्रत्यक्षाभावादननुमानमपि नास्ति । अथ  
वस्तुनो ग्रहणे तदभिन्नस्य भेदस्यापि ग्रहणमिति । भेदस्यापि तथाग्रहणं किं न भवति ? ।

§ २१. किञ्च—अभेदो नाम अँडि(नाम द्वि)तीयापेक्षः । तदग्रहे कथं ग्रहणमस्य ? ।  
नहि यथा ग्रीकमाहि ज्ञानम् 'यदेवं न भवति तदतोऽन्यद्' इति व्यवस्थापयति, तथा  
'पीताग्रहेणऽभिन्नम्' इति ज्ञेयमिति । नहि पीताग्रप्रतिभासने तेन सहैकत्वप्रतिभासो युक्तः ।  
भेदोऽपि कथम् भिद्यमानाप्रतिभास इति चेत्; तत् किं ग्रीकस्यापि नास्ति प्रतिभासः ? ।  
अस्तीति चेत्; यथेवं तत् किं पीताग्रं तत्र भासते ? । नेति चेत्; तत्कथं न भेदप्रति-  
भासः ? । न चेवं द्वितीयाप्रतिभासने तेन सहैक्यमिति प्रतिभासो युक्तमिति । प्रतिपाद-  
विषये वाच्यक्षमाक्षत्वं भेदस्य अभावप्रमाणमिराकृतमिति । तन्नात्मक्यातिरपि<sup>११</sup> ।

§ २२. वाचकमपि किम् अनुपलब्धिः, आहोभिद् ज्ञानमिति ? । अनुपलब्धिरपि किं  
वाचक- तस्मिन्नेव काले कालान्तरे वा ? । तत्र तस्मिन्नेव काले सिध्दाज्ञानेऽपि ज्ञान-  
विषयः पूर्वपक्षः । शेषयोरनुपलब्धिर्नास्तीति तदपि अवाच्यं स्यात् । उत्तरकालं तु सत्यविज्ञानेऽपि  
संश्लिष्टोऽनुपलब्धिः । प्रवृत्तौ तन्निश्चये चक्रकमितरेतराभयरथं वैऽभाषि ।

§ २३. अथ ज्ञानम् । तत्किम् समानजातीयम्, उत भिन्नजातीयम् ? । समानजातीय-

१. अभिधा भागं मु० क० । २. प्रत्यक्षेण किं क० मु० । ३. नाप्यसंवे० अ० ब० । ४. प्रतीतौ  
च क० । ५. कथितोऽभेदः अ० ब० क० । ६. तदभिन्नस्य तस्यापि प्र० ब० । ७. नाम द्वितीयः  
पक्षः मु० क० । ८. तथा क० मु० । ९. इति प्राप्नोति मु० । १०. 'स्यापि प्रति' क० मु० ।  
११. तत्र न भासते मु० । १२. भेदः प्रति क० । १३. 'सिद्धि' मु० । १४. 'क्यातिरिति'  
क० मु० । १५. संश्लिष्टप्रवृत्तौ ब० । संश्लिष्टप्रवृत्तौ मु० क० । १६. 'न वाऽभाषि' मु० क० ।  
आ० ५

मपि किमेकसंतानम्, अथ भिन्नसंतानम् ? । तदपि किं एकविषयं भिन्नविषयं वा ? । तदपि किं एककालं, भिन्नकालं वा ? । तत्र समानजातीयमेककालं एकसंतानं एकविषयम्, भिन्नविषयं वा युगपद् ज्ञानद्वयं नोत्पद्यते । कथं तयोर्बाध्यबाधकभावः ? । भिन्नकालं तु तज्ज्ञानं एकविषयं संवादकमेव स्यात्, न बाधकम् । भिन्नविषयं तु तज्ज्ञानं यदि बाधकं स्यात् तदा सर्वं सर्वेण बाध्येत । भिन्नसंतानं तु समानजातीयमेककालम्, भिन्नकालं वा यथेकविषयं, संवादि स्यात्, न बाधकम् । भिन्नविषयस्य तस्य बाधकत्वे अतिप्रसङ्ग उक्तः । विजातीयं तु एकसंतानवर्ति एकविषयं समानकालं भिन्नकालं वा यदि स्यात् संवादकत्वं स्यात्, न बाधकम् । उक्तज्ञानस्य विभिन्नविषयस्यापि सतो बाधकत्वे सर्वं तेन बाध्यं स्यात् । भिन्नसंतानमपि विजातीयं समानकालम्, भिन्नकालं वा यथेकविषयम्; तदा अस्य संवादकम् ।  
॥ अथ भिन्नविषयम्; तदाऽकिञ्चित्करमिति । तत्र बाधकमपि किञ्चित् ।

§ २४. बाधकाऽभावोऽपि किं तुच्छरूपः किं वा वस्तुवन्तरज्ञानम् ? । तुच्छरूपस्य कथं प्रतीतिः ? । अथ ज्ञानवत्स्वतः इति । तत्र,

“सर्वेषो यदि सौरभ्यम्, गोमयस्य किमागतम् ।”

अथ स्वसंविदितं ज्ञानं तत्राभवत् तन्निश्चययति । ‘तत् तत्र नास्ति तेन च निश्चयः’ इति व्याहृतम् । अननुभवात् तन्निश्चय इति चेत्; स्वापाद्यवस्थास्यपि स्यात् । अथ वस्तुवन्तरज्ञानम्; तन्मिथ्याज्ञानेऽप्यस्तीति तत्रापि तन्निश्चयः स्यादिति । तत् कथमबाधितत्वेनापि प्रामाण्यनिश्चय इति ।

§ २५. अत्रोच्यते । यत् तावद् बाध्यबाधकनिराकरणमकारि तत् किम् अद्वैतमाश्रित्य, अथ बहिरर्थे स्थिते सतीति ? । तत्राद्वैतस्य शून्यस्य चाग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् उत्तरपक्षः ।  
॥ तदास्यात् । बहिरर्थमाश्रितवतः प्रमाणविरुद्धः प्रकृतं तिरोद्धातीयवद्द्वयं प्रमाणे-  
तरम्यवस्थाऽभ्युपगन्तव्या ।

§ २६. तत्र प्रमाणं किम् अविसंवादित्वेन, किं वाऽबाधितत्वेन, किं वा

“प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारश्च तत्कृतः ।

प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम् ॥” [ न्याय० क० २ ]

॥ इति विचारः प्रवर्तते । तत्र केषां प्रसिद्धानि प्रमाणानि ? किं शास्त्रविदाम्, उतश्रुत-  
तदितरेषामिति ? । तत्रेतरे जनाः प्रमाणस्य नामापि न जानन्ति किं तेषां प्रसिद्धम् ? । शास्त्रविदामपि संख्यादिविप्रतिपत्तिदर्शनात् न प्रसिद्धानि । अतस्तेषां तन्निराकरणाय प्रमाण-  
प्रणयनमुपपत्तिमिति ।

§ २७. तत्राविसंवादित्वं द्वितीयप्रमाणापेक्षमिति सकलं प्रागुक्तं दूषणजालमापतति ।  
॥ अपि च—शाकटिका अपि शास्त्रैस्तुल्याक्षणविधानाः । तथा, कतिपयपदपरिमिता प्रवृत्ति-  
ज्ञानिश्चयादपि भवन्ती कां क्षतिं करिष्यतीति न दृष्टार्थं तल्लक्षणप्रणयनम्, किन्तु दृष्टे  
व्यामोहः अदृष्टमपि प्रसर्पेदिति शास्त्रम् । तत्राविसंवादित्वलक्षणमदृष्टाव्यापीति नोपपत्तिमत् ।

१. ‘नम् उत मि’ मु० । २. ‘कालं यथे’ मु० । ३. ‘यस्य बाध’ मु० क० । ४. समानकालं वा  
यदि अ० क० मु० । ५. किं वस्तुं व० । ६. ‘आपयति’ मु० । ७. जानते व० । ८. ‘आपेक्षमि’  
व० । ९. दृष्टार्थं लक्षणं क० मु० ।

§ २८. अबाधितत्वं पुनः सकलोपाधिविस्तृतमिदोपपद्यमानमदृष्टमपि व्याप्नोतीति युक्तम् ।  
 अबाधित- तथाहि—यथा नात्रात्मासत्तातिद्वाराद्युभयमणालिको विषयदोषः, नापि चक्षुःशक्ति-  
 र्ण प्रमा- कषः आधारादोषः, न तिमिराद्युपपन्नोऽक्षानाम्, नापि मनसो मित्राद्युपपन्न-  
 पञ्चदश- मिति कारणगुणपर्यालोचनादबाधितत्वं निश्चीयते; तथा 'नाऽयं शास्त्रा रागद्वेषो-  
 पपन्नः, नाप्यज्ञः' इति आत्मगुणपर्यालोचनात् क्षुद्रज्ञानस्याप्यबाधितत्वं निश्चित्यासंबादेऽपि ।  
 प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्त इति युक्तम् ।

§ २९. कारणगुणनिश्चयश्च कश्चिदबाधितत्वेन । न चेतरेतराभयरूपम् व्यक्तिभेदान्,  
 अनादित्वाच्च संसारस्य । यदप्यभ्यधायि—'इन्द्रियाणामतीन्द्रियत्वात् तैर्गुणानां कथं प्रत्यक्षा-  
 दिना ग्रहणम्' इति तदेतद् 'दोषेणपि समानम् । तेऽपि हि न प्रत्यक्षादिना प्रतीयन्ते ।  
 अथ सिध्वात्वात् तन्निश्चयः । सन्यक्त्वाद् गुणानां किं न भवति ? ।

§ ३०. अथ यथा षट्सोद्काहरणलक्षणा शक्तिः सृष्टिण्डात् न भवति तच्छक्तिकल-  
 त्वात् तस्य; तथा अर्थतथात्वप्रकाशनशक्तिः प्रामाण्यरूपा कारणेषु असती, भवन्ती उत्पत्तौ  
 स्वत इत्युच्यते । किमयथार्थप्रकाशनशक्तिः कारणेषु अस्ति न वा ? । न इति चेत्, कथम-  
 प्रामाण्यं परतः ।

§ ३१. अपि च—सा शक्तिः शक्तिमतो भिन्ना, किं वाऽभिन्ना, अथ भिन्नाभिन्ना, ॥  
 शक्ति- अत्रोभयनिषेधः ? । यद्यभिन्ना अप्रामाण्यशक्तिरपि शक्तिमत्स्वरूपवत् न दोषेभ्यः  
 कारः स्यात् । अथ भिन्ना तर्हि प्रामाण्यजननशक्तिरपि कारणेभ्यो भिन्ना । न चात्र  
 व्यवस्थितविभाषा । अथ सा नास्ति कारणेषु; अस्मादुत्पद्यमानं प्रामाण्यं सर्वस्मादुत्पद्येत ।  
 अहेतुकं वा स्यात् । ततश्च सर्वत्र स्यात् । न वा कश्चिदिति ।

§ ३२. किञ्च—सा शक्तिमति संबन्धी किं वाऽसंबन्धा ? । यद्यसंबन्धा, न तस्य सा । अथ ॥  
 संबन्धा; तदा कार्यकारणभावाभापरो व्यतिरिक्तस्य संबन्धः । तत्र यदि शक्तिमता शक्ति-  
 र्जन्म्यते इति पक्षः; तदा किं तेन शक्तेन जन्यते, किंवाऽशक्तेन ? । यद्यशक्तेन तदाऽन्येनापि  
 जन्येत । अथ शक्तेन तदा तत्रापि यदि सा शक्तिरभिन्ना तदा पूर्वापि तथैवास्तु । किं  
 मेदकल्पनया ? । अथ भिन्ना तदा तदेव वाच्यम्, तदेवोत्तरमित्यनवस्था । संबन्धान्तरं च  
 निषेत्स्वमानमात्र इत्यास्ताम् । व्यतिरेकाव्यतिरेके च प्रामाण्यं स्वतः परतश्च स्यात् । उभय- ॥  
 निषेधस्तु बहिस्तुनो नोपपद्यत इति । न हि तदेव तदानीमेव विधीयते १३ निषिध्यते चेति  
 युक्तम् । तन्नोत्पत्तौ स्वतः प्रामाण्यम् । स्वकार्यपरिच्छेदे तु प्रवर्तमानमप्रामाण्यमपि न  
 किञ्चित् परमपेक्षत इति स्वतः स्यात् । असंबन्धेनवादिनस्तु ज्ञानस्वरूपमपि न स्वतः सिद्धं  
 कुत एव तद्वत् प्रामाण्यमिति ? ।

§ ३३. यद्योक्तम्—'किं बाध्यम्, किं बाधकम्, कश्च तदभावः' इति तत्रासत्प्रकाशन- ॥  
 सामर्थ्यं सिध्वात्वं बाध्यम् । तथाहि—ज्ञानस्य सर्वप्रकाशनशक्तिरिव असर्वप्रकाशनशक्ति-

१. 'तदं भा' क० मु० । २. तथाहि नात्रा० अ० । ३. 'त्वात् गुणानां मु० । ४. दोषेऽपि अ० ।  
 ५. अथ षट्' मु० क० । ६. अस्ति नेति चेत् अ० अ० क० । ७. 'दुत्पद्यते अ० । ८. संबन्धाऽसंबन्धा  
 वा । यत्' मु० । ९. तदपि यदि मु० क० । १०. मेदे अ० अ० । ११. 'वस्तु नोपप' अ० ।  
 १२. नोपपद्येत क० । १३. 'पते निषि' क० मु० । १४. 'प्रामाण्यमपि अ० क० मु० ।

रप्यसि । किमासन्तं सर्वमेव प्रकाशयतीति चेत् । न, नियतविषया हि भ्रान्तयो भवन्ति ।  
असदपि कश्चित् किञ्चित् प्रकाशयतीति । तत्र कश्चित् बाधार्त् सादृश्यात् भ्रमहेतोः, कश्चित्  
विविधानुभवाहितवासनाप्रबोधविपर्ययादिति ।

§ ३४. तथा, बाधकमपि समानजातीयं विजातीयं वा विज्ञानं समानकालं भिन्नकालं वा  
१ एकसन्तानवर्ति भिन्नसन्तानवर्ति वा, एकविषयं सन्मन्यते । ननु यदेव बाध्यविज्ञाने वस्तु  
प्रतिभातं तदेव यथैककालं बाधकेऽपि प्रतिभाति तत् कथं तद्बाधकम्, संवाकमेव स्यादित्यु-  
क्तम् । नाक्षतं प्रतिभाति किन्तु यदेव हि मिथ्याज्ञानेन असदाकारारोपेण वस्तु प्रतिपन्नं  
तदेव बाधकेन तदाकारनिरासेन अन्यथा प्रतीयत इति ।

§ ३५. अथैकं वस्तु उभयविज्ञानगोचरवार्ति अन्यथाप्रतिभासे सति नास्तीत्युच्यते  
१० क्षणिकत्वाद् वा । तर्हि, यतो विज्ञानप्रतिभासभेदवद् अभेदप्रतिभासोऽप्यात्मनोऽसि । तत्राहि—  
'तदेवेदं वस्तु मम मरीचिकारूपेणेदानीं चकासि, यत् पूर्वं जडरूपेण प्रतिभातमासीत्'  
इति । यतश्च क्षणिकत्वनिराकरणप्रस्तावे प्रतिपादयिष्यामः ।

§ ३६. तथा, तुच्छरूपमभावमनभ्युपगच्छतां सदसदात्मकवस्तुवाचिनां न तत्पक्षक्षेपः  
क्षतिमावहतीति । ततो वस्तुप्राहिप्रमाणं विपर्यस्तप्रमाणान्तरशून्यमात्मानं वेदयमानं स्वप्राज्ञ-  
१५ मारोपिताऽसदाकारविविक्तं च प्रतिपद्यमानं ज्ञानं<sup>१</sup> ज्ञेयाभावव्यवहारं प्रवर्तयतीति कथं न  
बाधकाभावनिरास्य इति ? । तस्मात् स्थितम् 'अबाधितं प्रमाणम्' इति । ततः साधूक्तम्—  
बाधविवाजितमिति ।

§ ३७. सूक्तमिति प्रमाणोपपन्नम् । लक्ष्यते व्याप्यते प्रामाण्यं तादात्म्यादनेन इति  
लक्षणमिति । [ ५ ]

२१ § १. अत एव तद्व्याप्ते भावस्तदभावे र्थाभाव इति दर्शयितुमाह—वेदेश्वरादय—इति  
वेदेश्वरादयो नैव प्रमाणं बाधसंभवात् ।  
प्रमाणं बाधवैकल्यादहंसास्वार्थवेदनः ॥ ६ ॥

§ २. वेदोऽथ ईश्वरश्च आदिग्रहणात् प्रधानान्तरज्ञानपरिग्रहः । ते न प्रमाणम्, व्यापका-  
वेदेश्वरा- भावात् । तदभावाच्च विरोधिसन्निधेः । तदेवाह—बाधसंभवादिति । बाधनम्  
२० चीनां प्रा- बाधः । तस्य संभवात् । बाधाबाधयोः परस्परविरोधात् । निमित्तेन निमित्तिर्न  
माप्यस्य निषेधः । दर्शयति—प्रमाणम् इत्यादि । सकादिभ्यः पूजामर्हति इति, यद्वा रागादीन् अरीन्  
हन्तीति अहं । तत्त्वम् जीवाद्यः सप्तपदार्थाः । तान् वेदयतीति "मन्यादिभ्यो युः" ।  
तत्त्ववेदनेन हि हेतोः सिद्धिं दर्शयति । यत एव तत्त्ववेदनोऽत एव तत्त्ववेदोऽर्थारोपनिरास  
इति । यतश्च सर्वज्ञसिद्धौ दर्शयिष्यते । [ ६ ]

१. 'मि' । यदपि मु० । २. बाधसाहं क० ब० मु० । ३. समानजातीयं वा समानकालं मु० ।  
समानजातीयं विजातीयं वा समानं क० । ४. एकसन्तानवर्ति वा एकं मु० । ५. 'मन्यते' क० मु० ।  
६. बाधे नि क० मु० । ७. यद्यपि कलं बाधं ब० । ८. न तदेव प्रति ब० । ९. कश्चिदाह मु० ।  
१०. तत्र मु० । ११. प्रमाणं प्रमाणान्तरं मु० । १२. ज्ञानज्ञेयां अ० ब० । १३. अत एव तद्व्यापः  
तद्व्यापे तदभावे वाऽभावः इति मु० । १४. 'भावोऽभाव इति अ० ब० । १५. वेदव ब० क० ।  
१६. 'हेयोऽतस्वार्ते' मु० क० ।

§ १. चोदनायास्तावत् अपौरुषेयत्वनिबन्धनं प्राप्ताभ्यं समूलमुन्मूलयितुमाह—वचस इत्यादि ।

वचसोऽपौरुषेयत्वं नाऽविशेषात् पटादिवत् ।

§ २. अनेन हि प्रयोगार्थो दर्शितः । प्रयोगस्तु—यद्येनासंभवद्विशेषस्वरूपम्, तत् तेन वचसोऽपौरुषेयत्वसमानहेतुकम् । यथाऽसंभवद्विशेषः पटः पटान्तरेण । असंभवद्विशेषः—  
विशेषः । चापि चापौरुषेयत्वेनामिमितानि वाक्यानि पौरुषेयैर्वाक्यैरिति । न तावद्वचस-  
सिद्धो हेतुः, यतः स विशेषो दृश्यो वा स्यात्, अदृश्यो वा ? दर्शनाभावात् न दृश्यः ।  
दुर्भणत्वादिरिदं इति चेत्, न, जेनेन्द्रियितेत्यादिष्वपि पौरुषेयेषु तस्य भावात् । विधा-  
नैपनयनाविको विशेष इति चेत्, न, तस्य साधरेण्यपि मन्त्रेषु भावात् ।

§ ३. न च सत्यतपःप्रभाववतां संकेतमात्रमपास्य मन्त्रत्वमुपलभ्यते । ते हि कांचन  
देवतां समाराध्य 'य इमामस्मद्प्रथितां वर्णपद्ममरचनामभ्येष्यते तस्मै त्वयेदं फलं दात-  
व्यम्' इति संकेतयन्ति । अन्यथा नित्यान्मन्त्रात् सर्वदा फलदानप्रवृत्तिः स्यात् । यतो हि  
भावसंकेः फलोत्पत्तिः, साऽविकलेति न फलवैकल्यं कदापिदपि स्यात् । न हि कारणसाफल्ये  
कार्यवैकल्यं मुक्तिमत् तस्याऽकारणत्वप्रसंगात् । अथ न केवलाभिलेखमन्त्रादिविकलसिद्धिः ।  
किं तर्हि ? विधानादिसहकारिकारणसम्यपेक्षारिति ।

§ ४. ननु यदि मन्त्राः विधानादभ्यस्यते वा 'कंचित् स्वभावात्सिद्ध्यभावाद्येषु तदापेक्षस्तां  
सहकारिकारणम् । न चासाध्यन्ति । तथाहि—स सहकारिणा विधीयमानो विशेषबलेभ्यो  
व्यतिरेको वाऽव्यतिरेको वा स्यात् ? व्यतिरेके ते स्वरूपेण निरतिशया एव विधानादि-  
सहकारिसमिधानेऽपि पूर्वकालवत् न फलं दद्युः । अव्यतिरेके तेषामनित्यताप्रसङ्गे । तथा  
च पौरुषेयत्वमेव स्यात् ।

§ ५. किञ्च—यदि भावसकल्यैर्वाऽसंस्कार्या मन्त्राः फलं प्रयच्छन्ति तदा यद्यमानस्तेषां  
मन्त्राऽपि सिद्धिविधाविनो भवेयुः । तर्हि अन्यं प्रति अविचलितरूपो भावोऽतद्भावा-  
मन्त्रः, तेन तस्य कल्पयित् स्वभावस्थानपाकरणात् अन्येन वा कल्पितस्वभावस्थानादुत्कर्ष-  
यात् । तत्रापौरुषेया मन्त्राः ।

§ ६. अवैदिकानां च जैनाविमज्जकल्पानां पुरुषप्रणीतानां दर्शनात् तत्राप्यपौरुषेयत्वं  
कल्पनायां नापौरुषेयत्वमवितर्कं स्यात् । तथाहि—जैनेतरयोर्मज्जकल्पयोर्द्विसामैश्वर्यनिरूपणाद-  
र्शनादयोऽनभ्युदयहेतवोऽभ्यथा च वर्ण्यन्ते । तत् कथमेकत्र विद्वत्सामिधासिद्धं सर्वं  
स्यात् ? जैनानाममन्त्रत्वे तदभ्यग्रापि कोक्षपानं करणीयं स्यात् । विषकर्मादिकृतोऽपि हि  
जैना र्थमन्त्रास्तदभ्यग्रापि मन्त्रत्वं न स्यात् ।

१. 'वचसमि' अ० ४० । २. 'जेनेन्द्रियिते' ४० । जेनेन्द्रियिते मु० । जेनेन्द्रियिते क० । ३. विधा-  
नव' मु० क० । ४. 'मात्र तयाऽस्य मन्त्र' मु० । ५. 'नित्यादिव' अ० । ६. कंचित् क० मु० ।  
७. 'रिचोऽव्यति' अ० । ८. 'कल्यैव संस्कार' मु० । ९. 'यस्यमि' अ० ४० । १०. तथा जेने' अ० ४० ।  
११. जैना मन्त्रा' क० मु० ।

§ ७. मुद्रामण्डलव्यानैरप्यनभरैः कर्माणि विचार्येपनयनादीनि क्रियन्ते । नै च साम्यपौ-  
रुषेयाणि नित्यानि वा युज्यन्ते । तेषां पुरुषक्रियासंभवे अक्षररचनायां कः प्रतिपातः पुरु-  
षाणां येन मन्त्रत्वं विशेषो भवेत् ? । अथ यदि सत्यतपःप्रभाववत्पुरुषप्रभवो मन्त्रकस्यो  
कथं परस्परविरोधिनौ ? । न वै सर्वत्र तौ सत्यतपःप्रभाववत्पुरुषप्रभवौ किन्तु भुवदेवता-  
प्रतिष्ठाकक्षणेऽपि हिंसाधनुस्त्रानसाध्यकलः कश्चिदिति न पौरुषेयत्वे विरोधः ।

§ ८. अथ वेदेतरयोस्तत्त्वकक्षणेऽस्त्येव विशेषः । सत्यम्, अस्ति, न केवलं तयोरेव ।  
किं तर्हि ? , डिण्डिकपुराणेतरशोरपि । न स प्रक्रियामेददीपनो नाम भेदः पुरुषप्रकृतिं  
बाधतेऽन्यत्रापि प्रसंगात् । यदि च तार्हीणीं रचनां पुरुषाः कर्तुं न शक्नुयुः, कृतां वाऽकृत-  
संकेतो विवेचयेत्—‘इयं पुरुषकृता, नेयम्’ इति तदा व्यक्तमपौरुषेयो वेदः स्यात् । तत्र  
१० दृश्यो विशेषः ।

§ ९. नापि द्वितीयः, अनुपलभ्यमानत्वं विशेषस्याविशेषकत्वात् । नागृहीतं विशेषणं  
विशेष्यं विशेषयति । अथ यथा विचं नागरत्वरूपादनुपलभ्यमानकृत्तिकमपि “विचिष्यते  
तथा लौकिक-वैदिकयोः स्वरूपभेदानुपलक्षणेऽपि” महाम् विशेषः । ननु तत्र विचस्वरूपात् न  
काचिद् अपरा कश्चिदस्ति वा भेदिका स्यात् । भवतु वा तत्र व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्ता वा  
११ कृतिः, सा कार्यदर्शनाद् व्यवस्थाप्यते । अत्र तु न किञ्चित् कार्यमस्ति यदर्थमाद् भेदव्य-  
वस्था स्यात् । अथात्रापि प्रमेये प्रमाणभूतप्रतीतिर्कार्यजननाद् भेदव्यवस्था । नै, सति  
प्रामाण्यलक्षणे “विशेषेऽपौरुषेयत्वम् सत्यपौरुषेयत्वे विशेष इतीतरेतराभयत्वम् ।

§ १०. किञ्च—किञ्च गिरां मिथ्यात्वहेतूनां दोषाणां पुरुषाभयत्वात् तदभावे तन्निबन्धन-  
स्वामाप्राम्यस्य निवृत्तेः प्रामाण्यं वेदे भविष्यतीति परस्माद्वयः । तस्यैव गिरां सत्यत्वहेतूनां  
१२ गुणानां पुरुषाभयत्वात् तदभावे तन्निबन्धनस्य प्रामाण्यस्य निवृत्तौ औनत्यवयमेव वेदस्य  
स्यात्, विपर्ययो वा । तथाहि—व्योत्स्नादयो अपौरुषेया अपि राज्ञो पीते वक्ष्यादौ रत्नज्ञान-  
हेतुतां प्रतिपद्यमाना मिथ्याज्ञानहेतवो दृश्यन्ते । तस्माऽपौरुषेयत्वात् प्रामाण्यम् ।

§ ११. किञ्च—अपौरुषेयत्वं प्रत्यक्षेण वा व्यवस्थाप्येत अनुमानेन वा ? । न तावत्  
प्रत्यक्षेण तस्याक्षानुसारितया प्रवृत्तेः । अहं च वर्तमानकालमादिनि वस्तुनि प्रत्यासीदति ।  
१३ अतस्तदनुसारिणी धीस्तावत्कालस्यैव अर्थस्य व्यवस्थापिका न औनादिकालस्य । तावत्कालस्यै-  
पौरुषेयत्वव्यवस्थापने कादम्बर्यादेरपि अपौरुषेयता दुर्निवारा स्यात् । अनादिकालौलिङ्गितस्य  
वेदस्यापौरुषेयत्वमभ्यक्षमाहम् अभ्युपगच्छतो मीमांसाकस्यैव सर्वज्ञाभ्युपगमो विरुद्ध एवै  
स्यात् । तन्नाभ्यक्षमाहाऽपौरुषेयता ।

१. मुद्रामण्डलं मु० । २. विचार्येपनं मु० क० । ३. नैव तानि मु० । ४. रचनायाः मु० । ५. नैव  
न किं मु० क० । ६. न स किमां मु० । ७. पुरुषकृतिं मु० क० । ८. तार्ही रचनाः क० ।  
९. कृतां वा कृतं अ० व० । १०. ‘मानस्य विशेषकं’ क० मु० । ११. विचिष्यते मु० क० ।  
१२. ‘कथं महाम्’ मु० क० । १३. ननु विचं मु० क० । १४. अत्र किञ्चित् क० मु० । १५. अथा-  
त्रापि प्रामाण्यकं मु० । १६. प्रमाणभूतप्रतीतिभमनात् क० । १७. ‘व्यवस्थापनम्’ अ० मु० ।  
व्यवस्थापना व० । १८. ननु सति क० । १९. ‘लक्षणविशेषं’ व० । २०. पराशयः व० । २१. तर्हि गिरां  
मु० । २२. अनर्थकमेव मु० । २३. न अतीतानादिकालं मु० क० । २४. तावत्कालस्यापौरुषेयता  
मु० क० । २५. ‘कस्यचित्’ मु० क० । २६. ‘कस्य सर्वज्ञा’ मु० । २७. विरुद्धवः स्यात् मु० ।

§ १२. नाप्यनुमानाभावात् । यतोऽनुमानं लिङ्गवत्तेनोदयमासावस्यति । न चापौरुषेयत्व-  
प्रतिबन्धं किंचनपि लिङ्गमस्ति यद्वत्तेनानुमानमुदयमासावयेत् । कर्तुरस्मरणं लिङ्गमिति चेत् ।  
ननु तदस्मरणं बाधिनो लिङ्गत्वेनोपाधीर्यते, सर्वस्य वा ? । न तावद् बाधिनः, तस्य सकर्तृवेऽपि  
सम्प्राप्तेनानैकान्तिकत्वात् । नापि सर्वस्य, तस्मात्सिद्धत्वात् । तथाहि—स्मरणत्वेन बौद्धाः  
वेदस्य कर्तृनृकादीन्, काणादाश्च हिरण्यगर्भम् । तत्र तदस्मरणं हेतुः ।

§ १३. अथ छिन्नमूलं वेदे<sup>१</sup> कर्तुः स्मरणम् । तथाहि—अनुभवो मूलं स्मरणस्य । न च  
वेदे<sup>२</sup> कर्तुरनुभवः । ननु केन कर्तुरननुभवः ? किं प्रत्यक्षेण, उतानुमानेन ? । तत्र यदि प्रत्य-  
क्षेण कर्तुरननुभवात् वेदे छिन्नमूलं स्मरणम्, तदा आगमान्तरेऽपि प्रत्यक्षेण बाधि-प्रतिबाधिर्या  
कर्तुरननुभावात् छिन्नमूलं स्मरणं स्यात् इति तदप्यपौरुषेयं प्रसज्यते । अत्रानुमानेन,  
तदाऽनुमानस्य वेदकर्तृसाधकस्य प्रतिपादितत्वात् कथं छिन्नमूलं स्मरणम् ? । अत्रानुमान-  
मनेनानुमानेन बाध्यते; तदेतरेतराभवत्वम् । तथाहि—तद्वाच्यतामस्य प्रामाण्यम्, अत्र च  
प्रामाण्ये तद्वाचेति ।

§ १४. अथ आगमान्तरे प्रयोजनाभावात् कर्तृवपुलभ्ये यत्नं बाधे न कृतवान् तेनानुप-  
लम्भः । तत्र, कृतपक्षेनापि केषांचित् वटे वटे वैभवणादीनां कर्तुरनुपलम्भत्वात् । अथ वेदिकेषु  
कर्मसु प्रचुरव्ययेषु वट्टा(हा)यासेषु च प्रवर्तमानः यत्नेन कर्तृवपुलभ्यं कृतवान्, न चोपल-  
म्भवान्, ततो ज्ञायते नास्ति कर्ता । तर्हि, अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु वैभवकालस्य भावविप्रकटेषु  
यत्नवतोऽप्यनुपलम्भो भौसत्तां साधयति इति नास्मर्यमाणकर्तृकत्वमनुमानम् ।

§ १५. नाप्यर्थापत्तिरभावप्रमाणं वा तयोर्निराकरिष्यमाणत्वात् । नापि यद्देवाभ्यसनं  
तदभ्यसनपूर्वकं वेदाभ्यसनत्वात्, इदानींतनाभ्यसनवत् इत्यव्यभिचारी साधनम् । अभ्यसा  
'यः पथिकमिः स स्वाकापूर्वको नारणीनिर्मथनपूर्वकः पथिकमिस्त्वात् इदानींतनपथिकमि-  
वत्' इत्यादेरपि साधनता स्यात् । एवमन्यदपि यदपौरुषेयतासाधनं तद्विद्यमानप्रतिबन्धं  
सर्वमनेकान्तिकमेव । तत्रानुमानावसेयाप्यपौरुषेयतेति ।

§ १६. किञ्च—अयमपौरुषेयः किं संबन्धः, किं वा वाक्यादीति ? । तत्र गिरां "संबन्धं  
कर्मार्थ-  
कर्मो मित्य  
इति पूर्व-  
पक्षः ।

"समयः प्रतिमर्त्यं वा प्रत्युच्चारणमेव वा ।

क्रियते जगदादी वा सकृदेकेन केनचित् ॥" [श्लोकं संवत् ११.]

अयं हि पुरुषेण संबन्धः क्रियमाणः प्रतिमर्त्यं किमेकः क्रियते, किं वाऽनेक इति ? ।  
एकदे कृतको न स्यात्, पूर्वमेव सिद्धत्वात् । अनेकैरेऽपि किं सर्वं वाचकाः, किं वा तेषां  
मध्ये एकः कश्चिदिति ? । यद्येकः, तदा तदभावे शेषसंबन्धसङ्गादेऽपि प्रतीतिर्न स्यात् ।

१. 'वीथेय' क० मु० । २. वेदकर्तुः अ० व० मु० । वेदे कर्तुः अस्मरं मु० । ३. वेदकर्तुः अ०  
व० । ४. कर्तुरनुभवः क० मु० । ५. 'नृकर्म' मु० । ६. 'रत्नं' स्यादिति । अथ मु० । ७. 'अनेन  
बाध्यते' क० मु० । ८. तत्र मु० । ९. 'कर्मोऽपत्ता' व० । 'कर्मो' नास्ति साधयतीति मु० ।  
१०. 'कर्तृजन' क० मु० । ११. किंवावमपौरुषेयवादात् मु० क० । १२. गिरां व० ।  
१३. अनेकैरेऽपि मु० क० ।



कर्त्तव्ये वाचकाः किं समुदिताः, अथान्यथा ? । तत्र सर्वसंबन्धानां समुदायाभावात् न विवृत्तिरिति चेन्न विवृत्तिरप्रतीयेत । अथ किमनेन ? । यस्य यः संबन्धः स तेन प्रतिपत्स्यत इति ।

§ १७. अस्तु नामैवम्, यदा पुनर्बहुभिः पुंभिरेकस्य समानार्था बहवः संबन्धाः क्रियन्ते, तदा किं प्रावृत्तिकन्यायेन, किं विकल्पेन, किं वा समुच्चयेन प्रतिपादयेयुः ? । तत्र प्रावृत्तिकमो यदा पशूनां पशुत्वा स्थितानामालम्बनार्थं शलाकया चक्षुरेखनं क्रियते, तदा अस्य प्रथमं नयनाखनं कृतं तस्यैव वच इति । तेन न्यायेन यः प्रथमः संबन्धः कृतस्तेनैव कार्यप्रतिपत्तिरिति । तर्हि शेषाणामानर्थक्यमिति । अथ विकल्पेन । तदुक्तम्—

“एकार्थानां विकल्पश्चेत् ।” [ श्लोक० संबन्धा० १७ ]

इति तदपि नास्ति । यतः तत्र नाम विकल्पो भवति यत्रैकमुपावाय अपरोपादाने वक्तुं शक्यम् । इह तु प्रथमेनैव प्रतिपन्नत्वात् किमन्येन ? , व्यवहारस्याप्रतीतेः । समुच्चयोऽपि शेषास्ति । तदुक्तम्—

“समुच्चयोऽपि नैवेवाम् ।” [ श्लोक० संबन्धा० १७ ]

इति तदेवमाद्यस्यापि पौढवेयसंबन्धस्य पाश्चात्यसंबन्धवत् नैर्यप्रतिपादकत्वमिति ।

§ १८. किञ्च—पुरुषः किं प्रतिपन्नार्थं पूर्वसंबन्धं करोति, किं वाऽप्रतिपन्नार्थमिति ? । पूर्वस्य कृतत्वात् किं तस्य करणेन ? । अपूर्वस्य करणे नार्यप्रतीतिः स्यात् । भोतुस्तदेव भविष्यतीति चेत्, कथं वक्ताऽप्रतिपन्नार्थं करोति । तस्मात् पौढवेयः संबन्धः । किन्तु अर्थप्रतिपत्त्यन्यथातुल्यपक्ष्या शब्दस्य बाधिका शक्तिः, अर्थस्य तद्वाच्यशक्तिः । अयमेवासौ संबन्ध इति नित्यत्वेऽपि यस्यैव प्रतीतस्तस्यैव प्रतीतिं जनयति नान्यत्वेति ।

§ १९. तदेतदविवक्षितपरमार्थस्य परस्य प्रकृतम् । तथैहि—न संबन्धः पुरुषेण कश्चित् क्रियते किन्तु संकेतमात्रावहितिकोचवत् शब्दापर्यप्रतीतिरिति । तत्र कश्चित् नित्यः संबन्धः ।

§ २०. शब्दस्य निर्लत्वात् तस्यापि नित्यत्वमिति चेत्, न च सर्ववोपलब्धिः । तदुक्तम्—  
कल्पनित्यत्वं नित्यत्वव्याप्तिरपि शब्दस्याकाशस्यैव प्रयत्नानन्तरमुपलब्धिदपपद्यते ।  
तस्मात्तदपि तथाहि—रूपादौ पूर्वमनुपलब्धस्य प्रयत्नात्काशस्योपलब्धिर्दृष्टा, न च तद्वानित्यत्वम्, नापि व्याप्तिरपि सर्ववोपलम्भः । तथा, ‘शब्दं कुट’ इति व्यपदेशाः ‘आकाशं कुट’ इत्यादि व्यपदेशवत् नानित्यत्वं साधयन्ति । तथा, स्तिमितवायुस्त्वमितस्य शब्दस्य कौष्ठेन वायुना तदपसारणे न कात्कर्त्येनोपलब्धिः स्वल्पमात्रस्यैवोपलब्धेः । नियतदेशा हि वायवीया ध्वनयः प्रतिध्वने निज्जा यथा शब्दकर्तुः, तेन न सर्वत्र सर्वत्रानुपलब्धिर्भवति । अत एव यस्यां दिशि न वायोर्गतिर्न तत्र शब्दः श्रूयत इति । तथा, एकस्यैव मुखात् अलङ्कृत्यार्थवर्णनार्थमेवमेवात्, यथा मेवाः तथा ध्वनिधर्मा अल्पमहत्वाद्यः साधिव्यात् शब्दे उपलब्ध्यन्ते । तेन न प्रत्यर्थमेवमेवेति त्वादित्यत्वमिति । यथा हि शब्दः स्वल्पेन महता वा शब्देन प्रतिपाद्यमानो न भिद्यते, तथा शब्दोऽपि महता ध्वनिनाऽल्पेन वा अल्पमार्गोऽर्थप्रतिपादनलक्षणाव्यवहारिकारो न भिद्यत इति ।

१. प्रतीयेते व० क० मु० । २. आत्मना० अ० । ३. तदुक्तम् क० । ४. किमनेन अ० व० । ५. तर्हि प्रतिपा० क० मु० । ६. यस्य प्रकृति० क० मु० । ७. तथापि मु० । ८. न निजः वचनः क० मु० । ९. कोत्तेन मु० क० । १०. ‘आकाशमिर्मेवात् मु० । ११. प्रत्यर्थमेवेति० मु० । प्रत्यर्थमेवेति० क० ।

§ २१. अथ वाच्यवीथानां ध्वनीनां भोत्राऽप्राज्ञत्वात् कथं तद्वर्माणामस्यमहत्वादीनां भोत्रेणोपलम्भ इति । न, शब्दस्यैकत्वेनोपलब्धेर्न तद्वर्माः कल्पन्ते । तथा हि - स एव गकारो महानस्यो वा । न तु सोऽन्योऽयमन्य इति प्रतीतिः । तस्माद् ध्वनिवर्माः साक्षिण्यात् तथा भासन्त इति ।

§ २२. अथ भिन्नदेशस्थितैः पुरुषैर्भेदेनोपलब्धेर्नैकः शब्द इति । तदप्यादित्येनानैकान्ति-  
कम् । तथा हि - "भिन्नदेशस्थिताः पुरुषा एकमप्यादित्यं केचित् पश्चिमायां दिशि उप-  
लभन्ते, अग्रे पूर्वस्यामिति ।"

§ २३. तदप्यसंगतम् । तथा हि - व्यस्यकेन किमावरणविनाशः क्रियते, अथ शब्द-  
व्यमित्य- संस्कारः, किं वा भोत्रसंस्कारः, उभयसंस्कारो वा । तत्र आवरणं यदि नित्यं  
निवेद्यः । न तस्य विनाशः । अथानित्यं तदा यदि नाशितं तदा नै मूर्तः पुनर्जीवतीति ॥  
सर्वदा शब्द उपलभ्येत । अथ क्षणिकं संतानेनोत्पद्यते तदा सर्वदा सान्तरमुपलभ्येत  
प्रत्यक्षविर्गमेऽपि । शब्दस्य मीमांसकैर्व्यापिनो निरवयवस्योपगमात् तरसंस्कारे सर्वत्र सर्व-  
उपलम्भः स्यात् । भोत्रं संस्कृतं सर्वाद् शब्दानुपलभेत । न हि चक्षुरुन्मीलितं किञ्चिदेवो-  
पलभते योग्यदेशस्य नान्यमिति दृष्टम् ।

§ २४. अपि च - तर्किमाकाशम्, अथान्यदेव किञ्चित् । आकाशस्यैकरत्नात् सर्वेषां सर्वत्र ॥  
सर्वदोषलब्धिः स्यात् । अथास्माकं मीमांसकानां प्रतिपुरुषं भिन्नं भोत्रं तेन नायं प्रसंगः ।  
न, सर्वेषामात्मनां सर्वव्यापित्वादेकभोत्रसंस्कारे सर्वे आत्मान उपलभेरन्निति तत्प्राप्त्यकारि-  
त्वेऽपि । अथ संबन्धेऽपि यत्सैवाट्टेनोपभोगाय संस्कृतं भोत्रं स एवोपलभते नान्यस्तद्वे-  
त्तोऽपि । यथा नगरस्थितोऽपि तदधिकाराद् भ्रंशितो न तद्भोगं लभत इति । नैतदस्ति ।  
तददृष्टमपि सर्वसंबन्धि किं न भवति । सर्वैरकरणादिति चेत् । सर्वे किं न कुर्वन्ति । ॥  
भेदोभिसंबन्धेरभावादिति चेत् । ननु सर्वव्यापित्वेऽविचलितरूपत्वे नैतद् मुख्यते एकस्य मनो-  
मिसन्धिर्नान्यस्येति । तस्मात् यत्किञ्चिदेवमिति । एतेनोभयसंस्कारोऽपि निरस्त इति ।

§ २५. नित्यपरमाण्वारब्धस्य घटस्येव नित्यवर्णारब्धस्य क्रमस्यानित्यत्वे वैर्णनित्यत्वं  
कोपयोगि । अथ वर्णानां वाचकत्वं न क्रमस्य । न हि घटकमो वाचको दृष्टः । नैतदस्ति ।  
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि क्रमस्यैव वाचकत्वं न वर्णानाम्, अन्यथा व्यस्तक्रमणामपि ॥  
तदर्थप्रतिपत्तिः स्यात् । क्रमविशिष्टानां वाचकत्वमिति चेत् ; न, समर्थविशेषणत्वात् । तस्य  
च पौरुषेयत्वात् ।

§ २६. यच्च क्रमस्य पटङ्कुटीदृष्टान्तेन नित्यत्वं व्यावर्णितं तत् सदा जलसंगाज्जाड्यजै-  
न्मितम् । तथा हि - सैक्षा पटङ्कुटी नष्टां कुर्वन्नामेव करोति न पुनरपूर्वमिति । तद्वद्वर्णक-  
मोऽपि नापूर्वः क्रियत इति । यतो दृष्टान्तेऽपि न तस्या नित्यत्वं तत् कथं दृष्टान्तात् ॥

१. 'वानां भोत्रा' मु० । २. 'लब्धिर्न' मु० । ३. कल्पन्ते क० । ४. धर्मः मु० । ५. तदा  
मृतः पुनर्जीव' मु० क० । ६. मृतः जीवती' अ० । ७. क्षणिकत्वं मु० क० । ८. 'नोपपद्यते  
मु० क० । ९. विरामेऽपि मु० । १०. 'काशमन्यद्वा यदेव किं व० । ११. सर्वोपल' मु० क० ।  
१२. मनोऽभिसंबन्धो नान्य' मु० । १३. वर्णनित्य' अ० । १४. पटङ्कुटी' व० क० मु० । १५. वाच्य-  
क्षमितम् मु० । १६. तत्तु पटङ्कु' मु० । १७. पटङ्कुटी' व० क० । १८. तस्याऽनित्यत्वं अ० व० ।  
१९. क्रमं न दृष्टान्तात् अ० व० ।

क्रमस्य नित्यत्वम् ? । कल्पितं तु व्यवहारमात्रं न वस्तु साधयति । न च नित्यव्यापिनां वर्णानां क्रम उपपद्यत इति । एतच्चाभेऽभिधास्यते । तस्मात् संकेतमात्रमेव न कश्चित् संबन्ध इति ।

§ २७. किञ्च — किमसौ एकार्थनिर्यतः संकेतेनाभिव्यज्यते, अनेकार्थनिर्यतो वा ? । यद्ये-  
कार्थनिर्यतः ते संकेतवशादर्थान्तरे वेदस्य गतिः स्यात् । दृश्यते च व्याख्यातृविकल्पः ।  
अथ 'मा भूदुष्टविरोधः' इत्यनेकार्थनिर्यतोऽभिव्यज्यते । तर्हि सकलार्थसाधारणस्य वेदस्य  
इष्टव्यक्तिमेव करोति व्याख्यातृरूपः समयकारः, कुत एतत् ? । तेन "अभिहितोऽं  
शुद्ध्यात् स्वर्गकामः" [मैत्र० ६.३६] इति श्रुतौ 'खादेच्छ्वमांसम्' इत्येष नार्थ इत्यत्र  
का प्रमा । तत्र स्वाभाविकः शब्दार्थयोः संबन्धः, किन्तु संकेतमात्रमेव ।

§ २८. भवेत्, असौ नित्यो वा स्यात्, अनित्यो वा ? । अनित्योऽपि<sup>१</sup> पुरुषेच्छावृत्तिः,  
अवृत्तिर्वा ? । पुरुषानधीनत्वे न पुरुषाणां यथाभिप्रायं देशादिपरावृत्त्या तेनार्थप्रतिपादनं  
स्यात् । न हीच्छायामनायत्तः कचिन्नियुज्यते पर्वतादिवत् । पुरुषेच्छावृत्तिस्त्वे कथमपौढ-  
वेयत्वं स्यात् । नित्योऽपि शब्दार्थयोरश्रितः स्यात्, अनाभितो वा ? । अनाभितत्वे आकाश-  
कल्पस्य कः संबन्धार्थः ? । आश्रितत्वे च आश्रयाणामनित्यत्वादाभितेऽप्यनित्यता स्यात् ।  
॥ अथ सामान्यस्यैवाभिव्यक्त्यभावात् तस्य च नित्यत्वात् संबन्धस्यैपि नित्यता ।

§ २९. तदसत् । सामान्यस्य परपरिकल्पितस्याभावात् । तथा हि — तद् व्यक्तिभ्यो  
सामान्य-  
विचारः । भिन्नं स्यादभिन्नं वा ? भिन्नाभिन्नं वा ? । न तावद्विज्ञाभिन्नं विरोधात् । अथ  
केनाप्यंशेन भिन्नं केनाप्यभिन्नम् । ननु निरंशस्य सामान्यस्य कथमेतत् ? । किञ्च — यमात्मानं  
पुरोधाया 'इदं सामान्यम्' 'अयं विशेषः' इति व्यवस्थाप्यते यदि तेनात्मना भेदः, तदा भेद  
एव; अथाभेदः, तदा अभेद एव । अथ तत्रापि भेदाभेदौ तर्हि अनवस्था । न चेदं वस्तु  
ज्ञतयात्ममध्यक्षमक्षामहे । तत्र तत् ताभ्यो भिन्नाभिन्नम् । नौप्यभिन्नम् । तासां नानात्वे  
तस्यापि नानात्वोपपत्तेः । तदेकत्वे तासामेकताप्रसंगादिति नाभिन्नम् । नापि भिन्नम् ।  
असामान्यरूपतापत्तेः दण्डादिवत् ।

§ ३०. अनेकसंबन्धात् सामान्यमिति चेत्; न, संख्या-कार्य-द्रव्यादेरपि सामान्यरूपता-  
प्रसंगात् । अथानुस्यूताकारतया प्रतीयमानं सामान्यं नेतरदिति चेत्; ननु किमात्मरूपानु-  
स्यूतम्, पररूपानुस्यूतं वा ? । तत्रैव न तावदात्मरूपानुस्यूतम्, आत्मन्यनुगमाभावात् । अथ  
पररूपानुस्यूतम्, पररूपानुस्यूतता किं तादात्म्यम्, तत्समवायो वा ? । तद्यदि तादात्म्यम्,  
पूर्ववत् दोषप्रसङ्गः । अथ समवायः, तदयुक्तम्; तस्याभावात् । भवतु वा । स सर्वव्यापी

१. नियमतः मु० क० । २. ष्यतः संके० मु० क० । ३. अय मास्तु दृष्टं मु० । ४. खादेत्स अ०  
ब० मु० । ५. भवति असौ मु० । ६. अनित्यः पुरु० क० मु० । ७. 'वेच्छाप्रवृत्ति' क० ।  
८. संबन्धार्थः मु० । ९. नित्यत्वात् कथमाश्रयानित्यत्वात् संब० ब० । नित्यत्वात् कथमाश्रयानित्यत्वात्संब०  
क० मु० । १०. 'स्यानित्यता ब० मु० क० । ११. तत्र ताभ्यो मु० । १२. 'नाप्यभिन्नम्' इति  
नास्ति क० मु० प्रत्योः । १३. सामान्यस्य अ-टि० । १४. 'तथा अनुगम्यमानं मु० । १५. वा । न  
ताव' मु० क० । १६. तासां नानात्वे तस्यापि नानात्वोपपत्तेरित्यादिकः अ-टि० । १७. सर्वव्यापि मु० क० ।

गोत्वं यथा गोपिण्डेषु संबन्धयति तथा कर्कादिपिण्डैरपि संबन्धयेत् । अथान्तरसंबन्ध-  
कल्पनायामनवस्था ।

§ ३१. किञ्च — सामान्यं व्यक्तिषु वर्तमानमेकदेशेन वा वर्तेत, अनेकदेशेन वा ? । नैक-  
देशेन, निष्प्रदेशत्वात् सामान्यस्य । नापि सामान्येन, एकस्यामेव व्यक्तौ परिसमाप्तिप्रसंगात् ।

§ ३२. किञ्च — केयं वृत्तिः ? । आधेयता वा स्वात्, व्यक्तेर्वा भवेत् ? । नाधेयता,  
निष्किकषत्वात् सामान्यस्य । गुरुणो हि द्रव्यस्य पततः स्थितिकरणादाधारः स्वात् । न चैतत्  
स्थितेरभिज्ञाभिन्नकरणेन सामान्ये युज्यते । नापि व्यक्तिः, नित्यस्य व्यक्तेरयोगात् । तथा हि —  
व्यक्तिरावरणापगमे सति ज्ञानजनकत्वमुच्यते । न च नित्यस्य ज्ञानजनकत्वं विद्यते । यदेव  
हि ज्ञानजनकावस्थार्या सामान्यस्य रूपं तदेवैक्यत्वावस्थायामपीति प्राणिनः न जनयेत् ।  
यद्वाऽव्यक्तावस्थायामप्येकरूपत्वाज्जनयेत् । अथ कारकान्तरमपेक्ष्य जनयति । ननु कारका-  
न्तरेण किं तस्य जनकत्वं क्रियते, अथ ज्ञाप्यते ? । तद्यदि क्रियते, सुखितं नित्यत्वम् ! ।  
अथ ज्ञाप्यते, सिद्धं तर्हि जनकत्वं कारकान्तराभावेऽपि । भवतु, को दोष इति चेत् ; कार्यो-  
त्पत्तिप्रसङ्गः । अथ कारकत्वेऽपि कार्यं न जनयेत् । अहो राजाज्ञा गरीयसी देवानां प्रियस्य ! ।

§ ३३. इतोऽपि न विद्यते सामान्यम्, तदुपलम्भकप्रमाणाभावात् । नन्वसि प्रमाणम्  
'अनयोः सादृश्यम्' 'एवं सारूप्यम्' 'तेन सदृशोऽयम्', 'अस्ती वा अनेन सदृशः' इत्यादि ॥  
ज्ञानं अप्रतिपन्नसामान्यस्य नोपपद्यते । अस्तीदं विज्ञानं बाधैविकलं जातिज्ञापकम् । तदेत-  
द्वैयुक्तम् । यतः किं तेन निमित्तभूतेनैवं विज्ञानमुत्पाद्यते, कर्मतापभेन वा ? । तद्यदि निमि-  
त्तभूतेनोत्पाद्यते, तदा ता एव व्यक्तयः समानाकारपरिणतास्तन्निमित्तं सन्तु अलं परपरि-  
कल्पितेन सामान्येन । अथ कर्मतापभेनोत्पाद्यते, तन्नैवावभाति । न ह्येषव्यक्तिसाधारणं  
सामान्यैकरूपमभ्यक्ष्यमीक्षामहे । तन्न किञ्चित्सामान्यं यदाभितः संबन्धः स्वात् । ॥

§ ३४. किञ्च — आश्रयेण नित्यस्य सतः संबन्धस्योपकारः क्रियते न वा ? । अकरणे  
साकल्येन सकलं जगदाश्रयेत । करणे वा स तस्माद् भिन्नः स्वात्, अभिन्नो वा ? । अभेदे  
नित्यताहानिप्रसंगात् । भेदे च न किञ्चित् संबन्धस्य कृतं स्वात् । तत्संबन्धोपकारकरणकल्प-  
नायामनवस्था गगनतलावलम्बिनी भूमलतिकेव प्रसरन्ती दुर्निबारा स्वात् । तन्न कश्चित्  
निर्लेखः संबन्धः । न च क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधेन संबन्धः सामान्यमभ्यक्षा वस्तु ॥  
नित्यं समस्येऽपि जगत्पक्षि ।

§ ३५. किञ्च — असौ संबन्धः प्रतीतो वाऽर्थं प्रकाशयेत्, अप्रतीतो वा ? । अप्रतीतस्य  
सामान्य-  
संबन्ध-  
विचारः ।  
सभिधिमन्त्रेणार्थप्रकाशने सर्वदा सर्वप्रतिपत्तुणां प्रकाशयेत् । प्रतीतश्चेत्, केन  
प्रतीतः ? । किं प्रत्यक्षेण, आहोश्चिदनुमानेन ? । न तावत् प्रत्यक्षेण, अभ्यर्थ-  
व्यतिरेकेण तस्यानुपलब्धेः । नाप्यनुमानेन, लिङ्गस्य प्रत्यक्षेण संबन्धस्याग्रहणात् । अनु-  
मानेन तेनैव संबन्धग्रहणे हतरेतराश्रयत्वम् । तथा हि — यावन्न संबन्धग्रहणं तावन्नानु-

१. 'पु समर्थयति' मु० क० । २. 'व्यक्तिर्वा' वा क० मु० । ३. 'तदेव व्य' क० मु० । ४. 'प्रागेव  
जनयेत्' क० मु० । ५. 'बाधकवि' मु० क० । ६. 'तदेतद्युक्तम्' मु० । ७. 'न्यरूप' क० मु० ।  
८. 'यत्राभितः' क० मु० । ९. 'सोपचारः' क० मु० । १०. 'कश्चित् सं' अ० । ११. 'सर्वं प्रति' अ० ।

मानम्; यावन्नानुमानं तावन्न संबन्धग्रहणमिति । अपरेणानुमानेन संबन्धग्रहणेऽनवस्था । तन्न प्रमाणप्रतीतिः संबन्धः ।

§ ३६. किञ्च — असौ परिकल्प्यमानः तादात्म्यलक्षणो वा स्यात्, तदुत्पत्तिलक्षणः, संयोग-  
लक्षणः, समवायलक्षणः, विषयविषयिलक्षणो वा स्यात् ? । तन्न न तावत् तादात्म्यलक्षणः  
संभवत्यप्रतीतिः । अन्यथा क्षुरिकामोदकाविम्वोच्चारणे<sup>१</sup> मुखपाटनपूरणादिरुपलभ्येत । न  
चोपलभ्यते । तन्न प्रथमः । नापि द्वितीयः, यतः शब्देन वा अर्थो जन्यते, अर्थेन वा  
शब्दः ? । प्रथमपक्षे न कश्चिदपरिपूर्णेच्छः स्यात् । द्वितीयेऽपि अर्थेषु यथास्वं पुरुषबुद्धि-  
निरपेक्षाणां शब्दानां श्रवणं स्यात् । न चार्थमात्रात् पुरुषबुद्धिनिरपेक्षाः शब्दा उत्पद्यन्ते ।  
तथा हि — अर्थदर्शनम्, ततः तत्प्रतिपादनाभिप्रायः, ततो विवक्षा, ततः स्थानकरणाभिप्रायः,  
ततः शब्दनिष्पत्तिरिति नार्थजन्यता शब्दानाम् । न च नित्यत्वेनाभ्युपगतानां शब्दानामयं  
प्रकारः संभवति । तन्न तदुत्पत्तिलक्षणोऽपि<sup>२</sup> । नापि संयोगलक्षणः, यतो मुखे शब्दस्यो-  
पलब्धिः, भूमावर्थस्य । नापि समवायलक्षणः, अयुतसिद्धानामाधारार्थाधारभूतानामेव हि स  
वर्ण्यते । न च शब्दार्थयोरयुतसिद्धिराधाराच्चेयभावो वा घटते । तन्न समवायोऽपि ।  
विषयविषयिभावोऽपि वाक्यवाचकभाव एव । स च सति संबन्धे नित्ये सांकेतिके वा स्यात्  
न पुनरस्तति संबन्धे । अन्यथा सर्वार्थैर्वाक्यवाचकभावः स्यात् । तन्न कश्चित् वाक्यवः  
संबन्धो यस्मादौदयेयता परिकल्प्येत ।

§ ३७. नापि वर्णा अपौरुषेयाः, तेषां लोक-वेद्योर्भेदानभ्युपगमात् । तदपौरुषेयत्वसाधने  
वर्णापौरुषे-  
यत्वनिवेधः न किञ्चिन्नाऽपौरुषेयं स्यात् । ततो मिथ्याशब्दानामप्यपौरुषेयत्वे निष्कलेवापौरु-  
षेयता । भेदाभ्युपगमे वाऽभ्युपेतहानिः । प्रत्यभिज्ञाया अप्रामाण्यं च स्यात् । तथा हि —  
वेदगकारं भुत्वा पुंसः 'स एव गकारो यो मया लौकिकेषु वाक्येषूपलब्धः' इति प्रत्यभि-  
ज्ञानोत्पत्तेः । तदप्रामाण्ये सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायामनाश्रय इति न वर्णानामपौरुषेयता भवतां  
भेयस्करीति ।

§ ३८. नापि वाक्यम् । यतस्तद् वर्णभ्यो भिन्नं वा स्यादभिन्नं वा ? । अभेदे वाक्यमेव  
वाक्यवि-  
चारः । स्यात्, वर्णा एव वा स्युः । भेदेऽपि तददृश्यं वा स्यात्, दृश्यं वा ? । अदृ-  
श्यत्वे न ततोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात् । न ह्यप्रतीताद् वाक्यादर्थप्रतीतिः साधीयसी । अप्रतीताद्-  
व्यर्थप्रतीतौ न प्रतीतेर्विरामः स्यात् । नापि दृश्यम्, अनुपलम्भात् । न हि देवदत्तादिवर्ण-  
व्यतिरिक्तं किञ्चिद्वाक्यमुपलभ्यमानहे ।

§ ३९. किञ्च — तद्वाक्यं वर्णद्वारेण वा प्रतीयेत, स्वातन्त्र्येण वा ? । न तावत् स्वातन्त्र्येण,  
न हि अर्थवर्णविधिना वाक्यप्रतीतिरस्ति । वर्णैरपि प्रतीयमानं वाक्यं सावयवं स्यात्, अन-

१. 'प्रतीतत्' मु० क० । २. 'णः, तदुत्प' मु० । ३. 'रणात् मुख' क० । ४. 'निरपेक्षात् ए'  
अ० व० क० । ५. 'क्षणे नापि' क० मु० । ६. 'हि अर्थ' क० मु० । ७. 'भावे घटते' क० मु० ।  
८. 'सांकेतिके च स्यात्' अ० । ९. 'सर्वार्थे वाक्य' मु० । १०. 'वाऽभिन्नं' क० । ११. 'दृश्यं वा' मु० ।  
१२. 'न हि अनवर्ण' अ० ।

व्ययं वा ? । तेऽप्यवयवाः प्रत्येकं सार्थकाः स्युः, निरर्थका वा ? । सार्थकत्वे एकावयव-  
प्रतीतावपि सकलवाक्यार्थप्रतीतिः प्रसज्येत । निरर्थकत्वे सकलावयवप्रतीतावपि न वाक्या-  
र्थप्रतीतिः स्यात् । नापि निरवयवम् । तद्वि वर्णैः समस्तैर्वा प्रत्याप्यते व्यस्तैर्वा ? । न  
तावत् समस्तैः, उच्यते प्रत्यक्षसिनां वर्णानां सामस्यासंभवात् । नापि व्यस्तैः, प्रथमवर्णमव-  
णकाल एव सकलस्य वाक्यस्य प्रतीतिः शेषवर्णोच्चारणस्य वैयर्थ्यप्रसंगात् ।

§ ४०. अथ समस्तवर्णसंस्कारवत्या अन्यवर्णकुला वाक्यावधारणमिष्यते । ननु किं  
तत् स्मरणं उताभ्यक्षम् ? । न तावत् स्मरणम्, विद्यमानान्यवर्णग्राहकत्वात् । नापि प्रत्य-  
क्षम्, अविद्यमानपूर्ववर्णविषयत्वात् । अथ पूर्ववर्णस्मरणान्यवर्णग्रहणाभ्यामेकं विकल्पज्ञानं  
जन्यते तेन वाक्यावधारणम् । नैवेवं कल्पनाज्ञानविषयत्वे कल्पनिकत्वं वाक्येऽभ्युपगर्त  
स्यात् । न वस्तुरूपता । अनेकवर्णानां चैकवाक्यप्रतिपादनेऽर्थे क एषां व्याघातः ? , येनैकं  
वाक्यं वर्णव्यतिरिक्तम् अर्थप्रतिपादकं कल्प्येत ।

§ ४१. कल्प्यमानं वा तदनित्यं स्यात्, नित्यं वा ? । यद्यनित्यम्, करणव्यापारान्तर-  
व्यतिरेकानुविधानात् पौरुषेयमेव स्यात् । तदुक्तम्—

“अनित्यं यं संप्रभूतं पौरुषेयं कथं न तत् ।” [प्रमाणवा० ३.२५१]

अथ नित्यम्, सामर्थ्यतिरस्कारायोगात् सर्वदाऽर्थप्रतीतिं जनयेत् । आहुतत्वाज्ज्ञेति ॥  
चेत्; न, नित्यस्यावधारणायोगात् । किञ्चित् कुर्वाणं हि आवरणं स्यात् । न च नित्यस्य किञ्चित्  
कर्तुं पार्यते । करणे वाऽनित्यताप्रसक्तेः । यदि च तात्त्वादिन्यापारेऽपि कदाचिदनुपलब्धि-  
र्वाक्यस्य स्यात् तदा व्यङ्ग्यधर्मानुविधानात् किञ्चिदावरणमपि कल्प्येत । व्यङ्ग्यस्य हि घटा-  
देरेष धर्मो यदुत प्रदीपादौ व्यञ्जके सति न सर्वदोषलब्धिः । अन्यथा तात्त्वादिन्यापारे  
नियमेनोपलब्धमानस्य शब्दस्य व्यङ्ग्यत्वपरिकल्पने घटस्यापि कुलालादिव्यङ्ग्यताप्रसंगः । ॥  
तत्र किञ्चित् वाक्यम् ।

§ ४२. वर्णानुपूर्वी वाक्यमिति चेत्; ननु साध्यानुपूर्वी वर्णेभ्यो भिन्ना स्यात्, अमिन्ना  
वा ? । न तावदभिन्ना, भिन्नवाक्यदूषणेनैव तस्या निरस्तत्वात् । नाप्यभिन्ना, यतो वर्णबाहु-  
ल्यानभ्युपगमात् । तदुपायां चानुपूर्व्यामप्रिरित्येव स्यात्, न गगनमिति ।

§ ४३. किञ्च—तेऽपि वर्णो नित्याः स्युः, अनित्या वा ? । अनित्यत्वे तेषां पौरुषेयत्वमेव ॥  
स्यात् । नित्यत्वे व्यापिनो स्युः अव्यापिनो वा ? । अव्यापित्वे न सर्वत्रोपलम्भः स्यात् ।  
तथा हि—कौन्यकुञ्जदेशव्यवस्थितस्य शब्दस्य न मान्यत्वेऽदेशव्यवस्थैः पुंभिरुपलम्भः स्यात् ।  
अप्राप्यकारित्वात् श्रोत्रस्य अदोष इति चेत्; न, तत्रापि योग्यतापेक्षणात् अयरक्षान्तादौः-  
कर्षणवत् । व्यापित्वाभ्युपगमे नानुपूर्वी स्यात् । तथा हि—सा देशकृता वा स्यात् यथा पिपी-  
लिकानां पङ्क्तौ, कालकृता वा स्यात् यथा बीजांकुरादीनाम् । तत्र न तावत् देशकृता, ॥  
अन्योऽन्यदेशपरिहारेण वृत्तिर्हि देशपौर्वापर्यम् । तत् सर्वस्य सर्वत्र तुल्यदेशत्वात् वर्णेषु न

१. °तीतिः प्रसज्येत । नापि मु० । २. ननु तत् अ० । ३. नत्वेवं क० । ४. अर्थे प्र० क० अ० ।  
५. यत्र मु० क० । ६. कथं तु तत् क० । कथं तु तत् मु० । ७. °तिरस्कारयोगात् क० ।  
८. जनयेत् न नित्यं अ० । ९. तदा व्याप्यधर्मा मु० । १०. कल्पेत अ० । ११. °पिनो वा स्युः क० ।  
१२. कथं क० अ० ब० । १३. °न्तापकर्षणं अ० ।

संभवति वातातपादिवत् आत्मादिवत् । नापि कालकृता, यतः कालपौर्वापर्यं यदैको नास्ति तदा अन्यस्य संज्ञावात् स्यात् । तच्च नित्येषु न संभवति । सर्वस्य सर्वदा भावात् । न चान्या गतिरस्ति । तत् कथं वर्णानुपूर्वी वाक्यं यदपौरुषेयं परिकल्प्येत ।

§ ४४. वाक्यदूषणेनैव च पदस्यापि निरस्तत्वात् न तदूषणं पृथगुच्यते । तन्न किञ्चि-  
• द्वैविकमपौरुषेयं यन्निबन्धनः प्रामाण्यलक्षणो विशेषो वेदे स्यात् यत्संज्ञावात् असिद्धता हेतोर्मवेत् ।

§ ४५. नापि विरुद्धता, हेतोः सपक्षे संज्ञावात् । नाप्यनैकान्तिकता, अगतोऽहेतुकता-  
प्रसङ्गात् । तथा हि — कार्यभेदाभेदौ कारणभेदाभेदपूर्वकौ, अन्यस्य भेदहेतोरभावात् । तदु-  
क्तम् — “अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यदुत विरुद्धधर्माभ्यासः कारणभेदश्च ।” तौ चेन्न  
• भेदकौ विभक्त्यैवैश्वर्यं हीयेत । तत्र यदि लौकिक-वैदिकयोर्भिन्नकारणता स्यात् तदा कार्या-  
भेदोऽहेतुकः स्यात्, कारणस्य हेत्वभेदस्याभावात् । तथाऽविकलेऽपि कारणभेदे यदि कार्य-  
भेदो न भवेत् सोऽप्यहेतुकः स्यात् । यथा हि कारणाभावे भवद् अहेतुकम् तथाऽविकलेऽपि  
कारणे अभवद् अहेतुकमेव स्यात् । न च भेदाभेदौ विहाय अपरं जगदस्तीति अहेतुकं  
सकलं स्यात् । न चाहेतुकम्, नित्यं सत्त्वादिप्रसङ्गात् । तन्नानैकान्तिकताऽपि । तस्मात् स्थित-  
• मेतत् नापौरुषेयो वेद इति । तन्न तन्निबन्धनं वेदस्य प्रामाण्यमिति स्थितम् ॥ [ ७' ] ।

§ १. नन्वीश्वरस्य सर्वकर्तृत्वात् सर्वकृत्वे सिद्धे कथं न प्रामाण्यम् ? । तथा हि — भूमूध-  
ईश्वरप्रा- राविकं बुद्धिमत्कारणपूर्वकम्, कार्यत्वात् । यद्यत् कार्यं तत्तत् बुद्धिमत्कारण-  
ण्यविचारः । पूर्वकम्, यथा घटादि । तथा च भूमूधरादिकम् । तस्मात् तत् तथेति ।  
नैतत् साधनम्, स्वरूपासिद्धत्वात् । तदाह — स्वरूपेणेत्यादि —

• स्वरूपेण विशेषेण न सिद्धं भूधरादिषु ॥ ७ ॥

§ २. ननु कस्येदमसिद्धम् ? । किं गृहीतसंकेतस्य, किं वाऽगृहीतसंकेतस्य ? । यद्यगृहीत-  
संकेतस्य, तदा भूयोऽपि न नालिकेरद्वीपायातस्य सिद्धः । अथ गृहीतसंकेतस्य, तदाऽऽसदादेः  
सिद्धत्वात् कथमसिद्धम् ? । नैतदस्ति । नागमसिद्धं वस्तु सार्धयति किन्तु प्रमाणसिद्धम् ।  
न च जगदादौ भूविमानादीनां प्रत्यक्षेण कार्यत्वं प्रतीयते । अनुमानेन प्रतीयत इति चेत् ;  
• तथा हि — यत् संस्थानवत् तत् कार्यम्, यथा पटः । तथा, यद्वचनावत् तद्वचनं विनश्यति,  
यथा तन्तुव्यतिषङ्गजनितं रूपं तन्तुविनाशात्, तन्मोचनाद्वा विनश्यति ततो विनाशात्  
कार्यत्वं पृथिव्यादेरनुमीयत इति ।

§ ३. अथ किमिदं रचनावत् ? । किं परमाणवः, किं वाऽवयवी ? । न तावद्वचनः,  
तेषां नित्यत्वाभ्युपगमात् । यथा हि जैनस्यावयविनमन्तरेणापि परमाणवः परिणमन्तः  
• कार्यरूपां भजन्ते न तथा नित्याणुवादिनामिति । नाप्यवयवी, तस्याभावात् ।

१. संज्ञावः स्यात् मु० क० । २. ष्वति सर्वदा क० मु० । ३. हीयते मु० क० । ४. भूमूधरादि  
मु० क० । ५. तथेति । ननु कस्ये० मु० । ६. साप्यति मु० । ७. किन्तु सिद्धम् मु० । ८. विनश्यति  
ब० मु० क० ।

५४. ननु धर्मिणं प्रतिपद्यते परः किं वा नेति ? । यदि न प्रतिपद्यते, तदा तन्निराकरण-  
हेतोरात्मयासिद्धत्वमस्य । अथ प्रमाणेनै प्रतिपद्यते; तदा कथं तन्निरासः ? । नैव दोषः ।  
यतः प्रसङ्गविपर्ययसाधनाभ्यां तन्निरासं मन्यते । तथा हि — यदनेकवृत्तिः तदनेकम्, यथा  
जलानकम् । अनेकवृत्तिश्चावयवव्यभ्युपगम्यते इति प्रसङ्गः । न चानेकरूपोऽभ्युपगम्यते ।  
तन्नानेकवृत्तिरिति प्रसङ्गविपर्ययः । व्याप्याभ्युपगमस्य व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकर्त्तृप्रवृत्तिः ।  
नात् नामयासिद्धता प्रसङ्गहेतोः । व्यापकश्च निवर्तमानो व्याप्यमादाय निवर्तत इति व्याप-  
काभावे व्याप्याभावोऽपि नासिद्ध इति सिद्धो विपर्ययहेतुरपि । निमित्तान्तराभावाद् व्याप्तिरिदोः  
नानैकान्तिकौ । तथा हि — यत् यन्मात्रनिमित्तं तत् तस्मिन् सति भवत्येव । यथान्त्यकारण-  
साप्तमीमात्रनिबन्धनोऽङ्कुरः । विरुद्धधर्माभ्यासमात्रनिमित्तश्च भेदव्यवहार इति स्वभावहेतुः ।  
प्रतिभासभेदोऽपि न विरुद्धधर्मतामतिक्रामतीति नासिद्धता । सपक्षे भावात् न विरुद्धता ।  
तन्निमित्ते सत्यर्प्यभवतोऽन्यनिमित्ताभावात् सर्वत्राभवनप्रसङ्गो व्यापकविरुद्धोपलब्धिः ।  
विपर्यये बाधकं प्रमाणम्, सापेक्षत्वानपेक्षत्वयोर्विरोधात् । तथा हि — यथा निमित्ताभावेऽपि  
भवतोऽहेतुकता तथाऽविकले निमित्ते सत्यर्प्यभवतोऽहेतुत्वैव । अहेतोः सासत्त्वं सत्त्वेनैव वा  
सदा स्यात् । तन्नानैकान्तिकता ।

५५. एकस्य युगपदनेकवृत्तित्वमेव च विरुद्धधर्मसंसर्गः । तथा हि — अवयवेषु अवयवी-  
सामस्तेन वा वर्तते, एकांशेन वा ? । सामर्थ्यवृत्तावेकस्मिन्नेवावयवे परिसमाप्तत्वाद्नेक-  
वृत्तित्वं न स्यात् । एकैकद्रव्यं च द्रव्यं स्यात् । एकस्य चाणोर्विभागाभावात् नित्यत्वं च कार्य-  
द्रव्यस्य स्यात् । एकस्य चाजनकत्वम्, सामान्या जनकत्वात् । अवयवेषु चावयवीति प्रत्य-  
याभावः प्रसज्येत । वृत्तौ चैकैकस्मिन्नवयवे युगपद्भावाभावौ स्याताम् । तथा हि — ‘एकस्मिन्-  
वयवे सामस्तेन वर्तते’ इति तत्र सङ्गाव उक्तः । पुनरन्यत्र तथैव वर्तत इति तदैव तत्रैवा-  
सङ्गाव इत्येकत्र युगपद्भावाभावयोर्विरोधः ।

५६. नाप्यंशेन निरंशस्य तत्त्वोपगमात् । साक्षत्वे वा तेऽपि ततो भिन्नाः स्युरभिज्ञां  
वा ? । भिन्नत्वे पुनरप्यनेकांशवृत्तेरेकस्य सामर्थ्येकांशविकल्पानतिक्रमः । अभिज्ञत्वे अज्ञा-  
न्तर्गमेऽग्निः तद्भेदेऽदमावप्रसङ्गः । अंशान्तर्गमेऽज्ञानां, ततो निरंशोऽग्नी स्यात् । तत्र च  
पूर्वनीतिसोऽनेकवृत्त्यभावोऽनेकवृत्तित्वे वा विरुद्धधर्माभ्यासिता ।

५७. अथ अवयविनोऽवयवेषु वृत्तिर्लक्षणं समवायः । ननु सोऽपि समवायस्यो वर्तते न  
वा ? । यदि समवायस्य समवायान्तराभावात् न वर्तते तदा यावदसौ पाण्यामिषु पुरुषाव-  
यविनं संबन्धयति तावत् तत्त्वादिषु अपि किं न संबन्धयति, अष्टोत्तरविशेषात् । अथ वर्तते,  
तदा तत्रापि यदि समवायो वृत्तिः, तदानवस्था । अथानेकावयवभावेत्यत्वं, तदा ‘यद् अनेक-  
वृत्ति तदनेकम्’ इत्यनेनैव साधनेन तस्याभावः । तन्नावयविनोऽनेकावयवसमवायस्यैव  
वृत्तित्वम् । ततः सिद्धा प्रसंगहेतोर्विरुद्धधर्मात्मता ।

१. तदा किं तन्निमित्तं मु० । २. प्रमाणे प्र० मु० । ३. ‘कृत्तिः तदं’ मु० क० । ४. ‘रीयकप्रदं’  
मु० ब० क० । ५. ‘कान्तिकः’ । तथाहि ब० । ६. सत्यपि भव० मु० क० । ७. ‘कृत्तिः’ ज्ञानेष्ट०  
मु० । ८. ‘रीयात्’ विपर्यये बाधकं प्रमाणं तथाहि मु० क० । ९. ‘सत्यपि भव०’ मु० क० ।  
१०. ‘यामस्ते’ इ० मु० क० । ११. ‘लं’ स्यात् मु० क० । १२. ‘एकं’ द्रव्यं मु० क० । १३. ‘तद्भेदे’  
जायमं अ० । १४. ‘वृत्तित्वम’ अ० । १५. ‘संबन्धयति’ अ० ।



§ ८. इतोऽप्यवयविनोऽनेकावयववृत्तेर्विद्वद्बर्माश्रयता । यत् एकस्मिन्नावयवे चलेति चकृत् प्राप्नोति । पुनस्तदेव द्वितीयावयवाचकत्वेऽचलत्वम् । तथैकावयवराने रागोऽपराने चोपराने । तथा, आवरणे आवरणम्, अनावरणे चानावरणमिति निर्द्वय युगपद्व्याच-  
कृत्वावियोगो विद्वद्बर्मासंसर्गः । न चावयवानामेव चकृत्वादिनां नावयविन इति वक्तव्यम् ।  
यस्य पाण्यादेः अलाचलादिप्रतीतिप्रसङ्गात् । तथा हि — अवयवचलनाचलत्वावभासः स्यात्, तत्रैव चावयवे स्थितस्यावयविनोऽचलनादचलत्वप्रतीतिरित्येवं रक्षादिषु अपि वाच्यम् ।

§ ९. किञ्च — अवयवेभ्योऽवयवी भिन्नो वा स्यादभिन्नो वा ? । यद्यभिन्नः, तदाऽवयव-  
भेदवद् अवयविनः स्वच्छसो भेदप्रसङ्गः । अवयविस्वरूपवद्वा अवयवानामभेदः स्यात् । तथा  
चैकस्यानंशस्याप्रतिभासनात् अप्रतिभासं जगत् स्यात् । अथ भिन्नः, तदा तस्यानुपलम्भाद्  
असत्त्वमेव । तथा हि — यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तदसत्तिरिति व्यवहर्तव्यम् । यथा  
खरंविषाणादि । नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तोऽवयवेभ्यो व्यतिरिच्यमानमूर्तिरवयवीति  
स्वभावानुपलब्धिः । परैरवयविनो दृश्यत्वाभ्युपगमाज्जासिद्धविशेषणता हेतोः । ऊर्ध्वाधो-  
मध्यमागव्यतिरिक्तवपुषोऽप्रतिभासनात् न स्वरूपासिद्धता । न च समानदेशत्वादवय-  
विनोऽवयवेभ्यः पृथगनुपलक्षणमिति वाच्यम्, समानदेशत्वेऽपि रूपरसयोर्वातातपयोऽ-  
केन्द्रियमाकाशत्वेऽपि पृथगनुपलक्षणात् ।

§ १०. अथ दूरदेशस्यावयवाप्रतिभासेऽप्यवयविनः प्रतिभासनात् कथं नासिद्धता ? ।  
तदेवात्, अस्पष्टाकारस्यावस्तुत्वेन तत्प्रतिभासस्य भ्रान्तत्वात् । वस्तुत्वे वाऽन्यस्यापि निकटदेशस्य  
कोऽस्पष्टाकारः सुतरां प्रतिभासेति । अथाकारद्वयमवयविनः स्पष्टम् अस्पष्टम् । तत्र निकटस्थः  
स्पष्टमुपलभते, दूरस्थस्तु अस्पष्टमिति । ननु असावस्पष्टाकारो यदि अवयवदेशः, तदा  
निकटस्थ आकारद्वयमुपलभेत । अथान्यदेशस्तेषां वात्मनः पृष्ठतः तं पश्येत् । किञ्च तदाकार-  
द्वयम् अवयविनः केन गृह्यते ? । न तावद्दूरदेशज्ञानेन । तत्र निकटदेशज्ञानविषयस्पष्टरूपा-  
मवभासनात् । अस्पष्टस्वरूपप्रतिभासं हि तदेव नुभूयते । नापि निकटदेशज्ञानेन । स्पष्टरूपाव-  
भासवेदायां हि तत्र नापरोऽस्पष्टाकारः प्रतिभाति । तन्नावयविन आकारद्वययोगः ।

§ ११. अथ 'दूरदृष्टमवयविनः स्वरूपं परिस्फुटमिदानीं पश्यामि' इति तयोरेकता । ननु  
किमपरिस्फुटरूपतया परिस्फुटमवगम्यते, आहोषित् परिस्फुटरूपतयाऽपरिस्फुटम् ? । तत्र  
यथायः पक्षस्तादाऽपरिस्फुटस्वरूपसंबन्धित्वमेवावयविनः प्राप्नोति, परिस्फुटरूपस्यापरिस्फुट-  
रूपानुप्रवेक्षेण प्रतिभासनात् । अथ द्वितीयः, तदा स्पष्टस्वरूपसंबन्धित्वमेव स्यात्, अस्फुटस्य  
विश्वरूपानुप्रवेक्षेणावभासनात् । तत्र स्वरूपद्वयावगमोऽवयविनः । न चैकस्य विद्वद्बर्मा-  
द्वययोग उपपत्तिमात्र । ततः स्फुटास्फुटरूपयोरेकत्वप्रतिभासनमभिमानमात्रम् ।

१. चलेति मु० । २. चारागः अ० ब० । ३. भिन्नो स्या० अ० । ४. 'भिन्नो यद्य' मु० ।  
५. खरे विद्वा० अ० । ६. 'प्राप्ताऽवयव' क० मु० । ७. 'विनोऽदृश्य' अ० । ८. 'जगत् । न च' मु० ।  
९. 'विद्वत्ता । असत्ता' अ० । १०. 'ले चान्य' ब० । ११. 'भासते क० मु० । १२. 'स्योऽस्य' मु० ।  
१३. 'विश्वरूप' मु० । १४. 'दूरदेशज्ञानम्' अ० टि० । १५. 'हि नाप' अ० । १६. 'प्रतिभासते क० मु० ।  
१७. 'स्फुटरूप' मु० क० । १८. 'स्पष्टरूपमेव क० मु० । १९. 'स्फुटतयोरे' अ० ।

§ १२. अथालोकाभावाभावकृतस्तत्र स्फुटास्फुटप्रतिभासभेदः । नन्वालोकेनापि अवयवविस्तरूपमेवोद्भासनीयम् । तत्रेदविकलं दूरदेक्षज्ञाने प्रतिभाति कथं न तत्र स्फुटावभासः ? । अन्यथा विषयभेदमन्तरेणापि ज्ञानप्रतिभासभेदे न ज्ञानावभासभेदो रूप-रसयोरपि भेद-व्यवस्थापकः स्यात् । अथावयवविस्तरूपमुभयत्राप्येकमेव प्रतीयते । स्फुटास्फुटाकारौ तु ज्ञान-स्वात्मानाविस्त्युच्यते । तदसत् । यदि तौ ज्ञानाकारौ; कथमवयवविरूपतया प्रतिभासत इत्य-भ्युपगमः ? । तदुपगमेऽवयव्याकारौ तादुपगन्तव्यौ । न चापरं स्फुटास्फुटाकारतां मुक्त्वा अवयवविस्तरूपमाभाति । व्यक्ताव्यक्ताकारात्मनश्चावयविनो व्यक्ताव्यक्ताकारवद् भेदः । तत्रावयवी दूरदेक्षस्यावयवाप्रतिभासेऽपि प्रतिभाति ।

§ १३. किञ्च — किं कतिपयावयवप्रतिभासे सत्यवयवी प्रतिभासीत्युपगम्यते, आहोस्मिन् समस्तावयवप्रतिभासे ? । यथायः पक्षः, तदा जलमममहाकायस्तन्मादेकरितनकतिपयाव-वयवप्रतिभासेऽपि समस्तावयवव्यापिनः सत्त्वावयविनः प्रतिभासः स्यात् । नापि द्वितीयः, मध्यपरभागवर्तिसमस्तावयवप्रतिभासासंभवेनावयवविनोऽप्रतिभासप्रसंगात् ।

§ १४. अथ भूयोऽवयवग्रहणे सत्यवयवी गृह्यते इत्येभ्युपगमः । तस्मिन्नपि समस्ताव-यवव्यापिनोऽवयविनोऽग्रहणात् । तथा हि — अर्वागभागभाव्यवयवग्राहिणा प्रत्यक्षेण परभाग-भाव्यवयवग्राहणात् न तेन तज्यातिरवयविनो गृहीतुं शक्या, व्याप्याग्रहणे तज्यापकस्यापि ग्रहीतुमशक्यत्वात्, ग्रहणे वाऽतिप्रसङ्गः स्यात् । न च व्यवहितावयवप्रतिभासेऽपि (पि) व्यवहितोऽवयवी प्रतिभाति इति वाच्यम् । व्यवहितावयवविस्तरूपावभासे तल्लभान्यावयवि-स्तरूपस्याप्यवभासः स्यात्, तथा तदन्यस्यापि इति सर्वस्य सर्वावयवग्रहणप्रसङ्गात् । ततो व्यवहितावयवव्यापिरूपादर्वागवयवव्यापिनोऽवयवविरूपस्य भेदप्रसङ्गः । तथा हि — यस्मिन्-वभासमाने यत्र प्रतिभाति तत् ततो भिन्नम् । यथा घटादप्रतिभासमानः पटः । न प्रति-भाति चार्वागवयवव्यापिरूपे प्रतिभासमाने परावयवव्याप्यवयवविरूपम् । तत् कथं न ततो भिन्नम् । तथाप्यभेदेऽतिप्रसङ्ग उक्तः । परभागावयवग्राहिणा तु प्रत्यक्षेण तज्याप्येवाऽवय-विस्तरूपं गृह्येत, नार्वागवयवव्यापकमपि पूर्वोक्तनीत्येति । नापि स्पर्शेनार्वाकपरावयवव्या-प्यवयवविस्तरूपग्रहः प्रत्यक्षानुसारेण स्मृतेः प्रवृत्तेरिति । तन्नेश्वरादिमतेन किञ्चित्कार्यं सिद्धमस्ति ।

§ १५. तथा — यथाविधं घटादिषु बुद्धिमता व्याप्तं दृष्टम्, अदृष्टकर्तृकौणामपि जीर्ण-कृपादिषु 'बुद्धिमता कृतम्' इति बुद्धिमुत्पादयति, न तथाविधं भूधरादिषु सिद्धम् । तदाह — "विशेषेण न सिद्धं भूधरादिष्विति" । नन्वेवं विकल्पने न किञ्चिदनुमानं स्यात् । तथा हि — यथाविधो भूमी भूमभवजपूर्वकत्वेन दृष्टान्ते दृष्टः, न तथाविधः सामान्यधर्मिणि सिद्ध इति । अथ भूमसामान्यं सिद्धम् । अत्रापि कार्यसामान्यमिति समानम् । ननु कार्यसामान्यात्

१. 'रपि न्यव' अ० । २. 'परं स्फुटाकारतां मु० । ३. 'वयवभासे अ० ब० । ४. यथायः क० मु० । ५. इत्युपगमः क० मु० । ६. 'यविग्रहणात् क० मु० । ७. 'ग्रहणात् तथा' मु० । ८. स्यात् । तत्र व्य० मु० । ९. ततोऽव्य० मु० । १०. 'माने अपरा' अ० । ११. 'गावयविना' ब० । १२. 'जेनार्वा-कारावयवव्या क० मु० । १३. 'ग्रहः अक्षानु' ब० । १४. तत्रेश्वरादिवादि' अ० । १५. 'कर्तृवा-मपि क० मु० ।

कारणसामान्ये सिद्धेऽपि नेष्टसिद्धिः । न, यथा वह्निसामान्यसिद्धौ तद्विशेषसिद्धिः तथा कारणसामान्यात् कारणविशेषसिद्धौ कथं नेष्टसिद्धिः ? । सिद्धस्तु यथादृष्टो विशेषः । न हि धूमेनाप्यलौकिको वह्निः साम्यते; तथेहापि दृष्टान्तदृष्टो विशेषः सिद्धस्तु । न तु नित्य-  
बुद्ध्यावियुक्तः ।

§ १६. अपि च—नित्यायां बुद्धौ संबन्धाभावात् मत्वर्थीयोऽपि नोपपद्यते । अनित्यत्वे तु तां यदि बुद्धिमन्तरेण करोति तदा तामपीति अनवस्था । अथ बुद्धिमन्तरेणापि करोति; तदा न बुद्धिमत्पूर्वकं सर्वमिति व्याप्तिः । अकृष्टोत्पत्तयश्च वने वनस्पतयः कर्तारमन्तरेणापि उत्पद्यमाना दृश्यन्त इति कथं व्याप्तिः ? ।

§ १७. अदृश्यत्वात् कर्तृत्वायेति चेत्; ननु किमदृश्यत्वात्, किं वाऽभावात्तयेति संदिग्ध-  
विपक्षव्यावृत्तिको हेतुः । पक्षेणैव व्यभिचारभावादिति चेत्; येन येन व्यभिचारः तस्य तस्य पक्षीकरणे न कश्चिदहेतुः स्यात् । किंच वदेऽपि स एवादृश्यः कर्ता भवतु न कुलालः । तत् कथं तदुष्टान्तात् कर्तृसिद्धिः ? । कुलालस्य दृष्टत्वात् नान्यकल्पनेति चेत्; वनस्पत्यादिष्वपि दृष्टमस्तु, किमदृष्टकल्पनया ? । [ ७ ]

§ १८. अपि च—यथाऽयं हेतुः कर्तारं साधयति तथेष्टविपर्ययमपि । तदाह—विरुद्ध-  
मित्यादि ।

**विरुद्धं चेष्टघातेन न कार्यं कर्तृसाधनम् ।**

§ २. तथा हि—कुलालः शरीरी, सरागः, असर्वज्ञश्च । ईश्वरोऽपि तथा स्यात् । तथा, ईश्वरकृत-  
निषेधः । ईश्वरः कर्ता न भवति, शरीररहितत्वात्, मुक्तात्मवदित्यपि स्यात् ।

§ ३. अथेष्ट हेत्वन्तरेण किं प्राक्तनस्य हेतोरन्यतररूपाभावः ख्याप्यते ? , किं वा तस्मि-  
न्नेव धर्मिणि विशेषः साध्यते ? , यथा शब्देऽनित्यत्वे सिद्धे अम्बरगुणत्वमिति । तत्र न तावदेतन्नान्यतररूपाभावः ख्याप्यते । नापि विशेषः साध्यमानो दोषभावइति । यदि साम्य-  
विपर्ययसाधनेऽपि न दोषस्तदा न विरुद्धस्य हेतोर्दोषः स्यात् ।

§ ४. अथ शरीरमैस्योपेयते । यदि तन्नित्यम्, तदा 'रचनायत् सर्वं कार्यम्' इति न  
स्यात् । अथानित्यम्, तदा तदपि शरीरवसान्येन कर्तव्यम् । तदप्यन्येन 'शरीरिणेत्यनवस्था ।

§ ५. किञ्च—इदं चेतनावताऽचेतनस्याधिष्ठानं किं तद्वेतुकत्वम्, किं वा तद्विच्छादु-  
विधायित्वमिति ? ।

§ ६. तत्र

“सचेतनं यदा कर्म किमीशेन प्रयोजनम् ।

अचेतनः कथं भावस्तद्विच्छामनुवर्तते ॥

कुलालकरसंपर्कजन्यः कुम्भस्तद्विच्छया ।

दृष्टान्ते न भवन् दृष्टस्तद्विच्छासाधनः कथम् ॥

जगतः करणे चास्य यदि किञ्चित् प्रयोजनम् ।

हीयेत कृतकस्यत्वं प्रेक्षाकारी न खान्यथा ॥

१. तां बुद्ध्यां ० । २. अदृश्योऽपि करोति चेत् ० । ३. पक्षेणाद्यं ० मु० । ४. अथ हेतुं ०  
क० ० मु० । ५. शब्दे नित्ये ० मु० ० । ६. अपि दोषः ० मु० । ७. शरीर-  
मवस्थामभ्युपेयते मु० । ८. शरीरेण ० मु० । ९. हीयते ० मु० ।

प्रेक्षावतां यतो वृत्तिर्व्याप्तास्ते कार्यवत्तया ।  
 प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्वोऽपि प्रवर्तते ॥  
 प्रयोजनं विनाप्यस्य कृपया यदि तत्क्रिया ।  
 सृजेच्च शुभमेवैकं कृपया परिचोदितः ॥  
 छागादीनां पुरीषादेर्बहुलीकरणेन किम् ।  
 कीडार्था तस्य वृत्तिश्चेत् नार्यता स्यात् समाहिता ॥  
 किंविन्मात्रविशुद्धोऽपि नार्यः कीडास्तु वर्तते ।  
 स त्वत्स्यन्तविशुद्धात्मा कथं कीडास्तु वर्तते ॥  
 एकस्य क्षणिका वृत्तिरन्यः प्राणैर्वियुज्यते ।  
 कर्मणां पारतन्त्र्येण यदि चास्य प्रवर्तनम् ॥  
 कर्मणामीशता प्राप्ता तदा कृत्यमनेन किम् ।  
 कर्मणां कारणे चास्य सामर्थ्यं यदि विद्यते ॥  
 शुभान्येव कृपायुक्तः किं न कारयते सदा ।  
 अनुकूलं फलं यद्वत् भुङ्क्ते राहः प्रयच्छतः ।  
 नासामर्थ्यं न वैकृत्यं फलस्याप्युपलभ्यते ॥  
 उक्तमत्र समर्थश्चेत् शुभं कारयतां सदा ।  
 मधेवहाः स्वभावोऽस्य कोऽत्र पर्यनुयुज्यताम् ।  
 स्वभावो यदि विधौ नित्यः संहारं विदधाति किम् ॥  
 अधानित्यः सहेतुः स्यात् महेतुर्वैति कल्पना ।  
 महेतुर्यदि सर्वस्य स स्वभावः प्रसज्यते ॥  
 सहेतोर्हेतुरस्यास्तु स एवान्योऽथ कश्चन ।  
 यद्यन्यस्तत्र कर्तृत्वं स्वभावस्य विधेतरि ॥  
 तेनैव चेद् विधीयेत प्रसंगः पूर्ववद् भवेत् ।  
 किञ्चैककर्तृपूर्वत्वं जगतोऽनेककर्तृता ॥  
 संघातेनैकताव्याप्तिः प्राप्तावादिषु दृश्यते ।  
 एकेन सूत्रितत्वं चेत् तत्रापि नियमो नहि ॥  
 स्वातन्त्र्येण क्वचित्तेषामेककार्यं प्रवर्तनात् ।  
 अनेककर्तृपक्षश्चेदात्मभिः किं न सिध्यति ? ॥  
 कुर्वन्तु स्वस्वमेकैकं तज्जत्वात् सङ्गच्छन्तु ।  
 ज्ञानवन्तोऽपि तेऽन्येन प्रेर्यन्ते यदि कर्मणि ॥  
 सोऽप्यन्येन तदेवैवोऽपीत्यनेकेश्वरसंगमः ।  
 को दोषश्चेद् भवेदेवं नैकोऽपि हि तवेश्वरः ॥  
 सर्वेषां परतन्त्रत्वात् ममीशत्वं कुलालवत् ।  
 तदेवं कार्यताहेतुं सर्वदोषैर्यत्तुतम् ।  
 भाभित्य जगतो हेतुं साधयन्तो विराकृताः ॥”

इति निखिलविधानाधीनविज्ञानमस्य, त्रिभुवनभवभावप्राप्तिद्वाराभिरक्षम् ।

तविह सकलवस्तुज्ञानशून्यस्य रागात्, कथमिव “वनिताज्ञासङ्गिनो मानताऽस्तु ॥ [८<sup>१</sup>]

१. कल्पना परि० अ० ब० । २. करणे अ० ब० मु० । ३. क्रिया अ० । ४. अनकर्म मु० । ५. यच्च  
 वं मु० । ६. स्वभाववेदित्वो क० । ७. महेतुवेति अ० मु० । ८. ‘न्यास्यात्र मु० । ९. विधात-  
 क्मु मु० । १०. साध्यतेनैकं अ० ब० । ११. ‘कार्यप्रभं अ० ब० । १२. ‘तद्वान्यो अ० ब० ।  
 १३. ‘दोषैरभिहतम् ब० । १४. अन्यः स रागात् मु० । १५. ‘मिव दयिता क० मु० ।

§ १. एवमीश्वरस्य प्रामाण्यं निरस्य सांख्याभिमतस्य प्रकृतिपुरुषान्तरज्ञानस्य प्रामाण्यं निरस्यमाह—प्रकृत्यन्तरविज्ञानम्—इत्यादि ।

प्रकृत्यन्तरविज्ञानं पुंसो नित्यमथान्यथा ॥ ८ ॥

नित्यत्वे सर्वदा मोक्षोऽनित्यत्वे न तदुद्भवः ।

- § २. ते हि एवं मन्यन्ते केवलानन्दभोक्त्स्वरूपो हि पुरुषः, प्रकृतिश्चाचिदात्मिका ।  
 प्रकृत्य-  
 न्तरविज्ञा-  
 नपरीक्षा । कथमसौ तां मुञ्चे ? । केवलमज्ञानतमश्छन्नः प्रकृतिसाध्यमेवात्मगतं मन्यमानः  
 तत्सुखं दुःखं चोपमुञ्चे इति । यदा तु ज्ञानमस्य भवेति 'दुःखहेतुरियम्, न ममा-  
 नया सह 'संगो युक्तः' इति तदा किमिति तदुपार्जितं कर्मफलमुपमुञ्चे ? । सापि  
 च 'विज्ञातस्वरूपाऽहं न मदीयैकर्मफलमनेन मोक्षव्यम्' इति बुद्ध्या न किञ्चिदपि करोति ।  
 ॥ कुञ्चिनीव विज्ञातस्वरूपा दूरादपसर्पति । अतः केवलज्ञानं मोक्षायालमिति ।

- § ३. अत्रेदमभिधीयते—कस्य तज्ज्ञानं किं प्रकृतेरथात्मन इति ? । न तावत् प्रकृतेः,  
 अविद्रूपत्वात्, अनभ्युपगमार्थं । अत एव 'निर्ज्ञाताऽहमनेन' इति अस्याः याचितकमण्डनम् ।  
 अथात्मनः, तदपि किं भिन्नमथामिन्नम् ? । यद्यभिन्नम्, तदा तत्स्वरूपवत् नित्यं स्यात् ।  
 तत आदित एव मुक्तो भवेत् । अत आह 'सर्वदा मोक्षः' इति । अथ भिन्नम्; भिन्नमपि  
 ॥ किं नित्यमथानित्यम् ? , नित्यमपि' संबद्धम्, असंबद्धं वा ? । असंबद्धे सर्वस्य स्यात् ।  
 ततश्च न कस्यापि संसारः । संबन्धोऽपि न नित्ययोः परस्परमनुपकार्योपकारकयोः स्यात् ।  
 संबन्धोऽपि वा सदा मुक्तिरिति । अनित्यमपि किं जन्यमजन्यं वा ? । तत्रानित्यमजन्यं चेति  
 व्याहृतम् । अन्याहृतावपि सर्वस्य स्यात् । जन्यमपि किं प्रकृतिवियुक्तात्मजन्यम्, किं वा  
 तत्सहितजन्यमिति । प्रथमपक्षे इतरेतराश्रयत्वम् । तथा हि—सति ज्ञाने प्रकृतिवियोगः,  
 ॥ सति वियोगे तज्ज्ञानमिति । तत्सहितजन्यत्वे किं तद्वियोगेन ? । सर्वदा सर्वेषां च मुक्तिः  
 स्यात् । ननूक्तम् 'अविज्ञानतमश्छन्नः' इति तमोविर्गमादस्य विज्ञानमुपजायत इति ।

- § ४. अथ किमिदं तमः ? । रागादय इति चेत्—न, तेषां प्रकृतिधर्मत्वात् । न च  
 साम्यावस्थायां तदुत्तरकार्यभाविनः प्रकृतावपि ते सन्ति । शक्तिरूपतया सन्तीति चेत्;  
 शक्तिरपि न कार्यकार्यं करोति । किन्तु स्वकार्यमेव करोति । न हि क्षीरे दधिशक्तिः दधि-  
 ॥ साध्यं कार्यं करोति । किन्तु दध्नेव करोति । दधि पश्चात् स्वकार्यं करोति । पश्चाद्भवन्तु,  
 तथापि रागादयः सिद्धा इति चेत्; न, प्रधानस्य विकारजनने सहकारिकारणाभावेन तेषां  
 पश्चादप्यसिद्धेः ।

- § ५. सन्तु वाऽविचारागादयः, ते मुक्तात्मनः किं न तमो भवन्ति । अधिकारिण एव  
 ते भवन्ति, न मुक्तात्मन इति चेत्; किमिदम् अधिकारित्वम् ? । 'योग्यत्वमिति ब्रूमः ।  
 ॥ तथा हि—प्रकृतिरचेतना योग्यरूपा । सा भोक्तारमपेक्षते । पुरुषोऽपि चेतनो भोक्ता च । स

१. यदा ज्ञानं मु० । २. भवेत् क० । ३. संयोगः अ० । ४. °पाहं मदीयं मु० । ५. मदीयं  
 कर्म अ० । ६. नीव निर्ज्ञात क० । ७. अथेदम मु० । ८. °गमादा मु० । ९. °मपि किं सं मु० ।  
 १०. °ऽपि सदा अ० । ११. सर्वेषां मुक्तिः अ० । १२. तमो विरामाद क० । तमो विरामेऽवश्यं विज्ञा  
 मु० । १३. न साम्या अ० मु० । १४. न कार्य क० । १५. विकाराजं मु० । १६. इतः आरभ्य  
 'योग्यतालक्षणः' इतिपर्यन्तः पाठः मु० क० प्रत्योः 'सन्ति' [ पृ० ४४ पं० ..... ] इत्यनन्तरं वर्तते सं० ।

च भोग्यमपेक्षते । तयोरयं योग्यतालक्षणः संबन्धो वनगतयोरिव पद्मबन्धयोर्ममं निर्जि-  
गमिष्वोरिति<sup>१</sup> । ननु सा योग्यता तयोर्नित्या न कदाचिदैवैति । ततो न कदाचित् ज्ञानोत्प-  
त्तिरिति । तदाह — न तदुद्भवः इति । न तस्य ज्ञानस्योद्भव उत्पत्तिः स्यादिति । न चामप्यु-  
क्तानुत्पत्तिरैकरूपस्यात्मनः स्वभावविगमो युक्तिमानिति न तस्य प्राग्बत् केवलज्ञानं  
प्रमाणमिति स्थितम् । [ ९<sup>१</sup> ]

§ १. निरस्ते कुंमतध्वान्ते जिनाकोदयकांक्षिणौ ।

इदानीमुर्द्वयोपायस्तस्यायमभिधीयते ॥

—कालवैपुल्येत्यादि—

कालवैपुल्ययोग्यत्वकुशलाभ्याससंभवे ॥ ९ ॥

आवृत्तिप्रक्षयाज्ज्ञानं सार्वश्यमुपजायते ।

§ २. तथा हि—

जीवस्थाभाव्यतः सिद्धा गुणा गम्भीरतादयः ।

चरमे पुत्रलावर्ते भव्यत्वे पाकमागते ॥

रत्नत्रयाख्यं कुशलमवाप्याभ्यस्यतः क्रमात् ।

ज्ञानावृत्तिप्रक्षयाज्ज्ञानमर्हते<sup>१२</sup> जायतेऽक्षतम् ॥ [ १०<sup>१</sup> ]

§ १. शरीराङ्गिणमात्मानं प्रत्यक्षं नैव वीक्षते ।

प्रामाण्यं नानुमानस्य सर्वमेतदसंगतम् ॥

नानुमानं प्रमेत्येतद्भवनं चार्वाकचर्चितम् । किं प्रमाणमथान्यथा ? ।

अप्रमाणं कथमनुमाननिवेधायालम् ? । प्रमाणमपि नाध्यक्षम्, अनभ्यस्तत्वात् । अत्रानु-  
मानम् । तदेतत् पीतमणस्य प्रलपितम् । प्रतिपादयिष्यतेऽनुमानप्रामाण्यं प्रमाणद्वित्वसिद्धा-  
विति । तदेवोपन्यसमाह — सदैवेतुकमित्यादि—

सदैवेतुकमस्तीह सदैव क्षमादितस्त्वचत् ॥ १० ॥

§ २. अनेन प्रयोगार्थो दर्शितः । प्रयोगश्च — यत् सदैवेतुकं तत् सर्वदा अस्ति । यथा  
पृथिव्यादितस्त्वम् । सदैवेतुकं च आहारासाक्षिचैतन्यपर्यायं जीवद्रव्यमिति । [ १० ]

§ १. एतत् साधयितुमनुमानमाह — आहारासक्तीत्यादि—

आहारासक्तिचैतन्यं जन्मादौ मध्यवस्तथा ।

§ २. इह आहारग्रहणमुपलक्षणम् । इह चेतसो यदासक्तिः सा तदभ्यासपूर्विका । यथा  
जीवसिद्धिः । यौवर्नीवस्थायां रागाद्यासक्तिचित्तं तदभ्यासपूर्वम् । अस्ति च जन्मादावाहाराद्या-

१. 'न्ययोर्निर्जि' अ० ब० । २. 'मिषोरिति' क० । ३. 'यपि निवर्तते न कदा' मु० । ४. उत्पत्तिः ।  
न का' ब० । ५. 'तमे स्थि' अ० । ६. स्थितिः मु० । ७. निरस्तक' क० मु० । ८. उमुदप्या'  
मु० । ९. कांक्षिणः मु० । १०. 'दयो यस्य तस्या' मु० । ११. किञ्चै' क० । १२. मर्हते जा'  
अ० ब० । १३. चर्चितम् मु० । १४. 'न्यस्यमाह' अ० ब० । १५. सदैव' मु० । १६. 'न्यादिकं'  
मु० । १७. सदैव' मु० । १८. यौवनायव' मु० ।

सक्तिवैतन्यमिति कार्यहेतुः । तत्क्षणजातस्यापि स्तनपान-शरीररक्षाणुपलब्धेर्नोसिद्धता हेतोः ।  
सपक्षे सत्त्वान्न विकृतता । कार्यकारणभावसिद्धेर्नानैकान्तिकता । अनुगमस्य भावात्  
सर्वास्तिवमात्मन इति ।

§ ३. अथ कार्यकारणभावाव्यवस्थानात् कथमेतत् ? ।

तथा हि —

“धूमो धूमान्तरोत्पन्नो न धूमादेष सर्वथा ।  
शालूकादपि शालूकः कथं भवति गोमयात् ? ॥”

तथा —

“चित्रं चित्रकराज्जातं पतत्रिष्वपि किं तथा ? ।  
तथाभ्यासाद्विशेषो यः सोऽन्यथाऽपि भविष्यति ॥”

§ ४. तदसत् ।

“धूमो धूमाद्यथाभूतः सोऽन्यथाऽपि न जायते ।  
अभ्यासात्तु विशेषो यः स जन्मादौ तथा स्थितः ॥”

प्रामान्तराभ्यासवज्जन्मान्तराभ्यासात्तुपलब्धेर्न तत्कारणता चैतन्यस्य, किन्तु तदैव तस्यो-  
पलब्धेः । तस्मात् तदैव तदिति चेत् । तदेतद्भौताख्यानम् —

“कश्चिद्भूतः किलान्येन दृष्टः कथय संभवः ।  
मातुर्दीर्घेविषाणस्य मेहिषस्य कथं स्थितेः ।  
स ग्राह कुक्षेर्जायन्ते न मातुर्मेहिषा भमी ॥  
इडागतानामेवैषां मूत्रेण कथमौत्रकम् ।  
न च मातापितृचैतन्यजन्यत्वेन चेतसः ॥”

सिद्धेता वाच्या । अन्यथा सकलस्य पण्डित्यादिविशेषस्याप्यनुवर्तनं स्यात् । न चेहान्यस्यै-  
संस्कारोऽन्यस्य दृष्टः । उपाध्यायसंस्कारानुवर्तनमुपलभ्यत इति चेत् ; न, स्वसंतानपूर्व-  
विक्रान्त्यैवाभिरुचिविशेषितस्य भावाद् अन्यथाऽदृष्टेः । ये चाचेतनात् काष्ठादेरुपजायन्ते  
तेषां कथं मातापितृचैतन्यपूर्वकत्वम् ? ।

§ ५. किञ्च — तत्रैव कस्यचिन्मरणोभावात् सकलमातापितृस्यभावानुवर्तनं स्यात् । परलो-  
किर्नेस्तु मरणगर्भजन्मदुःखसमुद्घातन्याकुलत्वेन कस्यचिदेव दृष्टेः । कस्यचिन्तु जातिस्र-  
णमुपलभ्यते । अपूर्वोत्पन्नस्य तु तैवावस्थितिर्न दुःखम् ।

“तदैव तज्रोत्पन्नस्य न दुःखं विषकीटवत् ।  
परलोकिनस्तु तदुःखमनाद्यभ्याससेवनात् ॥”

§ ६. “अथ वेदात्मिका वेदकार्या वेदस्य च गुणो ( ‘र्या वेदगुणो ) भूतिः ।  
मतत्रयमिहाभिस्य न परलोकस्य संभवः ॥”

१. सदा नित्यं अ० ब० । २. सादृक् अ० ब० । ३. सादृकः अ० ब० । ४. ‘न्येन दृष्टः  
कथमेतदभवः मु० । ५. वृषमस्य क० मु० । ६. ‘मेवेषा शस्येन कथयिक्यमात्रकम् मु० । ७. कथयिक-  
यमां क० । ८. न च मातृपि क० । न मातृपि मु० । न मातापि अ० ब० । ९. सिद्धताप्यता  
वाच्या क० मु० । १०. ‘स्य व्यापिलाति’ मु० । ११. ‘न्यसंस्का’ क० मु० । १२. स्वसंतानस्य पूर्व-  
क० मु० । १३. किञ्च कस्य क० मु० । १४. ‘मरणभावात् क० मु० । १५. परलोकिकस्तु  
क० मु० । १६. ‘विजाति’ क० मु० । १७. चैतन्यम् अ-टि० ।

तथा हि—न धूमो धूमश्च ज्ञान्तरादागच्छति । नापि धूमश्च ज्ञान्तरं प्रयाति । नापि धूमश्च ज्वरिहे भवति । चित्रं वा न कुड्यान्तरादागच्छति, कुड्यान्तरं वा संक्रान्ति, कुड्यविरहितं वाऽवतिष्ठते; मदक्षकिर्वा कपायादेः सक्षरं रादपूर्वा जायमाना न मद्यान्तरमवलम्बते, मद्यान्तराद्वा आगच्छति, तैदिल्लये वाऽवतिष्ठते ।

§ ७. तदसत् । महाभूतपरिणामरूपस्य चैतन्यकारणत्वे सर्वं स्वप्नकुम्भादि सचैतनं स्यात् । अथ महाभूतसंभविनोऽपि रक्षादयो न सर्वत्र भाविनः, तद्वत् कश्चिदेष महाभूतपरिणतिविशेषश्चैतन्यहेतुः । तदप्यसत् । यतः—

“न स कश्चित् पृथिव्यादेरंशो यत्र न जन्तवः ।

संखेदजाया जायन्ते सर्वे बीजात्मकं ततः ॥” [५. ४।०]

अथ यदि न महाभूतकार्याः प्राणिनः कथं काष्ठाद्यन्वयिनी प्राणिजातिरुपलभ्यते ? । तत्र, यतः समानजातीयं सर्वं तद्रूपप्राणिमयं स्यात् । न चैवम् । तथा हि—परिर्भाव्य स्त्रोपितेऽन्मसि सकलतद्रूपप्राणिगणोत्पत्तिः स्यात् । कुतो वर्णसंस्थानवैलक्षण्यम् ? ।

“तथा हि रक्तेशिरसः पीतकायादयोऽपरे ।

जलादिप्राणिनो दृष्टाः स आकारः कुतो भवेत् ? ॥

तद्रूपबीजात् कमलादिभेदः, किं दृष्ट ईदृशोऽनियतः कदाचित् ।

न प्राणिभेदो नियतोऽस्ति बीजात्, सर्वत्र कर्माणि नियामकानि ॥”

§ ८. न च चैतन्यादुत्पद्यमानमुपलब्धमन्यदे शरीरादुत्पद्यत इति बाध्यम् । सर्वत्र कार्यकारणभावोच्छेदप्रसक्तेः । तथा च सति—

“नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात् ।

अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसंभवः ॥” [प्रमाणवा० १.३४]

§ ९. किञ्च—तदुत्पद्यमानं चैतन्यं किं समस्तादुत्पद्यते, व्यस्ताद्वा ? । न तावत् समस्तात्, अङ्गुल्याविच्छेदेऽपि मरणप्रसङ्गात्, अन्यथा शिरश्छेदेऽप्यमरणप्रसक्तेः । नापि व्यस्तात्, एकस्मिन्नेव कायेऽनेकचैतन्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । अथैकः शरीरावयवी तत एकमेव चैतन्यमुत्पद्यते । तदप्यसत् । आश्रुतानाश्रुतत्वेन, रक्षारक्तत्वेन, चलाचलत्वेन च तस्यासंभवात् ।

§ १०. किञ्च—शरीरस्यावैकल्यात् सूतशरीरेऽपि चैतन्योत्पत्तिः स्यात् । अथ तातादि-दोषैर्वैगुण्यात् न सूतशरीरस्य चैतन्योत्पादकत्वम् । नैतत् सारम् । यतो सूतस्य समीपमन्ति दोषाः, ततो वैदृशारोग्यलाभात् पुनरुज्जीवनं स्यात् ।

“तेषां समस्त्वमारोग्यं क्षयदृष्टी विपर्ययः ।” [५. ४।०]

इति वचनात् । अथ समीकरणं दोषाणां कुतो क्रियते ? । ज्वरादिविकारादर्जनात् । अथ वैगुण्यकारिणि निवृत्तेऽपि नावश्यं तत्कृतस्य वैगुण्यस्य निवृत्तिः । यथाऽग्निमिदृतावपि न ॥

१. भ्रूयान्तरा० क० मु० । २. गच्छति मु० । ३. तद्विगमे मु० । ४. ष्टे तदप्यसत् । यतः मु० । ५. तदसत् महाभाविनः तद्वत् क० । ६. न कश्चित् अ० क० मु० । ७. सर्वबीजा० क० मु० । ८. परित्याप्य मु० । ९. स्थाप्यतेऽमसि अ० मु० । १०. रक्तः शिरः अ० अ० । ११. दृष्टो बालि० क० । १२. सन्तत्र मु० । १३. अन्यथा अ० मु० । १४. व्यस्तावेवास्मि अ० । १५. कुतो जायते अ० ।



काष्ठे दग्धाहस्याऽपि । तदपि न, यतः किञ्चित् कचिदनिवर्त्यविकारारम्भकं दृष्टम्, यथा काष्ठेऽग्निः । कचिच्च निवर्त्यविकारारम्भकम्, यथा सुवर्णे द्रवतायाः । तत्र यदि दोषविकारोऽनिवर्त्यः स्यात्, चिकित्साशास्त्रं वृथैव स्यात् । ततो दोषस्याविविकारत्वेन महतोऽपि मरणविकारस्य निवृत्तिः प्रसज्येते । अथ चिकित्साप्रयोगादौर्बल्यादिनिवृत्त्युपलब्धेः प्रत्यानेयविकारत्वम्, असाध्यव्याभ्युपलब्धेः प्रत्यानेयविकारत्वं चेत्तु भयवामावात् मरणा-निवृत्तिः । तदसत् ।

“कुर्लमत्वात् समाधानुरसाम्यं किञ्चिदीरितम् ।

आयुःसंख्यायां दोषे तु केवले नास्त्यसाध्यता ॥” [५. ११.]

तथा हि—तेनैव व्याधिना कश्चित् भ्रियते, कश्चिन्नेति । नेदमसमक्षसं केवले दोषे”  
॥ विकारकारिणि घटते । तस्मात् कर्माधिपत्यमेवात्र परिहारः । अन्यथा—

“मृते विषादिसंहारात् तदंशच्छेदतोऽपि वा ।

विकारहेतोर्विगमे स मोक्षहेतुसिद्धिः किं पुनः ॥” [५. १२.]

§ ११. किञ्च—उपादानविकारमन्तरेण नोपादेयस्य विकारो दृष्टः, यथा मृत्तिकारमन्तरेण न कुण्डस्य । इह तु स्वच्छेऽपि देहे भयशोकादिना मनोविकारदर्शनात् न देहोपादानता ।  
॥ शरीरविकारेणापि चेतसो विकारोपलब्धेः तदुपादानमिति चेत्, न, पुत्रेण व्यभिचारात् । नियमाभावात् । यथा हि विसविकारमन्तरेण नोत्तरचेतसो विकारो नैवं शरीरे नियमः । अथत्वाकारणं तु स्यात् ।

“अवस्थाकारणं वर्तु नैवोपादानकारणम् ।

अवस्थाकृतिवृत्तौ हि सैवावस्था निवर्तताम् ॥

॥ सन्तानकारणं यत्तु तदुपादानकारणम् ।  
तच्चित्तवृत्तौ भवेत्तस्य सन्तानस्य निवर्तनम् ।  
अज्ञेयवृत्तौ ताम्रस्य द्रवतैश्च निवर्तते ।  
चेतसः सह कायेन तावत्कालमवस्थितिः ॥  
अज्ञेयोऽन्यसहकारित्वाद्भिताम्रद्रवत्ववत् ।  
तैयोर्हेतोरकार्यं तु “भिन्नं तिष्ठति हेमवत् ॥”

तच्चित्तमेव चेतस उपादानम्, न शरीरमिति ।

§ १२. नापि चक्षुरादीनि, यतो मनःसमाभितान्येव चक्षुरादीन्युपलभ्यन्ते, न मनस्त-  
दभितम् । यस्याभियमेन भयशोकक्रोधादिनोपहृते मनसि चक्षुर्विकारो दृश्यते । न तु  
धारिषकानां चक्षुरादिविकारेऽपि मनोविकारः । कादाचित्कस्तु मनसो विकारः पुत्रेन्द्रिय-  
॥ विकारेऽपि पितृरुपलब्धे इति । न ततो व्यभिचारः । न च यथाग्नेर्विकारमासादियत् घटा-  
विवस्तु तत एव नोत्पद्यते तथेन्द्रियाणीति वाच्यम् । यतः—

“घटादिरन्यथा दृष्टस्ततो न तत एव सः ।

नान्यथा तु पुनर्दृष्टमिन्द्रियं तद्विकारतः ॥”

१. काष्ठे दग्धाहं मु० । २. प्रसज्यते व० । ३. वातादिवैषम्यादुपादानं मु० । ४. केवलो  
व० । ५. कचिदपि व० मु० । ६. इह स्वच्छे व० । ७. शरीरम् अ-टि० । ८. कारणं यत्तु  
उपादानं मु० । ९. तौ हेतवस्तु द्रव्यं मु० । १०. पूर्वोक्तं हेतुनिवृत्तौ निवृत्तिमुक्त्वा हेतुसंज्ञायां युगपत्सत्तामाह-  
क-टि० । ११. नापि देह-कर्मवासितं चेतस-व-टि० । १२. कुतः व-टि० । १३. तयोर्हेतोरं मु०  
क० । १४. तु विना तिष्ठं मु० । १५. लब्धेति मु० । १६. मासाद्य घटां मु० ।

§ १३. किञ्च, चक्षुरादिभ्यः किमेकैकशो मनोविक्रान्तमुत्पद्यते, समस्तोभ्यो वा ? । प्रथमपक्षे नियतविषयमेव मनोज्ञानं स्याद् रूपादिदर्शनादिवत् । द्वितीये तु नान्धबधिरादेर्मनो-  
विक्रान्तं स्यात् । न हि बीजादिभ्यः समस्तोभ्यः समुत्पद्यमानोऽङ्कुरस्तदेकापावेऽप्युत्पद्यते ।  
तत्र चक्षुरादिकार्यता ।

§ १४. नापि प्राणापानकार्यता । प्राणापानौ हि मनोविक्रान्तान्वयव्यतिरेकानुविधायिनौ ।  
न मनोविक्रान्तं तद्व्यव्यतिरेकानुविधायि । अन्यथा मूर्च्छाविच्छेदे चैतन्यं न स्यात् ।  
तत्कार्यतामन्तरेण मनोज्ञानव्ययता च तयोर्न स्यात् । न स्वल्पन्याधीनम् अन्येन वशयितुं  
शक्यम् । अथ अन्यत् उत्पन्नोऽपि अन्येन नियम्यते, यथा स्वामिना भृत्यः । तदप्यसत् ।

“सुखस्यान्यत् उत्पत्तिर्दृश्यते न पुनस्तयोः ।

न चित्तमन्तरेणास्ति तयोदत्पत्तिरन्यतः ॥”

§ १५. अथ स्वापावस्थायां प्राणापानौ चित्तमन्तरेणापि दृश्येते । तत् कथं तत्कार्यौ ? ।  
तत्र । निद्राभिभूतस्य तदाऽपि भावात् ।

“शरीरत्वेहा यावत्स्यस्ताः सर्वाश्चित्संस्कृताः ।

सुप्तस्य दीर्घस्वादिनिःश्वासाः पूर्वचित्ततः ॥”

न हि चैतन्यमन्तरेण प्रेरणाकर्षणे भवतः । न च प्रेरणाकर्षणे एव चैतन्यात् न प्राणा-  
पानाविति । तत्स्वरूपव्यतिरेकेण प्रेरणाकर्षणयोरभावात् ।

§ १६. अथ स्थिरो बायुः प्राणापानयोर्हेतुः, ततश्चेतना । तदप्यसत् । मृतस्यापि स्थिरो  
बायुरस्ति इति प्राणापानानिष्ठौ चैतन्यस्य निवृत्तिः स्यात् । यदि च प्राणापानकार्यं चैतन्यं  
तदा तयोर्निर्वासादिष्वपि तस्यापि तौ स्याताम् । अवश्यं हि कारणे परिहीयमानेऽभिवर्धमाने  
वा कार्यस्य हानिरुपपद्यते स्यात् । अन्यथा तत् तस्य कार्यमेव न भवेत् । न चैवम् । अतो  
न शरीरेन्द्रियप्राणापानकार्यं चित्तम् ।

§ १७. नापि देहाभितम् । आश्रयाश्रयिभावप्रतिवेधात् । तथा हि—असत्स्वाप्त  
स्वरविषयान्शेष नाश्रयः । केवलमसत् कारणादुत्पत्तिमेवेहेतु, अतोऽसत् कारणमेव  
स्यात्, नाश्रयः । सतोऽपि सर्वनिराशंसत्वात् न कश्चिदाश्रयः । अथ सतः स्थितिकर्णा-  
दाश्रयः । न, स्थितेः स्वातुरव्यतिरेके तत्करणे स एव कृतः स्यात् । न च सतः करण-  
मुत्पन्नस्य पुनस्तदायोगात् । अधोत्पन्नस्यापि किञ्चिदनुत्पन्नमस्ति तत्करणदाश्रयः । सर्वा-  
त्मनोत्पादे कारणमुच्यते, कस्यचित् भर्मसोत्पादे आधारः । न च स्थितिरव्यतिरिक्ता  
स्वरूपात्, पततोऽपि स्थित्यभावे स्वरूपसद्भावात् । यदि पुनरव्यतिरिक्ता स्थितिः स्यात्, स्थिते-  
रव्यतिरिक्तः स भवेत्, ततः सर्वदा स्थितिरेव भवेत् । तेन स्वरूपे सति निवर्तमाना विवक्ष-  
वर्माभ्यासात् ततो व्यतिरिक्ता सा । तदप्यसत् । व्यतिरेके<sup>१</sup> हि सति तदेतरेवासौ, न<sup>२</sup>  
तस्याधारः ।

१. 'ये उत्प' मु० । २. 'रेकविधायि अ० ब० । ३. 'स्यात् कार्य' अ० ब० मु० । ४. 'मिदामि'  
अ० ब०, 'मिदामि' क० । ५. 'ताः स्वार्थाश्चि' क० मु० । ६. 'न्यात् प्राणा' मु० । ७. 'न्यानि' क० ।  
८. 'करणे नाश्रयः' मु० । ९. 'रेकेण तत्क' मु० । १०. 'तत्कारणा' मु० । ११. 'आधारोऽनवस्थितिः'  
अ० ब० । १२. 'तिरिक्ते हि' मु० ।

§ १८. तस्य स्थितिकरणात् तदाधार इति चेत्; किमसावुत्पन्ना सती स्थाप्यस्य भवति, अन्यथा वा ? । अनुत्पन्ना असत्त्वात् न तस्य । उत्पन्नाप्यन्यस्यात् कथं भावस्य, तादात्म्य-  
तदुत्पत्तिसंबन्धमाभावात् ? । अथ तत एवोत्पद्यते नान्यतः । तथा सति तत्कार्या स्यात्  
नाभयकार्या । तत्र चोक्तं दूषणम् । तथा हि — स्थाप्येन स्थितिः क्रियते नामयेण । अथ स्थितेः  
१ स्थितिः क्रियते आश्रयेण तर्हि अनवस्था स्यात् ।

§ १९. यदि चाश्रयो देहः, तदा यस्य स्थितिकारणमस्ति तस्य न विनाशः स्यात् । अथ  
तत्स्थापके सत्यपि नाशहेतोर्नाशः । न नाशो नामाऽन्य एव भावात् । व्यतिरेके च नाश  
एव तेन कृतः स्यात्, न भावः । ततोऽनाशात् स्वयमेवास्त इति किं स्थितिहेतुना ? । यदि च  
नाशहेतोर्नाशो यावन्नाशको नायाति तावत् स्वयमेवास्त इति किं स्थितिहेतुना ? । अथ विना-  
१० श्चात् पूर्वं स्थापकेन विनाशप्रतिबन्धः क्रियते । ननु सोऽपि विनाशप्रतिबन्धोऽन्यो विना-  
श्यात् । ततश्च विनाशस्य न किंचिदिति विनश्येत् । अधानन्यः, तर्हि विनाशयः स्थापकेन  
क्रियते न स्थितिः । अथ प्रतिक्षणं विनश्वरः स्थापकादन्यथा भवति, तस्यापि विनाशोऽहेतुक  
इति स एव प्रतिक्षणं विनाशः । स च अन्यथा स्थापकादुत्पन्न इति कारणमेव स्यात्, न  
स्थापकः ।

११ § २०. अथ पततो धारणोपलब्धेः कथं न स्थापकः ? । न पततो धारणं, यस्य च  
धारणं न तस्य पतनम्, पतनापतनयोः परस्परविरोधात् । पूर्वं पतनं पश्चादपतनमिति चेत्,  
न तर्हि यस्य पतनं तस्य धारणम्, प्रत्यक्षेणैकत्वाप्रतिपत्तेः । न ह्येकोऽवस्थाता पतनेतरव्याप्यु-  
पलब्ध्यते ।

§ २१. स एव पतनवतिष्ठत इति एकत्वाभिमानादवस्थातुः प्रतीतिरिति चेत्; न, प्रत्यभि-  
१२ ज्ञानत्वाभिमानमात्रत्वात् । ततः प्रतिक्षणविनाशिनामपरापरदेशोत्पादवतामुपादानदेशोत्प-  
त्तिरेव आधारसमागमकृतेति हेतुरेव विशिष्टावस्थाया आधार उच्यते ।

§ २२. किं च, गुरुणो द्रव्यस्य पततः पातप्रतिबन्धात् स्थापकः स्यादपि, निष्क्रियाणां तु  
गुणसामान्यकर्मणां किमाधारेण ? । चैतन्यं च सामान्यं गुणः कर्म वा ? तच्च सर्वथा  
निष्क्रियमिति नाऽधारेणास्य किंचित् । अतोऽनावेयस्य चेतसो नाधारविनाशेन विनाशः ।  
१३ कियत्कालं तु सहस्थानमार्त्रममिताम्रद्रवत्ववदित्युक्तम् । तत्र कायाभितं चेतः ।

§ २३. नापि कायात्मकम् । यतः परमाणुसंघातमात्रमेव शरीरम् । तत्तादात्म्ये प्रत्येकं  
सकलपरमाणुसंवेदनप्रसङ्गः स्यात् । न च अवयव्येको विद्यते तत्सद्भावेऽपि वा इयामता-  
दिवदन्येन चैतन्यवेदनं स्यात् । अन्तःस्थद्रव्यरूपत्वाभेति चेत्; न, प्रणं स्पृशतोऽन्यस्यापि  
तद्देवनावेदनं स्यात् । तच्छरीरे गृह्यमाणे चैतन्याग्रहणाद् विरुद्धधर्माध्यासेन न तादात्म्यम् ।  
१४ तत्र देहकार्यं देहगुणो देहात्मकं वा चैतन्यं किन्तु जन्मान्तरचैतन्योपादानमेव । जन्मा-  
द्विजन्मचैतन्यपर्यायं जीवद्रव्यमिति ।

१. स्थाप्या भवति मु० । २. अथ स्थापके क० मु० । ३. विनाशस्य अ० व० । ४. स्थापकेन  
न स्थितिः अ० व० । ५. करणं मु० । ६. चेत् तर्हि मु० । ७. "शोत्पत्तिराधारं" क० मु० । ८. "मात्र-  
कर्मि" क० मु० । ९. "ध्यासेन तादा" मु० ।

§ २४. अथ कथं परलोकशरीराच्छरीरान्तरसंचारः ? । वृद्धादिशरीरावस्थासंचारवत् । अन्यैकोपादानभावेन तदेकत्वात् न शरीरान्तरम् । पश्चादिशरीरे तु नैवम् । तदपि स्वप्रान्तिक-  
शरीरसंचारदर्शनाद् अनैकान्तिकम् । किं च, शरीरान्तरे मनःसंक्रान्तिः कथञ्चित् तद्वा-  
हकत्वेनैव, नान्यथा । सा चेह पश्चादिशरीरेष्वप्युपलभ्यते । तत् कथं न शरीरान्तरसंचारो-  
पलब्धिः ? । अथ प्राज्ञतामात्रे संचारे परशरीरवत् स्वशरीरक्षतावपि न व्याकुलतादयः स्युः ।  
तदप्यसत् । पररक्षादिदर्शनेऽपि केषांचिद् व्याकुलितोपलब्धेरात्मशरीरक्षतावपि केषांचिद्-  
भावात् । तदनेकजन्मपरंपरावासनादाहर्ष्यादात्मीयमहस्रज्ञावे व्याकुलतादयः प्रवर्तन्त इति ।

§ २५. अथ भवतु कार्यादतीतपरलोकानुमानम्, भाविनस्तु कथं ? , तदर्थो च दानावि-  
क्रियेभ्यते ? । तदपि यत्किञ्चित् । सिद्धे हि कार्यकारणभावे, यथा कार्यात् कारणानुमानम्,  
तथाऽविकलकारणात् कार्यस्यापि इत्यनैकान्तिकत्वाद्विदूषणं नैव संभवति ।

“कार्यकारणसंज्ञावात् चैतन्येनान्यचेतसः” इति ।

“यच्च क्षणिकपर्यायपरिणामिनि संस्थिते ।

गुणाः प्रकर्षमायान्ति कालेन सहकारिणः” ॥ [ ११' ]

५

§ १. इति निगदितमेतत् केवलज्ञानहेतुः, कुसलमखिलबन्धो ज्ञानचारित्रदृष्टिः ।

सकलमलविहीनं साधनं तस्य सिद्धौ, कथयितुमिदमन्यद् वार्तिकस्याह कर्ता ॥

५

अन्त्यसामग्र्यवद्हेतुरित्यादि -

अन्त्यसामग्र्यवद्हेतुः संपूर्णः कार्यकृत् सदा ॥ ११ ॥

ज्योतिः साक्षात्कृतिः कश्चित् संपूर्णस्तत्त्ववेदने ।

§ २. हेतुः कारणकलापः । संपूर्ण इति अविकलः । सदेववश्यमेव कार्यकारी । अन्यथा  
वर्ष-  
सिद्धिः । कार्योत्पत्तिर्न कदाचित् स्यात् । अन्त्यसामग्र्यवदिति व्याप्तिविषयोपदर्शनम् ।  
कश्चिद् विवादाध्यासितः तत्त्वज्ञानोत्पत्तौ महोपरागादिसाक्षात्कारित्वादविकलकारणं इति ।  
प्रयोगश्च - यदविकलकारणं तदवश्यमेव कार्यमुत्पादयति । यथा अन्त्या कारणसामग्री ।  
अविकलकारणश्च तत्त्वज्ञानोत्पत्तौ अतीन्द्रियमहोपरागादिसाक्षाद्गृष्टा तज्जातीयेष्वेतीन्द्रियेषु  
जीवादिषु कश्चिविति । हेतुमेव समर्थयितुमाह - यस्य यज्जातीयाः पदार्थाः प्रत्यक्षाः, तस्या-  
सत्यावरणे तेऽपि प्रत्यक्षाः । यथा घटसमानजातीयभूतलप्रत्यक्षत्वे घटः । प्रत्यक्षाश्च कस्य-  
चिदतीन्द्रियजीवादिपदार्थसजातीयमहोपरागादयो भावा इति । न तावदयमसिद्धो हेतुः ।  
यतो यो यद्विषयानुपदेशौलिङ्गाविसंबादिबचनरचनानुक्रमकर्ता स तत्साक्षात्कारी । यथा-  
स्मदादिरात्मीयानुभवबचनरचनानुक्रमकर्ता । महोपरागादिशौक्षकर्ता च स, तस्मात् साक्षा-  
त्कारीति । न चापौरुषेयत्वेनासिद्धत्वमभिधानीयम्, तस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात् ।

१. तदपि स्वाधिकारीरं मु० । २. “क्रान्तिः तद्वा” अ० ब० । ३. “दयः । तद” अ० ब० ।  
४. तदनेकं क० मु० । ५. सिद्धे कार्यं अ० ब० । ६. “कारित्वाविक” क० मु० । ७. कारणमिति  
क० मु० । ८. “कारणजातीन्द्रि” क० मु० । ९. तज्जातीयेषु जीवां क० । १०. तावदयं सि० मु० ।  
११. “वैसलिङ्ग” क० । १२. महोपरागादिसाक्षात्कारी तत्साक्षात्कर्तृति नवां क० मु० ।

§ ३. ननु अनुमानबाधितेयं प्रतिज्ञा । तथा हि - देशान्तरे कालान्तरे च यत्प्रं तद्वि-  
 कर्षणार्थे दानीतनचक्षुर्जनितप्रत्यक्षसमानजातीयप्रत्यक्षप्राप्तम्, रूपशब्दवाक्यत्वाद् इदानी-  
 नीमास-  
 कस्य पूर्व-  
 पक्षः । प्रत्यक्षं तद्देशान्तरादावपि नियतदेशकालरूपप्राप्तं प्रत्यक्षशब्दवाक्यत्वाद्, इदानी-  
 तनरूपप्रत्यक्षवदिति । एवं शेषेन्द्रियप्रत्यक्षेष्वपि पञ्चानुमानानि भवन्ति । तदुक्तम् -

“यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् ।

दृष्टं संप्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत् ॥” [ श्लोक० २.११३ ]

इति न च गृभादिभिर्व्यभिचारो वाच्यः । तेऽपि न स्वार्थमुल्लङ्घ्य वर्तन्ते । तदुक्तम् -

“यज्जाप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।

दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यात् न रूपे भोजवृत्तितः ॥” [ श्ले० २.११४ ]

“येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रकामेधाबलैर्नराः ।

स्तोकस्तोकात्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥

प्राज्ञोऽपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोऽपि सन् ।

संजातीयरतिक्रामप्रतिशेते परान् नरान् ॥” इति [ तत्त्वसं० का० २.१६०, ११ ]

“एकशालुविचारेषु दृश्यतेऽतिशयो महान् ।

न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तावन्मात्रेण लभ्यते ॥

ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः ।

प्रकृष्यते, न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये ॥

ज्योतिर्विज्ञं प्रकृष्टोऽपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु ।

न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ॥

तथा वेदेतिहासादिकानातिशयवानपि ।

न स्वर्गवेचताऽदृष्टप्रत्यक्षीकरणक्षमः ॥

दशहस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्सृज्य गच्छति ।

न योजनमसौ गन्तुं शक्नोऽभ्यासशतैरपि ॥

तस्मादतिशयज्ञानैरतिदूरगतैरपि ।

किञ्चिदेवाधिकं ज्ञातुं शक्यते न त्वतीन्द्रियम् ॥”

[ तत्त्वसं० का० २.१६४-२.१६९ ]

इति । तत् स्थितमनुमानबाधितेयं प्रतिज्ञेति ।

§ ४. तथा, अभावप्रमाणबाधिता । तथा हि - प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावेऽभाव-

प्रमाणमेव विजयते । तदभावमेव दर्शयितुमाह -

“सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमसदादिभिः ।

दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ॥

न खागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधकः ॥”

[ तत्त्वसं० का० २.१८६, २.१८७ ]

§ ५. “वेदाहमग्रे पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः पुरस्तात् । तमेव विदित्वा मृत्युम-  
 ख्येति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय” इति । तथा, “विश्वतश्चक्षुःकृत विश्वतो मुखो,  
 विश्वतो बाहुकृत विश्वतः पात् । संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्घावाभूमी जनयन् देव

१. मनुष्यजातिमाविनी प्रकृतिरदिव्यचक्षुःप्रदिलक्षणम्, ब-टि० । २. “न्तराद्व्यो” अ० ब० । ३. प्रत्य-  
 क्षावभावम्, ब-टि० । ४. विदित्वातिमृ० मु० ।

एक भास्ते” इत्यादेर्विद्यमानत्वात्, इति चेत्; न, स्तुतिमात्रत्वात् एतेषां न प्रामाण्यमिति ।

तथा चाह —

“न च मन्त्रार्थवादानां तात्पर्यमवधारयते ।  
न चान्यार्थप्रधानैस्तदस्त्विति विधीयते ॥  
न चानुवदितुं शक्यं पूर्वमन्येख्योचितम् ।  
अनादिरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञो नादिमान् ॥”  
“कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ॥  
अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽन्यैः प्रतीयते ॥  
प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ।  
सर्वज्ञोक्तया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता ॥  
कथं तदुभयं सिध्येत् सिद्धमूलान्तरादृते ।  
असर्वज्ञप्रणीतास्तु वचनान्मूलवर्जितात् ।  
सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात् किञ्च जानते ? ॥”

[ तत्त्वसं० का० ३१८७-३१९० ]

“सर्वज्ञसदृशं किञ्चित् यदि पश्येम सम्प्रति ।  
उपमानेन सर्वज्ञं जानीयामि ततो ध्यम् ॥” [ तत्त्वसं० का० ३२१५ ]  
“उपवेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचरः ।  
अन्यथा नोपपद्येत सर्वज्ञो यदि नाभवत् ॥” [ तत्त्वसं० का० ३२१७ ]  
“बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदादसंभवः ।  
उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ॥” [ तत्त्वसं० ३२२४ ]  
“येऽपि मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदः ।  
त्रयीविदाश्रितग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः ॥” [ तत्त्वसं० ३२२८ ]

तदेवम् —

“प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।  
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥” [ श्लोक० अभाव० १ ]

§ ६. तथोपमानवाधिता । तथा हि —

“नरान् दृष्ट्वा त्वसर्वज्ञानं सर्वानेवाधुनातनान् ।  
तैस्तादृश्योपमानेन शेषासर्वज्ञसाधनम् ॥” [ तत्त्वसं० का० ३२१६ ]

इति । तदेवमनुमानाभावप्रमाणोपमानवाधितेयं प्रतिज्ञेति ।

§ ७. भवतु वा, तथापि निष्फला । तथा हि —

“समस्तावयवव्यक्तिविस्तरज्ञानसाधनम् ।  
काकदन्तपरीक्षावत् क्रियमाणमनर्थकम् ॥  
यथा च चक्षुषा सर्वान् भावान् वेत्तीति निष्फलम् ।  
सर्वप्रत्यक्षदर्शित्वप्रतिज्ञाप्यफला तथा ॥  
स्वधर्माधर्ममात्रज्ञसाधनप्रतिषेधयोः ।  
तत्प्रणीतागमग्राह्यहेतवे हि प्रसिद्धयतः ॥

१. जानीयामस्ततो क० भु० । २. सर्वज्ञसदृशः कश्चित् यदि दृश्येत सम्प्रति । तदा गम्येत सर्वज्ञसद्भावं  
उपमाबलात् ॥ तत्त्वसं० । ३. ये हि तावदेवेदं तत्त्वसं० । ४. तादृश्योपमां तत्त्वसं० । ५. साधने  
अ० ब० । ६. वेधतः मु० ।

तत्र सर्वजगत्सूक्ष्ममेव त्वत्त्वप्रसाधने ।

अस्थाने हि दृश्यते लोकः सर्वभाद् ग्रन्थवादयोः ॥”

[ तत्त्वसं० ३१२८-३१४१ ]

“येतच्च फलवैज्ज्ञानं यावत्सर्मादिगोचरम् ।

न तु वृक्षादिभिर्ज्ञातैरैस्ति किञ्चित् प्रयोजनम् ॥” [ तत्त्वसं० ३२०३ ]

“कत्वार्थाः पुरुषार्थाश्च यावन्तः खदिरादयः ।

सर्ववृक्षकृता तावत् तावत्स्वेव समाप्यते ॥

लताः सोमगुह्युष्याद्याः काम्बिसर्माद्विहेतवः ।

सिद्धान्तज्ञानमात्रेण लतासर्वकृताऽपि नः ॥

मीदिश्यामाकनीवारप्रामारण्यौषधीरपि ।

ज्ञात्वा भवति सर्वज्ञो नानर्थकशतान्यपि ॥

तथा कतिपयेष्वेव यद्वाङ्मेतु तृणेष्वपि ।

दर्मादिषु च बुद्धेः तृणसर्वज्ञतेष्यते ॥

तृणौषधिलतावृक्षजातयोऽन्याः सहस्रशः ।

विविक्ता नोपयुज्यन्ते तदज्ञानेन नाहता ॥

यत्रापि नोपयुज्यन्ते व्यक्तयो जातिलक्षिताः ।

जातिज्ञानोपसंहारात्तत्रापि व्याप्तिरस्ति नः ॥

अतश्च व्यक्तिमेवानामनभिज्ञोऽपि यो नरः ।

सर्वज्ञत्वफले प्राप्ते सर्वज्ञत्वं न वाञ्छति ॥

जरायुजाण्डजोऽग्नेवसंस्वेदजचतुर्विधे ।

भूतप्रामेऽरूपकज्ञोऽपि सर्वज्ञफलमश्नुते ॥

पृथिव्यादिमहाभूतसंक्षेपज्ञश्च यो नरः ।

सर्वित्तरानभिज्ञोऽपि सर्वज्ञाच्च विशिष्यते ॥

भूमेर्य एकदेशज्ञो भूमिकार्येषु वर्तते ।

सप्तद्वीपमहीज्ञानं क तु तस्योपयुज्यते ॥

तथास्वेनैव तोयेन सिद्धं तोयप्रयोजनम् ।

सोयान्तराण्यविज्ञाय नाहदोषेण युज्यते ॥

वह्नेश्चानन्तमेदस्य ज्ञातस्योपासनादिभिः ।

पञ्चभिः कृतकार्यत्वादन्याज्ञानमदूषणम् ॥

शरीरास्तर्गतस्यैव वायोः प्राणादिपञ्चके ।

ज्ञाते शेषानभिज्ञत्वं नोपलम्भाय जायते ॥

ध्योक्तञ्च पृथुनः पारमज्ञात्वाप्येकदेशवित् ।

न च व्योमानभिज्ञत्वव्यपदेशेन दुष्यति ॥”

#### § ८. धर्मकीर्तिनाऽप्युक्तम् —

“ज्ञानव्याप्त्युच्यते किञ्चित् तदुक्तप्रतिपत्तये ।

अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥

तत्सावनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।

कीटसंस्थापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥

द्वयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः ।

यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥

दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ।

प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते शुद्धानुपासहे ॥” [ प्रमाणक० १.३२-३५ ]

१. एकं च कं अ० ब० । २. फलज्ञानं तत्त्वसं० । ३. ०तैः सर्वैः किञ्चित् तत्त्वसं० ।

“धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते ।  
सर्वमन्यद् विज्ञानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥” [ तत्त्वसं० अ० ११२८ ]  
“सर्वप्रमासंबन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् ।  
केवलमगमगम्यत्वं लप्स्यते पुण्यपापयोः ॥  
एतावतैव सीमासापक्षे सिद्धेऽपि यः पुनः ।  
सर्वज्ञवारणे यत्नस्तैः कृतं मृतमारणम् ॥  
येऽपि र्धं छिन्नमूलत्वाद् धर्मज्ञत्वे हते सति ।  
सर्वज्ञानं पुरुषानाहुस्तैः कृतं तुषखण्डनम् ॥” [ तत्त्वसं० अ० ११४२-११४४ ]

§ ९. किञ्च, सर्वज्ञे सिद्धेऽपि न प्रतिज्ञातोऽर्थः सिद्ध्यति । तथा हि —

“यत् सर्वं नाम लोकेषु प्रत्यक्षं तद्धि कस्यचित् ।  
प्रमेयमेवयस्तु त्वैर्धिरूपरसादिषत् ॥  
होतव्यत्राप्यनिर्दिष्टे पक्षे न्यूनत्वमापतेत् ।” [ तत्त्वसं० अ० १२१५, १२१६ ]  
“यदि बुद्धातिरिक्तोऽन्यः कश्चित् सर्वज्ञतां गतः ॥  
बुद्धवाक्यप्रमाणत्वे तज्ज्ञानं कोपयुज्यते ।” [ तत्त्वसं० १२१७ ]  
“सर्वज्ञो यस्त्वभिमतो न श्रुत्यार्थेन वाऽपि सः ॥” [ तत्त्वसं० १२१६ ]  
“विज्ञायते यतः पक्षः साध्यत्वेनेप्सितो भवेत् ।  
यस्त्वीप्सिततमं पक्षं विशिष्यात् तस्य संख्या ॥  
यावज्ज्येयं जगत्सर्वं प्रत्यक्षं सुगतस्य तत् ।  
तेरेष हेतुभिः सर्वैः घटकुष्ठादिरूपवत् ॥  
तत्र नैवं विशिष्टोऽपि पूर्वसाधेय मिद्यते ।  
विशिष्टप्रहमात्रेण हेतोर्नैवं विशिष्टता ॥  
शक्या हि यदा हेतुः दृष्टान्तानुग्रहेण वा ।  
पक्षान्तरेण तुल्यः स्यात् तदा काऽस्य विशिष्टता ? ॥  
सैत्प्रमेयत्वमित्येतद् यतोऽन्येष्वपि वर्तते ।  
साधनं नियमाभावात् तेनाकिंचित्करं हि तत् ॥”  
“नरः कोऽप्यस्ति सर्वज्ञः स तु सर्वज्ञ इत्यपि ।  
साधनं यत् प्रयुज्येत प्रतिज्ञामात्रमेव तत् ॥  
सिद्धाधपिषितो योऽर्थः सोऽनया नाभिधीयते ।  
यैस्तुष्यते न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥  
यदीयागमसत्यत्वसिद्धौ सर्वज्ञतोच्यते ।  
न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते ॥  
यावद् बुद्धो न सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा ।  
यत्र कचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता कुतः ॥  
अन्यस्मिन् हि सर्वज्ञे वचसोऽन्यस्य सत्यता ।  
सामानाधिकरण्ये हि तयोरङ्गाङ्गिता भवेत् ॥”  
[ तत्त्वसं० अ० १२१०-१२४ ]

१. निषेधभेदे तत्त्वसं० । २. “विज्ञानानः पुरु” तत्त्वसं० ११२८ । ३. “सर्वज्ञप्रस” तत्त्वसं० ।  
४. “येऽपि विशिष्टा” तत्त्वसं० । ५. यत् सर्वं नाम तत्त्वसं० । ६. “वस्तुतादृशि” मु० । ७. ज्ञान-  
मात्रेऽपि निर्दिष्टे पक्षे तत्त्वसं० । ८. सर्वज्ञ इति योऽभीष्टे नेत्यं स प्रतिपादितः तत्त्वसं० । ९. “नरः”  
पूर्वः क० मु० । १०. सत्त्वाद् प्रमेयसिं मु० । ११. सर्वज्ञः तत्सर्वज्ञत्वमित्यपि तत्त्वसं० । १२. प्रतिज्ञा-  
न्यूनमेव तद् तत्त्वसं० । १३. यत् तत्त्वसं० । १४. “सिद्धौ स” तत्त्वसं० । १५. “यवज्ज्येय”  
अ० अ० ।



§ १०. “तदेवं” दोषबुद्ध्या पक्षस्यास्य न पक्षता ।  
 इदानीं हेतुदोषेण हेतोरुपपन्नोक्त्यते ॥  
 वचसोऽपौदोषेयत्वं पूर्वमेव स्थितं यदा ।  
 महमुपपन्नैकं नैव कृतं पुंसास्ति किञ्चन ॥  
 एवं तावत्सिद्धत्वमनैकान्तिकता तथा ।  
 पारम्पर्योपदेशेन वचसः संप्रवर्तनात् ॥  
 असत्कार्यं च तद्वाक्यं तेन हेतोरिदञ्चता ।  
 एवं सर्ववृत्तासिद्धिः कथञ्चिन्नोपपद्यते ॥” इति ।

§ ११. अत्रोच्यते —

“दशोत्पाद्यापि मानानि भीमंसा दोषवाहिनी ।  
 सदैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्वमी ॥  
 यत्साध्यवाधनायोक्तं प्रमाणदशकं परैः ।  
 प्रामाण्ये तद्विषयैर्वा बहु स्यादसमञ्जसम् ॥”

तथा हि —

“तच्छब्दवाच्यतामात्रं प्रामाण्यं यदि कल्प्यते ।  
 न मानं विधिवैक्यं स्यादीश्वरस्य च सिद्धता ॥  
 वेदादमग्रे पुरुषं महान्तमित्यादिष्वेव वचोऽप्रमाणम् ।  
 तच्छब्दवाच्यत्वसमानभाषाभूधरादेरपि कर्तृसिद्धिः ॥  
 संस्थानशब्दवाच्यत्वं यतस्तस्यापि विद्यते ।  
 घटवद्विमतकर्ता तेन तत्रापि सिध्यतु ॥  
 विशेषः परिहाराय यदि कल्प्येत कञ्चन ।  
 नियोगादिस्तदा तस्य दोषाः शास्त्रकृतोदिताः ॥”

§ १२. तथैव हि — यत् प्रमाणगोचरचारी न भवति तत्र सम्प्रवृत्तिपथमवतरति । यथा

नियोग-  
 कण्ठनम् । व्योमोत्पलम् । न भवति च नियोगः प्रमाणगोचरचारीति व्यापकानुपलब्धिः ।

तथा हि — किमसौ स्वतः इत्यते, परतजो वा ? । न तावत् पटादिपदार्थवत् स्वतजोऽभ्यक्षतः  
 प्रतीयते । नाप्यनुमानात्, तत्सद्भावे लिङ्गाभावात् । न च पुरुषप्रवृत्तिर्लिङ्गम्, तस्याः  
 फलाभिलाषकार्यत्वात् । अन्यथा “स्वर्गकामः” इति फलोपदर्शनं न विद्वन्वात् । अथ  
 प्रपञ्चप्रभुनियोगात् फलाभिलाषमन्तरेणापि प्रवर्तमानो दृश्यते । तत्र, तत्रापायपरिहारस्यैव  
 फलत्वात् । नापि शब्दैकप्रमाणसमधिगम्यता तस्य वाच्या, यतः शब्देन प्रतीयमानोऽसौ  
 किं संबन्धेन प्रतीयते, असंबन्धेन वा ? । असंबन्धेन प्रतीतार्थतिप्रसंगः स्यात् । संबन्धेनापि  
 किं स्वाभाविकसंबन्धात्, साङ्केतिकद् वा ? । प्रथमपक्षे बालगोपालादेरपि प्रतीतिप्रसंगः ।  
 नद्याकाशं अनाकाशं कस्यचित् । संकेतोऽपि नियोगे प्रतीतेऽप्रतीते वा ? । यद्यप्रतीते तदा-  
 ऽतिप्रसङ्गः स्यात् । प्रतीतिश्च किं तेनैव शब्देन शब्दान्तरेण वा ? तेनैव चेत्, किं  
 संकेतेन ? । इतरेतराश्रयत्वं च स्यात् । शब्दान्तरेण चेत्, तदपि शब्दान्तरम् गृहीतसंकेतं  
 प्रवर्तते । पुनरपि सङ्केतग्रहः शब्दान्तरेणेत्यनवस्था ।

१. तदेव मु० । २. प्रमाणं क० मु० । ३. “वाच्यं स्या” मु० । ४. विशेषपरि० अ० ब० ।  
 ५. तत्रापि मु० । ६. व्योमोत्पलम् मु० । ७. संबन्धेन मु० । ८. प्रतीतार्थव्यति० क० । ९. प्रवर्तते मु० ।

§ १३. किञ्चासावेकोऽनेको वा ? । एकश्चेत्; सर्वपुरुषाणां नियोगः प्रतीयतः स्यात् । अथ विपर्ययात् न परस्वेति चेत्; तथापि पक्षपातादिति समानम् । अनेकश्चेत्; प्रतिपुरुषमसाधारणतया न संकेतक्रिया स्यात् । किञ्च, शब्दप्रमाणैकसमधिगम्यतया सत्त्वे आकाश-कुसुमस्यापि सत्त्वमासज्येत, विशेषो वा वक्तव्यः । न च शब्दप्रवृत्तिमात्रेण सत्त्वं युज्यते । अन्यथा दौराः वज्र(ण्)गरीत्यादावपि सत्त्वमासज्येत । तत्र कश्चित् स्वतन्त्रो नियोगो वाक्यार्थः प्रतीयते ।

§ १४. परतन्त्रोऽपि किं सत्कार्यतया, तद्वर्त्मतया वा ? । न तावत् प्रथमः पक्षो यतः किमसौ यागकार्यः, नियोग्यकार्यः, शब्दकार्यो वा ? । न तावद्यागकार्यः, तस्य तदानीम-निष्पन्नत्वेनाभावात् । नापि पुरुषकार्यः, पुरुषस्य पूर्वमपि सद्भावेन तद्भावप्रसङ्गात् । नापि शब्दकार्यः, तदा हि न शब्दस्य वाच्यः स्यात्, कार्यत्वात् । न च वैविकस्य शब्दस्य नित्यत्वेन क्रमयोगपद्याभ्यां जनकत्वं युज्यते । तद्वर्त्मतायामपि किमसौ यागधर्मः, पुरुष-धर्मः, शब्दधर्मो वा ? । न तावद्यागधर्मः, तस्याविद्यमानत्वेन तद्वर्त्मस्याप्यविद्यमानत्वात् । अविद्यमानविपर्यये च वाक्यं निराकम्बनमपोद्गमाप्रविषयमेव स्यात् । नापि पुरुषधर्मः, तथाहि—पुरुषादतिरिक्तः स्यात्, अव्यतिरिक्तो वा ? । अव्यतिरेके पुरुषस्य सर्वथा निष्प-न्नत्वात् न नियोगरूपता स्यात् । नियोगो हि अनुष्ठेयोऽर्थोऽभिधीयते । निष्पन्नस्य चातुष्टाने मातुष्टानविरतिर्भवेत् । अथ निष्पन्नस्यापि किंचिदनिष्पन्नमस्ति । तत्र, निष्पन्नानिष्पन्नयोर्वि-रोधेन तादात्म्याभावप्रसङ्गात् । अथ व्यतिरिक्तः; ननु यावदसौ तस्य धर्मः तावदन्यस्य किं न भवति ? । तस्यैवाधारशक्तिर्नान्यत्वेति चेत्; सापि किं नान्यत्राऽऽधीयते । तां प्रति तस्यैवाधारशक्तिर्नान्यत्वेत्यभ्युपगमेऽनवस्था । न च हेतुफलभाषादन्यो व्यतिरेके संबन्धो-ऽस्ति । तद्भावे च न समानकालता । असमानकालयोर्न धर्मधर्मिभावः । एतच्च शब्द-धर्मतायामपि दूषणं वाच्यम् ।

§ १५. किञ्च, यद्यसौ भवति; न पुरुषः प्रवर्तते । न हि कश्चित् निष्पन्ननिष्पादनाय प्रवर्तते । अप्रवर्तकस्य च वाक्यस्य न प्रामाण्यमुपेयते । अथ नास्ति; तथापि न प्रामाण्यम्, अविद्यमानविषयत्वात् । तत्रैव कश्चित् नियोगो वाक्यार्थतया प्रतीयते ।

§ १६. अथ शब्दाद् 'यागादिविषये नियुक्तोऽहमनेन' इति प्रतीतेः कथमप्रतीतिः ? । तथाहि—नियोक्ता शब्दो वेदे पुरुषाभावात् । नियोज्यः पुरुषः । यागो विषयः । सकलं चेत् प्रतीयते । तत् कथं प्रतीतावप्यप्रतीतिः ? । तदसत् । नेयमगृहीतसंकेतस्य प्रतीतिरूपेति । किं तर्हि ? । येन यागां कश्चित् कुर्माणं उपलब्धस्तस्य तत्रैव गृहीतसंकेतस्य पूर्वदृष्टानुसारेण विकल्पिका बुद्धिरुत्पद्यमाना अन्यापोदविषयैवोत्पद्यते । नातस्तत्त्वव्यवस्था ।

१. नियोगप्रतीतिः क० मु० । २. दातः मु० । ३. सत्त्वं समासज्येत मु० क० । ४. 'तत्रा' धर्मतया मु० क० । ५. नियोगकार्यः मु० । ६. सद्भावे तद्भावः व० । ७. 'विषय' वाच्यं क० । ८. नियोगेन हि मु० । ९. 'अनेन न निरतिर्भ' अ० । १०. 'आभिधीयते क० । ११. 'रेकत्वं' क० मु० । १२. 'अयोर्न धर्म' मु० क० । १३. नियोगः अ-दि । १४. 'तत्ते । प्रव' क० मु० । १५. 'सादा' कश्चित् मु० क० । १६. कथं न प्रतीतिः अ० व० । १७. तदेव मु० ।

§ १७. एतेन भावनादयोऽपि वाक्यार्था निरसनीयाः ।

“इति वाक्यस्य ये वाक्यं नियोगं संप्रवक्ष्यते ।  
 स्वरभूतस्य ते तैक्ष्ण्यं नूनं व्यावर्ण्यमन्यलम् ॥  
 विधेरपि विधेयत्वेऽनवस्थैव प्रसज्यते ।  
 स्वरूपवाचकत्वे तु न स्यादन्यविशिष्टता ॥  
 विधिवाक्यस्य कृच्छ्रेण विशेषपरिकल्पने ।  
 कैरथ भक्षितः काकैरप्यक्षे येन नैष्यते ॥  
 मकञ्जरचराहादिप्रत्यक्षेऽप्यक्षणीकृतम् ।  
 विशेषमाक्षिपन्मूहः कथं नाप्यक्षवाचितः ॥  
 मनुष्यत्वे सतीत्येवं यदि हेतोर्विशेषणम् ।  
 मनुष्यत्वं तदा हेतुः पूर्वस्य स्यादहेतुता ॥  
 जैमिन्यादिर्विशेषस्तदा नैव भवेत्तद्य ।  
 प्रज्ञान्मेषस्य चोत्कर्षः कनु नाम व्यवस्थितः ॥  
 स्तोकस्तोकान्तररक्तत्वं येन पुंसः प्रसाध्यते ।  
 इन्द्रियान्तरविज्ञानं नेन्द्रियान्तरवस्तुतः ॥  
 ग्राहकं ‘वेति यो दोषः सोऽतीन्द्रियदृशः कुतः ।  
 मथातीन्द्रियविज्ञानं न दृष्टं केनचित् कचित् ॥  
 विनेन्द्रियं च वैशद्यं कुतस्तस्य भविष्यति ।  
 सर्वदेशेषु कालेषु सर्वज्ञो नेति यो<sup>०</sup> वदेत् ॥  
 तस्य सर्वज्ञता प्राप्ता सिद्धं चास्तत्समीहितम् ।  
 कामादिभावमाजातं विज्ञानं विशदं यदा ॥  
 तदेन्द्रियसमुत्थत्वं वैशद्ये नोपयोगवत् ।  
 मक्षाभितत्त्वमप्यक्षे द्युत्यक्षेरेव कारणम् ॥  
 निमित्तं तु पुनस्तस्य वस्तुसाक्षात्क्रिया मता ।  
 तदेवं जैनमध्यक्षं नानुमानेन वाधितम् ॥  
 न प्रमाणमभावात् कार्यं बाधकं कुत एव तत् ।  
 सर्वसंबन्धि बाध्यक्षं नेति तत्रेति यो वदेत् ॥  
 तस्य सर्वज्ञता प्राप्ता नैकस्यास्य निषेधकत्वात् ।  
 अनुमानं निषेधाय यथैव्येतास्य किंचन ॥  
 असिद्धावाभयासिद्धिः सिद्धौ हेतोर्विद्वत्ता ।  
 अर्थः “को नोपपद्येत विनाऽसर्वज्ञतां तव ॥  
 अपौरुषेयता नो चेन्मास्याः पूर्वं निषेधनात् ।  
 नोपमानस्य मानत्वं बाधकं कुत एव तत् ॥  
 विशेषाः पुंसि<sup>०</sup> दृश्यन्ते तेनादृष्टेषु का कथा ।”

“तथाहि । केचित् सकलशास्त्रज्ञाः केचिन् किञ्चिद्विदन्ति । केचित्तुर्वेदपाठकाः । केचि-  
 द्वायत्रीमपि न पठन्ति । तत् कथमदृष्टेषु पुरुषेषु साम्यं सिद्ध्येत् ? ।

§ १८. ननूकं ‘वशाहस्तान्तरम्’ इत्यादि ।

१. विधिरपि ज० क० व० । २. विधिवाचस्य मु० । ३. विधेयः परिकल्प्यते मु० । ४. केन  
 व० । कैरवे मु० क० । ५. येनेष्यते क० । ६. ‘प्रत्यक्षेण्यक्षणी’ मु० । ७. इ मात्रे ज० मु० ।  
 ८. वेति मु० । ९. ‘छेद’ गृहेषु मु० । १०. योऽवदत् मु० । ११. बाध्य<sup>०</sup> मु० । १२. मक्षपेक्षस्य मु० ।  
 १३. केनोप<sup>०</sup> व० मु० क० । १४. विना सर्वं क० ज० । १५. उंष्ट्र द्युत्य<sup>०</sup> मु० क० ।

“तद्वस्तुस्यजातीयपूर्वबीजप्रवृत्तयः ।  
 वेयेषु बुद्धयस्तासां सत्यभ्यासे कुतः स्थितिः ॥  
 नचैव लङ्घनादेव लङ्घनं बलयस्तयोः ।  
 तद्धेतव्योः स्थितरूपत्वात् लङ्घनस्य स्थितात्मता ॥  
 बलयस्तोत्थमभ्युच्चैर्लङ्घनं हि गदहमति ।  
 भूयते तेन मानत्वं नोपमानस्य युक्तिमत् ॥  
 न चागमविधिः कश्चित्तन्निषेधाय वर्तते ।  
 तन्नास्य बाधकं किञ्चित् साधकं प्रतिपादितम् ॥  
 धर्माधर्मज्ञतामात्रात् सिद्धमस्तत्समीहितम् ।  
 यदुक्तं तद्वस्तु माननिष्ठा नेच्छानुवर्तिनी ॥”

§ १९.

न हि प्रमाणं वस्तुनि प्रवर्तमानं विभाषया प्रवर्तते, तेन —

“समस्तवस्तुविस्तारि सौर्वैज्ञज्ञानमक्रमात् ।  
 प्रतियज्जगतः कार्त्तव्यं किमन्यत् परिवर्जयेत् ॥  
 धर्माधर्मौ तयोः कार्ये वेत्ति नासकलार्थवित् ॥”

तदुक्तम् — “जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ ।” [ भाव० १.३.४.१२२ ] तथाहि — सकलकर्म-  
 कारणं सर्वप्राणिकर्माणि । तत्कार्यं नरकादि । तत्कारणकार्यपरंपरायाः परमाण्वन्तपरिज्ञाने  
 कथं न सर्वज्ञता ? । तस्मादावरणविगमादनन्तवस्तुज्ञानम् । न च वस्तुपरिसमाप्तिः ।  
 यथाहि वयमनाद्यनन्तरूपतां विकल्पविज्ञानेन रात्रिदिवादीनां बुद्ध्यामहे न च तत्परिसमाप्तिः,  
 तथा भगवतोऽप्यनाद्यनन्तरूपतया साक्षात्कुर्वतो न विरोधः । अकर्णधीनतया च न रक्षा-  
 स्मादनप्रसङ्गः । अत एवापराधीनतयाऽनियतविषयम् । न चातीतानागतस्य वस्तुन इदानी-  
 मसत्त्वेनाद्यविषयम् तदिति बाध्यम् । तत्कालालिङ्गितत्वेन तस्य सत्त्वात् । तदापि हि  
 यदि तद्वस्तु न भवेत् तदा तन्निर्विषयं स्यात् । अन्यथा चोदनाजुद्धिरपि कथं भूतभवद्भविष्य-  
 इत्युचिषविणी सलोऽभ्युपेयते । तदुक्तम् —

“किञ्च तत्कालयोगेन तस्य साक्षात्क्रिया यदा ।  
 तदैवाभीमसरूपेति तस्यास्तित्वमदुर्घटम् ॥”

अथ यस्य भावी सुतल्लवन्तुभूयमानतया दृष्टत्वेनाप्रतीयमानतायां कथमभ्याम्यता ? ।  
 तदर्थवस्तु

“यथा स दृष्टः शरदादिकालयुक्तस्तथा तस्य न बाधितत्वम् ।  
 तत्कालयोगस्तु न तेन दृष्टस्तथाप्रतीतावपि नास्ति दोषः ॥”

यथै विशेषापरिज्ञाने, वृषणमभाणि, तद्वस्तु । यतश्चूडामणिप्रभृतिकेवलीनामतीन्द्रियार्था-  
 नानर्हत्वणीतत्वेन सुप्रसिद्धत्वात् । यथान्यदुक्तम् तदसंबद्धतयोपेक्षितमिति । विस्तरेण सर्वज्ञ-  
 र्वादीकावागुक्तमिति विरम्यते ।

वाचाकलङ्कविकलं निखिलप्रमाणसामान्यलक्षणमिदं विवृतं स्वबुद्ध्या ।

यैतेन तीर्थिकमतानि निरस्य नीतं ज्ञानं व्यतीतमनसं परमां प्रतिष्ठाम् ॥ [१२१]

॥ इति श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां नार्तिकवृत्तौ प्रथमः परिच्छेदः ॥

१. व्याखेडु कुतः क० । २. यथा वर्तते अ० ख० मु० । ३. सर्वज्ञज्ञान मु० क० । ४. प्रतिपद्यमानम्  
 अ-दि० । ५. यथाहि मु० । ६. परंपरापरमार्थपरि० अ० । ७. वस्तुपरिज्ञानपरि० क० मु० ।  
 ८. नचैव लङ्घनादेव लङ्घनं बलयस्तयोः क० । ९. सताभ्यु० मु० क० । १०. यदपरि० मु० । यदपरि० क० । ११. “तद-  
 वीक” क० । १२. “युक्त इति क० । १३. यत्तेन तीर्थिकं मु० । १४. वनसः मु० क० ।

## २. प्रत्यक्षपरिच्छेदः ।

§ १. एवं प्रमाणसामान्यलक्षणमभिधाय इदानीं संख्या-लक्षण-गोचर-फलविप्रतिपत्ति-निराकरणद्वारेण विशेषलक्षणमभिधातुकामो व्यक्तिभेदकथनमन्तरेण प्रतिव्यक्तियुतं लक्षणं कथयितुं न शक्यत इति व्यक्तिभेदमेव तावत् कथयितुमाह—ज्ञात्रपेक्षमित्यादि ॥

**ज्ञात्रपेक्षं प्रमेयस्य द्वैविध्यं न तु वास्तवम् ॥ १२ ॥**

§ २. न हि नीलपीतवद्रस्तुस्थित्या प्रमाणविषयस्य किञ्चिद्वैविध्यमस्ति । किन्तु ज्ञातारम-पेक्षते—ज्ञात्रपेक्षम् । तथाहि—तदेव वस्तु कस्यचित् प्रत्यक्षम्, कस्यचित् परोक्षमिति ।

§ ३. ननु इदं द्वैविध्यं केन प्रतीयते ? । न तावत् प्रत्यक्षेण, परोक्षे तस्याप्रवृत्तेः । प्रवृत्तौ वा प्रत्यक्षतैव स्यात् । अथैकस्माद् धूमदर्शनात् परोक्षे बह्वौ प्रतीतिः प्रत्यक्षा, नातुमानम् ।  
॥ यतोऽनु व्याप्तिस्मरणात् मानम् अनुमानम् । न चेह तदस्ति । नैतदस्ति । यतोऽक्षासंबन्धिर्न्यपि वस्तुनि यद्यक्षजं ज्ञानं प्रवर्तत तदा सकलपरोक्षवस्तुविषयं प्रवर्तत । न हि संनिहितासन्निहितयोः परोक्षत्वे विशेषोऽस्ति । अथ संबद्धधूमदर्शनात् नातिप्रसङ्गः । तदसत् । यतः किं तदेव धूमदर्शनं परोक्षवद्विविषयं कल्प्यते ? , किं वा तज्जनितमन्यदिति । न तावत्तदेव । न हि अन्यवस्तुमाहकसम्यक्स्य माहकम् । न च तथाप्रतीतिरस्ति । न हि तद्देशोऽन्यदेशो वा बहिस्तद्दर्शने प्रतिभासते । न नूक्तम् 'संबद्धधूमदर्शनात् तद्दर्शनम्' इति । उक्तमिदम्, किन्त्युक्तम् । यतो यद्यप्रतीतसंबन्धोऽपि धूमो धूमवज्जप्रतीतिं जनयति किं न भालिकेरद्वीपायातस्यापि ? । अथ प्रतीतसंबन्धस्याभ्यासाद् अकस्मात् प्रतीतिः संबन्धस्मृतिं नापेक्षते इत्युच्यते । तन्न, स्मरणेवान्तर्लीनं संबन्धं तथा प्रत्येति, अन्यथा अंगुहीतसंबन्धस्यास्य च को विशेषः ? । किञ्च, प्रत्यक्षार्तं प्रतीतौ विशेषरूपस्य किं न प्रतीतिः ? । कथं न दूरादिति चेत् ; न, तत्रापि व्यक्तिविशेषाप्रतीतावपि भास्वरस्य रूपस्य प्रतिभासनात्, न च तथेहेति । तन्न परोक्षे प्रत्यक्षं प्रवर्तत इति । अन्यथा परोक्षमेव तन्न स्यात् । न चेत्तरेतराभ्यस्तम् । यतः स्वकारणात्साक्षात्कारि विज्ञानमुत्पद्यमानं स्वविषयस्य प्रत्यक्षतां व्यवस्थापयति । तन्न परोक्षे प्रत्यक्षस्य प्रवृत्तिरिति । नाप्यनुमानस्य प्रत्यक्षे । न च भानान्तरमस्ति । सद्भावे वा विषयद्वैविध्यदित्यनर्थकमिति ।

§ ४. अत्रोच्यते । प्रत्यक्षं हीदंतया स्वविषयं परिच्छिद्यद्यदेवं न भवति तत् सकलमेव परोक्षं व्यवस्थापयति । तथा परोक्षमप्यनिवन्तया स्वविषये प्रवर्तमानं ततोऽन्यत्प्रत्यक्षमिति व्यवस्थापयति । न च परस्परमनन्वयात् कस्य द्वयप्रतीतिरिति वाच्यम् । यस्माज् ज्ञानमात्मनः सर्वथा भिन्नम् । किन्तु आत्मैव कर्मक्षयोपशमादिन्द्रियद्वारेण लिङ्गद्वारेण वा स्पष्टास्पष्टतया वस्तु प्रतिपद्यत इति कथमेतन्नवयः ? । [ १२ ]

१. ज्ञानपेक्षं मु० । २. अथ कस्मा० क० ब० मु० । ३. संबद्धेपि मु० । ४. पक्षे क० । ५. कल्पते अ० । कथ्यते मु० क० । ६. संबन्धस्य (पं० १७) च को विशेषः ? (पं० १९) । क० । ७. अन्यथा गृहीत- ब० मु० । ८. प्रत्यक्षाप्रतीते मु० । ९. अन्यथापरो० क० । १०. 'मुलाद्यमा' मु० । ११. 'अन्यथा' मु० क० । १२. कथमेतन्नवयः मु० क० ।

§ १. तदेवं विषयद्वैविध्यं व्यवस्थाप्येदानीं तयोः लक्षणमाह—दूरासन्नेत्यादि ।

दूरासन्नादिभेदेन प्रतिभासं भिनत्ति यत् ।

तत् प्रत्यक्षं परोक्षं तु ततोऽन्यद्वस्तु कीर्तितम् ॥ १३ ॥

तस्मिन्निमित्तं द्विधा मानं न त्रिधा नैकधा ततः ।

§ २. दूरं चासन्नं च ते आदिर्यस्य स्वच्छावरणघनावरणादेः स तथा । दूरासन्नादिभ्यासौ ।

द्विविध-  
विषयस्य  
लक्षणम् ।  
भेदश्च तेन प्रतिभासं भिनत्ति । ज्ञानस्य स्पष्टास्पष्टत्वं यद्वस्तु करोति तत् प्रत्यक्षम् ।  
तथाहि—प्रत्यक्षे प्रतिभासमानं दूरे घनावरणाच्छादितं चास्पष्टम्, निकटे  
स्वच्छावरणावृतं च स्पष्टम् । नैवैवं धूमात् प्रतीयमानो वह्निः, दूरासन्ना-  
दिष्वप्येकरूपतया प्रतिभासनात् । अत एव आह—परोक्षं तु ततोऽन्यद्वस्तु कीर्तितम्  
पूर्वाचार्यैरिति ।

§ ३. इह प्रामाण्यं यद्यनिमित्तं स्यात् सर्वत्र भवेत् । न चार्थवत्त्वमन्तरेणान्यनिमित्तं  
प्रमाणसं-  
ख्यानि-  
यमः । संभवति । न ह्यनर्थकेन ज्ञानमात्रेण कस्यचित् प्रयोजनं, हिताहितार्थं च तदुक्तम् ।  
अतो विषयवत्तया प्रामाण्यं व्याप्तम् । तदभावात् प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यामन्यस्य न  
प्रामाण्यम् । अत आह—तस्मिन्निमित्तं द्विधा मानं न त्रिधेति । त्रिधेत्युपलक्षणं चतुर्धादेः ।  
प्रयोगश्च—यदर्थवत्त्वं भवति तत्र प्रमाणम् । यथोभयाभिमतं मिथ्याज्ञानम् । नास्ति च प्रत्यक्ष-  
परोक्षव्यतिरिक्तस्य ज्ञानस्यार्थवत्त्वमिति व्यापकानुपलब्धिः । इयं चामे साधयिष्यते ।

§ ४. तथा, यत् यन्निमित्तं तत् तस्मिन् सति भवत्येव । यथान्यबीजादिसामग्रीनिमित्तो-  
ऽङ्कुरः । अस्ति चानुमानादौ प्रामाण्यव्यवहारनिमित्तम्, अन्यथा प्रत्यक्षेऽपि तद्व्यवहारो न  
स्यात् अन्यनिमित्ताभावात् । अत आह—नैकधेति ।

§ ५. तथा,

“प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः ।

प्रमाणान्तरसङ्काषः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥”

अयं हि तार्किकचक्रवृद्धामणिमन्यश्चार्वाकोऽनुमानमङ्गीकुर्वाणोऽपि उन्मादाभावमुच्यते  
वराकः । तथाहि—प्रत्यक्षेणाशेषप्रत्यक्षव्यक्तीरप्रतिपद्यमानोऽप्यर्थवत्त्वेन तासां साकस्येन  
प्रामाण्यं व्यवस्थापयन्ननुमानव्यक्तीनां प्रत्यक्षेणाग्रहणेऽपि प्रामाण्यनिमित्ताभावेन अप्रामाण्यं  
व्यवस्थापयन्ननुमानं प्रतिक्षिपन् कथं नोन्मत्तः ? । व्याहारादिलिङ्गाद्यैः प्रत्यक्षं परं प्रतिपद्य  
तदर्थं ज्ञासं रक्षयन्कथमनुमानं नाभ्युपैति ? । तथा, अनुमानप्रामाण्यं विना ‘नानुमानं प्रमा-  
णमिति’ स्ववचनमभ्युपगम्यानुमानप्रतिषेधं कुर्वाणः स्ववचनैव तिरस्क्रियते । परलोकादौ  
प्रत्यक्षं न प्रवर्तते, तेन च तदभावं करोतीति महत्प्रमाणकौशलमस्य । प्रत्यक्षनिवृत्तेरभाव  
इति चेत्; सा किं प्रत्यक्षा सती वराकी तदभावं प्रत्येति किं वा लिङ्गभूता ? । न तावत् ॥

१. प्रतिभासन्ते हा० मु० । २. नैवं मु० क० । ३. विषयवत्तां अ-दि० । ४. न त्रिधेत्यु०  
अ० ब० क० । ५. विषयवत्तां मु० । ६. नितं तस्मिन् मु० । ७. च प्रत्यक्षं मु० क० ।  
८. परां प्रति० अ० ब० । ९. अनुमानं प्रामाण्याविनामावि नानुमानं प्रमा० अ० ब० । अनुमान-  
प्रामाण्यं विनानुमानं न प्रमा० मु० । अनुमानप्रामाण्याविनानुमानं प्रमा० क० । १०. प्रतिषेधं अ० ब० ।  
११. ‘माणकोश’ क० ।

प्रत्यक्षा; न हि प्रत्यक्षाभावः प्रत्यक्षम्, अन्यथा तदभाव एव न स्यात् । यदि लिङ्गभूता; सा किं तदभावाविनाभूता, किं वा नेति ? । यदि न; तदा कथमेकान्तेन गमयेत् ? । अभावाविनाभूता; कथं नानुमानमिति ? । [ १३-१४<sup>१</sup> ]

§ १. एवमेकत्वसंख्यां निरस्यानेकत्वसंख्यां निरस्यन्नाह — सादृश्यमित्यादि ।

सादृश्यं चेत् प्रमेयं स्यात् वैलक्षण्यं न किं तथा ॥ १४ ॥

§ २. इह 'यथा गौस्तथा गवयो यथा गवयस्तथा गौः' इत्युपमानम् । न तावद्गौर्गवयव्यक्ति-  
रूपमान- विषयमस्य प्रामाण्यम्, तस्याः प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नत्वात् । सादृश्यविषयमिति चेत्;  
निषेधः । महिषगवयवैलक्षण्ये मानान्तरं स्यात् । सादृश्याभावरूपत्वाद् वैलक्षण्यस्य नेति  
चेत्; वैलक्षण्यभावरूपं सादृश्यं किं न भवति ? ।

§ ३. अपि च किमिदं सादृश्यम् ? । न तावत्सामान्यम्, विजातीययोस्तस्यानभ्युपगमात् ।  
यच्च धर्मसाधकत्वं सादृश्यं तत्संज्ञाकरणं चोपमानस्य फलम् । तथाहि — गवाभावे गर्ध-  
याङ्गभनेऽपि तथाविधधर्मोत्पत्तिरिति । तर्हि मृतमिदानीं भट्टसामान्यम्, जीवितं सौगतसा-  
मान्यम् । सौगतस्यापि हि बाह्यदोर्होद्येकार्यक्रियाकारित्वं सामान्यनिबन्धनम् । तदर्थिनो  
गोच्यक्तितु सामान्यमन्तरेणापि संज्ञाकरणमुपपत्स्यत इति किं तत्कल्पनम् ? । यच्च धर्मसा-  
धकत्वं हि सावामपि, तदलं पापकथयेति । एवंविधेन च कल्पितेनार्थेनार्थवत्त्वे प्रमाणेयत्ता  
न स्यात् । तत्रोपमानं विषयवत् । [ १४<sup>१</sup> ]

§ १. तदेवमुपमानस्य प्रामाण्यं निरस्यार्थापत्तेर्निरस्यन्नाह — अर्थापत्तेरित्यादि ।

अर्थापत्तेर्न मानत्वं नियमेन विना कृतम् ।

§ २. इह पूर्वं सति नियमेऽनुमानत्वं प्रत्यपादि । इदानीम् अनियमे तस्याः प्रमाणत्वं  
अर्थापत्तेः चक्षुर्दृष्टान्तेन प्रतिपादितं निराकियते । चक्षुषोऽपि हि रूपे एकसामग्र्यधीनता-  
वृत्त्यप्रामा- लक्षणोऽस्त्येव नियमः । अन्यथा यतः कुतश्चिद् अन्यत् सर्वं प्रतीयेत । नचैवम् ।  
न्याभावः । तदर्थे नियमेन विना कृतं रहितं नार्थापत्तेः प्रामाण्यमिति ।

§ ३. अत्र एवास्याः षड्भेदकथनमसत् । तथाहि — इत्तस्फोटादेर्वैदोहकसंकिञ्चानं कार्यानु-  
मानात् न भिद्यते । न च शक्तिः काचिदस्ति । दाहस्वरूपमेव हि मन्त्रादिना तिरस्कियते ।  
अन्यथा किं तस्य रूपं स्यात् । तत्र प्रत्यक्षपूर्विकाऽर्थापत्तिः । नाप्यनुमानपूर्विका । सैाहि  
देष्टान्तरप्रसारेरादित्यगत्यनुमाने तद्भ्रमनशक्तिप्रतीतिरूपा । तत्रापि न काचिच्छक्तिः । यदि वा  
समर्थकारणानुमानं तदिति । तथा, शब्दपूर्विका — 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्के' इति  
दिवाभोजननिषेधं<sup>१</sup> शब्दादेर्वैरात्रौ भोजनप्रतीतिरर्थापत्तिरिति । सापि कारणानुमानात्  
भिद्यत इति । तथा, गोगवययोः सादृश्यमुपमानात्प्रतीत्य तच्छब्दवाच्यताशक्तिमर्थोपस्था

१. भूता नेति अ० । २. तथा अ० ब० । ३. साधयेत् मु० । ४. तावद्गौगवयं क० । ५. विजाती-  
कस्य तस्यानभ्यु मु० । ६. मानफलम् क० मु० । ७. तथा गवां क० । ८. गवयोपक्रमेण मु० ।  
९. सौगतं क० अ० । १०. बाह्यदोहां अ० ब० । ११. संज्ञाकरणं अ० । १२. न्ते प्रति० क० ।  
१३. नचैवमिति निव० मु० । १४. प्रमाणत्वमिति क० मु० । १५. शक्तेर्त्वां अ० । १६. तथाहि मु० ।  
१७. तथापि मु० । १८. निषेधः मु० । १९. वेत्यानन्तरं रात्रौ मु० ।

प्रत्येतीति । सापि सत्त्वभावात् किंचिदिति । तथा, शब्दाद्वैतमवेत्य तद्वाचिकां कतिमर्था-  
पत्त्या प्रतिपेक्ष शब्दनित्यत्वमर्थापत्त्या प्रत्येतीति । सापि प्रथमार्थापत्तिरित्येनैव निरस्य ।  
तथा, जीवति देवदत्तो गृहे नास्तीति बहिरस्तित्वमभावपूर्विकत्वाऽर्थापत्त्या प्रत्येतीति ।  
तत्रापि देवदत्तजीवनं येन प्रमाणेन ज्ञातं तेनैव बहिरस्तित्वमपि, किमर्थापत्त्या ? । तत्रार्था-  
पत्तिरपि प्रमाणमिति । [ १५' ]

§ १. इदानीम् अभावप्रमाणं निरसितुं तत्पूर्वपक्षमुत्थापयामाह — प्रमाणपञ्चकैस्त्वापि ।

प्रमाणपञ्चकाभावेऽभावोऽभावेन गम्यते ॥ १५ ॥

§ २. तथाहि — न तावत् प्रत्यक्षेणाभावो गम्यते । इन्द्रियसन्निकर्षाभावेऽपि हि यद्युत्पद्येत  
तत्प्रत्यक्षं सर्वाभावेऽस्त्येते । न चाभावे सोऽस्ति । तदुक्तम् —

“न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।

भाषांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥” [ श्लोका० अमा० १८ ]

§ ३. प्रत्यक्षनिषेधे चानुमानमपि तत्र निषिद्धम्, तत्पूर्वकत्वादस्य । नहि अप्रतिबद्धं  
लिङ्गं कस्यचिद्गमकम् । प्रत्यक्षस्य च तद्ग्रहणनिषेधात् कथमभावेन कस्यचिद्विज्ञस्य  
प्रतिबन्धावगमः ? । अनुमानेन ग्रहणेऽनवस्था । सैवं न भवेद्यदि मूलभूतं ब्रह्मादिकं  
कचिदुपेयते । नापि सामान्यतो दृष्टाद्विज्ञात् उद्वगतिः, कार्यदेर्लिङ्गस्याभावात् ।  
अनुपपद्यमानस्य चाभावादर्थापत्तिरपि न । नाप्यागमस्तत्प्रतिपादकः, तस्य लौकिकवैदिक-  
भेदेन द्विधा स्थितत्वात् । लौकिकस्य प्रत्यक्षानुमाननिषेधेन निषेधः । वैदिकस्याप्य-  
नुष्ठेयविषयप्रतिपादकस्य न तत्प्रतिपादने व्यापारः । यदपि वैदिकं वचः “मत्सङ्गा इदमग्रे  
भासीद्” [ तैति० २.७ ] इत्यादि तदर्थवादत्वेन स्वरूपप्रतिपादकं न भवतीति व्याख्यातम् ।  
नाप्यनुमानस्याभावो विषयः, तस्य द्विविधस्यापि प्रमेयान्तरप्रतिपादनात् । एतच्च तत्प्रत्यक्ष-  
निषेधेनाऽनुमानमभ्युपगम्योक्तम् ।

§ ४. न तु तत्प्रतिपत्तौ किञ्चिल्लिङ्गमस्ति । न तावद्भावः तेन सह पूर्व कचिद्व्यवह-  
त्वात् । दर्शनेऽपि व्यभिचारसंभवात् । यत्र यदभावो गृहीतस्तत्र तद्भावस्यापि कचिद्ग्रहणा-  
दव्यभिचारे वा तयोर्थेऽस्मादेव व्याप्तिग्राहकात् प्रमाणात् तद्वगमः तदेव प्रमेयप्रतिपत्तौ  
निमित्तं भविष्यतीति किं भाषास्येन लिङ्गेन ? । एतेन तत्प्रतिपत्तिरप्यभावलिङ्गत्वेन निराकृता ।

§ ५. नाप्यनुपलब्धेः प्रतिषिध्यमानवस्तुग्रहणस्य भावाया लिङ्गता, तस्याः स्वरूपानिश्च-  
यात् । न तावत् प्रतिषिध्यमानवस्तुपलब्धिप्रतिषेधोऽनुपलब्धिस्तस्या अभावत्वेन ग्रहणा-  
संभवे लिङ्गत्वानुपपत्तेः । न च तथाविधेनाऽन्येन लिङ्गेन तद्ग्रहणम्, अनवस्थाप्रसङ्गात् । न  
चागृहीताया लिङ्गता । मन्वतु वा तस्यां ग्रहणम्, तथापि स्वसाध्येन संबन्धग्रहणं पूर्वं वक्त-  
व्यम् । न हि पक्षधर्मत्वनिश्चयमात्रादनुमेयप्रतिपत्तिः । संबन्धग्रहणाभ्युपगमे वा तत्र

१. शब्दाद्वैतं मु० क० । २. प्रतिपाद्य मु० । ३. भावेऽप्युत्प० मु० । ४. नेवाभावे मु० ।  
५. इन्द्रियेणैषा श्लोकवा० । ६. निषेधेनातु० क० मु० । ७. बहलि० क० । ८. तिरि० क०  
मु० क० । ९. मत्सङ्गा प्र० मु० । १०. निषेधे नि० अ० ब० । ११. लिङ्गम् अ-दि० । १२. तस्याऽ-  
ग्रहणम् मु० । १३. भाषास्येन क० ।



प्रमाणं वक्तव्यम् । न तावत्सैव प्रमाणम्, तद्व्यतिरिक्तान्येन तयोः संबन्धग्रहणाभ्युप-  
गमात् । न हि धूमाग्नयोः प्रतिबन्धग्रहणकाले धूमे न प्रतिबन्धग्रहः । प्रमाणान्तरसद्भावे  
तदेवाभावस्यानुमेयस्य प्रतिपादकमस्तु, किमनुपलब्ध्या ? । अनवस्था च तथा प्रतिबन्धग्रहणे  
ग्रन्थकारैर्दर्शिता । तन्नोपलब्धिप्रतिषेधोऽनुपलब्धिर्लिङ्गम् ।

१. § ६. नाप्यन्योपलब्धिः, विकल्पानुपपत्तेः । तस्या लिङ्गत्वे तद्व्यत्यं वस्तु वा स्यात्,  
प्रतिबिम्बमानवस्त्वभावो वा, असम्यक्वहारो वा ? । न तावद्वस्तु, तस्य प्रमेयत्वेऽप्यनुपलब्ध्या-  
क्यलिङ्गागम्यत्वात् । नापि वस्त्वभावः, तस्य तथा सह पूर्वोक्तेन न्यायेन प्रतिबन्धग्रहणा-  
संभवात् । असद्व्यवहारश्चेत्; एतदुक्तं भवति—यद्यपि परमते भूतलोपलब्धेर्घटाभावं प्रति  
पूर्वोक्तेन क्रमेण न लिङ्गता तथापि तस्यास्तद्वत्त्वं प्रतिषेद्धुमशक्यम् । यतः पदार्थान्तरोप-  
२. लब्धिस्त्वभावा सौ स्वसंवेदनप्रत्यक्षक्षतिद्धा । प्रमेयमपि तस्या न वस्त्वन्तरम्, नापि वस्तु-  
प्रतिषेधः तस्य गृह्यमाणवस्तुव्यतिरेकेणासत्त्वात् । अत एव न तेन सह प्रतिबन्धग्रहणं शक्यम् ।  
भूतसम्यक्वहारस्तु तथा साध्यते । स च तस्मान्निमित्तात् पूर्वमसकृत् प्रवृत्तेर्न प्रवर्त्यते । किं  
सर्हि क्रियते ? । समयस्मरणमात्रम् । तथा चोक्तम् । “समर्थते समर्थं परः ।” अयमर्थः—  
कस्यविधाणादावसत्त्वव्यवहारनिबन्धनं भवतोऽस्मान्निमित्तात् नान्यत् किञ्चित् पूर्वं प्रवृत्तम् ।  
३. न च तेषु कश्चिदपि सम्यक्वहारं करोति । न चोक्तनिमित्तव्यतिरिक्तस्य निमित्तान्तरस्य  
संभवः । यथा तदसंभवः तथा वादन्याये निर्णयमिति नेहोच्यते ग्रन्थगौरवभयात् । अतः  
तन्मात्रनिबन्धोऽसम्यक्वहारस्तथा साध्यते ।

- § ७. ननु ज्ञानाभिधानस्वभावोऽसम्यक्वहारोऽभिप्रेतः । स चानुपलब्धेः पूर्वोक्तायाः  
सार्थ्ये उक्तः । सा च स्वभावहेतावन्तर्भाविता । तस्यास्तस्मादर्थान्तरत्वे कथमन्तर्भावः ?  
४. नैव दोषः । नात्र तथा स साध्यते, तस्य पुरुषेच्छायसत्त्वात् । किन्तु तन्निमित्तदर्शनेन नैमि-  
त्तिकस्य व्यवहारयोग्यत्वस्य प्रदर्शनं विवक्षितम् । एवं विषयदर्शनेन विषयी प्रदर्श्यते इति  
यत्राभिधानं तत्राप्ययमेवाभिप्रायः ।

§ ८. तथा, अन्यत्रोक्तम्—

“हेतुना यः समग्रेण कार्योत्पादोऽनुमीयते ।

५. अर्थान्तरामपेक्षत्वात् स स्वभावोऽनुवर्णितः ॥” [ प्रमाणवा० १.१ ]

- यद्येतस्य स्वभावहेतुता तद्वदुक्तेऽपि हेतौ । यत उत्पादशब्देनात्र श्लोके न कार्योत्पत्तिर-  
भिधीयते, तस्याः सामग्रीतोऽर्थान्तरत्वेन स्वभावत्वायोगात् । किन्तुत्पद्यतेऽस्मादित्युत्पादः  
समभाषां योग्यतैवमुक्तः । तत् स्थितमनुपलब्धेः स्वभावहेतावन्तर्भावः । तत्र यथा ज्ञान-  
विधाणादौ तस्मान्निमित्तादसम्यक्वहारं करोति तथा चक्रमूर्धन्यपि मूढो घटस्य कार्यते । यत  
६. एवमुच्यते तस्य न भवता तत्र निमित्तान्तरमसम्यक्वहारे श्रूयते<sup>१</sup>, तस्याविकलस्यात्रापि

१. “लब्धिः प्रति” मु० । २. “लिङ्गम्” क० । ३. “लेप्युपल” क० अ० ब० । ४. क्रमेण लि० मु०  
क० । ५. “अयम्” तया यतः मु० । “अयम्” ता यतः क० । ६. सा च खं क० मु० । ७. “केन  
संवात्” मु० क० । ८. एव तेन मु० ब० क० । ९. श्रूयम् सद्व्यं मु० क० । १०. समर्थते  
मु० क० । ११. समयः परम् मु० । १२. साध्यमुक्तः मु० । १३. “मितप्रदं” मु० क० ।  
१४. यमम् तस्य विकल्पस्यां मु० ।

अत्राभात् किमिति भवात् तत्र न प्रवर्तयति । तस्मादनुपलब्धेः लिङ्गादसम्बन्धहारप्रवृत्तौ कथमिवमुक्तम्—‘लिङ्गाभावाभावावस्थानुमेयतेति’ ।

§ ९. नन्वेवं सुतरां तस्यानुमेयता नास्ति । यतो यद्यलिङ्गत्वेन विवक्षितं तत्तत्र प्रतिपादयति । यच्च तस्मात् प्रतीयते सोऽभावो न भवति, योग्यताया भावरूपत्वात् । तस्यात्कथमनुपलब्धेर्लिङ्गात् तत्प्रतिपत्तिरित्युच्यते ? किञ्च, किमित्यभाव एव पूर्वोक्तालिङ्गात् प्रमाणाभ्युपगमात् नावसीयते ? किमत्रोच्यते । तस्य भावव्यतिरेकेणासत्त्वात् । तया चाभावो लिङ्गात् प्रमाणान्तराद्वाऽवसीयमानो न स्वतन्त्रतया प्रतीयते । किन्तु देशादिविशेषणत्वेनैव प्रतिपत्तिः—अत्रेदानीर्मेत्य चाभावः ।

§ १०. न चाभावस्य देशकालाभ्यां सह विशेषणविशेष्यभावैः, वस्तुप्रतिषेधरूपत्वेनानुपकार्योपकारकत्वभावत्वात् । नापि भावसंबन्धिता तस्य युक्ता, तयोर्भिन्नकालत्वात् । यदा घटाव्यो भावः, न तदा तदभावः । यदा तस्य सत्त्वं न तदा घटोऽस्तीति कथं तस्य तत्संबन्धिता ? न च स्वतन्त्रस्य तस्य प्रतिपत्तिः ।

§ ११. ईयैवमुच्यते—घटो नास्तीति तयोः समानाधिकरणप्रत्ययविषयता तत् कथं नीलोत्पलाविवत् तयोः संबन्धाभावः ? अस्त्ययं प्रत्ययः । स तु संबन्धं विना भवन्मिथ्यात्वेन व्याख्यातुमिर्त्यवस्थापितः । यतो न प्रतिभासनिबन्धनं सत्त्वम् । तन्निबन्धनत्वे तस्य नेदानीं किञ्चित् असद् भवेत् । प्रतिभासस्यासत्त्वेऽपि तत्त्वत उपजायमानत्वात् । तस्माद् घटस्याभाव इति प्रत्ययो मिथ्या ।

§ १२. विशेषणविशेष्यभावैरेतत् संबन्धस्ययोरस्तीति । न, तस्य संबन्धपूर्वकत्वेन स्थितत्वात् कथमत्र तत्रावोऽन्यथा पुरुषेर्लैक्या तयोर्विपर्ययो न स्यात् । दृश्यते च तद्विच्छया विपर्ययः । कदाचिद्विशेषणरतेर्नापि व्यवस्थितं पूर्वं यत्राद्विशेष्यत्वेन विवर्धेति । एवं विशेष्येऽपि दृश्यम् । उभयोदभयरूपत्वादयोव इति चेत्; तर्ह्यसत्, तयोरसंबन्धप्रसङ्गात् । न विशेष्यस्य विशेषणेन संबन्धो नापि विशेषणस्य तथाविधेन । अपि चोभयोर्द्विरूपत्वे सर्वदा तयोर्द्विरूपा प्रतिपत्तिर्भवेत् । न चेत्तद् दृष्टम् । तस्मान्न घटस्याऽभाव इति तयोर्विशेषणविशेष्यभावः ।

§ १३. ईयं मा भूदसौ, विरोधस्तु तयोरेक्येवमभिधानम् । एतदसत् । तस्मिन् सति संवन्धित्वेन प्रतिभासो न स्यात्, अपि तु विरुद्धत्वेन मुद्राविवत् । किञ्च, विरोधोऽप्यवस्थाप्रमाणं यत् क्वचित्कृते वक्ष्यभावे सति भावो न स्यात् प्रकाश इव तमः । न त्वेवं अत्रास्ति । न हि भदे विद्यमाने कुतश्चित् स्वस्माभिनिष्ठाभावो भवन् भावं विरुणद्धि, प्रकाशवदेव ।

१. तत्र प्रव° मु० क० । २. मेयं नास्ती मु० । ३. तत्राभावो अ० । ४. यानीं तस्य अ० । ५. ‘अभावोऽस्तु प्रति° क० । ‘व्यभावो सः प्रति° मु० । ६. यदा तु तस्यासत्त्वं मु० । ७. तस्यासत्त्वं क० । ८. तस्य संब° अ० । ९. ‘अस्य प्रति° मु० । १०. अत्रेव° क० मु० । ११. ‘पि सत्त्वमुद्रा° मु० । १२. ‘भावस्य सं° मु० । १३. पुरुषेच्छायतयोर्वि° मु० क० । १४. ‘अनेऽपि मु० क० । १५. विवक्षयति क० । १६. चेत् तदन्तरयोरसं° क० मु० क० । १७. अपि चोभयोर्द्विरूपा प्रति° अ० । १८. द्विरूपा क० मु० । १९. ‘भावः । मा भूद्° मु० क० । २०. एत° विरो° मु० क० । न्या० ९

किन्तु स्वस्याद् मुद्रादेर्विरोधिनः प्रत्यायात् स्वयमेव न भवति । न च तथा भवन्नभावेन विरोधमपेक्षते तस्यान्यविरोधिजन्यत्वात् ।

§ १४. अथोच्यते—यथा मुद्रापेक्षयाऽसौ घटो न भवति तथा स्वसंबन्धभावापेक्षया न भविष्यतीति किमत्रानुपपन्नम् ? । ननु एतदेव यत् तयोरसमानकालत्वम् । समानकालत्वे हि तयोर्विरोधाविरोधौ चिन्त्येते न त्वेवमेव । अपि च, मुद्राविवत् तस्य विरोधकत्वाभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसक्तिः । यथा मुद्रो घटस्याभावजनकत्वात् तद्विरोधी एवमभावोऽपि अभावांतरजनकरत्वेन, तदप्येवमित्यनवस्था । न चाऽकिंचित्करादुत्पन्नस्य पदार्थान्तरस्य तथात्वव्यपदेशः । तत्र भावाभावयोर्विरोधोऽपि संबन्धः ।

§ १५. किञ्च, तस्य शास्त्रे कार्यकारणभावत्वेन स्थापितत्वात् मुद्राद्यपेक्षा तस्याऽसमर्थ-  
तरासमर्थतमोत्पादे । न तु तस्य तदपेक्षया निवृत्तिः, स्वयमेवैकक्षणस्यायित्वेन स्वहेतोर्दत्त-  
त्वात् । तत्र मुद्राद्यपेक्षयासौ निवर्तते, स्वयमेव निवृत्तत्वात् । अन्यथा तन्निवृत्त्ययोगात् ।  
तस्मान्न भावाभावयोः कश्चित् संबन्धः । तदभावाच्च तस्य प्रतिपत्तिः । न हि भाववदभावो  
त्रेक्षाघातपेक्षः स्वतन्त्रः प्रत्ययविषयः । अतो यदस्ति कथंचिन्निमित्तमात्रं तत्र प्रमाणगोचरः ।  
यच्च प्रतीयते देशाद्यपेक्षम्, तन्निरूप्यमाणं न तत्त्वतोऽस्तीति कथमभावः प्रमेयः स्यात् ? ।  
तत्रात्र एवैकदाऽस्ति पश्चात् स एव न । न तु तस्य पश्चादभावः ।

§ १६. इतश्च न तस्य निरूप्यमाणं तत्त्वमस्ति । यतोऽसौ भवनधर्मा भवेद्, अन्यथा  
वा ? पूर्वस्मिन्पक्षे वस्तुनि एव अभाव इति नाम कृतं स्यात् । उत्तरस्मिन्पक्षे सर्वपदार्था-  
नामसत्त्वप्रसङ्गः । सत्त्वाभ्युपगमे तस्योनताद्यभावादवश्यंभाविनी नित्यता । ततश्च विरो-  
धिनः सर्वदा सन्निधानाद्भावो जगति नाममात्रेणाप्युच्छिद्येत ।

§ १७. अपि च तस्यैकभावसंबन्धिता भवेत्, सर्वसंबन्धिता वा ? । पूर्वस्मिन्पक्षे  
विशेषो वक्तव्यो येन तस्यैवासौ नान्यस्येति । तन्निवृत्तिस्वभावत्वादेवं भविष्यतीति अपा-  
स्तम्, अकिंचित्करत्वेन तस्याः । यथा ह्यसौ तत्राकिंचित्कैर्यपि तस्य निवृत्तिः, तथा त्रैलोक्य-  
स्यापि किमिति न भवति ? । तन्नैकभावसंबन्धी । नापि सर्वसंबन्धी एकस्य विनाश उत्पादे  
वा सर्वस्य विनाशोत्पादप्रसंगात् । न चैवमस्ति । तत्राभावस्य केनचित्संबन्धः । तस्मात्  
कल्पनामात्रदर्शित एवाभावो न तत्त्वतः कश्चिदस्तीति स्थितम् ।

§ १८. अत्राहुः—एवमभावनिराकरणे पर्युदासै एवैको नश्यः स्यात् । तत्र च द्वयी गतिः ।  
वस्तुवन्तरस्य सत्ता अन्यस्याभावः, पदार्थान्तरत्वेन वा भावविलक्षणस्याभ्युपगतस्य ? ।  
उत्तरस्मिन्पक्षे प्रसज्यप्रतिषेधे यो दोष उक्तः सोऽग्राप्यपरिहार्यः । न हि पदार्थान्तरोत्पत्तौ  
स्वरूपेणाप्रच्युतस्य पूर्ववदुपलब्ध्याद्यकरणं, निवृत्तौ वा स्वयमेव तस्य निवृत्तेर्न<sup>१</sup> पदार्थान्तरो-  
त्पत्त्या किंचित् । तत्रोत्तरः पक्षः । नापि पूर्वः । तत्र स एव भावोऽन्यापेक्षयाऽभावः ।

१. तथा संबन्धाभावां मु० । २. नन्वेवमेव मु० । ३. 'लेन, न च तदप्ये' क० मु० ।  
४. 'करादेवत्य' मु० । ५. उपपन्नत्वात् मु० क० । ६. 'स्यात्' मु० । ७. मुद्रादिमपे० मु० अ०  
ब० । ८. प्रत्यक्षपरि० ब० । ९. 'वयः यस्मात् तस्य प्रतिपत्तिः नहि भाववदस्ति कथं' मु० । १०. इतश्च तस्य  
मु० क० । ११. अभावस्य अ-टि० । १२. 'चित्कार्यपि मु० । १३. पर्युदासस्यैको मु० । १४. 'स्य  
भावस्य पूर्व' क० । १५. निवृत्तेर्वा पक्ष० मु० ।

तत्र च घटस्य प्रध्वंसः कपालानां सत्ता । यदा च कुतश्चिन्मिसत्तात् तेषां प्रध्वंसः तदा गत्य-  
न्तराभावाद् घटस्याभावे प्रतिषिद्धे सत्तया भाव्यम् । न चैतद् दृष्टम् ।

§ १९. किं च यथा कपालानां सत्ता घटस्याकिञ्चित्कर्येपि प्रध्वंसः, तथा त्रैलोक्यस्यापि  
सा प्रसज्येत । ततश्चैकविनाशो सर्वविनाशः । एकोत्पादे च सर्वोत्पादः । तथाहि—द्वयः  
प्रागभावः क्षीरमात्रम्, तन्निवृत्त्या तस्योत्पादात् । यथा च प्रागभावव्यावृत्तौ द्वय उत्पत्तिः ।  
एवं पदार्थान्तरस्यापि । अथ येनैवासौ संबन्धः तस्यैवासौ प्रागभावः प्रध्वंसो वा । तेन न  
पूर्वोक्तो दोषः । उक्तमात्र—‘तेन सह संबन्धे विशेषहेत्वैभावः’ । तत् प्रसज्यप्रतिषेधे पर्यु-  
दासरूपस्याभावाख्यस्य प्रमेयस्याभावात् कथं तत्प्रतिपत्तिः कुतश्चिद्विज्ञाद् दृश्यते । तत्रैव-  
मभावाभावे ग्रन्थकारैः पदार्थसंकराख्यो दोषः प्रतिपादितः—

“क्षीरे दधि भवेदेवम्” [ श्लोका० अभा० ५ ]

10

इत्यादिना ।

§ २०. नैव दोषः । परात्मनाऽसत्त्वानैभ्युपगमे पूर्वोक्तमसंमंजस्यं प्रतिपादितम् । अथ  
ज्यात्—स्यादयं दोषो यदि स एव भावः पररूपेणासन्न भवेत् किन्तु तस्य पररूपेणासत्त्वं  
वर्जितो धर्मः । तर्हि च आत्मकः पदार्थोऽभ्युपगतो भवति । तदुक्तम्—

“स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसवात्मके ।

वस्तुनि जायते” किञ्चित् रूपं कैश्चित्कदाचन ॥” [ श्लोका० अभा० ११ ]

न च तयोर्भावाभावलक्षणयोरेकयोरनेन प्रकारेणाभेद उक्तो येनायं दोषः स्यात् किन्तु  
कथंचिद्देवस्याप्यभ्युपगमात् । तदुक्तम्—

“धर्मयोर्मेव शब्दो हि धर्म्यमेवेऽपि नः स्थिते ॥” [ श्लोका० अभा० २० ]

§ २१. अत्रोक्तम्—“हेतुनातिको भेदोऽस्तु तयोः, कथञ्चिद्वा भेदस्यावशिष्टः । तथा सति ॥  
भावस्य घटाख्यस्याभावाद्येन पदार्थान्तरात् पटाख्यात् यथोऽसंकीर्णता एवं भावामर्शसंयो-  
रपि । तत्र च घटादिर्भावाभावाद्यपि तेनासंकीर्णताभावान्तरेण भाव्यम् । तस्मादप्यसंकीर्णता-  
भ्युपगमेऽनवस्था प्रदर्शितेव । तस्मात्तावताभ्युपगमेनापि पदार्थान्तरात् पदार्थान्तरस्य  
व्यावृत्तिसिद्धेरवस्थसंकरसिद्धिः । किन्तु स्वहेतुतः समुपजायमाना भावाः परस्परसंकीर्ण-  
स्वभावा एवोपजायन्ते । अन्यथा पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गः । तदुक्तम् “सर्वभावाः स्वैवभावाः ॥  
स्थितयो नात्मानं परेण मिथयन्ति” । तत् ‘नास्तीति’ व्यवहारमात्रम् । न त्वभावो नाम  
तैश्चानगम्यः कश्चिद्विद्यते । भाव एवैकदा अस्ति । अन्यदा स एव न । न तु तस्याभावो

१. ‘स्यापि । तस्यैवा’ मु० क० । २. अत्रोक्तम् व० मु० क० । ३. ‘हेतुनातिको’ मु० क० ।  
४. ‘भेदे च पर्यु’ क० । ५. तत्रैवमभावे मु० । ६. ‘तमोऽस’ मु० । ७. ‘सत्ताभ्यु’ मु० क० ।  
८. ‘कामासमंजस्य क० अ० व० । ९. ‘णासद् भवेत् अ० । ‘णासद् भवेत् क० । १०. किन्तु  
परं मु० क० । ११. तदा च क० । १२. जायते कैश्चित् कदाचन श्लोका० । १३. ‘लक्षण-  
योरेन अ० । १४. धर्ममे मु० । १५. अथोक्तम् मु० क० । १६. एतन्तिको अ० क० मु० ।  
१७. ‘तांशेपि तेन पदा’ मु० । १८. यथास्तसं व० । १९. भावांशयोरेपि अ० । भावाभवेरेपि मु० ।  
२०. पटादिभावां मु० । २१. ‘गजाभ्यु’ मु० क० । २२. ‘यान्तरात् क० । २३. ‘जायतेवस्व’  
व० क० । २४. सर्व भावाः मु० । २५. सर्वभावाः स्वरूपे पररूपेण क० । २६. अभावा अ०-डि० ।

यतो भावैकपरमार्था भावाः स्वरूपेण । पररूपेण तु न सन्तो नाप्यसन्तः । तथाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोषाभिप्रायः । तत् स्थितमनुपलब्धेः सविशेषणाया असम्यक्प्रहारयोग्यत्वं प्रति लिङ्गता ।

§ २२. ननु अनुपलब्धेः किं विशेषणं येनैवमुच्यते ? । किमत्र प्रष्टव्यम् ? । निषिध्यमानस्य दृश्यत्वम् । तन्न, तदानीमसौ दृश्यते । कथं तथा व्यपदिश्यते ? । अदृश्यमानोऽपि दर्शनयोग्यश्चेत् तद्योग्यत्वम् । दर्शनाभावात् कथमवसितम् ? । अत्रोक्तं व्याख्यातुभिः — दृश्यत्वं समारोपितं तत्र, न तु वास्तवम् । अतः समारोपितदृश्यत्वाभिप्रायेणानुपलब्धेः पूर्वोक्तं विशेषणम् । एतच्च पूर्वावगतस्य षट्स्य शशविषाणस्य च ऽनवगतस्य द्वयोरपि तुल्यं कवित्प्रतिषेधे । तत् स्थितं ययोर्कविशेषणाया अनुपलब्धेर्व्यवहारयोग्यतास्य भावः प्रमेयम् । न तु भावव्यतिरिक्तोऽभावः ।

§ २३. अत्राहुः — सर्वस्य ज्ञानद्वयं समुपजायते — ‘इदमस्ति’ ‘इदं नास्तीति’ । तयोश्च विभिन्नविषयावभासित्वाद्द्वैलक्षण्यं सुप्रसिद्धम्, एकस्य भावविषयत्वात् अपरस्याभावविषयत्वात् । तत्रैतत् स्यात् द्वयोर्मध्ये कतरङ्गावप्रतिभास्यन्यदभावस्य । ननु स्फुटे प्रतिभास्यभेदे कुतस्त्यः संशयः ? ।

§ २४. अत्राहुः — प्रतिभासोत्पादेव । भावो हि सामर्थ्यालक्षणः आक्षेपे गीयते तद्विलक्षणेन चाभावेन भवितव्यम् । अन्यथा तयोर्न स्यात् स्वरूपाभेदाद्द्वैलक्षण्यम् । तस्मात् तस्यासमर्थत्वेनैव भवितव्यम् । असामर्थ्यार्थाजनकत्वम् । तस्माच्च कुतः प्रतिभासः ? । सामर्थ्ये वै भावस्यैवाऽभाव इति नामकरणम् । न च तन्निबन्धनमर्थतयात्वम् । तत् भाव एव वस्तुवन्तरासंभ्रियतयोपलभ्यमानः पूर्वोक्तं ज्ञानद्वयं जनयति । अत इदमभावज्ञानं भावप्राहिममाणसामर्थ्यादुत्पन्नं न प्रमाणान्तरम् ।

§ २५. अत्रोच्यते — भावसामर्थ्यादस्योत्पादेऽस्तीत्येवमुत्पत्तिः स्यात् न तु नास्तीति, जनकस्य भावैकस्यभावत्वात् । यथानुभवं च विकल्पेनोत्पत्तव्यम् । न त्वन्यथा विकल्पः । तत्रैतद्भवेत् — अम्यापेक्षया जनकस्य प्रतिषेधरूपताप्यस्तीति अतोऽयमदोषः । नैतच्चारु । तस्योभयरूपत्वे पूर्वोक्तदोषानुवृत्तेः । एतच्च भवद्विरेवोपगतम् — ‘स्वरूपेण सर्वं पररूपेण तु न सन् नासजिति’ वैदिकः । तद्विधिस्यभावत्वात् अस्तीति विकल्पं जनयेत् न प्रतिषेधविकल्पम्, अतद्रूपत्वात् । अस्ति च प्रतिषेधविकल्पो भवतां मते स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धः । स च विषयभेदात् पूर्वस्मात् प्रमाणान्तरम् ।

§ २६. ननु प्रतिषेधविकल्पस्याभावविषयत्वं तस्याजनकत्वेन प्रतिक्षिप्तम् । अत्र केचिदाहुः — भावेऽयं निधमो जनकस्य प्रतिभासः । अभावस्त्वजनकोऽपि स्फुटप्रतिभासोत्पत्तेः प्रतिभासत इति कमुपालभेमहि ? । न च प्रतिभासापलापो युक्तः । अपि च भावेऽप्ययं न

१. स्वरूपे परं मु० । २. दोषाभिप्रायः अ० ब० । ३. ‘नीमयं न रं’ मु० । ४. ‘न्यस्यदर्शं’ क० मु० । ५. ‘स्य वाऽनव’ मु० । ६. ययोर्कविशेषणतयाऽनुपं मु० । ७. ननु भां मु० । ८. सर्वस्य क० मु० । ९. सर्वस्य समु० क० । १०. प्यं प्रति मु० । ११. न तु स्फुटे अ० ब० मु० । १२. प्रतिभासेत् मु० । १३. तद्विलं मु० । १४. असामर्थ्याच्च कुतः मु० । १५. ‘प्यं चाभाव’ मु० । १६. ‘तत्तादृशद्वयं’ मु० । १७. ‘ज्ञानं’ मु० । १८. स्वरूपेण तु मु० । १९. भवद्विः अ० ब० । २०. ‘भेदात् प्रमाणं’ मु० ।

नियमो जनकस्यैव भावस्य प्रतिभासः । यः प्रतिभासे प्रतिभाति ग्राह्याकारो वर्तमानावच्छिन्नो न तस्य प्रतिभाससमानकालत्वेन जनकत्वम् । यस्य च जनकता तस्यातीतत्वात् प्रतिभासः । तत्रैतद्वदेत्—जनकस्य न साक्षात् प्रतिभासः । किन्तु स्वाकारजननमेव तस्य ग्राह्यत्वम् । न तु प्रतिभाससमानकालत्वेन तदभावस्य सामर्थ्यं तथाविधं ग्राह्यत्वेन संभवति ।

§ २७. अत्र वदन्ति—कथमसौ प्रतिभाससमानकाल आकारोऽनुपकारकस्तत्र प्रतिभाति । न चान्यस्योपकारकत्वेऽन्यस्य प्रतिभासोऽतिप्रसंगात् । एकसामर्थ्यधीनत्वेनातिप्रसंगनिवारणं प्रतिक्षिप्तम् । किंच, उपकार्याभावाज्जनकस्य भावस्य ग्राह्यत्वेन परिकल्पितस्योपकारकत्वमनुपपन्नम् । न च ज्ञानप्रतिभासाकार उपकार्यः, तस्य स्वतत्त्वतोऽसत्त्वेनाभ्युपगमात् । अतः कथं भावस्योपकारकत्वम् ? मा भूत् ज्ञानाकारस्योपकार्यता ज्ञानं तु परमार्थसद्विद्यते । तदपेक्षयोपकारकत्वं भविष्यति । एतदप्यसत् । ज्ञानप्रतिभासिन आकारस्यापरमार्थसत्त्वे तदव्यतिरेके ज्ञानस्याप्यसत्त्वप्रसङ्गः तस्य चाबोधरूपता । कः पुनस्तत्प्रपत्तायां बोधः ? न कश्चित् तदसत्त्वव्यतिरेकेण । यथाहि ग्राह्याकारे वृत्तिविकल्पादिबाधकं प्रमाणं प्रवृत्तमसत्त्वं प्रतिपादयति तथा तदव्यतिरेकस्यापि बोधाकारस्यासत्त्वमावेदयेत् । तदकार्यकारणभूत एव ग्राह्यत्वेनाभिमतो भावः प्रतिभाति । तद्वदभावोऽपि ।

§ २८. ननु एवमजनकस्याभावस्य प्रतिभास्यत्वे सर्वदा अभावप्रतीतिः स्यात् । स्वादयं बोधो यदि तद्ग्राहकप्रमाणोत्पत्तौ निमित्तं सर्वदा स्यात् । किं पुनस्तद् यत् सर्वदा न भवति ? प्रतिविध्यमानपदार्थस्मरणम्, भावोपलम्भश्च । अतः प्रमाणोत्पत्तिनिमित्तान्वयव्यतिरेकानुविधानात् कादाचित्कत्वमभावप्राहिणो न त्वभावस्य जनकत्वात्, तस्य सदैव भावात् । तत् प्रमाणान्तरमभावः—एवं केचिदाहुः ।

§ २९. अग्रे भुवते—अभावस्य प्रतिभासजनकत्वं किमक्षणीकत्वाग्नेष्यते, आहोस्वित् प्रतिभासजनकत्वेन भावाद्वैलक्षण्यं न स्यादित्युच्यते ? यदि पूर्वः पक्षः तर्दा एतत् प्रति-समाधास्यते क्षणमङ्गमङ्गे । यथा भावस्याकिञ्चित्कसहकार्यपेक्षस्य कार्यजनकत्वं तथाऽभावस्यापीति वक्ष्यते । अथ द्वितीयः । सोऽपि न युक्तः । न हि जन्यत्वजनकत्वाद्वैलक्षण्यानुपपत्तिः । एवं वैलक्षण्ये जगति न किञ्चित्कुतश्चित् विलक्षणं भवेत् । पूर्वोक्तस्य निमित्त-द्वयस्य संभवात् ।

§ ३०. अथ तस्मिन्सत्यपि हेतुभेदात् प्रतिभासभेदाच्च भावानां विलक्षणता । तद्वदभावेऽपि स्यात् । अथोच्येत—सर्वसामर्थ्योपाख्याविरहलक्षणमसत्त्वम् । तदेव चाभावोऽतः कथं तस्य

१. 'नो तस्य क० मु० । २. प्रतिभासमानका० क० मु० । ३. यस्य जन० अ० क० मु० । ४. जनकत्वं अ० । ५. ग्राहकत्वेन मु० । ६. तस्य तदव० क० मु० । ७. परमार्थं अ० मु० । ८. 'रेकज्ञान क० मु० । ९. 'प्रसङ्गात् । तस्य बाबोध० अ० अ० । प्रसङ्गः तस्य बोध० क० मु० । १०. ग्राह्यग्राह्याकारे अ० क० । ग्राह्यकारे (कारे) मु० । ११. तदव्यति० मु० । १२. प्रमाणोपपत्तौ अ० क० मु० । १३. 'ध्यमानं पदा० क० मु० । १४. णोपपत्तिनि० क० मु० । १५. तदेतत् क० मु० । १६. 'वित्प्रस सह० क० मु० । १७. 'पेक्षस्यकार्य० अ० । १८. जन्यत्वाजन० क० । १९. एवं तावद्भाववैल० अ० । २०. प्रतिभासते मे० क० मु० ।

जनकत्वम् ? । न सामर्थ्यलक्षणं सत्त्वम्, तस्य क्षणभङ्गमङ्गे निषेत्समानत्वात् । तद् अभावस्य प्रतिभासाजनकत्वात् अप्रमेयत्वमयुक्तम् ।

§ ३१. अथ न पूर्वोक्तेन निमित्तेन तस्याप्रमेयता किन्तु भावव्यतिरिक्तस्य तस्यासंभवात् पक्षमुच्यते । पतत् असत्, रूपाद् रसस्य कथं भेदः ? । किमत्र प्रष्टव्यम् ? । भिन्नप्रत्ययविष-  
यत्वात् तस्य तस्माद्भेदेऽत्राप्यस्तीतिप्रत्ययप्रतिभासस्य भेदः, तस्मिन्वाऽसति कथं विलक्षणः प्रत्ययः ? ।

§ ३२. तत्रैतत् स्यात्—न प्रतिभास्यभेदाभास्तीतिप्रत्ययस्य पूर्वस्माद्वैलक्षण्यम् । किन्तु सामग्रीभेदात् । नन्वेकोपलम्भानुभवाद् द्वयोरुत्पादे कथं सामग्रीभेदः ? । नैष दोषः । प्रतिविध्यमानस्मरणस्य नास्तीतिप्रत्यये पूर्वस्मादाधिक्यात् । नतु तस्यैव कथमुत्पत्तिः ? । न हि अप्रतिबद्धपदार्थदर्शनेऽन्यस्य स्मरणमतिप्रसङ्गात् । एकज्ञानसंसर्गः प्रतिबन्ध इति चेत्; वक्तव्यं तर्हि कोऽयमेकज्ञानसंसर्गः ? । पूर्वं द्वयोः सह प्रतिभास्यतेति चेत्; तर्हि यो यत्र न दृष्टः तस्य तत्रादृश्यमानस्य प्रतिषेधो न स्यात् । प्रतिविध्यमानस्मरणनिमित्ताभावाद्योग्य-  
तेति चेत् । साऽपि न युक्ता दर्शनं विना, कार्यानुमेयत्वात् तस्याः ।

§ ३३. अथ ब्रूयात्—न योग्यता पूर्वोक्ताऽस्माभिर्भण्यते किन्तु—‘यदि प्रतिविध्यमानं वस्तु  
तत्र सन्निहितं भवेत् तदा भूतलमिव तत्र द्रष्टुं शक्यं स्यात्’—इयं योग्यता एकज्ञानसंसर्ग-  
लक्षणा । अस्यामपि योग्यतायां नैकस्यैव प्रतिभासो भवेत् । किन्तु यावत् तत्र सन्निहितं द्रष्टुं  
शक्यं तस्य स्मरणे सति प्रतिषेधप्रतिभासः स्यात् । न चैतदस्ति, कस्यचिदेव प्रतिभासात् ।  
तत्र प्रतिषेधविकल्पोत्पत्तौ प्रतिविध्यमानस्मरणं पूर्वस्मात् सामर्थ्यन्तरम् । तत् नास्तीति  
विकल्पो न भवेद् एकनिमित्तोत्पन्नयोः वैलक्षण्यभावात् । अथवा तदुत्पत्तौ सामर्थ्यन्तरम्,  
तथापि नोपायभेदात् विकल्पयोर्भेदः किन्तु प्रतिभासभेदात् प्रत्यक्षानुमानयोरिव । तदुक्तम्—

“प्रामाण्यं वस्तु विषयं द्वयोरर्थभिदां जगौ ।

प्रतिभासस्य भिन्नत्वादेकस्मिन्तद्व्योगतः ॥”

युक्तं चैतत् । अन्यथा नास्तीति प्रत्ययेऽप्रतिपत्तिरेव स्यात् । यतः प्रतिभास्यं तावदसत्त्वात्  
न प्रतिभाति, प्रतिभासोऽपि वक्ष्यमाणात् स्वसंवेदननिषेधात् नैव । न च वस्तुन्तरमस्ति ।  
अतो नास्तीति विकल्पोत्पादानुत्पादयोः प्रतिभासाभावात् तुल्यता प्रसक्ता ।

§ ३४. अथ भेदानुमानस्य प्रतिभासस्य संभवात् प्रत्यक्षानुमानयोर्विषयभेदाद्भेदोऽस्ति,  
प्रमाणत्वात् । नास्तीति विकल्पस्य पुनर्न प्रतिभासोऽस्ति । नापि प्रमाणत्वम् । अतः तुल्यता  
तस्य न युक्ता । ननु अनुमानेऽपि नैवं प्रतिभास्यं वस्तुवस्ति, आरोपितस्य तद्विषयत्वेनाभ्युपगमात्

१. भावाव्यतिं क० मु० । २. ‘द्वेदोऽत्रापि’ अ० ब० मु० । ३. ‘प्रतिभासः स्यात् तदसत् तस्मिन्’ मु० ।  
‘प्रतिभासस्य क० । ४. ‘क्षणः तत्र’ अ० । ५. ‘नुभवाध्यवसाययोस्तदादे मु० । ६. न तु मु० ।  
७. एकज्ञाने सं’ अ० ब० । ८. ‘संसर्गः पूर्व क० । ९. तर्हि तयोः यत्र मु० । १०. ‘दृश्य प्रति’  
अ० ब० । ११. यदि ब्रूयात् मु० । तस्याः । ब्रूयात् अ० क० । १२. मिव द्रष्टुं मु० । ‘मिव तद्  
क० । १३. स्मरणसति क० । १४. प्रतिभास्यमे’ क० । प्रतिभासस्य मे’ मु० । १५. ततः मु० ।  
१६. न प्रतिभासो मु० । १७. भेदो नानुमानस्य अ० ब० । १८. भेदेऽस्ति अ० । १९. ‘प्रति-  
भासोऽस्ति क० मु० । २०. नैवाप्रति’ अ० ।

तच्च नास्तीति विकल्पेऽपि न दण्डवारितम् । यथा युक्तिबाधितत्वेऽपि तद्विषयस्याभ्युपगमः, तथा नास्तीति विकल्पविषयस्यापि । तत्प्रामाण्यमप्यस्तीति विकल्पवत् नास्तीति विकल्पस्य प्रापकत्वात् न वार्यते ।

§ ३५. ननु न विधिविकल्पस्य तत्र प्रामाण्यं किन्तु दर्शनमेव स्वाकारार्पणात् तद्रूपता-  
मापन्नं वस्तु प्रापयत् प्रमाणम् । प्रतिषेधविकल्पेऽपि दर्शनस्यैवंरूपता किमिति न कथ्यते ? ।  
अथ विधिविकल्पस्य पारंपर्येण यो विषयो नीलादिः स प्राप्यते, प्रतिषेधविकल्पस्य तु यो  
विषयः तस्य न कथंचित् प्राप्तिरिति तदाकारतामापन्नं दर्शनं न तत्र प्रमाणम् । कथं न  
प्राप्तिर्यतो नीलं प्राप्यमाणं तत्प्रच्युत्यविनाभूतपीताद्यसंसृष्टं प्राप्यते न शुद्धं तस्याश्च पदार्थ-  
व्यवस्थानिवन्धनायाः प्रच्युतेः कथंचित् प्राप्तिरस्तीति किन्न तत्र दर्शनं प्रमाणम् ? । तदन-  
भ्युपगमे च पदार्थव्यवस्था नास्तीति उक्तं तैर्लौक्यविकिरोधं प्रदर्शयद्भिः । कल्पिताया-  
स्तस्याः सत्त्वाभ्युपगमाददोष इति चेत्; एतन्नातिसुभाषितम् — अकाल्पनिकवस्तुव्यवस्था-  
पकत्वं कल्पितत्वं च ।

§ ३६. अथोच्येत — तस्याः प्रापकत्वेऽपि कथंचित् दर्शनं न प्रमाणं तदर्थक्रियाऽकरणात् ।  
ननु केयमर्थक्रिया यामसौ न करोति ? । नीलादिसाध्यामिति चेत् । तन्न, नीलादिविषय-  
तुल्यम् । तेऽपि न परस्परस्यार्थक्रियां कुर्वन्ति । अथ वस्तुवन्तरसाध्यार्थक्रियाऽकरणेऽपि  
स्वकार्यकर्तृत्वं तेषामस्तीत्युच्यते । तत् प्रच्युतेरपि न केनचिद्वारितम् । तथाहि — पीताद्यवच्छे-  
दकत्वं तत्प्रच्युतेर्भवद्विरभ्युपगतम् । तदनुमानवद्दर्शनपृष्ठभाविधिविकल्पवच्च प्रतिषेध-  
विकल्पस्यापि प्रामाण्यम् । तन्नानुपलब्धेर्लिङ्गादसद्व्यवहारयोग्यताऽवसीयते । किन्तु अभाव  
पक्षः । स तु प्रमाणान्तरगम्यः । न च सदुपलम्भकप्रमाणगम्यः पूर्वोक्तन्यायेन ।

§ ३७. इतश्चैतन्न । यतः कश्चित् कुतश्चिदागतः पृच्छयते — 'तत्र प्रवेशे वैत्रो स्थितो न  
वेति' । स प्रश्नात् चैत्रं स्मृत्वा तदभावमवगत्य वक्ति न तत्र स्थितः । न च तत्र तदभावा-  
वगमे तस्य तदानीमिन्द्रियव्यापारः । नापि लिङ्गं किंचिद्विद्यते । न चानुपपद्यमानत्वम्,  
नाप्यागमः, उपमानं वा । न च तदभावप्रतिपत्तिर्नास्ति, प्रशस्योत्तरदानात् । न वाध्यते,  
संविधा वा । नापीयं स्मृतिः, पूर्वं तदभावानवगमात् । प्रतिविध्यमानपदार्थस्मरणं तदभावा-  
वगमनिमित्तम् । तच्च निमित्ताभावात् पूर्वं तस्य नोत्पन्नम् इदानीं प्रभे सति संजातम् ।

§ ३८. अथोच्येत — पूर्वमेव तत्रोपलब्धिलक्षणप्रार्थनशेषवस्त्वभावग्रहणं मेवकबुद्ध्या ।  
तस्मिन्सति यस्य स्मरणादिसहकारिकारणमस्ति तस्य व्यक्तिरिस्कृतस्य गृहीतस्य स्फुटप्रति-  
भासविषयता । एतदसाधु । यतोऽस्य ग्रहणं भवद्विकल्पद्वयं नातिवर्तते स्वतन्त्रशेषवस्त्व-

१. 'यैष वि' क० मु० । २. प्राप्यन्तु मु० । प्राप्यते तस्या अ० । ३. कथं न क० मु० ।  
४. 'कथं विक' अ० । ५. दर्शकं क० व० मु० । ६. तच्च अ० व० । ७. ते च न अ० ।  
८. परस्यार्थ क० मु० । ९. 'व्यतानुमीयते मु० । १०. एव तत्र प्रमां मु० । ११. न तु सदु' क०  
मु० । १२. 'केन न्यायेन क० मु० । १३. अत्र अ० । १४. तत्र सदभा' क० मु० । १५. मानः  
ना' मु० । १६. तदप्रति' मु० क० । १७. 'दानात् नापीयं मु० । १८. 'गमे नि' क० मु० ।  
१९. अथोत्पत्तेः प० मु० । २०. 'प्राप्तवशेष' मु० । २१. तस्य तस्य व्य' मु० क० । २२. विशेष इति  
व० । विशेष्यता क० मु० ।



भावस्य ग्रहणम्, अन्योपसर्जनस्य वा ? । प्राञ्च्ये विकल्पे नैकामावसरणं भवेत् सर्वेषां सह  
सुदीतत्वात् । ऐतेनान्योपसर्जनत्वेन ग्रहणं व्याख्यातम् । तत् स्मृतिरपि न भवति । न च  
समुपलम्भकं तदवगमे किञ्चित् प्रमाणमस्ति । पारिशेष्यादभावाख्यात् प्रमाणात् तस्यावगमः ।  
तदुक्तम् —

“स्वरूपमात्रं दृष्टं च पश्चात् कश्चित् स्मरणमपि ।

तत्रान्यनास्तितां पृष्टस्तदैव प्रतिपद्यते ॥” [ श्लोक० अभा० २८ ]

§ ३९. एतदपरे दूषयन्ति । प्रभकाल एवाभावावगमे तद्भावास्तद्वा न निर्वर्तेत । तथा च  
तत्त्वोत्तरम् ‘मया पूर्वं न दृष्टस्तत्र तेन तदानीमसौ नास्ति नेदानीं’ इतीदृश्येव च संवित्तिः  
‘तदानीं नासीत् नेदानीम्’ इति । तत्र प्रभकालेऽभावावगमः । ननु पूर्वमप्यवगमे सर्वस्मरण-  
॥ लक्षणदूषणमभिहितम् । उभयत्र दूषणसद्भावात् संशयोऽस्तु न निश्चयोऽतोऽभावस्य प्रमाणा-  
न्तरागम्यत्वे पूर्वोक्त एव न्यायो न त्वनन्तराभिहितः [ १५ ]

§ १. अत्रोच्यते । यत्तावदुक्तम् ‘अर्भावेनेन्द्रियसन्निकर्षाभावात् न प्रत्यक्षगम्योऽभावः’  
अभावस्य इति तदसत् । र्यतः सन्निकर्षस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात् । प्राप्यकारित्वे चक्षुषः  
पृथक्- स्पर्शनेन्द्रियस्येव बहुधादिना दाहाद्यापद्येत । अथाप्राप्यकारित्वे मेर्वादेः किञ्च  
प्रामाण्य- निषेधः । ग्रहणम् ? । प्राप्यकारित्वेऽपि किञ्च भवति ? । अयोग्यत्वात् नेति चेत् ; तर्हि  
‘योग्यतैव ग्रहणे’ निबन्धनं न संबन्धः । तेन भाववदभावेऽपि योग्यत्वात् अक्षमभ्यस्त-  
मुत्पादयति ।

§ २. किञ्च, नेन्द्रियसंबन्धात् प्रत्यक्षं वस्तु किन्तु प्रत्यक्षविषयत्वात् । अन्यथाऽऽकाशा-  
देरपि प्रत्यक्षता स्यात् । तथा चक्षुषे रसस्यापि प्रतिभासो भवेत् तत्रापि ‘संयोगस्य संयुक्त-  
॥ समवायद्वारेणैकार्यसमवायस्य वा संयुक्तविक्षेपणभावेन वा भावात् ।

§ ३. ननुक्तम् ‘योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि’ इत्यभावांशेनैव (‘वांशे’) योग्यतैव नास्ति । ननु  
भावांशेऽपि कथं योग्यता ? । तद्विषयज्ञानोत्पत्तेरिति चेत् । अभावांशेऽपि समानम् । तथाहि —  
अस्तीति ज्ञानस्येव नास्तीति ज्ञानस्यापीन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानं तुल्यम् । अस्त्येतत् किन्तु  
अन्यथा सिद्धं तद्भावभावित्वम् । यथा दूरैर्दृष्टिदर्शने रूपज्ञानस्यैवेन्द्रियजत्वम्, न तद्वत्स्पर्श-  
॥ ज्ञानस्य, तस्य रूपदर्शने सति भावाद् । एवमिहापि भूतकग्रहणे सति नास्तीति ज्ञानस्य भावे  
तद्भावभावित्वं द्रष्टव्यम् । तदुक्तम् ।

“सुदीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।

मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽज्ञानपेक्षणात् ॥” [ श्लोक० अभा० २९ ] “इति ।

§ ४. एतदुक्तम् । दूरादग्नौ स्पर्शज्ञानं सद्भूतरूपोपलम्भादानुमानिकम् । इह तु भूतकस्य

१. प्राप्ते वि० मु० । २. ‘स्यात् तेन’ मु० । ३. परीक्षेयाद् क० मु० । ४. दृष्टापि पश्चात् श्लोकवा० ।  
५. तदेव अ० व० । ६. अभावो नेन्द्रि० क० मु० । ७. ‘भावः तद’ अ० । ८. ‘सत् सवि’ अ०  
मु० । ९. तथा मु० । १०. ग्रहणं क० मु० । ११. तथा वा चक्षुषि मु० । १२. तत्रापि  
संयु० मु० । १३. ‘भावस्य भावाद्’ अ० व० । १४. ‘वांशेनैव यो’ क० । १५. ‘शे क्वं क०  
मु० । १६. अन्यथा सिद्धं मु० । १७. दूराद् मु० । १८. ‘स नेन्द्रि०’ क० मु० । १९. ‘तत्  
तद्’ मु० । २०. ‘ति विज्ञा’ क० मु० । २१. नात् । एत० अ० व० । २२. इति तद० क० मु० ।

तत्प्रतिपक्षेऽत्र लिङ्गत्वं निषेधात् न स न्यायः । यथा च भैवतां भूतले संपलभ्यमाने अस्तीति ज्ञानस्य,

“ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यथा ।

बुद्ध्याऽवसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन संमता” ॥ [ खोक्का० प्रत्य० १२० ]

इत्यभिधानात् प्रत्यक्षता तथा नास्तीति ज्ञानस्यापि ।

§ ५. किञ्च, भावांश्च प्रहणं किं वस्तुवन्तरसंसृष्टस्य किं वा असंसृष्टस्य ? । यदि संसृष्टस्य तदा प्रत्यक्षबाधितत्वादभावः प्रमाणं न स्यात् । अथासंसृष्टस्य तदा कथं नोभावस्य प्रत्यक्षता । अथ वस्तुमात्रमेव प्रतीयते, न वस्तुवन्तराभावः । तत् किं वस्तुवन्तरं तत्र प्रतिभाति ? । नेति चेत् ; तत् कथं न तदभावः प्रत्यक्षग्राह्यः ? । अथ प्रत्यक्षेण न तद्भावो नाप्यभावः प्रतीयते । तदसत् । एवं हि अप्रवृत्तिनिवृत्तिकं जगत्स्यात् । तदुक्तम् — “न हि ॥ अयमनलं पश्यन्नप्यनलमेव पश्यति किन्तु सलिलमपि । ततः तदर्थी न सिद्धेऽपि प्रतिष्ठेतेति दुस्तरं व्यसनमापन्नम्” इति । तस्माद् इदन्तया सदसदात्मकं वस्तु परिच्छिन्दत् प्रत्यक्षं सद्भावहारमिव असद्भावहारमपि करोति इति न नास्तीति ज्ञानस्य पृथक्प्रामाण्यमिति । तदेवाह — न, नास्तीत्यादि ।

न, नास्तीति यतो ज्ञानं नाध्यक्षान्निष्पन्नगोचरम् ।

§ ६. क्वचिदस्तीति ज्ञानमपि लेङ्गिकमित्यभिधास्यते । [ १६<sup>१</sup> ]

§ १. ननु अभावप्रमाणनिरासे प्रमेयाभावनिरासाद् अभ्युपेयहानिः स्यादित्याह — अभावोऽपि वेत्यादि ।

अभावोऽपि च नैवास्ति प्रमेयो वस्तुनः पृथक् ॥ १६ ॥

§ २. एतदुक्तं भवति — नाभावो जैनैर्नाभ्युपगम्यते । किन्तु न पृथगिति । उक्तं च सूत्रे । ॥

“अच्छोष्णाणुगयाणं ‘इमं च’ ‘तं च’ च विभयणमनुसं ।

जह बीर-पाणियाणं” [ सन्मति० १.४७ ] इति ।

§ ३. ननु अक्षेपाभावानुभवे<sup>१</sup> युगपत्स्मरणमुत्पद्येत । न किञ्चिदेतत् । यतो नानुभूतं स्मर्येत एव, किन्तु अनुभूतमेव<sup>२</sup> । तेनाक्षेपाभावानुभवेऽपि यस्य प्रतिविम्बमानपदार्थस्मरणे प्रभाविनिमित्तमस्ति, तस्यैव स्मृतिः, नान्येषामिति विरोधपरिहारं चाभिधास्यतीति । तदेवं<sup>३</sup> न प्रमाणा(मेवा)भावः प्रमाणतः सिद्ध्यति इति । अतः साधूकम् “द्विधा मेयविनिश्चयात्” [ का० २ ] इति । [ १६ ]

§ १. यत् सूत्रे द्वैविध्यं “प्रत्यक्षं च परोक्षं च” [ न्याया० १ ] इत्युक्तम्, तदेव व्याख्यातुमाह प्रत्यक्षमिति ।

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिषे(षे)न्द्रियमनिन्द्रियम् ।

योगजं चेति वैशद्यमिदन्त्वेनावभासनम् ॥ १७ ॥

१. ‘तानिरे’ क० मु० । २. सख्यायः ब० । संन्यासः मु० । सन्यासः क० । ३. भवता क० अ० । ४. ‘के अनुप’ मु० । ५. कथं भाव’ क० मु० । ६. कथं तदभा’ अ० ब० । कथं न तदभा’ क० मु० । ७. अप्रवृत्तिकं अ० ब० । ८. करोति न क० मु० । ९. जह दुष्णा’ सम्मति० । १०. ‘युभावाद’ अ० । ११. ‘मेव तद्वाक्षेपा’ ब० । १२. प्रमाणमित्यतः साधू’ ब० क० मु० ।

§ २. प्रतिगतम् अक्षं प्रत्यक्षमिति । 'प्रासापञ्चे'त्यादिना तत्पुरुषे परवल्लिङ्गताप्रतिषेधात् प्रत्यक्ष-  
विचारः । त्रिलिङ्गः प्रत्यक्षशब्दः गमनक्रियेव गोत्वस्य अक्षाश्रितत्वमर्थसाक्षात्कारित्वस्यो-  
पलक्षणम् । तेनानक्षजेष्वपि तच्छब्दवाच्यता नायुक्ता । इदानीं तस्य लक्षणमाह—  
विशदमिति ।

§ ३. अथ किमिदं वैशद्यम् ? । न तावन्निर्विकल्पकत्वं, अनभ्युपगमात् । अथ स्पष्ट-  
त्वम्, तदा बालापेक्षया वृद्धस्यापि प्रत्यक्षं न स्पष्टम् । तथा, दूरवस्तुनि प्रत्यक्षं च । अथ  
तच्छ्रुतं; तदसत्, इन्द्रियजत्वात् । अथ त्रिधा श्रुतम्—प्रत्यक्षपूर्वकम्, लैङ्गिकम्, शब्दं  
चेति । तन्न, प्रत्यक्षपूर्वकस्य प्रमाणभूतस्य लैङ्गिकत्वात् । न च तदप्रमाणम् । नापि  
लैङ्गिकम्, व्याप्तिस्मरणादेरननुभवात् । यत् प्रत्यक्षेण परोपदेशसहकारिणा शब्दोल्लेखि ज्ञानं  
जन्मते तत् प्रत्यक्षपूर्वकं श्रौतम् तच्चाप्रमाणम्, प्रत्यक्षनिश्चितार्थे प्रवर्तमानत्वात् ।  
तस्मात् यदुक्तम्—

“त्रिधा श्रुतमविज्ञवम्” [ प्रमाणसं० क० २ ]

इति तदसंगतम् । विज्ञवस्योक्तत्वात् । येन च मूढस्य प्रत्यक्षेऽपि वस्तुनि पूर्वसाधर्म्यादर्थ-  
क्रियाकारित्वनिश्चयः क्रियते, नित्यानित्यत्वनिश्चयो वा तल्लैङ्गिकम् । न चैवं दूरदेशादौ  
वस्तुन्यस्पष्टज्ञानमिति । तन्नेदं लक्षणं व्यापीत्याशङ्क्याह—वैशद्यमिदन्त्वेनावभासनम् इति ।  
इदमो भावः इदन्त्वम्—साक्षात्कारित्वमित्यर्थः । तेनानुमानादेरसाक्षात्कारिणो निरासः ।

§ ४. इदानीं व्यक्तिभेदमाह । त्रिधेति । त्रयो विधाः प्रकारा यस्य तत् त्रिविधम् ।  
त्रैविध्यमेवाह—ऐन्द्रियमनिन्द्रियं योगजं चेति इति ।

§ ५. तत्र इन्द्रियस्य इदम् ऐन्द्रियम् । तद्विपरीतमनिन्द्रियम् । योगश्चित्तवृत्तिनिरोधो  
घातिकर्मक्षयहेतुः । तस्माज्जातं योगजम् । चः समुच्चये । इतिः अवधारणे । इयदेव  
प्रत्यक्षम् न मानसादि । [ १७ ]

§ ६. अथ किमिदमिन्द्रियम्, तत्र विप्रतिपत्तिदर्शनात् । तथा हि—भौतिकानीन्द्रियाणि  
इन्द्रियाणां स्थापयितुं वैशेषिकः पूर्वपक्षमुत्थापयति । तन्वाहंकारिकत्वादि(कत्वमि)न्द्रि-  
आहंकारि-  
कत्वपक्षः । याणाम् । तथा हि—प्रकाशकत्वं सत्त्वधर्म इति सात्त्विकादहंकारादिन्द्रियाणा-  
मुदयः । किमत्र प्रमाणमिति चेत्; अप्राप्यकारित्वम् । तच्च शाखाचन्द्रमसोस्तुल्यकाल-  
ग्रहणाद्विज्ञातम् । अन्यथा हि शाखासंबन्धोत्तरकालं चिरेण चन्द्रमसा संबन्धाद्युग-  
पद्ग्रहणं न स्यात् । अस्ति चातोऽप्राप्यकारित्वम् । तच्च भौतिकेषु न संभवति । प्रदीपादिषु  
अदर्शनात् इत्यभौतिकत्वमन्येषामपि प्रतिपत्तव्यम् चक्षुर्दृष्टान्तबलादेव । तथा, महदणु-  
प्रकाशकत्वात् । भौतिकं हि यावत् परिमाणं तावत्येव क्रियां कुर्वद् दृष्टमिति । तथा हि—  
अल्पपरिमाणं वास्यापि महान्तं वटवृक्षं प्राप्य छिदां न करोति इति दृष्टम् । किं तर्हि  
स्वव्याप्तैर्ग्रहण एवेति । चक्षुरप्यल्पपरिमाणत्वात् न पर्वतादिपरिच्छेदकं स्यात् । तत्तु

१. च । अथ श्रुतं ब० । च । अथ त्रिधा अ० । २. °वाह इन्द्रियं तद्विपरीतम् मु० । ३. °मतित्रियं  
तद्विपरीतम् क० । ४. अर्धमवात् मु० क० । ५. सन्नाय अ० ।

दृष्टम् । अतो न भौतिकमिति । तथाऽनियतविषयत्वाच्च । यदि चक्षुस्तैजसं स्यात् रूपस्यैव तद्गुणत्वात् प्राहकं भवेत् न द्रव्यसामान्यादेरिति । एवं शेषेष्वपि नियमेन स्वगुण-  
प्राहकत्वप्रसङ्गः । न चैतद् दृष्टम् । अतो न भौतिकत्वम् । इतश्च न भौतिकानीन्द्रियाणि,  
इन्द्रियत्वात् । यद्यत् इन्द्रियं तत्तत् अभौतिकं दृष्टम् यथा मनः तथा चेन्द्रियाणि अमूर्ति,  
तस्मान्न भौतिकानि इति ।

§ २. यत्तावत् 'अप्राप्यकारित्वात्' इति साधनं तदसिद्धम् । व्यवहितार्थानुपलब्ध्या  
प्राप्तेरुपलम्भात् । अन्यथा हि व्यवहितस्याग्रहणम्, अन्तिके च ग्रहणं न स्याद्  
इन्द्रियाणां भौतिकत्व- अप्राप्तेरुभयत्राविशेषात् । आवरणानुपपत्तिश्च प्राप्तिप्रतिषेधकत्वात् । तथा च  
साधनम् । प्राप्तिप्रतिषेधं कुर्वदावरणमग्रहणाय कैल्पते । दृष्टं चावरणसामर्थ्यम् दूरे  
चाप्रकाशकत्वम् । अतः प्रदीपस्यैव प्राप्तार्थपरिच्छेदकत्वम् । तथा च चक्षुः प्राप्तार्थ- ॥  
परिच्छेदकं व्यवहिताप्रकाशकत्वात् । यद्यद् व्यवहिताप्रकाशकं तत्तत् प्राप्तार्थपरिच्छे-  
दकम् । यथा प्रदीपः । तथा च व्यवहिताप्रकाशकं चक्षुः । तस्मात् प्राप्तार्थपरिच्छेदकमिति  
प्राप्तिसङ्गावे प्रमाणोपपत्तेः । शाखाचन्द्रमसोः कालभेदेन संबन्धेऽप्याशुभावादुत्पलपत्रशैत-  
व्यतिभेदाभिमानवत् युगपद्ग्रहणाभिमानः ।

§ ३. यच्च 'महदणुप्रकाशकत्वम्' तदप्यन्यथासिद्धत्वात् असाधनम् । तथा हि । चक्षुर्ब- ॥  
हिरातम् वाक्शालोकसंबन्धात् विषयपरिमाणमुत्पद्यते महदाद्यर्थप्रकाशनम्, नैर्भौतिक-  
त्वादिति । यद्योक्तम् - 'तैजसत्वाद् रूपस्यैव प्रकाशकं स्यात्' इत्येतत् असत् । प्रदीपेऽदर्शनात् ।  
न हि प्रदीपस्तैजसत्वात् रूपस्यैव प्रकाशको दृष्टः किं तर्हि रूपद्रव्यसामान्यादेरिति<sup>१</sup> ।  
तावानेव च विषयश्चक्षुषः । अतस्तैजसत्वं न विरुध्यते इति ।

§ ४. रूपाविषु मध्ये नियमेन रूपप्रकाशकत्वम् तैजसत्वे अनुमानमिति वक्ष्यामः । ॥  
नियमेन गन्धाविषु गन्धस्यैव प्रकाशकत्वम् यै पार्थिवत्वात् घ्राणादेरिति । न चैकप्रकृतिकत्वे  
विषयव्यवस्थोपलब्धिरिति नानाप्रकृतिकत्वम् । तथा हि एकरमात् कारणात् उपजाताः प्रदीप-  
भेदाः समानविषया इत्युपलब्धम् । तद्वदिन्द्रियेषु समानविषयत्वं स्यात् । दृष्टा तु घ्राणा-  
वेर्गन्धाविषु व्यवस्थेति नानाप्रकृतिकत्वम् । तथा च नानाजात्युपादानानि इन्द्रियाणि, द्रव्यत्वे  
सति प्रतिनियतविषयत्वात् । यद्यत् द्रव्यत्वे सति प्रतिनियतविषयम्, तत्तत् नानाजात्यु- ॥  
पादानं दृष्टम्, यथा व्यजनानिलप्रदीपकस्तुरिकीदि । तथा चैतानि द्रव्यत्वे सति प्रतिनियत-  
विषयाणि । तस्मान्नानाजात्युपादानानि इति । तथा हि - ज्ञानशब्देऽप्येकजात्युपादानत्वम्,  
प्रतिनियतविषयत्वं चेति व्यभिचारः । तदर्थं द्रव्यत्वे सतीति विशेषणम् । न चास्य पञ्च-  
धर्मत्वादिमतोऽप्रमाणत्वमिति प्रसंगात् ।

§ ५. येषां भौतिकत्वेऽनुमानमिन्द्रियत्वोदिति । अत्र भूतादभिनिर्वृत्तम् भौतिकम् । तत्प्रति- ॥

१. तद्गुणकलात् क० मु० । २. द्रव्यत्वात् अ० ब० । ३. शेषेष्वनियमं मु० । ४. 'वेधवत्त्वात्  
अ० ब० । ५. कल्प्यते ब० । ६. दूरे प्रकाशं क० मु० । ७. 'पप्रव्यति क० । ८. प्रकाशत्वम् अ० ।  
९. नाभौतिकं अ० । १०. 'यत् इत्ये' मु० । ११. तर्हि मु० । १२. 'मिति न तावानेव विष' ब० ।  
'मिति न च नैव विष' क० मु० । १३. 'त्वम् तु तै' क० मु० । १४. 'त्वम् पार्थि' अ० ब० । १५. न  
चैकप्राकृतिकत्वे अ० । १६. 'लब्धेरिति मु० । १७. रिकादेः मु० । १८. 'जालायुपा' अ० ।  
१९. 'कारिकमतो क० । २०. 'ममिति प्र' मु० । २१. 'यथाभौति' क० मु० । २२. 'नममिति अ० ब० ।

वेधेन च कारणान्तरप्रभवत्वम् । विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञाविषयत्वात् इति साध्यविकलो दृष्टान्तः । तथा च मनसि न भौतिकत्वम् नाप्यभौतिकत्वमिति । अथ भूतादुत्पत्तिप्रतिवेधेन नित्यत्वम् । तत्राप्यभ्युपगमव्याघातो मनस्यपि नित्यत्वानभ्युपगमात् । इन्द्रियत्वं च उक्त- विशेषणस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वेन न भूतादुत्पत्तिप्रतिवेधेनेत्यन्यथासिद्धम् ।

१. § ६. निर्मूलं चेन्द्रियाणामहंकारप्रभवत्वम् । तत्सद्भावे प्रमाणासंभवात् । तथा हि— प्रधानसद्भावे सत्येषा प्रक्रिया । तस्य चासत्त्वम् वक्ष्यमाणमिति । येषां चासंसारमण्डल- व्यापीनीन्द्रियाणि तेषामशेषविषयग्रहणप्रसङ्गः । अथादृष्टवशात् नियतदेशा दृष्टिर्व्यप्यत इति चेत्; अत्र वृत्तीनां तादात्म्ये न किञ्चिदुक्तं स्यात् । व्यतिरेके तु तदेवेन्द्रियमिति संज्ञाभेदमात्रमेव ।

१०. § ७. अथ नियतविषयावबोधान्यथानुपपत्त्या तदाकारतैवेन्द्रियस्य परिनिष्ठीयते । तत्र, अन्यथाप्युपलम्भात् । तथा हि । नियतार्थसन्निकर्षेऽप्युपलम्भो घटत एव । न च व्यापित्वं परस्यामीदृतरमिति नेह प्रतन्यते इति । ईति विप्रतिपत्तीः प्रतीत्याह—जीवांशात् कर्मनिर्मुक्तादिति ।

जीवांशात् कर्मनिर्मुक्तादिन्द्रियाण्यधितिष्ठतः ।

११. जातमिन्द्रियजं ज्ञानं विनेन्द्रियमनिन्द्रियम् ॥ १८ ॥

§ ८. जीवप्रदेश एव कर्मक्षयोपशमवौ इन्द्रियम्, नान्यत् । तथाहि— किं चक्षुराद्येव इन्द्रिय- रूपादि जानाति, किं वा प्रकाशयति ? । प्रथमपक्षे एकस्मिन् अपि शरीरे स्वरूपम् । पञ्चात्मानः प्राप्नुवन्ति । अहंकार-भूतानामचेतनत्वात् तत्प्रकृतेरिन्द्रियस्य कर्म- द्रष्टृत्वमिति ? । अथ प्रकाशयति । किम् तमसि ? । विद्यालादेर्मूयस्तेजः प्रकाशयत्येव । १२. किम् मनुष्यस्य ? । स्वस्पर्शत्वात् तेजस इति चेत्; बहूनामेकत्र दृष्टिनिर्घाते किम् प्रकाशयति ? ।

§ ९. अपि च तमः किं तेजोऽभावः किं वा वस्त्वन्तरमिति । अभावस्य नायनरश्म्या- वारकत्वायोगात् । वस्त्वन्तरमपि रूपमेव रूपस्यावरणम् । अन्यथा वाय्वादेरप्यावारकत्वं स्यात् । ततः तमसा रूपवता चक्षुरश्मीनां संयोगे तमोदर्शनमासज्येत । कृष्णं रूपं दृश्यत इति चेत्; न, तथाविधदर्शनस्य भिन्नाक्षेऽपि भावात् । तमेन्द्रियं भौतिकम् । किन्तु आत्मे- १३. वेन्द्रियम् । तदुक्तम्—“लब्धुपयोगौ भवेन्द्रियमिति” [ तत्पार्थ० २.१८ ] उच्यते; कर्मक्ष- योपशमः । उपयोग आभिमुख्यम् ।

§ १०. यद्येवम् इन्द्रियव्याघाते अन्धकारावरणादौ किम् जानाति इत्याह—इन्द्रिया- ष्यधितिष्ठत इति । एतदुक्तं भवति—अनुपहतचक्षुरादिदेशेर्वात्मनः कर्मक्षयोपशमः • तेनास्थितगतवाक्षतुल्यानि चक्षुरादीनि उपकरणमात्राणि, आत्मनो ज्ञानोत्पत्तौ कर्मणो १४. वैविध्याद् । अन्यथाऽऽत्मनो व्यापित्वात् मुक्तात्मनःसंयोगजं प्रत्यक्षं किं नोत्पद्यते ।

१. मनसि मौं मु० । २. 'क्लेन भू' क० मु० । ३. प्रमाणसद्भा' क० मु० । ४. वेधं पाठं मु० । ५. 'यानुप' मु० । ६. 'न्यते इति वि' क० मु० । ७. 'मत्वा इन्द्र' मु० । ८. 'रादिरेव अ० ब० । ९. दृष्टिपाते क० मु० । १०. 'मावेन्द्रियाण्य' मु० । ११. 'देधेवेवात्मनः क० मु० । १२. नोपपद्यते क० मु० ।

§ ११. यच्च भौतिकत्वसिद्धौ शास्त्राचन्द्रमसोः स्फुटस्यापि युगपत्प्रतिभासस्य भ्रान्तत्वमा-  
शुकारित्वादुक्तम् तदीश्वरज्ञानस्यापि युगपदनेकार्थग्राहिणो भ्रान्तत्वमापादयति । न च  
तत्कमवत्, अशेषाग्रहणप्रसंगात्, एकत्रैवानन्तपर्याये उपक्षीणत्वात् । यच्च विषयमवाप्य  
विकीर्णित्वं चक्षुषः तत् साधनधर्ममनुकरोति । तदेवं फल्गुप्रायं परोदितमुपेक्षितमिति ।  
लैङ्गिकत्वेनैव "देन्द्रियत्वव्यपदेशः । तेन द्रव्येन्द्रियेण विना यत् प्रत्यक्षं तदनिन्द्रियम् ।

§ १. तत्र ग्रन्थकारमतभेदान् दर्शयन्नाह — स्मृत्यूहादिकमित्यादि ।

स्मृत्यूहादिकमित्येके प्रातिभं च तथाऽपरे ।

स्वप्नविज्ञानमित्यन्ये स्वसंवेदनमेव नः ॥ १९ ॥

§ २. स्मृतिश्च उद्देश्यं वितर्कलक्षणः । आदिग्रहणाद्वार्यः । तद्रूपमनिन्द्रियमेके  
अनन्तवीर्यादयः । प्रतिभया 'श्रो मे भ्राता आगमिष्यति' इत्येवंरूपया निर्मितम् ॥  
अनिन्द्रिय-  
प्रत्यक्षम् । प्रातिभम् चापरे टीकाकृतः । स्वप्नविज्ञानं यत् स्पष्टमुत्पद्यते तदन्ये अनन्त-  
कीर्त्यादयः । स्वसंवेदनमेव नः — अस्माकम् इति ।

§ ३. एवं मन्यते वार्तिककारः — अर्थाविनाभाविन एव ज्ञानस्य प्रामाण्यमुचितं न स्मृतेः,  
अर्थमन्तरेणपि तस्या भावात् । प्रत्यक्षादेस्तत्त्वव्यभिचारनिमित्ताभिधानात् कस्यचिद्व्यभि-  
चारेऽपि न दोषः । नत्वेवं स्मृतेरव्यभिचारनिमित्तं अस्ति । अमूढस्मृतेस्तु पूर्वप्रत्यक्षफलत्वात् ॥  
न पृथक्प्रामाण्यम् । ऊहस्तु संशयविशेष एव, कुतः तत्प्रामाण्यं स्यात् ? अवायस्तु प्रत्यक्षा-  
नुमानफलत्वेन न ताभ्यां प्रमाणान्तरमिति । काकतालीयसंवादयोरपि प्रातिभ-स्वप्नविज्ञानयोः  
प्रमाणत्वे न किञ्चित् न प्रमाणं स्यात् । तस्मात् स्वैस्य ज्ञानात्मनो वेदनमेव  
प्रमाणमिति । [ १९ ]

§ १. मानसं तु मनोऽभावाभिरस्तम् । अथ मनोऽभावे योग्येऽपि विषये कथं युगपत् ॥  
मनसः ज्ञानानुत्पत्तिः ? । उक्तमेतत् — 'उपयोग आभिमुख्यमिति' तद् यत्रात्मनः तत्र  
स्वरूपम् । भवति तत्रानुत्पत्तिरिति । आभिमुख्ये तु युगपदपि । अथ 'भ्रान्ताऽसौ ।  
नैतदस्ति । एवं हि सौगतस्य क्षणिकत्वे सान्तराद्यभासप्रसङ्गदूषणम् सुदूरं निरस्तं स्यात् ।  
उक्तम् ।

"पञ्चभिर्व्यवधानेऽपि भात्यव्यवहिते च या ।

सा क्षणध्वंसिनोऽर्थस्य नैरन्तर्यं न वेति किम् ॥" [ प्रमाणवा० १.११६ ]

तस्मादात्मैव मनो नान्यदस्ति । तदेवाह ।

मनःसंज्ञस्य जीवस्य ज्ञानावृत्तिशमक्षयौ ।

यतश्चिन्नौ ततो ज्ञानयोगपथं न दुष्यति ॥ २० ॥ इति ।

§ २. मन इति संज्ञा अंश स एव मन इत्यर्थः । तस्य ज्ञानावरणक्षयोपशमौ यतश्चिन्नौ ॥  
ततो युगपज्ज्ञानमिति । [ २० ]

१. 'यथै क्षीण' क० मु० । २. 'विकसि' क० मु० । ३. 'लैङ्गिकवद' क० मु० । ४. 'वदिन्द्रियव्य' अ०  
मु० । ५. 'स्मृतिश्च वितर्कलक्षणा' मु० । 'स्मृतिश्च वि' क० । ६. 'दवायस्वरूपम्' ब० । ७. 'स्वप्न' क०  
मु० । ८. 'भ्रान्तोऽसौ' ब० क० । ९. 'सा मतिर्नामपर्यन्तक्षणादज्ञानमिधनात्-प्रमाणवा० । १०. 'वस्य' मु० ।

§ १. योगजं व्याख्यातुमाह — जिनसेत्यादि ।

जिनस्यांशेषु सर्वेषु कर्मणः प्रक्षयेऽक्रमम् ।

ज्ञानदर्शनमन्येषां न तथेत्यागभावधः ॥ २१ ॥

§ २. रागादिजयात् जिनः । तस्यांसंख्येयात्मप्रदेशेषु ज्ञानावरणीयस्य प्रकर्षेण अवधि-  
योगज-  
प्रत्यक्षम् । मनःपर्यायप्रत्यक्षापेक्षया क्षये । निमित्तसप्तमीयम् । तस्मात्प्रमित्तात् य उपयोगः  
सर्वत्राभिसुर्यलक्षणः आत्मस्वभावो दिनकरस्येव प्रकाशकस्वभावता न पुनः पश्यामीत्यस्म-  
दादेरिव मनःसंकल्पो मनोऽभावात् । तस्मादुपयोगात् अक्रमं युगपत् । ज्ञानदर्शनमित्येकव-  
द्भाषः एकत्वख्यापनाय । एकमेव सामान्यविशेषेषु योगिज्ञानम्, नान्येषामिति समनस्कत्वात् ।  
अतो नार्थमस्य “युगं दो नत्थि उवओगा” [ आब० नि० १७९ ] एवरूपस्य वधः — त्यागः  
॥ सिद्धसेनार्कस्थेत्यर्थः । तस्याऽजिनविषयत्वात् इति । केवलप्रहणं सिद्धान्ते अतिशयख्याप-  
नार्थम् । केषलिनोऽपि युगपदुपयोगद्वयं नास्ति, यदि मनः स्यात् इत्यर्थः । [ २१ ]

§ १. एवं संख्या-लक्षणविप्रतिपत्तिं निराकृत्य सामान्येन विषयविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह —  
तत्रेत्यादि ।

तत्रेन्द्रियजमध्यक्षमेकांशव्यवसायकम् ।

॥ वेदनं च परोक्षं च योगजं तु तदन्यथा ॥ २२ ॥

§ २. तेषु प्रमाणेषु इन्द्रियजम् एकांशेन — असाकल्येन न त्वेकेनैव । तथा स्वसंवेदन-  
मपि । एतदुक्तं भवति — अनन्तधर्माभ्यासितं वस्तु न योगिप्रत्यक्षवद् इन्द्रियजप्रत्यक्षं  
निश्चययति । अत एव तद् व्यवहारप्रत्यक्षम् । योगजं तु साकल्येन निश्चययति । तेन  
निश्चयप्रत्यक्षमिति । [ २२ ]

॥ § १. इदानीं विशेषेण विषयविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह — द्रव्यपर्यायेत्यादि ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषास्तस्य गोचराः ।

अविस्पष्टास्तथेव स्युरनध्यक्षस्य गोचराः ॥ २३ ॥

§ २. वैलक्षण्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् तस्य — प्रत्यक्षस्य विषया इति ।

§ ३. संक्षेपर्यायमिदं परोक्षस्य विषयविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह — अविस्पष्टा इति ।

॥ अनिवन्तयाऽवभासमाना द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषाः परोक्षस्य विषया इति । [ २३ ]

§ १. ननु बाह्यार्थाऽभावात् कथं द्रव्यादिना विषयवत् प्रत्यक्षादि ? अत्रोच्यते । कथ-  
बाह्यार्थ-  
सिद्धिः । मर्थाभावः ? तत्साधकप्रमाणाभावादिति चेत् ; विशदतरदर्शनमेव तत्साधकं  
प्रमाणम् । स्वप्रदर्शनवदपारमार्थिकमिति चेत् ; ननु किमिदमपारमार्थिकत्वम् ? अर्थशून्य-  
त्वमिति चेत् ; इतरेतराश्रयत्वम् । तथाहि — अर्थशून्यत्वेऽपारमार्थिकत्वम्, अपारमार्थिक-  
॥ त्वेऽर्थशून्यत्वमिति । येन चार्थो न दृष्टः स कथं ब्रूयाद् अर्थो नास्तीति । परप्रसिद्ध्या इति  
चेत् ; न, परप्रसिद्धेरप्रमाणत्वात् । प्रमाणत्वे च कथं तन्निषेध इति ।

१. तस्यांशेष्व्यात्म-इ० । २. 'समी तस्मा' क० मु० । ३. नारामस्य मु० । ४. केवलप्र० क०  
मु० । ५. 'क्षिणे युग' अ० इ० । ६. निष्ठापयति मु० । ७. लक्षणं इ० । ८. विषय इति  
क० मु० । ९. 'के वा कथं-क० मु० ।

§२. अपि च अनुभूयमानस्यापि स्वप्रदृष्टान्तेन दधर्थस्याभावो ज्ञानस्यापि अभावः स्यात् । स्वप्रानुभूतस्य चार्थस्यासत्यत्वं किम् अप्रतिभासमानत्वात्, किं वा अर्थक्रियावैकल्यादिति । न तावदाद्यः पक्षः । तदानीं तस्यानुभूयमानत्वात् । उपलब्धिः सैत्तेति चाभ्युपगमः । अयार्थक्रियावैकल्यात् । तर्हि अर्थक्रियाकारी जामदशायामर्थः सत्यः स्यात् ।

§३. विसंवादादिति चेत् । कोऽयं विसंवादः ? । ज्ञानान्तरेणाग्रहणमिति चेत् ; तर्हि जामदशायां तदस्तीति सत्यता स्यात् । बाधितत्वमिति चेत् । किमिदं बाधितत्वम् ? । 'नेदम्' इति प्रत्ययोत्पत्तिरिति चेत् ; जामदश्यायेषु तदभावात् सत्यताऽस्तु । न हि सत्यस्त्वम्-प्रत्ययेषु कदाचिद्बाधकोत्पत्तिरस्ति ।

§४. अथ स्वप्रत्ययेष्वप्यर्थक्रियाकारित्वं संवादोऽबाधितत्वमस्ति । न च तस्य सत्यतो-पगता अर्थवादिना, तेन न तत् सत्यत्वे निबन्धनमिति । नैतदस्ति । सर्वोऽपि भ्रान्तिर्-भ्रान्तिनिबन्धना । यथा मरीचिकासु जलभ्रान्तिः । तथा च स्वप्रत्ययेषु सत्यार्थक्रियानुभव-पूर्वकं स्मरणमात्रकमेव । न तु तत्र किञ्चिदर्थक्रियावि, अन्यथा जामदश्यानुभूतस्य किं न कस्यचिदर्थस्य तत्रोपलम्भो भवति ।

§५. अपि च अर्थनिषेधः किं प्रमाणेन क्रियते, किं वा अप्रमाणेन ? । अप्रमाणेन कथं तन्निषेधः ? । प्रमाणमपि तन्निषेधकं किं वा विनाशकत्वेन, किं वा विपरीतार्थोपस्थापकत्वेन, किं वाऽप्राद्वकत्वेनेति । प्रथमपक्षे सिद्ध्यर्थः । न हि असिद्धस्य विनाशः संभवति । द्वितीयेऽपि पक्षे अर्थोऽर्थस्य बाधक इति कथं नार्थसिद्धिः । अप्राद्वकं तु संदेहकारि भवतु कथं तन्निषेधकम् ? । दृश्यस्य कथं नेति चेत् ; ननु पूर्वदृष्टस्यैकज्ञानसंसर्गिण्युपलभ्यमाने आरोपाद् दृश्यत्वम् । न चायमत्यन्तादृष्टस्य प्रकारः संभवति । ज्ञानात्मन्युपलभ्यमाने अदृश्यस्यापि तादात्म्येन निषेध इति चेत् ; भवतु ज्ञानात्मनो, न भिन्नस्य । अथ भिन्नस्यानुपलम्भात् निषेधः । तत् किम् अयं नीलायाकारोऽनुभूयते न वेति ? । अथ अस्त्ययमाकारः किन्तु ज्ञानात्मैव, जडस्य प्रकाशाऽयोगात् । तदेवाह—न जडस्येत्यादि ।

न जडस्यावभासोऽस्ति भेदाभेदविकल्पनात् ।

न भिन्नविषयं ज्ञानं शून्यं वा यदि वा ततः ॥ २४ ॥

§६. प्रकाशस्य भेदे जडस्य किमायातम् ? । अभेदे जडमेव न स्यात् । तेन न भिन्न-विषयं ज्ञानम्, किन्तु आत्मविषयमेव । न हि अभिन्नप्रकाशतां दधानाः स्वभादयो जडा भवितुं युक्ताः ।

§७. अथ कोऽयं प्रकाशः ? । किं ज्ञानम्, अथ ज्ञानविषयता ? । प्रथमपक्षे स्यादिदम् । द्वितीये तु कथमर्थस्य ज्ञानता ? न हि प्रदीपेन प्रकाशयमानाः स्वभादयः प्रदीपा भवन्ति । अथ तेऽपि प्रकाशस्वभावास्तदानीमेवोत्पद्यन्ते अन्यथा अन्धकारेऽपि प्रकाशेश्वर । अस्मिन् तावदन्धकारेऽपि स्वभाविः । प्रकाशपर्यायता तु प्रदीपादुत्पद्यते । तथा अर्थस्य प्रकाशपर्यायता ज्ञानादुत्पद्यतु कथमर्थाभावः ? ।

१. स्वप्रानुभवस्य ख० । २. लब्धेः ख० । ३. सत्येति क० मु० । ४. संवादाबाधिं क० मु० । ५. न च सत्यं मु० । ६. 'पि भ्रान्तिनिब' मु० । ७. प्रत्यये सत्यं मु० । स्वप्रत्ययेषु सत्यं क० । ८. 'मेव च न तु ख० । ९. अदृष्ट्या' क० मु० । १०. ज्ञानात्मनैव मु० । ११. प्रकाशेश्वरं मु० ।



§ ८. अथ पूर्वमर्थोक्तिस्त्वे किं प्रमाणम् ? । निषेधे किं प्रमाणम् ? । तर्हि अस्तु संशयः । नैतदस्ति । यतः किमेकमेव ज्ञानं क्षणस्थायित्वेन पूर्वापरयोः कालयोरर्थसत्तां न प्रतिपद्यते ? , किं वा अनेकानि परस्परकर्मतां न प्रतिपद्यन्ते, सर्वेषां वर्तमाननिष्ठत्वात्, तेन न विदन्ति ? । प्रथमपक्षे क्षणादूर्ध्वं न किञ्चिदनुभूयेत । तच्चैसम्भरणपर्यन्तमनुभवस्योपाधि-  
५ त्सोत्पत्तेः । द्वितीयेऽपि ज्ञानानां परस्परानुगमेऽपि आत्मना देशकालाकारादिपर्यस्तस्यार्थ-  
स्यानुभूयमानत्वात् । एतेन सहोपलम्भनियमो निरस्तः । 'सोदरे इव सहस्रवृक्षैकत्ववा-  
चिन्वात् विज्ञानार्थयोश्च मेदस्य प्रतिपादितत्वात् इति ।

§ ९. अथ सर्वे प्रत्ययाः निरालम्बनाः, प्रत्ययत्वात्, स्वप्रत्ययवत् इत्यर्थाभावः । तर्हि  
ज्ञानात्मवेदनमपि प्रत्ययः । सोऽपि निरालम्बनः स्यात् । इष्यते एवेति चेत्; तदेवाह—  
॥ शून्यं वा यदि वा ततः प्रतिभासमानत्वादिति । [ २४ ]

§ १०. तदसत् । यतो ज्ञानशून्यवादिनोऽनुमानं किं शृङ्गीतव्याप्तिकमुदेति, किं वाऽशृङ्गीत-  
व्याप्तिकम् ? । अशृङ्गीतव्याप्तिकं कथम् अनुमानम् ? । व्याप्तिग्रहणं च न तेनैवेतरेतराव-  
यत्प्रसङ्गात् । ज्ञानान्तरेण चेत् । कथम् अद्वैतं शून्यं वा ? । तच्च किञ्चित् साधनम् अर्थ-  
निरासे ज्ञानशून्यवादिनः । तदेवाह । ज्ञानशून्यवत् इत्यादि ।

॥ ज्ञानशून्यवतो नास्ति निरासेऽर्थस्य साधनम् ।  
संवित्सिद्धप्रतिक्षेपे कथं स्यात् तद्व्यवस्थितिः ॥ २५ ॥

§ ११. अनुभवसिद्धस्य चार्थक्रियाकारिणः सकलजन्तुसाधारणस्यार्थस्य निषेधे ज्ञानशून्य-  
योरपि कथं स्याद् व्यवस्थितिरिति । तदेवाह । संवित्सिद्धेत्यादि ।

§ १२. अवायमर्थः किम् अवयविरूपः किं वा परमाणुस्वरूप इति । तत्रावयविनो  
॥ भवद्विरेष निरस्तत्वात्, परमाणूनां अप्रतिभासनात् न बाह्योऽयमाकारः । किन्तु ज्ञानाकार  
एव तथा प्रतिभातीति । ननु ज्ञानाकारेऽप्येव प्रसंगो दुर्निवारः । तथाहि—तदेकत्वात्तदेकत्वे-  
नीलत्वादिको विरोधः चित्राद्वैतेऽपि समानः । न च ज्ञानं परमाणुमात्रं चकस्ति । अथ  
यथा बाह्यस्यैकावयवावरणेऽपि अवयवान्तरप्रतिभासलक्षणो विरोधः नैवं ज्ञानाकारस्य ।  
मा भूदयं नीलानीलादिकः केन निवार्यः ? । यथा चायमर्थः तथा सविकल्पकसिद्धौ प्रति-  
॥ पादयिष्यति इति । अत्र बहुवक्तव्यम्, तच्च नोच्यते ग्रन्थविस्तारभयादिति । [ २५ ]

§ १३. तदेवं बाह्यमर्थं व्यवस्थाय इदानीं द्रव्यादीनां लक्षणमाह—पर्ययस्यन्तीत्यादि ।

पर्ययस्यन्ति पर्याया द्रव्यं द्रवति सर्वदा ।

§ १४. पर्ययस्यन्ति क्षणिकत्वाद् व्यावर्तन्त इति पर्याया इति । उपलक्षणं चेत् सद्भाविनां  
गुणानां रूपादीनामिति । द्रवति गच्छति तांस्तान् पर्यायान् परिणामनिष्ठत्वादिति  
॥ द्रव्यमिति । [ २६ ]

§ १५. परपरिकल्पितं सामान्यं पूर्वमेव निरस्तम् । इदानीं स्वाभिमतं सामान्यं व्यवस्थाप-  
यमाह—सदृशः परिणाम इत्यादि ।

१. तेन निदं क० मु० । २. भूयते मु० । ३. तथास्य क० मु० । ४. 'भवस्य वाचि' मु० ।  
५. 'आकारविपर्ययस्या' मु० । ६. सादरे क० मु० । ७. 'वादिनोरु' अ० ब० । ८. 'सिद्धयेत्यादि'  
मु० । ९. 'शालानीलानीलता' क० । १०. पर्ययस्य अ० मु० क० ।

सदृशः परिणामो यः तत् सामान्यं द्विधा स्थितम् ॥ २६ ॥

§ २. इह भावानां सदृशपरिणतिः सामान्यम् । समाना एव सामान्यमिति न्यायात् । सामान्यस्य अन्यथा स्वरूपसामान्यमन्तरेण अन्यसामान्ययोगेऽपि समानरूपता आकाङ्क्ष्य स्वरूपम् । इव नोपपद्यते । यदि चासमानानामपि सामान्ययोगात् समानरूपता भवति किं न सद्विषयभयोः, पराभ्युपगमस्य सामान्यस्य तत्रापि भावात् । विजातीयत्वाभेति चेत्; इतरेतराश्रयत्वम् । तथाहि विजातीयत्वे सामान्यायोगः, सामान्यायोगे च विजातीयत्वमिति ।

§ ३. अपि च, सामान्येन समानानां यदि समानरूपता अन्यते —

“तदा स्वकारणादेव सा तेषामलभ्यतः ।

तैत्त्यच्चादपि कुर्वत्या शिशवो लघवः परम् ॥”

तस्माद्वस्तुस्वरूपमेव समानपरिणामं सामान्यं नान्यत् । नाप्यवस्तु तस्य निषेत्स्वमानत्वाद् ॥ इति । तत् च ऊर्ध्वतारूपं तिर्यग्मूपं च । तदेवाह — द्विधेति । [ २६ ]

§ १. एवं सामान्यस्य लक्षणमभिधाय इदानीं विशेषस्वरूपमाह — विपरीत इति ।

विपरीतो विशेषश्च

§ २. साधारणाद्विपरीतः सकलसंजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तोऽसाधारणो वस्तुसमावो विशेष इति । [ २७ ]

§ १. इदानीं विषयद्वारेणैव सविकल्पकसिद्धिमाह — तान् युगपदिति ।

तान्युगपद् व्यवस्यति ।

तेन तत् कल्पनाज्ञानं न तु शब्दार्थयोजनात् ॥ २७ ॥

§ २. युगपदेककालं द्रव्यादीन् व्यवस्यति निश्चीययति यतः तेन तत् प्रत्यक्षं कल्पना-  
ज्ञानं सविकल्पकमित्यर्थः ।

§ ३. ननु अभिलाषसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना । तथाहि — कल्पना योजना । सविकल्प-  
कप्रत्यक्ष-  
निषेधः । सा च न वस्तुनो रूपं निरस्तत्वाद्वास्तुनः । किन्तु शब्दनिर्मितैव । अत एव  
जात्यादियोजनाऽपि शब्दयोजनानिराकरणादेव निराक्रियते । ततो न तावद्  
द्रव्यादिकं किञ्चिदस्ति । अथतु वा । तथापि घटपटवदवभासमानं न स्वमाहिनि कल्पना-  
त्वमारोपयति । पारतक्येण प्रतिभासमानं कथं नेति चेत्; किमिदं पारतक्यम् ? । विशेषण-  
विशेष्यभाव इति चेत्; नैतदस्ति । नहि जात्या नीलादिवद् विशेषणादि किञ्चिदस्ति,  
विशेष्यस्यापि विशेषणत्वेन दर्शनात् ।

§ ४. किञ्च, विशेषणविशेष्ययोः किम् एकज्ञानावभासित्वम्, एतानेकज्ञानावभासित्व-  
मिति । तत्रैकज्ञानावभासित्वे न ज्ञायते किञ्चिद्विशेषणं किञ्चिद्विशेष्यमिति । न हि अनयो-  
रपरि नामास्ति । प्रधानोपसर्जनत्वमिति चेत्; किमिदं प्रधान्यादि ? । उपकार्योपकारकत्वमिति च  
चेत्; न अन्यजनकभावादन्य उपकार्यादिभावः । न च कार्यकारणभावः समानकाल-

१. 'न्येनासमा' क० मु० । २. तं पक्षां क० । ३. 'न्यलक्ष' मु० । ४. सकलज्ञां ज० व० ।

५. 'चारणवस्तु' क० मु० । ६. निधीयति क० । निधीयते मु० । ७. 'संसर्गयो' क० मु० ।

८. 'निर्मिता अत' मु० ।

न्या० ११

योरिति । आधारारधेयभाव इति चेत् ; न, तस्य पूर्वमेव निवेधात् । न हि उपर्यधोभावेन स्थितपदार्थद्वयव्यतिरिक्तः कश्चिदाधारारधेयभावः । न च तथा प्रतिभासे किञ्चित्पारतन्त्र्यमिति । भिन्नज्ञानावभासित्वे का नाम कल्पना ? । अथ भिन्नदर्शनेन विशेषणविशेष्येऽनुभूय पश्चात्स्मरणं तयोस्तद्भावं प्रत्येति । तदेतद् इष्यत एव । शब्दोलेखिज्ञानं वस्तु योजयति । न तु तथा वस्तुरूपमिति ।

§ ५. अथ शब्दयोजितं वस्तु भविष्यतीति । तत्र । न हि अर्थे शब्दाः सन्ति, तदात्मानो वेत्याशङ्क्याह — न तु शब्दार्थयोजनादिति ।

§ ६. शब्दश्च अर्थश्च तयोर्योजना न संभवति । [ २७ ]

§ १. तत्र हि अनवस्थां प्रतिपादयति<sup>१</sup> । तथाहि — तास्मृतेन वाचकशब्देन अर्थो योज्यते । शब्दस्यापि स्मरणं तद्वाचकशब्दस्मृतेः । तस्यापि स्ववाचकशब्दस्मृतेरित्यनवस्था । नच कल्पना ज्ञानाकार एवेति वाच्यम्, आकारवादप्रतिषेधात् । तस्माद्वस्त्वेष स्थूलं सावयवम् अनुभूयमानम्, केवलानामणूनामननुभवात् प्रत्यक्षं कल्पनायुक्तम् अवस्थापयति । किमत्रान्येन प्रमाणेनेति ? । एतदेवाह — निरंशेत्यादि ।

**निरंशपरमाणूनामभासे स्तौल्यवेदने ।**

प्रत्यक्षं कल्पनायुक्तं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ॥ २८ ॥ [ २८ ]

§ १. ननु किमिदं स्तौल्यम् ? । किं परमाण्वात्मकम्, किं वा परमाणुजन्यमिति ? । न तावत् परमाण्वात्मकम् । तद्धि पूर्वापरौ दिग्भेदमुपलभ्यते । न चैकस्य परमाणो-रसावस्थि । बहूनां भविष्यतीति चेत् ; नैतदस्ति । नहि निरंशपरमाणोः कश्चित् परमाणुः पूर्वः कश्चित् पश्चिमः उत्तरो दक्षिणो वा संभवति । तथाहि — यस्यावधिरूपस्यांशस्य प्रत्यासन्नः एकः परमाणुः पूर्वो दृष्टः तस्यैवावधिरूपस्य अपरोऽपि प्रत्यासन्नः । ततः तदवधिरूपया प्रत्यासत्त्या यथेकः पूर्वोऽपरोऽपि पूर्वः स्यात् । एवं शेषेष्वपि वाच्यम् । तत्र परमाण्वात्मकं स्तौल्यमिति ।

§ २. नापि परमाणुजन्यम् । यतः परमाणुभिः किं संयुक्तैर्जन्यते किं वा असंयुक्तैरिति ? । तत्र यदि संयुक्तैः, तदा “पिण्डः स्यादणुमात्रकः” [ विज्ञ० वि० १२ ] तथाहि — परमाण्वन्तरेण संयोगः किम् एकदेशेन, किं वा सर्वात्मनेति ? । तत्र न तावत् प्रथमः पक्षः, “निर्देशत्वात् परमाणूनाम् । द्वितीयपक्षे तु सर्वपरमाणूनामेकस्मिन् परमाणौ प्रवेशः स्यादिति ।

§ ३. अथासंयुक्ता योग्यदेशव्यवस्थिताः स्तौल्यं जनयन्ति । प्रतिभासं “किं न जनयन्ति ? । तत्र बौधकस्य प्रतिपादनात् वरं प्रतिभासधर्मः । अस्ति हि कश्चित् ध्वस्तुधर्मो नीलत्वादिलक्षणः । कश्चित् प्रतिभासधर्मः यो बहुषु प्रतिभासमानेषु प्रतिभाति, यथा केशकलाप इति । तस्मान्न स्तौल्यम् वस्तु यत् सावयवं प्रतीयेतेति । एतदेवाह — नासंयुक्तैरित्यादि ।

१. °यतीति क० । २. °परादिग्मे मु० । ३. किं संयुक्तैरिति क० । किं संयुक्तैरित्यसंयुक्तैरिति मु० । ४. अनिर्दे० क० मु० । ५. °भासं जन० क० मु० । ६. तत्र साध० मु० क० । ७. °कस्याप्रति० क० । ८. कश्चित् धर्मो मु० क० ।

मासंयुक्तैर्न संयुक्तैर्निरंशैः क्रियते महत् ।

अयोगे प्रतिभासोऽपि संयोगेऽप्यणुमात्रकम् ॥ २९ ॥ [ २९ ]

§ १. अथ कोऽयं प्रतिभासधर्मः ? किं वस्तु, किं वा अवस्तु ? यदि वस्तु तदा अवयविदृष्टणम् । अथावस्तु तदा कथमभ्रान्तं प्रत्यक्षं प्रचयावभासि ? नैतदस्ति । यतो न किञ्चित् स्यौल्यं परमाणुभ्योऽन्यत् । किन्तु विततदेशाः परमाणवः तथा प्रतिभासन्व इति । कथं नान्तरावभास इति चेत् ; किमिदम् अन्तरम् ? किम् आकाशम्, किं वा विजातीयानवः, किं वा रूपभेदः, देशभेदो वेति ? तत्राकाशविजातीयपरमाणुप्रतिभासाभावो न दोषाय । नहि रसपरमाण्वप्रतिभासः चाक्षुषे<sup>१</sup> अतीन्द्रियाकाशाप्रतिभासो वा दोषमावहति । भिन्नरूपता तु प्रतिभासत एव । अन्यथा परमाणुमात्रप्रतिभासः स्यात् । देशोऽपि न स्वरूपान्यः । सोऽपि स्वरूपेणैव व्याख्यातः । अन्यथा भिन्नस्वरूपपरमाण्वप्रतिभासे न किञ्चित् प्रतिभासेत, अन्धमूकं जगत्स्यादित्येतदेवाह — भिन्नदेशस्वरूपाणामित्यादि ।

भिन्नदेशस्वरूपाणामणुनामग्रहे सति ।

तत्स्यौल्यं यदि कल्पेत नावभासेत किञ्चन ॥ ३० ॥ [ ३० ]

§ १. इह<sup>२</sup> हि किं स्यौल्यमात्रं प्रतिभाति, किं वा स्यौल्यविशेष इति । तत्र यदि स्यौल्य-<sup>३</sup> मात्रम्, तदा नीलार्थो पीतेऽपि प्रवर्तते । यद्वा न कुत्रचिदपि 'विशेषानवधारणात्' । अथ विशेषः । स नीलपरमाणुप्रतिभासे सति 'नीलस्वेदं न पीतस्वेति' प्रतिभासेते । तेषां च<sup>४</sup> भिन्नस्वरूपाणां प्रतिभासौन्नभ्युपगमे 'तेषां स्यौल्यम्' इति न प्रतिभासेते । न चैवम् । अतः परमाणव एव विततदेशाः तथाऽवभान्ति इति नान्यत् किञ्चिविति यत् प्रत्यक्षे कल्पनात्वमादधीतेत्याशङ्क्याह — नैतदस्ति इति ।

नैतदस्ति यतो नास्ति स्यौल्यमेकान्ततस्ततः ।

भिन्नमस्ति समानं तु रूपमंशेन केनचित् ॥ ३१ ॥

§ २. यत् प्रत्यपादि परमाणवः प्रतिभान्तीति एतन्नास्ति । न हि शपथशतैरपि 'निरंशाः परमाणवः प्रत्यक्षे प्रतिभान्ति' इति कश्चित् प्रत्येति । तद्भावाद् अनुमानमपि 'यत् स्थूलं तत् सूक्ष्मपूर्वकम्' इति न तत्संज्ञां साधयति । नापि स्यौल्यं परमाणुभ्यो भिन्नम् । न हि<sup>५</sup> परमाणवो भिन्नाः स्यौल्यं भिन्नं किञ्चिदाभाति । एतदेवाह — यत् इत्यादि । किं तर्हि अस्ति ? इत्याह — अस्ति इत्यादि । समानम् इति एकपरिणामपरिणतम् । रूपमिति — द्रव्यमिति । न तु तस्यामवस्थायां केचिदणवः सन्ति ।

§ ३. नन्वेवं द्रव्यमेव स्यात् इत्याशङ्क्याह — केनचिद् इति । एतदुक्तं भवति — 'केनचिदेव अंशेन एकः परिणामः न सर्वात्मनेति । ततः पर्यायात्मकं द्रव्यमाभाति न पुनः परमाणुसमूह<sup>६</sup> इति । सत् कथं न प्रत्यक्षं सविकल्पमिति । [ ३१ ]

१. चाक्षुषेण मु० क० । २. इह किं मु० । ३. 'पि वर्तते अ० व० । ४. 'दपि शेषा' मु० क० । ५. प्रतिभासेत क० मु० । ६. 'नाभिन्न' मु० । ७. 'भासताभ्यु' मु० । ८. 'त्यमपि न क० मु० । ९. प्रतिभासते क० । १०. 'क्षे सति भान्ति मु० । ११. न तत्संज्ञा' क० मु० । १२. किं तर्हि, अस्ति इत्यादि अ० । १३. भवति तत् कथं मु० ।

§ १. पुनरपि विशेषमभिधानं परमाशङ्कते — अथास्तु इत्यादि ।

अथास्तु युगपद्भासो द्रव्य-पर्याययोः स्फुटम् ।

तथापि कल्पना नैया शब्दोल्लेखविवर्जिता ॥ ३२ ॥

§ २. उक्तमेतत् घटपटवदेकज्ञानावभासित्वेऽपि शब्दोल्लेखरहिता नेयं कल्पना इति । [ ३२ ]

§ १. उक्तमेतत् न पुनर्युक्तमित्याह — चकास्ति इत्यादि ।

चकास्ति योजितं यत्र सोपाधिकमनेकधा ।

वस्तु तत् कल्पनाज्ञानं निरंशाप्रतिभासने ॥ ३३ ॥

§ २. यत्र ज्ञाने योजितं वस्तु प्रतिभाति । कथं योजितमित्याह । सोपाधिकमिति । सद्सोपाधिना वर्तते सोपाधिकम् । ननु विशेषणविशेष्यभावस्य निराकरणात् कथमेतदित्याह —  
॥ अनेकचेति चतुरश्र(स)त्वादिना । नहि अनुभवसिद्धं युक्तिज्ञतेनापि निराक्रियते तज्ज्ञानं सविकल्पकम् । विपर्यये बाधकमाह — निरंशाप्रतिभासने इति । निरंशस्य परमाणोरप्रतिभासने सतीत्यर्थः । तस्मात् प्रथमाक्षसम्भिपात एव दीर्घद्वन्द्ववर्तुलादि वस्तु प्रत्यक्षे प्रतिभातीति । तेन तत् सविकल्पकमिति स्थितम् । [ ३३ ]

§ १. एवं तिर्यक्सामान्यमवस्थाप्येदानीम् ऊर्ध्वतासामान्यमवस्थापयितुमाह — भेद-  
॥ ज्ञानादित्यादि ।

भेदज्ञानात् प्रतीयन्ते यथा भेदाः परिस्फुटम् ।

तथैवाभेदविज्ञानादभेदस्य व्यवस्थितिः ॥ ३४ ॥

§ २. तथाहि — यद् यथा प्रतिभाति तत् तथा सङ्ख्यवहतिमवतरति । यथा कुबलयं नीलरूपतया विराजते तेनैव रूपेण अस्ति । क्षणपरिगतेनैव रूपेण सकलाः पदार्थमात्राः  
२१ प्रतिभान्ति न पूर्वापरकालपरिगतेर्नोत्तमानेति स्वभावहेतुः प्रत्यक्षसिद्धे व्यवहारप्रवर्तन-  
फल इति ।

§ ३. तथा, यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकमित्यादयः भेदज्ञानहेतवः । एतस्याभेदज्ञानाद् यथा भेदाः पर्यायाः क्षणिकाः प्रतीयन्ते, तथा अभेदज्ञानादनुगताकाराद् अभेदस्य द्रव्यस्य व्यवस्थितिरिति ।

२४ § ४. अथेदमनुगतं ज्ञानं निर्विषयत्वादप्रमाणम् । तथाहि —

“किं दृष्टे प्रत्यभिज्ञानमुतस्विन्मध्यवर्तिनि ।

किं वा दृष्टिपथप्राप्ते प्रमाणं वस्तुनीष्यते ॥

तत्र पूर्वोत्तराध्यक्षे पूर्वोत्तरग्रहेक्षमे ।

मध्ये नेन्द्रियवृत्तिः स्यात् कथं तत्र प्रवर्तते ॥

२१ न चावस्थात्रयव्यापि किञ्चिदेकं प्रतीयते ।

प्रत्यक्षेण तथाभावे जन्ममृत्युमतिर्भवेत् ॥

१. अथास्तीत्यादि अ० । २. विराजते व० । ३. नैव च रूपे मु० । ४. परिगतेनेति अ० ।  
५. तेनहेतुफल अ० । ६. भेदपर्यायाः मु० क० । ७. वाऽदृष्टि व० । ८. पथं प्रा० मु० ।  
९. ग्रहे ल० मु० ।

किञ्च किं दृष्टतां वेत्ति किं वा कालादियोगिताम् ।  
 दृष्टत्वं दृश्यमानत्वं किमैक्येन प्रपद्यते ॥  
 किं वा मेवेन पूर्वस्मिन्नन्योन्यानुप्रवेशनात् ।  
 स इत्ययमिति वा स्यात् सोऽयं नेति मतिर्भवेत् ॥  
 द्वितीयेऽपि यदा सोऽयं द्वयं भाति विरोधवत् ।  
 सामानाधिकरण्यं हि विरुद्धज्ञानयोः कुतः ? ॥  
 अथ प्रत्ययमेवेऽपि प्रतिभास्यं न भिद्यते ।  
 स्वतन्त्रं प्रतिभास्यं स्यात् ज्ञानमात्रं तदा भवेत् ॥  
 अथानुत्पत्तया भाति यदा वस्तु पुरःस्थितम् ।  
 तदैकत्वग्रहोऽध्यक्षे कथं नास्ति विपश्चिताम् ? ॥  
 अनुत्पद्गुपता केयं किं पूर्वस्य प्रकाशनम् ।  
 किं वा तत्तुल्यरूपस्य यदि वा सान्तराग्रहः ? ॥  
 तत्र पूर्वग्रहे न स्याद्वर्तमानग्रहः सदा ।  
 पूर्वपूर्वग्रहे वा स्यात् जन्मादिप्रतिभासनम् ॥  
 यदि तत्तुल्यता भाति सिद्धमेव प्रसाध्यते<sup>१</sup> ।  
 अन्तराग्रहणं त्वांशुकारित्वादुल्लुके न किम् ? ॥  
 पूर्वकालादियोगित्वे यद्यध्यक्षं न युक्तिमत् ।  
 पूर्वकालाद्यभावे हि तद्विशिष्टग्रहः कथम् ? ॥  
 भावे तु पूर्वकालादेर्वर्तमानत्वमापत्तेः ।  
 तथा च न नित्यत्वं स्याद्वर्तमानग्रहे सति ॥  
 अथ स्मृत्युपनीतेन तेन तस्य विशेषणम् ।  
 स्मरणेनोपनीतं हि न वस्त्वध्यक्षगोचरः ॥  
 न हि नीलोत्पलज्ञानं गन्धे स्मृत्युपदौकिते ।  
 वर्तते जानुचित् तस्मात् न तत्कालविशिष्टता ॥  
 सविकल्पकमध्यक्षं प्रत्यभिज्ञा न चेद्भवेत् ।  
 भक्षाभियमतो न स्यादिति चेत् तत्र युक्तिमत् ॥  
 पूर्वकालविशिष्टे न संहशेऽर्थेऽवलोकिते ।  
 सहचारितया ज्ञानं सार्तं चन्दनगन्धवत् ॥  
 तथाहि चान्दने गन्धे रूपेण सहचारिणि ।  
 रूपदृष्टेः स्मृतिर्यद्वत् तद्वत् पूर्वविशेषणे ॥  
 दृश्यमानार्थतुल्येन वस्तुना सहचारि यत् ।  
 पूर्वकालादि तत्स्मृतं वर्तमानविशेषणम् ॥  
 तत् स्थितं स्मरणाध्यक्षात् कल्पनाज्ञानमीदृशम् ।  
 यत् स एवायमित्यस्य नापूर्वार्थग्रहस्थितिः ॥  
 निश्चितत्वं दृढत्वं वा सविकल्पकताऽपि वा ।  
 दृढत्वमप्यनाशित्वं किं वाऽवाध्यत्वमुच्यते ॥  
 सर्वासां क्षणिकत्वेन नाऽनाशित्वं हि संविदाम् ।  
 अबाध्यताऽपि नैवास्ति यस्मादग्रे वैदिष्यते ॥  
 अनुमानादते नान्यत्कल्पनाज्ञानमिष्यते ।  
 प्रमाणं प्रत्यभिज्ञाया न च लिङ्गमिहास्ति वः ॥

१. पूर्वस्मिन् स इत्यं क० मु० ब० । २. प्रसाध्यते मु० क० । ३. °णं चाशु० ब० । ४. यथा  
 मु० । ५. स्मरणार्थे ब० । ६. वा क० मु० । ७. गदिष्यते मु० क० । ८. °मिदोच्यते । तस्मात् ५० ।

- प्रत्यभिज्ञायमानत्वं यदि लिङ्गमिहोच्यते ।  
 तस्याप्यध्यक्षतो व्याप्तिर्नैकत्वेन सह कश्चित् ॥  
 यद्यनुमानतो व्याप्तिरनवस्थाऽऽपतेत् तव ।  
 न ताभ्यां भावमस्त्यन्यत् यस्माद् व्याप्तिप्रदो भवेत् ॥  
 कल्पनापोहमध्यक्षं निर्विकल्पकसिद्धितः ।  
 ज्ञातव्यं प्रत्यभिज्ञाऽतो नाध्यक्षं कल्पनायुता ॥  
 नाकमात् कमिणो भावो नाप्यपेक्षाऽविशेषिणः ।  
 क्रमोद्भवा सती सा तु स्वयमेकत्ववाधिका ॥  
 तेनाबाध्यत्वमप्यस्या नानुमानाच्च बाधनात् ।  
 न खानयापि बाध्यत्वादनुमानमबाधकम् ॥  
 अप्रामाण्येन युक्तायाः कुतो बाधकतास्थितिः ।  
 अप्रामाण्याच्च नैवास्याः अनुमानं प्रमेयते ॥  
 अन्योन्याभयदोषोऽपि तेन नास्ति विपश्चितात् ।  
 स्वसाध्यप्रतिबन्धाच्च प्रमाणमनुमेयते ॥  
 क्रमाक्रमक्रियाऽभावात् बाधकात् प्रतिबन्धवित् ।  
 बाधकं साध्यमाकर्षेद्विह्वलमात्रेण धारयेत् ॥  
 निरुच्छासतया हंत ! भावानां दुःखमापतेत् ।  
 तदबाध्याऽनुमां बाध्या प्रत्यभिज्ञा न बाधजम् ॥  
 अनुमानेन नो बाध्यमिति बाध्यं विपश्चिता ।  
 सूर्यादिवस्तुनोऽध्यक्षमनुमानेन बाधितम् ॥  
 अर्थस्यासंभवे भावात् न विशेषो द्वयोरपि ।  
 बीजत्वाच्छालिबीजं च यवाङ्गुरकरं यथा ॥  
 अनुमां बाध्यतेऽध्यक्षात् प्रत्यभिज्ञापि ते तथा ।  
 जनकत्वं यदन्यस्य सै इत्यंशे यदा नयेत् ॥  
 एकत्वात् प्रत्यभिज्ञानं तैदा बाध्यक्षबाधितम् ।  
 तदेवं प्रत्यभिज्ञाया नाऽर्थाध्यत्वमिहास्ति यः ॥  
 कारणदुष्टताप्यस्याः भ्रान्तेरिव कुतो भवेत् ।  
 नचैतस्याः प्रमाणत्वादन्योन्याभयदोषतः ॥  
 प्रत्यक्षतोऽपि नाक्षाणामत्यक्षाणामदुष्टता ।  
 तस्याः प्रत्यक्षतायां स्यात् प्रतिबन्धस्य हानितः ॥  
 अनुमानत्वेऽपि नैवास्याः कारणस्य विशुद्धता ।  
 तदेवं प्रत्यभिज्ञाया न प्रामाण्यमिति स्थितम् ॥”

§ ५. अत्रोच्यते — “किमिदमिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायि स्थिरस्थूरवस्तुमाहि प्रत्यक्षं नानुभूयते ? किं वा अनुभूयमानमपि निशीथिनीनाथद्वयावलम्बिप्रत्यक्षवद् भ्रान्तमिति ? । तत्र नानुभूयत इति श्रुवाणोऽनुभवेनैव निराक्रियते । द्वितीयेऽपि किं कदाचित् कुमुदिनी-  
 नाथैक्यमाहिप्रत्यक्षवत् कस्यचित् क्षणिकमाहि<sup>१</sup> प्रत्यक्षमुत्पन्नम् ? , येनैतद् भ्रान्तं स्यादिति ।

§ ७. यवानुमानं क्षणिकत्वमाहि तत् प्रत्यक्षबाधितत्वात् ‘अश्रावणः शब्दः’ इत्यनु-

१. °स्वापद्यते तव व० । २. भावो क० । ३. वारयेत् व० क० मु० । ४. नवाक्षं क० मु० ।  
 ५. अनुमानं अ० क० मु० । ६. °स इत्यं क० । ७. °क्षानं व० क० । ८. न बाध्यं क० मु० व० ।  
 ९. कारणसाविच्छेदता अ० । १०. किमिदानीमि० अ० । ११. तवानुभू क० । १२. °नाथैक्यमाहि अ०  
 क० मु० । १३. °माहि न च प्रत्यं व० ।

मानवदप्रमाणत्वात् अबाधकमिति । किञ्च, सत्त्वादेर्लिङ्गस्य व्याप्तिग्रहणं न प्रत्यक्षेण, परोक्षत्वात् क्षणिकत्वस्य । अनुमानेन ग्रहणेऽनवस्था इतरेतराश्रयत्वं च प्रतिपादयन्ति । तदितरेतराश्रयपरिहारार्थं “प्रत्यभिज्ञानिरपेक्षं स्वप्रतिबन्धबलादनुमानं प्रमाणम्” इति यदुक्तम्, तदयुक्तमिति ।

§ ८. अथ सत्त्वमर्थक्रियाकारित्वेन व्याप्तम् । अर्थक्रियाकारित्वं च क्रमयोगपद्येनेति । तयोश्च व्याप्तिः प्रत्यक्षेणैव प्रतीयत इति नानवस्थेति । तथाहि—क्रमेणाङ्कुरादिकं कार्यमुत्पद्यमानमुपलभ्यते । तद्भावे योगपद्येन उभयनिषेधे केवलभूतलप्रादि प्रत्यक्षं प्रकारान्तराभावं निश्चायेयति । तेन क्रमयोगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वस्य व्याप्तिं प्रतिपद्यत इति । ततो नित्यात् क्रमयोगपद्यं निवर्तमानमर्थक्रियाकारित्वलक्षणं सत्त्वमादाय निवर्तमानं क्षणिकेष्वेवावतिष्ठत इति व्याप्तिग्रहणं प्रत्यक्षमूलमिति ।

§ ९. भवत्वेकान्तनित्यात् क्रमयोगपद्यनिवृत्तिनिबन्धनार्थक्रियाव्यावृत्तिः, तथापि न सा क्षणिकेष्वेवावतिष्ठते । यथैकान्तनित्येऽव्यर्थक्रिया न संभवति, तथैकान्तक्षणिकेष्वपीति । एतच्च पश्चात् प्रतिपादयिष्यते । तन्न गृहीतव्याप्तिकं क्षणिकानुमानं प्रत्यभिज्ञाबाधकमिति । प्रतिपादयिष्यते च प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्यमिति । तस्मादनुगतव्यावृत्ताकारा बुद्धिर्ज्ञात्मात्मकं वस्तु व्यवस्थापयति । [ ३४ ]

§ १. एतदेवाह—घटमौलिसुवर्णेष्वाति ।

घटमौलिसुवर्णेषु बुद्धिर्भेदावभासिनी ।

संविन्निष्ठा हि भावानां स्थितिः काऽत्र विरुद्धता ॥ ३५ ॥

§ २. भेदावभासिनीति । भेदमनुगतव्यावृत्तरूपमवभासितुं शीलं यस्याः सा तैषा । अनुगतव्यावृत्ताकारं तथाहि—सुवर्णम् सुवर्णम् इति अनुगताकारा बुद्धिः । घटश्च मुकुटं चेति ॥ व्यावृत्ताकारा चानुभूयत इति । न चैतद्वाच्यम्—‘विरोधादेकं वस्तु नोभयरूपम्’ इति । यत आह—संविन्निष्ठा हीति यस्मादन्यत्रापि नीलपीतव्यवस्था संवेदननिबन्धनैव । तदिहापि विरोधेऽपि संवेदनमेव प्रमाणमिति ।

§ ३. एवं प्रत्यक्षेणोभयात्मकं वस्त्वनुभूयमानमपि यो मोहात् न प्रतिपद्यते तं प्रत्यनुमानमुपन्यस्यते—सत्त्वान्यथानुपपत्तेः सर्वं नित्यानित्यात्मकम् यथा घटः, एकान्तनित्येऽनित्ये वाऽर्थक्रियाविरोधात् । सन्ति च सप्त पदार्थाः । न तावद्विशदतरदर्शनावसेयस्य सत्त्वस्य ज्ञानवादिमताश्रयणेनासिद्धत्वमुद्भावनीयम्, विज्ञानस्याप्यभावप्रसक्तेः । नापि सर्वशून्यवादिमताश्रयणेन, वादे तस्मानधिकारात् । ‘सर्वाऽभावे हि कस्यै किं केन प्रतिपादयेत्’ इत्यादेरुक्तत्वात् । नापि प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वेनासिद्धत्वम्, धर्मभेदस्याप्यभ्युपगमात् । नापि विकल्पकल्पितो धर्मभेदः । तदा हि खरतुरगविषाणयोरपि गम्यगमकभावः स्यात् । कल्पिताश्चेतोः कल्पितसार्थसिद्धिप्रसक्तेः । नाप्येकान्तेन भेदः संबन्धासिद्धेः, समवायादिसंबन्धनिरासात् । न चात्र भेदाभेदपक्षभावी दोषो गुडनागरसंज्ञितवस्त्वभ्युपगमात् । तदुक्तम्—

१. ‘मुत्पाद्य’ क० । २. निश्चापयति मु० क० । ३. ‘लव्या’ ब० । ४. ‘भासिनेति’ क० मु० । ५. तथा मु० । ६. मुकुटश्चेति मु० । ७. सत्त्वायथा मु० क० । ८. धर्मभेदः अ० । ९. ‘साध्य-प्रसक्तेः’ मु० क० । १०. ‘कान्तेनाभेदः’ अ० । ११. ‘बन्धस्य’ क० ।



“गुह्येत् कफहेतुः स्यात् नागरं पिच्छकारणम् ।  
तन्मूलमन्यदेवेदं गुह्यनागरसंज्ञितम् ॥  
मधुरं न हि सर्वं स्यात् कफहेतुर्यथा मधु ।  
तीक्ष्णं वा पिच्छजनकं यथा माराधिका मता ॥”

१ तदेवं भिन्नाभिन्ने वस्तुनि नासिद्धो हेतुः ।

§ ४. नापि विदुः सपक्षे सद्भावात् । नापि विरोधाक्रान्तत्वात् नित्यानित्यात्मकत्वं घटस्यासिद्धमिति वाच्यम् । तथाप्रतिभासनात् । संविभिष्टा हि विषयव्यवस्थितयः । तथा च छायातपयोरपि यद्येकप्रावभासनं स्यात् विरोधेपि, केन नानुमन्येत तथावस्थानम् । तथाहि — सूत्रपत्र ध्रौव्यसंहितस्य सर्वावस्थानुयायिनो नित्यस्य अनित्येनोत्पादव्ययसंज्ञितेनै-  
॥ कर्मात्मतया प्रतीतेः । अन्यथा एकान्तभेदे मृत्तस्थानयोरपरस्परतामत्तया प्रतिभासनं स्यात् । नाप्येकान्तेनैकत्वम् अनुगतव्यावृत्तत्वेन द्विरूपाया बुद्धेरुत्पादात् । तदुक्तम् ।

“घटमौलिसुवर्णा<sup>१</sup>धीं नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।

शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥” [ आत्मी० ५९ ]

न चात्रानुगताकारा बुद्धिः सविकल्पकत्वादप्रमाणमिति वाच्यम् । व्यवसायरूपत्वात्  
॥ प्रमाणस्य इति उक्तत्वात् ।

§ ५. तदेवं देशकालस्वभावाभेदेऽपि संख्या-संज्ञा-लक्षण-कार्यभेदात् नरसिंहाकारमेव वस्तु । तदुक्तम् —

“न नरः सिंहरूपत्वात् न सिंहो नररूपतः ।

संज्ञा-बिज्ञान-कार्याणां भेदात् जात्यन्तरं हि तत् ॥”

॥ “नान्ययो भेदरूपत्वात् न भेदोऽन्वयरूपतः ।

मृद्भेदत्रयसंसर्गवृत्तिर्जात्यन्तरं घटः ॥”

अन्यथा एकान्तकूटस्थेनित्यतायां न कश्चित् कश्चित् प्रवर्तते इत्यप्रवृत्तिनिमित्तकं जगत् स्यात् । अन्यथा परिणामित्वमेव स्यात् । एकान्तक्षणिकत्वेऽपि प्रतिसंधानप्रत्यभिज्ञाद्यभावेन स्वगृहेऽप्यागमनं न स्यात् । तस्मादनेकान्तात्मन्येव वस्तुनि व्यवहारोपि घटते । तदेवमु-  
॥ भयात्मकं वस्तु सिद्धम् ।

§ ६. ननूकं विरोधाक्रान्तत्वात् कथमेतदिति । सत्यम्, उक्तम् किन्तु अयुक्तमुक्तम् । तथाहि — विरोधो द्विधा सहानवस्थानलक्षणः परस्परपरिहारलक्षणश्च व्यावर्ण्यते । तत्र किं ययोर्न कदाचिदेकप्रावस्थानं तयोः सहानवस्थानम्, उत कियत्कालावस्थानेऽपि पञ्चादनवस्थानेनेति । आद्ये पक्षे अहिनकुलादीनां न विरोधः स्यात् । अन्यथा त्रैलोक्येऽ-  
॥ पुरगादीनामभावः । द्वितीयेऽपि न कस्यचिन्नरवनितादेर्विरोधो न स्यात् तयोरपि किञ्चित्कालमेकत्र स्थित्वाऽपगमात् । किञ्च, वडवानलजलधि[जल]योर्विद्युद्भोवाभसोऽग्नि-  
रतरमेकप्रावस्थाने कथमयं विरोधः ? ।

१. माराधिका मु० क० । २. ‘त्वं’ क० । ३. अनित्यत्वेनो<sup>१</sup> ब० मु० क० । ४. ‘तेनैकत्वम्’ क० । ५. ‘इतेन’ मु० । ६. ‘गोर्धिना सोत्पा’ मु० । ७. ‘स्थं ज’ क० । ८. ‘वृत्तिर्जात्य’ क० । ९. ‘कूटस्थो न मु० । कूटस्थ न कश्चित् क० । १०. निमित्तिकं’ मु० क० । ११. द्वितीये न अ० क० । १२. प्राव-  
स्थातः ब० ।

§ ७. अथ बलवता द्वितीयस्य निवर्तने तथाभावः न स्वयं, विरुद्धे किञ्चाधिक-  
कारणस्य भवतोऽभ्यभावेऽभावाद् विरोधव्यवस्था । यथा क्षीतोष्णयोः । तदसत् । यतो  
बलवता किं क्षणिकस्य निवर्तनम्, उत अक्षणिकस्य ? । क्षणिकस्यापि किम् अतीताना-  
गतलक्षणस्य उत वर्तमानक्षेणस्येति ? । तत्रातीतानागतयोरविद्यमानत्वादेव कस्य केन  
निवर्तनम् ? । दैवरक्षा हि किञ्चुकाः । नान्येकक्षणावस्थायिनो वर्तमानस्य केनचिन्निवर्तनम्,  
धारणं वा संभवति ।

§ ८. अथ विरोधिनाऽसामर्थ्योत्पादनेन मन्वत्तरतमादिकार्योत्पत्तौ त्रिषतुरेषु क्षणेषु  
निवर्तनम् । ननु सामर्थ्यविनाशेने निर्हेतुविनाशबाधो निरर्थकः स्यात् । अथ सहकारित्वमेव  
सामर्थ्यविनाशनम् । ननु क्षणस्यानुपकार्यत्वात् कथमसौ सहकारी ? । एककार्यकरणादिति  
चेत् ; तर्हि कार्यकारणभावमात्रमेव स्यात् न कश्चित् निवर्त्यनिवर्तकभावः । सहकारिणो  
विरोधव्यवस्थायां न कस्यचिदर्थं न स्यात् । तत्र क्षणिकस्य निवर्तने सहायनस्थानविरोधः ।

§ ९. अथाक्षणिकस्य । तस्यापि निवृत्तिः किम्—भिन्ना स्याद्, अभिन्ना वा ? । अभिन्न-  
निवृत्तिकरणे स एव कृतः स्यात् । तथा च कारणमेव स्यात्, न विरोधः । भिन्ना चेत् ;  
तस्या एव कारणं स्यात् । न कस्यचित् निवर्तको नाम ।

§ १०. किञ्च, भवतु कश्चिच्छीतोष्णादीनां विरोधः, तथापि अयं नित्यानित्य[त्वं]योर्न  
संभवति । तथा हि—किमधिकलकारणं नित्यत्वं अनित्यत्वेन व्यावर्च्यते, उतानित्यत्वं  
नित्यत्वेनेति ? । न तावदाद्यः पक्षः । यतः कारणवत्त्वे नित्यत्वमेव न स्यात् । अथाधिकल-  
कारणमविचलितस्वरूपम् ; तस्यापि न केनचित् निवर्तनम् । निवर्तने वा नित्यत्वे न स्यात् ।  
नापि क्षणिकत्वं तस्य स्वत एव नाशात् किं नित्यत्वं कुर्यात् । किञ्च प्रतिक्षणं विचाराद्यु  
भावेषु तदेव किञ्चिन्नित्यत्वं नास्ति, येन क्षणिकत्वं व्यावर्च्यते । सद्भावे वा कथं  
संज्ञावस्थितिविरोध इति ।

§ ११. अथ परस्परपरिहारस्थितिलक्षणो नित्यत्वानित्यत्वयोर्विरोधः । स हि किञ्च स्वरू-  
पनिष्ठो व्यावर्च्यते 'नैकं वस्तु द्विरूपं संभवति' इति । तदसत् । यत एकस्यापि प्रत्यक्षदेः  
शीतस्पर्शस्य सतः कालान्तरेणोष्णस्पर्शस्य दर्शनार्थं । न च तद्वस्तु भिन्नम् । विरुद्धोभयपर्या-  
यात्मतया प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । अथैकैवा विरुद्धोभयरूपता नोपलभ्यते । तदप्यसत् ।  
बह्वेकस्याप्युष्णानुष्णलभावस्य दर्शनात् । तथा हि स्पर्शरूपतया बह्विकणो न रूपरूपतया ।  
अन्यथा तद्वद्विकले जननयनवहनमौपनीपद्येत ।

१. अथ भवता द्वि° क० मु० । २. भवताऽभ्य° क० । ३. विरोधाव्यव° अ० । ४. °क्षणिकस्य  
क० मु० । ५. °क्षणिकस्य मु० । ६. अयं क० मु० । ७. वारणं मु० क० । ८. निवर्तते मु० ।  
९. भिनाशे मु० । १०. निर्हेतुकं वि° मु० । ११. स्यात् निव° मु० । १२. निवर्तते मु० । १३. विरोधी  
अ० । १४. एवं अ० । १५. कश्चित् क० । १६. स भवति मु० । १७. नित्यत्वमेव मु० क० ।  
१८. क्षणिकत्वं किञ्च मु० क० । १९. सद्भावस्थि° अ० । २०. तदसत् एक अ० । २१. दर्शनात्  
तथा हि स्पर्शरूपतया बह्विकणो न रूपरूपतया न अ० अ० । २२. अथ वि° मु० । २३. विरोधोभय  
मु० क० । २४. °भ्यते बह्वे-मु० क० । २५. तथापि क० । २६. न रूपतया मु० ।  
२७. °मापद्येत मु० ।

§ १२. न च स्पर्श-रूपपरमाणूनां परस्परपरिहारेणावस्थानात् नैकमुभयरूपमिति वक्तव्यम् । यतः तथापरिणते<sup>१</sup> बह्विद्व्ये न केचनापरे परमाणवो विद्यन्ते । न वैमिथ्यान्तरकल्पनावैफल्यदोषो वाच्यः । कथञ्चिद्देवस्याप्यभ्युपगमात् ।

§ १३. किञ्चैकस्मिन्नात्मनि विद्वद्धर्माधर्मयोरेकसंबन्धेनावस्थाने कथमयं विरोधः ? । अथ कर्मरूपतया तयोरेकत्वात् तथावस्थानेऽपि न युगपद्विद्वद्धफलजनकत्वम् । तदप्यसत् । तस्यापि दर्शनात् । तथा हि—पार्वादी प्रणच्छेदकर्मणि दुःखोत्पादेऽपि मुखे कर्पूरादिना मुखोत्पादस्यापि दर्शनात् ।

§ १४. किञ्च, अयं नित्यानित्यत्वयोः सामान्यलक्षणयोः सतोर्विरोधः, एत सामान्यलक्षण-स्वलक्षणयोः, आहोस्वित् स्वलक्षणयोः, किम् आरोपितयोः, अवारोपितानारोपितयोरिति ? । न तावदाद्यः पक्षः । एकत्रैवानेकसामान्यसद्भावाभ्युपगमात् । नापि द्वितीयः । यतः ।

“निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छब्दविषाणवत् ।

‘विशेषोऽपि च नैवास्ति सामान्येन विना कृतः ॥” [ श्लोका० भा० १० ]

नापि तृतीयः । रूपरसादीनामेकत्र सद्भावदर्शनात् । चतुर्थे तु खरतुरगविषाणयोरिव को नाम विरोधः ? । अथ आरोपितानारोपितयोर्भावाभावयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणो विरोधः । तथा हि—नित्यत्वनिवृत्तिस्तुच्छरूपा अनित्यत्वम् । अनित्यत्वनिवृत्तिश्च नित्यत्वम् । तयोः कथं न विरोधः ? । तदप्यसत् । यतो न तुच्छरूपोऽभावः प्रमाणगोचरचारीति प्रबन्धेन प्रतिपादितम् । कथं तर्हि भावाभावात्मकं वस्तु ? । नैतदस्ति । यस्मात् परदेक्षापेक्षया भाव एवाभावः । नापि प्रागभावप्रध्वंसभावविशेषणसत्तासमवायात्मकः, सैतया सह संबन्धासिद्धेः । स हि समवायलक्षणोऽभ्युपगम्यते । तस्य च पूर्वमेव निरस्तत्वादिति ।

§ १५. किञ्च सत्तासमवायादनित्यतायाम् आत्मादिष्वपि अनित्यत्वप्रसङ्गः । यथा च समवायोऽन्यद्वा एकान्तनित्यं वस्तु न संभवति तथाऽमे प्रतिपादयिष्यामः । तत्र कश्चिद्भावव्यतिरिक्तोऽभावोऽस्ति येन विरोधः स्यात् । ततः सिद्धो नित्यानित्यात्मको घटः । तस्मिद्धौ च न विद्वदो हेतुः ।

§ १६. नाप्यनैकान्तिकः । विपर्यये बाधकप्रमाणसद्भावात् । तथा हि—इदं सत्त्वम् अर्ध-क्रियाकारित्वेन व्याप्तम् । सा च कूटस्थनित्यादनित्याच्च व्यावर्तमाना सत्त्वमादायैव निवर्तते । तेन उत्पादव्ययधौव्यवत्येव वस्तुनि सत्त्वमवतिष्ठते ।

§ १७. न च सत्तासंबन्धेन सत्त्वं वाच्यम्, सत्तादीनामसत्त्वप्रसङ्गात् । अपरसत्ताभ्युपगमे वाऽनवस्था । तद्व्यापि लक्षणम् । अतिव्यापि च अक्षविषाणादीनामपि सत्त्वप्रसङ्गात् । तेषां सकलशक्तिरहितत्वात् न सत्तासंबन्ध इति चेत् । तर्हि शक्तिरेव सर्वलक्षणम्, किं सत्तासंबन्धेन ? । इतरेतराभ्यर्थं च स्यात् । तथा हि—सति सत्तासंबन्धे सत्त्वं बोध्यम्, सति सत्त्वे सत्तासंबन्धः ।

१. “गतवह्निं” ख० । २. न लिङ्गिं” ख० । ३. “वन्धिना” ख० । ४. पादे क० मु० । ५. “नित्ययोः” ख० मु० क० । ६. “सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि”—श्लोकवा० । ७. सत्ताया ख० । ८. संबन्धोऽसिद्धः ख० ख० । ९. तस्य पू० ख० । १०. यथा सम० ख० । ११. अपरसत्ताभ्यु० ख० । १२. सत्त्वे क० मु० । १३. सत्त्वं सति मु० क० ।

§ १८. सा च कृतस्य न विद्यते । तथा हि — संश्रितं क्रमेण वा शक्तिमन्त्यात् योगपथेन एकान्त-  
नित्ये सत्त्व-  
नित्येः । कारणप्रसङ्गात् । सहकार्यपेक्षा च समर्थस्य न विद्यते । असामर्थ्ये वा पूर्वम-  
समर्थस्य सहकारिसौमित्र्येन सामर्थ्योत्पत्तौ परिणामित्वप्रसंगः । सहकारिणा सामर्थ्यमुत्पाद्य-  
मानं ततो भिन्नमभिन्नं वा स्यात् ? अभेदपक्षे कृतस्यनित्यतादानिः । भिन्नकरणे तस्मादेव \*  
कार्योत्पत्तिः स्यात्, न नित्यात् । इत्यादि सौगतैरेवात्र विजृम्भितं तद्विह नोच्यते विस्तर-  
मयात् । तत्र क्रमेण कर्तृत्वम् ।

§ १९. नापि योगपथेन प्रथम एव क्षणे कृतत्वात् द्वितीयादिषु न किञ्चित् कर्तव्यमस्तीति  
सर्वसामर्थ्यरहितस्य व्योमोत्पलस्येवासत्त्वं स्यात् । पुनः करणे वा क्रमपक्ष एव स्यात् ।  
तत्र चोक्तो दोषः । न च कृतकरणमस्ति । तत्र योगपथेनापि करोति । न चापरं \*  
क्रमाक्रमरूपं प्रकारान्तरमुपेयते, अस्मन्मतानुप्रवेशप्रसङ्गात् । तत्र कृतस्यनित्यं किञ्चित् करोति ।

§ २०. नाप्येकान्तक्षणिकम् । तदपि हि क्रमेण वा कुर्यात् योगपथेन वा ? । न तावत्  
एकान्त-  
भिके सत्त्व-  
नित्येः । क्रमेण । स हि देशक्रमो वा स्यात् पिपीलिकानामिव, कालक्रमो वा पत्रनाला-  
दीनामिव । तत्र नैकस्मिन्देशे कार्यं कृत्वा देशान्तरे क्षणिकं वस्तु करोति ।  
तत्रैव तस्य चक्षुस्तत्वात् । नाप्येकस्मिन् क्षणे कृत्वा द्वितीये विदधाति, क्षणिकत्वहानिप्रसङ्गात् । \*

§ २१. अथ नायं क्रमः सौगतैरुपेयते । किं तर्हि ? । कार्यान्तरसाहित्यं कैवल्यम्  
अङ्कुरादेः । योगपथमपि कार्यान्तरसाहित्यम् । तथा हि — लोको वदति क्रमेण यथाङ्कुरा  
उत्पन्ना योगपथेन वा इति । ननु कल्पनामात्रमेतत् वस्तुतः पुनः सौगतानां द्विविधं कारणं  
सामग्रीलक्षणम् सहकारिलक्षणं च । तत्र यदि सामग्रीलक्षणं कारणमाभित्य क्रमयोग-  
पथमिष्यते । तत्र संभवति । तत्र योगपथाभावात् । एकमेव हि कार्यं सामग्री जनयति । \*  
नापरम् । तत्र कार्यान्तरसाहित्यलक्षणं योगपथं तत्रास्ति । नापि सहकारिकारणमभ्युपगम्य  
तथाभावव्यवस्था । तत्र हि योगपथस्यैव संभव इति । तथा हि तानि स्रं स्वमुपादेयकार्यम्  
उपादानभावेन परस्परकार्यं च सहकारिभावेन जनयन्तीति कुतः क्रमः । तत् परापेक्षया  
कल्पित एव क्रमयोगपथभावः । न हि निरंशं वस्तुनैककार्यजनकं संभवति सांशता-  
प्रसङ्गात् । न बोपादानसहकारिभावः संभवति । तथा हि — द्वितीयस्वभावाभावादेकमेव \*  
जनयेत् । न चैकं जनकमुपेयते । तत्र क्षणिकपक्षेऽपि क्रमयोगपथक्रियासंभवः ।

§ २२. किंच क्षणिकं वस्तु सव्यापारं वा कार्यं कुर्यात् निर्व्यापारं वा ? । निर्व्यापारस्य  
करणे संपुष्पसंज्ञां कार्यक्रिया स्यात् । व्यापारपरवे प्रथमे क्षणे उत्पद्यते द्वितीये व्याप्तिर्यते  
इति क्षणिकत्वहानिः । अत्र प्राञ्जलभावित्वमेव व्यापारः नापरः । तर्हि तत्क्षणभावितानां  
जगत्क्षणानामपि कारणत्वं स्यात् । तथा च सूत्ररूपताऽपि षट्स्य स्यात् । न बोपेयोर्थिनां \*  
नियतकारणोपादानम् स्यात् । न चानन्तरक्षणविनष्टे विरतरविनष्टे वा कश्चिद्विशेषोऽस्तीति

१. सति अ० ब० । २. "करिसन्निधौ मु० क० । ३. उत्पत्तां मु० क० । ४. न वा मु० ।  
५. वस्तुनः मु० क० । ६. तत्र क्रमयोगं अ० ब० । ७. तत्रास्ति नापि क्रम इति । नापि सह\*  
अ० ब० । ८. न च निर्\* क० मु० । ९. द्वितीयांशभा\* क० मु० । १०. "व्युपपद्यते ब० ।  
११. "न कार्यं अ० मु० । १२. न बोपेये गार्थि\* ब० अ० ।

चिरतरविनष्टमपि कुर्यात् । इति मृतेन कुक्कुटेन वासितव्यम् । ततो घटरूपतया परिणमनमेव मृत्पिण्डस्य कारणत्वं न प्रागभावः । न चानुसन्धातारमाभानमन्तरेण कार्यकारणभाव-  
प्रतीतिः । तथा हि — कारणविषयेण प्रत्यक्षेण कारणमेव प्रतिपन्नम्, न कार्यम् । कार्यवि-  
षयेणापि कार्यमेव न कारणम् । अथ निर्विकल्पकदर्शनद्वयानन्तरं 'इदमस्मादुत्पन्नम्'  
इत्येवमाकारं स्मरणज्ञानमुदेति तेन तथाभावग्रहः । तदप्यसत् । स्मरणं हि अनुभवानुसार्ये-  
वोत्पद्यते । न चानुभवद्वयेन कार्यकारणभावोऽनुभूतः येन तथास्मरणं स्यात् । आत्मनश्चा-  
भावे कस्य तत् स्मरणं स्यात् ? तत्र क्षणिकपक्षेऽपि कार्यकारणभावप्रतीतिः ।

§ २३. किञ्च कार्यं सनुत्पद्यते, उतासत्, औद्दोषित् सदसत् ? । यदि सत् । किमुत्पद्यते ? ।  
अथासत् । किं न व्योमोत्पलम् ? । अथ प्रागभावभावात् न व्योमोत्पलस्य उत्पत्तिः । ननु  
प्रागभावोऽपि तस्य किमिति नास्ति ? । उत्तरकालमभावादिति चेत् ; इतरेतराभ्यस्तम् ।  
तथा हि — यत्सोत्तरकालमुत्पत्तिः तस्य प्रागभावः । यस्य प्रागभावः तस्योत्पत्तिरिति । सर्व-  
सत्त्वेत् ; इन्त ! असम्भवात्तुप्रवेशः ।

§ २४. तत्रैकान्तनित्येऽनित्ये वा अर्थक्रिया सैमसीति नित्यानित्यात्मन्येवार्थक्रियाकारित्वेन  
सत्त्वम् । तथा हि — स एव मृत्पिण्डो घटरूपतया परिणमते इति प्रतीतिः । यत्प्रपं हि  
कारणमुपलभ्यते तत्प्रपमेव कार्यमपि । तदेव द्रव्यं तेन तेन पर्यायेण परिणममुपलभ्यते ।  
नात्यन्तभिन्नमभिन्नं वा घटादिकार्यं प्रतीयते । तदुक्तम् — द्रवति गच्छति तांस्ताम् पर्याया-  
निति द्रव्यम् । तेन द्रव्यमेव अन्तरङ्गम्, बहिरङ्गाः पर्यायाः ।

§ २५. ननु द्रव्यस्य कृतः सत्त्वसिद्धिः ? । प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षादिति ज्ञमः । तथा हि —  
द्रव्यस्य यदबाधितबोधगोचरचारि तत् सद् यथा स्वम्भकुम्भादि । अबाधितप्रत्य-  
सत्त्व-  
सिद्धिः । भिज्ञाप्रत्यक्षगोचरचारि च पूर्वोत्तरपर्यायव्यापि द्रव्यम् । भेददर्शनमपि हि  
भेदवादिभिदिन्द्रियान्वयव्यतिरेकेणानुविधायितया प्रत्यक्षमुपेयते तथा अमेवाप्यवसायिन्यपि  
पूर्वदर्शनादितसंस्कारप्रबोधप्रभवस्मरणसहायेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी प्रत्यभिज्ञा कथं  
न प्रत्यक्षम् ? ।

§ २६. नै च 'अक्षं वर्तमानकालभाविनि प्रत्यासीदति, अतः तदनुसारिणी बीजात्रैव  
प्रवर्तितुम् उत्सहते, न पूर्वम्' इति वाक्यम् । एवं हि विशददर्शनावसेयाः स्वम्भादयोऽपि न  
प्रत्यक्षाः स्युः । तथा हि — और्वाचीनावयवसंबन्धे (दे)न्द्रियजनितप्रत्यक्षावसेयं मध्यवरावय-  
वाविभ्यापि स्वम्भादिद्रव्यम् । तर्वाचीनीनावयवमात्रपर्यवसिते" प्रत्यक्षे न स्यात् । परमाणु-  
रूपावयवानां चैवप्रत्यक्षत्वात् । ततः सकलप्रमाणशून्यो प्राज्ञताऽऽपद्येत ।

§ २७. अथ विततदेशव्यवस्थिताः परमाणवः प्रतिभासविषयाः । तदसत् । सान्तराणां

१. 'व्यत्येव का' अ० । २. उताऽसद्यदि क० मु० । ३. प्रागभावभावात् क० । ४. प्रागभावेऽपि  
मु० । ५. 'रिति तत्रैका' मु० क० । ६. 'क्रियात्मसीति' मु० । ७. 'द्रव्यं तेन पर्याय' मु० ।  
८. 'निति द्रव्यमेव' मु० । ९. 'चारि पूर्वो' मु० क० । १०. 'मपि भेद' क० मु० । ११. 'रेकविधा' अ० ।  
१२. 'वते अतः अमे' मु० । १३. 'प्रत्यक्षं वर्त' अ० । १४. 'पूर्वम्' इति मु० । १५. 'अर्वाचीनाव' मु० क० । १६. 'तर्वाचीनीना' मु० क० । १७. 'विततप्रत्यक्षे' मु० । १८. 'वाप्रत्य' मु० ।  
१९. 'भ्रम्यमा' अ० अ० मु० ।

तेषां अप्रतिभामनान् । संयोगान् तथाभासनमिति चेत् ; ननु तेषां संयोगः किम् एकदेशेन सर्वात्मना वा ? । न तावदेकदेशेन निर्देशत्वात् परमाणूनाम् । नापि सर्वात्मना पिण्डस्य अणुमात्रत्वप्रसंगात् । तत्र परमाणवः प्रतिभासविषयाः । किन्तु एकपरिणामपरिणतं स्तम्भादिद्रव्यं प्रतिभासगोचरचारि । तथाचा—अर्वाचीनाद्यवसंबन्धेन्द्रियजनितप्रत्यक्षेण विभिन्नदेशव्यवस्थितपरोक्षावयवव्यापि पुरोव्यवस्थितं वस्तु प्रतीयते, तथा वर्तमानपर्याय-संबन्धेन्द्रियात् स्मृतिसहायात् उत्पन्नेन प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षेण अतीतदेशकाळाविव्यवस्थितानेक-पर्यायव्याप्येकं प्रेत्येप्यतीति न कश्चिदोषः ।

§ २८. न च क्षणिकानुमानबाधितत्वात् प्रत्यभिज्ञानं भ्रान्तमिति वाच्यम् । अन्यथा विज्ञाददर्शनं हिमांशुधवलमानं परिच्छिद्दुत्पद्यमानं—‘नीलं निशीथिनीनाभविन्नं सखात् नीलोत्पलवद्’ इत्यनुमानबाधमनुभवदप्रमाणं स्यात् । अथास्य प्रत्यक्षबाधितत्वात् न प्रामाण्यं । क्षणिकानुमानस्यापि प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षबाधायां समानम् । अथ प्रत्यभिज्ञानस्य भ्रान्तत्वात् क्षणिकानुमानस्य प्रमाणता । तर्हि इतरेतराश्रयत्वम्—सति हि प्रत्यभिज्ञानस्य भ्रान्तत्वे अस्य प्रामाण्यम् । सत्यस्य प्रामाण्ये प्रत्यभिज्ञानभ्रान्ततेति । न च प्रत्यक्षम् अनुमानेन बाध्यते । तत्पूर्वकत्वात् अनुमानस्य । अन्यथाऽनुमानपूर्वकत्वेऽनवस्था स्यात् । ततः सिद्धमबाधितं प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षं ।

§ २९. किञ्च, यदि नियतव्यक्तिसंबन्धेन्द्रियजनितं प्रत्यक्षं नातीतादिपर्यायात्मकद्रव्य-माहि स्यात्, तदा यदेतत् सुप्रसिद्धं बह्वनुमानं तदपि न स्यात् । तदि महानसादिव्य-वस्थितधूमधूमध्वजसंबन्धेन्द्रियजनितप्रत्यक्षेण अशेषत्रैलोक्योदरविवरवर्तिधूमवह्निविशेष-व्यवस्थिततिर्यक्सामान्ययोर्व्याप्तिग्रहणे सति प्रवर्तते । तत्रेन्द्रियसंबन्धवस्तुमात्रविषयप्रत्य-क्षतायां न स्यात् । तस्माद् यथा प्रत्यक्षं व्याप्तिप्राप्तकम् अशेषविशेषात्मकतिर्यक्सामान्यमाहि तथा प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षं कर्षतासामान्यमाहीति । न च ह्यनुपुनर्जातकेसाविष्येकत्वमन्त-रेणोत्पद्यमानं भ्रान्तमिति वाच्यम् । तत्रापि सामान्यस्य सङ्गोवात् । न चैकत्र भ्रान्तं प्रत्यक्षं सर्वत्र भ्रान्तमिति वाच्यम् । तस्मात् सिद्धं नित्यानित्यात्मकं वस्तु । तत्सिद्धौ च स्वदसदात्मकं सामान्यविशेषात्मकं उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं च सिद्धम्, विशेषोत्पाद-विनाशानामनित्यत्वेऽन्तर्भावात्, अन्येषां नित्यत्वे इति ।

§ ३०. न चैतद्वाच्यम्—

“सर्वस्योभयरूपरूपे तद्विशेषनिराकृतेः ।

कोदितो दधि स्वादेति किमुर्दं नामिधावति ॥” [प्रमाणवा० ३.१८१, १८२]

पर्यायनवस्थान्धुपगमात् । अत एव सप्तभङ्गी सिद्ध्यति । तथा हि—यदा द्रव्यस्य ग्रीवाम्यं विवक्ष्यते तदा ‘स्वादस्ति’ इति कथ्यते । यदा पर्यायाणां तदा ‘स्वाभास्ति’

१. नेकदे मु० क० । २. “णवः किन्तु” व० । ३. अर्वाचीनां मु० क० । ४. संबन्धेन्द्रि मु० क० । ५. प्रत्यक्षतीति क० । प्रत्यक्षमिति मु० । ६. परिच्छिद्दुत्प० मु० क० । ७. “मानमव” मु० । “मानवाचामव” क० । ८. “भिज्ञाभ्रान्ततेति क० । ९. संबन्धेन्द्रि” मु० । १०. “जनितप्र” क० । ११. तद्यते-तत् मु० क० । १२. “स्थितधूमव” मु० क० । १३. संबन्धेन्द्रि मु० क० । १४. सति वर्तते मु० क० । १५. तस्मात् मु० । १६. प्राधान्यविवक्षा तदा क० । प्रधानविवक्षा तदा मु० ।

इति । यदा युगपदुभयमाध्याम्यप्रतिपादनं<sup>१</sup> विवक्ष्यते तदा 'अवकथ्यम्' । एते सकलादेशाः । तत्संयोग एवापरे चत्वारो भङ्गा भवन्ति । ते च स्वावयवापेक्षया विकलादेशाः । तथा—  
अस्ति च नास्ति च । अस्ति चावकथ्यं च । नास्ति चावकथ्यं च । अस्ति च नास्ति  
चावकथ्यं च इति नापरभङ्गसम्भवः । [ ३५ ]

§ १. एवं संख्या-लक्षण-गोचरविप्रतिपत्तिं निराकृत्येदानीं फलविप्रतिपत्तिं निराकुर्वन्नाह—  
प्रतीतेस्तु फलमिति ।

प्रतीतेस्तु फलं नान्यत् प्रमाणं न ततः परम् ।

अताद्रूप्येऽपि योग्यत्वाभियतार्थस्य वेदनम् ॥ ३६ ॥

§ २. 'तु' पुनरर्थः । फलं पुनः प्रमाणस्यार्थाभिगतिरेव नान्यदिति, तद्विज्ञानान्तरं वा  
\* प्रमाण-  
फल-  
जगत्वा । स्यात् प्रवृत्तिर्वा अर्थक्रियाप्राप्तिर्वेति ? । तत्र न तावत् ज्ञानान्तरम् । तद्वि-  
जगत्वा । प्रमाणाभिन्नविषयं वा स्यात्, अभिन्नविषयं वा ? । यदि भिन्नविषयं तर्हि  
किं केन संगतम् ? । एवं हि षट्ज्ञानस्यापि<sup>५</sup> षट्ज्ञानं फलं स्यात् । अथाभिन्नविषयम् ।  
तदा साधितक्रिये कर्मणि अविशेषाद्यादि किं कुर्वत् साधनं स्यात् ? । निश्चयमिति चेत्;  
न, प्रमाणस्यैव निश्चयात्मकत्वात् । अथानिश्चयात्मकं प्रमाणं तर्हि निश्चय एव प्रमाणमस्तु ।  
\* किं तेन निश्चयकरणात् ? । तदपि चेत्; चक्षुरादिकमस्तु । न चानिश्चयात्मकप्रमाण-  
वागिमिरपि निश्चयः फलमिष्यते । तत्र ज्ञानान्तरं फलमिति ।

§ ३. नापि प्रवृत्तिप्रतीति, तयोः पुरुषसाध्यत्वात् । उक्तं च शास्त्रकारैः—“नहि प्रमाणं  
गते गृहीत्वा पुरुषं प्रवर्तयति नाप्यर्थमुत्पाद्य अर्पयति किन्तु अर्थपरिच्छेदकत्वमेव प्रवर्त-  
कत्वं प्रापकत्वं च” इति । तस्मादर्थभिगतिरेव फलम् ।

\* § ४. प्रमाणमपि न ततः प्रतीतेः<sup>११</sup> परं, किन्तु प्रतीत्येते<sup>१२</sup>नेनेति प्रमाणं प्रतीतिरेव ।  
यत्तदुक्तं भवति—मात्मनः परमार्थेन प्रमाणं भिद्यते किन्तु आत्मैव ज्ञानावरणक्षयो-  
पेक्षमवाप्तं प्रमाणं, स एव प्रतीतिरुपेतत्वात् फलमिति ।

§ ५. आकारः प्रमाणमिति चेत्; न, अर्थाकारतायां ज्ञानस्य जडता स्यात् । अथ  
मीलाद्याकारतैव अर्थाङ्गवति न जडता । यदि मीलपरमाणुरूपता तदा कथं न जडता ? ।  
\* अथापरमाण्वात्मके विज्ञाने नीलप्रतिबिम्बमात्रमेव भवति । यथाऽनीलात्मके स्फटिके  
मीलादिति । तदसत् । यतो न स्फटिकस्यापि मीलपरमाणुपरिणतेरन्यत् प्रतिबिम्बमिति ।

§ ६. किञ्च, कारणत्वाद् यथा अर्थाकारो भवति तथा चक्षुरादेरपि स्यात् । अयोग्यत्वात्  
न इति चेत्; तर्हि योग्यतैवास्तु किमाकारेण ? । तेन यदुक्तम्—“आकारमन्तरेणै

१. 'पादनविषया मु० क० । २. सकलादेशाः मु० । ३. तद्विज्ञान मु० क० । ४. ज्ञानान्तरप्रमाणा-  
न्तरम् । तद्विज्ञानं मु० क० । ५. तर्हि मु० । ६. 'स्यापि षट्ज्ञानस्यापि षट्ज्ञानं फलं क० । ७. निश्चयात्मकं  
प्रमाणं मु० क० । ८. 'मस्तु निश्चय' मु० क० । ९. अर्पयति मु० । १०. 'फलं च प्राप' क० ।  
११. प्रतीतेऽपरं मु० । १२. प्रतीत्येते अ० ब० । १३. प्रतीतेरेव मु० क० । १४. किमात्मैव मु० ।  
१५. पदमवाप्तं मु० । १६. 'रूपः फलं ब० क० । 'रूपफलं मु० । १७. 'यति जडता मु० क० ।  
१८. मीलाद् प्रतिबिम्बमात्रमेव अ० ब० । १९. अर्थाकारो क० । २०. 'न्तरे प्रति' मु० ।

प्रतिकर्मव्यवस्था न स्यात्” इति तन्निरस्तम् । ज्ञानमेव हि नियतार्थग्रहणे बोध्यमस्तु किमाकारेणेति । एतदेवाह—अर्थाद्बुधोपीत्यादि ।

§ ७. ‘यस्मादाकारवादिनापि वस्तुस्वाभावं आकारग्रहणे’ ज्ञानस्याभ्युपगमम् । तस्मात् तदेव नियतार्थग्रहणे ज्ञानस्यास्तु किं व्यवधिना ? । न च स्वाभाव्यमहेतुकम् । किन्तु कर्मणः क्षयोपपन्नमवैशिष्ट्याद् आत्मेव नियतार्थज्ञानाकारैतस्य परिणमेक्षांज्ञानार्थात् प्रतिपद्यते । इति स्थितम् ।

इत्यन्यलक्षणतमःपटलं निरस्य प्रत्यक्षमक्षिप्तममुल्लखदर्शनाय ।

मीसिद्धसेनचटितस्फुटगीःशलाकां शुद्धामवाप्य विमलं विहितं मयेवत् ॥ [ ३६ ]

॥ इति श्रीशान्ताचार्यनिरञ्जितायां चार्तिकवृत्तौ प्रत्यक्षपरिच्छेदः ॥

### ३. अनुमानपरिच्छेदः ।

§ १. एवं प्रत्यक्षस्य संख्या-लक्षण-गोचर-फलविप्रतिपत्ति निराकृत्य इदानीं परोक्षस्य तां निराकर्तुमाह—पूर्वमेव परोक्षस्य इत्यादिता ।

पूर्वमेव परोक्षस्य विषयः प्रतिपादितः ।

§ २. अनुमान-शैब्यलक्षणस्य परोक्षस्य ‘अ[वि]स्पष्टास्त एव स्युः’ [का० २३] इत्यादिना विषयोऽस्पष्टाविरूपः प्रतिपादितः न सामान्यम्, नाप्यन्यापोह इत्यर्थः । तथा हि— सामान्येऽर्थक्रियाशून्येऽनुमानादेः प्रतीयमानेऽपि नार्थक्रियार्थी ततः प्रवर्तते ।

§ ३. अथ कामर्थक्रियां सामान्यं न करोति ? । यद्यन्यसाध्याम्, तदा अन्योऽन्यर्थ-क्रियाकाटी न स्यात् । न हि नीलमपि पीतसाध्याम् अर्थक्रियां करोति । अथ ससाध्यां तदा अभिन्नज्ञानाभिधानलक्षणां करोत्येव । कथमर्थक्रियाशून्यं सामान्यमिति ? । यद्येवं सुतरां न प्रवर्तते, तत्प्रतीतिफाल एव तदर्थक्रियायाः सिद्धत्वाविति । न चाभिन्नज्ञानाभिधाने सामान्यसाध्ये, तयोरसामान्यदर्शिनोऽपि छात्रविकल्पेषु भावात् । न चैकान्तमित्यस्य स्वविषयज्ञानोत्पत्तावपि सामर्थ्यमस्तीत्युक्तम् ।

§ ४. अथ तत्प्रतीयमानं विशेषेषु प्रवर्तयति । तदसत् । न हि अन्यस्मिन् प्रतीयमाने अन्यत्र प्रवृत्तिर्भुक्ता, अतिप्रसंगात् । संबन्धात् प्रवृत्तिरिति चेत् । नैतदस्ति । न ह्येकभातु-प्रतीतौ द्वितीयप्रवृत्तिर्दृश्यते । अथ सामान्यं विशेषैर्विना न संभवति तेन तेषु प्रवर्तयति । ननु सामान्यं किम् अवशिष्टं प्रतीयमानं विशेषेषु प्रवर्तयति किं वा विशिष्टमिति ? । यद्य-विशिष्टं तदा तत् सामान्यं प्रतीयमानं विशेषमन्तरेणानुपपद्यमानं सल्लिख्यादावपि प्रवर्तयेत् ।

§ ५. अथ विशिष्टं तदा वैशिष्ट्यं वक्तव्यम् । किं तत्र समवायः, किं वा ‘तत्त्वैवम्’ इति प्रतीतिरिति ? । न समवायः, तस्य निरस्तत्वात् । साधारणस्य च समवायस्य न विशेषकारित्व-

१. अतादुपी० जु० । अतादुपी०ऽपि क० । २. ‘ग्रहणात्’ जु० । ग्रहणात् क० क० । ३. ‘करा-  
तवाती’ जु० । ४. परिणतक्षांक्षात् क० । ५. श्री अ० ब० क० । ६. ‘तत्त्वैवम्’ क० जु० क० ।  
७. प्रवर्तये अ० ।



मिति । द्वितीये तु पक्षे इतरेतराभ्यस्तम् । तथा हि — विशिष्टसामान्यप्रतीतौ विशेषप्रतीतिः, तत्प्रतीतौ विशिष्टसामान्यप्रतीतिरिति । किं च 'तत्स्येदम्' इति प्रतीतावपि नियतदेश-विशेषाप्रतीतौ नालुमानादेः प्रवर्तते । व्याप्तिग्रहणकाले च वैकल्याणसामान्यस्य सिद्धत्वात् गृहीतमादित्वेन च सामान्यं न स्यात् इति । विशेषोऽपि सामान्येन प्रतीयत इति चेत् ; सामान्येन इति कोऽर्थः ? किं सामान्यमेव सामान्यं प्रतीय प्रतीयते किं वा विशेष इति ? यदि सामान्यं तदा तेनापि पुनरन्यत् सामान्यं ततोऽप्यन्यदिति अनवस्था । नैपि विशेषः, कमाननुभवात् ।

§ ६. अथ नास्ति लक्ष्यौ किन्तु युगपदुभयं प्रतीयते । नैतत्ति, उभयाप्रतीतेः । न हि एकं इण्वाचमानं सामान्यम्, अपरो विशेषः तत्र लक्ष्यते । उक्तम् ।

"दोहि वि जयहि नीयं सत्यमुत्पन्नं तद् वि मिच्छतं ।

अं सविस्वप्नहाणस्येन मञ्जोन्निरवैक्या ॥" [ वनसि १.४९ ]

अथभिन्नसामान्यप्रतीतौ नियतदेशविशेषप्रतीतिः । एवं हि अक्षेयविशेषप्रतीतिरपि स्यात् । तथा हि — यद् यस्मादभिन्नस्वरूपं तत् तस्मिन् प्रतीयमाने प्रतीयते । यैकैक्यस्य सामान्यप्रतीतौ व्यक्त्यन्तरसामान्यम् । अभिन्नस्वरूपं च व्यक्त्यन्तरमिति । कृष्णादेर्विशेषण-  
"सामप्रतीतिरिति चेत् ; न, विशेषणानामभेदे" प्रतीतिः स्यात् । भेदेऽप्युपाधिमति निम्नीय-  
मानेऽक्षेयोपाधीनामपि निम्नयः स्यात् । यस्मादभिन्नसामान्यप्रतीतौ अक्षेयव्यक्ति-  
प्रतीतिर्भवेदिति ।

§ ७. किञ्च, —

"कक्षात् साक्षादिमत्सेव गोत्वं यस्मात् तदात्मकम् ।

"तादात्म्यमस्य कक्षात्वेत् स्वभावादिति गम्यताम् ॥" [ श्लोका० भा० ४७ ]

एवमभ्युपगममुपदर्शये दूषयति —

"अकिञ्चनमन्यजाता चेद् आगतानाभयान्तरात् ।

आगातीन् च तद्देहो सा तथा संगता कथम् ॥

अकिनाशे न चेन्नष्टा गता व्यक्त्यन्तरं न च ।

"तच्छून्ये न खिता देहो सा जातिः क्वेति कथ्यताम् ॥

न याति न च तज्जातीत् अस्ति पञ्चाक्ष चाक्षयत् ।

जहाति पूर्वं नाधारम् महो व्यसनस्तततिः ॥"

एवं तादात्म्यपक्षोपि न युक्तः । तस्माद्विशेषा एव सैमानपरिणामवन्तोऽप्यष्टाः परोक्षस्य विषया इति । तन्नु विशेषविषयत्वेऽनुमानादेः कथं न तार्णादेः प्रतीतिः ? न, दूरप्रत्यक्षेऽपि  
"तज्जाऽप्रतीतेः । तदेवं न सामान्यं विषयः ।

§ ८. नाप्यन्यापोहः । स हि पर्युपासकूपो वा स्यात् प्रज्ञव्यरूपो वा ? प्रथमपक्षे

अपोह- वस्तुवन्तरमेव स्यात् । तच्च सामान्यं वा विशेषो वेति विधिरेव शङ्कायाः स्यात् ।

मिरावः । द्वितीये तु निषेधमात्रमेव प्रतिपाद्यते । तस्य च शङ्कावर्धयत्वमयुक्तम्, अप्रतीतेः ।

१. 'जाति' - अ० ब० । २. 'यस्या' अथ मु० क० । ३. लक्षणं मु० क० । ४. अविशेष-  
विशेषे क० । ५. 'मनेदम्' अ० मु० क० । ६. 'इत्यन्ति' मु० क० । ७. सामान्यपरि क० ।  
८. 'मिव' इति क० ।

तथाहि—परप्रतिपादनार्थं तस्य प्रयोगः । परस्तु नीलाद्यर्थी नानीलनिषेधमात्रं जिज्ञासति । प्रतिपादकोऽपि तथैव प्रतिपादयति । अजिज्ञासितं प्रतिपादयन्न प्रेक्षापूर्वकारी स्यात् ।

§ ९. अथ 'किम् आनयामि' इति जिज्ञासायाम् अनीलमपि जिज्ञासितं नीलमित्युक्ते निषिध्यते । नैव<sup>१</sup> प्रतिपाद्यस्य विधावेव जिज्ञासा न 'निषेधमात्रे । प्रतिपादकोऽपि तथैव प्रतिपादयति । सामर्थ्यादन्यप्रतिपत्तिरिति । नैतदस्ति, प्रतिपाद्यस्य सामान्येन विधावेव जिज्ञासा न प्रतिषेधमात्रे । 'विधिप्रतिपत्तौ सामर्थ्यादन्यप्रतिषेध इति ।

§ १०. किञ्च, अयमपोहो भावे भावस्य वा प्रतीयते<sup>२</sup> केवलो वा ? । प्रथमपक्षे भावयोः प्रतीतिः किं तेनैवानुमानादिना, किं वा प्रमाणान्तरेण ? । यदि तेनैव तदा किं भावौ प्रतीय प्रतीयते किं वाऽपोहं<sup>३</sup> प्रतीय ताविति ? । न तावत् प्रथमपक्षः । नहि नीलशब्देन अनीलं प्रतीयते । प्रतीयमानत्वे वा कथं तन्निषेध इति ? । नीलं च प्रतीय अनीलापोहं प्रतीयौ स्तैलन्ती प्रतीतिः स्यात् । अथ नीलमेव अनीलापोहात्मकं प्रतीयमानमुभयव्यवहारं रचयति; तर्हि आयातोऽस्यत् पथमिति । नापि द्वितीयः पक्षः । नहि केवलोऽपोहः प्रतीयते पञ्चात्ताविति, अननुभवात् । नापि प्रमाणान्तरं किञ्चित् तत्र अनीलप्रत्यायकमस्ति, येन तदपोहः प्रतीयेत । न चाभावेन भावस्य कश्चित्संबन्धः संभवति इत्युक्तम् । तस्मात् भावसंबन्धित्वेनापोहस्य प्रतीतिरिति । केवलस्य च सस्य प्रतीयौ सर्वशब्दानां पर्यायता<sup>४</sup> स्यात्, लिङ्गलिङ्गिनोरभावश्च भवेत् । तथाहि—यदेव लिङ्गशब्दवाच्यम् तदेव लिङ्गिशब्द-स्यापि । तथा विशेषण-विशेष्यभावोऽपि न स्यात् । असत्त्वं च जगति न किञ्चिदस्ति यदपोहेन सत्त्वाख्यं साधनं भवेत् ।

§ ११. अथासत्यपि बाह्ये वासनानां नानात्वात् तज्जनितानां ध्वनीनां न पर्यायतेति । तत्र, वासनानामपि नानात्वानुपपत्तेः । ता हि अनुभवनिकबन्धनाः । एकस्यस्य चापोहस्यै<sup>५</sup> प्रतीयौ कथं वासनानामपि नानात्वमिति । तथा, अकारलोपोहस्यैकरूपत्वादतीतानागत-वर्तमानताव्यपदेशा नोपपद्येरन्निति । अक्रियानिषेधस्य वा भावैकरसस्य सद्भावे अकारणीत् करोति करिष्यतीति च व्यपदेशानुपपत्तिरिति । वचनलिङ्गभेदश्च न स्यात् । तथा, सर्व-प्रमे-यैर्दिशब्दानामसर्वादेर्भावात् अपोह्याभावेन अपोहवाचकत्वं न स्यात् । अपि च, अपोहः किम् आश्रितः, अनाश्रितो वा ? । अनाश्रितत्वे न कस्यापि । आश्रितत्वे गुणो वा स्यात्<sup>६</sup> सामान्यं वा भवेत् । तथा हि—यदि प्रतिव्यक्त्यनेकस्तदा गुणः । अयैकः तदा सामान्यमिति ।

§ १२. अथापोहोऽनेन इति ज्ञानाकारः, अपोहोऽस्मिन्निति स्वलक्षणम् । अपोहन-मपोह इति अन्यनिषेधः । तदेवं विधिरूपापोहाभ्युपगमात् निषेधमात्रे यद्वचनं तदसविति ।

१. प्रेक्षाकारी ख० मु० क० । २. निषेध्यते मु० । ३. नैवं क० । ४. न प्रतिषेधं मु० क० । ५. विप्रति<sup>७</sup> अ० । ६. प्रतीयते मु० क० । ७. 'पोहप्रतीताविति क० । ८. प्रथमः पक्षः क० । ९. नीलं वा प्रती<sup>८</sup> मु० क० । १०. पोहे प्रती<sup>९</sup> अ० । ११. संबलं मु० । १२. नील-लमेव<sup>१०</sup> मु० क० । १३. च प्रतीयते मु० क० । १४. स्यात् । अथासत्त्वं अ० । १५. न किं मु० क० । १६. यदापो<sup>११</sup> अ० । १७. चापोहप्र<sup>१२</sup> मु० क० । १८. 'नानां नानात्वं क० । १९. तथा-कारपोहं क० । २०. 'स्य नामां ख० मु० । २१. 'वादिता' अ० । २२. देव भावात् क० । २३. 'मिति । अपोहोऽनेन, अथापोहोऽस्मिन्निति अ० ।

तथाहि — न तावत् सामान्यं शब्दाविषयः, अविद्यमानत्वात् । नापि स्वलक्षणम्, प्रत्यक्ष-  
बन्धाच्चेऽप्रतिभासनात् । तदुक्तम् ।

“शब्देनाव्यापृताशस्य बुद्धावप्रतिभासनात् ।

अर्थस्य दृष्टाविषय तच्छब्दाः कल्पितगोचराः ॥”

इति । नापि ज्ञानम्, तस्यापि स्वलक्षणत्वात् । नापि ज्ञानाकारः । किन्तु स एव दृश्य-  
विकल्प्यावेकीकृत्य बहीरूपतयाऽप्यस्तोऽर्धपञ्चमाकारः । वैभाषिकाणां तु आकाराभावा[त्] ज्ञान-  
मेव बहीरूपतयाऽप्यस्तमर्धवस्तुर्याकारोऽपोह इति न निषेधमात्रः केवलः, तस्य विधिरूपतया  
वस्तुनि प्रतीयमाने सामर्थ्यात् प्रतीतेरिति<sup>१</sup> । कल्पिताकल्पिततया स्वपरदर्शनयोर्भेद  
इति । अतश्च —

“तर्धे भाषाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः ।

स्वभावपरभाषाभ्याम् यस्माद् व्यावृत्तिभागिनः ॥” [ प्रमाणवा० ३.३९ ]

“तस्माद्यतो यतोऽर्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः ।

जातिमेवाः प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः ॥

तस्माद्यो येन शब्देन विशेषः संप्रतीयते ।

न स शक्यस्ततोऽन्येन तेन भिन्ना व्यवस्थितिः ॥”

[ प्रमाणवा० ३.४०, ४१ ] इति

§ १३. तेन न सर्वशब्दानां पर्यायता । नापि लिङ्गलिङ्गिनोरभाषः । विशेषणविशेष्या-  
भावो वा । तथा हि — स्वकारणादेव भाषाः सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्ता जायन्ते ।  
तेनानेकव्यावृत्त्यात्मकेषु भावेषु एकव्यावृत्त्या निश्चयेऽपि व्यावृत्त्यन्तरेणाऽनिश्चिताः । तन्निश्च-  
याय शब्दलिङ्गप्रयोगो न पर्यायतामाप्नोति । वस्तुभूते चोपाधौ प्रवर्तमानः शब्दः उपाधि-  
मन्तमशेषोपाध्युपकारकं निश्चाययज्ञशेषोपाधीनां निश्चयात् पर्यायतां शब्दान्तराणामापादयेदि-  
त्यादयो दोषा वास्तवे शब्दार्थे प्रन्थकारैः प्रतिपादिताः । तस्माद् अपोहपक्षो व्यायानिति ।

§ १४. अप्रोच्यते — यस्मादुक्तम् ‘दृश्यविकल्पयोरैकीकरणमपोहो न तुच्छरूपः’ इति ।  
तदेकीकरणं किं तेनैव ज्ञानेन किं वा ज्ञानान्तरेणेति ? । न तावत् तदेव विज्ञानं स्वाकारं  
“दृश्यं च पृथक् प्रतिपद्य ऐक्यं प्रतिपद्यतेऽप्रतीतेः, क्षणिकत्वाच्च । नापि ज्ञानान्तरम् ।  
तद्विभिन्नं” वा स्यात्, एकं वा भवेदिति ? । भिन्नं कथम् ‘ऐक्यं प्रत्येति ? । स्वसंवेदनं हि  
ज्ञानविषयं, दर्शनं तु दृश्यविषयमिति । एकं तु यदि द्वयं प्रत्येति कथमैक्यं । अयैक्यं  
प्रत्येति । कथं द्वयोरैक्यमिति ? ।

§ १५. अथ वासनार्प्रतिबोधात् विकल्पविज्ञानं सकल[स]जातीयसाधारणम् उत्पद्यते  
इत्येकत्वग्रहणमुच्यते । न, वस्तुभूतसमानपरिणाममन्तरेण सजातीयविभागानुपपत्तेरिति ।  
एकार्यक्रियाकारित्वात् सजातीयत्वमिति चेत्; क्रियायाः किम् अन्यक्रियैक्यादैक्यम्, किं

१. “स्तोर्वपञ्चमाकारा वै” क० । “स्तोर्वपञ्च” मु० । २. प्रतीतिरिति क० मु० । ३. “भ्यां व्यावृत्ति-  
भागिनो यतः — प्रमाणवा० । ४. यतो यतो क० मु० ब० । ५. तस्माद्विशेषो यो येन धर्मेण सं-  
प्रमाणवा० । ६. न शब्दा अ० । ७. “केषु एकव्या” मु० क० । ८. निश्चित्याशे मु० क० ।  
९. यथावदु मु० क० । १०. तेनैव ज्ञानान्तं क० मु० । ११. प्रतिपाद्य क० । १२. अनेकं अ-टि० ।  
१३. एकम् मु० । १४. वासनाप्रबो मु० क० । १५. न च वस्तु क० । १६. सहजा अ० ।  
१७. “जातीयानि” क० ।

वा स्वरूपेणेति ? । प्रथमपक्षे अनवस्था । द्वितीये त एव अर्थक्रियाकारिणः किं नैकी-  
मवति ? । अभ्युपेतहानिश्चेति । तदेवमत्र बहुवक्तव्यम् । तत्र नोच्यते विस्तरभयादिति ।  
तन्मापोद्बोऽपि परोक्षस्य विषय इति । [ ३७ ]

§ १. एवं विषयविप्रतिपत्तिं निराकृत्य इदानीं फलविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह—प्रमाण-  
फलसङ्गाथ इति ।

प्रमाणफलसङ्गाथो ज्ञेयः प्रत्यक्षबहुवैः ॥ ३७ ॥

§ २. यथैव हि प्रत्यक्षस्य प्रमाणमेव फलम् अर्थोधिगतिरूपं, तदेव च प्रमाणं परिच्छेद-  
कत्वात्, तथा परोक्षस्यापि विज्ञेयमिति । [ ३७ ]

§ १. संख्याविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाह—परोक्षं द्विविधम् इति ।

परोक्षं द्विविधं प्रादुर्लिङ्ग-शब्दसमुद्भवम् ।

लैङ्गिकात् प्रत्यभिज्ञादि भिन्नमन्ये प्रचक्षते ॥ ३८ ॥

§ २. अक्षाणां परं परोक्षम् । कौरस्करादित्वात् सुहागमः । द्वौ विधौ प्रकारावस्येति  
द्विविधम् । द्वैविध्यमेवाह—लिङ्गशब्दसमुद्भवम् इति । लिङ्गजनितं, शब्दजनितमेव परो-  
क्षार्थनिश्चायकं नान्यदिति ।

§ ३. नन्वन्यदपि प्रत्यभिज्ञादिकं परोक्षं मन्यन्ते । तदेवाह—लैङ्गिकात् प्रत्यभि-  
ज्ञादि भिन्नमन्ये प्रचक्षते—समानतन्नाः, “परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि विधा भुत-  
मतिरिति” वचनात् इति । तदयुक्तम् । यतः श्रौतं त्रिविधं भवति ।  
न त्वविप्लवम् । तथा हि—प्रत्यक्षेण परोपदेशसहायेन यज्जन्यते ज्ञानं तच्छ्रौतम् प्रत्यक्षपूर्वकम् ।  
तथा लिङ्गेन परोपदेशसहितेन जनितं श्रौतं लिङ्गपूर्वकम् । परोपदेशेन तु केवलेन जनितम्  
शब्दपूर्वमिति । एवं त्रिविधं भवति श्रौतम् । न त्वविप्लवं प्रमाणमित्यर्थः । प्रत्यक्षे हि ॥  
परोपदेशस्यानर्थकत्वात् । अथ तत्रापि किञ्चित् परोक्षम् । तर्हि तत्रानुमानमेव स्यात्  
तथा हि—परोक्षं ‘हि वस्तु न साक्षात् प्रतीयते किन्तु अन्यदर्शनात् । अन्यस्माच्च यदि  
अनियतात् प्रतीयेत तदा यतः कुतश्चित् सर्वं प्रतीयेत । नियताच्च प्रतीतौ लैङ्गिकमेव ।  
तत्र र्यदक्षानुसारि प्रत्यभिज्ञानं तत् प्रत्यक्षमेव । न श्रौतम् । यत्तु प्रत्यक्षानिश्चितम्  
दृष्टसाधर्म्याद् अर्थक्रियाकारित्वं निश्चीयते तल्लैङ्गिकमेवेति कुतश्चिविधं परोक्षमिति ? [ ३८ ] ॥

§ १. अत्रायमपि बहिर्दीहादिसमर्थ इति सामर्थ्यविषयं प्रत्यभिज्ञानं न प्रत्यक्षम्,  
प्रत्यभिज्ञा- सामर्थ्यस्य परोक्षत्वात् । नाप्यनुमानम्, व्याप्तिस्मरणाद्यनुभवात् । तस्मात्  
विचारः । प्रमाणान्तरमिति । तदयुक्तम् । यस्मात् न सामर्थ्यं बहिरन्यत् । ततः प्रत्यक्षेण  
तत्स्वरूपमनिश्चयादेव सामर्थ्यस्य निश्चयात् । यो हि दाहिकां क्षातिं न जानाति स बह्विमपि ।  
तत् स्वरूपपहारे भिन्नं सामर्थ्यमिति चेत्; न, मन्नादेः तथाभूतस्यैव बह्विस्वरूपस्य ॥  
पर्यायस्योत्पत्तेरिति । भवतु वै सामर्थ्यम् । तन्निश्चयो मूलस्य दृष्टसाधर्म्यादनुमानमेव

१. तदेव प्रमाणं अ० ब० । २. विज्ञानमिति अ० क० । ३. पारस्कं मु० । ४. ‘देष्टारहि’ मु० ।  
५. शब्दपूर्वकमिति मु० । ६. परोक्षं वस्तु अ० ब० । ७. प्रतीतिलैङ्गिकमेव ब० मु० । प्रतीतिलैङ्गिक-  
मेव क० । ८. मदाक्षां क० । ९. यो दाहि क० । १०. ‘स्पतिरिति क० । ११. भवतु सामं  
क० मु० ।

इत्युक्तम् । न्यायस्वरूपं तु कश्चिदस्माद् भूमदर्शनात् बहिःप्रतिपत्तौ अपि दृष्टम् । अत्र  
अर्थित्वात् पूर्वमेव सर्वस्य कृतरत्वात् तथा प्रतिपत्तिः । अत्रापि समानम् ।

§ २. किञ्च, किं तत् प्रमाणान्तरम् ? । श्रौतमिति चेत् ; किमिदं श्रौतम् ? किं  
शब्दविषयम्, किं वा शब्दोल्लेखीति ? । प्रथमपक्षे श्रोत्रेन्द्रियज्ञानं सकलमेव श्रौतम्  
स्यात् । तथागमविरोधीति । तथा हि — अष्टाविंशतिभेदमतिज्ञानाभिधायी जिनगमः । स  
चैवं त्यक्तः स्यात् । अथ शब्दोल्लेखि । एवमपि मतिज्ञानम् श्रौतं स्यात् । सविकल्पकं च  
सकलं प्रमाणं प्रसज्येते । तमेवं श्रौतस्य लक्षणम् । किं तर्हीत्याह — परोपदेशजं श्रौतम् इति ।

परोपदेशजं श्रौतं मतिं शेषं जगुर्जिनाः ।

परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि त्रिधा श्रौतं न युक्तिमतम् ॥ १९ ॥

§ ३. परस्मै परस्मादुपदेशः परोपदेशः । तस्माज्जातं यत् ज्ञानं तत् श्रौतं जगुर्जिनाः ।  
तथा चागमः ।

“सुयकारणं जज्ञो सो सुयं च तत्कारणं तं उ तस्मि ।

कीरह सुभोवयारो सुयं तु परमत्यजो जीवो ॥” [ विशेष० १९ ]

अव्यायमर्थः — श्रौतस्य ज्ञानस्य कारणं यतः स इति शब्दः । श्रौतं वा तत्कारणं  
तस्य शब्दस्य हेतुः । ततः तस्मिन् शब्दे क्रियते श्रुतोपचारः । कारणे कार्योपचारात्  
कार्ये वा कारणोपचारादिति । परमार्थतस्तु जीव ईव श्रुतमिति । ज्ञानस्य जीवात्  
कश्चिदभिज्ञत्वादिति ।

§ ४. नन्वनेन शब्दस्य जन्यं जनकं वा ज्ञानं श्रुतमभिहितम्, न तु सकलमेव  
परोपदेशजम्, शरीरवेष्टालक्षणेन उपदेशेन जनितस्यासंग्रहात् । न, शब्दस्योपलक्षणत्वात् ।  
यथा सापि शब्द एव इत्याह ।

“सां चिय सहस्यो चिय जं तस्मि कयंमि पचभो होति ।

कत्ता वि हु तद्भावे” तदभिप्रायो कुणति” चेदुं ॥” [ विशेष० १०५ ]

अथमर्थः । सां चिय च इत्यादिसंज्ञा परबोधनाय क्रियमाणौ शब्दस्थाने प्रयुक्तत्वात्  
शब्दार्था । शब्दस्य अर्थो यस्माः सा शब्दार्था । शब्द एवेत्यर्थः । कुत एतद्वित्याह — यत्  
तस्मां कृतायां प्रत्ययो भवति प्रतिपाद्यस्य । चेष्टायाः कीलिकत्वेऽपि प्राकृतत्वात् लिङ्ग-  
व्यत्ययः । एतदेव समर्थयति — कर्तापि चेष्टायाः । दुरिति यस्मादर्थे । यस्मात् कर्ताऽपि  
तद्भावे शब्दाभावे सूक्तत्वात् । तदभिप्रायः शब्दार्थप्रतिपादनाभिप्रायः । करोति  
चेष्टाम् इत्यादिलक्षणां इत्यर्थः । तस्मात् परोपदेशजं श्रौतमिति । तेनैव कश्चित्  
शब्दभावेऽपि श्रौतम् । सत्यपि च शब्दे शब्दोल्लेख्यपि कश्चित् श्रौतमिति । अत एव आह ।  
मतिं “शेषमिति । अपरोपदेशसम्बन्धजनितां मतिं प्रतिपादयन्ति स्म । “श्रुतनिःसृता च”  
इति वचनात् ।

१. कृतत्वात् अ० ब० मु० । २. प्रसज्यते अ० ब० । ३. उपदेशः तस्मां मु० । ४. “रं ति  
तो तस्मि-विशेष० । ५. कार्योपचारादिति अ० ब० । ६. “मार्थतः जीव” मु० क० । ७. जीवः श्रौतमिति  
मु० क० । ८. जनकं जन्यं वा । ९. सा वा सहस्यो चिय तथा वि जं तस्मि पचभो होति विशेष० ।  
१०. तद्भावेऽपि तद् क० । ११. कुणति विद्वं विशेष० । १२. सा च मु० क० । १३. “मायसं” मु० ।  
१४. तथाभावे अ० । १५. चेष्टा इ” मु० क० । १६. “क्षणा इत्यर्थः मु० क० । १७. तत् क” अ० । तेन  
शब्दा” मु० । १८. कश्चिदाशौ अ० ब० मु० । १९. शेषमिति अ० ब० क० । २०. “परोपदेशजनितां अ० ।

§ ५. तस्मात् यदि प्रत्यभिज्ञा आत्मोपवेक्षजनिता तदा प्रत्यक्षार्थविषयत्वात् न प्रमाण-  
त्वरम् । अथानात्मजनिता तदा च्छात्रविकल्पवत् न प्रमाणमिति निगमनमाह — परोक्षं प्रत्य-  
भिज्ञादि इति । प्रमाणभूतं श्रौतं त्रिवेति न युक्तियुक्तमिति । [ ३९ ]

§ १. आत्मवाचामाह — अन्यथेहादिकमिति ।

अन्यथेहादिकं सर्वं श्रौतमेवं प्रसज्यते ।

यद्योक्तं नागमापेक्षं मानं तस्माच्चजृम्भितम् ॥ ४० ॥

§ २. यदि सविकल्पकं सकलमेव श्रौतं तदा ईहादि आदिग्रहणत्वात् अवाच्येहादिपरिग्रह  
इति । सकलमेव जृम्भोलेखितत्वात् श्रौतं स्यादिति ।

§ ३. अथ कचिदागमस्यागोऽपि, यथा इन्द्रियज्ञानं परोक्षमपि प्रत्यक्षं प्रत्यक्षापीति ।  
तदयुक्तम् इत्याह — यथैत्यादि । तद् दिगम्बराणां आकषविलसितम् । तथा हि — सकल-  
वस्तुज्ञानापेक्षया परोक्षमिन्द्रियज्ञानमुक्तम् । न त्वेकस्मिन्नङ्ग इति । तत् सितम् द्विषा  
श्रौतमिति । [ ४० ]

§ १. एवं द्वैविध्यं व्यवस्थाप्य इदानीं लैङ्गिकं परोक्षं व्याख्यातुमाह — लिङ्गालिङ्गिनि  
इत्यादि ।

लिङ्गालिङ्गिनि यज् ज्ञानमनुमानं तदेकधा ।

प्रत्येति हि यथा वादी प्रतिवाद्यपि तत् तथा ॥ ४१ ॥

§ २. लिङ्गात् लिङ्गविषयमपि ज्ञानं भवति इति लिङ्गग्रहणम् । लिङ्गिन्यपि तदेकस्मितस्य  
अनुमान-  
विकल्पकम् । प्रत्यक्षं भवतीति लिङ्गग्रहणम् । ननु तस्य तल्लिङ्गमेव न भवति, यस्तु लिङ्गि तस्य  
न लिङ्गमन्तरेण तत्र ज्ञानमिति किं लिङ्गग्रहणेन ? । ये लिङ्गमेवानुमानं मन्वन्मो  
क्षमिरासार्थं लिङ्गग्रहणमिति । लिङ्गात् यत् लिङ्गिनि ज्ञानं तदनुमानं न लिङ्गमेवेत्यर्थः ।  
यथेवं तथा लिङ्गिनि ज्ञानमिहोपास्तु । अनेन हि तत् सुनिरस्तं भवति । न, एवं हि प्रति-  
पत्तिगौरवं स्यात् इति लिङ्गग्रहणमिति ।

§ ३. स्वार्थपरार्थभेदेन द्वैविध्यं प्रतिपन्नाः तन्मिरासार्थमाह — तदेकधेति । एकप्रकारेण  
परोक्षार्थस्य प्रतिपत्तिरिति । तदेवाह — प्रत्येति हि यथा वादी प्रतिवाद्यपि तत् तथा —  
इति । द्विर्यस्यादर्थः । यस्मादन्यथातुपपन्नलिङ्गात् यथा स्वयं वादी परोक्षं वस्तु  
प्रत्येति प्रतिवाद्यपि तथैव तत् स्वयं निमित्तात् लिङ्गात् प्रत्येति न परवचनामिति । तथा हि —  
परवचनं यदि प्रमाणं तथा किं निरूपवचनेन ? , प्रतिज्ञाभावेनैवावर्तसिद्धेः । अथाप्रमाणं  
तदा कथं क्वो लिङ्गमस्तिपरिरेषि ? । अथ प्रत्यक्षमेव तत्र प्रमाणं 'पश्य सृगो भावति' इति-  
र्हेत् संयुक्तीकरवादानुमानत्वम् । न, अक्षिनिकोचादेरपि स्यात् । [ ४१ ]

§ १. अथ ज्ञानस्य सर्वथाऽप्रमाणत्वात् अनुमानोपचारात् प्रामाण्यं नान्यथेति कथाप-  
नार्थमित्याह — उपचारेण चेत् तत् स्यादिति ।

१. त्रिवेति अ० ब० । २. 'नादपोहादिपरि' अ० मु० क० । ३. इन्द्रियजं ज्ञानं मु० ।  
४. यथैत्यादि मु० क० । ५. तन्मिहमेव मु० । ६. तस्य लिङ्गमन्तरेण न तत्र अ० । ७. 'मित्यवस्तु  
क० मु० । ८. निदिः क० । ९. 'रिति अ० ब० मु० । १०. इति तत्त्वं अ० क० मु० ।

उपचारेण चेत् तत् स्यादनवस्था प्रसज्यते ।

§ २. यद्यनुमानोपचारमात्रेण अनुमानत्वं वचनस्य तदा पुरुषादेरपि स्यादित्याह—  
अनवस्थैवं प्रसज्यत इति । उपचारेण प्रामाण्ये यत्किञ्चिदिति दधिभक्षणान्तरिकमपि अनुमानं  
स्यादिति । शब्दस्य चाप्रमणीतत्वेन प्रामाण्यस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वादिति । तस्मादेकैवे-  
वानुमानमिति । [ ४२' ]

§ १. इदानीं अवयवान्तरनिरासेन यस्यावयवस्य साधनाङ्गत्वं तदाह—अन्यस्येत्यादि ।

अन्यस्यासाधनादाह लक्षणो(णं) हेतु-साध्ययोः ॥ ४२ ॥

§ २. अन्यस्योपनयनिगमनादेरसाधनादिति असाधनाङ्गत्वादित्यर्थः, हेतुसाध्ययोरेव  
लक्षणमाह ।

§ ३. ननु प्रतिज्ञामन्तरेणापि पक्षधर्मसंबन्धस्मरणादेव साध्यसिद्धेः किं तल्लक्षणकचनेन ? ।

प्रतिज्ञायाः तयः हि—साध्यवचनं यदि प्रमाणं तदा किं हेतूपन्यासेन ? । अथाप्रमाणं तदा  
साधनाङ्ग- लम् । किं तल्लक्षणेनेति ? । अथ प्रतिज्ञामन्तरेण 'यत् कृतकं तदनित्यम्' इति उक्ते न  
ज्ञायते किमयं साधर्म्यवान् प्रयोगः किं वा वैधर्म्यवानिति ? । तत्र 'अनित्यः शब्दः' इत्युक्ते  
साधर्म्यवान् प्रतीयते । 'अकृतकः शब्दः' इति तु वैधर्म्यवानिति । नैतदस्ति । पक्षधर्मवचनाद्वि-

॥ तन्निश्चयात् । तथा हि—'यत् कृतकं तदनित्यम्' इत्यभिधाय न कश्चिदास्ते साधनन्यूनता-  
भिधानादेव तस्य निरासात्, किन्तु पक्षधर्मोपसंहारं करोति । तत्र 'कृतकश्च शब्दः' इति  
यद्यभिधत्ते तदा साधर्म्यवान् प्रतीयते । यदि तु 'नित्यः शब्दः' इति तदा वैधर्म्यवानिति ।

§ ४. अथ सर्व एव काष्ठादिविषयं व्यवस्थाप्य कुठारादिसाधनं व्यापारयति । तदत्रापि  
विषयव्यवस्थापनार्थं प्रतिज्ञाप्रयोग इति । न, पक्षधर्मसंबन्धवचनदेव तदर्थस्य गतत्वात् किं  
॥ प्रतिज्ञाप्रयोगेण ? । किञ्च, स्वार्थानुमाने कोऽसौ साध्यं व्यवस्थापयति ? । अथार्थित्वात्  
प्रस्तावात् पक्षधर्माद्वा तद्व्यवस्था; परार्थानुमाने तथैवास्तु । एवमसाधनाङ्गत्वात् प्रतिज्ञां  
साधनाभिरस्मन्ति ।

§ ५. अत्रोच्यते—यदुक्तम् 'प्रतिज्ञा किं प्रमाणमुक्ताप्रमाणम्' इति तत्र प्रमाणमिति  
भ्रमः । तर्हि किं हेतूपन्यासेन ? । आप्तत्वसंदेहे तदुपयोगः । तन्निश्चये तु प्रतिज्ञामात्रादेव  
॥ साध्यसिद्धेः हेतूपन्यासोऽपि न युक्तः, किं पुनः त्रैलोक्यवचनमिति ? । [ ४२ ]

§ १. एतदेव दर्शयितुमाह—अन्यथानुपपन्नत्वमित्यादि ।

'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥' ४३ ॥

§ २. एतदुक्तं भवति—आप्तत्वसंदेहे अन्यथानुपपन्नादेव हेतुमात्रात् साध्यसिद्धेः किं  
॥ हेतोर्- त्रिरूपवचनेनेति ? । तथा हि—उपनयनिगमने तावत् सौगतेरेव निराकृते ।  
रूप्यनि- दृष्टान्ते दृष्टसामर्थ्यस्य हि हेतोः पुनर्धर्मिणि वचनमुपनयं वर्णयन्ति । तत्रा-  
रासः ।

१. 'नोपकार' क० । २. 'देकमेवा' अ० । ३. 'गमनादेरस्य अर्थित्वात् (पं० २०) मु० । गमना-  
देरर्थित्वात् (पं० २०) क० । ४. 'इत्युक्ता' ब० । ५. 'रस्यति मु० क० । ६. प्रमाणमिति मु० अ० ।  
७. तन्निश्चये हेतुम् ब० । ८. सिद्धिः मु० क० । ९. 'नेनेति तत्रायुजम् (पं० २२) क० ।

युक्तम् । पक्षधर्मवचनादेव तदर्थस्य गतत्वात् । अथानेन दृष्टसामर्थ्यस्य हेतोः व्यापनं क्रियते । तत्र, व्याप्तिवचनादेव सामर्थ्यसिद्धेः<sup>१</sup> । यदि चानेन समर्थहेतुव्यापनं क्रियते तर्हि इदमेवाऽस्तु, किं हेतुवचनात् ? तदेवम् उपनयं निरस्यन्ति । निगमनमपि अयुक्तम् । तथा हि—गृहीतव्याप्तिकस्य हेतोर्धर्मिन्युपसंहारादेव निगमनार्थस्य गतत्वात् किं तेन ? तदेवं त्रिरूप एव हेतुरिति ।

§ ३. एतद्वच्यन्ति—यत्र हेतौ साध्येन विनाऽनुपपन्नत्वं तत्र किं त्रैरूप्येण ? तदभावे 'स इयामः, तत्पुत्रत्वात्' इत्यादौ सत्यपि त्रैरूप्येऽगमकत्वादित्याह—नान्यथेत्यादि । तथा हि । नित्यानित्यात्मकं सर्वं सत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति उक्ते भवत्येवं साध्ये प्रतीतिः । अथ सर्वं नित्यं सत्त्वान्यथानुपपत्तेरित्यपि किं न भवति ? न, व्याप्तेरग्रहणात् ।

§ ४. अर्थं व्याप्तेर्दृष्टान्ते ग्रहणे सति कथं न त्रैरूप्यम् ? ननु दृष्टान्ते व्याप्तिग्रहणम्<sup>२</sup> यद्यसाकल्येन तदा र्बहिर्ध्याप्तिग्रहणेऽपि न साध्यधर्मिणि हेतोर्गमकत्वं स्यात् । अथ साकल्येन तदाऽनुमानं गृहीतमाहित्वादप्रमाणं स्यात् । अथ देशविशेषप्रतीत्यर्थमनुमानम् । तत्र । यत्र यत्र साधनं तत्र तत्र साध्यमिति आधारान्तर्भावेनैव व्याप्तेर्ग्रहणात् कथं न देशविशेषप्रतीतिः ? अथ आधारसामान्यस्यैव प्रतीतिर्नाधारविशेषस्य । किमिदं सामान्यम् ? किं विवक्षितसाध्यविशिष्टम्, किं वाऽविशिष्टमिति ? यदि साध्यविशिष्टं<sup>३</sup> तदा कथं न साध्यप्रतीतिः ? अथाविशिष्टं तदा न तत्र व्याप्तिरिति ।

§ ५. अथ विवक्षितदेशमन्तरेणापि व्याप्तेरखण्डनीयद्विशेषप्रतीतिरनुमानादिति । ननु स विशेषः व्याप्तिग्राहिणा प्रमाणेन प्रतिपन्नः, किं वा नेति ? यदि प्रतिपन्नः तदा किमनुमानेन ? अथ न<sup>४</sup> गृहीतस्तदा न तस्य व्याप्तावन्तर्भाव इति । तदेवं<sup>५</sup> व्याप्तिग्राहिणा प्रमाणेनान्यथानुपपत्तौ गृहीतायां न किञ्चित् त्रैरूप्येण ।

§ ६. अथ यदि व्याप्तिग्राहिणा प्रमाणेन साकल्येन व्याप्तिग्रहणं तदा किं हेतूपन्यासेन ? साध्यस्य सिद्धत्वादिति । सैलम्, प्रतिपाद्यार्थं हि तदुपन्यासः । तथा हि—द्विविधः प्रतिपाद्यः गृहीतव्याप्तिकोऽगृहीतव्याप्तिकश्च । तत्रागृहीतव्याप्तिकस्य व्याप्तिग्राहकप्रमाणोपदर्शनमेव नोपपद्येत प्रथमं हेतूपन्यासमन्तरेण । तत्र सपक्षायनपेक्षं प्रवर्तमानं<sup>६</sup> त्रैरूप्यं व्यपोहति । गृहीतव्याप्तिकस्य तु हेतोरुपदर्शनमात्रमेव क्रियते । एतत् तैरप्युक्तम्, “विदुषां<sup>७</sup> धाव्यो हेतुरेव हि केवलः” [प्रमाणवा० ३.२६] इति । तदेवं सति नियमे न किञ्चित् त्रैरूप्येण ? [४३]

§ १. “कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् ।

अविनाभावनियमोऽदर्शनाच्च न दर्शनात् ॥” [प्रमाणवा० ३.३०]

इति चेत्—न दर्शनादर्शनाभ्यां नियमं मन्यते । किन्तु तर्काव्यूहापरनाशः । तथा हि<sup>८</sup> प्रमाणात् तादात्म्यतदुत्पत्तौ यथा निश्चीयेते तथा नियमोऽपि निश्चीयतां किं व्यवधिना ? एतदेवाह—कार्यकारणसद्भाव इत्यादि ।

१. तदा मु० । २. सिद्धिः मु० । ३. रिति यत्र मु० क० । ४. तत्पुत्रत्वादौ अ० मु० । तत्पुत्रत्वादौ क० । ५. 'लेवं अ० । ६. भवति व्या० मु० । ७. अत्र क० । ८. तदा व्या० मु० क० । ९. अथ साकल्यं न मु० क० । १०. न विदुषां मु० क० । ११. साम्यस्यैव मु० । १२. 'वदना तदि मु० अ० क० । १३. अथ गृही० क० । १४. तदेव मु० क० । १५. असत्तमं मु० क० । १६. 'नानं व्यापो' अ० क० ।



कार्यकारणसद्भावात्सादात्म्यं चेत् प्रतीयते ।

प्रत्यक्षपूर्वकात् तर्कात् कथं नानुपपन्नता ॥ ४४ ॥

§ २. ननु न तर्कात् कार्यकारणत्वादि वस्तु निश्चीक्ये किन्तु बाधकप्रभावात् । तत्  
तर्कय  
न्याति-  
निर्णयः । कथमेतदिति ? । अत्रेवमुच्यते । किमिदं बाधकं प्रमाणम् ? प्रत्यक्षम् उक्तानुमान-  
मिति ? । तत्र यद्यनुमानम्, तदाऽनवस्था । नपि प्रत्यक्षम् । तद्वि निर्विकल्प-  
कत्वात् पुरो ऽवस्थितबोरोपि बहिष्कृतमनोः कार्यकारणभावं प्रत्येतुं न शक्नोति, किमत्र पुनः  
साकत्वेनेति ? । तस्माद् यदि दूमस्याभ्यात् किमपि कारणं स्यात् तदा अथमपि प्रथमे च  
वहेत्तत्त्वमान उपलभ्येत । ततो अभ्युपगते सकलमेवैतत् सर्वत्रैवंविधरूपमगच्छेत् अपेक्षत  
इति । तच्च तर्काद्यं प्रमाणं केचित् प्रत्यक्षं मन्यन्ते । अपरे अनुमानम् । अन्ये प्रमाणाभ्यन्तर-  
मिति । तदेवमन्यथानुपपन्नत्वमेव गमकत्वे निबन्धनं न वैकल्पिकमिति । [ ४४ ]

§ १. अथ अन्यथानुपपत्तिर्व्यतिरेकः । स च नान्यत्रान्वयेण चटते । तन्मातृत्वा हेतुः  
कचिद्विनिष्पत्तिर्हर्तव्यः, अन्यथा सर्वत्र प्रतीतिं प्राप्नुयेत्, न वा कचिदपीति । तत् कथं न  
वैकल्प्यमित्येतदाशङ्क्याह — व्यतिरेकोऽनुपपत्तिर्वैकल्पिकमिति ।

व्यतिरेकोऽनुपपत्तिर्वैकल्पिकमिति नान्वयम् ।

॥ कथं सत्यं विना तेन क्षणिकप्रत्यक्षसाधकम् ॥ ४५ ॥

§ २. नैतदस्ति । न हि सर्वत्रान्वयविनामूहो व्यतिरेकः परैरभ्युपगम्यते । तदुक्तम् —  
“यो हि सकलपदार्थव्यापिनी क्षणिकता इच्छति तं प्रति वदन्तस्वीयाभावादिभिः” ।  
एतदेवाह । कथमित्यादि । [ ४५ ]

§ १. इदानीं स्वसिद्धान्तमाह — विनाप्यन्वयमात्मादावित्यादि ।

॥ विनाप्यन्वयमात्मादौ प्राणादिः साधनं यदा ।

तदा स्यान्नान्वयापेक्षा हेतोः साध्यस्य साधने ॥ ४६ ॥

§ २. ‘नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम् अप्राणादिमस्त्वप्रसंगात्’ इत्यस्मिन् प्रयोगे केव-  
लोऽपि व्यतिरेको गमकत्वे निबन्धनमिति वर्णयन्ति ।

§ ३. अथात्मानमन्तरेण प्राणादिर्मस्त्वस्य अनुपपत्तिः कथं निश्चिता ? । स्वभाविषु  
नैरात्म्यस्य अप्राणादिमस्त्वेन व्याप्तेरिति चेत् ; ननु स्वभाविषु नैरात्म्यं कथं निश्चितम् ? ।  
न तावत् प्रत्यक्षेण । परीक्षत्वादात्मनः । तदभावात् नानुमानेन । पराभ्युपगमेन तु तन्निश्चये  
काल्पनिकत्वं हेतोः स्यादिति ।

§ ४. अत्रोच्यते । नित्यं सत्त्वादिप्रसंगात् प्राणादयोऽहेतवः । हेतुस्तेषां यद्यचेतनः, तदा  
स्वभाविष्वपि प्रसज्येरन् । सचेतनोऽपि किं नित्यः किं वा क्षणिक इति ? । न तावन्निश्चयः ।  
अप्रच्युतानुत्पन्नस्वैरैकरूपस्य न कदाचित्कियाविरामः स्यात् । यद्वा कदाचित् भवेदित्युक्तम् ।

१. ननु च न अ० । २. न तर्कय मु० । ३. “नान्वय” क० अ० । ४. “रूपय” क० ।  
५. स नान्वय” अ० च० मु० । ६. “रूपय” मु० । ७. “रूपय” अ० च० । ८. स्वसिद्धान्तमाह क० ।  
९. जीवच्छरीरं मु० । १०. निबन्धन इति मु० क० । ११. प्राणादिष्वपि क० मु० । १२. चेत् स्वभावं च० ।  
१३. हेतुस्तेषां मु० क० ।

क्षणिकमपि किं विद्यमानं कार्यं करोति, किं वाऽविद्यमानम् ? । प्रथमपक्षे तर्कितव्यम् ।  
मेककालताम्रसङ्गः । द्वितीये तु पूर्वमेव कार्यमुत्पद्यते कारणाभावाऽविशेषात् । अथ  
काळभाषित्वं कारणत्वम् । उत्तरक्षणभाषित्वं किं न भवति ? । को हि पूर्वोत्तरक्षण-  
योर्विशेषः ? , कश्चिद्यमानमिति हि हेतुत्वात्, अपरस्य च कर्तृत्वत्वान्मुपगमात् । अथ पूर्वमेव  
कार्यस्य सङ्गादे किं कारणेन ? । उत्तरमपि कार्यस्य सङ्गादे किं कारणेन ? । तस्मिन् सति  
उत्तरस्य भाषादिति चेत्; पूर्वस्यापि समानम् । अथैवमस्तु, तथापि क्षणिकस्य कर्तृत्वं  
सिद्धमिति चेत्; न सिद्धम्, सत्तामात्रेण कर्तृत्वे सर्वकार्यकर्तृत्वं स्यात् । स्वसन्तानमेव कार्यं  
करोति नाम्बसन्तानमिति चेत्; न, इत्येतराभयप्रसङ्गात् । तथा हि — कार्यत्वात् एकसन्ता-  
नत्वम्, एकसन्तानत्वात् कर्तृत्वमिति । तत्र क्षणिकस्यापि कर्तृत्वम् । तस्मात्कार्यविद्वज्ज्ञ-  
पूर्वरूपस्य इत्येतेषोत्तरयोस्तदेषु कार्येषु परिणमतः कर्तृत्वं नाम्बस्येति । तत्र प्राप्याविरात्मान-  
मन्तरेणोपपद्यते इति विपक्षव्यावृत्तिरेव अन्यमन्तरेणापि गमिकेति । [ ४६ ]

§ १. ननु संबन्धमन्तरेण कथमन्यथापुनरुत्पत्तिरिति चेत् — संबन्धिभ्याम् इत्यादि ।

संबन्धिभ्यां विभिन्नयोश्च संबन्धः स्यात्त लोच्यते ।

अनवस्था प्रसङ्गयेत तद्व्यवहारिकरूपमे ॥ ४७ ॥

§ २. तथा हि — संबन्धिभ्यां संबन्धः भिन्नः स्यात्, अभिन्नो वा ? । यद्यभिन्नः, तथा  
संबन्धो वा स्यात् संबन्धिनौ वा । अथ भिन्नः, तथा लोचकस्यो न तयोरेकाविति । अथ  
संबन्धमन्तरेण तयोरेकमिति । तस्मात्प्रमेदे पूर्वः प्रसङ्गः । मेदेऽनवस्था स्यादिति ।

§ ३. भिन्नः संबन्धेन किं संबन्धयोः संबन्धः क्रियते, यद्वा असंबन्धयोरिति ? । यद्य-  
संबन्धयोरिति, तथा सद्यविध्ययोः क्रियेत । अथ संबन्धयोः, तथा किं संबन्धेन ? , अत एव  
संबन्धतामिति । तस्मादपुनरुत्पत्तिरेव गमकत्वे निबन्धनम्, न संबन्धमन्तरमिति । [ ४७ ]

§ १. तदेवमन्यत्र निरस्य पक्षधर्मत्वं निरस्यमाह — कृत्तिकोदयपूरादेरित्यादि ।

कृत्तिकोदयपूरादेः कालादिपरिकल्पनात् ।

यदि स्यात् पक्षधर्मत्वं चाक्षुषत्वं न किं ध्वनौ ॥ ४८ ॥

§ २. कृत्तिकोदयस्य नदीपूरस्य । आदिमहणात् चन्द्रोदयादिः समुद्रप्रवृत्त्यनुमाने । तथा हि —  
पक्षधर्म- कृत्तिकोदयाद् रोहिण्युदयाशुमाने कालो धर्मी परिकल्प्यते । अपरि ईश्वरानुमाने  
भाषेऽपि नदीपूराद् देवविशेष इति । तथा समुद्रप्रवृत्त्यापि । पिपीलिकोत्तराणमलम्बविका-  
हेऽप्यम् । रावेर्ईश्वरानुमाने सूर्यविशेष इति । एवं यदि यत्किंचित् कल्पयित्वा पक्षधर्मत्वं  
व्यवस्थाप्यते तथा ध्वनौ अनित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वं पक्षधर्मः स्यात्, तत्रापि जगदो  
धर्मित्वेन कल्पनाविति । तथा हि — जगद्धर्मी अनित्यशब्दार्थं भवति इति साध्यो धर्मः  
धाक्षुषवदवस्था इति । तत्र पक्षधर्मत्वमपि गमकत्वे निबन्धनमिति । [ ४८ ]

१. विद्यमानं करोति क० । २. "विशेषमाह अ० । ३. "सात् तत्कर्तुं" क० । ४. "येन सिद्धं न  
प्राप्ता" मु० क० । ५. तथा संबन्धि" अ० अ० मु० । ६. संबन्धिना किं अ० । ७. किं संबन्धः क्रियते  
संबन्धयोः किं वा असंबन्धयोरिति क० । ८. इत्याह क० मु० । ९. भूत इति क० मु० । १०. "तत्र  
नवति मु० । ११. चाक्षुषत्वात् वदवदिति तत्र अ० । चाक्षुषतामिति तत्र अ० । चाक्षुषवदवस्थिति मु० ।  
प्या० १४

§ १. “विशेषेऽनुगमाभावात् सामान्ये सिद्धसाध्यता” इति अनुमानदूषणं परिहर्तुमाह—  
समानपरिणामस्येत्यादि ।

**समानपरिणामस्य द्रव्यस्य नियमग्रहे ।**

**नाशक्तिर्न च वैफल्यं साधनस्य प्रसज्यते ॥ ४९ ॥**

§ २. तुल्यपरिणामयोर्द्वयोर्लिङ्गसाध्ययोर्नियमग्रहेऽन्यथानुपपन्नत्वग्रहे सति नाशक्तिः, अनुगमात्, नापि सामान्यमात्रसाधनात् सिद्धसाध्यतादोषः । किन्तु विशेषा एव समान-परिणामिनः साध्यन्त इति । [ ४९ ]

§ १. एवं हेतुलक्षणमभिधाय इदानीं पक्षलक्षणमाह—इष्टं साधयितुं शक्यम् इत्यादि ।

**इष्टं साधयितुं शक्यं वादिना साध्यमन्यथा ।**

§ २. साध्याभासमशक्यत्वात् साधनागोचरत्वतः ॥ ५० ॥

§ २. सिद्धं प्रत्यक्षादिबाधितं वादिना साधयितुं न शक्यते । तथा, इष्टमपि साधन-  
पक्षस्य विषयीकृतं साध्यम् । नोक्तमेव । अन्यथेति उक्तविपरीतं साध्याभासम् । कुंठ  
लक्षणम् । इत्याह । अशक्यत्वाद् इति । सिद्धस्य साधयितुम् अशक्यत्वात् । तथा हि—  
यथा पूर्वं प्रमाणेन सिद्धमपि साधनमपेक्षते तथाऽनेनैव सिद्धमन्यदपेक्ष्येत । तथा, ततोऽप्य-  
न्यदिति न स्यात् साधननिष्ठेति । एवं सिद्धस्य साधयितुमशक्यत्वमिति ।

§ ३. बाधितस्य च साधनागोचरत्वादित्याह—साधनागोचरत्वतः इति । प्रत्यक्षादि-  
बाधितं प्रतिपाद्यमानं न साधनमपेक्षते इति ।

§ ४. यद्वा सिद्धं बाधितं च साधयितुं न शक्यते । ततो हेतोः साधनगोचरत्वादि न  
भवतीति । [ ५० ]

§ १. एवं पक्षलक्षणमभिधाय इदानीं बाधितोदाहरणान्याह—यथा सर्वगम् इत्यादि ।

**यथा सर्वगमध्यक्षं बहिरन्तरनात्मकम् ।**

**नित्यमेकान्ततः सत्त्वात् धर्मः प्रेत्यासुखप्रदः ॥ ५१ ॥**

§ २. सर्वगतं सामान्यं प्रत्यक्षं प्रतिज्ञायमानं प्रत्यक्षबाधितम् । एकान्तेन नित्यं शब्दादि  
बाधितोदा- प्रतिज्ञायमानम् अनुमानबाधितम् । प्रेत्य परलोके धर्मः सुखप्रदो न भवतीति  
हरणानि प्रतिज्ञां कुर्वत आगमबाधा । समानतन्त्रैः प्रत्यक्षपूर्वकं श्रौतमभ्युपगतम् ।  
तदपेक्षयोदाहरणम्—बहिरन्तरनात्मकं सर्वमिति । आत्मा परिणामि द्रव्यम् तदभावस्य  
प्रतिज्ञायमानस्य प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षेण अनुमानेन वा अन्यथा बाधनात् पृथगुदाहरणं युक्तं  
स्यादिति [ ५१ ]

§ १. एवं हेतु-पक्षलक्षणमभिधाय इदानीं हेत्वाभासानभिधातुमाह—रूपाद्यसिद्धित  
इत्यादि ।

१. “मयोर्लिङ्ग” क० । २. “भासम् अ० मु० क० । ३. अशक्यमिति ब० । अवलम्बार्थं मु० क० ।  
४. सिद्धत्वात् मु० क० । ५. तथा हि पूर्वं प्रमां क० मु० । ६. पूर्वप्रमां अ० ब० । ७. च साधना-  
गोचरत्वतः इति प्रत्यं ब० । ८. “मानो मु० क० । ९. ततो हेतोः साधनागोचरत्वादित्याह  
साधनगो” ब०

रूपाद्यसिद्धितोऽसिद्धो विरुद्धोऽनुपपत्तिमान् ।

साध्याभावं विना हेतुः व्यभिचारी विपक्षगः ॥ ५२ ॥

§ २. स्वरूपासिद्धः—अनित्यः शब्दः, चाक्षुषत्वात् । सन्दिग्धासिद्धः—बह्विसिद्धादुपादीयमानो धूमरूपतया सन्दिग्धमानो बाष्पाविसंघातः । भागासिद्धो यथा—सर्वमनित्यम् हेत्वा—प्रत्यक्षानन्तरीयकत्वात् । वाद्यसिद्धः सांख्यस्य सुखादीनामचैतन्यं साधयतः । मासाः । यथा अचेतनाः सुखादयः अनित्यत्वादिति । प्रतिवाद्यसिद्धो वैशेषिकस्य जैनं प्रति द्रव्यादीनां सत्त्वं साधयतः । यथा सन्ति द्रव्यादीनि सत्त्वाविसंबन्धादिति । आश्रयासिद्धो यथा—ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वकर्तृत्वादिति । संदिग्धाश्रयो यथा—इह निकुञ्जे मयूरः केकायितादित्यादयः आदिग्रहणेन गृह्यन्ते ।

§ ३. विरुद्धमभिधातुमाह—विरुद्ध इत्यादि । साध्याभावाव्यभिचारी विरुद्धः । यथा—<sup>१५</sup> नित्यः शब्दः कृतकत्वादिति ।

§ ४. इदानीमनैकान्तिकमाह—व्यभिचारीति । सपक्षविपक्षगामी अनैकान्तिक इति । [ ५२ ]

§ १. अथवा एकान्तवादिनां सर्व एव हेतुस्वरूपी दोषजातिं नातिक्रामतीत्याह—असिद्धः सिद्धसेनसेत्यादि । <sup>१६</sup>

असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो मल्लवादिनः ।

ब्रूया समन्तमद्रस्य हेतुरेकान्तसाधने ॥ ५३ ॥

§ २. सिद्धसेनस्य सूत्रकर्तुः साफल्येनासिद्धत्वान् सकल एव हेतुः असिद्ध इति । तथाहि—सामान्यं वा हेतुः स्यात् विशेषो वा ? । अपोहस्य च पूर्वमेव निरासात् तत्र सामान्यं सकलव्यापि सकलव्याप्यव्यापि वा हेतुत्वेनोपादीयमानं प्रत्यक्षसिद्धं वा स्यात् अनुमानसिद्धं वा । न तावत् प्रत्यक्षसिद्धम् । तद्धि अक्षानुसारितया प्रवर्तते । अक्षं च विनियतदेशादिनैव संनिर्दिश्यते । अतः तदनुसारिज्ञानं तत्रैव प्रवर्तितुमुत्सहते न सकल-देशकालव्यापिनि । अथ नियतदेशस्वरूपाव्यतिरेकात् तन्निश्चये तस्यापि निश्चय इति । ननु नियतदेशस्वरूपाव्यतिरेके नियतदेशतैव स्यात् न व्यापिता । तन्न व्यापिसामान्यरूपो हेतुः प्रत्यक्षसिद्धः । अनुमानसिद्धायां अनवस्थां प्रतिपादयन्ति । तदुक्तम् । <sup>१७</sup>

“सामान्यं नानुमानेन विना यस्य प्रतीयते ।

न च लिङ्गविनिर्मुक्तमनुमानं प्रवर्तते ॥

असामान्यस्य लिङ्गत्वं न च केनचिदिष्यते ।

न चानवगतं लिङ्गं किंचिदस्ति प्रकाशकम् ॥

तस्य आप्यनुमानेन स्वाद्यन्येन गतिः पुनः ।

अनुमानान्तरादेव ज्ञातेनैव च कल्पने ॥ <sup>१८</sup>

१. संबन्धत्वादिति क० । २. वा भवेत् मु० क० । ३. संनिर्दिश्यते मु० क० । ४. इति तन्निश्चयत् क० । ५. प्रतिपादयति मु० । ६. न तान् क० । ७. इतः परं श्लोकवर्तिके—“तदुत्पत्तिश्च विज्ञात् स्यात् सामान्यज्ञानवद्भावात् । तस्य आप्यनुमानत्वात् भवेद्विज्ञेन चोद्भवः” इति पदं वर्तते तत्तु नोक्तं ग्रन्थकारेण—सं० । ८. ज्ञानेनैव—श्लोकव्या० ।

सिद्धिसिद्धानुमानानामानव्यादेकसिद्धिनि ।

गतिर्युगसङ्घर्षेषु बहुवचसि न विद्यते ॥” [ श्लोकः अनुमा० १४९-१५३ ]

अपि च । अक्षेपव्यवस्थाधेर्यस्वरूपं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां सामान्यं निश्चीयमानं स्वाधार-  
निश्चयमुत्पादयेत् । तन्निश्चयोऽपि स्वाधारनिश्चयमिति सकलः सकलज्ञः प्रसज्येत । तत्रै-  
कान्तसामान्यरूपो हेतुः साकल्येन सिद्धः ।

§ ३. नापि विशेषरूपः । खं हि एकान्तेन विशेषः परमाणुरूपः स्यात् । तस्य च न  
प्रत्यक्षानुमानाभ्यां सिद्धिरित्युक्तम् । न चानन्वितस्य हेतुत्वं सिद्धम् ।

§ ४. विद्वद्भानैकान्तिकावपि सामान्यव्यानुपपन्नत्वेन न सिद्धौ ।

§ ५. वदि वा असिद्धत्वादेव तौ निरस्तौ । तथाहि—पक्षधर्मत्वे सति तौ स्वात्ताम् ।  
॥ तदभावे तावन्वसिद्धमिति सकल एवैकान्तवादिनो हेतुर्न सिद्ध इति ।

§ ६. मल्लवदिवस्तु नयचक्रविधातुर्मतेन सकल एवैकान्तसाधनो हेतुर्विद्व इति ।  
अनेकान्तात्मकवस्तुविपर्ययसाधनाविति ।

§ ७. अनैकान्तिकासिद्धावपि सामान्यनिश्चयविपर्ययसाधनाद्विद्वदिति । तथाहि—निश्चयेन  
सङ्गाप्रतिपत्ति-संदेहावपि विद्वदावेव । तद्विनाभूतौ नैकान्तिकान्तिकाविति सकल एव  
॥ हेतुर्विद्व इति ।

§ ८. द्वेषा समन्तभद्रस्येति । स हि प्रतिबन्धविकलानां सर्वेषामेव हेतूनां व्यभिचारित्वं  
मन्यते । न नैकान्तसामान्ययोर्विशेषयोर्वा प्रतिबन्ध उपपद्यते । तथाहि—सामान्ययोरे-  
कान्तेन नित्ययोः परस्परमनुपकार्योपकारकभूतयोः कः प्रतिबन्धः ? । विशेषयोस्तु निधत्त-  
देशकालयोः प्रतिबन्धमहेऽपि तत्रैव तयोर्भ्रंसात् साध्यधर्मिण्यगृहीतप्रतिबन्ध एवान्वयो  
॥ विशेषो हेतुत्वेनोपादीयमानः कथं नानैकान्तिक इति ? । तस्मात् समानपरिणामसौख्यं  
सामान्यविशेषात्मनो हेतोरनैकान्तात्मनि साध्ये गमकत्वम् । नैकान्तसाधन इति  
स्थितम् । [ ५३ ]

सर्वज्ञसाधनविधौ परलोकसिद्धौ

आत्मा हि यत्र निरुपद्रवसौख्यहेतुः ।

तत्रोपयुक्तमुभयात्मकवस्तुनिष्ठम्

व्युत्पादितं विशदमेवविद्वानुमानम् ॥

॥ इति श्रीशान्त्याचार्यनिरञ्जितायां नार्तिकप्रश्नौ अनुमानपरिच्छेदः ॥

१. कदापि अ० व० । २. 'निश्चयानुता' अ० । ३. 'रूपः हि मु० क० । ४. 'नैकान्ति' मु०  
क० । ५. 'भूतो वाति' अ० क० मु० । ६. 'विशेषहे' मु० । ७. 'व्युत्पादिते' मु० ।

## ४. आगमपरिच्छेदः ।

§ १. एवं प्रत्यक्षानुमाने व्याख्याय इदानीं शब्दं प्रमाणं व्याख्यातुमाह—ननु शब्दस्य पूर्वपक्षिणा संकेतशृङ्गेरवस्तुविषयत्वात् कुतः प्रामाण्यमिति ? । तथाहि—ये यत्राकृतसंकेताः शब्दाः ते तमर्थं नाभिदधति । यथा गोशब्दादयोऽन्धाविकम् । अकृतसंकेताश्च स्वाम्बु सर्व एव शब्दाः परमार्थवस्तुनीति व्यापकानुपलब्धिः । अन्धाव्यक्तित्ववैक-  
स्थाभ्यां न तावदयमसिद्धो हेतुः । तथाहि—अनुत्पन्ने वा वस्तुनि संकेतः क्रियेत अनुत्पन्ने वा ? । न तावदनुत्पन्ने । न हि अनुत्पन्नं वस्तु शब्दस्यान्यस्य वा विषयतामुपयाति । शब्दो वा अनुत्पन्नविषये नियोज्यमानो न कल्पितगोचरतामसिकमैतत् शशविषाणादिशब्द इव । तज्जानुत्पन्नं संकेतभूमिः । कल्पनमपि किं गृहीतम् अगृहीतं वा ? । न तावदगृहीतं वस्तु संकेतगोचरः, अतिप्रसंगात् । गृहीतमपि क्षणिकत्वेन नष्टत्वात् न शब्दविषयः । तथाहि—  
कस्तुभो महणम् । ततो निष्पन्नः । तदनन्तरं शब्दस्मरणम् । ततो नियोग इति । एवं त्रिचतु-  
रङ्गमेव सुदूरमुत्पन्नत्वात् न शब्दगोचरता । अथ तत्प्रमानज्जातीयक्षमस्य विज्ञमानत्वात् कथं न शब्दविषयता ? । तद्वत् । न हि अगृहीतं विषयमानमपि शब्दविषयतामुपयाति । यथा अन्धावगृहीतं विषयमानमपि गोशब्दस्य । पूर्वापरैकीकरणप्रक्रमेण नियोज्यमानः शब्दः कल्पितविषय एव नियोजितः स्यात् । तत्र वस्तु शब्दनियोगगोचरः ।

§ २. किं च, वस्तुनि संबंधकरणं प्रत्यक्षेण वा स्वावनुमानेन वा ? , न तावत् प्रत्यक्षेण । तेन पुरोव्यवस्थितरूपमात्रस्य प्रकाशनात् शब्दस्य च । न च तयोर्वाक्यवाचकसंबन्धोऽपरः कर्तुं शक्यते । अयेन्द्रियज्ञानारूढ एव रूपे<sup>१</sup> संबंधव्युत्पत्तिर्दृश्यते—इदमेव तच्छब्द-  
वाक्यम्, अस्वेवमभिधानमिति । असदेतत् । तथाहि—अस्वेवं वाचकमिति कोर्यः ? । किं प्रतिपादकं, यदि वा कार्यं कारणं वेति ? । तत्र यदि प्रतिपादकं तत् किम् अनुनैव ?  
अर्थान्भवा ? । तत्र यद्यनुना शब्दरूपम् अर्थस्य प्रतिपादकं विज्ञदेन रूपेणेति; तद्वक्तव्यम् । अन्धाव्यापारेणैव तथा बीजादेरवभासनात् न तत्र शब्दव्यापारस्योपयोगः । अन्धाव्यव-  
होचनपरित्यग्वाभावे<sup>२</sup> शब्दोऽर्थानुज्ञास्येत् । तदपि किं विज्ञदेनाकारेण अकारान्तरेण वा ? । यदि विज्ञदेन तदा चक्षुरादीनां वैकल्प्यमासक्येत । प्रवृत्तिश्च न स्यात् । सर्वथा वस्तुनः प्रतिपन्नत्वात् । नहि प्रतिपन्न एव तावन्मात्रप्रयोजनो प्रवृत्तिर्मुक्ता, प्रवृत्तेरविरामः<sup>३</sup>  
प्रसंगात् । अथ किंचिदप्रतिपन्नं रूपमस्ति तदर्थं प्रवर्तनम् । ननु धेवप्रतिपन्नं व्यक्तिकृत् प्रवृत्तिविषयः [वत्] तर्हि न शब्दार्थः तदेव धेव पारमार्थिकम्, ततोऽर्थक्रियावर्धनात् । नाम्बत्, तत्र अर्थक्रियाविरहात् ।

अथ काष्ठान्तरे स्फुटितरेणाकारेण तानसाधनभासयेत् । नन्वसौ आकारकदा संबन्ध-

१. तर्जं मु० । २. विवन्नाम् मु० । ३. क्रमेण मु० । ४. स्थितशब्दरूपं मु० क० । ५. रूपेः संब० क० । रूपमु० मु० क० । ६. नैव अन्धत्वा अ० मु० । ७. 'वामावेन वा' क० मु० । ८. 'नाकारेण, अभिज्ञदेन वा' अ० । ९. 'जमात् प्रवृ' अ० क० । १०. यदि प्रति' अ० क० । ११. तदेव वा' अ० । तदेव वा' क० । १२. स्फुटितरेण तान् मु० ।

स्युत्पत्तिकाले कालान्तरे वा नेन्द्रियगोचरः । तत् कथं तत्र शब्दाः प्रवर्तमाना नयनादि-  
गोचरेऽर्थे वृत्ता भवन्ति ? । नापि शब्दोऽर्थानां कारणं स्वहेतोरेव तेषामुत्पत्तेः । नाप्यर्थ-  
कार्यम् विद्यमानेऽप्यर्थे दर्शनप्रतिपादनाभिप्रायविवक्षादिभिर्व्यवधानात् । तस्मात्[भ्य]क्षरतः  
संबन्धवेदनम् ।

१. § ३. नाप्यनुमानतः तदभावे तदनवतारात् । अथार्थापत्त्या संबन्धवेदनम् । तथाहि—  
व्यवहारकाले शब्दार्थौ प्रत्यक्षे प्रतिभातः श्रोतुश्च शब्दार्थप्रतिपत्तिं चेष्टया प्रतिपद्यन्ते व्यवहा-  
रिणः तदन्यथानुपपत्त्या तयोः संबन्धं विदन्ति । तदप्यसत् । सिध्यत्येवं काल्पनिकः संबन्धो  
न वास्तवः । तथाहि—श्रोतुः प्रतिपत्तिः संकेतानुसारिणी दृश्यते, कलिमार्यादिशब्देभ्यो  
द्रुमिहोर्नयोर्विपरीतप्रतिपत्तिदर्शनात् । तन्न वस्तु शक्यसंकेतक्रियम् ।

१०. § ४. संकेतव्यवहारकालाव्यापिनि वस्तुनि निष्फलश्च संकेतः । तथाहि—कथं नाम  
अस्माच्छब्दादुभयं प्रतिपद्यन्तां व्यवहारकाले प्रतिपत्तार इति संकेतं कुर्वते प्रेक्षाकारिणः ।  
स चान्यत्वे न संभवति ।

§ ५. अथ कालान्तरस्थायिनो नित्यस्य वा विशेषस्य सामान्यस्य वा आकृतेर्वा<sup>१</sup> अवय-  
वसंयोगलक्षणायाः सद्भावात् कथं न संकेतकरणसाफल्यम् । तदसत् । नित्यस्य क्रमयौग-  
११. वद्यायोगेन अर्थक्रियाविरहोऽसत्त्वात् । यदि च वस्तुनि शब्दवृत्तिः स्यात्, तदा न  
कश्चिद् परित्रः स्यात् शब्दस्यैव सर्वार्थप्रतिपादकत्वात् । जातेरभिधानीभेदमिति<sup>११</sup> चेत् ; न  
जातेरभावात् ।

§ ६. अथावभासमानापि कथं नास्तीति चेत् ; न, जातिप्रतिभासाऽभावात् । तथाहि—  
दर्शने परिस्फुटतयाऽसाधारणमेव रूपं चकास्ति, न साधारणम् । अथ साधारणमपि रूपमनु-  
१२. भूयते गौर्गौरिति । तदसत् । सावले(शावले)यादिरूपविदेकेनाप्रतिभासनात् । न च सावले-  
(शावले)यादिरूपमेव<sup>१२</sup> साधारणं, प्रतिव्यक्तिभिन्नरूपोपलब्धत्वात् । नापि कल्पनाज्ञाने । कल्पनापि  
पुरः परिस्फुटमुद्रासमानं<sup>१३</sup> व्यक्तिरूपं व्यवस्यन्ती इति<sup>१४</sup> र्भाभिजल्पकारं प्रतीयते न तद्व्यति-  
रिक्तो वर्णाक्षरादीकारशून्यः प्रतिभासो लक्ष्यते । वर्णादिस्वरूपरहितं च जातेरूपमुपगम्यते ।  
तन्न कल्पनावसेयाऽपि सा । यच्च न कचिद्विज्ञाने भाति तदसत् अशविषाणमिव ।

१३. § ७. भवतु वा जातिः शब्दार्थः तथापि न शब्दात् प्रवृत्तिः स्यात् ज्ञानमात्रलक्षणत्वा-  
ज्जात्यर्थक्रियायाः । तस्याश्च तदैव निष्पन्नत्वात् । अथ जाला व्यक्तिलक्ष्यते तेन लक्षित-  
लक्षणावृत्तिः । तदसत् । क्रमवत्प्रतीतेरभावात्—पूर्वं जातिः पश्चाद् व्यतिरिति । किं च  
यदि नाम शब्दाज्जातिरिति<sup>१३</sup> भाति व्यक्तेः किमायातम्, येन सा तां लक्षयति ? । संबन्धो<sup>१४</sup> चेत् ।

१. तस्माद्विदितः अ० ब० । २. °त्या संवेदनम् अ० क० मु० । ३. प्रत्यक्षः प्रतिभावतः मु०  
क० । ४. °पश्यते मु० क० । ५. प्रविष्टार्थं मु० । ६. °हारकलां मु० क० । ७. संभावयन्ति मु० ।  
८. °स तत्रापि विज्ञे° मु० क० । ९. °र्वाऽव्ययवसं(१) अ० । १०. शब्दः वृत्तिः अ० ब० ।  
११. °धानावैवमिति चेत् जाते° क० । १२. °मिति जाते ब० । १३. रूपमिव क० । १४. प्रतिपत्ति  
क० । १५. °मानव्यक्तिस्वरूपं क० । १६. इति याभि° मु० क० । १७. °क्षराकारश्च° ब० । १८. भाति  
तच्छब्दमि° अ० । १९. जातिः तथापि अ० । २०. तस्यास्तु मु० क० । २१. जाला वक्ति° क० ।  
२२. जातिः पराभाति ब० । २३. येन तां मु० । २४. तक्षति मु० क० । २५. संबन्धजाचेत् मु० क० ।

‘संबन्धस्तयोः किं तदैव प्रतीयते आहोस्वित् पूर्वम् ? । न तावत् तदा व्यक्तेरनभिगतेः । अभिगमे वा किं लक्षितलक्षणया ? । सैव शब्दार्थः स्यात् । तस्मात् तदनभिगमे तद्गत-  
संबन्धानभिगतेर्न तदा तत्प्रतीतिः । नापि पूर्वम् । यदि नामैकदा अकार्यकारणभूतयोः  
संबन्धभावः तथापि सर्वदा ताभ्यां तथा भाव्यमिति कोऽयं नियमः ? ।

§ ८ अथ जातेरिदमेव रूपं यदुत विशेषनिष्ठता । ननु सर्वदा सर्वत्र जातिर्नैकनिष्ठेति \*  
किम् अभ्यक्षेणाभिगम्यते अनुमानेन वा ? । न तावत् प्रत्यक्षेण सर्वव्यक्तीनां युगपदप्रति-  
भासनात् नैकदा तन्निष्ठता तेन गृह्यते । क्रमेणापि व्यक्तिप्रतीतौ निरर्थकैर्व्यक्तिपरंपरायाः  
सकलायाः परिच्छेदमुपशक्यत्वादिति न तन्निष्ठताग्रहः । नाप्यनुमानेन तत्पूर्वकत्वेन तस्य  
तदभावेऽप्रवृत्तेः । तन्न जात्या व्यक्त्युपलक्षणम् ।

§ ९. किंच, जातेरपि शब्देन प्रतिपादनं न संभवति, तत्र संकेतासंभवात् । तथाहि—  
प्रतिपन्नायां तस्यां संकेतः । तत्प्रतिपत्तिश्च प्रत्यक्षानुमानाभ्यां नित्युक्तम्, शब्दैकप्रमाण-  
समभिगमे चानवस्थेत्तरेतराश्रयत्वं वा स्यादिति ।

§ १०. किं च, शब्दवाच्यं यद्यक्षणीकं तदा व्यवहारकालमोवि क्रमवत् विज्ञानं  
नोत्पद्येत “नाकमात् क्रमिणो भावः” [प्रमाणवा० १.४५] । न च स्वविषयज्ञानोत्पादना-  
दर्थ्यत्वं वाच्यत्वं । तन्न शब्देविज्ञानं अवस्तुविषयत्वात् प्रमाणम् । इत्याशङ्क्याह—तापच्छेद-  
कवैः शुद्धमिति ।

ताप-च्छेद-कवैः शुद्धं वचनं त्वागमं विदुः ।

§ ११. तापश्च च्छेदश्च क्वश्च । तैर्यद्वचनं शुद्धं तत् प्रमाणमिति । यैस्तुक्तं भवति—न  
शब्दस्य वाङ्मार्थाविनाभावित्वेनार्थप्रतिपादकत्वात् प्रामाण्यम् । किन्तु पुरुषप्रामाण्यमेव  
शब्देसंक्रान्तं प्रमाणत्वेनाभिधीयते इत्युक्तम् ।

§ १२. यच्च ‘अशक्यक्रियत्व-वैफल्यवि दूषणम्’ अभाणि क्षणिकपक्षाभयणेन तन्मोभया-  
त्मकवस्तुवादिनां क्षतिमावदति अस्पष्टविशेषविषयत्वं च परोक्षस्योक्तम् । तेन न केवल-  
सौमान्यपक्षभावी दोषः संभवी ।

§ १३. अथ किमिदम् अस्पष्टत्वम् ? । किं ग्रहणम्, उताग्रहणम् ? । यदि ग्रहणम्,  
कथमस्पष्टत्वम् ? । अथाग्रहणम् । तदा कथं तत्प्रतीतिरिति । न, अनिदन्त्वप्रतीतेरस्पष्टत्व-  
प्रतिपादनात् । अपि च, घटशब्दादुत्पन्नं विज्ञानं पटं किं न प्रत्येति यदि निर्विषयं शब्दं  
विज्ञानम् ? । अर्थं संकेतवशात् वस्तुवन्तरमपि प्रत्येतेष्व । ननु का प्रतीतिः ? । किं ग्रहण-  
माहोन्निदग्रहणम् ? । यदि ग्रहणम् तदा कथं निर्विषयम् ? । अथाग्रहणम् तदा कैसाद्विष-  
यार्थः ? । अथ दृश्यविकल्पैकीकरणेन तद्व्यवसायः । न, अग्रहणे व्यवसायाऽयोगात् ।

१. चेत् स संब० ब० । २. ‘गमे न तद्’ ब० । ३. गतिर्न मु० । ४. ‘भूतयोः ताभ्यां मु० ।  
५. जातिर्न किं क० । ६. ‘नविर्न्य’ मु० क० । ७. ‘श्च न प्र’ मु० क० । ८. ‘भ्यामिषु’ मु० क० ।  
९. ‘काके नाकमात् अ० । १०. भावाः ब० । ११. ‘न्यवाच्य’ ब० । १२. ‘शब्द’ अ० । शब्दात्  
विं मु० । तन्न अशब्दात् क० । १३. ‘मिति न मु० क० । १४. शब्दवाङ्मा अ० ब० । १५. मेव  
संक्रान्तं मु० क० । १६. प्रमाणसन्देहेन मु० क० । १७. केवलप्रामाण्यं मु० । १८. अतः मु० क० ।  
१९. तदा सविषं मु० । तदा तद्विषं क० ।





§२. वैधर्म्यमिति वैधर्म्यप्रयोगः । तथाहि—उपादानव्यवश्रौतमिवावधारितं सर्वत्र  
अन्य- व्याप्तम् । तद्व्यापकाभावाद् व्याप्ताभावाप्रतिपादनं वैधर्म्यप्रयोगः । विविक्त  
वासन- नियमस्य भङ्गस्य ते तथोक्तः । तेषु वृत्तिस्तदभिधानम् । तद्वतिरिक्तत्वात्  
स्वाप्तामा- तद्वत्तिरिक्तत्वात् । वैधर्म्यप्रयोगस्तद्वतिरिति । तत्काले जीवावबोधोऽनेनेति तत्काल-  
मन्त्रः । निजप्रणीतः । तत्कालप्रत्येकम् । अतस्तु अतस्तत्त्वं भवति अतस्तत्त्वं जीवप्रवर्तकः ।  
कल्पतत्त्वसङ्गच्छनमिव । यथा, अतस्तत्त्वं च तद्वत्त्वं दृष्टादिमादिवाच्यवत् । विविक्तत्वात्,  
भङ्गो व्यसः, निजतो प्रीत्यमिति तदात्मकं संकलनेन वस्तु, तस्य साकल्येनाप्रतिपाद्यत्वाद्  
आगमाम्बराणां न प्रामाण्यमिति ।

§३. तैगमसंमद्व्यवहारकुसुमसङ्गच्छनमित्येवंभूता हि सप्तमवः । तत्र इत्यादि-  
पर्यायधिकौ भूतमयो । सेवाकारेणः । तदुक्तम् ।

“दृष्टमिदमेव न तद्व्यवहारो न तद्व्यवहारमिति” १ [संस्कृत १.१]

तत्र काचित् कुसुमसङ्गच्छनम् । तद्वत्त्वं कुसुमसङ्गच्छनम् । तद्वत्त्वं तानि कुसुमसङ्गच्छनम् इति ।

§४. तत्र सांख्यो प्रीत्यमेव प्रतिपन्नत्वात् । न विविक्तमयो । तस्य हि न विविक्तत्वात्  
कामि निजप्रणीतः । तदुक्तम्—

“तत्कालप्रत्येकमुपादानव्यवहारो तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं” ।

तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं [संस्कृत १.१]

एवं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं  
तदा आकाशसुखम् । अतस्तत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं  
नैवम् । तस्मात् तत्त्वं कारणे तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं  
निजप्रणीतम् । अतस्तत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं  
वित् । न नैवम् । अतः तत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं  
कार्यमुत्पद्येत । पूर्वं कारणान्नयणेन प्रसंग उक्तः, संप्रति तु तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं  
न च सर्वं सर्वतो भवति । तस्मादयं नियमः । तत्रैव तस्य सङ्गच्छनमिति । तथा, तद्वत्त्वं  
तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं  
तथापि तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं  
विच्छिन्नमेव कर्तुम् । तस्मात् तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं  
तद्वत्त्वं न किञ्चित् कारणं स्यात् । अस्ति च कारणम् । तद्वत्त्वं—कारणभावात् तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं ।

§५. तद्वत्त्वं । एवं हि तद्वत्त्वं कार्यकारणे स्याताम् । न हि यद् यतोऽवधारितं तत्  
तस्य कारणं कार्यं वेति व्यपदेशं युक्तम्, कार्यकारणयोर्भिन्नलक्षणत्वात् । अन्यथा हि ‘इदं  
कार्यं कारणम्’ इति व्यवस्था न स्यात् । ना भूविति चेत्; न, अन्युपगमविरोधात् ।  
तथाहि—

१. तत्त्वं सु० । २. ‘तद्वत्त्वं तद्वत्त्वं’ सु० । ३. तद्वत्त्वं च सु० क० । ४. ‘तद्वत्त्वं’ क० ।
५. तद्वत्त्वं सु० । ६. ‘तद्वत्त्वं’ सु० । ७. तद्वत्त्वं सु० क० । ८. ‘तद्वत्त्वं’ सु० क० ।
९. तस्मात् स्यात् तत्त्वं सु० । १०. उपादानकारणं सु० क० । ११. ‘तद्वत्त्वं’ सु० क० । १२. तद्वत्त्वं सु० क० ।
१३. हि कार्यं क० । १४. ‘कारणतयो’ क० ।

“मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥” [ सांख्य० २ ]

इत्यभ्युपगमात् । स बाध्येत । सर्वेषां हि कार्यत्वं कारणत्वं वा प्रसज्येत । यद्वा पुरुषवन्न  
प्रकृतित्वं विकृतित्वं वा सर्वेषां स्यात् । पुरुषस्य वा प्रकृतिविकृतित्वं प्रसज्येत । तदसंबद्ध-  
मिदम् । उक्तञ्च ।

“यदेव दधि तत्क्षीरं यत्क्षीरं तद्वधीति च ।

वदता विन्ध्यवासित्वं क्यापितं विन्ध्यवासिना ॥”

इति ।

§ ६. ‘हेतुमत्त्वादिवर्मासंगि व्यक्तम् अव्यक्तमन्यदिति’ एतदपि बाध्येत । न हि यद्  
“यतोऽव्यतिरिक्तस्वभावं तत् ततो विपरीतं युक्तम्, रूपान्तरलक्षणत्वाद्द्विपरीत्यस्य । सत्त्वरज-  
स्तमसां चैतन्यस्य च भेदे अन्यनिमित्ताभावात् ततश्च यदि न भेदः सर्वं विश्वमेकं द्रव्यं  
स्यात् । सहोत्पत्तिप्रसंगाच्च भवेदिति ।

§ ७. अथ नापूर्वरूपोत्पत्त्या कार्यकारणत्वमभ्युपगम्यते यतो रूपाभेदे तद्विरुध्येत ।  
किन्तु प्रधानं महदादिरूपेण परिणमति, स र्प इव कुण्डलादिरूपेणेति । ततो रूपाभेदेऽपि  
“कार्यकारणव्यपदेशो न विरोधमनुभवतीति । तदसत् । परिणामासिद्धेः । तथाहि—किमसौ  
पूर्वरूपापरिवर्तनेन परिवर्तमानो वा ? । प्रथमपक्षे अवस्थानां सांकर्यं स्यात् । ततश्च वृद्धावस्थाया-  
मपि बालाद्यवस्थोपलभ्येत । द्वितीयपक्षे न परिणामः स्यात् । पूर्वकं ‘हि स्वरूपं निरुद्धम्  
अपरं चोत्पन्नमिति कस्य परिणामः ।

§ ८. अपि च तस्यैवान्यथाभावः परिणामो भवद्विर्बर्ण्यते । स चैकदेशेन, सर्वात्मना  
“वा ? । न तावदेकदेशेन एकस्यैकदेशासंभवात् । नापि सर्वात्मना । पूर्वपदार्थनिरासेन  
पदार्थान्तरोत्पादप्रसंगात् । अतो न तस्यैवान्यथात्वं युक्तम् । तस्य स्वभावान्तरोत्पादनिबन्ध-  
नत्वात् ।

§ ९. व्यवस्थितस्य धर्मिणो धर्मान्तरनिवृत्तौ धर्मान्तरप्रादुर्भावलक्षणः परिणामोऽभ्युप-  
गम्यते न तत्स्वभावान्यथात्वमिति चेत् ; तदयुक्तम् । यतो  
“धर्मिणोऽर्थान्तरभूतोऽभ्युपगन्तव्योऽन्यथा धर्मिण्यवस्थिते तस्य तिरोभावाविर्भावसंभवात् ।  
तथाहि—यस्मिन्नुपवर्तमाने यो व्यावर्तते स ततो भिन्नो यथा घटे अनुवर्तमाने ततो व्याव-  
र्तमानः पटः । व्यावर्तते च धर्मिण्यनुवर्तमानेऽपि आविर्भावतिरोभावासङ्गी धर्मकलाप  
इति कथमसौ ततो न भिन्न इति धर्मो तदवस्थ एवेति कथं परिणतो नाम ? ।  
यतो नार्थान्तरभूतयोः कटपटयोदत्पादविनाशोऽचलितरूपस्य घटादेः परिणामो भवति,  
“अतिप्रसंगात् । अन्यथा चैतन्यमपि परिणामि स्यात् ।

१. मात् सर्वे अ० । २. प्रकृतित्वं च सर्वेषां मु० । ३. ततश्च न क० । ४. सर्ववि० अ० ब० मु० ।  
५. ततः प्रकृते रूपा० मु० क० । ६. पूर्वरूपाणां अ० ब० । ७. ‘नेन वा पूर्वरूपपरि० मु० ।  
८. ‘लभ्यते अ० । ९. पूर्वकं ख० क० अ० । १०. ‘म्यते ननु ख० मु० क० । ११. चेत् असदेतत्  
क० मु० । १२. यतः प्रच्यवमान उत्पद्य क० मु० । १३. धर्मिण्यवस्थिते अ० ब० मु० । १४. ‘भावानां च०  
क० । १५. ततो भिन्न ब० । ततो नामिन्न मु० । १६. यथा मु० क० । १७. ‘तयोः घटपटयोर्’ मु० ।  
‘तयोः घटपटयोर्’ क० ।

§ १०. तत्संबन्धयोर्धर्मयोक्तृत्वाद् विनाशो तस्यासौ अभ्युपगम्यते नान्यस्येति चेत्; न, सद्यसतोः संबन्धाभावेन तत्संबन्धयोगात् । तथाहि—संबन्धो भवन् सतो वा भवेद-सतो वेति ? । न तावत् सतः, समधिगतेशेषस्वभावस्यान्यानपेक्षितया कचिदपि पार-तक्याऽसंभवात् । नाध्यसतः । सर्वोपाख्याविरुद्धतया तस्य कचिदप्याभितत्वात्तु उपपत्तेः । न हि अक्षविषाणादिः कचिदप्याभित उपलब्धः ।

§ ११. न च व्यतिरिक्तधर्मान्तरोत्पादविनाशे सति परिणामो भवद्विव्यवस्थाप्यते । किं तर्हि ? यत्रात्मभूतस्वभावानुवृत्तिरवस्थाभेदश्च तत्रैव तद्व्यवस्था । न चात्यन्तभेदे धर्माणामात्मभूतो धर्मोऽनुवर्तत इति । तत्र भेदे परिणामः कश्चित् । एकान्ताभेदे धर्मो वा स्यात् धर्मी वा । न तत्रापि कश्चित् परिणाम इति ।

§ १२. ननुक्तम्—न सलिलात् कलोलानां भेदो नाप्यहेतुफणाद्यवस्थानाम्, अथ च भिन्ना इव प्रतीयन्ते । तद्वत्त्वर्माणामाविर्भावतिरोभावमात्रम् परिणामो नापूर्वविधिरिति । अथ कोऽयमाविर्भावः ? किं स्वभावातिशयोत्पत्तिरुक्त तद्विषयं विज्ञानम्, आहोस्विद् उपलम्भा-वरणविगम इति ? । तत्र न तावदाद्यः पक्षः । यतः स्वभावातिशयो यद्यसंमुत्पद्यते तदा कथं सत्कार्यवादः ? । अथ सन् तदा नाविर्भावः । अथ तस्याप्यवस्था पूर्वमसती पश्चाद्भवति । ननु आप्यवस्था यदि सती तदा कथं भवति ? । अथ न सती तदा कथं नापूर्वविधिरिति ? । तत्राप्यवस्थान्तराभ्युपगमेऽनवस्था । तत्र स्वभावातिशयोत्पत्तिराविर्भाव इति । नापि तद्विषयं विज्ञानम् । नित्यत्वोपगमात् । तथाहि—भवतां सिद्धान्तः ‘संविर्देसर्गप्रलयादेकैव बुद्धिः’ इति । न च न बुद्धिस्वभावा तद्विषया विप्तिः, किन्तु मनःस्वभावेति वक्तव्यम् । यतो बुद्धिरुपलब्धिरध्यवसायो मनःसंवित्तिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरत्वात् । तत्र तद्विषयं विज्ञानमप्या-विर्भावः । नाप्युपलम्भावरणविगमलक्षणः । न हि अनाधेयोनपनेयस्वरूपस्य नित्यत्वावरणं किञ्चित् । भवतु वा, तद्धि सद्वा स्यात् असद्वा ? । यद्यसत् कथं तस्य विगमः ? , स्वत एव तस्य विगमरूपत्वात् । विगमरूपस्याध्यावारकत्वे न कदाचित् उपलम्भोपलम्भः स्यात् । अथ सत् । तदा कथं तस्य विगमः ? । न हि भवन्मतेन किञ्चिद्विनश्यति । तिरोभावो विनाश इति चेत्; कोऽयं तिरोभावः ? किं स्वरूपविनाशः, पर्यायविनाशो वा, किं वाऽऽवरणयोगः, विज्ञानानुत्पादकत्वं वेति ? । तत्र न तावत् स्वरूप-पर्यायविनाशोऽनभ्युपगमात् । नाप्यावरण-योगो अविचलितरूपस्यावरणयोगात् । अकिञ्चित्कुर्वाणस्यावरणत्वासंभवात् । अन्यथा जगतोऽपि स्यात् । करणे वा नित्यताहानेः । विज्ञानानुत्पादकत्वमध्ययुक्तम् । येन हि स्वरूपेण ज्ञानमकार्षीत् तस्य विद्यमानत्वात् सहकारिणोऽकिञ्चित्करत्वेन निरस्तत्वात् । तदेवमुत्पादव्ययावपि प्रमाणोपपन्नाविति तदनभ्युपगच्छतो द्रव्यास्तिकनयवाविनो मिध्यात्वमिति ।

१. संबन्धयो° अ० मु० क० । २. ‘रुपाय वि° अ० । ३. ‘संबन्धित्वयो° मु० क० । ४. ‘गतशेष° क० । ५. ‘भेदस्य तत्रैव अ० । ६. नचात्यन्तभेदे अ० । न चासन्तभेदे क० । ७. इति न भेदे अ० ब० । ८. एकान्तभेदे मु० क० । ९. धर्मो वा स्युः धर्मा मु० क० । १०. ‘वत्था अथ मु० क० । ११. यद्यसद्वत् मु० । १२. संविदसर्ग° अ० । १३. ‘स्वभावातिविषया अ० । ‘स्वभावो तद्विषया संविदिः मु० क० । १४. अनाधिया° अ० । १५. ‘स्यावारक° क० । १६. चित् उपलम्भः स्यात् मु० ब० । १७. ‘रूपस्यायोगात् अ० ब० मु० । १८. ‘त्वमस्य यु° मु० क० । १९. येन सह° ब० ।

§ १३. एतेन आकाशकाकविगात्मनःशब्दानां केवलं भौक्यमभ्युपगच्छन्तोऽप्युद्धनय-  
 चादिनो निरुद्धा इति । प्रमाणासंबाधर्माभिधानात् । तथा हि—आत्मनः सर्व-  
 सर्वगत-  
 तस्य व्यापित्वं न प्रमाणसंबाधि । तद्वि प्रत्यक्षं वा स्वादनुमानं वा । न तावत्  
 कश्चनम् । प्रत्यक्षम् परोक्षत्वेनाभ्युपगमात् । यस्मात्प्रभ्युपगमः सोऽपि न युक्तवादी यतः  
 १. तत् प्रत्यक्षं नेमिब्रजजन्यम् अभ्युपगम्यते किन्तु आत्मनःसन्निकर्षजम् । न च कूटस्थस्य  
 प्राणिन मनसा संयोगः संभवति । तस्य हि बद्धसंयुक्तं रूपं तत् संयोगकाले किमिति किं वा  
 नास्ति ? । यद्यस्ति तदा न मनसा संयुज्यते । तथाहि—बद्धसंयुक्तरूपं तत्र मनसा संयुज्यते ।  
 यथा मुक्तास्मादि । असंयुक्तरूपस्य आत्मा पूर्वोक्तस्यास्मिति स्वभावविरुद्धोपलब्धिरिति ।  
 संयुक्तसंयुक्तस्वरूपयोः परस्परपरिहारेणावस्थानात् । अवैकस्वरूपं न स्वरूपद्वयम् । तेन  
 २. नासंयुक्तस्वरूपः, सर्वदेव तद्रूपत्वात् । नैवद्वि । यतो नैकस्वरूपस्य संस्वरूपं स्यात् । तथाहि—  
 यदि कर्तृस्वरूपः तदा न मोक्षस्वरूपः । अथ मोक्षस्वरूपस्य कदा न कर्तृस्वरूपः । यदि  
 वेदस्वरूपो न युक्तस्वरूपः । अथ युक्तस्वरूपः, तदा न वेदस्वरूप इति । किंच, विगा-  
 विमिरपि मनसः संयोगः किं न भवति ? । जनात्मरूपत्वादिति चेत् ; न, सर्वव्यापित्वे  
 कूटस्थमित्यत्वे मैहृदये च सति कश्चनं विभागोऽयमात्माऽनैकमाऽवमिति ? । यस्य मनः-  
 ३. संबन्धः स आत्मा तद्वन्धोऽनास्मेति चेत् ; न, इतरेतराभवत्वसंसर्गात् । अनात्मत्वे मनः-  
 संबन्धः, सति मनःसंबन्धे आत्मत्वमिति । शरीरसंबन्धेन आत्मा तद्वन्धोऽनास्मेति वचु-  
 च्येत तत्रैवमुच्यते—शरीरसंबन्धोऽपि आकाशादिभिः किं न भवति ? । अनात्मरूपत्वात् ।  
 नोत्तरमितरेतराभयत्वाभिधानात् । तस्मात्प्रमनःसन्निकर्षोत्पन्नप्रत्यक्षाधिगम्यः । नादनुमान-  
 गम्यः । तदभावे तस्याप्यभावात् ।

४. § १४. अथ 'सर्वगत आत्मा, सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात्' अतः सर्वमवकाशमनः  
 सिद्धिः । तथाहि—मुखदुःखसाधककस्तृप्तदो देशान्तरे नाहेतुकः । न चादृष्टादन्वः सुखा-  
 वेहेतुः । न चादृष्टस्यानौधारस्य शुभत्वात् तत्र सत्त्वम् । न चासत्त्वे कार्यकर्तृत्वमिति  
 आत्मनः तत्रापि सत्त्वमिति । नैवद्वि । अतः तत्रात्मनः सत्त्वे सुखाद्युपलम्भः किं न  
 भवति ? । एकार्यसमवायिनो ज्ञानस्वाभावादिति चेत् ; तदपि तत्र किं न भवति ? ।  
 ५. शरीराभावादिति चेत् ; तत् किं शरीरे समवेतं किं वा आत्मनि ? । यदि शरीरे तदा शरीरं  
 भोक्तृ स्यात् नात्मा । न चैवोऽभ्युपगमः परस्य । अथ आत्मनि । तदा सर्वत्रात्मनो  
 विद्यमानत्वात् समवायस्य च व्यापित्वात् सर्वत्र सुखाद्युपलब्धिः स्यात् । मनःशरीरविशि-  
 ष्टत्वेवोपलब्धिः नान्यस्येति चेत् ; न, एकत्वहानेः । तथाहि—यस्मिन् विशिष्टमात्रे यत्र  
 विशिष्यते तत् ततो भिन्नम् । यथा नीलत्वेन विशिष्यमाणे 'पटे अवशिष्टविशेषमाणो घटः । न  
 ६. विशिष्यते च शरीरात्मनि विशिष्यमाणे' देशान्तरस्य आत्मेति ।

§ १५. किंच, शरीरात्मनि स्थितमदृष्टं देशान्तरस्य सुखविशेषावैक्यस्य तद्वत्त्वस्य किं तत्र

१. 'रूपस्य तस्य रूपद्वयं मु० क० । २. 'बन्ध' मु० क० । ३. 'नित्यत्वे जडत्वे न मु० क० ।  
 ४. विभागोऽयमात्मा अवमिति अ० । ५. 'संबन्धित्वादात्मा अ० । ६. 'मुच्येत मु० क० । ७. 'ज्ञान-  
 वारकस्य मु० क० । ८. 'मिति यतः क० । ९. 'न्यत्रेति अ० ब० क० । १०. 'विशेष्य' अ० ।  
 ११. 'पटे मु० । १२. 'माणो देशा' मु० क० । १३. 'उपाधि क० । १४. 'साधकमस्तु अ० ब० मु० ।

अदृष्टकल्पनया ? । दूरत्वान्न इति चेत्; कथं चन्द्रादयो विज्ञानोत्पादकाः ? । तस्माद्भास्ति नियमः—सन्निहितेनैव कारणेन कार्यमुत्पादनीयम्, न दूरस्थेनेति । तत्र सर्वत्रोपलभ्यमान-  
गुणत्वेनात्मनः सर्वगतत्वम् । इत्येकान्तभेदवादिनो मिथ्यावादिन इति ।

§ १६. तथा, एकान्तभेदवादिनोऽभिदधति—विनाशस्याहेतुकत्वाद् उदयानन्तरं ध्वंसात्  
क्षणभङ्ग- कुतो द्रव्यस्य संभव इति । तथाहि—ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षाः ते तद्भावनियताः ।  
दिनः पूर्व- यथा अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने । अनपेक्षाश्च विनाशं प्रति भावौ इति ।  
पक्षः । तथाहि विनाशहेतुना किं स्वरूपं क्रियते, किं वाऽभावः क्रियते ? । न तावत् स्वरूपम् ।  
तस्य स्वहेतोरेवोत्पन्नत्वात् । किं च, तत् स्वरूपं नित्यम्, अथानित्यम् ? । यदि नित्यं तदा  
तस्याविर्नाशस्यत्वात् अकिञ्चित्करो विनाशहेतुः । अथानित्यं तदा तस्य स्वत एव नश्वरत्वात् किं  
विनाशहेतुना ? । अथ कालान्तरस्थायिनो<sup>११</sup> विनाशहेतुना विनाशः क्रियते । न, कालान्तर-<sup>१२</sup>  
स्थायित्वे नित्यतैव स्यात् । येन हि<sup>१३</sup> स्वभावेन भावः संवत्सरं स्थितः स चेत् संवत्सरान्तेऽपि  
स्वभावः, पुनरन्यत् संवत्सरान्तरमासितन्वयम् । तत्राप्येवमिति कालान्तरस्थायित्वाभ्युपगमे  
नित्यतैवापतति । तत्र पक्षान्तरसंभव इति । तत्र च विनाशहेतोरकिञ्चित्करत्वमिति । तत्र  
स्वरूपकरणाद्विनाशहेतुरिति ।

§ १७. अथाभावं करोति । तदपि नास्ति । यस्मादभावः किं पर्युदासरूपः किं वा<sup>१४</sup>  
प्रसज्यरूपः ? । तत्र न तावत् पर्युदासरूपः, तस्यैव स्वन्तरलक्षणत्वात् । तत्करणे न  
विनाशस्य किञ्चित् कृतं स्यात् । तथाहि—मुद्राद् यदि कपालानामुत्पादो घटस्य किमाया-  
तम् ? । तदंशेन (तद्वंशेन) तेषामुत्पादादिति चेत्; तदुत्पादेऽन्यस्य ध्वंसः किं न  
भवति ? । तस्यैव निर्वृत्तेरिति चेत्; न, निवृत्तेर्वस्त्वन्तररूपत्वात् तदुत्पादे सर्वस्य स्यात् न  
वा कस्यचिदपि<sup>१५</sup> विशेषाभावादिति । असंबद्धं<sup>१६</sup> च स्यात् । तथाहि—कपालोत्पत्तौ कपालो-<sup>१७</sup>  
त्पत्तिरिति ।

§ १८. अपि च ध्वंसोऽपि किं घटस्वरूपः ? किं वा अर्थान्तरमिति ? किं वा तुच्छरूप  
इति ? । तदेवावर्तत इति अनवस्था । तन्नार्थान्तररूपाभावकरणे भावस्य किञ्चित्स्यात् ।  
किन्तु खरसत एव निवर्तमानो घटक्षणो मुद्रादिसहकारिकारणं प्राप्य कपालान्युत्पादयति ।  
तदुत्पत्तौ च विजातीयसन्तानोत्पादे 'नाशितो घटः' इति जनस्याभिर्मान इति ।<sup>१८</sup>

§ १९. अथ प्रसज्यरूपमभावं करोति । तदपि नास्ति । निरूपस्य कर्तुमशक्यत्वात् ।  
करणे वा भावरूपतैव स्यात् । यतो भवतीति भावोऽभिधीयते । नान्यद्भावस्यापि लक्षणम् ।  
अथ भावो भावरूपतया भवति अभावोऽभावरूपतयेति । विचित्ररूपा हि पदार्था भवन्ति ।  
न हि नीलं पीतरूपतया भवति । तदप्यसत् । यतः केनचिद्रूपेणोन्मज्जनं हि भवन्मभि-

१. अदृष्टपरिकं क० । २. तत्र मु० क० । ३. 'कान्तभेद' मु० क० । ४. 'हेतुत्वात् अ० इ० ।  
५. प्रत्यपेक्षाः अ० मु० क० । ६. अनपेक्षाश्च मु० क० । ७. भाव इति मु० क० । ८. तस्य हेतोरूपं  
मु० क० । ९. नित्यं तस्यां मु० क० । १०. 'विनश्य' क० । ११. 'स्थायिना वि' क० । १२. येन  
खं मु० क० । १३. संवत्सरः क० । १४. अथ भावं क० । अथ भावं न करोति मु० । १५. तस्याव-  
स्थान्तरलं क० । १६. कृतं तथाहि मु० । १७. तदंशेन तेषां अ० तद्वंशेन तेषां मु० । १८. निवृत्ति-  
रिति मु० क० । १९. 'चिदभावादिति मु० क० । २०. असंबन्धं स्यात् मु० क० । २१. 'निधान  
इति मु० क० ।

धीयते । सङ्गोपाङ्गारहितस्य निरूपत्वात् न कस्यचिद्रूपस्य करणमिति कथं तत्र हेतुव्यापारः फलवानिति । तस्मात् अभावं करोति<sup>१</sup>—भावं न करोतीति क्रियाप्रतिषेधमात्रं स्यात् । तस्माद्विनाशस्य अहेतुकत्वाद् उच्यमानन्तरं ध्वंसः । कुतोऽनुगतस्य रूपस्य संभवो येन त्रैरूप्यं वस्तुनः स्यादिति ? ।

१ ॥ १२०. अपि च, एकरूपत्वे वस्तुनः प्रथमे क्षणे यद्रूपं तदेव यदि द्वितीयादिष्वपि तदोत्पत्तिरूपत्वात् प्रथमक्षणस्यैव सर्वेषामुत्पत्तिरूपता स्यादिति प्रतिक्षणमुत्पादे न कस्यचित् स्थितिरिति । अथ प्रथमे<sup>२</sup> क्षणे उत्पत्तिः द्वितीयादिषु तु स्थितिरिति । तदा उत्पत्तिस्थित्योरुत्पत्तिस्थितिमद्भ्यां न भेद इति तयोरपि भेद<sup>३</sup> इत्यादिना क्षणिकस्य वस्तुनः सिद्धेः कुतो द्रव्यस्य संभव इति ? ।

११ ॥ १२१. अत्र वदन्ति । यद्यहेतुकत्वं नाशस्य तदा नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यात् । तत्र क्षणमत्र यदि घटाभावस्य सत्त्वं तर्हि अहेतोर्देष्टकालनियमाभावाज्जायते घटस्य नामापि भग्नः । न स्यात् । अथाऽसत्त्वं तदा घटस्य नित्यत्वं व्यापित्वं वा प्रसज्येत । अथ न घटात् तर्देभावस्य भेदः । एषं तर्हि कथमभावस्याहेतुकत्वम् ? । अन्यथा घटस्याप्यहेतुकता स्यात् । अथ घटहेतोरन्यो न सुदूरादिहेतुरित्यहेतुकतोच्यते । यद्येवं प्रथमेऽपि क्षणे न १२ ॥ घटस्य सत्त्वं स्यात्, विरोधिनिः संनिधानात् ।

१२ ॥ १२२. ननुक्तम्—न स्वरूपादन्योऽ[ऽ]भाव इति कः केन विरुध्यते ? । यद्येवं तदा घटस्य नित्यत्वं व्यापित्वं च स्यात् । तथाहि—यस्य यत्र स्वरूपं तस्य तत्र सत्त्वम् । यथा प्रथमे क्षणे घटस्य । अस्ति च सर्वत्र देशे<sup>४</sup> काले घटस्य स्वरूपभूतोऽभाव इति । अथ स्वहेतोरेकक्षणस्यापि घट उत्पद्यते तेन तदात्मको विनाशः कथ्यते । न पुनर्विनाशो नाम १३ ॥ कश्चिद् विमर्शवानिति । तेन द्वितीये क्षणे स एव न भवति । न पुनस्तस्य किञ्चिद् भवति । अथ द्वितीये क्षणे घटस्य किं सत्त्वं किं वाऽसत्त्वम् ? । यदि सत्त्वं कथं क्षणिकत्वम् ? अथासत्त्वम् तदा तदसत्त्वम् यद्यहेतुकं तदा प्रथमेऽपि क्षणे किं न भवति ? । अथ तदसत्त्वं न किञ्चिद् येन प्रथमेऽपि क्षणे स्यात् । यदि तन्न किञ्चिद् किं न घटो भवति ? ।

१४ ॥ १२३. अथ द्वितीयादिक्षणे तुच्छरूपोऽस्याऽभावो भवति तेन न सत्त्वमिति । प्रथमे क्षणे तुच्छरूपाभावाभावात् सत्त्वमिति । ननु तुच्छरूपोऽभावः किं घटादभिन्नः किं वा भिन्न इति ? । यद्यभिन्नः तर्हि पूर्वः प्रसंगः—प्रथमेऽपि क्षणे सत्त्वं न स्यात्, सर्वदेशकालेषु वा सत्त्वं स्यात् इति । अथ भिन्नः स किं निर्हेतुकः किं वा हेतुमानिति ? । यद्यहेतुकः तदा प्रथमेऽपि क्षणे घटस्य सत्त्वं न स्यात् अहेतुकत्वात् तस्य तत्रापि भावात् । अथ हेतुमांसादा कथमहेतुकोऽभावः इति ? ।

१५ ॥ १२४. अपि च तुच्छरूपाभावोत्पत्तौ द्वितीयादि क्षणेषु यदि घटो न भवति त्रैलोक्यमपि<sup>५</sup> किन्न न भवति ? । तत्संबन्धिनोऽभावस्योत्पत्तेः स एव न भवति न तु<sup>६</sup> त्रैलोक्यमिति

१. करोतीति न करो० ब० । २. सद्भावो क० । ३. प्रथमक्षणे मु० । ४. तदोत्पत्तिस्थितिमद्भ्यां क० मु० । ५. भेदे इत्यां अ० ब० । ६. तदा हेतो मु० । ७. तदाभा० क० । ८. भेदः तर्हि मु० । ९. घटस्याप्य० मु० । १०. न सुदूरादिहेतुकतोच्यते अ० । ११. विरोधिनि क० । १२. देशकाले मु० क० । १३. क्षणे एव मु० क० । १४. तथा अ० ब० । १५. अपि न किन्न भ० मु० क० । १६. तप्तौ स अ० । १७. न त्रैलो० ब० मु० क० ।

वेत्; कः संबन्धः ? । न तावत् तादात्म्यम्, तत्र पूर्वसैवोक्तं दूषणम् । अथ तदुत्पत्तिः । तदपि नास्ति यतः किम् अभावेन घटो जन्यते किं वा घटेन अभाव इति ? । तत्र यद्यभावेन घटो जन्यते तदा तत्कारणवैफल्यं स्यात् । सर्वत्र च घटस्य सत्त्वं भवे-  
दिति । अथ घटेनाभावो जन्यते तदा कथमहेतुकत्वम् ? । द्वितीयश्च घटक्षणोऽभावेन  
व्यवहितोत्पत्तिः स्यात् । अथ द्वितीयघटक्षण एव प्रथमस्याभावो नान्योऽभावोऽन्तराले,  
कश्चिदिति । ननु तस्य क्षणिकत्वात् तद्विनाशे प्रथमघटस्योत्पत्तिः स्यात् । एवं कपाल-  
विनाशेपि ।

§ २५. अपि च यदि वस्तुन्तरमेवाभावः तदा यदुक्तं—‘पर्युदास एवैको नमर्थः  
स्यात् सोऽपि वा न भवेत् । यदि हि किञ्चित् कुतश्चिद् व्यावर्तेत तदा तदव्यतिरेकि संस्तु-  
श्येत् तत्पर्युदासेन अन्यथा घटो न भवतीत्युक्ते पटो भवति इति पटस्य विधिरेवोक्तः ॥  
स्यात् न घटस्य निवृत्तिरिति’ विद्वध्येत् । तस्मात् सुदूरमपि गत्वा वस्तुभयात्मकमभ्युप-  
गन्तव्यम् । स्वरूपेण सत् पररूपेणासदिति । तेन भाववत् तदभावोऽपि हेतुमिति ।

§ २६. अपि चैकमेकान्तवादिनो जन्मान्यहेतुकं स्यात् । तथाहि—कारणेन कार्यस्य किं  
जन्म भिन्नं क्रियते ‘किं वाऽभिन्नं क्रियते ? । यदि भिन्नं क्रियते तदा कार्यस्य न किञ्चित्  
कृतं स्यात् । तत्संबन्धित्वं च “संबन्धनिरासात् निरस्तम् । अथाभिन्नं क्रियते तदा तदेव ॥  
क्रियते न जन्म । तच्च किं विद्यमानं क्रियते किं वा अविद्यमानम् ? । यदि विद्यमानं तदा किं  
क्रियते ? । अविद्यमानं तदा क्षणविषाणमपि क्रियेत । अविद्यमानमेव क्रियते न तु  
अविद्यमानं क्रियत एव । तेन यस्य कारणमस्ति तत् क्रियते यस्य नास्ति तच्च क्रियते । ननु  
अविद्यमानत्वंविशेषेऽपि मृत्पिण्डो घटस्यैव कारणं न क्षणविषाणैरेति किं कृतो नियमः ? ।  
अथ यस्योत्पत्तिर्दृश्यते तस्य कारणं नैतरस्य । ननु अविद्यमानत्वाविशेषेऽपि एकस्योत्पत्तिः ॥  
नान्यस्येति कुतः ? । वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यमिति चेत्; एवं तर्हि हेतुमद्विनाशवाच्येतद्वक्तुं  
शक्नोति । कपालोत्पत्तौ घटस्यैवाभावः क्रियते नान्यस्येति वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यमिति ।  
तद्युक्तिवादिना पादप्रसारणं न कर्तव्यम् किन्तु युक्तिरनुसरणीया ।

§ २७. तत्रैकान्तवादे उत्पादव्ययौ “निर्युक्तिकाविति । अनेकान्तवाद् एव युक्तिभारसह  
इति” तदेव वस्तु केनचिद्रूपेण विनश्यति केनचिदुत्पद्यते” नैकान्तेनासदुत्पद्यते नाप्येकान्तेन ॥  
विनश्यति इति युक्तं । तदेवमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं वस्तुनभिधानानि आगमान्तराणि  
मिथ्यावादीनि इति । तस्मात् सूक्तम्—जैनादन्यच्छासनमनृत्तं भवतीति ।

§ २८. ननु भवतु विधिनियमभङ्गवृत्तिर्येतिरिक्तत्वादप्यच्छासनमनृत्तमनम्ब(मन्ब)-

१. नास्तीति यतः क० । २. घटेनेति अ० । ३. तत्करणं मु० क० । ४. द्वितीये घटं अ० ।
५. नावोऽ मु० क० । ६. तिरेके सं मु० क० । ७. विधिरुच्येत मु० क० । ८. भिन्नं क्रियते  
यदि क० । ९. वाऽभिन्नं यदि मु० । १०. तत्संबन्धनिरासात् अ० । तत्संबन्धनिरासात् मु० क० ।
११. संबन्धित्वनिरा अ० । १२. मानं क्रियते यदि अ० मु० । १३. क्रियते तदा मु० क० ।
१४. तथा मु० क० । १५. न तु अ० । १६. त्वविशे मु० क० । १७. सापि किं अ० अ० ।
१८. सैव किं मु० । १९. यो न युक्तिं मु० क० । २०. इत्यादि अ० अ० । २१. षते  
नाप्येका अ० । २२. व्यक्तिरि अ० ।



रवपुषां त्वभ्युपगमः कथम् ? तस्य हि विधिनियमभङ्गवृत्त्यव्यतिरिक्तत्वादिति । तेऽपि स्त्रीणाममोक्षमन्त्रागममभ्युपेताः तेन मिथ्यादृष्ट इति । तदुक्तम् ।

“पयमकखरं च एगं जो न रोपैर सुत्तनिहिदुं ।

सेसं रोतन्तो वि हु मिच्छहिद्वी जमालि व्व ॥”

- \* तथाहि — यथा तिर्यग्भारकामरासंख्यातायुःसम्पूच्छजनरेषु रत्नत्रयस्य निर्वाणहेतोरभावो-  
भिहितोऽर्हता तथा न योषासु तथापि ते तत्र तदभावं प्रतिपन्ना इति । नापि प्रत्यक्षेण  
रत्नत्रयस्याभावः, परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वात् । नाप्यनुमानेन प्रत्यक्षाभावे तस्याप्यभावात् ।  
तदेवं प्रत्यक्षानुमानागमैवाधितं ज्ञानदर्शनचारित्र्यलक्षणं रत्नत्रयमविकलं कारणं निर्वाणस्य  
स्त्रीष्वस्तीति कथमनिर्मोक्ष इति । प्रयोगः — यदविकलं कारणं तदवश्यमेव कार्यमुत्पादयति  
॥ यथा अन्त्या बीजादिसामग्री अङ्कुरादिकम् । अविकलं च मिःश्रेयसकारणं योषित्विति ।

- § २९. अथाधस्तादुत्कृष्टगमनवद् उपरिष्ठादप्युत्कृष्टगमनासंभवः तासामिति स्त्रीत्वेनैव  
‘विकलं रत्नत्रयमित्यसिद्धो हेतुरिति चेत्; न, प्रतिबन्धाभावात् । न हि सप्तमपृथ्वीगमनो-  
भावो मोक्षाभावेन व्याप्तौ’ विपर्यये व्याप्तेरसिद्धेः । ईहं यद्यत्र नियम्यते तद्विपर्ययेण तद्वि-  
पक्षस्य व्याप्तौ नियमः सिध्यति । यथा वह्निना धूमस्य व्याप्तौ धूमाभावेन वह्न्यभावस्य  
॥ व्याप्तिः । यथा वा शिशपात्वस्य वृक्षत्वेन व्याप्तौ वृक्षत्वाभावस्य शिशपात्वाभावेन व्याप्ति-  
रिति । न चैवं सप्तमपृथ्वीगमनं कारणं मोक्षगमनस्य नापि तदात्मकम् येन विपर्ययव्याप्तिः  
स्यादिति । न चाव्यापकनिवृत्तावपि व्याप्यस्य निवृत्तिरिति प्रसंगात् । न च स्त्रीत्वेनाविकल-  
कारणं भवन्निर्वाणकारणं निवर्त्यमानमुपलब्धम् । येन ‘विरोधादसिद्धो हेतुः स्यादिति ।

- § ३०. न चोत्कृष्टाशुभपरिणामेन उत्कृष्टशुभपरिणामस्य व्याप्तिः येन तदभावे तस्याप्य-  
॥ भावतः प्रकृष्टाशुभार्जनायोग्यत्वे प्रकृष्टशुभार्जनायोग्यत्वं तासां स्यादिति । उक्तं च ।

“विषमगतयोप्यधस्तात् उपरिष्ठानुल्यमासद्वन्द्वारम् ।

गच्छन्ति च तिर्यञ्चस्तदधोगतिन्यूनताऽहेतुः ॥” [ जीमु० श्लो० ६ ]

“भूयन्ते चानन्ताः सामाधिकमात्रपदसिद्धाः ॥” [ तत्त्वार्थसं० का० २७ ]

इति वचनात् नोत्कृष्टशुभभावेन सिद्ध्यभावः स्त्रीणामिति ।

- \* § ३१. न च वक्षेण व्यवधानं निर्वाणस्य, अन्यथा तद्रहितानां तस्य सत्त्वं स्यात् ।  
मोहयुक्तत्वात् [ न ] इति चेत्; स एव तर्हि परिग्रहोऽस्तु न वक्षादिरिति । अन्यथा  
“कप्यह निगंधाणं निगंधीणं समणीणं” ति व्यपदेशो न स्यात् । तेन मूर्च्छां परिग्रहं  
वर्णयन्ति नोपकरणम् । तेन पुंसामपि वस्त्रपात्रादि धर्मोपकरणं न परिग्रह इति । तदुक्तम् ।

“यत् संयमोपकाराय वर्तते प्रोक्तमेतदुपकरणम् ।

- \* धर्मस्य हि तत् साधनमतोन्यधिकरणमाहार्हम् ॥” [ जीमु० श्लो० १२ ]

१. जनभ्यु० ब० । २. एगं पि जो ब० । ३. रोवह ब० । ४. मानेन अप्रत्यक्षे एतस्य मु० ।  
५. गमनाधि० क० । ६. विकलका० ब० । ७. अवस्था० ब० मु० क० । ८. नैव निवृद्धं अ० ब० ।  
९. गमनामोक्ष० अ० । गमनाभावे मोक्ष० क० । १०. व्याप्तिः मु० क० । ११. इत आरभ्य ‘प्रोक्तमे-  
तदुपकर’ [ पं० २९ ] पर्यन्तं मु० प्रतो नास्ति सं० । १२. गमकं अ० । १३. ‘पकलनिवृत्ताव-  
स्याप्यस्य अ० । १४. निवृत्तिरिति प्रसं० अ० । १५. विरुद्धादसि ब० । १६. स च एव परि० क० ।  
१७. पुंशमिति वक्ष अ० ।

§ ३२. अपि च, संसारस्य किं कारणं बन्धादिः, किं वा रागादिरिति ? यदि बन्धादिः तदा तद्रहितानां मोक्षः स्यात् । अथ रागादिः तदा तद्विपक्षसेवया रागादिविशयो न बन्धादित्यगेन । अथ बन्धादिधावनादौ हिंसा भवति । सा च संसारकारणमिति । तन्न, अप्रमत्तस्य हिंसायामपि बन्धाभावात् । तदुक्तम्—

“जियउ य मरउ य जीवो भज्याचारिस्स निरैल्लो बन्धो ॥

पययस्स नरिथ बन्धो हिंसामेत्तेणै दोसेण ॥” [ प्रवच० १. १७ ]

“उच्चालियम्मि पाए ईरियासमियस्स वेदमाणस्स ।

धावज्जेज्ज कुलिगी मरेज्ज तं जोगमासज्ज ॥

नै हु तस्स तण्णिमित्तो बन्धो सुहुमो वि देसिओ समए ॥”

[ ओष० ७४८-७४९ ]

तस्मात् प्रमादादिवैव हिंसा न बन्धादिधर्मोपकरणग्रहणमिति ।

§ ३३. अबन्धाः स्त्रियः । तेन न निर्वाप्तीति चेत् ; नैतु कस्यावस्थाः ? । किं सर्वस्य, किं वा एकस्य कस्यचिदिति ? । न तावत् प्रथमः पक्षः ; चक्रवर्त्यादिभिर्वन्यत्वात् । द्वितीयपक्षे तु गणधर्मादीनामप्यनिर्मोक्षत्वप्रसंगः । तेऽपि हि नार्हता वन्यन्ते । अथ महर्षेः सत्यवन्द्यत्वात् इत्युच्यते । तथाहि—महतीभिरपि<sup>१</sup> दिनवीक्षितो<sup>२</sup> वन्यते । न पुनस्तालेनेति ।<sup>३</sup> नैतदस्ति । महर्ष्वामहर्षव्यवस्थितेरागमनिबन्धनत्वात् । ‘धर्मस्य पुरुषप्रधानत्वात् तेन पुरुषस्य महर्षं न स्त्रीणाम्’ इति आगमः ।

§ ३४. अतिसंछिष्टकर्मत्वादिति चेत् । न, कर्मलाघवस्य सम्यक्त्वादिप्राप्तौ तुल्यत्वात् ।

§ ३५. मायाप्रधानत्वात् सत्वरहितत्वात् इत्यपि न वक्तव्यम् । यतः—

“शीलानुरोधवलाः गुणरक्तसमुज्ज्वला अतिसूक्ष्माः ।

राज्यमपह्नाय साध्यः संजाताः सत्यभामाधाः ॥”

“गार्हस्थ्येऽपि सुसत्त्वाः विख्याताः शीलवत्तया जगति ।

सीतादयः कथं तास्तपसि विस्त्वा विशीलाश्च ? ॥” [ श्रीमु० ११ ]

§ ३६. अपि च यदि न स्त्रीणां मोक्षोऽस्ति तदाऽयमागमः कथम् ?

“अहुसयमेगसमए पुरिस्साणं निवुई समक्खाया ।

शीलिणेण च बीसं सेसा वसनं तुं बोद्धवा ॥”

औपचारिकत्वाद्येति चेत्—पुरुषस्यापि<sup>४</sup> स्त्रीवेदोदये सति स्त्रीवद् व्यवहृतिर्यथा लोके<sup>५</sup> पुरुषकार्याकरणात् पुरुषोऽपि स्त्रीति व्यवह्रियते । तदसत् । मुख्ये बाधकाभावात् । अन्यथा सर्वशब्दानां व्यवस्था<sup>६</sup> विलुप्येत । किं च, आप्ता अप्यौपचारिकशब्दैरेव वस्तु प्रतिपादयेयुः तदाऽऽप्तता हीयेत । प्रयोजनं औपचारस्य न किञ्चिदस्ति । वेदोदये तत्संभवप्रतिपादनं<sup>७</sup>

१. ‘रस्य कारणं अ० । २. निच्छिदा हिंसा प्रवच० । ३. हिंसामितेण समिदस्स प्रवच० । ४. वचनां मु० । ५. यस्स संक्रमहाए ओष० । ६. तज्जोगं मु० अ० व० । ७. न य तस्स ओष० । ८. वेद कस्यां क० मु० । ९. गणधराणाम् अ० । १०. महर्षेः सत्यं क० मु० । ११. ‘भिरपि मु० । १२. ‘क्षितोपि व’ मु० क० । १३. शीलानुरोधवलाः मु० । शीलानुरोधवलाः क० । १४. वसनं च नो अ० व० । १५. ‘स्यापि हि स्त्री’ क० । १६. लोकेषु क० । १७. स्याऽऽप्त अ० व० ।

प्रबोधनमिति चेत् । न, क्षीणवेदस्यैव निर्वाणप्राप्तेः । न च क्षीणवेदोदये सति क्षयभेदव्या-  
रम्भकत्वं येन तथा व्यपदेशः स्यात् । न हि दोषवन्तो गुणभेदविमारभन्ते । अथ कदाचित्  
तस्य क्षीणवेदोदय आसीत् तेन तथा व्यपदेशः, तर्हि क्रोधाद्युदयोऽपि कदाचित् आसीत्, तेन  
किञ्च व्यपदिश्यन्ते क्रोधवन्दः इत्यन्तः सिध्यन्तीति । तस्मात् औपचारिकत्वमागमस्य प्रति-  
पक्षमानो विधिवाक्यस्यैव प्रामाण्यमिच्छतो मीमांसकस्यानुहरति ।

§ ३७. अपि च चतुर्वर्णगुणस्यानानि क्षीणमर्हंतोक्तानि निर्मोक्षत्वे विदुष्यन्ते ।

एवं जिनवरकथितं क्षीणमपि मोक्षं न साधु मन्यन्ते

विध्यादिवादिनोऽपि हि तथापि निध्यादृशोऽङ्गीकारः ।

एवं सप्तनयान्मुचेर्जिनमतात् बाह्यागमा येऽभवन्

स्थित्युत्पादविनाशवस्तुविरहात् तान् सत्त्वतायाः क्षिपन् ।

यो बौद्धावधिबुद्धतीर्थिकमतप्रादुर्भवद्विक्रमः

महो महमिबान्यवादमजयच्छ्रीमल्लवादी विभुः ॥

प्रामाण्यलक्षणमबाध्यमनन्यनेयं सूत्राभिधानिगदितं विज्ञप्तं यदर्थम् ।

मोक्षार्थसाधनपदार्थविधौ पटीयः प्रोक्तं प्रमाणमिह शाब्दमिदं गरीयः ॥ [ ५६ ]

॥ इति श्रीशान्तपाचार्यविरचितायां नार्तिकवृत्तौ आगमपरिच्छेदः ॥

सूरिश्चन्द्रकुलामलैकतिलकभारिप्ररत्नान्मुषिः

सारे लाघवमादधाति च निरेयो र्वर्धमानाभिधः ।

तच्छिष्यायववः स सूरिरभवच्छ्रीक्षान्तिनामा कृत

येनेयं विवृतिर्विचारकलिका नामा स्मृतावा[त्मनः] ॥ १ ॥

अवज्ञानं हीने समधिकगुणे द्वेषमधिकम्

समाने संस्पर्धा गुणवति गुणी यत्र कुर्वते ।

तदस्मिन् संसारे विरलमुजनेऽपास्तविषया

प्रतिष्ठाशा शास्ते तदपि न भवेत् कृत्यकरणम् ॥ २ ॥<sup>११</sup>

॥ सन्ध्याय २८७३ ॥

१. नाशीन मु० क० । २. क्रोधवन्तः सि० अ० । ३. प्रतिपाद्यमाने मु० क० । ४. यो बौद्धाव-  
धिबुद्धिर्लो० अ० । ५. चैत्यलक्षणं अ० । ६. सूत्रमिदा नि० ब० । ७. परिच्छेदः चतुर्वर्णः संपूर्णः  
इत्येवं एषा पुष्पिका—सूरिबन्नेत्यादिग्रन्थद्वयप्रशस्तिः क्रोधाद्युदयानन्तरं मुक्तिप्रप्तौ वर्तते । सं० । ८. इदं पदं  
अ० प्रतीतिः । ९. अवज्ञा न हीने क० । १०. तदपि न भवेत् अ० ब० मु० । ११. ॥ २ ॥  
मंगलं महा श्रीः ॥ छिपीकृतं लेखा व्यास लादुराम जेठमल । रवादी अहिपुरमध्ये । जयकमेदस्यः मुषा  
ज्ञानवन्दः बरेलीबागोत्रीयः । यस्य भार्यायां किञ्चापितमिदं पुस्तकं । श्रीमद्विजयावन्दसूरिचरणौ प्रथमकिञ्च-  
पक्षिभीममन्त्रीविजयामिषानाः, तेषां शिष्यदंताक्योपदेशात् लिखापितं क० । इति श्रीशाला.....आगम-  
परिच्छेदः चतुर्वर्णः संपूर्णः । संवत् १९६५ शाके १८३० पौष कृष्ण द्वितीया २ तिथौ सोम्यवाक्ये समाप्तम्-  
मु० । १२. अ० मु० क० आर्योऽनु-वाक्यं सं० ।

॥ टिप्पणानि ॥



## टिप्पणानि ।

पृ० ११. पं० ४. 'हिताहितार्थ'—इस कारिका की दो व्याख्याएँ वृत्तिमें हैं । उनमें से दूसरी व्याख्या (पृ० १३. पं० १२) स्पष्टतया दिग्भागे के 'प्रमाणसमुच्चय' के 'प्रमाण-भूताय' इत्यादि मंगल श्लोक का अनुकरण करके की गई है । दिग्भागे ने 'प्रमाणसमुच्चय' की रचना करते समय बुद्ध भगवान् को 'प्रमाणभूत' कहा है । वही बात शान्खाचार्य ने प्रस्तुत कारिका की दूसरी व्याख्या में कही है ।

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है कि "प्रमाणेन खल्वयं ज्ञातार्थमुपलभ्य तमर्थम-भीप्सति, जिहासति वा" (१. १. १) । उद्घोत करने से स्पष्टीकरण किया है कि उपेक्षणीयार्थ की प्रतिपत्ति से पुरुष की प्रवृत्ति या निवृत्ति होती नहीं है किन्तु सुखहेतु या दुःखहेतु अर्थ की तथाभूत प्रतिपत्ति ही प्रवर्तक या निवर्तक होती है ।—न्यायवा. पृ० ७ ।

इसी बात को लक्ष्य में रख कर आचार्य धर्म कीर्ति ने 'प्रमाणसमुच्चय' के उक्त मंगल श्लोक के वार्तिक में कहा है कि भगवान् हेयोपादेय तत्त्व के ज्ञाता होने से प्रमाण है ।—प्रमाणवा० १. ३४ । उन्होंने ज्ञान के प्रामाण्य का भी समर्थन उसी प्रकार से किया है ।—प्रमाणवा० १. ५ । ३. २१७ । फलितार्थ यह है कि प्रमाण हेयोपादेय तत्त्व के विवेक में समर्थ होना चाहिए । धर्मोत्तर ने 'न्यायबिन्दु' की टीका में आदिवाक्य की व्याख्या में स्पष्ट कहा है कि—सर्व पुरुषार्थ की सिद्धि सम्यग्ज्ञान से होती है और वह सिद्धि हेय के हान में और उपादेय के उपादान में पर्यवसित है ।—न्यायवि० टी० पृ० ८ । उन्होंने उपेक्षणीयार्थ को हेय के अन्तर्गत मान लिया है ।

यद्यपि वात्स्यायन ने प्रमाण के—हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धि ऐसे तीन फल माने हैं (न्यायभा० १. १. ३; १. १. ३२) फिर भी उन्होंने प्रमाण को, जैसा ऊपर कहा गया है, हेय के हान में और उपादेय के उपादान में समर्थ बताया है । उद्घोत करने उस का समर्थन किया है । ठीक वैसे ही यद्यपि सिद्धसेन और समन्तभद्र ने प्रमाण के तीन फल माने हैं और उस का समर्थन अकलंकने किया है ।—(न्याया० २८; आसमी० १०२; न्यायवि० का० ४७६) फिर भी अकलंकने अनेकत्र प्रमाण को हेयार्थ के हान में और उपादेयार्थ के उपादान में समर्थ बताया है । साथ ही उपेक्षणीयार्थ की उपेक्षा की बात नहीं कही । प्रभाचन्द्राचार्य जैसों ने धर्मोत्तरादिकी तरह उपेक्षणीयार्थ के पार्थक्य का भी निरास किया है ।—प्रमेयक० पृ० ४ ।

इससे स्पष्ट है कि अकलंकने इस विषय में वात्स्यायनादिके पूर्वोक्त कथन का अनुसरण

१. प्रभाचन्द्र ने भी 'परीक्षासूत्र' के प्रथमश्लोक की दूसरी व्याख्या वैसे ही की है—प्रमेयक० पृ० ७ । २. गुरुता—“हिताहितविधिभ्यास्तेष्वसंगमावयन्” आत्मतत्त्वविवेक पृ० १ । १. “हिता-हितार्थप्राप्तिपरिहारसमर्थं हे एव प्रमाणे”—प्रमाणसं० पृ० ९७ पं० ७; लक्ष्मी० स्व० का० ६१; न्यायवि० का० ४ इत्यादि ।

किया है । उन्हीं का अनुकरण शान्नाचार्य ने अन्य जैनाचार्यों की तरह प्रस्तुत कारिका में किया है ।

पृ० ११. पं० ५. 'सिद्धसेनार्कसूत्रितम्'—इससे स्पष्ट है कि शान्नाचार्य ने सिद्धसेन के सूत्र के ऊपर वार्तिक किया है । वे अपने वार्तिकों का विशेष नामकरण नहीं करते किन्तु वार्तिक की खोपड़ा वृत्ति को उन्होंने 'विचारकलिका'<sup>३</sup> ऐसा नाम दिया है जो वृत्तिगत प्रशस्तिश्लोक से स्पष्ट है ।

सिद्धसेन का वह सूत्र 'न्यायावतार' नामक द्वात्रिंशिका ही है; क्योंकि वार्तिक का आधारभूत 'प्रमाणं खपराभासि' इत्यादि शाब्दार्थ संप्राहक जो श्लोक उन्होंने दिया है वह न्यायावतार की प्रथम कारिका है ।

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के आष वैयाकरण श्री बुद्धिसागर के सहोदर आचार्य जिनेश्वर ने 'श्वेताम्बरों के पास अपना प्रमाणलक्षण ग्रन्थ नहीं है; वे परोपजीवी हैं' ऐसे आक्षेप के उत्तर में पूर्वाचार्यों का गौरव दिखाने के लिए आष सूत्र की सुकृति<sup>४</sup> न्यायावतार की ही उक्त कारिका को ले कर के 'श्लोकवार्तिक' की रचना की है, और उसे खोपड़ा वृत्ति से विभूषित किया है ।

अतएव आचार्य सिद्धसेन के ही न्यायावतार के ऊपर दो वार्तिकों की रचना हुई है यह स्पष्ट है ।

इन दोनों वार्तिकों के भी पूर्व में आ० सिद्धर्षि ने इसी न्यायावतार के ऊपर एक संक्षिप्त टीका लिखी है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेताम्बर आचार्यों ने स्पष्टरूप से सिद्धसेनाचार्य की इस छोटीसी वृत्ति का काफी महत्त्व बढ़ाया है ।

दिगम्बराचार्यों ने भी खासकर अकलंकने<sup>५</sup> इस का अच्छा उपयोग किया है ।

न्यायावतार को हम जैनन्याय का आष लक्षणग्रन्थ कह सकते हैं ।

पृ० ११. पं० ६. 'नमः स्वतःप्रमाणाय'—वृत्ति के इस मंगल श्लोक के साथ कुमारिल कृत मंगल तुलना के योग्य है—

"विशुद्धज्ञानवेदाय भिवेदीदिव्यचक्षुषे"—मीमांसा श्लोकभा० १ ।

जैनसंमत आप्त का प्रामाण्य स्वतः है । मीमांसक का प्रत्येक प्रमाण स्वतःप्रमाण है<sup>६</sup>; फिर भी उन के मत से आप्तस्थानीय महेश्वर, मनु आदि अतीन्द्रियार्य के साक्षाद्ब्रह्मा नहीं हैं । ऐसे पदार्थों का उन का ज्ञान वेदाश्रित है और वह वेद किसी पुरुष के द्वारा निर्मित या उपदिष्ट नहीं है किन्तु नित्य है—'अपौरुषेय है । वेदस्वरूप दिव्यचक्षु मिलने पर महेश्वर का

३. परीक्षा० १. २; प्रमेयक० पृ० ४; प्रमाणन० १. ३ । २. 'यदाचः किं वार्तिकं यदु मया श्लोकं सिद्धनां कृते' का० ५७ । ३. 'वेनेषं विवृतिर्विचारकलिका नामा' । ४. प्रमाणलक्षण का० ४०४ । ५. प्रमाणलक्षणवृत्ति का० ४०५ । ६. 'श्लोकैर्वार्तिकमापद्यसिद्धौ'—प्रमाणलक्षणमीमांसके मंगलाचरणकी कारिका० ४ । ७. देखो 'न्यायावतार की तुलना' का परिशिष्ट । ८. "स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्"—श्लोकभा० २. ४७ । ९. "यदा बहुरभावेन न ह्युदोका मिरजयाः"—श्लोकभा० २. ६३ । "वेदज्ञादौपेक्षते सिद्धा त्वेव प्रमाणता"—श्लोकभा० २. ९७ ।

ज्ञान विशुद्ध हो सकता है लेकिन जैनों के आस की तरह अपने दोषों का क्षय करके सकल अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात्कार करना उन का काम नहीं ।

जैन, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और योग इन सभी के परमात्मा सभी वस्तुओं का साक्षात्कार करके उन के विषय में दूसरों को उपदेश करते हैं अतएव वे प्रत्यक्ष से अपने अपने पक्ष के उपदेश कहे जाते हैं । जब कि मीमांसक के मत से वे ऐसा नहीं कर सकते । मीमांसक के मत से अतीन्द्रिय वस्तुओं का उपदेश आगमाश्रित है और वह आगम स्वयंसिद्ध है । मीमांसकेतर के मत से आगम आताश्रित है और आस स्वयंसिद्ध है ।

मंगल की रचना के समय स्तोत्रव्य पुरुष को ग्रन्थगत विषयानुसूच विशेषण देने की प्रथा प्रायः प्राचीन और नवीन ग्रन्थों में देखी जाती है । उसी का अनुसरण करके शान्स्याचार्य ने प्रस्तुत वृत्ति के मंगल में और वार्तिक के प्रथम श्लोक की व्याख्या में भगवान् को 'प्रमाण' कहा है ।

आ० दिग्गज ने भी 'प्रमाणसमुच्चय' की रचना करते समय भगवान् बुद्ध को 'प्रमाणभूत' कहा है । प्रमाण, खासकर प्रत्यक्ष प्रमाण, बौद्ध के मत से निर्विकल्पक होता है अतएव धर्म की रीति ने 'प्रमाणवार्तिक' के प्रारम्भ में भगवान् को 'विधूतकल्पनाजाल' कहा ।

जैनाचार्य प्रभाचन्द्र भी भगवान् को 'प्रमाणलक्षण' कहते हैं । कुमारिल जब वेदाश्रित मीमांसा दर्शन का समर्थन करने के लिए प्रस्तुत हुए तब उन्होंने ने महादेव को 'त्रिवेदीदिव्य-चक्षुष्' कहा ।

पूज्यपाद जब मोक्षमार्गशास्त्र की टीका करने लगे तो भगवान् को 'मोक्षमार्ग के नेता' कहा—'मोक्षमार्गस्य नेतारम्'—सर्वार्थ० ।

योगविषयक ग्रन्थ का प्रणयन करते समय आचार्य हरिभद्र ने भगवान् को अयोगम्, योगिगम्यं ( योगद० ), योगीन्द्रवन्दितम् ( योगबिन्दु ) कहा । जब कि दार्शनिक कृति में उन्होंने ने भगवान् को 'सदर्शन' ( बह्द० ) कहा है । वे ही जब 'सर्ववृत्तिसिद्धि' रचते हैं तब भगवान् को 'अखिलार्थवृत्ताऽऽखिलमूर्ति' कहते हैं । 'अनेकान्त की जयपताका' फहराते समय वही आचार्य भगवान् को 'समस्तवस्तुवादी' के रूप में देखते हैं ।

वेदान्त के किसी भी ग्रन्थ में यदि मंगलाचरण है तो वह ब्रह्म के स्वरूप प्रतिपादक विशेषणों से युक्त अवश्य होगा ।

ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं । इतने उदाहरणों से हम उक्त नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि यह भी एक प्रथा अवश्य रही कि ग्रन्थकार अपने प्रतिपाद विषय के अनुसूच विशेषण से इस देवको भूषित करते थे ।

पृ० ११. पं० ७. 'पञ्चरूपेण'—आवश्यक निर्युक्ति में नमस्कार शब्द का पदार्थ बताते समय कहा है कि 'द्रव्यभावसंकोचण' पदार्थ है । अर्थात् नमस्कार दो प्रकार से होता है—एक तो बाह्य शरीर के अवयवों का संकोचन, यह द्रव्यसंकोचनरूप द्रव्य नमस्कार है; और दूसरा विषुद्ध मन को प्रणति में लगाना, यह भावसंकोचरूप भाव नमस्कार है । मनःशुद्धिपूर्वक जो



द्रव्यनमस्कार किया जाय वही सफल है। कोरा द्रव्य नमस्कार निष्फल होता है। द्रव्य नमस्कार न भी हो किन्तु भाव नमस्कार हो तब भी वह फलदायी है<sup>१</sup>।

प्रस्तुत में शान्त्याचार्य जिन भगवान को पञ्चरूप से नमस्कार करने की बात कहते हैं। यद्यपि यह उल्लेख उन के द्रव्य नमस्कार का ही है फिर भी वह भावनमस्कारपूर्वक ही होगा ऐसा समझना चाहिए। उन्होंने ने अपने भाव नमस्कार की सूचना भगवान के गुणवर्णनसे दी है।

द्रव्य नमस्कार जिन पांच रूप से किया जाता है उन का वर्णन बंदन कप्र की णीक में है—

“दो जाणू दोष्णि करा पंचमंगं होइ उत्तमंगं तु ।

पणिबाओ पंचंगो भणिओ सुत्तहुदिट्ठीहि ॥” बंदन० १४ ।

अर्थात् प्रणाम पांच अंगों से किया जाता है। दो हाथ, दो जानु और मस्तक इन पांच अंगों के संकोचन से द्रव्य नमस्कार होता है।

पृ० ११. पं० ८. ‘अन्यार्थवत्तेति’ इस पद्य में शान्त्याचार्य ने सज्जनों को निर्मत्सर होकर अपने ग्रन्थ की परीक्षा करने को कहा है। यह एक पुरानी प्रथा का अनुकरण मात्र है। महाकवि कालिदास ने भी ऐसा ही अपनी कृति ‘रघुवंश’ में किया है<sup>२</sup>; और कालिदास के बाद भी यही प्रथा बराबर चालू रही<sup>३</sup>।

‘अपूर्वार्थक होने से ग्रन्थ की रचना अनावश्यक है, क्योंकि वह स्वरुचिविरचित होने से सत्पुरुषों के आदर योग्य नहीं। यदि पूर्वप्रसिद्धार्थक ग्रन्थ की रचना करते हो तब तो और भी अनादरणीय है, क्योंकि पिष्टपेषण होनेसे व्यर्थ है’ इन आक्षेपों का समाधान आचार्य विद्यानन्द ने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में दिया है (पृ० २. पं० २२)।

शान्त्याचार्य ने भी ‘अन्यार्थवत्ता’ शब्द से उपर्युक्त दोनों आक्षेपों का उल्लेख किया जान पाइता है। क्योंकि इस शब्द का ‘अन्य अर्थ से युक्तता’ अर्थात् अपूर्वार्थकत्व और ‘अन्यों के अर्थसे युक्तता’ अर्थात् पूर्वार्थकता ऐसे दोनों अर्थ स्पष्टतया फलित होते हैं।

शान्त्याचार्य ने इन आक्षेपों का उत्तर दिया है कि दूसरों ने इसी बात को सामान्य रूप से कही है और मैंने उसे अन्यथा अर्थात् विशेष रूप से कहा है। अतएव मेरा कथन मात्र अपूर्वार्थक भी नहीं और मात्र पूर्वार्थक भी नहीं। सत्पुरुषों को चाहिए कि वे इस की परीक्षा करें।

इस के साथ जयन्त के ये शब्द तुलनीय हैं—

“कुतो वा नूतनं घस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः ।

वसोविन्यासवैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम् ॥”-न्यायमं० पृ० १ ।

“आदिसर्गात्प्रभृति वेदवदिमा विद्याः प्रवृत्ताः, संक्षेपविस्तरविवक्षया तु तांस्तांस्तत्र कर्तुं नाचक्षते”-पृ० ५ ।

इन्हीं का अनुकरण हेमचन्द्राचार्य ने ‘प्रमाणमीमांसा’ के प्रारंभ में किया है—पृ० १ ।

पृ० ११. पं० ८ ‘अन्यार्थ’ तुक्ता-यद्यपूर्वार्थमिदं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकं न तदा वक्तव्यम्, सतामनादेयत्वप्रसंगात्, स्वरुचिविरचितस्य प्रेक्षावतामनादरणीयत्वात्। पूर्वप्रसिद्धार्थं तु सुतरामेतन्न वाच्यम्, पिष्टपेषणवद्वैयर्थ्यात्-इति ह्युवाणं प्रत्येतदुच्यते”। इत्यादि तत्त्वार्थश्लो० पृ० २ पं० २२; प्रमेयक० पृ० ६. पं० ५ ।

१. विशेषां० २८५८, २८५९ । २. “तं सन्तः ओदुमर्हन्ति तद्वद्वयकिहेतवः” रघु० १.१० ।

३. “सन्तः प्रणयिवाक्यानि गृह्णन्ति ह्यनसूयवः” श्लोकवा० ३, न्यायमं० पृ० १ ।

पृ० ११. पं० १०. 'अभिधेयप्रयोजनम्' शान्खाचार्यने स्वकीय वार्तिककी प्रथम कारिकाको 'आदिवाक्य' मान करके कहा है कि इस वाक्यसे ग्रन्थकारने ग्रन्थके अभिधेयके प्रयोजनका अभिधान किया है। अत एव हम यहाँ आदिवाक्यके विषयमें कुछ चर्चा करें तो अनुपयुक्त न होगा।

आदिवाक्य के विषयमें निम्नलिखित मुद्दों पर विचार करना इष्ट है—

- ( १ ) आदिवाक्यका स्वरूप और स्थान ।
- ( २ ) आदिवाक्यकी चर्चाका प्रारंभ कब हुआ ? ।
- ( ३ ) आदिवाक्यका प्रतिपाद्य ।
- ( ४ ) आदिवाक्यका प्रयोजन ।
- ( ५ ) आदिवाक्यके विषयमें अनेकान्त ।

( १ ) ग्रन्थकार जब लिखने बैठता है तब कुछ न कुछ प्रारम्भमें लिखेगा ही । उसके आदिवाक्य होने पर भी यहाँ उस एक वाक्य या अनेक वाक्योंके समुदायरूप महावाक्यको 'आदिवाक्य' कहना इष्ट है जिसमें ग्रन्थके अभिधेयादिका प्रतिपादन किया गया हो<sup>१</sup> ।

वैसा आदिवाक्य ग्रन्थके प्रारम्भमें या मङ्गलके अनन्तर भी लिखनेकी प्रथा है । प्राचीन सूत्रग्रन्थोंमें बिना मङ्गलके ही आदिवाक्य उपलब्ध होते हैं और बादमें मङ्गल करना जब आवश्यक माना जाने लगा तब मङ्गलके अनन्तर भी कुछ ग्रन्थकारोंने आदिवाक्यका उपन्यास<sup>२</sup> किया है ।

प्राचीन कालसे ग्रन्थोंके आदिवाक्य दो प्रकारके मिलते हैं—

- ( अ ) सामान्यतः विषयप्रतिपादक ।
- ( ब ) विशेषतः विषयप्रतिपादक ।

( अ ) सामान्यतः विषयप्रतिपादक वाक्योंमें प्रतिपाद्य विषयका विभागशून्य सामान्य कथन होता है । अर्थात् ऐसे वाक्योंमें प्रतिपाद्य विषयका सामान्यरूपसे नामकरण मात्र होता है । ऐसे वाक्य हम प्राचीन श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्रोंमें तथा दार्शनिक सूत्रग्रन्थोंमें पाते हैं । जैसे—“अथ विष्यव्यपदेशे सर्वकृत्वधिकारः” लट्ठ्यायनश्रौ० । “अथातो गृह्यस्थालीपाकानां कर्म” — पारस्करगृ० । “अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः” — वैशे० इत्यादि ।

( ब ) विशेषतः विषयप्रतिपादक वाक्योंमें संक्षिप्त किन्तु विभागपूर्वक विषयनिर्देश होता है । जैसे—“अथातो दर्शपूर्णमासौ व्याख्यास्यामः—आपस्तम्बश्रौतसूत्र; “प्रमाणप्रमेयसंशय” इत्यादि न्यायसूत्र; “लक्षणं चावृत्तिस्तत्त्वं” इत्यादि ‘मध्यान्तविभाग’ की प्रथम कारिका; “प्रमाणं स्वपरामासि” इत्यादि न्याया० का प्रथम श्लोक इत्यादि ।

( २ ) ऊपर हम देख चुके कि श्रौतसूत्रके कालमें भी आदि वाक्यकी रचना तो होती थी । किन्तु श्रौतसूत्रकी बात तो जाने दें दार्शनिक सूत्रग्रन्थोंमें भी आदिवाक्यकी चर्चा

१. “शास्त्रं वेदप्रारम्भणीयं कमवृत्तिवाद्वाचः प्रथममवश्यं किमपि वाक्यं प्रयोक्तव्यम्...” इत्यादि न्यायमें० पृ० ६ । २. श्रुतेकथा० का० २ । प्रमाणसं० का० २ । लक्ष्मी० का० ३ । न्यायमें० पृ० १. का० ५ । इत्यादि ।

अर्थात् आदिवाक्यमें क्या कहना चाहिए और उसे क्यों कहना चाहिए यह चर्चा देखी नहीं जाती । इन मूल ग्रन्थोंकी जब टीकाएँ लिखी जाने लगीं तब ही इस चर्चा का सूत्रपात होता है । व्याकरण महा भाष्यके प्रारम्भमें ही पतञ्जलि ने व्याकरणके प्रयोजनोंका प्रतिपादन किया है । इससे हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि पतञ्जलिके समयमें ग्रन्थास्त्रमें प्रयोजनका प्रतिपादन करनेकी प्रयत्ने<sup>१</sup> मूर्तरूप धारण किया था । इससे पहलेके ग्रन्थोंमें ऐसी चर्चा हमारे देखनेमें आई नहीं और बादके प्रायः सभी ग्रन्थोंके प्रारम्भमें आदिवाक्यकी विविधरूपसे चर्चा देखी जाती है । इससे यही कहना पड़ता है कि यह चर्चा पतञ्जलि जितनी प्राचीन अवश्य है । 'व्याकरणका ही प्रयोजन बतानेकी क्यों आवश्यकता हुई' ऐसी शंकाका समाधान भी पतञ्जलिको करना पड़ा है—यह बात भी उक्त नतीजेकी पोषक ही है ।

( ३ ) आदिवाक्यके प्रतिपाद्यके विषयमें जो मतभेद हैं उन समीक्षा समावेश निम्नोक्त दो प्रकारोंमें हो जाता है—

( अ ) प्रयोजनादित्रयका प्रतिपादन ।

( ब ) असम्बन्धचतुष्टयका प्रतिपादन ।

( अ ) प्रयोजन, अभिधेय और सम्बन्ध ये तीन प्रयोजनादित्रय कहे जाते हैं । आदिवाक्यसे इन तीनोंका प्रतिपादन गौणमुख्यभावसे अनेक प्रकारसे आचार्योंने बताया है । उनमेंसे मुख्य प्रकार ये हैं—

१ शास्त्रके प्रयोजनका प्रतिपादन ।

२ अभिधेयके प्रयोजनका प्रतिपादन ।

३ अभिधेय और प्रयोजनका साक्षात् प्रतिपादन तथा सम्बन्धका अर्थात् ।

४ प्रयोजनादित्रयका प्रतिपादन ।

५ प्रयोजन और सम्बन्धका प्रतिपादन ।

६ शब्दतः शास्त्रके प्रयोजनका और अर्थतः अभिधेयका, अभिधेयके प्रयोजनका तथा सम्बन्धका प्रतिपादन ।

इन मतोंकी विशेषता और उनके माननेवालोंका वर्णन इस प्रकार है—

१—कुमारिलके मतसे आदिवाक्यमें शास्त्रके प्रयोजनका वर्णन होता है । सम्बन्ध आक्षेपलभ्य है जो कि शास्त्र और प्रयोजनका साध्यसाधनभावरूप है । शिष्यप्रश्नानन्तर्यादि अन्य सम्बन्ध नहीं । यही मत शान्तरक्षितको ( वादन्याय पृ० १ ) और अष्टशती

१. “कानि पुनः सम्बन्धानुशासनस्य प्रयोजनानि” इत्यादि पृ० १३ । २. पृ० ३७ । ३. ( १ ) सिध्य-प्रक्षानन्तर्यरूप संबंधकी कल्पना माठरने और गौडपादने सांख्यकारिकाकी अपनी अपनी दृष्टिमें की है । पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें भी वैसी ही कल्पना की है । ( २ ) गुणवर्कमसम्बन्ध की कल्पना नन्दीसूत्रके प्रारम्भमें है और किसी भी भाँसकने भी की है—न्यायरत्ना० न्तो० २४ । सांख्यकारिकाके अन्तमें भी गुणवर्कम है । ( ३ ) क्रियानन्तर्यरूपसम्बन्ध भी कहीं कहीं देखा जाता है—शांकरभाष्य० सू० १ । तत्त्वसौ० १.१ । न्यायरत्ना० न्तो० २२ । शास्त्रवा० का० १ ।

(का० १) में अकलंकको और तत्त्वार्थलोकवार्तिक (पृ० १. पं० ३३) में विमानन्दको मान्य है ।

२-कुमारिछादिके अनुसार आदिवाक्यसे शास्त्रके प्रयोजनका प्रतिपादन होता है । किन्तु धर्मोत्तरने कहा कि आदिवाक्यमें शास्त्रका प्रयोजन नहीं किन्तु शास्त्रके अभिधेयका प्रयोजन कहना चाहिए; क्यों कि वही बात श्रोताको ग्रन्थमें प्रवृत्ति कराएगी । ग्रन्थके अभिधेयादि सामर्थ्यलभ्य हैं ।-न्यायत्रि० टी० पृ० १-३ ।

यही मत सम्प्रति तर्कटीकाकार अभयदेव और प्रस्तुत ग्रन्थकार शास्त्राचार्य का है ।

३-इस विषयमें तीसरा मत न्यायमंजरीमें (पृ० ६) जयन्तभट्टका है कि आदिवाक्य से प्रधानरूपसे प्रकरणके प्रयोजन और अभिधेयका कथन होता है । सम्बन्ध आक्षेपलभ्य है । यही मत कमलशील (तत्त्वसं० पृ० २), हरिभद्र (न्यायप्र० वृ० पृ० ९), शीलक (सूत्रकृ० पृ० ४), सिद्धिर्षि (न्याय० टि० पृ० ७-८) आदिको मान्य है ।

४-उपर्युक्त प्रायः सभी मतोंमें सम्बन्धको आक्षेपलभ्य माना गया है । किन्तु आचार्य हरिभद्र शास्त्रवार्तासमुच्चयोंदिमें प्रयोजनादित्रयका प्रतिपादन आदिवाक्यमें मानते हैं ।

वाचस्पति, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र और वादी देवसूरिका भी यही मत है<sup>१</sup> ।

५-पदार्थधर्मसंग्रहके टीकाकार श्रीधरके मतसे आदिवाक्य प्रयोजन और सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है ।-कंदली पृ० ३ ।

६-उपर्युक्त सभी मतोंसे विलक्षण मत हेतुबिन्दुटीकाकार अर्चटका है । उन्होंने शाब्दन्यायके अनुसार आदिवाक्यका प्रतिपाद्य प्रकरणका प्रयोजन माना और आर्थन्यायके अनुसार प्रतिपाद्य प्रकरणका अभिधेय, अभिधेयका प्रयोजन और सम्बन्ध माना है ।  
-हेतुबिन्दुटी० पृ० १, ३ ।

इस प्रकार प्रयोजनादित्रयके विषयमें जो नाना प्रकारके मत हैं उन्हींमेंसे कुछका दिग्दर्शन ऊपर कराया है ।

(ब) अधिकारी, प्रयोजन, अभिधेय और सम्बन्ध ये अनुबन्ध चतुष्टय हैं ।

आचार्य शंकरने शास्त्रके प्रारम्भमें अनुबन्ध चतुष्टयकी व्यवस्था की है । उन्हींका अनुकरण करके प्रायः सभी वेदान्त ग्रन्थोंमें यही प्रथा देखी जाती है ।

इस अनुबन्ध चतुष्टयमें प्रयोजनादित्रयके अतिरिक्त अधिकारीका वर्णन भी होता है । प्राचीन ग्रन्थोंमें अधिकारीका वर्णन करनेकी प्रथा रही<sup>२</sup> उसीको शंकराचार्यने अनुबन्ध-चतुष्टयमें स्थान दिया ऐसा मानना चाहिए ।

इस प्रकार भिन्न भिन्न आचार्योंके मतसे आदिवाक्यका प्रतिपाद्य क्या होना चाहिए इसका संक्षिप्त वर्णन हुआ । अब हम उसके प्रयोजनके विषयमें नाना प्रकारके मतों को देखें ।

१. सम्प्रतिटीका पृ० १६९ । २. शास्त्रवा० का० १ । अनेकान्त० टी० पृ० ७ । योगह० टी० का० १ । तत्त्वार्थटी० पृ० ११ । ३. तात्पर्य० पृ० ३ । सिद्धिर्षि० टी० पृ० ४ । प्रमेयक० पृ० ३ । न्यायकृ० पृ० २१ । स्याद्वादर० पृ० ७. पं० २१ । ४. नन्दीसूत्रके प्रारम्भिक परिचरका वर्णन, न्यायवा० पृ० २ इत्यादि ।

( ४ ) आदिवाक्यके प्रयोजनके विषयमें भी नाना प्रकारके मतभेद देखे जाते हैं । उनमें से मुख्य ये हैं —

- ( अ ) शास्त्रार्थसंग्रह
- ( आ ) श्रोताकी प्रवृत्ति
- ( इ ) अर्थसंशयोत्पादन
- ( ई ) असिद्धतोद्भावन
- ( उ ) श्रद्धाकुतूहलोत्पादन

( अ ) प्राचीन भाष्य ग्रन्थोंमें प्रायः आदिवाक्यका प्रयोजन शास्त्रार्थसंग्रह ही बताया गया है । उस एक ही शास्त्रार्थसंग्रहके तीन रूप नजर आते हैं । वे इस प्रकार हैं —

१ — न्याय भाष्यकार वात्स्यायन ने शास्त्रकी प्रवृत्ति तीन प्रकारसे मानी है — उद्देश, लक्षण और परीक्षा । उनका कहना है कि आदिसूत्रमें शास्त्रके विषयका उद्देश हुआ है<sup>१</sup> । अर्थात् जिन विषयोंका इस शास्त्रमें लक्षण और परीक्षण किया गया है उन विषयोंका नाममात्रसे कथन ही<sup>२</sup> इस सूत्रसे होता है । सारांश कि आदिवाक्यका प्रयोजन उद्देश है । यह मत न्याय-भाष्यकार का है । और यह उद्देश शास्त्रार्थसंग्रह ही है<sup>३</sup> ।

तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामी भी खोपड़ भाष्यमें इसी मतका अवलम्बन लेते हैं — “शास्त्रानु-पूर्वाविन्यासार्थं तद्देशमात्रमिदमुच्यते” ।

२ — उपर्युक्त प्रकार वहीं संभव है जहाँ आदिसूत्रमें विभागपूर्वक विषयका कथन हों किन्तु “अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः” जैसे सूत्रोंमें जहाँ विषयका सामान्य निर्देश है; या “अथ प्रमाणपरीक्षा” जैसे सूत्रोंमें जहाँ सामान्यनिर्देश इस ढंगसे हुआ है कि ग्रन्थके नामका भी निर्देश हो जाय; वहाँ इन सूत्रोंको सकलशास्त्रार्थसंग्रहक होने पर भी उद्देशपरक समझना ठीक न होगा । इसे शबरस्वामी के मतानुसार सकलशास्त्रार्थकी प्रतिज्ञा, जिसका समर्थन संपूर्ण शास्त्रसे होता है, कहना चाहिए ।

यही प्रकार योगभाष्यके कर्ता व्यास ने अपनाया है ऐसा वाचस्पतिक कहना है । — तत्त्ववै० १.१ ।

३ — उपर्युक्त उद्देश और प्रतिज्ञाके अलावा शास्त्रार्थसंग्रहका एक तीसरा प्रकार भी है जो शास्त्रशरीर के नामसे प्रसिद्ध है । शास्त्रका शरीर दो प्रकारका है शब्दरूप और अर्थरूप — ( न्याया० टी० पृ० ८ ) । आदिवाक्यमें इन दोनों प्रकारके शरीरकी व्यवस्था करना चाहिए ऐसा भी प्राचीनकालमें कुछ लोगोंका मत अवश्य रहा होगा । फलस्वरूप हम न्यायवार्तिक के प्रारम्भमें शास्त्रशरीरकी व्यवस्था देखते हैं ।

१. “सोऽयमनवयवेन तन्मार्थं उद्दिष्टो वेदितव्यः” न्यायभा० १.१.१ । २. “नामधेयेन पदार्थमात्र-स्वामिधानमुद्देशः” न्यायभा० १.१.३ । ३. “स चायं शास्त्रार्थसंग्रहोऽनूयते नापूर्वो विधीयते” — न्यायभा० ४.२.१ । इससे पता चलता है कि वे उद्देशपरक आदि सूत्रको शास्त्रार्थसंग्रहक भी मानते थे । ४. “इत्येतानां प्रतिज्ञानां पिण्डस्यैतत् सूत्रम्” पृ० १२ । ५. वादन्यायटीका० पृ० २. पं० २२ । स्याद्वादर० पृ० १९ । ६. “शास्त्रं पुनः” इत्यादि पृ० २ ।

मध्यान्तविभागकी प्रथम कारिकाको वस्तुबन्धु ने शास्त्रशरीरकी व्यवस्थापिका कहा है किन्तु वह उद्देशके लिए ही है ऐसा समझना चाहिए ।

(आ) शान्त्याचार्य ने आदिवाक्यका प्रयोजन श्रोताकी प्रवृत्ति कराना ही माना है । यह मत बहुत पुराना है । वैसे तो यह मत कुमारिलका समझा जाता है किन्तु उसके पहले भी व्याकरण शास्त्रके प्रयोजन बताते हुए पतञ्जलिने कहा है कि अध्येता की प्रवृत्तिके लिए शास्त्रारम्भमें प्रयोजन बताना आवश्यक है । उसी बातका अनुवाद कुमारिल ने दार्शनिक क्षेत्रमें भी—सर्व प्रथम किया जान पड़ता है । कुमारिलके बादके बौद्धेतर दार्शनिक ग्रन्थोंमें प्रायः कुमारिलका ही मत उन्हींके शब्दोंमें खीकृत हुआ है ।<sup>१</sup>

(इ) आदिवाक्यको यदि प्रमाण माना जाय तब वह अर्थप्रतिपादक होकर प्रवृत्त्यंग हो सकता है । किन्तु बौद्ध दार्शनिक शब्दको बाह्यार्थमें प्रमाण नहीं मानते अत एव उन्होंने कहा कि शब्दरूप आदिवाक्यसे प्रयोजनका प्रतिपादन हो नहीं सकता । किन्तु ‘यह शास्त्र निष्फल है, अशक्यानुप्रेय है’ इत्यादि अनर्थसंशयको निवृत्त करके अर्थका संशय उत्पन्न करना यही—आदिवाक्यका प्रयोजन है । तदर्थी की अर्थसंशयसे ही शास्त्रमें प्रवृत्ति हो जायगी । इसी मतका समर्थन धर्मोत्तर, शान्तरक्षित, कमलशील आदि बौद्ध विद्वानोंने किया है ।

(ई) हेतुचिन्दु के टीकाकार अर्चट ने पूर्वोक्त मतोंका खण्डन करके एक नया मत स्थापित किया है । ‘जो सप्रयोजन हो वही आरम्भयोग्य है । यह शास्त्र तो निष्प्रयोजन है अत एव आरम्भयोग्य नहीं’ इस प्रकार व्यापकानुपलब्धिके बलसे जो शास्त्रको अनारम्भणीय कहता हो उसको व्यापकानुपलब्धि की असिद्धताका अर्थात् व्यापककी उपलब्धि का भान कराना यही आदिवाक्यका प्रयोजन है । ऐसा अर्चटका मन्तव्य है ।

इस मतका कमलशील ने खण्डन करके धर्मोत्तर के पक्षका ही समर्थन किया है । बौद्धों को शब्दका प्रामाण्य इष्ट न होने से इस मतकी अपेक्षा पूर्वोक्त मत ही उनको अधिक संगत जेंचे यह स्वाभाविक है । यही कारण है कि यह मत अर्चट के अलावा और किसी बौद्ध दार्शनिकको मान्य हुआ नहीं जान पड़ता । न्यायप्रवेशकी टीकामें हरिभद्रने, जो कि जैन हैं, अर्चटके मत को भी मान्य रखा है ।

(उ) आदिवाक्यसे श्रोताके दिलमें श्रद्धा या कुतूहल उत्पन्न करना इष्ट है—यह मत किसी जैनका ही है ऐसा अनन्तवीर्य के ‘खट्वर्य’ शब्दसे प्रतीत होता है । उन्होंने उसी मतको ठीक समझा है । विद्यानन्द इस मतको ठीक नहीं समझते<sup>२</sup> । उनको प्रथम मत श्रोताकी प्रवृत्ति ही इष्ट है ।

१. सुहृज्जवा आचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे—इमानि प्रयोजनानि अध्येयं व्याकरणम्” पात० पृ० ३८ ।  
२. “सर्वस्यैव हि शास्त्रम्” इत्यादि—श्लोक० १२ । ३. कंठली—पृ० ३ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २ । सम्मतिटी० पृ० १६९ । प्रमेयक० पृ० ३ । ४. इस मतका प्रसिद्ध समर्थक धर्मोत्तर होनेसे दूसरे आचार्य इस मतका उल्लेख धर्मोत्तर के नामसे करते हैं किन्तु उस मतका खण्डन अर्चट में है और अर्चट धर्मोत्तर से पूर्ववर्ती है अतएव वह मत धर्मोत्तरसे पहले किसी आचार्य का होना चाहिये । ५. “तद्वक्त्यादभिधेयादौ श्रद्धाकुतूहलोत्पादः ततः प्रवृत्तिरिति केचित् स्वयुध्याः” सिद्धिवि० टी० पृ० ४ । ६. तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४ ।

( ५ ) आचार्य विद्यानन्द ने आदि वाक्यके विषयमें दो प्रकारके अनेकान्तका स्थापन किया है । एक तो उन्होंने यह कहा कि आदिवाक्यका प्रयोग अवश्य कारणीय है सो बात नहीं । आदिवाक्य गम्यमान भी हो सकता है और प्रयुक्त भी हो सकता है । दूसरा उन्होंने यह भी कहा कि आदिवाक्य अनुमान प्रमाण भी है और आगम प्रमाण भी है । यही बात वादी देवसूरिने भी कही है । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३-४;—स्याद्वाक्० पृ० ११-१३ ।

पृ० ११. पं० १०. 'अभिधेयप्रयोजन' तुलना—“सम्यग्ज्ञानपूर्विकेत्यादिनाऽप्यप्रकरणस्याभिधेयप्रयोजनमुच्यते—न्यायवि० टी० पृ० २ । सन्मतिटी० पृ० १६९ ।

पृ० ११. पं० १०. 'तदभिधानात्'—तुलना—“अस्मिन्नाद्यर्थ उच्यमाने सम्बन्धप्रयो-जनाभिधेयान्मुक्तानि भवन्ति” न्यायवि० टी० पृ० ३ ।

पृ० ११. पं० १० 'तच्च श्रोतु' तुलना—श्लोका० श्लो० १२ । हेतुवि० टी० पृ० १ । सिद्धिवि० टी० पृ० ४ । सन्मतिटी० पृ० १६९ । तत्त्वार्थ श्लो० पृ० २ ।

पृ० ११. पं० १४ 'कश्चित्' यह मत कुमारिलदि का है ।

पृ० ११. पं० १७ 'अन्ये' यह मत किसी बौद्ध का है किन्तु धर्मोत्तरने इसका समर्थन किया है अतएव धर्मोत्तरका माना जाता है—न्यायवि० टी० पृ० ४ । तत्त्वसं० पृ० २ । न्याया० टी० पृ० २ । न्यायप्र० पं० पृ० ३८ ।

पृ० १२. पं० ४. 'निष्फल' तुलना—न्यायवि० टी० पृ० ४ । तत्त्वसं० पं० पृ० २ । न्यायकु० पृ० २० ।

पृ० १२. पं० ७. 'अर्थसंश्रयात्' तुलना “उच्यते व्यवहारो हि संवेदादपि औचित्यः”—प्रकरणपं० पृ० १४ ।

पृ० १२. पं० ९ 'अन्ये' यह मत अर्चट का है—हेतुविन्दुटी० पृ० २ ।

पृ० १२. पं० १७. 'यतो' तुलना तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४ । सन्मतिटी० पृ० १७१ । स्याद्वादर० पृ० १७ ।

पृ० १२. पं० १३. 'निःप्रयोजन' यह अशुद्ध है । प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंमें विसर्ग लिखनेकी प्रथा है किन्तु 'निःप्रयोजन' ऐसा शुद्ध पाठ समझना चाहिए ।

पृ० १२. पं० २२. 'तस्मात्' यहाँसे शान्साचार्य अपना मत स्थापित करते हैं । उनका कहना है कि जैसे प्रत्यक्षादि और प्रमाण हैं वैसे ही वचन भी प्रमाण है । अतएव प्रमाणभूत आदिवाक्यसे प्रेक्षावान् फलार्थीकी प्रवृत्ति हो जायगी । विद्यानन्द ने आदिवाक्यको आगम और परार्थानुमानरूप माना है—तत्त्वार्थ श्लो० पृ० ३ । उन्हींका अनुसरण वादी देवसूरि भी करते हैं—स्याद्वादर० पृ० १२ । किन्तु सन्मतिटीकाकार अभयदेव ने स्पष्ट कहा है कि यह आदिवाक्य प्रत्यक्ष या अनुमानरूप नहीं है । किन्तु वह शब्द प्रमाणरूप अवश्य है ( पृ० १७२ ) । शान्साचार्यने इन्हीं का अनुकरण किया है । कमलशीलने भी आदिवाक्यको आगम ही कहा है । उनके मतसे आगमप्रामाण्यका निश्चय प्रवृत्तिके लिए आवश्यक नहीं है । क्योंकि हमलोग आगमप्रणेताके गुणदोषकी परीक्षा करनेमें असमर्थ हैं और अत्यन्त

परोक्षार्थमें आगमको छोड़ कर दूसरा प्रवर्तक साधन हमारे लिए है भी नहीं । — तत्त्वसं० पं० पृ० ४. पं० ४ ।

पृ० १३. पं० १. 'पश्चात्' देखो—का० ५४, ५५ ।

पृ० १३. पं० ३. 'हितोऽपि' अर्थ स्वयं निश्चय दृष्टिसे न हितकारी है और न अहितकारी— ऐसा वाचक उ मा स्वा ति ने प्रशमरति प्रकरण में प्रतिपादित किया है । क्योंकि एक ही अर्थ पुरुषमेदसे, देशमेदसे कालमेदसे इष्ट भी हो सकता है अनिष्ट भी हो सकता है । अतएव न्यायकारिक दृष्टिसे हम उसे तत्तत् अपेक्षासे हित भी कह सकते हैं और अहित भी कह सकते हैं ।

इसी बातका समर्थन तात्पर्य टीका ( पृ० २९ ) में वाचस्पति ने भी किया है । और भी देखो—स्याद्वाचर० पृ० ४३—४४ ।

इसी बातको दूसरे ढंगसे भर्तृहरि ने कहा है—

“योऽसौ येनोपकारेण प्रयोक्तृणां विवक्षितः । अर्थस्य सर्वशक्तिव्यात् स तथैव व्यवस्थितः ॥ ४३७ ॥ सर्वात्मकत्वादर्थस्य नैरात्म्याद्वा व्यवस्थितम् ॥ ४४१ ॥—वाक्यप० का० २ ।

पृ० १३. पं० ४. 'उपेक्षणीयोऽपि' उपेक्षणीय अर्थको शान्त्याचार्य ने प्रमाणका अविषय कहा; किन्तु हान, उपादान और उपेक्षा ऐसे प्रमाण के तीन फलोंको गिनानेवाली न्यायवाचक की कारिका ( २८ ) ध्यानमें आते ही उन्होंने 'अथवा' कहके उस अर्थको हेयके अन्तर्गत कह कर उसकी प्रमाणविषयता सूचित की है । ऐसा करनेकी अपेक्षा यदि वे स्वाहादरनाकरकार की तरह उपलक्षणसे उपेक्षणीयार्थका ग्रहण करते ( पृ० ४४ ) तो और भी अच्छा होता ।

उपेक्षणीयार्थको स्वतन्त्र मानने न माननेके बारेमें पक्षमेदोंका वर्णन 'प्रमाणमीमांसा भाषाटिप्पण' ( पृ० ९ ) में हो चुका है अतः यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं ।

पृ० १३. पं० ५. 'प्राप्तित्यागौ' प्रमाणके फलकी चर्चा करते हुए बौद्धोंका अनुसरण करके शान्त्याचार्य ने कहा है ( पृ० ९४ ) कि प्रमाणसे अर्थपरिच्छित्ति होती है । ज्ञानगत अर्थपरिच्छेदकत्व ही प्रवर्तकत्व और प्रापकत्व है ।

इस का तात्पर्य यह है कि पुरुषको जब अर्थाधिगति होती है तभी वह प्रवृत्त होता है और तद्वारा अर्थका प्राप्ति-परिहार करता है ।

अतएव प्रमाणको प्राप्ति-परिहारका परंपरासे कारण समझना चाहिए । देखो—न्यायवि० टी० पृ० ५ ।

पृ० १३. पं० ६. 'प्रकर्षेण'—तुलना—“विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं शास्त्रं । संख्या-स्वरूप-गोचर-फलविषया चतुर्विधा चात्र विप्रतिपत्तिः”—प्रमाणसमु० टी० १. २ । न्यायवि० टी० पृ० ९ । न्याया० टी० पृ० ८ । तत्त्वसं पं० पृ० ३६६ ।

पृ० १३. पं० ८ 'नन्वतीत' तुलना—प्रमेयक० पृ० २६. पं० १४ ।

पृ० १३. पं० १० 'प्रतिपादयि' देखो का० ३५ § २५-२९ ।



पृ० १३. पं० १३. 'प्रमाणभूतम्' तुलना—“तद्वान् प्रमाणं भगवान्” प्रमाणवा० १ ।  
“यद्यभूतं भगवन्तं प्रणम्य प्रमाणसिद्धिर्विधीयते । प्रमाणाधीनो हि प्रमेयाधिगमः ।  
भगवानेव च प्रमाणम्, प्रमाणलक्षणसङ्गात्”-प्रमाणवा० अ० पृ० १ और पृ० ३७ ।

“मा भन्तरङ्गबहिरङ्गानन्तज्ञानप्राप्तिद्वार्यादिभिः, अण्यते शब्दयते येनार्थोऽसावाणः  
शब्दः, मा च आणञ्च माणी, प्रकृष्टो महेष्वायसम्भविनो माणो यस्यासौ प्रमाणो भगवान्  
सर्वज्ञो दृष्टेष्टाविरज्यवाक् च, तस्मादुक्तप्रकारात् अर्थसंसिद्धिर्भवति” प्रमेयक० पृ० ७.  
पं० १२ ।

पृ० १३. पं० १४. 'सिद्धसेन' तुलना—“आचार्यो दुष्प्रचारसमाध्यामासमयोद्भूत-  
समस्तजनताद्वार्थसंतमसविष्वंसकत्वेन अवाप्तयथार्थाभिधानः सिद्धसेनद्विवाकरः”  
सन्मति० टी० पृ० १. पं० १६ ।

पृ० १३. पं० २०. 'शास्त्रार्थसंग्रह' तुलना—“प्रमाणे इति संग्रहः”—लघु० ३ ।  
प्रमाणसं० २ । “इति शास्त्रार्थस्य संग्रहः” प्रमाणसं० पृ० २ । “अधुष्णसकलशास्त्रार्थ-  
संग्रहसमर्थमादिश्लोकमाह”—न्यायकु० पृ० २० । प्रमेयक० पृ० २ ।

न्यायावतारकी प्रथम कारिकामें संपूर्ण शास्त्रके विषयका संग्रह होनेसे उसीको उद्धृत  
करके वार्तिककारने उसे 'शास्त्रार्थसंग्रह' कहा है । प्रमाणलक्ष्म में भी ऐसा ही उसके  
कर्ताने किया है ।

पृ० १३. पं० ३०. 'तत्र विधिवाक्ये' शान्त्याचार्य ने धर्मोत्तर ( न्यायबि० टी० पृ०  
११-१२ ) के समान लक्षणका विधान और लक्ष्यका अनुवाद माना है । किन्तु सिद्धिर्वि का  
कहना है कि अधिकारी मेदसे लक्षणका अनुवाद करके लक्ष्यका भी विधान हो सकता है ।  
किसीको प्रमाणत्व अप्रसिद्ध हो सकता है और किसी को स्वपरव्यवसायित्व । यही बात बादी  
देवसूरि ने भी कही है ।—न्याया० टी० पृ० १० । स्याद्वादर० पृ० २० ।

प्रमाणलक्ष्म में प्रस्तुत न्यायावतारकी कारिकाके दो व्याख्यामेदोंका उल्लेख किया गया  
है । एक मत यह रहा कि कारिकागत 'प्रमाण' पद अनुवाच्य है । और दूसरा यह कि वह पद  
विधेय है । प्रमाणलक्ष्मकार ने द्वितीयको ही ठीक समझा है । और शान्त्याचार्य ने प्रथम  
पक्षको ।—प्रमाणलक्ष्म पृ० ४ ।

पृ० १४. पं० २. 'तादात्म्यात्' लक्षण दो प्रकारका होता है—आत्मभूत और अनात्म-  
भूत । प्रमाण और उसका लक्षण अत्यन्त भिन्न नहीं हैं । उन दोनोंका तादात्म्य है । अतएव  
यह लक्षण आत्मभूत है । इन दोनों का तादात्म्य होते हुए भी बौद्धों के मतसे एक प्रसिद्ध और  
दूसरा अप्रसिद्ध हो सकता है । क्यों कि जितना भी शाब्दिक व्यवहार है वह सांघटिक है ।  
अर्थात् विकल्पजन्य है और विकल्प बाह्य वस्तुकी अपेक्षा नहीं करता । अतएव बाह्य वस्तु-  
की दृष्टिसे दोनोंका तादात्म्य होते हुए भी किसीको वह प्रमाणरूपसे प्रसिद्ध हो सकता है  
और उसके लक्षणरूपसे अप्रसिद्ध होसकता है ।—स्याद्वादर० पृ० ३०-३१ ।

न्यायविन्दु टीकाकारने जिस शंकाका समाधान ( न्यायबि० टी० पृ० १२ ) प्रत्यक्ष  
लक्षणके व्याख्याके समय किया है उसी शंकाका समाधान शान्त्याचार्य ने यहां प्रायः उन्हींके  
शब्दोंको लेकर किया है; किन्तु जैन दृष्टिसे इस प्रश्नका समाधान जो हो सकता है

उसे तो बाही देवसूरि ने स्नाहादरना करने किया है (पृ० ३०-३१) । ठगका कहना है कि छद्म और छक्षणका तादात्म्य है सही किन्तु बीहोंकी तरह वह ऐकान्तिक नहीं कथित तादात्म्य है । अत एव वह किसी रूपसे प्रसिद्ध और किसी रूपसे अग्रसिद्ध हो सकता है ।

बाही देवसूरिका यह विवेचन विश्वामित्रकी परिनिष्ठित मुद्रिका फल है—  
तत्पर्यस्मिन् पृ० ३२८ ।

पृ० १४. पं० २. तादात्म्यात्—मुकुटा—“न चैतन्मन्त्रव्यम्—कल्पनापोढाभ्रान्तरं  
येवमसिद्धं किमन्यत् प्रत्यक्षस्य ज्ञानस्य कथमवसिष्यते यत् प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सवन्नुद्येतेति ।  
यथादिग्निप्रधान्यव्यतिरेकानुविधाव्ययेषु साक्षात्कारिकानं प्रत्यक्षशब्दवाच्यं सर्वेषां  
सिद्धम्, तदनुवादेन कल्पनापोढाभ्रान्तरव्यतिः ।” न्यायवि० टी० पृ० १२ । साक्षात्प०  
पृ० ३०-३१ ।

पृ० १४. पं० ५. ‘सन्निकर्षादि’ नैयायिक तारकी प्रथम कारिकामें ज्ञानको प्रमाण कहा है । उस ज्ञानपदका व्यावर्थ न्या है इसकी चर्चा प्रस्तुत कारिकाके पूर्वार्धमें की गई है ।

इतिमें सन्निकर्ष और सामग्रीके एकदेशरूप चक्षुरादि, अज्ञानरूप होनेके कारण, प्रमाण नहीं है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है ।

सिद्धर्षिने ज्ञानपदका व्यावर्थ नैयायिकादि सम्मत सन्निकर्ष है ऐसा कहा है—  
न्याया० टी० पृ० १३ ।

प्रमाळक्ष्मकारके मतसे चक्षुरादिका व्यवच्छेद प्रमाणपदसे ही होता है—पृ० १ । और ज्ञानपदसे निराकार बोधरूप दर्शनकी व्यावृत्ति होती है—पृ० २ ।

पृ० १४. पं० ९. ‘संयोगः’ नैयायिक और वैशेषिकके मतसे द्रव्याश्रित संयोग गुण नामक पदार्थ है । वह एक होकर भी अनेक द्रव्याश्रित है । गुण और गुणीका सम्बन्ध समवाय नामक पदार्थ के कारण होता है । अत एव द्रव्य, गुण और समवाय ये तीनों स्वतन्त्र वस्तुभूत पदार्थ हैं ।

बौद्धके मतसे संयोग वस्तुभूत स्वतन्त्र पदार्थ नहीं । नैयायिक—वैशेषिक संयोग को संयुक्तप्रत्ययका नियामक मानते हैं । बौद्धोंने कहा कि उस प्रत्ययके नियामकरूपसे संयोग पदार्थकी कल्पना करना आवश्यक नहीं । विजातीयव्यावृत्तिके भेदसे एक ही वस्तु नामा प्रकारकी कल्पनाका विषय बन सकती है । अत एव एक ही वस्तुको अनीलव्यावृत्त्या इव नीलकल्पनागोचर और असंयुक्तव्यावृत्त्या संयुक्तकल्पनागोचर कह सकते हैं<sup>१</sup> ।

जैसे ‘यह एक पंक्ति है’ ‘यह दीर्घ पंक्ति है’ इत्यादि प्रत्यय होनेपर भी नैयायिकोंने पंक्तिगत एकत्व या दीर्घत्व नहीं माना क्योंकि पंक्ति संयोग होनेके कारण गुण है और गुणमें गुण रहता नहीं । वैसे ही हम बौद्ध भी नीलादि बाह्य वस्तुके अतिरिक्त तद्गत संयोगनामक गुण की कल्पना आवश्यक नहीं समझते । विजातीयव्यावृत्तिके बलसे तत्तद् प्रत्यय अपेक्ष हो जाता है<sup>२</sup> । अत एव संयोगि ऐसे रूपादि मानना चाहे तत्त्वतिरिक्त संयोगकी आवश्यकता

१. प्रमाजसूत्र० १.९.३ । २. प्रमाजसूत्र० १.९.८ । ३. प्रमाजसूत्र० १.९.४.

नहीं । संयुक्तप्रतीतिका विषय संयोगिमात्र है अन्य नहीं<sup>१</sup> । प्रत्यासन्न उत्पन्न ऐसी वस्तुएं ही संयोगि कही जाती हैं । और वेही संयुक्तप्रत्यय की आलम्बन हैं । उनके अतिरिक्त संयोग-नामक कोई और पदार्थ नहीं है—

“प्रत्यासन्नतयोरपन्नास्तत्र संयोगिनः परम् ।

संयुक्तप्रत्ययालम्ब्या न संयोगस्ततः परम् ॥

पुरःस्थिताः यथा तेऽर्थाः किं संयोगस्तथा स्थितः ॥” प्रमाणबा० अ० पृ० ११६ ।

विप्रकृष्ट अवस्थामें जो वस्तुएं दिखती हैं वेही सन्निकृष्ट अवस्थामें भी दिखती हैं । उनका संयोग तो दिखता नहीं । किन्तु उनकी वैसी अवस्थाका बोध संयोग शब्दसे होता है । अत एव यह विकल्प ज्ञानका विषय होनेके कारण वस्तुभूत नहीं । पदार्थका भेद, शब्दज्ञानकी विलक्षणतासे नहीं किन्तु प्रत्यक्षज्ञानके भेदसे होता है । अर्थात् जहां प्रत्यक्षप्रतीति विलक्षण है वहीं वस्तुभेद है । शब्दजन्य प्रतीतिके भेदसे वस्तुभेद आवश्यक नहीं<sup>२</sup> । अनादिवासनाके कारण नाना प्रकारकी विकल्पात्मिका बुद्धि उत्पन्न होती रहती है । अत एव विकल्पबुद्धिके आधार पर बाह्य वस्तुकी व्यवस्था करना बुद्धिमानी नहीं है । बाह्य वस्तुकी प्रतिष्ठा तो प्रत्यक्षप्रतीतिके ऊपर निर्भर है<sup>३</sup> ।

अत एव जैसे पंक्तिमें दीर्घत्वका या संख्याका प्रत्यय होनेपर भी उसमें वास्तविक दीर्घत्व या संख्या नै या यिक न मानकर औपचारिक मानते हैं । वैसे ही सर्वत्र विकल्पभेदसे वस्तुभेद न मानकरके औपचारिक ही मानना संगत है<sup>४</sup> । अत एव संयोगप्रत्यय होनेपर भी पृथग्भूत संयोगका अस्तित्व मानना ठीक नहीं<sup>५</sup> ।

बौद्धों ने जैसे संयोगके पृथग्भाव का निराकरण किया है वैसे ही द्रव्यसे पृथग्भूत समस्त-गुणोंका निराकरण भी उनको इष्ट है । अत एव उनके मतसे गुण-गुणीका भेद नहीं है । धर्म-धर्मीका भेद नहीं है । एक ही शब्द जिसप्रकार किसी एक धर्मका वाचक है वैसे ही धर्मीका भी वाचक है और धर्मधर्मीके समुदायका भी वाचक है<sup>६</sup> । अत एव शब्दके बल पर वस्तुव्यवस्था करना ठीक नहीं ।

संयोगके विषयमें अद्वैत वादी वेदान्तिओं का मत बौद्धों के समान है । फर्क इतना ही है कि उन्होंने संयोगनामक गुण को द्रव्यात्मक माना<sup>७</sup> और बौद्धों ने द्रव्य जैसी कोई स्थिर वस्तु तो मानी नहीं अत एव उसे रूपादि क्षणिक वस्तुवात्मक माना । बौद्धों की तरह वेदान्तिओं ने भी संयोग या समवाय जैसे किसी सम्बन्धका सम्बन्धिओंसे पृथगस्तित्व माना ही नहीं—

१. “संयोगिन एव क्त्वावयः केवलाः न तत्र परः संयोगः उपकम्पिगोचरः...संयुक्त इति संयोगिन एव प्रतीतिः संयुक्ताशब्दस्य च नापरमत्राकम्बनम्” प्रमाणबा० अ० पृ० ११६ ।
२. “न शब्दज्ञानवैकल्यमात्रादेव पदार्थभेदोऽपि तु प्रत्यक्षलक्षणज्ञानमेवाय ।” बौद्धी पृ० ११६ ।
३. “विकल्पिका हि बुद्धिरनादिवासनासामर्थ्यात् उपजायमाना तथा तथा क्ववते । ततो नार्थत्वं प्रतिष्ठां कथते”—बौद्धी ११६ ।
४. प्रमाणबा० १.९५ । तत्त्वर्स० का० ६५० ।
५. कर्क० पृ० २१७ ।
६. प्रमाणबा० १.९९-१०२ ।
७. “तस्मात् द्रव्यात्मकता गुणक”—शां० ब्रह्म० २.२.१७ ।

“नापि संयोगस्य समवायस्य वा सम्बन्धस्य सम्बन्धव्यतिरेकेणास्तित्वे किञ्चित् प्रमाण-  
मस्ति ।” शां० ब्रह्म० २.२.१७ ।

बौद्ध मतका आश्रय लेकरके शास्त्राचार्यने नैयायिक संमत संयोग का विस्तारसे खण्डन किया है । और अंतमें कह दिया कि संयोग जैसी कोई पृथग्भूत वस्तु नहीं है । किन्तु द्रव्यकी एक अवस्थानिश्चय ही, द्रव्यका एक पर्यायमात्र ही संयोग है—पृ० १५. पं० ६, ७ ।

जैनो के मतसे द्रव्य और पर्याय का भेदभेद है । जिस प्रकार द्रव्य वास्तविक है वैसे उसके पर्याय भी वास्तविक हैं । अत एव वे बौद्धों की तरह संयोग को सिर्फ वासनामूलक कह करके उस का निराकरण नहीं कर सकते । जहां तक संयोगके एकान्तरूपसे पृथगस्तित्वका सवाल है वहां तक तो नैयायिकों का निराकरण करने के लिए जैन और बौद्ध समान रूपसे कटिबद्ध हैं किन्तु उस की व्यवस्थाके प्रश्न पर दोनोंमें मौलिक मतभेद है । बौद्ध उसे वासनामूलक कह देता है । जैन वासनामूलक कह करके भी उस वासनाका भी कुछ न कुछ मूल खोजता है । और उसे वस्तुकी पर्याय मान करके वस्तुभूत ही सिद्ध करता है और बौद्ध वासनामूलक कह करके अवस्तुभूत कहता है यही दोनोंमें भेद है—  
स्याद्वादर० पृ० ९३२ से ।

व्यावृत्तिभेदका मूल भी जैन दृष्टि से कोरी कल्पना नहीं किन्तु वस्तुका तथाभूत पर्याय है । अत एव व्यावृत्तिके भेदसे भी वस्तुभेदकी व्यवस्था हो सकती है ।

मीमांसक पार्थसारथी मिश्रने एक संयोग को नैयायिक की तरह अनेकाश्रित नहीं माना । उन्होंने कहा है कि जैसे सादृश्य प्रतिव्यक्ति भिन्न है वैसे ही संयोग भी प्रतिव्यक्ति भिन्न है । अर्थात् मीमांसक के मतसे दोनों संयोगीव्यक्तिओंमें पृथक् पृथक् संयोग रहता है । किसी एक वस्तुमें संयोगकी वृत्ति और प्रतीति अन्य सापेक्ष है ।

संयोगका प्रस्तुत वर्णन जैनो से मिलता है । जैनो ने भी प्रत्येक संयुक्त वस्तुमें भिन्न भिन्न पर्यायरूप संयोग माना है । वस्तुके उस पर्यायकी अन्यसापेक्षता भी जैन सम्मत है ।

पृ० १४. पं० ९. ‘न सम्बिहित’ तुलना—“न बलु संयोगोऽपरः प्रतिभासते संयोगि-  
व्यतिरिक्तः”—प्रमाणवा० अ० पृ० ११६ । तत्त्वसं० का० ६६६ । कर्ण० पृ० २१७ । “न  
च निरन्तरोत्पन्नवस्तुद्रव्यप्रतिभासकालेऽप्यक्षप्रतिपत्तौ तद्व्यतिरेकेणापरः संयोगः”—  
सन्मतिटी० पृ० ११४. पं० १ । न्यायकु० पृ० २७७ । प्रमेयक० पृ० ५९४ ।

पृ० १४. पं० २४. ‘व्यतिरीज’ संयोगसाधक प्रस्तुत अनुमान उद्धोत करने दिया है—  
न्यायवा० पृ० २१९. पं० १४ । उसीका अनुवाद करके खण्डन तत्त्वसंग्रहमें (का०  
६५४—६५६, ६६४) शान्तरक्षितने और प्रमाणवार्तिककी खोपड़टीकाकी व्याख्यामें  
कर्णकगोमीने किया है—पृ० २१७ । सन्मतिटीकाकार (सन्मति० टी० पृ० ११४.  
पं० ६ पृ० ६७९. पं० ५) अभयदेव, और प्रभाचन्द्राचार्य (प्रमेयक० पृ० ६१३.  
पं० २४) उन्हीका अनुसरण करते हैं ।

पृ० १५. पं० १. ‘अनवस्था’—तुलना—“अथ संयोगशक्तिव्यतिरेकेण न कार्योत्पादने  
कारणकलापः प्रवर्तते इति निर्वन्धस्ताहि संयोगशक्त्युत्पादनेऽप्यपरसंयोगशक्तिव्यति-

रेकेण भास्यो प्रवर्तत इत्यपरा संयोगशक्तिः परिकल्पनीया, तत्राप्यपरेत्यन्वयस्या-”  
सन्मतिटी० पृ० ११४. पं० ३३ ।

पृ० १५. पं० २. ‘कार्येण’ तुल्या-“तथा संयोगमन्तरेण कार्कारम्भकत्वमेव  
किञ्चिन्प्यते” कर्ण० पृ० २१७ ।

पृ० १५. पं० ६. ‘योग्यदेसादि’ तुल्या-“न च विशिष्टावस्थाव्यतिरेकेण दृष्टि-  
व्याप्यः संयोगशक्तिमपि निर्वर्तयितुं श्रमाः । तस्मादेकसामग्र्यधीनविशिष्टोत्पत्तिमत्य-  
वार्थव्यतिरेकेण नापरः संयोगः ।” सन्मति० टी० पृ० ११४. पं० ३७, ४० ।

पृ० १५. पं० ९. ‘प्रमाणत्वं न’-प्रत्यक्षकी व्याख्या करते हुए वात्स्यायन ने कहा है  
कि इन्द्रियोंकी वृत्ति-व्यापार प्रत्यक्ष है । वृत्ति का अर्थ उन्होंने सन्निकर्ष और ज्ञान किया  
है । अर्थात् उनके मतसे ज्ञान अथवा सन्निकर्ष प्रत्यक्ष प्रमाण है । जब सन्निकर्षको प्रमाण  
मानना हो तब ज्ञान प्रमिति है और जब हानोपादानोपेक्षा बुद्धिको फल मानना हो तब  
ज्ञान प्रमाण है-न्यायभा० १.१.३ । वार्तिककार ने भी इसी मतका समर्थन करके  
सन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माननेवाले किसी का खण्डन किया है-न्यायवा० पृ० २९ ।  
तात्पर्य० पृ० १०५ ।

किन्तु जैन-बौद्धों ने तो सन्निकर्षके प्रामाण्य का भी खण्डन किया है । क्योंकि उन  
दोनों के मतसे ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है अज्ञानरूप सन्निकर्ष नहीं ।

नै या यि कौ ने प्रमाण को कारण कहा है और कारण को साधकतमै । साधकतम वह है  
जिसके होनेपर कार्य निष्पत्ति होती है और जिसके नहीं होनेपर कार्य निष्पत्ति नहीं होती ।  
यदि सन्निकर्ष प्रमाण हो तब उसके होनेपर प्रत्यक्ष ज्ञान अवश्य होना चाहिए । किन्तु  
सन्निकर्ष के होने पर भी प्रमाणभूतज्ञान उत्पन्न न होकर संशयादि उत्पन्न होते हैं । और  
आकाशारिके साथ चक्षुका सन्निकर्ष होनेपर भी तद्विषयक ज्ञान उत्पन्न होता नहीं । तथा  
सन्निकर्ष के अभावमें अर्थात् विशेष्यके साथ सन्निकर्ष न होते हुए भी विशेषणज्ञानसे विशेष्य-  
विषयक प्रत्यक्षप्रमिति होती है ।

अतएव ज्ञान ही को साधकतम मानना चाहिए क्योंकि उसके होनेपर अव्यवहितोत्तरक्षणमें  
प्रमिति होती है ।

ज्ञान ही सर्व पुरुषार्थकी सिद्धिमें उपयोगी है अत एव यदि पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए  
प्रमाण का अन्वेषण हो तब तो प्रमाण को ज्ञानरूप ही मानना चाहिए क्यों कि वही हिता-  
हितार्थकी प्राप्तिपरिहारमें समर्थ है, जडरूप सन्निकर्षादि नहीं ।

सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाका कारण माननेके बारेमें दिग्भ्रम ने आपत्ति की है । उनका  
कहना है कि यदि प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियसन्निकर्ष जन्म हो तब चक्षुसे जो विप्रकृष्टसान्तर वस्तुका

- 
१. प्रमाणवा० २.३१६ । प्रमाणवा० अ० सु० पृ० ८ । २. न्यायभा० १.१.३ ।  
३. “साधकतमं प्रमाणं” न्यायवा० पृ० ६ । ४. “भावान्नामबोद्धता” न्यायवा० पृ० ६ ।  
५. तत्त्वार्थश्रुती० पृ० १३८ । अहस० पृ० २७६ । प्रमेयक० १४ । न्यायकु० पृ० २९ ।  
न्यायप्रकरण० पृ० ५३ । ६. न्यायदि० पृ० २ । ७. लघी० ख० ३ । परीक्षा० १.२ ।  
प्रवचन० १.३ ।

ग्रहण होता है और जो अधिक का ग्रहण होता है वह नहीं हो सकता । तथा ओत्रसे दूर देशस्थित शब्द का ग्रहण होता है वह भी कैसे होगा । अत एव चक्षु और ओत्रजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होने पर भी सन्निकर्षजन्य नहीं होनेसे लक्षण में अव्यक्ति दोष है—प्रमाण-समु० १.२०, ४१ ।

दिग्भाग की इस आपत्ति का उत्तर उद्घोषित करने समी इन्द्रियोंकी प्राप्यकारिता सिद्ध करके दिया । उसका कहना है कि जो जो करण होगा वह वात्यादिकी तरह प्राप्यकारि ही होगा—न्यायभा० पृ० ३३, ३६ ।

किन्तु कुमारिल ने संप्रयोग—सन्निकर्ष का अर्थ ही बदल दिया । इन्द्रियोंका व्यापार ही संप्रयोग है—सन्निकर्ष है । यदि ऐसा माना जाय तब बौद्धोंने जो सन्निकर्ष के विषयमें दोष दिया ( प्रमाणसमु० १.४१ ) उससे भी मांसकका प्रत्यक्ष लक्षण कैसे दूषित हो सकता है ? श्लोकभा० ४. ४० । कुमारिल के पहले भवदासादि ने संप्रयोग का अर्थ सन्निकर्ष किया था । किन्तु कुमारिल ने व्यापार अर्थ किया और बौद्धों के दोषोंसे बच गए ।

कुमारिल का कहना है कि बिना सम्बन्धके किसी एकसे दूसरेकी प्रतीति होगी नहीं यह कोई राजाज्ञा नहीं । सम्बन्धके बिना भी प्रत्यक्ष प्रमाण है—श्लोकभा० अर्था० ८० ।

कुमारिल ने इन्द्रिय व्यापार के अलावा संप्रयोग का एक और भी अर्थ किया है । अर्थकी ऋजुदेशस्थिति और इन्द्रियकी योग्यता भी संप्रयोगशब्दवाच्य है—श्लोक० ४.४२-४३ ।

जैनोंको यही पक्ष मान्य है । किन्तु जैनों ने योग्यता का अर्थ किया है प्रतिबन्धापाय अर्थात् ज्ञानावरण के हटनेसे आत्मामें जो शक्ति आविर्भूत होती है वही योग्यता है क्यों कि उसके होनेपर ही ज्ञान होता है और उसके नहीं होनेपर ज्ञान नहीं होता—न्यायकु० पृ० ३१. पं० ६, १७ ।

कुमारिल ने उपर्युक्त नाना प्रकारके अर्थ करके दोषवारण किया और अखिरमें फिर बदल कर कह दिया कि सन्निकर्षका अर्थ संयोग मानें तब भी दोष नहीं क्यों कि चक्षुरादि समी इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हो सकती हैं । इस प्रकार उन्होंने बौद्धों के साथ बैठने की अपेक्षा सांख्य और नैयायिकादि के साथ रहना ही अच्छा समझा । उनको सांख्यादि की अपेक्षा बौद्ध पक्ष कुछ दुर्बल मान्य हुआ—श्लोक० ४.४३ ।

पृ० १५. पं० २२. 'बोधा सन्निकर्ष' सन्निकर्षके छः प्रकारका प्राचीन वर्णन न्यायवार्तिकमें मिलता है—पृ० ३१ । प्रमाणसमुच्चयके टीकाकारने पांच प्रकारके सन्निकर्षका उल्लेख किया है । उन्होंने विशेषणविशेष्यभावका उल्लेख नहीं किया—पृ० ३९ । प्रज्ञा करने छः प्रकारके सन्निकर्षका उल्लेख किया है—प्रमाणभा० अ० मु० पृ० ८ ।

खण्डनके लिए देखो प्रमाणभा० ३.३१५ अ० मु० पृ० ८ । न्यायभा० पृ० ४६ । तत्त्वार्थसू० पृ० १६८ । न्यायकु० पृ० ३१ । समाध्यास० पृ० ५९ ।

शाक्तिकनाथ ने 'बोधा सन्निकर्ष' का खण्डन करके सिर्फ १ संयोग, २ संयुक्तसमवाय और ३ समवाय ये तीन सन्निकर्ष माने हैं—प्रकरणपं० पृ० ४४-४६ ।

१. "संयोग इन्द्रियानां च व्यापकौऽर्थेऽप्युच्यते"—श्लोकभा० ४.३८ ।

पृ० १६. पं० १. 'वस्तुस्वभावैः' दार्शनिकोंने प्रायः देखा जाता है कि जब वे अपने पक्षका समर्थन दलीलोंसे करनेमें असमर्थ हो जाते हैं तब अखिरमें कह देते हैं—

“इदमेवं न वेत्येतत् कस्य पर्यनुयोज्यताम् ।

अभिर्वदति भाकाशं कोऽत्र पर्यनुयोज्यताम् ॥” प्रमाणवा० अ० पृ० ४३ ।

किन्तु इस वस्तुस्वभावमूलक उत्तरकी क्या मर्यादा हो सकती है इसका विचार प्रज्ञाकर-गुप्त ने किया है । उन्होंने कहा है—

“स्वभावेऽभ्यक्षतः सिद्धे परैः पर्यनुयुज्यते ।

तत्रोत्तरमिदं कार्यं न दृष्टेऽनुपपन्नता ॥” वही० पृ० ४३

अर्थात् वस्तु जिस रूपसे प्रत्यक्ष सिद्ध हो उसी रूपके विषयमें कोई यदि पूछे कि वह क्यों है तब ही यह उत्तर देना चाहिए कि जो प्रत्यक्ष सिद्ध हो उसके विषयमें प्रश्न उठाना ठीक नहीं । यदि सर्वत्र यही उत्तर दिया जाय तब तो सभी दर्शनवाले अपने अपने पक्षको उसी एक उत्तरसे सिद्ध करके विजयी हो जायेंगे—वही पृ० ४४ । आसमी० का० १०० ।

पृ० १६. पं० ४. 'प्रमाणजननात्'—तुलना—न्यायकु० पृ० ३० ।

पृ० १६. पं० ४. 'ईश्वरस्य' तुलना—न्यायकु० पृ० ३२ पं० १७ ।

पृ० १६. पं० ८. 'अथोत्सर्गो' 'प्रमाणजननात् प्रमाणम्' यह उत्सर्ग है । अर्थात् इस नियमके बलसे प्रमाणका जनक जो भी कर्ता, कारण, कर्मादि हो वह सब प्रमाण है । किन्तु 'जो जनक हो करके भी कर्ता है वह प्रमाता कहा जाता है' इस अपवादके बलसे प्रमाता प्रमाण नहीं कहा जा सकता वह प्रमाता ही कहा जायगा क्यों कि अपवाद उत्सर्गका बाधक है ।

पृ० १६. पं० १३. 'समवायं' समवायके स्वरूपादिके विषयमें जो नानाप्रकारके मत-भेद हैं उनका दिग्दर्शन कराना यहां इष्ट है ।

वैशेषिक और नैयायिक प्रतीतिका<sup>१</sup> शरण लेकर समवाय को पृथक् पदार्थरूप मानते हैं । उनके मतानुसार वह एक<sup>२</sup> नित्य, व्यापक और अमूर्त है ।

वैशेषिक के मतसे अतीन्द्रिय है अत एव वह अनुमान गम्य है<sup>३</sup> किन्तु नैयायिकों ने देखा कि बौद्धादि सभी दार्शनिक जब समवायका खण्डन करनेके लिए उद्यत होते हैं तब यही कह देते हैं कि समवायका प्रत्यक्ष तो होता<sup>४</sup> नहीं तो फिर उसका अस्तित्व कैसे मानें ? अत एव उद्घोषित करने विशेषणविशेष्यभाव नामक सन्निकर्षके बलपर उसका प्रत्यक्ष माना है—  
“समवाये च अभावे च विशेषणविशेष्यभावात्” न्यायवा० पृ० ३१ । और बादके नैयायिकों ने उसका समर्थन किया है—मुक्ता० का० ११ ।

बौद्धों के मतसे अवयव और अवयवी, धर्म और धर्मा, गुण और गुणी ऐसी दो वस्तुएं एक-कालमें या एक देश में नहीं । एक ही वस्तु है उसे गुण कहो या धर्म कहो या और कुछ

१ “सर्वं चैतद् अकाचितप्रतीतिवत्कारं कल्प्यते न स्वशास्त्रपरिभाषया—न्यायमं० २८५ । “तदुक्तम्—संविदेव हि अगवक्षी वस्तुपरमे नः कारणम्” [प्रकरणपं० पृ० २२]—वैशे० उप० ७.२.२६ । २ प्रज्ञास्तं० पृ० ३२४ । न्यायवा० पृ० ५२-५३ । स्याद्वादमं० का० ७ । ३ वैशे० ७.२.२६ । प्रज्ञास्तं० पृ० ३२९ । ४. प्रमाणवा० २.१४९ ।

कहो । अत एव आश्रयाश्रयिभाव या आधाराधेयभाव बौद्ध सम्मत नहीं । इसी लिए बौद्धों ने समवायका खण्डन किया है—प्रमाणत्वा० १.७१. ।

धर्मकीर्ति ने कहा है कि समवाय अतीन्द्रिय होनेसे प्रत्यक्षप्राप्त नहीं । समवायके नहीं होनेपर भी अवयवों में अवयविविषयक 'इन तन्तुओंमें पट है' इत्यादि प्रतीति स्वशास्त्रोद्भूत वासनाके बलसे होती है, नहीं कि वस्तुकृत । क्यों कि 'गौमें शृंग है' ऐसी प्रतीति होनेपर भी शृंग अवयव होनेसे समवेत नहीं—आधेय नहीं । और जिस अवयवीको आधेय माना है उसकी आधेयतया प्रतीति होती नहीं । अन्यथा 'शृंगमें गाय है' ऐसी प्रतीति मानना पड़ेगा जो लोक-सिद्ध नहीं । वस्तुतः बात यह है कि 'इन तन्तुओंमें पट है' ऐसी प्रतीति तो होती नहीं किन्तु 'तन्तुओंसे यह पट बना है' ऐसी प्रतीति होती है और इस प्रतीतिके मूलमें आधाराधेयभाव या तन्मूलक समवाय न होकर कार्यकारणभाव ही है । पट तन्तुका कार्य है अर्थात् सहकारिकारणोंसे संस्कृत तन्तु ही पट है । तन्तु और तद्रूप पट ऐसी दो भिन्न वस्तुएं और उनको जोड़नेवाला समवाय ये तीन पृथग्भूत पदार्थ एक ही कालमें मानने की आवश्यकता नहीं । कार्य और कारण एक कालमें होते ही नहीं अत एव उनके समवायकृत सम्बन्धकी कल्पनाकी आवश्यकता ही नहीं । यदि कार्य और कारण एक कालमें नहीं होते तब पटमें तन्तुकी प्रतीति कैसे होगी ! इस प्रश्नके उत्तरमें कहा कि कार्यमें कारणका उपचार करके अथवा एकाध तन्तुका पटसे बुद्धिद्वारा अपोद्धर करके भी व्यवहृता 'पटे तन्तुः' ऐसी प्रतीति कर सकता है । वस्तुतः तन्तुव्यतिरिक्त कोई पट पदार्थ नहीं । तन्तुका साहित्य ही अर्थात् परस्पर उपकार्योपकारकभावसे व्यवस्थित तन्तु ही पट नामसे व्यवहृत होते हैं । अत एव पट और तन्तु ऐसे दो नामों की भिन्नताके कारण वस्तुमेद का होना अनिवार्य नहीं—प्रमाणत्वा० २. १४९. —१५३ । तत्त्वसं० का० ८२३—८६६ ।

द्रव्य और गुण का भी मेद नहीं है । अत एव 'घटे रूपम्' इस प्रतीति के बलसे भी समवाय की सिद्धि हो नहीं सकती । वस्तुतः रूपादि ही वस्तुएँ हैं और वे नाना प्रकारकी अवस्थाओंमें पायी जाती हैं । कोई रूप पटात्मक है और कोई रूप घटात्मक है । अत एव पटात्मकरूपकी व्यावृत्तिके लिए 'घटे रूपं' ऐसे दो शब्दों का व्यवहार होता है । इसका अर्थ इतना ही है कि घटात्मक रूप है । घट जैसे चक्षुर्ग्राह्य होनेसे रूपात्मक है वैसे रसनप्राप्त होनेसे रसात्मक भी है । अत एव रसात्मक घटकी व्यावृत्ति करने के लिए भी 'घटे रूपं' शब्दका प्रयोग करके उसकी चक्षुरिन्द्रियप्राप्तता दिखाना भी दोनों शब्दोंके एकसाथ प्रयोगका फल है । अत एव समवायके अभावमें भी 'घटे रूपं' इत्यादि प्रतीति हो सकती है । समवाय, घट और रूप इन तीनों को भिन्न माननेकी क्या आवश्यकता है—तत्त्वसं० का० ८३२—८३४ ।

शान्तरक्षित ने संयोगका उदाहरण देकर समवायकी एकता और निश्चयता का भी खण्डन किया है—का० ८३५—८६६ ।

अर्चट ने कहा है कि समवाय भी यदि सतत पदार्थ हो तो उसका दूसरे द्रव्याविवेके सम्बन्ध, एक और सम्बन्धके बिना कैसे होगा ! एक और समवाय मानने पर अनवस्था होती है । उसकी एकतामें भी दोष अर्चटने दिये हैं—हेतु० टी० पृ० ४२ ।



अद्वैतब्रह्मवादियों के मतसे भी धर्म-धर्माका, कार्य-कारणका, अवयव-अवयवीका भेद नहीं अत एव वे समवाय का खण्डन करें यह स्वाभाविक ही है । ब्रह्मसूत्र मूलमें समवाय मानने पर अनवस्थादोष होनेकी बात कही है । और उसका समर्थन शंकराचार्य ने अच्छी तरहसे किया है— २.२.१३ । २.२.१७ ।

वैसे विक और नैवाविकों ने द्रव्य, गुण, सामान्य इत्यादिको अखण्ड भिन्न मान करके भी गुणादिको समवाय के कारण द्रव्य परतत्त्व ही माना । तब शंकराचार्य ने कहा कि वस्तुतः द्रव्यके होने पर ही गुणादि होते हैं और द्रव्यके अभावमें नहीं होते अतएव गुणादिको द्रव्यात्मक ही मानना चाहिए । द्रव्य और गुणादिका जब तादात्म्य ही सिद्ध है तब समवाय सम्बन्ध की क्या आवश्यकता ? द्रव्य ही संस्थानादिके भेद से अनेक प्रकारके शब्दप्रत्ययका विषय बनता है । जैसे एक ही देवदत्त नामाप्रकारकी अवस्थाओंके कारण नामाप्रकारके पिता-पुत्रादि शब्दप्रत्ययका गोचर होता है । वैसे एक ही द्रव्य-गुण सामान्य समवाय इत्यादि अनेक रूपसे प्रतीति होता है—

“तस्मात् द्रव्यात्मकता गुणस्य । एतेन कर्मसात्वान्यविशेषसमवायार्ता द्रव्यात्मकता व्याख्याता” — शां० ब्रह्म० २.२.१७ ।

भेदवादी होने से बौद्धों ने रूपादिको ही वस्तुभूत मानकर उसके द्रव्यरूप आशयका निरास किया जब कि अद्वैती वेदान्तियों ने अभेदवादी होनेसे द्रव्यको ही वस्तुभूत मानकर गुणादिरूप आशय का निरास किया । वस्तुतः दोनों ने आधारार्थेयभावका ही निरास करके समवाय का निरास किया है । बौद्ध सभी वस्तुएँ अखण्ड भिन्न अत एव स्वतन्त्र हैं ऐसा मानकर आधारार्थेयभावका निरास करते हैं तब वेदांती संपूर्ण जगत् को एक अखण्ड अद्वितीय ब्रह्मरूप मानकर आधारार्थेयकी कल्पनाको निरस्त करते हैं—

“न हि कार्यकारणयोः भेदः आभिप्रायभाषो वा वेदान्तमादिभिरभ्युपगम्यते । कारणस्यैव संस्थानमार्थः कार्यमित्यभ्युपगमात्” — शां० ब्रह्म० २.२.१७ ।

बौद्धों ने कार्यकारणभाव मान करके भी कार्य और कारण को समकालमें नहीं माना अत एव उनके आधारार्थेयभाव भी नहीं माना । जब कि वेदान्तने कार्यकारणका अभेद मान कर उनके आधारार्थेयभावको नहीं माना । अभेदवादीकी दृष्टि से भेदमूलक कार्यकारणभाव ही संभव नहीं ।

सांख्योंने भी समवाय का खण्डन किया है ।<sup>१</sup> क्यों कि उनके मतसे भी प्रकृति के विकार का विस्तार चाहे कितना ही हो फिर भी वह है प्रकृतात्मक ही, क्यों कि परिणामिनिष्ठ प्रकृति के परिणाम प्रकृतिसे भिन्न नहीं । जब भेद ही नहीं तब समवाय की क्या आवश्यकता ? । कार्य और कारण का भी भेद सांख्यसंमत नहीं — “कार्यस्य कारणात्मकत्वात् । न हि कारणाद् भिन्नं कार्य ( सांख्यत० का० ९ ) इत्यादि प्रतिष्ठा करके वाचस्पति ने अनेक अनुमानके बलसे कार्य और कारण का अभेद सिद्ध किया है ( सांख्यत० का० ९ ) और कहा है कि “तन्तव एव तेन तेन संस्थानभेदेन परिणताः पटो न तन्तुभ्योऽर्यान्तरम्” — ( सांख्यत०

का० ९)। अभेद होनेपर भी भेदव्यवहारकी सिद्धि हो सकती है। जैसे—‘इस वनमें तिलकवृक्ष हैं’ इस प्रसङ्गमें वन और तिलकका अभेद होने पर भी भेदव्यवहार है, वैसे ही सर्वत्र भेदप्रसङ्ग होने पर भी वस्तु अभिन्न—एक हो सकती है—सांख्यतः का० ९।

सांख्य ने वेदान्त की तरह अभेदवादका आश्रयण करके समवायका निरास किया है। किन्तु मीमांसक द्रव्य और गुण का, जाति और व्यक्ति का, कार्य और कारणका न एकान्त भेद मानता है न एकान्त अभेद<sup>१</sup>। अतः एव उसने भेदाभेदवादी होनेके कारण समवायका निरास न करके उसके स्वरूप के विषयमें विप्रतिपत्ति उठा कर<sup>२</sup> समवायका स्वरूप ही बदल दिया। उसका कहना है कि समवायको स्वतन्त्र पदार्थ माननेकी अपेक्षा धर्मधर्मिके स्वरूप का अभेद मानकर उसी अभिन्नरूपको समवाय कहना युक्त है—“अभेदात् समवायोऽस्तु स्वरूपं धर्मधर्मिणोः”—श्लोकभा० ४.१४९। समवायकी ही महिमासे आचारप्रभेद विषयक अभेदप्रतीति होती है। समवायके ही कारण किसी व्यक्तिमें सामान्यका अभेद भाव्य होता है। क्यों कि समवायकी यह शक्ति है कि आधेय आधारमें स्वरूपप्रसङ्गकी उत्पत्ति करावे। अतः एव आधेयभूत जाति आधारभूत व्यक्तिमें भी जातिका बोध कराती है।<sup>३</sup>

मीमांसक संमत इस समवायका दूसरा नाम है रूपरूपित्व। जौनों ने इस रूपरूपित्व सम्बन्धकी मीमांसा की है और कहा है कि इस विषयमें मीमांसक तर्क नयी वचन-भङ्गीका प्रयोग करते हैं उसके स्वरूपका ठीक निर्वचन नहीं करते—“तस्माद्वाचोपुक्तिनू-तनतामात्रमिह कृतम्, न त्वर्थः कश्चित्तुमेक्ष्यते”—न्यायमं० पृ० २७३।

जैनों के मतसे मीमांसक और गुणका, धर्म और धर्मिका मीमांसकों की तरह भेदाभेद ही है। अतएव नैयायिक संमत समवायका खण्डन करनेमें वे बौद्धादि सबका साथ देते हैं। जैनों के मतसे समवाय द्रव्यका एक पर्याय मात्र है—

“ततोऽर्थस्यैव पर्यायः समवायो गुणादिषु ।  
तादात्म्यपरिणामेन कथञ्चिद्वचनमासनात् ॥”

तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०।

पर्याय और द्रव्यका भेदाभेद है। अभेद इसलिए कि किसी एक द्रव्यके पर्यायको अन्य द्रव्य में कोई ले नहीं जा सकता—

“स्वाभावद्रव्यात् द्रव्यान्तरं वेतुमशक्यत्वात्स्वाभावविशेषनत्वात् कथमात्”—तत्त्वार्थ-श्लो० पृ० २१।

अतएव पर्यायका द्रव्यसे विवेक अशक्य है। भेद इसलिए कि पर्याय के नष्ट होनेपर भी द्रव्य विद्यमान रहता है। यदि एकान्त अभेद होता तो पर्यायकी तरह द्रव्य भी नष्ट हो जाता।

द्रव्यकी गुणादिके साथ अविच्छिन्नभावरूपसे रहनेकी अनर्थान्तरभूत आवश्यकता को ही जैनों ने

१. “निर्वाचं वैव हि ज्ञातव्यं: परत्वं व्यक्तियो हि नः ॥ यदि लोकान्तो निर्वाचं विवेकभारतवद्विषय-  
मन् ॥ काण्डिकां कदा बुद्धिं विवेकं चक्रे कथम् ॥” श्लोकभा० ४.४१, १४२। २. वही  
४.१४१-१४२। ३. “वैव सम्बन्धेनाभेदमाधारे काण्डिकां बुद्धिं चक्रेति ज्ञातव्यं लोकवर्तीत्यर्थः  
.....तल्लेख महिमा वेनाचारमाधेवं काण्डिकापुराणवति”—शास्त्रादी० पृ० १००।

समवाय कहा है। अर्थात् द्रव्यकी गुणादिरूपसे परिणति ही समवाय है—द्रव्यका गुणादिके साथ एकलोकीभाव ही समवाय है—स्याद्वादर० पृ० ९६५, ९७० । अभयदेवने स्पष्ट कहा है कि समवायका अन्तर्भाव जीव और अजीवमें है।<sup>१</sup> पिछले समयमें नव्यनैयायिकों ने समवाय के ऊपर दिये गए दोषोंका अवलोकन करके उन दोषोंकी यथार्थता मानकर समवायको अनिश्च और अनेकरूप माना है ।

पृ० १६. पं० १३. 'न च कश्चित्' तुलना—"समवायाग्रहादक्षैः सम्बन्धादर्शनं स्थितम्"—प्रमाणवा० २.१४९ ।

पृ० १६. पं० १४. 'इहेति' प्रशस्तपादने समवायको इहबुद्धिसे अनुमेय कह दिया है । प्रस्तुत अनुमानके प्रयोगके लिए देखो—व्यो० पृ० १०९ ।

समवायके समर्थनके लिए देखो—न्यायवा० पृ० ५२-५३ । व्यो० १०७-१०९, ६९८ । समवायके खण्डनके लिए देखो—श्लोकावा० ४.१४६ । प्रमाणवा० २.१४९-१५३ । तत्त्वो० पृ० ७, ७५ । शं० शांकर० २.२.१३, १७ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९, ५९ । न्याया० टी० पृ० ३६ । सन्मति० टी० पृ० १०६, १५६, ७०० । न्यायकु० पृ० २९४ । स्याद्वादर० पृ० ९६५ ।

पृ० १६. पं० १८. 'उक्तमत्र' देखो पृ० १४. पं० १४ ।

पृ० १७. पं० २. 'अभिधास्यते' देखो पृ० ४९. पं० २२ ।

पृ० १७. पं० ३. 'प्रतिषादयिष्यते' देखो पृ० ९१. पं० १ ।

पृ० १७. पं० ५ 'सामग्येकदेश' सामग्रीप्रमाणवाद दो प्रकारका है । सकल कारकसमुदाय जो बोधाबोधस्वभाव है प्रमाण है—यह पक्ष व्योमशिव और जयन्तभट्टका है—  
"अव्यभिचारिणीमसम्बिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्"—  
न्यायमं० पृ० १२ । व्यो० पृ० ५५४ ।

दूसरे एक पक्षका स्वयं जयन्त ने निर्देश किया है । उस मतके अनुसार सकल कारकका समुदाय नहीं किन्तु कर्ता और कर्म से व्यतिरिक्त कारक समुदाय प्रमाण है—

"कर्तृकर्मव्यतिरिक्तमव्यभिचारादिविशेषणकार्यप्रमाजनकं कारकं करणमुच्यते । तदेव च तृतीयया व्यपदिशन्ति—दीपेन पश्यामि, चक्षुषा निरीक्षे" इत्यादि न्यायमं० पृ० १३ ।

इसी सामग्येकदेशको प्रमाण कहनेवालेके मतसे चक्षुरादि प्रमाण होंगे ।

शान्धाचार्यने 'आदि' शब्दसे इसी दूसरे मतका ग्रहण किया है । सन्मतिटीकाकारने दोनों प्रकारके सामग्रीवादका उल्लेख किया है—सन्मति० टी० पृ० ४५८. पं० ९ ।

सामग्रीप्रामाण्य के खण्डन के लिए देखो—सन्मति० टी० पृ० ४७१ । न्यायकु० पृ० ३३ ।

पृ० १७. पं० ५. 'चक्षुरादिः' इन्द्रियके प्रामाण्यके खण्डनके लिए देखो तत्त्वार्थश्लो० पृ० १६७ ।

पृ० १७. पं० ६. 'प्रामाण्यम्' जैन दर्शनमें प्रामाण्यचिन्ता दो दृष्टिओंसे होती है—  
आध्यात्मिक दृष्टि अथवा निश्चय दृष्टिसे और बाह्य दृष्टि अथवा व्यावहारिक दृष्टिसे ।

१. सन्मतिटी० पृ० ७३३ ।

नन्दी सूत्र में मिथ्यादृष्टि जीवके समी ज्ञानोंको अज्ञान ही कहा है । और सम्यग्दृष्टिके समी ज्ञानोंको ज्ञान ही कहा है<sup>१</sup> । मिथ्यादृष्टि घटको घट जाने फिर भी वह अज्ञान है । और सम्यग्दृष्टिके संशयादिक भी ज्ञान ही कहे जाते हैं<sup>२</sup> । आचार्य उमास्वाति ने समर्थन किया है कि उन्मत्त पुरुषकी तरह मिथ्यादृष्टि जीवको सदसदका विवेक नहीं होता । जैसे उन्मादी मनुष्य माताको पत्नी और पत्नीको माता कहता है तब तो उसका अविवेक स्पष्ट है किन्तु जब वह माता को माता या पत्नी को पत्नी कहता है तब भी वहाँ यादृच्छिक उपलब्धि होनेसे विवेकका अभाव ही मानना चाहिए क्योंकि उसको सत्यासत्यके अन्तरका पता नहीं । उसकी चेतना शक्ति मदिराके कारण उपहत है । ठीक वैसे ही जिसकी चेतना शक्ति मिथ्यादर्शनसे उपहत होती है उसका ज्ञान—चाहे यथार्थ हो या अयथार्थ—सत्यासत्यका विवेक नहीं होनेसे, अज्ञान ही कहा जाता है । जिन भद्रगणि ने इसके विषयमें और स्पष्टता की है कि मिथ्यादृष्टिका ज्ञान अज्ञान इस लिए कहा जाता है कि वह मोक्षका हेतु न बनकर संसारका ही हेतु होता है । और खास बात तो यह है कि ज्ञानका फल जो चारित्र्य है वह मिथ्यादृष्टिमें सम्भव नहीं, अत एव निष्फल होनेसे भी वह अज्ञान ही है<sup>३</sup> । तथा वस्तु अनन्तपर्यायात्मक है, फिर भी मिथ्यादृष्टि निर्णयकालमें भी उसे वैसी नहीं जानता, क्योंकि उसका अनेकान्तमें विश्वास ही नहीं । वस्तुतः उसको सर्वत्र निपर्यास ही है क्योंकि उसे अपने मतका मिथ्याभिविवेश होता है ।<sup>४</sup>

इस तरह आध्यात्मिक दृष्टिसे जो सम्यग्दृष्टि मोक्षामिमुख जीव है उसके समी ज्ञान प्रमाण ही हैं, और मिथ्यादृष्टि संसाराभिमुख जीवके समी ज्ञान अप्रमाण ही हैं—इसी बातको ध्यानमें रखकर उमास्वाति ने सम्यग्दृष्टिके पांच ज्ञानोंको ही प्रमाण कहा है,<sup>५</sup> और मिथ्यादृष्टिके तीन अज्ञानोंको प्रमाण नहीं कहा ।

आगमिकशैलीसे जहाँ प्रमाण-अप्रमाणका विवेचन होता है वहाँ इसी आध्यात्मिक दृष्टिका आश्रय लेकर सैद्धान्तिकोंने ज्ञानके प्रामाण्यका निर्णय किया है । किन्तु तार्किकदृष्टिसे प्रामाण्यके चिन्तन प्रसंगमें व्यावहारिक या बाह्य दृष्टिका अवलम्बन जैन दार्शनिकोंने किया है<sup>६</sup> । अत एव प्रस्तुतमें भी शास्त्राचार्य ने व्यावहारिक दृष्टिसे ही व्यवसायको प्रमाण कहा है । यह व्यवसाय सम्यग्दृष्टिका हो या मिथ्यादृष्टिका प्रमाण ही है ।

जितने अद्वैतवादी हैं उन समीको प्रामाण्यकी चर्चा दो दृष्टिओंसे ही करनी पड़ती है । ज्ञानमें प्रामाण्य या अप्रामाण्यका प्रतिपादन, या प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमातारूप क्रिया-कारकोंकी कल्पना बिना भेद माने हो नहीं सकती । समी अद्वैतवादिओं के मतमें एक, अखण्ड, निर्गुण तत्त्व ही सत्य माना गया है । किसीने उसे ब्रह्म कहा तो किसीने शून्य; किसीने ज्ञान कहा तो किसीने शब्द । वही पारमार्थिक तत्त्व है । अत एव पारमार्थिक दृष्टिसे समी भेदमूलकव्यवहार मिथ्या हैं, सांभृत हैं । किन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे या सांभृतिक दृष्टिसे ये समी भेदमूलक व्यवहार सत्य हैं । व्यवहारका मूलाधार ही भेद है । अत एव व्यावहारिक

१. नन्दीसूत्र सू० २५ । तत्त्वार्थभा० १.३२.-३३ । २. विशेषा० गा० ३१४ । ३. "सद-सद्विसेतनाजो भवदेवजद्विष्टिभोवकम्भाभो । नाणककाभावाजो मिथ्यद्विष्टिरस अज्जाणं ॥"—विशेषा० गा० ११५, ३१९ । ४. विशेषा० गा० ३२३-३२४ । ५. तत्त्वार्थ० १.१० । ६. ज्ञानविन्दु ३४०-४१ ।

दृष्टिसे ही अद्वैतवादिओं के मतमें प्रमाण-प्रमेयादि व्यवहारोंकी घटना सत्य समझी जाती है । पारमार्थिक दृष्टिसे ब्रह्म हो या ज्ञान वह निर्विकल्प है अत एव वह न प्रमाण है न अप्रमाण, न वह प्रमाण है न प्रमेय, न वह प्रमिति है न प्रमाता । वह ऐसी समी कल्पनासे शून्य है । वह स्वयंप्रकाशक है । अनुभवगम्य है—अवाच्य है ।

परमार्थ भेदशून्य होते हुए भी भ्रान्तिके कारण, अविद्याके कारण भेदयुक्त प्रतीत होता है । भेदप्रतीति वासनामूलक है । जब तक वासना बलवती रहती है भेदव्यवहारकी सत्यता मानकर प्रमाण-अप्रमाण की व्यवस्था होती है । वासनाके अन्तर्गत साध भेदव्यवहारकृत व्यवस्थाका भी अन्त होता है । तब परम तत्त्वका स्वप्रकाश न प्रमाण है न अप्रमाण । वह सकल विकल्पातीत और स्वसंवेद्य है ।

नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और मीमांसा दर्शनोंमें इस प्रकार दो दृष्टिओंका अवलम्बन ले करके विचार नहीं किया गया है । ये दर्शन प्रामाण्यकी चिन्ता लौकिक दर्शनके आधार पर ही करते हैं । उनके मतानुसार शास्त्रदृष्टिसे वासितान्तःकरण पुरुषके चाक्षुष ज्ञानमें और रथ्यापुरुषके चाक्षुष ज्ञानमें प्रामाण्याप्रामाण्यकृत कोई भेद नहीं । दोनों के ज्ञान समानरूपसे प्रमाण होंगे । जैन तार्किकोंके मतसे भी यही बात है । किन्तु जैन-सैद्धान्तिकों के मतमें एकका यथार्थज्ञान होते हुए भी अप्रमाण हो सकता है और दूसरेका अययार्थ होता हुआ भी प्रमाण हो सकता है । सैद्धान्तिकों के मतमें आत्माका ज्ञान कैसा भी हो—अविसंवादि भी क्यों न हो, पर आत्मा यदि मोक्षाभिमुख नहीं है तो उसकी उस अयोग्यताके कारण उसका ज्ञान अप्रमाण ही कहा जायगा । जब कि मोक्षाभिमुख आत्मा का संशय भी ज्ञान है, प्रमाण है ।

एक और दृष्टिसे भी प्रामाण्यका विचार दार्शनिकोंने किया है । ज्ञानका ज्ञान—अर्थात् ज्ञानको विषयकरनेवाला ज्ञान—चाहे वह स्वसंवेदन हो या अनुव्यवसायरूप प्रत्यक्ष या अर्थापत्तिरूप परोक्ष—प्रमाण ही है । जैन, बौद्ध और प्राभाकरने ज्ञानको स्वप्रकाश माना है । नैयायिकोंने ज्ञान को विषयकरनेवाला अनुव्यवसायरूप मूलतः प्रत्यक्ष माना है और भाट्टमीमांसकोंने अर्थापत्तिरूप परोक्ष ज्ञानको ज्ञानविषयक माना है । जैनादि संमत ये स्वसंवेदनादि कभी अप्रमाण नहीं । या यों कहना चाहिए कि ज्ञानमें जो प्रामाण्यका विचार है वह स्वापेक्षासे नहीं किन्तु स्वव्यतिरिक्त अर्थकी अपेक्षासे ही होता है<sup>१</sup> ।

पृ० १७. पं० ११. 'अवभासो' मुलना — "व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्रमवभासकं मतम् । ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमकुपे ॥" लघी० ६० ।

पृ० १७. पं० ११. 'व्यवसायो' संशयादि समी ज्ञान तो हैं किन्तु अमुक ज्ञानको ही प्रमाण कहा जाता है अन्यको नहीं । तब सहज ही प्रश्न होता है कि ज्ञानके प्रामाण्यका नियामक तत्त्व क्या हो सकता है जिसके होनेसे किसी ज्ञानव्यक्तिको प्रमाण कहा जाय ? ।

१. भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासलिङ्गः । दृष्टिप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं लब्धिर्न च ते ॥" आसमी० का० ८३ । स्याद्भाट्ट० १.२० । "स्वरूपे सर्वमज्ञानं पररूपे विपर्ययः" प्रमाणवा० अ० मु० पृ० ४१ ।

इस ग्रन्थके उत्तरमें दार्शनिकोंका ऐकमत्य नहीं । शान्त्याचार्य ने अर्थग्रहण, अगृहीतार्थप्रापण और गृहीतार्थप्रापण ऐसे तीन प्रामाण्य नियामक तत्त्वोंका उल्लेख करके खण्डन किया है और अपना मत बताया है कि व्यवसाय ही ज्ञानका प्रामाण्य है ।

अर्थग्रहणरूप प्रामाण्य सौ प्रान्तिक को सम्मत है । उसके मतसे ज्ञानगत अर्थोकार ही अर्थात् अर्थग्रहण ही प्रामाण्य है जिसे वह सारूप्य भी कहता है ।

अगृहीतार्थप्रापणका मतलब है अपूर्वार्थप्रापण या अनधिगतार्थप्रापण । बौद्ध<sup>१</sup> और मीमांसक<sup>२</sup> दोनोंको यह इष्ट है । दोनों के मतसे ज्ञान अपूर्वार्थक हो तभी प्रमाण है अन्यथा नहीं । वेदकी नित्यताके स्वीकारके कारण मीमांसकोंको प्रामाण्यका नियामक अपूर्वार्थकत्व मानना पड़ा है । और वस्तुकी ऐकान्तिक अनित्यता—क्षणिकताके स्वीकारमें ही बौद्ध सम्मत अपूर्वार्थकत्वका मूल है ।

वेद यदि नित्य न हो तो पौरुषेय होने से श्रुतिको प्रत्यक्ष या अनुमानमूलक मानना पड़ेगा । ऐसी स्थितिमें वेदभिन्न अन्य पौरुषेय आगम शास्त्र भी प्रमाण हो जायेंगे जो मीमांसकोंको इष्ट नहीं । अत एव वेदको अपूर्वार्थक मान कर प्रमाणके लक्षणमें ही 'अगृहीतप्राप्ति' ऐसा विशेषण मीमांसकों ने दिया ।

बौद्धों के मतसे सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं । अत एव जैसे एक ज्ञान भिन्नकालीन दो वस्तुओंको विषय नहीं कर सकता वैसे ही एक ही वस्तु भिन्नकालीन दो ज्ञानोंका विषय हो नहीं सकती । क्योंकि ऐसा होने पर वस्तु अक्षणिक सिद्ध होगी । अत एव बौद्धोंने स्वसंमत क्षणिकत्वकी रक्षा करनेके लिए प्रमाणको अगृहीतप्राप्ति—अपूर्वार्थक कहा । इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध और मीमांसक परस्पर अत्यन्त विरुद्ध मन्तव्यके आधार पर एक ही नतीजे पर पहुँचे कि प्रमाण तो अपूर्वार्थक ही होना चाहिए ।

इस प्रकार प्रमाण लक्षणमें जब इस विशेषणने प्रवेश कर ही लिया तब जैनो ने भी इसे अपने ढंगसे अपनाया है । अकलङ्कने अप्रसिद्ध अर्थकी स्यातिको प्रमाण कहा—“प्रामाण्यमप्रसिद्धार्थस्यातेः” प्रमाणसं० ३ । और माणिक्यनन्दी ने तो अपूर्वार्थ व्यवसायको ही प्रमाण कहा—“स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्”—परी० १.१ । किन्तु उन्होंने अपूर्व पदका स्वसंमत अर्थ भी स्पष्ट कर दिया है कि “अनिश्चितोऽपूर्वार्थः, दृष्टोऽपि समारोपात् तादृग्”—परी० १.४-५ । प्रभाचन्द्राचार्य ने स्पष्टीकरण किया है कि हमारे मतमें यह एकान्त नहीं कि विषय अनधिगत ही हो । ज्ञान अधिगत विषयक हो या अनधिगत विषयक, जो भी अव्यभिचारिदिशि विनिश्चित प्रमाणको उत्पन्न करता है वह प्रमाण कहलायगा<sup>३</sup>—“तत्र अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वमेव प्रमाणस्य लक्षणम् । तद्धि वस्तुन्यधिगतेऽनधिगते वाऽव्यभिचारिदिविनिश्चितां प्रमां जनयन्नोपालम्भविषयः ।” प्रमेयक० पृ० ५९ ।

जैनो के मतसे वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है । अत एव द्रव्यार्थिक दृष्टिसे अधिगत वस्तु भी पर्यायार्थिक दृष्टिसे अनधिगत हो सकती है । मीमांसकों ने भी वस्तुको सामान्यविशेषात्मक

१. न्यायवि० पृ० ६ । २. “सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं” श्रुतिकथा० पृ० २१० । ३. “गृहीत-मगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति । तत्र लोके न शास्त्रेण विजहति प्रमाणताम्” त० श्रु० पृ० १७४ ।

माना ही है। उनके मतमें भी वस्तु सामान्यतया अधिगत और विशेषतया अनधिगत हो सकती है। अत एव 'ऐकान्तिक रूपसे अनधिगत ही प्रमाणका विषय होना चाहिए' यह भी मांसकों का आप्रग्रह ठीक नहीं—प्रमेयक० पृ० ६० ।

इसी प्रकारके अपूर्वार्थक बोधको अकलंकने प्रमितिविशेष, अनिश्चितनिश्चय और व्यवसायातिशय ( अष्टस० का० १०१ ) कहा है। तथा विद्यानन्द ने उपयोगविशेष भी कहा है—अष्टस० पृ० ४ ।

ये ताम्बर जैनाचार्यों ने तो प्रमाणलक्षणमें उक्त विशेषणको स्थान ही नहीं दिया। प्रत्युत उस विशेषणका खण्डन ही किया है—प्रमाणमी० १.४ ।

गृहीतार्थप्रापणका मतलब है अविसंवाद। धर्मकीतिने प्रमाणवार्तिकमें अविसंवादि ज्ञानको प्रमाण कहा है—“प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्” प्रमाणवा० १.३ । और अविसंवाद का अर्थ किया है “अर्थक्रियास्थितिः अविसंवादनम्” १. ३ । इसीका अर्थ धर्मोत्तरने न्यायविन्दु टीका में स्पष्ट किया है—“लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् संवादक उच्यते । तद्वज्ज्ञानमपि स्वयं प्रदर्शितमर्थं प्रापयत् संवादकमुच्यते । प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकत्वम् । तथा हि—न ज्ञानं जनयदर्थं प्रापयति । अपि त्वर्थे पुरुषं प्रवर्तयत् प्रापयत्यर्थम् । प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव । न हि पुरुषं दृष्ट्वा प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम्” न्यायविन्दुटीका पृ० ५ ।

यदि वस्तु एकान्त क्षणिक हो तब अविसंवाद संभव ही नहीं ऐसा कह कर शान्स्याचार्य ने धर्मकीति संमत इस लक्षणका खण्डन किया है। किन्तु उसको भी अविसंवाद एकान्ततः प्रमाण लक्षणरूपसे अनिष्ट है सो बात नहीं। क्योंकि उन्होंने आगम प्रामाण्यके समर्थनमें “छेदो मानसमन्वयः” ( का० ५५ ) कह करके अविसंवादको भी स्वीकृत किया ही है। तथा दूसरोंके आगमको प्रमाणसंवाधार्थका अप्रतिपादक होने से ( पृ० ११२. पं० २८ ) अप्रमाण कहा है। इससे भी यही फलित होता है कि उनको अविसंवाद भी प्रमाणलक्षणरूपसे इष्ट है।

वस्तुतः सम्यग्ज्ञान, व्यवसाय, अविसंवादि, अबाधित, निर्णय, तत्त्वज्ञान, साधकतम, समारोपव्यवच्छेदक, अव्यभिचारि, अभ्रान्त—इन सभी शब्दोंसे दार्शनिकोंने प्रामाण्यका ही प्रतिपादन किया है। इन शब्दोंके अभिधेयार्थमें भेद भले ही मादूम हो पर तात्पर्यार्थमें कोई भेद नहीं। सभी दार्शनिक अपनी अपनी प्रक्रियाका भेद दिखानेके लिए नये नये शब्दोंकी योजना करते हैं। परिणामतः तात्पर्यार्थमें अभेद होने पर भी अभिधेयार्थमें भेद होनेके कारण परस्पर खण्डन-मण्डनका अवकाश रहता है।

अत एव हम देखते हैं कि विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें ( १.१० ) नैयायिकादि सभी दार्शनिक संमत प्रमाणलक्षणके खण्डन प्रसंगमें बौद्ध संमत अविसंवादका भी खण्डन किया है। किन्तु उन्होंने स्वयं और अकलंकने भी आपसीमांसाकी टीकामें<sup>१</sup> अनेकत्र अविसंवादको प्रमाण लक्षण माना है। अत एव विद्यानन्द को आखिरकार समन्वय भी करना पड़ा कि अविसंवाद कहो या स्वार्थव्यवसाय तात्पर्यमें कोई भेद नहीं<sup>२</sup> ।

१. अष्टस० पृ० ७४, २७८ । २. अष्टस० पृ० २७९ । प्रमाणपरीक्षा पृ० ५३ ।

पूर्वोक्त तीनों प्रामाण्य नियामक तत्त्वोंका खण्डन शान्त्याचार्य ने किया है और अपनी ओरसे व्यवसायको ही नियामक तत्त्व माना है । इसके अलावा अन्य जैनाचार्यों ने जिन नियामक तत्त्वोंका स्वीकार किया है उनका उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है । अकलंक और विद्यानन्द आसमीमांसा की टीकामें ( का० ६ ) तर्कका प्रामाण्य सिद्ध करते हुए विचारकत्व, संवादकत्व, और समारोपव्यवच्छेदकत्व ऐसे तीन हेतु देकर इन तीनोंकी प्रामाण्य नियामकता सूचित करते हैं । वैसे ही साधकतमत्व और स्वार्थाधिगमफलत्वकी भी सूचना उन्होंने उसी प्रसंगमें दी है । आसमीमांसा मूलमें तत्त्वज्ञानको ही प्रमाणका लक्षण कहा गया है ( का० १०१ ) । उसीके समर्थनमें विद्यानन्द ने एक और लक्षणकी भी सूचना की है । वह है—सुनिश्चितासम्भवद्विधाधकत्व । तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें भी उसका उल्लेख है ( पृ० १७५ ); और तत्त्वोपप्लवकारको उत्तर देने के लिए भी विद्यानन्द ने उसी लक्षण की कल्पना करके कहा है कि अदुष्टकारणारब्धत्वादि अन्यसंमत प्रमाण लक्षण भले ही असंगत हों किन्तु सुनिश्चितासम्भवद्विधाधकत्व असंगत नहीं और वही स्वार्थव्यवसायरूप है—अष्टसं० पृ० ४१ ।

परन्तु सन्मतिटीकाकार अभयदेवको सुनिश्चितासम्भवद्विधाधकत्वरूप प्रमाण लक्षण इष्ट नहीं । उनका कहना है कि बाधकाभावका निर्णय करना संभव नहीं । अत एव वह प्रमाण-लक्षण नहीं हो सकता—सन्मतिटी० पृ० ६१४ । यहाँ हमें एक बात अवश्य ध्यानमें रखनी होगी कि अभयदेव ने भी प्रमाण लक्षणरूपसे स्वार्थनिर्णितिको<sup>१</sup> ही माना है और विद्यानन्द ने स्वार्थनिर्णिति और सुनिश्चितासम्भवद्विधाधकत्वकी एकता सिद्ध की है । ऐसी स्थितिमें दोनों के बीच कोई मौलिक भेद नहीं रहता ।

तत्त्वोपप्लवकार ने प्रमाणके खण्डन प्रसंगमें जिन प्रामाण्य नियामक<sup>२</sup> तत्त्वोंका उल्लेख किया है वे ये हैं—अदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यता, बाधारहितत्व, प्रवृत्तिसामर्थ्य ( पृ० २ ), अनधिगतार्थगन्तुत्व ( पृ० २२ ) और अविस्वादित्व ( पृ० २८ ) । विद्यानन्द ने तत्त्वोपप्लवके इस पूरे पूर्वपक्ष को उद्धृत करके अपनी ओरसे सुनिश्चितासम्भवद्विधाधकत्वको नियामक-तत्त्व सिद्ध किया है—अष्टसं० पृ० ३८—४१ । और वही शान्त्याचार्य संमत व्यवसाय है ।

पृ० १७. पं० १६ ‘ज्ञानाभिधान’ तुलना—“प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यं व्यवहारापेक्षं । स पुनः अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकः” लघी० स्व० ४२ ।

पृ० १७. पं० १९. ‘स्वयमेव’ शान्त्याचार्य ने स्वसंवेदनको सिद्ध करनेके लिए यह पूर्वपक्ष उठाया है । स्वसंवेदनके विषयमें दार्शनिक मतभेदोंके वर्णनके लिए देखो—प्रमाण० भाषा० पृ० १३० ।

पृ० १७. पं० २३ ‘सुशिक्षितो’ तुलना—“न हि सैवासिधारा तयैव चिच्छद्यते” प्रमाण०

१. “तस्मात् प्रमाणं स्वार्थनिर्णितिस्वभावं ज्ञानम्” सन्मतिटी० पृ० ४७५ । २. इस के साथ प्रमेयकमलमार्तण्डगत ( पृ० ३६ ) अप्रामाण्यनियामकतत्त्वोंके संचयकी तुलना करना चाहिए । इन तत्त्वोंकी गिनती बौद्ध दृष्टिसे प्रभाचन्द्र ने की है ।



अ० मु० पृ० १४ । तात्पर्यं० पृ० ३६९ । प्रमेयक० पृ० १३६ । स्याद्वादर० पृ० २२१ ।  
“अंगुल्यग्रं यथात्मानं नात्मना स्पृष्टुमर्हति” प्रकरणपं० पृ० ६३ ।

पृ० १७. पं० २५ ‘कथम्’ यहाँसे शांन्याचार्य उत्तरपक्षकी रचना करते हैं । तुलना—  
“स्वस्मिन्नेव प्रमोदपत्तिः स्वप्रमातृत्वमात्मनः । प्रमेयत्वमपि स्वस्य प्रमितिक्षेयमानता ॥”  
तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४३ ।

पृ० १७ पं० २५. ‘कल्पिताः’ शांन्याचार्यने क्रियाकारक व्यपदेशको कल्पित कहा है उसका तात्पर्य है कि ‘यह कर्ता है’, ‘यह करण है’ ‘यह क्रिया है’ इत्यादि व्यवहार विवक्षाधीन है अतएव कल्पित है । क्यों कि एक ही वस्तुको हम विवक्षाके भेदसे कर्ता-करणादि अनेक रूपसे कह सकते हैं । विवक्षाका मूल जैन दृष्टिसे वस्तुकी अनेकतात्मकता है । जब कि बौद्ध दृष्टिसे वासना है ।

जैन और बौद्ध दोनों कारकव्यवहारको काल्पनिक मानते हैं । बौद्धों ने उसे वासनामूलक माना । जब कि जैनो ने अनन्तधर्मात्मक वस्तुके किसी विवक्षित रूपको तत् तत् व्यवहार का कारण माना—

“कारकाणां विवक्षातः प्रवृत्तेरेकवस्तुनि ॥ विवक्षा च प्रधानत्वात् वस्तुरूपस्य कस्य चित् । तदा तदन्यरूपस्याविवक्षा गुणभाषतः ॥ तत्त्वार्थश्लो० पृ० ६१ ।

“एवंप्रकारा सर्वैव क्रियाकारकसंस्थितिः”, “एवंप्रकारा=कल्पितैव”—प्रमाणवा० २.३१९ ।

“कल्पितः कर्मकर्त्रादिः परमार्थो न विद्यते ।

आत्मानमात्मनैवात्मा निहन्तीति निदृश्यते ॥”—प्रमाण० अ० मु० पृ० ३७ ।

इस विषयमें भर्तृहरिका मत भी उल्लेख योग्य है—उन्होंने भी सकल पदार्थोंको सर्व शक्तियुक्त मान करके व्यपदेशको विवक्षाधीन स्वीकार किया है—और उस व्यवहारको बुद्धिकृत माना है—

“शक्तिमात्रासमूहस्य विश्वस्यानेकधर्मणः । सर्वदा सर्वथा भावात् कश्चित् किञ्चिद्विष-  
क्यते ॥ साधनव्यवहारश्च बुद्ध्यवस्थानिवन्धनः । सन्नसन् वार्थरूपेषु भेदो बुद्ध्या प्रक-  
ल्यते ॥” वाक्य० काण्ड. ३. पृ० १७४, १७५ । “प्रयोक्तैवाभिसम्बन्धसे साध्यसाधनरूप-  
ताम् । अर्थस्य वाऽभिसम्बन्धकल्पनां प्रसमीहते ॥” वाक्य० का० २.४३५ ।

पृ० १८. पं० १. ‘प्रदीपवदिति’ तुलना—“न, प्रदीपप्रकाशसिद्धिवत् तत्सिद्धेः ।”  
न्यायसू० २.१.१९ । “केचित्तु दृष्टान्तमपरिवृद्धीतं हेतुना विशेषहेतुमन्तरेण साध्यसाध-  
नायोपाददते—यथा प्रदीपप्रकाशः प्रदीपान्तरप्रकाशमन्तरेण गृह्यते तथा प्रमाणानि  
प्रमाणान्तरमन्तरेण गृह्यन्त इति ।”—न्यायभा० २.१.१९ । “उत्पद्यमानैवासौ ज्ञायते ज्ञा-  
पयति चार्थान्तरं प्रदीपवत्” ।—शाबर० २.१.५ ।

“आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते ।

अर्थरूपं तथा ज्ञाने स्वरूपं च प्रकाशते ॥” वाक्य० १.५० ।

“प्रकाशमानस्तादात्म्यात् स्वरूपस्य प्रकाशकः । यथा प्रकाशोऽभिमतस्तथा धीरात्म-  
वेदिनी ॥” प्रमाणवा० २.३२९ । परी० १.१२ । न्याया० टी० पृ० १२ । प्रमाण-  
रुक्म पृ० १ । स्याद्वादर० पृ० २२०, २३१ ।

५० १८. पं० १. 'सजातीयानपेक्षत्वेन' तुलना—“संविद् स्वप्रकाशे स्वाध्यान्तरजातीयं नापेक्षते, वस्तुत्वात्, घटवत्” प्रमाणमी० १.१.२ ।

“कैवलं प्रकाशकत्वं सजातीयान्तरानपेक्षत्वे साध्ये विकल्पनीयं—किमत्यन्तसजातीयम्, माहो सजातीयमात्रम् । यद्यत्यन्तसजातीयं ततः सिद्धसाधनम् । न हि चक्षुरादि-प्रमाणं स्वग्रहणे चक्षुराद्यन्तरमपेक्षते । अथ कथञ्चित्सजातीयम्, तदपेक्षत्वम् आलोकस्याप्यस्ति, तस्य चक्षुराद्यपेक्षत्वात् । ततश्च साध्यहीनो दृष्टान्तः, विरुद्धश्च हेतुः । विषयज्ञानमपि विषयज्ञानेन न गृह्यते किन्तु ज्ञानविषयेण ज्ञानेनेति नात्यन्तसजातीयमिति”-तात्पर्यं० ५० ३७२ ।

५० १८. पं० ३. 'न किञ्चित्' तुलना—“अथात्मरूपं नो वेत्ति पररूपस्य विकथम्”-प्रमाणवा० २.४४४ । “यदि ज्ञानेऽपरिच्छिन्ने ज्ञातोऽसाविति तत् कुतः । ज्ञातत्वेनापरिच्छिन्नमपि तन्नमकं कथम् ॥” वही २.४६७ । “सर्वे हि ज्ञापकं ज्ञातं स्वयमन्यस्य वेदकम्” तत्त्वार्थशेख० ५० ४१ ।

५० १८. पं० ४. 'अन्वयमूर्कं' तुलना—“अप्यक्षमात्मनि ज्ञानमपरजानुमानिकम् । नान्यथा विषयालोकव्यवहारविलोपतः ॥” न्यायवि० १३ ।

५० १८. पं० ५. 'इत्थं' यहाँ से नीमांसक संमत आत्मव्यापारके प्रामाण्य का खण्डन शान्त्याचार्य ने किया है । जयन्त ने न्यायमञ्जरी में ( ५० १५ ) औरोंके प्रमाण-लक्षणके खण्डनके प्रसंगमें इसका खण्डन किया है । जयन्त ने इसे शाबरों का मत कहा है । और प्रसंगसे कहा है कि “अपि च क्रियापि प्रत्यक्षद्रव्यवर्तिनी प्रत्यक्षैव, भट्टानां प्रत्यक्षव्यापारमा” । पूर्वपक्षमें स्पष्ट कहा है कि वह व्यापार फलानुमेय है और उस बातके समर्थनमें भाष्यकारके “न ज्ञातेऽर्थे कश्चिद्बुद्धिं उपलभते ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छतीति” इस वाक्य को उद्धृत करके 'वार्तिककार' कुमारिलके वचनको भी उद्धृत किया है । इससे स्पष्ट है कि यह मत भाट्टों का है । प्रभाकरों का नहीं । किन्तु प्रभाचन्द्र ने दो प्रकारके ज्ञातु-व्यापारका खण्डन किया है । उनका कहना है कि अज्ञानरूप ज्ञातुव्यापार प्रभाकरसंमत है—प्रमेयक० ५० २० । और ज्ञानरूप ज्ञातुव्यापार कुमारिलसंमत है—वही० ५० २५ ।

इसके विपरीत प्रभाकर और प्रभाकरोंके ग्रन्थकी बात है । प्रभाकरने स्वयं बृहती ( १. १. ५ ) में अनुभूतिको प्रमाण कहा है । और शालिकनाथने भी वही किया है—प्रकरणपं० ५० ४२ । तब प्रश्न यह है कि प्रभाचन्द्रने जो कुछ कहा है उसका मूलाधार क्या है ? प्रभाचन्द्रने पूर्वपक्ष-उत्तरपक्षमें प्रस्तुतवाद में सर्वत्र जयन्तका ही शब्दशः अनुकरण किया है । किन्तु जयन्तने ज्ञातुव्यापारको प्रभाकरसंमत नहीं बताया है । प्रस्तुतवादकी चर्चा सम्मतितर्कटीका ( ५० २० ) में भी है ।

प्रस्तुत चर्चा शान्त्याचार्यने न्यायमंजरी आदि ग्रन्थोंके आधार पर ही की हुई जान पड़ती है ।

५० १८. पं० ७. 'आत्मव्यापार' “शाब्दास्तु ब्रुवते.....ज्ञानं हि नाम क्रियात्मकं, क्रिया च फलानुमेया ज्ञातुव्यापारमन्तरेण फलानिष्पत्तेः । संसर्गोऽपि कारकाणां क्रिया-गर्भ एव भवति । तदनभ्युपगमे किमधिकृत्य कारकाणि संसृज्येरन् । न चासंसृष्टानि तानि फलवन्ति.....तस्माद्यथा हि कारकाणि तण्डुलसलिलानलस्याद्यादीनि सिद्धस्वभा-  
न्या० २०

वानि साध्यं धात्वर्थमेकं पाकलक्षणमुपरीकृत्य संसृज्यन्ते । संसृष्टानि च क्रियानुत्पादयन्ति तथाऽऽत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षे सति ज्ञानाख्यो व्यापार उपजायते । स च न प्रत्यक्षः ॥”- न्यायमं० पृ० १५ ।

“अप्रसिद्धसत्ताकश्च प्रभाकरमतानुसारिभिरभिप्रेतो ज्ञातव्यापारः” न्यायकु० पृ० ४२ ।  
प्रमेयक० पृ० २० ।

पृ० १८. पं० २३. ‘मनःपरिकल्पनया’ जै नों को मन अनिष्ट है यह बात यहाँ अभिप्रेत नहीं किन्तु जैसा औरोंने मनका स्वरूप माना है वह इष्ट नहीं—ऐसा शा न्याचार्य का तात्पर्य है ।

पृ० १९. पं० ५. ‘अर्थप्राकट्य’ तुलना “नान्यथा ह्यर्थसद्भावो दृष्टः सन्नुपपद्यते । ज्ञानं येनेत्यतः पश्चात् प्रमाणमुपजायते ।” श्लोक० शून्य० १८२ । “वेद्यताऽर्थातिशयलक्षणा अर्थस्य दृष्टा न संवेदनविशिष्टता । सर्वस्यार्थेन्द्रियमनःसन्निकर्षे सत्यर्थस्यापि वेद्यतालक्षणपरोक्षपरोक्षरूपातिशयोऽस्ति यदुत्पन्नः । आत्मनोऽप्यर्थातिशयान्वयानुपपत्तिगम्या यस्मिन् सति ज्ञातृता सजायत इति प्रक्रिया” श्लोक० तात्पर्य० पृ० २८३ । “ज्ञानजन्योऽर्थगतः कश्चिदतिशयः प्रकाशनभासनादिपर्यायपदवाच्यः । स च पाकजन्यौदनादिगतातिशयवदनवगतेऽपि ज्ञाने शक्यतेऽवगन्तुम् ।” श्लोक० न्याय० पृ० ३१९ ।

पृ० १९. पं० ६. ‘नियतम्’ “अर्थप्रकाशतालक्षणोऽर्थधर्मोऽन्यथानुपपन्नत्वेनानिश्चितसं कल्पयति आहोसिदनिश्चित इति ।”-सन्मति० टी० पृ० २६. पं० ३८ ।

पृ० १९. पं० १६. ‘अनुमानमपि’ सन्मति० टी० पृ० २०. पं० ९ से जो चर्चा शुरू हुई है उसीका संक्षेप यहाँ है ।

पृ० १९. पं० १४. ‘निषेत्स्यते’ देखो, का० १५ ।

पृ० १९. पं० २०. ‘अभावप्रमाण’-का० १५-१६ ।

पृ० १९ पं० २२. ‘दृश्यानुपलम्भ’-दृश्यानुपलब्धिके सभावानुपलब्ध्यादि एकादश-प्रयोगभेदोंका वर्णन न्यायविन्दु में है-पृ० ४७-५५ ।

पृ० २०. पं० २. ‘कारकसंबन्ध’-“बाह्येषु कारकेषु व्यापारवस्तु फलं दृष्टम्-अन्यथा सिद्धसमाधानां कारकाणामेकं धात्वर्थं साध्यममङ्गीकृत्य कः परस्परं सम्बन्धः । अतस्तदन्तरालवर्तिनी सकलकारकनिष्पाद्याऽभिमतफलजनिका व्यापारस्वरूपा क्रियाऽभ्युपगन्तव्या इति प्रकृतेः व्यापारसिद्धिरिति”-सन्मति० टी० पृ० २५. पं० १० ।

पृ० २०. पं० ५. ‘कारकजन्यः’ तुलना सन्मति० टी० २५. पं० १३ ।

पृ० २०. पं० ११. ‘क्रियारूपः’ तुलना-सन्मति० टी० पृ० २५. पं० ३२ ।

पृ० २०. पं० २०. ‘व्यापारेण’ तुलना-सन्मति० टी० पृ० २६. पं० ६ ।

पृ०. २०. पं० २२. ‘संयोग-समवाय’ देखो पृ० १४. पं० ९ तथा पृ० १६. पं० १३ ।

पृ० २०. पं० २३. ‘नोपपद्यत’ देखो पृ० ९१ ।

पृ० २०. पं० २६ 'सुखदुःख' धर्मकीर्तिने' सुखादिको ज्ञानरूप सिद्ध किया है । उनका कहना है कि विज्ञानोत्पत्तिके जो कारण हैं वे ही सुखोत्पत्तिके भी हैं । अत एव सुख और ज्ञानमें भेद नहीं । शान्त्याचार्यने भी उन्हींका अनुकरण करके और उन्हींके वचनका उद्धरण देकर सुखादिको ज्ञानात्मक कहा है । शान्त्याचार्य के इस कथनको द्रव्यार्थिक नयदृष्टिसे ही ठीक समझना चाहिए । चेतन आत्मासे अभिन्न ऐसे ज्ञान और सुखका चेतनत्वेन अमेद हो सकता है "एतेन ज्ञानादर्थान्तरभूतत्वात् सुखादीनामचेतनत्वमेवेति यदन्तोऽपाकृताः प्रत्येतव्याः, चेतनादात्मनोऽनर्थान्तरत्वेन कथञ्चित् चेतनत्वसिद्धेः" - अष्टसं० पृ० ७८ । किन्तु पर्यायनयकी अपेक्षासे ज्ञान और सुख ऐसे दो अत्यन्त भिन्न पर्याय एक ही आत्माके हैं । अत एव ज्ञान और सुख का ऐकान्तिक तादात्म्य नहीं । सुख आह्लादनाकार है और ज्ञान मेयबोधनरूप है - इस प्रकार दोनोंके स्वरूपका भेद स्पष्ट है । दोनोंके कारणोंका भी भेद स्पष्ट ही है । सुख होता है सद्देय नामक अदृष्टके उदयसे और ज्ञान होता है ज्ञानावरणीयादिके क्षयोपशमादिसे । यह भी कोई नियम नहीं कि अभिन्न कारण जन्य होनेसे ज्ञान और सुख अभिन्न ही हो क्यों कि कुम्भादिके मङ्गसे होने वाले शब्द और कपालखण्डमें किसी भी प्रकारसे ऐक्य नहीं देखा जाता - अष्टसं० पृ० ७८ । न्यायकु० पृ० १२९ । स्याद्वादर० पृ० १७८ ।

नैयायिक-वैशेषिकोंने भी सुख और ज्ञानके भेदको ही माना है और बौद्धों का खण्डन किया है । किन्तु वे जैनों की तरह उनको आत्मसम्बन्धी मानकर भी आत्मासे उनका अत्यन्त भेद ही मानते हैं । समवायके कारण ही आत्मा और उन दोनोंका सम्बन्ध होता है ऐसा वे मानते हैं । जैनों के मतसे आत्मा ही उपादान कारण है और वही ज्ञान और सुखरूपसे परिणत होता है अत एव ज्ञान और सुखका कथंचिद् भेद होने पर भी आत्मासे उन दोनोंका अत्यन्त भेद नहीं ।

सौख्योंने सुखादि को प्रकृति का परिणाम माना है अत एव अचेतन भी । किन्तु जैन और बौद्ध समानरूपसे सुखादिको चैतन्यरूप ही सिद्ध करते हैं और स्वसंविदित भी - प्रमाणवा० २.२६८ । तत्त्वसं० का० ३६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४९ । अष्टसं० पृ० ७८ ।

पृ० २०. पं० २८ 'पूर्व' देखो पृ० १६ ।

पृ० २०. पं० ३१ 'तदतद्' व्याख्या - "तद्रूपिणो विधक्षितैकरूपवन्तोऽतद्रूपिण इतररूपवन्तो भावा यथाक्रमं तद्रूपाद् दृष्टैकरूपव्येतोः सामग्रीलक्षणाज्जाता अतद्रूपदेतु-जाता विलक्षणसामग्रीज्जाता भवन्तीति तावत् स्थितम् । तत् तस्यादिमं न्यायमुल्लङ्घ्य विज्ञानेन सहाभिन्न एको हेतुरिन्द्रियविषयमनस्कारादिसामग्रीलक्षणः तस्याद् जातं सुखादिकं कस्याद्ज्ञानं? समानसामग्रीप्रसूतत्वात् द्वयमपि ज्ञानं स्यात्तथा किञ्चित्" - मनो० ।

पृ० २१. पं० १. 'अविशेष' तुलना - "तस्याविशेषे बाह्यस्य भावनातारतम्यतः । तारतम्यं च बुद्धौ स्यात् न प्रीतिपरितापयोः ।" प्रमाणवा० २.२७०. ।

पृ० २१. पं० ७ 'भिन्नाभः' प्रमाणवा० २. २७९ । "इत्यन्तरश्लोकः" - प्रमाणवा० अ०

१. प्रमाणवा० २.२५१. । २. न्यायवा० पृ० ३६ । तात्पर्य० पृ० १२३ । न्यायसं० पृ० ७० । वैशे० १.१.६ । व्यो० पृ० ६२७ ।

पृ० ५०२ । व्याख्या-सांख्यस्य तु सितदुःखादिर्मिमांसाकारोऽभिज्ञ इष्टः । बुद्धिवेदने तु अभिज्ञाने विभिन्ने इष्टे चेत् । मेवामेदौ किमाभयौ किंनिमित्तौ ते व्यवस्थापनीयौ ।”-मनो० । मूल पुस्तकमें नीचे जो पाठान्तर ‘अभिज्ञो’ दिया है वही ठीक है अत एव उसे मूलमें ले लेना चाहिए ।

पृ० २१. पं० ११. ‘खसंवेदनं’ खसंवेदनकी चर्चा के लिए निम्न लिखित ग्रन्थ देखें—  
प्रमाणवा० २.४२३-५३१ । प्रमाणवा० अ० पृ० ४६६ । प्रकरणपं० पृ० ५१ । भाषाटी-  
१.१.१ । न्यायवि० का० १३ से । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४१, १२५, १६५ । अष्टसं०  
पृ० ६४ । सन्मति० टी० पृ० ४७५ । प्रमेयक० पृ० १२१ । न्यायकु० पृ० १७६ ।  
स्याद्वादर पृ० २१० । इस विषयमें दार्शनिक मतभेदोंके वर्णनके लिए देखो—प्रमाण०  
भाषा० पृ० १३०, १३६ ।

पृ० २१. पं० १२. ‘अथ प्रमाणात्’—यहाँ से प्रामाण्यका निश्चय स्वतः होता है कि परतः—इस चर्चाका उपक्रम शांन्या चार्थ ने किया है । इस विषयमें दार्शनिकोंके मतभेदोंके वर्णनके लिए देखो—प्रमाण० भाषा० पृ० १६ ।

प्रस्तुत चर्चा का प्रारम्भ मीमांसकके द्वारा परतः प्रामाण्यवादिओंका खण्डन करा कर किया गया है । बौद्धसमत संवादकज्ञान या नैयायिकादिसमत कारणगुणज्ञान ये दोनों प्रवर्तक ज्ञानके प्रामाण्यके निश्चयमें असमर्थ हैं—इस बातकी स्थापना मीमांसक करता है ( § १-९ ) । शांन्या चार्थ ने उत्तर दिया है कि ज्ञानके अबाधित होनेसे प्रामाण्य का निश्चय होता है ( § १० ) । सिद्धसेन ने प्रमाणको बाधविवर्जित कहा है—न्याया० १ । उसी पदका यह विवरण है ऐसा समझना चाहिए ।

फिर प्रश्न हुआ कि बाधकाभावका निश्चय भी कैसे होता है ? । जब बाध्यबाधकभाव ही संभव नहीं तब बाधकाभावका निश्चय कैसे होगा ? यदि वह न हो तो अबाधितत्वके कारण प्रामाण्य-निश्चय नहीं हो सकता ( पृ० २६. पं० १६ ) । यह पूर्वपक्ष ( § ११-२४ ) बौद्ध का है क्योंकि उसे प्रामाण्यका नियामकतत्त्व अबाधितत्व नहीं किन्तु ‘अविसंवादित्व इष्ट है । अत एव उसने अबाधितत्वके खण्डनके लिए बाध्यबाधकभावका ही खण्डन किया है ।

उत्तरपक्षमें ( § २५ ) शांन्या चार्थ ने बाध्यबाधकभावके निराकरणको असंगत बता कर इस मूल प्रश्नको स्पष्ट किया है कि प्रमाणका नियामक तत्त्व क्या है—अविसंवाद या अबाधितत्व ( § २६ ) ? । उन्होंने अविसंवादका खण्डन करके ( § २७ ) अबाधितत्वको ही प्रमाणका लक्षण सिद्ध किया है ( § २८ ) और उसका निश्चय कारणगुणकी पर्यालोचना के द्वारा स्थापित करके मीमांसकसमत स्वतःप्रामाण्य वादका खण्डन किया है ।

१. “एवं तर्हि अर्थक्रियामाप्तेः अनाकम्बनत्वेपि प्रामाण्यव्यवहार इति किं नेप्यते” प्रमाणवा० अ० पृ० २५५ । निराकम्बनवाद सिद्ध करनेके लिए प्रश्न करने प्रश्नका निरूपण किया है । उनका कहना है कि ज्ञानमें आकारमात्रका अनुभव होनेके कारण ही वह साकम्बन होगा नहीं । ऐसा मानने पर ज्ञानका ज्ञानविभाग संभव नहीं । साकम्बन होने पर भी अर्थक्रियामाप्तिकृत प्रामाण्य यदि माना जाय तब अच्छा यही है कि ज्ञान साकम्बन न भी हो किन्तु यदि अर्थक्रियामाप्ति हो तब प्रमाण माना जाय । अर्थक्रियामाप्ति ही अविसंवाद है—प्रमाणवा० १.३ । इसी प्रसंगमें क्वातिकोंका निरूपण वैसा कि शांन्या चार्थ ने पूर्वपक्षमें किया है—( § ११-२४ ) प्रश्न करने किया है ।—प्रमाणवा० अ० २५० ।

अन्य जैन आचार्य संमत स्वतःपरतःप्रामाण्यके अनेकान्तकी शान्वाचार्यने चर्चा नहीं की है । इसका मुख्य कारण तो यह जान पड़ता है कि 'प्रामाण्यका निश्चय परतः हो ही नहीं सकता' इस भीमांसक संमत एकान्त का खण्डन करना ही उनको यहाँ मुख्यतया इष्ट है । और प्रसंगतः प्रमाणका अबाधितत्व स्थापित करके अविसंवादका खण्डन करना भी इष्ट है ।

इस चर्चाकी सन्मतितर्कटीकागत चर्चाके साथ तुलना करना जरूरी है । देखो सन्मति० टी० पृ० ५ ।

पृ० २२. पं० ९. 'किञ्च' इस कण्डिकाकी और अनन्तरवर्ती कण्डिकाकी तुलना आगे आनेवाली बाधककी चर्चागत कण्डिका (§ २३) से करना चाहिए ।

पृ० २३. पं० ३. 'द्विष्टु' यह कारिका प्रज्ञाकरगुप्तकी है । इसका उत्तरार्थ है—  
“द्वयस्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम् ।”—प्रमाणवा० अ० पृ० २ ।

पृ० २३. पं० १३. 'ननु किं बाध्यम्' यहाँ से (§ ११) जो बाध्यबाधकभावका निराकरण किया गया है वह प्रज्ञाकरगुप्तकृत प्रमाणवार्तिकालंकारसे (पृ० २५७) प्रायः शब्दशः लिया गया है । अन्य दार्शनिकोंने भी पूर्वपक्षरूपसे जो बाध्यबाधकभावका निराकरण किया है वह भी प्रायः उक्त ग्रन्थके आधार पर ही किया है । देखो व्यो० पृ० ५२५ । न्यायमं० पृ० १६१ । सन्मति० टी० पृ० १२, ३६७ ।

तत्त्वोपप्लवकारने भी अपने ढंगसे मिथ्यात्वका विचार किया है—देखो तत्त्वो० पृ० १३. पं० २१ । और बाध्यबाधकभावका निराकरण भी किया है—पृ० १४. पं० २४ ।

पृ० २३. पं० १४. 'मिथ्यात्व' अतत्त्वज्ञान मिथ्यात्व, मिथ्याप्रत्यय, भ्रम, विभ्रम, भ्रान्ति, व्यभिचारिज्ञान, विपर्यय, मिथ्याज्ञान इत्यादि शब्दोंसे दार्शनिकोंने असम्यग्ज्ञान—अविद्याका बोध कराया है । किन्तु उसके निरूपणमें नाना प्रकारके मत-मतान्तर देखे जाते हैं । अतः यहाँ पर 'मिथ्याज्ञान' के विषयमें निम्न लिखित बातों पर विचार किया जाता है ।

- १—अस्तित्वके विषयमें मतभेद ।
- २—मुख्य भ्रम और व्यावहारिक भ्रम ।
- ३—व्यावहारिक भ्रमकी प्रक्रियामें मतभेद ।
- ४—दोषमीमांसा ।
- ५—प्रत्यक्षेतर भ्रम ।
- ६—प्रामाण्यचिन्ता ।

१—अस्तित्वके विषयमें मतभेद ।

तत्त्वोपप्लववादी जयराशि भट्टका एक मात्र मुख्य कार्य यह है कि दूसरे दार्शनिकोंने

१. विद्यानन्दने विपर्ययके दो अर्थ किये हैं । सामान्य और विशेष । सामान्य विपर्ययमें संसय, अव्यवसाय और विपर्यय—विपरीतनिर्णय का समावेश है । और विशेषविपर्ययमें भ्रमका । प्रत्ययमें दूसरा अर्थ भी विवक्षित है—तत्त्वार्थसू० पृ० २५५ ।

अपने अपने तर्कबलसे जो कुछ सिद्ध समझ रखा है उसकी नितान्त असिद्धि उनको दिखाना । सभी दार्शनिकोंने अपने अपने दर्शनका महल मिथ्याज्ञानके आधार पर स्थिर किया है । सभी दार्शनिक इसी मिथ्याज्ञानके नारा द्वारा मोक्षका होना स्वीकार करते हैं । यदि संसारसे मिथ्याज्ञानका अस्तित्व ही मिट जाय तब दर्शनका प्रयोजन ही नहीं रहता । अतएव दार्शनिकोंके निरूपणीय मिथ्याज्ञानका भी खण्डन करना जयराशि ने उचित समझा । नैयायिकसंमत प्रत्यक्ष लक्षणमें अव्यभिचारि पद है । जयराशि ने बतलाया है कि कोई व्यभिचारि ज्ञान संसारमें हो तब तो उसकी व्यावृत्ति करनेके लिए प्रमाण लक्षणमें वह पद रखना योग्य है; किन्तु जब व्यभिचारि ज्ञानका अस्तित्व ही नहीं तब अव्यभिचारी विशेषण से किसकी व्यावृत्ति करना ? । यदि ज्ञानके विषयकी व्यवस्था घट सके तब तो हम यह कह सकते हैं कि ज्ञानका आलम्बन अन्य है और प्रतीति किसी अन्यकी होती है अतएव अमुक ज्ञान मिथ्या है । परन्तु जब वास्तवमें ज्ञानके विषयकी व्यवस्था ही नहीं बन पाती तब मिथ्याज्ञानका अस्तित्व कैसे सिद्ध होगा ? । उसने अनेक तर्काल्प ठठा करके यह सिद्ध किया है कि ज्ञानके विषयकी व्यवस्था ही नहीं हो सकती<sup>१</sup> ।

इसका उत्तर जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र ने दिया है<sup>२</sup> ।

## २—मुख्य भ्रम और व्यावहारिकभ्रम ।

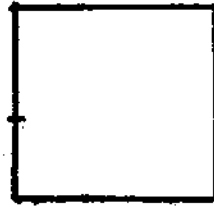
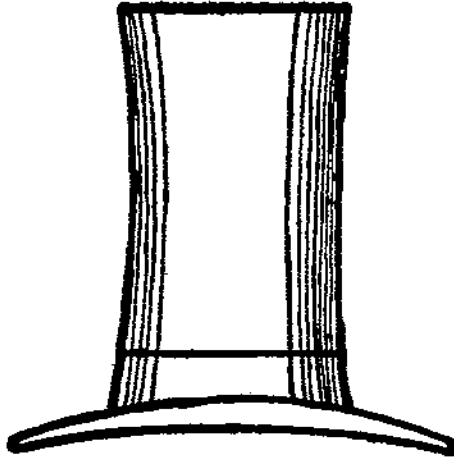
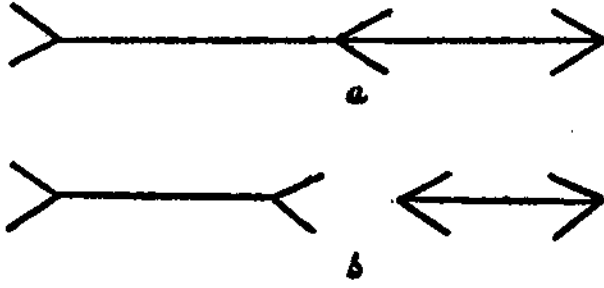
सभी दार्शनिकोंने अपनी अपनी दृष्टिसे तत्त्वकी विवेचना की है । अतएव सभीके मतसे तत्त्वज्ञान भिन्नभिन्न विषयक फलित होता है । जब नैयायिकादि कहते हैं कि द्रव्य-गुण आदिका भेद ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान—तत्त्वज्ञान है तब इसके विरुद्ध अद्वैतवादी कहते हैं कि उस भेदज्ञानसे बढ़कर दूसरा कोई मिथ्याज्ञान ही नहीं । अर्थात् किसीको परमतत्त्वविषयक भ्रम है या नहीं इसका निर्णय अत्यन्त कठिन है । क्यों कि जबतक परमतत्त्वके विषयमें सभी दार्शनिक एकमत नहीं हो जाते तब तक सबमें परम तत्त्व विषयक भ्रम सदा बना ही रहेगा<sup>३</sup> । दार्शनिकोंका यह भ्रम परम भ्रम या मुख्य भ्रम है ।

इस परमभ्रमकी व्याख्या करना कठिन है । इस परमभ्रमको सभी दार्शनिक मानते हैं किन्तु इसका कोई एक लक्षण नहीं बन सकता ।

दूसरा भ्रम है व्यावहारिकभ्रम । इस व्यावहारिक भ्रमका ही प्रमाण शास्त्रमें मुख्यतः विवेचन होता है । सभी प्रामाणिकोंने इस भ्रमके अस्तित्वको समानरूपसे स्वीकार किया है और कौनसा ज्ञान इस भ्रम के अन्तर्गत है इस बारेमें भी विवाद नहीं । विवाद यदि है तो इस भ्रमज्ञान की उत्पत्तिकी प्रक्रियामें ।

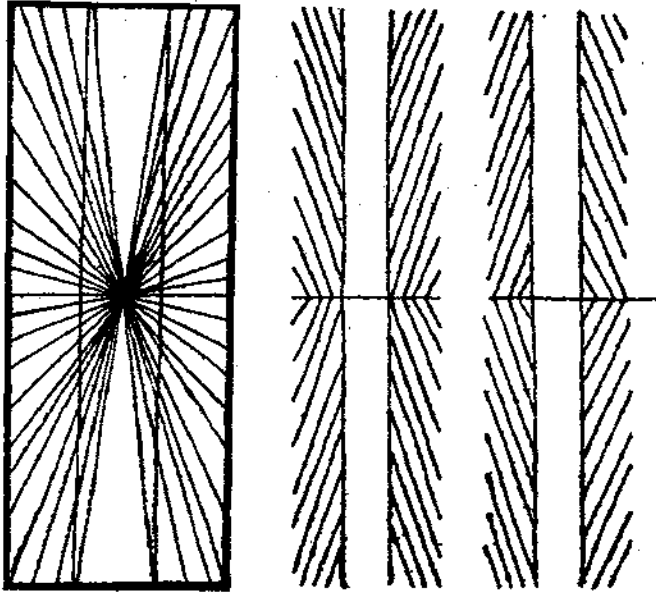
महमरीचिकामें जल ज्ञान, शुक्रशंखमें पीतज्ञान, चछली गाड़ीसे दौड़ते हुए वृक्षादिका ज्ञान, केशोष्णकविज्ञान, अलातचक्रज्ञान, द्विचन्द्रज्ञान, शुक्तिकामें रजतज्ञान, गन्धर्वनगरज्ञान, रज्जमें

१. तत्त्वो० पृ० ११. पं० २० । पृ० १३. पं० १६ । २. “कोऽयमालम्बनार्थो नाम चेनेवमुद्भूयते अव्यवृत्तमव्यवृत्तं प्रतिभातीति ? किं विज्ञानजनकत्वम्, आकारार्पकत्वम्, विज्ञानाधिकरणत्वम्, विज्ञानावभासितता वा ? ” तत्त्वो० पृ० १२ । ३. प्रमेयक० पृ० ४८ । ४. तुलना—“सर्वेषु च भूतसु विद्यार्थोपदेशिषु । तुल्येषु सर्वेषु को नामैकोऽवधार्यताम् ॥ सुगते यदि सर्वज्ञः क्विको नेति का प्रमा । भयोभावि सर्वज्ञो मतमेदक्षयोः कथम् ॥” तत्त्वसं० ३१४८-९ ।

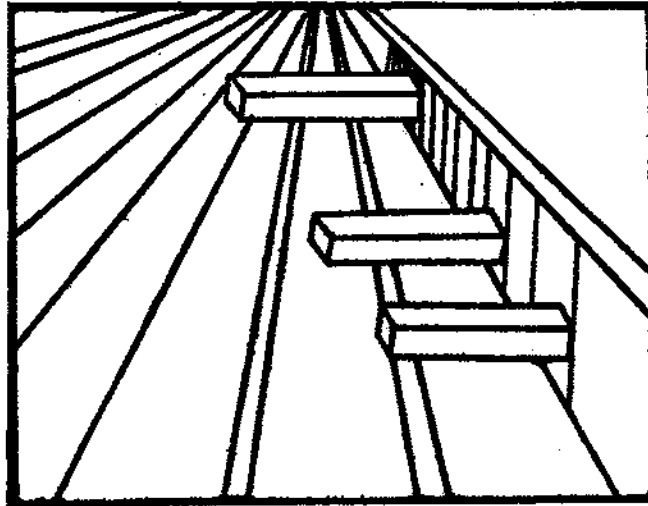


न्यायावतार वार्तिकवृत्ति (देखो, टिप्पण पृ. १५९)





म्यायाशतार वार्तिकवृत्ति (देखो, द्विपण पृ. १५९)



सर्पज्ञान, पिता दोषसे शर्करामें तिक्तताका ज्ञान, खमविज्ञान इत्यादि ज्ञानोंको समी दार्शनिक एकमतसे भ्रम मानते हैं । इसी व्यावहारिक भ्रमकी प्रक्रियामें दार्शनिकोंका जो कुछ मत-मतान्तर है उसीका विवेचन आगे करना इष्ट है ।

आधुनिक मानस शास्त्रने भी व्यावहारिक भ्रमका विवेचन किया है । इन्द्रियके सामने उपस्थित पदार्थमें होने वाले मिथ्याप्रत्ययको मानसशास्त्री 'इल्यूजन' ( Illusion ) कहते हैं । और निर्विषयक मिथ्याज्ञानको 'हेल्यूशिनेशन' ( Helucination ) कहते हैं । रज्जुमें सर्पका ज्ञान 'इल्यूजन' है और खमविज्ञान 'हेल्यूशिनेशन' है, क्योंकि उसमें विषयकी उपस्थितिके बिना ही पदार्थका स्पष्ट आकार प्रतिभासित होता है । 'इल्यूजन' के दृष्टान्त बड़े मनोरंजक हैं । उनमेंसे कुछका यहाँ निदर्शन करना अप्रस्तुत नहीं ।

विषयकी अवस्थाविशेषमें इन्द्रियाँ समीको अवश्य धोखा देती हैं । उस दशामें इन्द्रियज्ञान यथार्थ हो ही नहीं पाता । जैसे एक नापकी दो रेखाएँ हों फिर भी अवस्थाविशेषमें उनमेंसे एक छोटी और दूसरी बड़ी माप्यु होगी ( देखो चित्र नं० १ ) । नियम यह है कि क्षितिजकी समानान्तर ( Horizontal ) रेखासे लम्बरूप रेखा ( Vertical ) हमेशा बड़ी ही प्रतीत होगी । इसी नियमके आधार पर टोपीकी ऊँचाई और चौड़ाई समान हो तब भी चौड़ाईसे ऊँचाई ज्यादा माप्यु होगी ( देखो चित्र नं० २ ) ।

खाली जगह से भरी जगह या विभक्त जगह हमेशा ज्यादा माप्यु होती है ( चित्र नं० ३ ) । इस चित्रमें श्याम लकीरोंसे भरी जगह रिक्त जगह से अधिक प्रतीत होती है किन्तु दोनोंका नाप बराबर ही है ।

विरोध भी इन्द्रियज्ञानोंमें भ्रम पैदा करता है । तीरकी नोकके आकारको किसी रेखाके अंतभागमें उलटा और सीधा रखनेसे रेखाके नापके जाननेमें भ्रम अवश्य होता है । चित्र नं० ४ ( अ ) में तीरके एक सिरेसे दूसरे सिरे तकका अन्तर समान होने पर भी असमान प्रतीत होता है । ( ब ) में असमानता अत्यन्त स्पष्ट है । फुटपट्टीसे नापकर समानता जानकर भी आँखोंको असमानता ही नजर आती है ।

दूसरी रेखाओंके अमुक प्रकारसे संसर्गसे रेखाएँ अपना असली रूप दीक्षा नहीं सकती । सीधी रेखा टेढ़ी दिखती है ( चित्र नं० ५ ) । इस चित्रमें अ-ब और क-ड रेखाएँ सीधी होने पर भी टेढ़ी ही दिखती हैं । क्षेत्रफल विषयक हमारा अन्दाज प्रायः गलत होता है । नीचेके चित्र नं० ६ में दो चौरस हैं । उनमेंसे बड़ा छोटेसे दूना है । फिरभी वह दूना माप्यु नहीं पड़ता । दृष्टाकी दूरी या निकटताके कारण तथा उसकी अमुक स्थानमें अवस्थितिके कारण भी भ्रम होता है ( Illusion of Perspection ) । इसके लिए देखो चित्र नं० ७ । इसमें तीनों लकड़ीके टुकड़े समानाकार हैं फिरभी छोड़े बड़े माप्यु होते हैं । हम समी जानते हैं कि रेखकी दोनों पट्टियाँ कमी नहीं मिलती किन्तु दूरदूर वह मिलती हुई नजर आती हैं ।

३—व्यावहारिकभ्रमकी प्रक्रियामें मतभेद ।

समी दार्शनिक श्रुक्तिकामें रजतज्ञानको भ्रम तो मानते हैं । किन्तु उसको भ्रम क्यों कहना इस विषयमें उनका ऐकमत्य नहीं । समी दर्शन अपने अपने तत्त्वज्ञानकी प्रक्रियाके अनुसार

उस भ्रम ज्ञानकी उपपत्ति करते हैं । दर्शनमेदसे इन उपपत्तिओंके आठ प्रकार पाये जाते हैं । जैसे —

- ( १ ) चार्वाक संमत अख्यातिवाद ।
- ( २ ) माध्यमिक संमत असख्यातिवाद ।
- ( ३ ) सांख्य संमत प्रसिद्धार्थख्यातिवाद ।
- ( ४ ) योगचार संमत आत्मख्यातिवाद ।
- ( ५ ) ब्रह्माद्वैतवादि संमत अनिर्वचनीयख्यातिवाद ।
- ( ६ ) मीमांसक संमत अलौकिकार्थख्यातिवाद ।
- ( ७ ) प्रभाकर संमत स्मृतिप्रमोषापरपर्याय विवेकाख्यातिवाद ।
- ( ८ ) नैयायिक-जैनादि संमत विपरीतख्यातिवाद ।

सभी दार्शनिकोंके सामने मुख्य प्रश्न यही है कि शुक्तिकामें रजतप्रत्ययकी उत्पत्तिका निमित्त क्या है ? । अर्थात् शुक्तिकाके होने पर भी उसमें रजतप्रत्यय क्यों होता है ? रजतका तो नेत्रके साथ संसर्ग है ही नहीं तब रजतप्रत्यय हुआ कैसे ? । शुक्तिका उपस्थित होनेपर भी उसका ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? । दोष किसका ? । आत्मा—प्रमाताका, शुक्तिका—विषयका, इन्द्रिय—अधिपतिका या आश्रयका । इन दोषोंकी मीमांसाके समय ही सभी दार्शनिक दो विभागोंमें विभक्त हो जाते हैं । बाह्यार्थवादिओंके लिये समस्याका हल एक है । और अद्वैतवादिओंके लिये समस्याका हल दूसरा ही है । बाह्यार्थवादिओंके सामने प्रश्न यह है कि यदि ज्ञान अर्थानुसारि हो तो फिर शुक्तिकाका अनुसरण न करके वह रजतावसायि कैसे हुआ ? । जब कि अद्वैतवादिओंके सामने प्रश्न यह है कि शुक्तिका और रजत इन दोनोंका अस्तित्व न होते हुए भी वहाँ रजत क्यों दिखाई देता है और शुक्तिमें शुक्तिका ज्ञान अज्ञान और उसीमें रजतका ज्ञान भ्रान्त क्यों ? । जब कि अर्थाभाव दोनों स्थलमें समान है फिर भ्रान्ताभ्रान्त विवेक कैसे ? । इन प्रश्नोंके उत्तरमें से उपर्युक्त मतोंका आविर्भाव हुआ है ।

( १ ) चार्वाक संमत अख्यातिवाद ।

चार्वाक अख्यातिवादी है । प्रभाकर संमत विवेकाख्याति भी संक्षेपमें अख्याति कहलाती है । किन्तु चार्वाक संमत अख्यातिका मतलब कुछ और है और प्रभाकर संमत अख्यातिका मतलब कुछ और ।

चार्वाकका कहना है कि अन्य वस्तु अन्याकारसे प्रतीत नहीं हो सकती । वह देखी करता है कि यदि रजतज्ञानका विषय रजत माना जाय तब वह भ्रान्त कैसे सिद्ध होगा ? । और शुक्तिकाको तो रजतज्ञानका विषय मान ही नहीं सकते क्योंकि रजत ज्ञानमें वह प्रतिभासित ही नहीं होती । अत एव चार्वाकका सिद्धान्त यह है कि शुक्तिकामें रजत प्रत्ययको निरालम्बन ही मानना उचित है । क्यों कि इस प्रत्ययमें किसी भी वस्तुकी ख्याति है ही नहीं, इस लिये इसे अख्याति कहना चाहिए ।

चार्वाक के इस मन्तव्यमें निरालम्बनज्ञानवादी योगाचार और माध्यमिक बौद्धों की स्पष्ट क्राप है । येही बौद्ध सभी ज्ञानोंको निरालम्बन मानते हैं । क्योंकि उनके मतमें बाह्यार्थका अभाव है फिर भी प्रत्ययका अस्तित्व तो है । वे वासनाके बलसे निरालम्बन प्रत्ययोंकी उत्पत्ति घटाते हैं । चार्वाकों ने नैयायिकादि बाह्यार्थवादीओंकी युक्तिका आश्रय लेकरके सम्यग्ज्ञानोंको सविषय माना जब कि मिथ्याज्ञानोंको निरालम्बन सिद्ध करनेमें बौद्धों की युक्तिओंका उपयोग किया ।

विपर्ययको भी सालम्बन माननेवालोंने चार्वाकको उत्तर यह दिया है कि यदि विपरीत-प्रत्यय निरालम्बन है, उसमें ख या पर कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता तब वह रजतज्ञान क्यों कहा जाता है ? ।

दूसरी बात उन्होंने चार्वाकसे यह कही है कि तुम्हारे मतसे सुसावस्था और भ्रम इन दोनोंमें जब कुछ प्रतिभासित नहीं होता तब उक्त दोनों अवस्थाओंमें भेद क्या रहा ? ।

यह चार्वाक संमत अख्यातिवाद प्रभाचन्द्र के पृहलेके ग्रन्थोंमें ट्रेला नहीं जाता । माध्व होता है कि तत्त्वोपप्लवकारके भ्रमज्ञानके निराकरणको ही प्रभाचन्द्र ने चार्वाक संमत अख्यातिवाद मानकरके उसे अख्यातिवादी कहा है । उनका ऐसा कहना युक्तिसंगत ही है । क्योंकि तत्त्वोपप्लवकार भ्रमनिराकरणके प्रसंगमें बारबार कहता है कि “स्वविषयपर्यवसायिन्यो हि बुद्धयः” (पृ० १४, पं० २३ । पृ० १५, पं० २६) । और उसी प्रसंगमें उसने आलम्बनका निषेध किया है (पृ० १२) ।

तत्त्वोपप्लवके शब्दोंका अनुवाद करके ही प्रभाचन्द्र ने अख्यातिवादको उपस्थित किया है । इससे स्पष्ट है कि चार्वाक संमत अख्यातिवादका मूल तत्त्वोपप्लव में ही है—देखो प्रमेयक० पृ० ४८ और तत्त्वो० पृ० ११ से ।

( २ ) माध्यमिक संमत असत्ख्यातिवाद ।

सुषुप्ति अवस्थामें अर्थका प्रतिभास नहीं है और भ्रान्त प्रत्ययमें अर्थका प्रतिभास है यही दोनों अवस्थाका भेद है अत एव भ्रान्तप्रत्ययको चार्वाक की तरह निरालम्बन माना नहीं जा सकता । ‘जिस अर्थका प्रतिभास होता है उसीको आलम्बन मानना उचित है’ ऐसा मानते हुए भी माध्यमिक कहता है कि भ्रममें प्रतिभासका विषय कोई बाह्य सत् तो नजर आता नहीं अत एव उसमें असत् का ही प्रतिभास होता है ऐसा मानना चाहिए ।

इस प्रकार माध्यमिक ने एक ही तीरसे दो पक्षियोंको मारनेकी उक्तिको सार्थक किया है । क्योंकि ज्ञानको सालम्बन मान करके भी यदि वह बाह्यार्थको आलम्बन नहीं मानता तो उसके मतसे एक प्रकारका निरालम्बनवाद ही सिद्ध होता है । इसी तरह वह यदि ज्ञानके विषयको असत् मानता है तो उसके मतानुसार प्रमाणके बलसे प्रमेयकी सिद्धि न होनेके कारण शून्यवाद ही सिद्ध होता है ।

सारांश यह है कि माध्यमिक सभी वस्तुओंको असत् ही—निःस्वभाव ही मानता है ।

१. प्रमेयक० पृ० ४९ । २. विग्रह० का० १, २१-२३, ६७ ।  
न्या० २१

वह पदार्थोंकी<sup>१</sup> व्यावहारिक सत्ता मानकर उनकी परीक्षा करता है और अन्तमें समी की असत्ता सिद्ध करता है । माध्यमिक की कोई प्रतिज्ञा या स्थापना नहीं है । दूसरोंकी प्रसिद्धिको असंगत बताना ही उसका कार्य है ।<sup>२</sup> अत एव उसके मतानुसार समी सविषयक ज्ञान मिथ्या — भ्रम ही हैं<sup>३</sup> । व्यावहारिकसत्यके आधार पर ज्ञानोंमें भ्रमाभ्रम विवेक भले ही हो पर परमार्थ-दृष्ट्या समी ज्ञान भ्रम हैं ।

( ३ ) सांख्यसंमत प्रसिद्धार्थख्याति ।

माध्यमिक से ठीक विरुद्ध बात सांख्य कहता है । माध्यमिक के मतसे समी शून्य है असत् है निःस्वभाव है । तब सांख्य के मतसे सर्व वस्तुकी सर्वत्र सत्ता है । माध्यमिक के मतसे बाह्यार्थको विषय करनेवाले समी ज्ञान परमार्थतः भ्रान्त हैं तब सांख्य के मतसे कोई ज्ञान परमार्थतः भ्रान्त नहीं । अर्थात् स्थूलदृष्ट्या ही कुछ ज्ञानोंमें भ्रान्तताका व्यवहार होता है । सांख्य का कहना है कि यदि वस्तु सर्वथा असत् हो तो आकाशकुसुमवत् वह प्रतिभासका विषय बन ही नहीं सकती<sup>४</sup> । ज्ञानमें जब और जहाँ अर्थ प्रतिभासित होता है तब और तहाँ वह अर्थ प्रमाणप्रसिद्ध ही है । अत एव जिसे भ्रमज्ञान कहा जाता है वह प्रसिद्ध अर्थकी ही ख्याति होनेसे प्रसिद्धार्थख्याति है । बादमें जब अर्थ अव्यक्त हो गया तब व्यवहारमें उसकी अनुपलब्धि होनेसे हम उस ज्ञानको भ्रम भले ही कहें पर वस्तुतः वह भ्रम नहीं है । क्योंकि विद्युत् आदि क्षणिक पदार्थकी तरह उत्तरकालमें उसकी उपलब्धि न भी हो तो भी ज्ञान कालमें उसका अस्तित्व सिद्ध ही है । अन्यथा विद्युदादि ज्ञानोंको भी भ्रम मानना होगा ।

सांख्य का यह मत उसके सिद्धान्तानुकूल ही है । तथापि उसे प्रस्तुतमें नैयायिकादिके प्रभावसे मुक्त नहीं माना जा सकता । क्योंकि 'ज्ञान निरालम्बन हो नहीं सकता' इस नैयायिक आदिके सिद्धान्तको अर्थतः स्वीकार करनेके बाद ही अपनी ज्ञेय-मीमांसाके आधार पर उसे यही कहना पड़ा कि भ्रममें भी ख्याति प्रसिद्धार्थकी ही होती है । सांख्य के मतसे किसी वस्तुका कहीं भी अभाव नहीं है । इसी लिये वह सत्कार्यवादी है ।

सांख्य मत के साथ रामानुज संमत भ्रमका निरूपण तुलना के योग्य है । रामानुज ने भ्रम स्थलमें सत्ख्याति मानी है । उनका कहना है कि जिसे हम शुक्तिका समझते हैं वस्तुतः उसमें रजतांश और शुक्तिकांश दोनों हैं । शुक्तिकामें शुक्तिकांश का बाहुल्य होनेसे वह शुक्तिकाके नाम से व्यवहृत मात्र होती है । अत एव शुक्तिकामें जब रजत प्रत्यय होता है तब वह यथार्थ ही है । फिर भी व्यवहारमें मिथ्या — भ्रम इस लिए कहा जाता है कि चक्षुरादिके दोषके कारण मात्र रजतांशका दर्शन हुआ और शुक्तिकांशका नहीं हुआ । दोषके दृष्ट जानेसे

१. "संस्पर्शवर्तते च यत् नानभ्युपगम्य कथयामः ।" विग्रह० २८ । "व्यवहारभ्रमनाशित्य परमार्थो न दृश्यते । परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ॥" माध्य० २४.१० । २. "यदि काचन प्रतिज्ञा तत्र काच एव ने भवेद् दोषः । नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्माच्चैवास्ति मे दोषः ॥" विग्रह० २९ । माध्य० पृ० १६ । ३. "यदि किञ्चिदुपलभ्यं प्रवर्तयेयं निवर्तयेयं वा प्रत्यक्षादिभिरर्थैस्तद-भावात्मेऽनुपाकम्भः ॥" विग्रह० ३० । ४. प्रमेयक० पृ० ४९ ।

शुक्तिकांशका दर्शन होने पर रजतज्ञान निवृत्त हो जाता है । इस प्रकार रामानुज के मतानुसार व्यवहारमें रजतप्रलय बाध्य होनेसे भ्रम कहा जाता है पर वस्तुतः वह यथार्थ ही है ।

रामानुजने सांख्यो की तरह सब वस्तुओंकी सर्वत्र सत्ता मानी है अत एव उनके मतानुसार परमार्थतः समी ज्ञान यथार्थ ही होते हैं ।

स्वप्नादिज्ञानोंमें अन्य दार्शनिक जब विषयका अत्यन्ताभाव मानते हैं तब रामानुज मानते हैं कि उन ज्ञानोंमें भी जीवके पापपुण्यके कारण ईश्वर तत्त्वाकाशमायी पदार्थोंकी रचना कर देता है—

“यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम् । श्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वस्य सर्वात्मस्य-  
प्रतीतितः” ॥ “शुक्त्यादौ रजतादेश्च भावः श्रुत्यैव चोदितः । रूप्यशुक्त्यादिनिर्देशमेवो  
भूयस्त्वहेतुकः ॥ रूप्यादिसहस्राभायं शुक्त्यादिरुपलभ्यते । अतस्तस्यात्र सद्भावाः  
प्रतीतेरपि निश्चितः ॥ कदाचिच्छूरादेस्तु दोषाच्छुक्त्यंशवर्जितः । रजतांशो गृहीतोऽतो  
रजतार्थी प्रवर्तते ॥ दोषहानौ तु शुक्त्यंशो गृहीते तन्निवर्तते । अतो यथार्थं रूप्यादिविज्ञानं  
शुक्तिकादिषु ॥ बाध्यबाधकभावोपि भूयस्त्वेनोपपद्यते । शुक्तिभूयस्त्वैककल्पसाकस्य-  
ग्रहरूपतः ॥ नातो मिथ्यार्थसत्यार्थविषयत्वनिवन्धनः । एवं सर्वस्य सर्वदे व्यवहार-  
व्यवस्थितिः ॥ स्वप्ने च प्राणिनां पुण्यपापानुशुणं भगवतैव तत्तत्पुरुषमात्रानुभाव्याः  
तत्तत्कालावसानास्तथाभूताश्चार्थाः सृज्यन्ते ॥” श्रीभाष्य १.१.१. ।

( ४ ) योगाचारसंमत आत्मख्याति ।

‘विज्ञानवादी’ जै होने भ्रम दो प्रकारका माना है । एक मुख्य भ्रम और दूसरा प्रातिभा-  
सिक भ्रम । व्यवहारमें हमारी इन्द्रियोंकी जितनी शक्ति है उसके अनुसार ही, उसकी मर्यादामें  
ही रहकर हम समी अपने संवादि ज्ञानोंको प्रमाण—अभ्रान्त मानकर प्रवृत्त होते हैं । यद्यपि  
ये हमारे समी ऐन्द्रियक ज्ञान पारमार्थिक दृष्टिसे अर्थात् योगिज्ञानकी दृष्टिसे भ्रान्त ही होते  
हैं । जैसे दोनों तैमिरिकोंको परस्पर द्विचन्द्रदर्शनमें संवाद है और एक दूसरे की अपेक्षासे  
उन दोनोंका ज्ञान उनको अविस्वादि ही माद्धम होता है । उसी प्रकार हम समी पृथग्जनोंकी  
ऐन्द्रियक शक्तिमर्यादा करीब करीब एकसी है अत एव एक हदतक, हम समी, अपने कुछ  
ज्ञानोंको अभ्रान्त और कुछ को भ्रान्त मानकर, अपना व्यवहार चलाते हैं । वस्तुतः जिस  
इन्द्रिय ज्ञानको हम प्रमाण—अभ्रान्त समझते हैं वह भी योगिज्ञानकी दृष्टिसे अर्थात्  
पारमार्थिक प्रत्यक्षकी दृष्टिसे भ्रम ही है । जिस अविस्वादके कारण इन्द्रिय ज्ञानको अभ्रान्त  
समझा जाता है वह अविस्वाद वस्तुतः दृश्य और प्राप्यके एकत्वारीपसे ही घट सकता है ऐसी  
स्थितिमें पृथग्जनोंका अविस्वादि ज्ञान भी परमार्थ दृष्टिसे भ्रम ही समझना होगा । इसी  
पारमार्थिक दृष्टिसे ही अनुमान ज्ञानको ‘भ्रान्त’ कहा जाता है । व्यावहारिक दृष्टिसे तो वह भी  
अभ्रान्त है ।

व्यावहारिक दृष्टिसे भी जो विस्वादि है वह व्यावहारिक या प्रातिभासिक भ्रम है । यदि  
इन्द्रियजन्य कोई ज्ञान पारमार्थिक दृष्टिसे अभ्रान्त हो सकता है तो वह साक्षात् अर्थ-

१. ‘बुद्धिस्ट लोजिक’ भाग. १. पृ० १५३ । २. “भ्रान्तं हि अनुमानम्” न्यायबि०  
टी० पृ० १३ ।

जन्य अर्थात् प्रथमक्षणभावि इन्द्रियज्ञान ही है, अन्य नहीं। बादके सभी ज्ञान कल्पनाजनित हैं अर्थजन्य नहीं। स्वलक्षणका साक्षात्कार करनेवाला ज्ञान निर्विकल्पक है, अव्यपदेश्य है, कल्पनापोढ है। जितने भी सविकल्पक ज्ञान हैं, जिन्हें हम इन्द्रियजन्य मानते हैं वे बौद्ध मतानुसार साक्षात् इन्द्रियजन्य नहीं किन्तु परंपरासे इन्द्रियजन्य है। अत एव सविकल्पक ज्ञान वस्तुतः इन्द्रियजन्य नहीं किन्तु मनोजन्य हैं।<sup>१</sup>

कोई भी इन्द्रियजन्य ज्ञान भ्रान्त नहीं होता। भ्रान्त ज्ञान मनोजन्य होते हैं—“मनोविषयो हि विभ्रमविषयः”—प्रमाणसमु० १.१९. वृत्ति<sup>१</sup>। सभी इन्द्रियजन्य ज्ञान अभ्रान्त ही होते हैं। अत एव दिग्भागे प्रत्यक्षलक्षणमें अभ्रान्त विशेषण देनेकी आवश्यकता नहीं समझी।

धर्मोत्तरने भी धर्मकी तीक्ष्ण प्रत्यक्षलक्षणगत अभ्रान्तपदकी दो व्याख्याएँ की हैं। एक व्याख्याके अनुसार तो उन्होंने कहा कि इन्द्रियप्रत्यक्षज्ञान भी भ्रान्त होते हैं। और दूसरी व्याख्याके अनुसार कहा कि अभ्रान्त विशेषणका व्यावर्त्य भ्रान्त ऐसा अनुमान ज्ञान है। क्योंकि अनुमानका यद्यपि ग्राह्य अनर्थ—सामान्य है तथापि वह अनर्थ—सामान्यमें अर्थाव्यवसायी होनेसे विपर्यस्त है। जब कि प्रत्यक्ष अपने ग्राह्य विषयमें विपर्यस्त नहीं होता। अत एव वह सर्वदा अभ्रान्त ही होता है<sup>१</sup>।

व्यवहारमें जिस ज्ञानको हम पृथग्जन भ्रम कहते हैं उसका स्वरूप योगाचार बौद्धों ने अपनी दृष्टिसे इस प्रकार प्रतिपादित किया है कि अन्य दार्शनिक जैसा समझते हैं, ‘भ्रमस्वल्पमें विषय कुछ और है और प्रतिभासित कुछ और होता है’ वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। विषयमें तत्त्व तो एक ही है और वह है विज्ञान। विज्ञान भिन्न कोई बाह्य वस्तु है ही नहीं। वह स्वयंप्रकाश विज्ञान भी ग्राह्यग्राहकभावसे रहित है<sup>२</sup>। ऐसी स्थितिमें अन्यमें अन्यका प्रतिभास संभव ही नहीं। योगाचार की दृष्टिसे वस्तुतः आन्तर तत्त्व विज्ञानका आकार ही बाह्यरूपसे प्रतीत होता है। यदि भ्रम है तो उसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि अन्तस्तत्त्वमें बाह्यरूपका आरोप है। उसका ग्राह्यग्राहकरूपसे द्वैधीभाव करना ही भ्रम है—

“अभिभागेऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः। ग्राह्यग्राहकसंविद्विभेदवानिव लक्ष्यते॥”  
प्रमाणवा० २. ३५४।

अर्थके अभावमें भी वासनाके कारण प्रतिभासमेद हो सकता है तब अतिरिक्त अर्थको माननेसे क्या लाभ?—

“कस्यचित् किञ्चिदेवाभ्युपगमायाः प्रबोधकं। ततो धियां विविच्यमो न बाह्यार्थव्यपेक्षया॥” प्रमाणवा० २. ३३६।

१. “अविकल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिविक्रमम्” तत्त्वर्त्त० का० १३०६। “दर्शनं चाप्येताका-  
स्तरणाक्यं प्रत्यक्षव्यापारः। उल्लेखणं तु विकल्पव्यापारः”—न्यायवि० टी० पृ० २७। २. बुद्धिर्ह्य-  
लौकिक भाग १. पृ० १५६। तत्त्वर्त्त० पं० पृ० ३९४। ३. “तथाज्ञानप्रवृत्तेनापि अनुमाने  
निवर्तिते कल्पनापोढग्रहणं विप्रतिपत्तिरिवाकर्णार्थम्। अल्पं हि अनुमानं स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाव्यव-  
सायेन प्रवृत्तत्वात्। प्रत्यक्षं तु ग्राह्ये कथं न विपर्यस्तम्।” न्यायवि० बुद्धिर्ह्य लौकिकमें संक्षेपित-  
पाठ जो दिया गया है वही ऊपर उद्धृत किया है—भाग २ पृ० १०। भा० १. पृ० १५५।  
४. “भाष्येऽनुमानव्यवहारेण तत्त्व नानुभवोऽपरः। तस्यापि तुल्यचोदत्वात् स्वयं तैव प्रकाशते”।  
प्रमाणवा० २. ३२७।

योगाचार की उक्त दृष्टिसे केवल श्रुक्तिकामें रजतप्रलय ही आन्त नहीं किंतु समी सविषयक प्रत्यय आन्त हैं । 'योगाचार मानता है कि समी प्रत्ययोंमें ज्ञानकी अपनी ही ख्याति होती है अत एव आत्मख्याति मानना ही उचित है । ज्ञानोंमें आन्ताआन्तका विवेक लोक-व्यवहारसे है' । जब वस्तुतः बाध्यबाधकभाव ही नहीं घटता तब परमार्थतः ज्ञानोंमें आन्ता-आन्तका विवेक करना संभव नहीं—प्रमाणवा० अ० पृ० २५७ । वही मु० पृ० २३ ।

सारांश यह है कि जितना भी वासनाका कार्य है चाहे वह संवादि हो या अविसंवादि वह सब मृषा—मिथ्या है । वासनाप्रतिबद्धत्व ही मिथ्यात्व है । इस न्यायसे पृथग्जनोके सब व्यवहार वासनामूलक होनेसे परमार्थतः मिथ्या हैं । व्यवहारमें अविसंवाद होनेसे जहाँ पृथग्जन ज्ञानको अत्रान्त समझते हैं वहाँ वह अविसंवाद विपरीतवासनाप्रबोधमूलक है । और जहाँ विसंवाद होनेसे पृथग्जन भ्रमका व्यवहार करते हैं वहाँ वह विसंवाद विपरीतवासनाप्रबोधमूलक है । अर्थात् दोनों स्थलमें वासनाप्रतिबद्धत्व समानरूपसे है । अत एव ये दोनों व्यवहार परमार्थतः मिथ्या हैं—“कथं तर्हि मृषात्वपरिज्ञानम् ? । वासनाप्रतिबद्धत्वज्ञानादेव । द्विविधं हि मृषार्थत्वम्—असदर्थत्वं विसंवादित्वं च । विसंवादित्वं विपरीतवासना-प्रबोधतः । अविर्यासवासनाप्रबोधतश्च संवादित्वम् इति । ननु संवादश्चेदस्ति कथम-सदर्थत्वम् ? । अविसंवादाकारस्यापि वासनाप्रतिबद्धत्वात् । नाविसंवादिप्रतिभासेऽपि अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधानमस्ति । एतदेवास्मदर्थत्वम्”—प्रमाणवा० अ० मु० पृ० ५८ ।

( ५ ) ब्रह्माद्वैतवादिसंमत अनिर्वचनीयख्याति ।

ब्रह्माद्वैतवादिके मतसे समी प्रपञ्च अविद्याका विलास है । भामतीटीका में वाचस्पति-मिश्रने भ्रमस्थलमें अनिर्वच्यख्याति मानी है । उनका कहना है कि मरुमरीचिकामें जलज्ञानका विषय जो जल है वह सत् नहीं क्योंकि यदि सत् होता तो वह जलज्ञान मिथ्या नहीं कहलाता । वह जल असत् भी नहीं क्योंकि असत् से लपुष्पकी तरह तद्विषयक ज्ञान या प्रवृत्ति ही संभव नहीं । वह जल सदसद्रूप भी माना नहीं जा सकता क्योंकि एक तो इस पक्षमें पूर्वोक्त दोनों दोषोंकी आपत्ति होगी दूसरे विरोध के कारण सदसद्रूपका संभव भी नहीं । अत एव ज्ञानप्रतिभासित उस जलका सदसदादि किसी रूपसे निर्वचन<sup>१</sup> अशक्य होनेके कारण उसे अनिर्वचनीय ही मानना चाहिए । और उसकी ख्यातिको अनिर्वचनीय ख्याति मानना चाहिए ।

अद्वैतवादिओंके मतसे एक ब्रह्म ही सद्रूपसे निर्वचनीय है<sup>२</sup> और बाकी सब अविद्यारूप होनेसे—मायिक होनेसे सदादि किसीरूपसे निर्वचनीय नहीं । अत एव भ्रमस्थलमें आनिष्ठक रजत का प्रतिभास अनिर्वचनीय ख्यातिरूप मानना उचित है ।

विज्ञानवादिओंकी आत्मख्याति और अद्वैतवादिओंकी अनिर्वचनीय ख्यातिमें नाममात्रका भेद है । दोनों बाह्य वस्तुको न सत् कहना चाहते हैं न असत् । दोनों ही आन्तरिक तत्त्वका

१. “सर्वे प्रत्ययाः अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात् । इदमेव अनालम्बनत्वं यदास्माकरवेदनत्वम्” प्रमाणवा० अ० मु० पृ० २२ । २. “परमार्थतः सकलं स्वरूपविषयमेव, व्यवहारतोऽर्थविषयता” यह सिद्धांत है अत एव व्यवहारमें अर्थका बाध हो तो आप्त, अन्यथा अभ्रान्त—वही पृ० ९८ । ३. ब्रह्मसूत्र० १.१.१. । प्रमेयक० पृ० ५१ । ४. चित्सुखी पृ० ७९ । ५. “विदात्मा तु श्रुतिस्मृतीतिहासपुराण-गोचरसमूहतद्विद्वन्वायनिर्णीतशुद्धशुद्धसुखस्वभावः सत्त्वेनैव निर्वाच्योऽबाधितः ।” भामती १.१.१.



ही बाह्यरूपसे प्रतिभास मानते हैं । आन्तरिक तत्त्वको एकने विज्ञान कहा है और दूसरेने अविद्या । एकके मतसे विपरीत वासनाके कारण एकरूप विज्ञान का द्वैधीभाव होकर उसकी ग्राह्यग्राह्यरूपसे प्रतीति होती है । और दूसरेके मतसे वस्तु सत् नहीं किन्तु अविद्यानिष्पन्न-अविद्योपादानक रजतकी प्रतीति होती है ।

( ६ ) मीमांसकसंमत अलौकिकार्थख्यातिवाद ।

जिस प्रकार सांख्य अविद्यमानका ज्ञानमें प्रतिभास नहीं मानते उसी प्रकार कुछ मीमांसक भी अविद्यमानका प्रतिभास नहीं मानते । उनका कहना है कि दूसरे लोक श्रुक्तिकामें रजत-प्रत्यय मानकर उसे विपरीत प्रत्यय कहते हैं सो ठीक नहीं । ज्ञानमें इस प्रकारका विपर्यय संभव नहीं है कि विषय कुछ और हो प्रतिभासित कुछ और हो । उन मीमांसकों के मतानुसार वस्तुतः अर्थ दो प्रकारका है । एक व्यवहारसमर्थ और दूसरा व्यवहारासमर्थ । व्यवहारसमर्थ अर्थ लौकिक कहा जाता है और दूसरा अलौकिक । भ्रम माने जानेवाले रजतप्रत्ययका विषय लौकिक रजत नहीं किन्तु अलौकिक रजत है । रजतप्रत्ययमें प्रतिभासित होनेसे वह रजत है पर व्यवहारासमर्थ होनेसे अलौकिक है ।

मीमांसक सोचते हैं कि ज्ञानमात्रको निरालम्बन तो मान नहीं सकते क्योंकि ऐसा मानने पर विज्ञानवाद और शून्यवादको अवकाश मिलता है । पर दूसरी ओर अमस्यलमें रजतके अभावमें मीमांसक रजत प्रत्ययका होना स्पष्ट है । यदि सिर्फ अमस्यलमें ज्ञानको निरालम्बन माना जाय तब मीमांसक दोनों बौद्धवादोंको अवकाश मिल जाता है । ऐसी स्थितिमें क्या किया जाय इसी चिन्तामेंसे मीमांसक ने यह रास्ता निकाला कि अमस्यलमें रजतको अलौकिक माना जाय । ऐसा मानने पर फलित यह हुआ कि अमस्यलमें रजतसाध्य क्रियाका अभाव रजतकी अलौकिकताके कारण है न कि रजतके अभाव के कारण ।

परन्तु मीमांसकका यह नया मार्ग भी कष्टकरहित नहीं है । क्योंकि यदि अर्थक्रियाकी निष्पत्ति न करना यही अलौकिकताकी कसौटी है तो स्वप्नप्रत्ययमें भासमान योषिद् आदि अर्थ अर्थक्रियाकारी होनेसे लौकिक ही सिद्ध होगा । इसी तरह जब कूटकार्षापणसे सस्यकार्षापण-साध्य अर्थक्रियाकी निष्पत्ति होती है तब उसे कूट क्यों कहा जाय ? ।

( ७ ) प्रभाकरसंमत अख्यातिवाद ।

बुद्ध मीमांसकों ने नैयायिकादिकी तरह विपरीत ख्याति मानी है किन्तु प्रभाकरने मीमांसक संमत स्वतः प्रामाण्यवादके साथ उस विपरीतख्यातिवादका स्पष्टतः विरोध देखा । उन्होंने तर्क किया कि यदि कोई ज्ञान अयथार्थ भी हो, मिथ्या भी हो, विपरीत भी हो तब यथार्थज्ञानका स्वतःप्रामाण्य घट नहीं सकता, जो कि मीमांसक का मुख्य सिद्धान्त है । क्योंकि यथार्थ ज्ञानमें भी सहज शंकाका अवकाश रहेगा कि यह ज्ञान मिथ्या तो नहीं ? । उस शंकाको दूर करने के निमित्त यथार्थ ज्ञानको अबाधित सिद्ध करने के लिए बाधकाभावका निर्णय आवश्यक हो ही जाता है । अर्थात् बाधकाभावनिश्चय सापेक्ष ही प्रामाण्य निश्चय होने के कारण यथार्थ ज्ञान भी परतः प्रमाण सिद्ध होगा न कि स्वतः ।

दूसरा तर्क प्रभाकरने यह भी किया कि यदि अन्यदेशस्थ रजतका अन्यत्र भान हो जाय तब अत्यन्त असत् का भी भान क्यों न हो ? । भ्रमस्थलीय विवक्षित देशमें जब अन्यत्र सत् और अत्यन्तासत् का असत्त्व समान ही है । तब शून्यवाद ही फलित होगा । अत एव विपरीत-ख्याति माननेका मतलब होगा कि शून्यवादको अवलम्बन देना ।

उक्त इन दोनों दोषोंसे बचनेके<sup>१</sup> लिए प्रभाकरने अख्यातिवादका एक नया मार्ग निकाला । यही मार्ग अग्रहण<sup>२</sup> विवेकाग्रहण,<sup>३</sup> स्मृतिप्रमोष<sup>४</sup> और विवेकाख्याति के<sup>५</sup> नामसे व्यवहृत होता है ।

प्रभाकर कहता है कि यह संभव नहीं कि चक्षुरादि इन्द्रियोंका संपर्क तो किसी अन्यसे हो पर प्रत्यक्ष ज्ञान हो अन्यविषयक—“तस्मात् सूक्ष्म-अन्यसंप्रयुक्ते चक्षुष्यन्यविषयं ज्ञानं न प्रत्यक्षम्-इति”—बृहती पृ० ६६ ।

शाबरखामिने अपने भाष्यमें वृत्तिकार का प्रत्यक्षविषयक मत उद्धृत किया है । वृत्तिकारके शब्द ये हैं—“यत् प्रत्यक्षम् न तत् व्यभिचरति, यत् व्यभिचरति न तत् प्रत्यक्षम् । किन्तुर्हि प्रत्यक्षम्?, तत्संप्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम् । यद्विषयं ज्ञानं तेनैव संप्रयोगे इन्द्रियाणां पुरुषस्य बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम्, यदन्यविषय-ज्ञानमन्यसंप्रयोगे भवति न तत् प्रत्यक्षम्” शाबर० १.१.५. ।

वृत्तिकारको सामान्यतः इतना इष्ट है कि प्रत्यक्ष और व्यभिचारि ये दो परस्पर विरुद्ध हैं । अन्यके संप्रयोगसे अन्यविषयक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता अर्थात् सत् प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता प्रत्यक्षाभास—भ्रान्त प्रत्यक्ष भले ही कहा जाय । किन्तु प्रभाकर उसका मतलब कुछ और समझता है । प्रभाकरका मन्तव्य है कि चक्षुका संप्रयोग जिस आकारयुक्त वस्तुके साथ है उसी आकारको विषय करनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है । चक्षु किसी अन्यसे संप्रयुक्त हो और तदुत्पन्न ज्ञानका विषय कोई अन्य ही हो यह बात असंभव है । क्योंकि यदि असंप्रयुक्त आकारको भी प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय माना जाय तब अन्धपुरुष को भी शुक्तिकामें रजतका प्रत्यय हो जाना चाहिए । जैसे चक्षुष्मान् को भ्रमस्थलमें रजतके साथ चक्षुसंपर्क नहीं उसी प्रकार अन्धको भी नहीं है । फिर भी अन्धको शुक्तिकामें रजतप्रत्यय नहीं होता और चक्षुष्मान् को होता है । अत एव प्रभाकर मानता है कि सभी प्रत्यक्ष ज्ञान यथार्थ ही होते हैं<sup>६</sup> । जिस प्रत्ययमें जो आकार प्रतिभासित होता है वही उसका वेद्य—विषय—आलम्बन है और जो प्रतिभासित नहीं होता वह अवेद्य—अविषय—अनालम्बन है । अत एव

१. “भवता शून्यवाद-परतः प्रामाण्यप्रसक्तिभयात् स्मृतिप्रमोषोऽभ्युपगतः, विपरीतख्यातो तयो-  
रद्वयं भावित्वात्”—सन्मति० टी० पृ० २७ पं० ३८ । २. “कथं तर्हि विपर्ययः ? । अग्रहणादेवेति  
वक्ष्यामः”—बृहती पृ० ६६ । ३. बृहती० पं० पृ० ६६ । ४. बृहती पृ० ७३ । ५. विवेक=वेद,  
अख्याति=अग्रहण=अग्रहण प्रकरणपं० नयवीथिप्रकरण पृ० ३३, ३४ । न्यायकु० पृ० ५२ ।  
६. “य अन्यसंप्रयुक्ते चक्षुषि अन्धालम्बनस्य ज्ञानस्य उत्पत्तिः संभवति, अन्धस्यानुत्पादात् इत्युक्तम् ।  
अत एवेदमुच्यते—नाम्नाकारमालम्बनमन्याकारस्य ज्ञानस्योत्पत्तिहेतुः इति”—बृहती पृ० ६४ ।  
७. “यथार्थं सर्वमेवेह विज्ञानमिति सिद्धये । प्रभाकरगुरोर्भावं समीचीनः प्रकाशयते ॥ १ ॥” प्रकरण-  
पं० पृ० ३२ ।

रजत प्रत्ययमें रजत ही को आलम्बन मानना उचित है, शुक्तिकाको नहीं । क्योंकि अन्यमें अन्यका भान प्रतीतिपराहत है ।

इसीसे अमश्वलमें रजतप्रत्यय प्रत्यक्ष नहीं हो सकता 'न तत् प्रत्यक्षं' किन्तु 'स्मरण' है । जब कोई पुरुष रजतसदृश शुक्तिकाका प्रत्यक्ष कर रहा हो पर वह किसी इन्द्रियादिगत दोषके कारण रजत और शुक्तिकाके भेद—वैलक्षण्यका ग्रहण न करके मात्र दोनों के सादृश्यका ही ग्रहण करे तब उस पुरुषको ऐसे सादृश्यविषयक प्रत्यक्ष ज्ञानसे रजतविषयक स्मरण हो जाता है । वह पुरुष मनोदोषके कारण उस प्रत्यक्ष और स्मरण ज्ञानके भेदका तथा प्रत्यक्षविषय शुक्तिका और स्मरणविषय रजतके पारस्परिक भेदका भी ग्रहण कर नहीं पाता । ऐसी दशांमें वह शुक्तिकाको ही रजत कह देता है । एकत्वाध्यवसायके कारण जो भेदाग्रह—विवेकाख्याति—स्मृतिप्रमोष होता है वही विपर्यय—भ्रम कहा जाता है—“कथं तर्हि विपरीतग्रहाः ? । उच्यते विषयान्तरं सदृशमवलम्ब्यागृहीतविवेकं यत् ज्ञानमुत्पन्नं तत् सदृशविषयान्तरे स्मृतिज्ञानहेतुतां प्रतिपद्यते—‘स्मरामि’ इति ज्ञानशून्यस्य”—बृहती पृ० ६५ । प्रकरणपं० ३४ ।

सारांश यह है कि वृत्ति कार ने इस रजत प्रत्ययको जहाँ 'न तत् प्रत्यक्षं' इतना ही कहा था, प्रभाकर उसे स्मरण कह देता है । अर्थात् प्रभाकरके मतसे वह रजत ज्ञान प्रत्यक्षाभास—मिथ्या प्रत्यक्ष नहीं किन्तु यथार्थ स्मरण है इस प्रकार 'इदं रजतम्' यह एक ज्ञान नहीं किन्तु दो ज्ञान हैं—'इदं'विषयक प्रत्यक्ष और रजतविषयक स्मरण । जब अन्य दार्शनिकोंने इसे एक ही ज्ञान माना है तब प्रभाकरने 'सर्वं ज्ञानं यथार्थं' इस सिद्धान्तकी रक्षा करने के लिए इसे दो ज्ञानोंमें विभक्त किया है ।

जयन्त ने प्रभाकर संमत विवेकाख्याति का प्रबल खण्डन किया है । जयन्त ने प्रत्यभिज्ञाके दृष्टान्तसे 'इदं रजतम्' इस प्रत्ययको एक—अखण्ड सिद्ध किया है—न्यायमं० पृ० १६६ । और स्पष्ट आक्षेप किया है कि प्रभाकरका यह सिद्धान्त धर्मकीर्तिसे चुराकर लाया गया है—“भ्रुतमिदं यदत्र भवद्भिः धर्मकीर्तिगृहादाहृतं 'दृश्यविकल्पावर्थावेकीकृत्य प्रवर्तते' इति” ।—पृ० १६७ । धर्मकीर्तिने जैसे दृश्य और विकल्पके एकत्वाध्यवसायसे प्रवृत्ति मानी है वैसे ही प्रभाकरने भी स्मरण और अनुभवको एक मान करके पुरुषकी प्रवृत्ति अनुभूत शुक्तिकामें ही मानी है । जयन्त का कहना है कि प्रभाकरकी वह चोरी भी उसके स्वार्थको पुष्ट नहीं करती—पृ० १६७ ।

अखिरमें जयन्तने यह भी कह दिया है कि स्वतःप्रामाण्यकी रक्षाके लिये तथा शून्यवादका निरास करने के लिये जो प्रभाकरने यह नया वाद स्थापित किया है सो ठीक नहीं । इससे न तो परतःप्रामाण्य निरस्त होता है और न शून्यवाद ही । इसके निरासके लिये कुछ और ही युक्ति देना चाहिए—

“न चैतयापि परतः प्रामाण्यमपहन्यते । न चैव शून्यवादस्य प्रतिकारक्रियाक्रमः ।

१. यत्र शून्यो य एवार्थो यस्यां संखिदि भासते । वेद्यः स एव नान्यदि वेद्यावेद्यस्य लक्षणम् ॥ २३ ॥ इदं रजतमित्यत्र रजतज्ञावभासते । तदेव तेन वेद्यं स्यात् न तु शुक्तिरवेदनात् ॥ २४ ॥ तेनाप्यस्याव्याभासं प्रतीत्यैव पराहृतम् । परस्मिन् भासमाने हि न परं भासते यतः ॥ २६ ॥” प्रकरणपं० पृ० ३३ ।

अथास्ति काचित् परतः प्रामाण्यस्य निषेधिका । शून्यवादस्य वा युक्तिः सैव वाक्या किमेतया ॥”-न्यायमं० पृ० १६९ ।

८-नैयायिकादिसंमत विपरीतख्याति ।

न्याय-वैशेषिक, जैन, कुमारिल आदिको विपरीतख्याति इष्ट है । पूर्वोक्त ख्यातियोंसे विपरीतख्यातिका वैलक्षण्य स्पष्ट है । प्रभाकर की तरह दो ज्ञान नहीं किन्तु एक ही प्रत्यय मानकर सभी विपरीतख्यातिवादी भ्रमकी उपपत्ति करते हैं । विपरीतख्यातिवादके अनुसार बाह्य वस्तुएँ सर्वथा ज्ञानरूप या शून्यरूप या सर्वत्र सत् रूप नहीं है, अतएव इस वादमें आत्म ख्याति या असत् ख्याति या सत् ख्याति को अवकाश नहीं है । विपरीतख्यातिवादमें बाह्य वस्तुओंका निर्वचन शक्य है अत एव इस वादमें अनिर्वचनीयख्याति भी संभव नहीं । बाह्य वस्तुओंका लौकिकालौकिक रूपसे विभाग भी विपरीतख्यातिवादको मान्य नहीं । अत एव इस वादमें अलौकिकख्यातिको भी अवकाश नहीं । विपर्ययका मतलब यह है कि अन्य आलम्बनमें अन्य प्रत्ययका होना । शुक्तिकामें शुक्तिकाप्रत्यय ही अविपरीत प्रत्यय है और रजतप्रत्यय विपरीत, जो कि इन्द्रियादिके गुण दोषोंका फल है । दोषके कारण शुक्तिका निजरूपसे प्रत्यक्ष न होकर रजतरूपसे दिखती है । रजतसदृश शुक्तिकाके दर्शनजन्य रजत-स्मृतिके कारण शुक्तिकामें ही रजतका दर्शन होता है । अर्थात् हृदयमें परिस्फुट रजतका बाह्य शुक्तिमें दर्शन करना ही रजतविपर्यय है । बाह्यार्थ रजत नहीं पर शुक्तिका है अतएव यह प्रत्यय विपर्यय है<sup>१</sup> । शुक्तिकामें रजत दर्शन रजतस्मृतिजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान है, न कि स्मृति । यही स्मृतिप्रमोष और विपरीतख्यातिका भेद है ।

४-दोषमीमांसा ।

किसी दार्शनिकने भ्रमज्ञानको निर्दोष नहीं माना है । अत एव सभीने अपनी अपनी दृष्टिसे दोषोंकी मीमांसा की है ।

उद्योत करने स्पष्ट कहा है कि विपर्ययज्ञानमें ज्ञानको व्यभिचारि मानना चाहिए अर्थको नहीं । निरुक्तकारके वचनको उद्धृत करके वाचस्पति मिश्रने कहा है कि ‘स्थाणुको अन्ध पुरुष नहीं देखता यह कोई स्थाणुका अपराध नहीं है, यह अपराध तो पुरुषका है ।’ वैसे ही इन्द्रियसे प्रथम मरीचिकाका निर्विकल्पकज्ञान होता है पर जब सविकल्पकज्ञानका अवसर आता है तब मरीचिकासे उपघात होनेके कारण इन्द्रिय अपना कार्य ठीक ठीक कर नहीं पाती अतएव विपर्यय हो जाता है । अर्थात् मरीचिविषयक जलप्रस्ययरूप सविकल्पकज्ञान हो जाता है<sup>१</sup> । सारांश यह है कि दोष अर्थका नहीं, द्रष्टाका है या उसके साधनका है ।

प्रशस्तपादको भी यही विचार मान्य है—देखो पृ० ५३८ । व्यो० ५३९ ।

बौद्धों के मतसे ऐन्द्रियक प्रत्यक्षमें इन्द्रियोंकी ही मुख्यता है । अत एव बौद्धों ने माना है कि

१. “सदृशपदार्थदर्शनोद्भूतस्मृद्युपस्थापितस्य रजतस्यात्र प्रतिभासनमिति ।..... हृदये परिस्फुरतोऽधेस्य बहिरवभासनम् । न चैतावत्तेयमात्मव्यातिरसत्ख्यातिर्वेति वक्ष्यन् । विज्ञानाद्विच्छेदमतीतेः अत्यन्तासदर्थप्रतिभासाभावाच्चेति । अत एव विहितस्वाकारा परिगृहीतपराकारा शुक्तिकेवात्र प्रतिभातीति” न्यायमं० पृ० १७० । २ देखो न्यायया० पृ० ३७ । तात्पर्य पृ० १३२ ।

अधिपतिके दोषके कारण ही मिथ्याप्रसव्य होता है। अन्य जितने भी दोष हों वे सभी मिलकर इन्द्रियोंमें ही विकार करते हैं। जब तक इन्द्रियाँ विकृत नहीं होतीं तबतक मिथ्याज्ञानका संभव नहीं।

जैन दृष्टिसे आत्माकी मुख्यता है। अत एव उसके अनुसार मुख्य रूपसे प्रमाताका ही दोष भ्रमका निमित्त है। सभी दोष मिलकर प्रमाताको ही विकृत कर देते हैं तब प्रमाता भ्रान्त-ज्ञान करता है। शुक्तिका मौजूद हो, इन्द्रिय निर्दोष हो, आश्रय भी दोषमुक्त हो फिर भी यदि प्रमाता शुक्तिकामें रजतमान करता है तो वह उसीका दोष है। जहाँ विषय, साधन आदिका दोष हो वहाँ भी वह दोष आत्माकी मोहवास्था ही के कारण अपना कार्य करता है। इस लिये जैन दृष्टि यही मानती है कि अन्य सभी दोष आत्मदोषके सहायक होकर ही मिथ्याप्रसव्यके जनक हैं, पर मुख्यतया जनक आत्मदोष मोह ही है।

भीमांसकों ने इन्द्रिय, मन और बाह्य अर्थ इन तीनोंमेंसे किसी एकके दोषके कारण भ्रान्तज्ञानकी उत्पत्ति मानी है। भ्रान्तज्ञान उत्पन्न हुआ भी हो पर यदि दोषज्ञान हुआ न हो तो पुरुष उस ज्ञानको प्रमाण मान कर ही प्रवृत्त होता है। जब तक बाधक प्रसव्य न हो तब तक भ्रमज्ञान प्रमाण ही माना जाता है। जब बाधक प्रसव्य उत्पन्न होकर मिथ्यात्वकी प्रतीति करा देता है तभी वह प्रवर्तकज्ञान भ्रान्त माना जाता है।

इसी प्रकार अद्वैतवादिओंका कहना है कि मुख्य दोष अविद्या, वासना, माया, अभ्यास ही है। उसीके कारण इन्द्रियोंमें विकृति होनेसे भ्रमकी उत्पत्ति होती है।

#### ५ - प्रत्यक्षेतर भ्रम ।

यहाँ तक जो विवेचन किया गया है वह प्रत्यक्षभ्रम का है। जैन दर्शनमें मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंमें विपर्यय होनेकी मान्यता है। अवधिज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। मतिज्ञान परोक्ष है किन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे इन्द्रियजमतिज्ञान प्रत्यक्ष भी कहलाता है। पर श्रुतज्ञान तो परोक्ष ही है। अत एव प्रत्यक्ष और परोक्ष उभय ज्ञानोंमें जैनदर्शनके अनुसार भ्रम का संभव है। इसी बातका स्पष्टीकरण विद्यानन्द ने बहुत ही सुंदर ढंगसे किया है।

विद्यानन्द ने विपर्ययके सहज और आहार्य ऐसे दो भेद किये हैं। उपदेशके बिना होनेवाला विपर्यय सहज है, जब कि उपदेश से होनेवाला विपर्यय आहार्य है।

१. “सर्वैरेष च विभ्रमकारणैः इन्द्रिय-विषय-बाह्याभिमकाश्रयगतैरिन्द्रियमेव विकर्तव्यम् । अविकृत इन्द्रिय इन्द्रियभ्रान्त्ययोगात्” ज्ञायजि० टी० पृ० १७। २. “मिथ्यात्वं त्रिषु बोधेषु दृष्टिमोहोद-याद्वेषः ॥ १४ ॥ यथा सरजसाक्षाद्फलस्य कटुकत्वतः । क्षिप्तस्य पयसो दृष्टः कटुभावस्यगविषः ॥ १९ ॥ तथात्मनोऽपि मिथ्यात्वपरिणामे सतीष्यते । मत्वादिंसंविदां तादृज्मिथ्यात्वं कस्यचित् सदा ॥ २० ॥ तत्त्वार्थज्ञो० पृ० २५६। ३. “बाधकं हि यत्र ज्ञानमुत्पद्यते ‘नैतदेवं, मिथ्याज्ञानम्’ इति तदन्यसंयोगे विपरीतं ।.....यदा हि चक्षुरादिभिरुपहतं मनो भवति, इन्द्रियं वा तिमिरादिभिः, सौक्ष्म्यादिभिर्बाह्यो वा विषयः ततो मिथ्याज्ञानम् । अनुपहतेषु हि सम्यग्ज्ञानम् ।.....कथं दुष्टादुष्टावगम इति चेत् । प्रयत्नेनापि चक्षुः न चेद्गोपमवगच्छेमहि प्रमाणाभावादुष्टमिति मन्येमहि । तस्माद्यस्य च दुष्टं करणम्, यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनः प्रत्ययो नाप्य इति” शाबर० १.१.५। ४. “मतिक्षुत्वावधयो विपर्ययश्च” तत्त्वार्थ० १.३२। ५. तत्त्वार्थज्ञो० पृ० २५७।

मतिज्ञानके अवग्रहादि धारणापर्यंत मेदोंमें जो विपर्यय है वह सहज है क्योंकि उसमें उपदेशकी अपेक्षा नहीं है । धारणाका एक विशेषमेद सृति है उसमें भी सहज विपर्यय है । सृति परोक्षज्ञान है । अनुभूत वस्तुका अनुभूतरूपसे स्मरण ही सृतिविपर्यय है ।

प्रत्यभिज्ञानका अम शुभपञ्जातविशुमें स्पष्ट है । या सदृश 'घट'शब्दको सुनकर 'यह वही 'घट'शब्द है जो मैंने पहले सुना था' ऐसा ज्ञान करना प्रत्यभिज्ञानभ्रम है । सादृश्यमें एकताका ज्ञान होनेसे यह भ्रम कहा जाता है । वस्तुतः सभी शब्द वक्ताके प्रयत्नसे उत्पन्न होते हैं किन्तु भी मां स क भिन्न शब्दोंको भी सादृश्यके कारण एक समझ कर निश्च मानता है । अत एव उपर्युक्त प्रत्यभिज्ञान जो भी मां स क को होता है वह प्रत्यभिज्ञाभास है । क्योंकि विषय है तिर्यग्मान्य किन्तु उसमें वह ऊर्ध्वता सामान्यका बोध करता है ।

इसी प्रकार लिङ्गलिङ्गिसंबंधज्ञानरूप तर्क भी विसंवाद होने पर विपरीत कहा जाता है ।

स्वार्थानुमानस्थलमें हेत्वाभासजन्य लिङ्गिज्ञान अनुमानका विपर्यय है ।

सृति, प्रत्यभिज्ञान तर्क और स्वार्थानुमान ये परोक्ष मतिविशेष हैं । उक्त रीतिसे सभी मल्लज्ञान सहज विपर्यय है ।

श्रुताज्ञान जो अक्षुरादिमतिपूर्वक है वह सहज विपर्यय है । क्योंकि वह परोपदेशनिरपेक्ष होता है । किन्तु श्रोत्रमतिपूर्वक श्रुताज्ञान आहार्य विपर्यय है, क्योंकि वह उपदेशसापेक्ष है ।

श्रुताज्ञानरूप आहार्य विपर्ययके विद्यानन्दने दो मेद किये हैं । एक सद्विषयक और दूसरा असद्विषयक । प्रथमके जो उदाहरण उन्होंने दिये हैं उनमें से कुछ ये हैं—

( १ ) स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे सर्व वस्तुओंके सद्रूप होने पर भी शून्यवाद मानना ।

( २ ) अ—प्राक्षप्राहकभाव होने पर भी विज्ञानवाद ।

ब—कार्यकारणभाव होने पर भी ब्रह्माद्वैत ।

क—वाच्यवाचकभाव होने पर भी शब्दाद्वैत ।

( ३ ) अ—सर्व वस्तुओंमें सादृश्यके होने पर भी तथागत संमत वैसादृश्यवाद ।

ब—सर्व वस्तुओंमें एकत्व होने पर भी सर्वथा सादृश्यका स्वीकार ।

( ४ ) द्रव्य और पर्यायमें मेदामेद होने पर भी नैयायिक संमत अत्यन्त मेद ।

( ५ ) जीवका अस्तित्व होने पर भी चार्वाक संमत नास्तित्व ।

( ६ ) अजीवका अस्तित्व होने पर भी ब्रह्मवाद ।

इसी प्रकार असद्विषयक आहार्य विपर्यय के विषयमें विद्यानन्दने ये उदाहरण दिये हैं—

( १ ) सभी वस्तुएँ पर द्रव्यादिकी अपेक्षासे असत् होने पर भी सदेकान्तवादका स्वीकार ।

( २ ) अ—प्रतीत्यारूढ प्राक्षप्राहकभाव नहीं होने पर भी योगाचार संमत प्रतीत्यारूढ प्राक्षप्राहकभाव ।

इसी प्रकार उपर्युक्त 'सत्' पक्षके उदाहरणोंसे उलटा असत् पक्षमें घटा लेना चाहिए ।

अवधिज्ञानका विपर्यय विभंग नामसे प्रसिद्ध है । उसका सहज विपर्यय ही होता है । क्योंकि वह परोपदेशसापेक्ष नहीं है ।

विधानन्दने विस्तारसे विपर्ययका विवेचन किया है उसमें जो आहार्य विपर्यय है उसके उदाहरणोंमें सभी दार्शनिकोंके मतसे भेद हो सकता है । क्योंकि जैनों के मतसे ब्रह्मवाद आहार्य विपर्यय है जब कि ब्रह्मवाद के अनुसार भेदवाद ही आहार्य विपर्यय है । इसी प्रकार सभी दार्शनिक खलशाकजन्य ज्ञानको सम्यग् मानते हैं और अन्योन्य शास्त्रजन्य ज्ञानको विपरीत मानते हैं ।

ब्रह्मसूत्रपादने सांगम दृष्टिसे ऐसे आहार्य विपर्ययोंका वर्णन किया है और व्योमशिव ने उसका पल्लवन किया है—देखो० ज्यो० पृ० ५४२ ।

६—प्रामाण्यमिन्ता ।

जैन दर्शन संमत अनेकान्तवादकी व्यापकतामें ऐसा संदेह किया जाता है कि यदि अनेकान्त सर्वव्यापक है तब प्रमाण भी अप्रमाण होना चाहिए और अप्रमाण भी प्रमाण होना चाहिए । अन्यथा अनेकान्तको सर्ववस्तुव्यापि कैसे कहा जा सकता है ? । इस शंकाका समाधान विधानन्दने विमज्ज्यवादका आश्रयण करके किया है । उस प्रसंगमें अकलंककी युक्तियोंका<sup>१</sup> आश्रयण करके विधानन्दने भ्रम ज्ञानका भी प्रामाण्य सिद्ध किया है । इन्द्रिय-दोषजन्य चन्द्रद्वयदर्शनमें संख्याशके विषयमें विसंवाद होनेके कारण संख्याज्ञान अप्रमाण है सही पर चन्द्रके स्वरूपांशमें तत्त्वज्ञान—सम्यग्ज्ञान—अविसंवादि ज्ञान होने से, उस अंशमें वह ज्ञान प्रमाण ही है । अत एव कोई भ्रम एकान्ततः भ्रम नहीं कहा जा सकता । ज्ञानोंमें प्रामाण्येतर व्यवस्था प्रायशः संकीर्ण है—“तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्ण-प्रामाण्येतरस्थितिरुच्यते व्याप्तिसिद्धानुपपत्तेर्भ्रयद्वयेरपि अन्त्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्य-मृताकारावभासनात्, तथोपपत्ताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेरपि अन्त्रादिसमावृतस्थो-पलम्भात् ।”—अष्टशती का० १०१ ।

यदि किसी ज्ञानमें प्रामाण्य या अप्रामाण्य नियत नहीं है तब किसी एक ज्ञानको प्रमाण और दूसरेको अप्रमाण कहा जाता है सो कैसे सिद्ध होगा ? । इस प्रश्नके उत्तरमें अकलंकने कहा है कि संवाद या विसंवादके प्रकर्षकी अपेक्षासे प्रामाण्य या अप्रामाण्यका व्यवहार किया जाता है । जैसे कस्तुरिकादि द्रव्यमें स्पर्शादि गुणोंकी अपेक्षा गन्धगुणकी मात्रा उत्कट होने से वह गन्धद्रव्य कहा जाता है वैसे ही जिस ज्ञानमें संवादकी अपेक्षा विसंवादकी मात्रा अधिक हो उसे अप्रमाण कहा जाता है । भ्रमज्ञानोंमें संवादकी अपेक्षा विसंवादकी मात्रा अधिक है अत एव व्यवहारमें उन्हें अप्रमाण कहा जाता है—“तत्रप्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धादिद्रव्यवत्”—अष्टश० का० १०१ ।

एक और दृष्टिसे भी भ्रममें प्रामाण्याप्रामाण्यका विचार हो सकता है । खपरप्रकाशवादी जैन-बौद्ध दृष्टिसे सभी भ्रमज्ञान खपरसंवेदि हैं । अत एव वे स्वांशमें प्रमाण और परांशमें अप्रमाण हैं—“स्वरूपे सर्वमभ्रान्तं पररूपे विपर्ययः” । प्रमाणवा० अ० मु० पृ० ४१ । आप्तमी० का० ८३ ।

पृ० २३. पं० २८. ‘विपरीतख्याति’ विपरीतख्यातिके खण्डन-मण्डनके लिये देखो

१. अष्टशती का० १०१ । भट्टस० पृ० २७६ । तत्त्वार्थश्री० पृ० १७७ ।

न्यायकुसुदचन्द्र और उस पर संपादककृत टिप्पणियाँ पृ० ६४-६६ । तथा प्रमेयक० पृ० ५२-५९ ।

पृ० २३. पं० २९. 'स्मृतेः प्रमोषः' प्राभाकर संमत स्मृतिप्रमोषका विस्तृत खण्डन सर्वप्रथम प्राभाकरगुप्त ने किया जान पड़ता है । देखो प्रमाणवा० अ० पृ० २५८ । तथा मुद्रित पृ० १८ । तदनन्तर अन्य दार्शनिकोंने भी तदनुसारी खण्डन किया है । देखो—व्यो० पृ० ५३९ । न्यायमं० पृ० १६४ । तत्त्वो० पृ० १७ । तत्पर्य० पृ० ८७ । सन्मति० टी० पृ० २७, ३७२ । न्यायकु० पृ० ५२ । स्याद्वादर० पृ० १०४ । शास्त्रदी० पृ० ४९ ।

स्मृतिप्रमोषकी स्थापनाके लिये देखो बृहती० पृ० ६४, ६६, ७३ । प्रकरणपं० पृ० ३२ ।

पृ० २४. पं० १४. 'वक्ष्यामः' देखो, § १७.

पृ० २४. पं० १७. 'अलौकिकत्वम्' अलौकिकव्याप्ति भी भासकैकदेशी को मान्य है । देखो प्रमाणवा० अ० पृ० २५८ । न्यायमं० पृ० १७२ । कन्दली पृ० १८१ । न्यायकु० पृ० ६४ । स्याद्वादर० पृ० १३४ ।

पृ० २५. पं० ३. 'प्रमाणाभावात्' सन्मतिटीकाने मेदप्राहक प्रमाणाभावका जो विस्तारसे वर्णन है उसीका संक्षेप शान्त्याचार्य ने किया जान पड़ता है । देखो सन्मति० टी० पृ० २७३, पं० १९ । शब्दसादृश्यके लिये देखो न्यायकु० पृ० १४९ ।

पृ० २५. पं० १०. 'गजविकल्पायते' हरिभद्रसूरि ने योगदृष्टिसमुच्चय में कुतर्कके उदाहरणमें हस्तिविषयक प्राप्ताप्राप्तविकल्पोका उल्लेख किया है और उनकी निःसारता बताई है । अत एव विकल्पोकी निःसारता बतानेके लिये 'गजविकल्पायते' यह प्रयोग कड़ है ऐसा समझना चाहिये । उस ग्रन्थका पाठ यह है—“जातिप्रायश्च सर्वोऽयं प्रतीतिफलबाधितः । हस्ती व्यापादयत्युक्तौ प्राप्ताप्राप्तविकल्पवत् ॥ ९१ ॥ जातिप्रायश्च वृषणाभासप्रायश्च सर्वोऽयं कुतर्कः । प्रतीतिफलबाधित इति कृत्वा । एतदेवाह—‘हस्ती व्यापादयति’ उक्तौ मेण्डेन । किमिदं व्याह—प्राप्ताप्राप्तविकल्पवत् । कश्चिद्वैयाधिकच्छात्रः कुतश्चिदागच्छन् मन्वशीभूतमसहस्रकारकेन केनचिदुक्तः ‘भोः भोः, स्वरितप्रपसर, हस्ती व्यापादयति’ इति च । तदाऽपरिणतन्यायशास्त्र आह—‘रे रे बठर किमेवं युक्तिबाधं प्रलयति । तथाहि—किमयं प्राप्तं व्यापादयति, किं वाऽप्राप्तमिति । आद्यपक्षे भवत एव व्यापत्तिप्रसङ्गः, प्राप्तिभावात् ।’ एवं यावदाह तावदस्तिना गृहीतः स कथमपि मेण्डेन मोचित इति ।” योगदृ० पृ० ९१ ।

प्राप्ताप्राप्त विकल्पोके अलावा गजविकल्पोका एक दूसरा रूप भी वादी देवसूरि ने दर्शाया है । और उपसंहारमें कहा है कि इन विकल्पोसे जैसे हस्तीके स्वरूपका अपलाप नहीं किया जा सकता वैसे ही अप्रामाणिक विकल्पोसे प्रमाणसिद्धका निरास नहीं किया जा सकता । विकल्प ये हैं—“किमिदं अन्धकारनिकुरम्बं मूलकान् कवलयति, किं वा धारिबादोऽयं बलाकायान् धर्षति गर्जति च । यद्वा बान्धवोऽयं—‘राजद्वारे हमशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः’ इति परमाचार्यवचनात् । अथवा योऽयमासजमेदिनीवृष्टप्रतिष्ठायी पुरुषस्तस्य छद्मायेयं स्थानीभूतेति ॥” स्याद्वादर० पृ० १४५ ।

पृ० २५. पं० १०. 'मेदः' मेदसाधकप्रमाणोंके विस्तारके लिये देखो, सन्मति० टी० पृ० २८५ । शब्दसादृश्यके लिये—न्यायकु० पृ० १५३ ।



पृ० २५. पं० १२. 'अमेदः' तुलना—न्यायकु० पृ० १५४. पं० १३ ।

पृ० २५. पं० १८ 'किञ्च' इस पंक्तिमें जो पाठशुद्धि की है उसके आधारके लिए देखो—न्यायकु० पृ० १५४. पं० २६ ।

पृ० २५. पं० २३. 'प्रतिपादयिष्यते'—देखो, का० १६. § १-६ ।

पृ० २५. पं० २४. 'आत्मख्याति' आत्मख्यातिके समर्थनके लिये देखो, प्रमाणवा० अंत० मु० पृ० २२ । खण्डनके लिये देखो—न्यायमं० पृ० १६४ । तात्पर्य० पृ० ८५ । न्यायकु० पृ० ६२ । स्याद्वादर० पृ० १२८ ।

उपाध्याय यशो विजयजी ने ख्यातिवादका एक खतंत्र प्रकरण बनाकर अष्टसहस्रीके विवरणमें सन्निविष्ट किया है—“यशोविजयनामेत्थं साधुन्यायविशारदः । स्पष्टं निष्टंकवामास ख्यातीरष्टगरिष्ठधीः ॥ १ ॥”—अष्टस० वि० पृ० ३१८ ।

पृ० २५. पं० २५. 'बाधकं' तुलना—

“बाधकः किं तदुच्छेदी किंवा ग्राह्यस्य हानिकृत् ।

ग्राह्याभावे ज्ञापको वा ज्ञयः पक्षाः परः कुतः ॥”

इन विकल्पोंके द्वारा प्रज्ञा करने विस्तारसे बाधकका निराकरण किया है—प्रमाणवा० अंत० मु० पृ० ४२ । सन्मति० टी० पृ० १२. पं० १२ ।

पृ० २५. पं० २८ 'चक्रकम्' देखो—पृ० २१. पं० २२ ।

पृ० २५. पं० २९. 'समानजातीयम्' ये विकल्प बाधकज्ञानके हैं । संवादकज्ञानके विषयमें भी ऐसे ही विकल्प करनेकी प्रथा है । देखो, सन्मति० टी० पृ० ५. पं० ३५ । और प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० २२. § ६-७ ।

पृ० २६. पं० १९ 'निराकरिष्यमाणत्वात्' । देखो, का० २५ ।

पृ० २६. पं० २२. 'प्रमाणं' प्रमाणका नियामक तत्त्व क्या हो सकता है—इस प्रश्नकी जैसी चर्चा शान्त्याचार्य ने प्रस्तुतमें की है वैसी चर्चा सन्मति टीकामें अभयदेव ने भी विस्तारसे की है—सन्मति० टी० पृ० ५ ।

पृ० २६. पं० २३. 'प्रसिद्धानि' सिद्धसेन दिवा करने इस कारिकामें पूर्वपक्ष किया है कि प्रमाण और तत्कृत व्यवहार जब प्रसिद्ध ही है तब प्रमाणशास्त्र या प्रमाणके लक्षणका प्रणयन करना निरर्थक है । फिर उसका उत्तर उन्होंने दिया है कि—

“प्रसिद्धानां प्रमाणानां लक्षणोक्तौ प्रयोजनम् ।

तद्व्यामोहनिवृत्तिः स्याद्व्यामूढमनसामिह ॥” न्याया० ३ ।

प्रमाण और तत्कृत व्यवहार प्रसिद्ध होने पर भी कुछ लोगोंको तद्विषयक मोह बना ही रहता है । इसी मोहकी व्यावृत्ति करनेके लिये शास्त्ररचना आवश्यक है ।

शान्त्याचार्य वार्तिककार हैं अत एव उन्होंने भी सिद्धसेन के उक्त कथनका स्पष्टीकरण किया है ।

शास्त्रके प्रतिपाद्यके विषयमें शास्त्रकारको सर्वप्रथम ऐसी शंकाका समाधान करना पड़ता है । क्योंकि जितने भी पुरुषकृत आगम होते हैं उनका विषय प्रसिद्धता ही

होता है' । किन्तु शास्त्रकार उस विषयका प्रक्रियाबद्ध वर्णन करता है । यदि प्रत्येक शास्त्र-कारकी नवीनता है तो मुख्यतया प्रक्रियामें ही है । यही कारण है कि प्रक्रियामेदसे शास्त्रमेद हो जाता है ।

यद्यपि प्रमाण सबको प्रसिद्ध है फिर भी जब उसका प्रक्रियाबद्ध वर्णन होने लगा तब माछूम हुआ कि न्यायदर्शन में उसका जो रूप बताया गया है उससे ठीक विपरीत बात बौद्ध दर्शन में कही गई है । एक ही वस्तुके विचारविषयक दृष्टिकोणमें तथा वस्तुके वर्णनमें मेद हो जानेसे ही दर्शनमेद — शास्त्रमेद हुआ है । वस्तुतः वस्तुके मेदसे शास्त्र — दर्शनमेद नहीं है किन्तु वस्तुके विचार व वर्णनमेदसे शास्त्रमेद है । अत एव सभी शास्त्रकार समझते हैं कि 'यद्यपि सभी लोक किसी एक वस्तुके विषयमें अपने आपको सम्यक्प्रतीतिसंपन्न' समझते हैं फिर भी उनकी वह प्रतीति मिथ्या है । और उस मिथ्याप्रतीतिको दूर करना ही हमारा काम है ।' इसी समझके बलपर वे अपने माने हुए वस्तुके रूपका स्वशास्त्रमें वर्णन करते हैं और दूसरोंके माने हुए वस्तुके रूपका निराकरण करते हैं' ।

अत एव वस्तुतः देखा जाय तो शास्त्रोंमें विद्याकी अपेक्षा अविद्याका ही विलास, अधिक मात्रामें होता है । इस सत्यका स्वीकार भर्तृहरि ने दृढताके साथ किया है ।

“शास्त्रेषु प्रक्रियामेदैरविद्योपवर्ण्यते ।

अनागमविकल्पा तु स्वयं विद्योपवर्ण्यते ॥” वाक्य० ३. पृ० ४८९ ।

यदि शास्त्रोंमें अविद्याका विलास है तो तब उससे सत्यका दर्शन कैसे हो सकता है, और मोहको दूर करनेके लिये शास्त्रोंके प्रणयनकी बात भी कैसे संगत हो सकती है — इस प्रश्नका उत्तर भी स्वयं भर्तृहरि ने ही दिया है कि — “असत्ये चरुर्मेनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते” — वाक्य० २. २४० ।<sup>१</sup> भावोंका जैसा वर्णन किया जाता है वे वस्तुतः वैसे नहीं होते हैं किन्तु इस असत्य वर्णनके मार्गसे ही परमार्थतक पहुँचना सहज है । परमार्थको देखनेमें स्वयं असमर्थ ऐसे पुरुषोंके लिये शास्त्र चक्षुका काम देते हैं — “शास्त्रं चक्षुरपश्यताम् ।” वाक्य० ३. पृ० ४८९ ।

जब योगीतर सामान्य जन तत्त्वके चिंतन पथ पर विचरण करने लगता है तब यदि वह केवल अपने ही तर्कबल पर भरोसा रखकर चले तो संभव है कि वह परमार्थ जाननेमें धोखा खा जाय । अत एव यदि वह दूसरोंके अनुभवोंको जान ले तो उसकी प्रज्ञा विवेकयुक्त बने और उसके बल पर वह परमार्थको सहज ही में पा सके । दूसरोंके अनुभवोंके मंडार शास्त्र ही

१. देखो, न्यायमं० पृ० १, ५ । प्रमाणमी० पृ० १ । २. बुलना — “धर्मः प्रसिद्धो वा स्वादप्रसिद्धो वा ? । स चेद् प्रसिद्धः, न जिज्ञासितव्यः । अथाप्रसिद्धो न तत्राद्यः । तदेतदर्थं धर्मजिज्ञासाप्रकरणम् । अथवाऽर्थवत् । धर्मं प्रति हि विप्रतिपक्षा बहुविदः केचिदन्यं धर्ममाहुः, केचित्त्वन्वत् । सोऽयमविचार्य प्रवर्तमानः केचिदेवोपादधानो विह्वलेन, अनर्थं च ऋच्छेत् । तस्मादर्थो जिज्ञासितव्य इति” — शाबर० १. १. १. । प्रमाणवा० अलं० पृ० ३७ । व्यो० पृ० १९० । तरवार्थम्भो० पृ० २ । कदली० पृ० २० । ३. बुलना करो — समयसार गाथा ८ । “यद्यपि नामायं संकृत्वा व्यवहारः तथापि न तावता क्षतिः । गणमिसीकमेव तावद्वयं व्यवहारः प्रवर्त्यताम् । पुनरयमपि निरूप्यमाणो विधीर्वैद्य एव ।” प्रमाणवा० अलं० मु० पृ० ४७ । ४. “भावा येन निरूप्यन्ते तद्वयं नास्ति तत्त्वतः” — प्रमाणवा० २. ३६० ।

हैं। इस दृष्टिसे भी शास्त्ररचना और उसका अभ्यास, अविद्याका विनाश होते हुए भी, उपयोगी है<sup>१</sup>।

पृ० २७. पं० ३. 'विषयदोषः' तुलना — "तिमिराशुभ्रमणनीयानसंक्षोभाधनाहित-  
विभ्रमं" इत्यादि न्याय विन्दु सूत्र की टीका देखनी चाहिए जिसमें नाना प्रकारके दोषोंका  
वर्णन किया गया है। तथा देखो, सन्मति० टी० पृ० ३, पं० २२।

पृ० २७. पं० १५. 'शक्तिः' शक्ति वस्तुका सामर्थ्य है। बीजका सामर्थ्य अंकुरजननमें  
है, वह्निका सामर्थ्य दाहमें है, विषका सामर्थ्य मारणमें है, शब्दका सामर्थ्य अर्थप्रकाशनमें  
है, परशुका सामर्थ्य छेदनमें है — इस प्रकार सामर्थ्यके विषयमें तो किसी दार्शनिकका मतभेद  
नहीं है, किन्तु वह सामर्थ्य क्या है, उसका स्वरूप क्या है, सामर्थ्यका समर्थके साथ क्या  
सम्बन्ध है, सामर्थ्यका ग्रहण किस प्रमाणसे होता है, इत्यादि बातोंमें नाना मतभेद देखे जाते  
हैं। अत एव यहाँ शक्तिके विषयमें निम्न लिखित मुद्दों पर विचार किया जाता है —

१ — शक्तिकी कल्पनाका बीज ।

२ — शक्तिका स्वरूप ।

३ — शक्तिग्राहक प्रमाण ।

१ — शक्तिकी कल्पनाका बीज ।

संसारमें नाना प्रकारके कार्योंकी उत्पत्ति देखी जाती है। उत्पत्तिमें भी व्यवस्था देखी जाती  
है। जैसा कारण हो वैसा ही कार्य होता है। जिस किसी कार्य की जिस किसी कारणसे उत्पत्ति  
नहीं होती, किन्तु अमुक कार्यकी उत्पत्ति अमुक कारणसे ही होती है। यदि पट बनाना हो  
तब तन्तुका ही ग्रहण आवश्यक होता है, और घट बनाना हो तो मृत्तिकाका। इस व्यवस्थाके  
मूलमें ही शक्तिकी कल्पनाका बीज है<sup>१</sup>।

२ — शक्तिका स्वरूप ।

कार्यकारणभावका विचार दार्शनिकोंने दो प्रकारसे किया है। अद्वैतवादिओं के मतसे  
कार्यकारणभाव व्यावहारिक सत्य है, संवृतिसत्य है, पारमार्थिक सत्य नहीं। बाह्यार्थवादिओं के  
मतसे ही कार्यकारणभाव पारमार्थिक सत्य है। अत एव कार्यकारणभावकी व्यवस्थामेंसे ही  
फलित होनेवाली शक्तिके स्वरूपके विषयमें भी दार्शनिकोंके दो मन्तव्य हों यह स्वाभाविक ही  
है। अद्वैतवादिओंके मतसे शक्तिस्थानापन्न अविद्या, माया, वासना<sup>१</sup> या मिथ्यात्व है। उसका  
स्वरूप सामान्यतः अनिर्वचनीय है। वह न सत् है न असत्, न उभयरूप है न अनुभयरूप।  
बाह्यार्थवादिओंके मतसे शक्ति अनिर्वचनीय नहीं किन्तु पारमार्थिक वस्तु है।

माध्यमिक बौद्धने सभी व्यवहारोंको अविचारित रमणीय माना है। भावोंको उसने सर्व

१. "प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनेः । कियद्वा शक्यमुक्तेषु स्वतर्कमनुधावता ॥ ४९२ ॥ तत्तदु-  
त्प्रेक्षमाणानां पुराणैरागमैर्विना । अनुपास्तितवृद्धानां विद्या नातिप्रसीदति ॥ ४९३ ॥" वाक्य० ३।

२. श्लोकभा० शून्यवाद २५३, २५४ । न्यायकु० पृ० १५८. पं० १३ । पृ० १६०. पं० १७ ।

३. "वासनेव च बुभुक्षामिः शक्तिशब्देन गीयते" श्लोक० शून्य० २५६।

स्वभावशून्य माना है। अत एव भाव उत्पादादिधर्मशून्य होनेसे उसमें कार्यकारणभावकी वस्तुतः अवकाश नहीं रहता। अनाद्यविद्यावासनाके कारण सब व्यवहार चखते हैं। अत एव शून्यवादीके मतसे कार्यकारणभावकी नियामिका—शक्ति नहीं, किन्तु अविद्या या वासना ही है। अर्थात् वासना ही शक्तिस्थानापन है।

शब्दा है ती के मतसे सकल प्रपञ्चके मूलमें एकमात्र शब्द ही है। सकल नाश-आम्यन्तर वस्तुओंका समन्वय एक शब्दब्रह्ममें ही होता है। शब्दब्रह्मकी नाना शक्तियोंके कारण नाना कार्य दिखाई देते हैं। और नानाशक्तिके कारण ही एक ही ब्रह्म नाना दिखाई देता है। वस्तुतः नानात्व शक्तिमें होने पर भी ब्रह्ममें आरोपित होता है ये शक्तियाँ अनिर्वाच्य हैं। वस्तुतः वे दान्तिओं की अविद्या—माया और वैयाकरणों की शक्तियोंमें मौलिक भेद नहीं। अत एव प्रभाचन्द्राचार्यने शब्दा है तिओं के पूर्वपक्षमें आविर्भावादि भेदप्रपञ्चकी घटनाको अविद्यामूलक बताते हुए जो उसके समर्थनमें बृहदारण्यकवार्तिक की करिका उद्धृत की है वह असंगत नहीं।

धर्म की तीं ने सभी प्रकारके सम्बन्धका निषेध करते समय खास कर कार्यकारणभावका निषेध किया है। उनका कहना है कि दर्शनादर्शनकृतविकल्पका विषय ही कार्यकारणभाव है अत एव वह अवस्तु होनेसे पारमार्थिक नहीं। विकल्पका मूल वासनामें है अर्थमें नहीं। अत एव कार्यकारणभावकी व्यवस्था वासनासे सिद्ध है।

धर्म की तीं के अनुगामी प्रज्ञाकर गुप्तने कहा है कि जितने भी कार्य हैं वे सब, कार्य होनेके कारण ही, स्वप्नदर्शनके कार्योंकी तरह वासनाकृत हैं। ईश्वर हो या कर्म, प्रधान हो या अग्र्य कुछ, सभी की कल्पना वासनामूलक है। न्यायी ईश्वरको मानकर भी यदि जगतमें वैचित्र्य छाना हो तो वासनाको बिना माने काम चल नहीं सकता। अत एव ईश्वर, प्रधान या कर्म इन सभी नदीओं का स्रोत वासनासमुद्रमें मिलकर एक हो जाता है यही मानना चाहिए—

“कार्यत्वात् सकलं कार्यं वासनाबलसंभवम् ।

कुम्भकारादिकार्यं वा स्वप्नदर्शनकार्यवत् ॥

१. “मध्यमावसिषत् सैव सर्वधर्मनिरात्मता” न्यायकु० पृ० १३१ में उद्धृत। २. “न स्वप्ने वापि परतः न द्वाय्यां नाप्यहेतुतः। उत्पत्ता आदु विजन्ते भावाः क्वचन केचन ॥” माध्य० प्रस्थ० का० १। महाथानर्षि० १८। “यथा माया यथा स्वप्ने गन्धर्वगर्ह यथा। तथोत्पादकत्वा स्वप्नं तथा भङ्ग उदाहृतः ॥” माध्य० संहस्र० का० ३४। महाथानसू० पृ० ६२। कंकावतार पृ० १११। “परमार्थेन जेत्यादौ निरोधोऽपि न तत्पतः। ब्रह्म आकाशवत् तद्वत् सत्त्वा जन्मेककल्पनाः ॥” महाथानर्षि० का० २। ३. “न सोऽस्ति प्रत्यक्षो लोके वाः सम्बन्धबुधमाहते। अनुविद्धमिवाभासि सर्वं कन्दे प्रसिद्धिवत् ॥” वाक्य० १.१२४। ४. “एकमेव यदाज्ञातं निष्कलकित्यपात्रवत्। अनुयन्त्येऽपि कठिणः दृक्स्वप्नेऽपि वर्तते ॥” यही १.२। “एकस्य सर्वबीजस्य प्रकृताः सत्त्वग्वत्त्वान्मां सत्त्वग्वत्त्वान्मां चाभिवर्धयति कठिणम्”—वाक्य० टी० १. ४। ५. न्यायकु० पृ० १४१। ६. “कार्यकारणभावोऽपि तथोत्पत्तवत्पतः। प्रसिद्धति कथं हिद्योऽहिदे संवन्धता कथम् ॥ द्योनादहिने सुपत्ता कार्यबुद्धेरसंज्ञात्। कार्यबुद्धिरप्यत्र कावचार्थं निषेधिता ॥ यदावन्मात्रतत्त्वार्थाः कार्यकारणगोचराः। निष्कला दृश्यवत्त्वार्था निष्कलाऽपि कठिणमिव ॥” इत्यादि सम्बन्धपरिहृता। प्रमेयक० पृ० ५१०। स्वाह्यादर० पृ० ८१४-८१७।

प्रधानमीश्वरः कर्म यदन्यदपि कल्प्यते ।  
 वासनासङ्गसम्पृद्धचेतःप्रत्यम्द एव सः ॥  
 प्रधानानां प्रधानं तद् ईश्वराणां तथेश्वरम् ।  
 सर्वस्य जगतः कर्त्री देवता वासना परा ॥  
 अशक्यमन्यथा कर्तुमत्र शक्तिः कथं मता ।  
 वासनाबलतः सोऽपि तस्मादेवं प्रवर्तते ॥  
 इति प्रधानेश्वरकर्तृवादनघः सदा शीघ्रब्रह्माः प्रवृत्ताः ।  
 विशिष्य एवाह्वयतां प्रयान्ति तद्वासनामेयसमुद्रमेव ॥”

प्रमाणवा० अ० मु० पृ० ७५ ।

शंकराचार्यने ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ताको व्यावहारिकसत्य कहा है, आविष्कृत कहा है । और कहा है कि जब विषासे आत्मामें सर्व उपाधिओंका नाश हो जाता है तब परमार्थतः ईश्वरमें सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व आदि व्यवहारोंका अभाव हो जाता है ।<sup>१</sup>

शंकराचार्यके मतसे शक्ति, माया, और प्रकृति में कोई भेद नहीं । शक्ति ही सर्वप्रपञ्चकी बीजभूत है । और ईश्वरमें शक्ति होने पर भी ईश्वरसे उसका अत्यन्त भेद है । क्योंकि ईश्वर सत्य है तब शक्ति, माया या प्रकृति मिथ्या है—

“सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूते इवाविष्कृत्यते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये  
 हंसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य माया शक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलष्येते,  
 ताभ्यामन्यः सर्वज्ञः ईश्वरः ।” शां० ब्रह्म० २.१.१४ ।

इन समी अद्वैतवादिओंसे ठीक निपरीत मार्ग का ह्यार्थवादिओंका है । उनके मतसे कार्यकारणभावकी व्यवस्था पारमार्थिक होनेसे शक्ति भी पारमार्थिक है । किन्तु शक्तिके स्वरूपके विषयमें इन समीमें ऐकमत्य नहीं ।

वैशेषिकोंके मतसे पृथिव्यादि द्रव्योंमें समवायसम्बन्धसे सम्बद्ध पृथिव्यादि जाति और अन्यतन्तुसंयोगादि चरमसहकारिरूप दो प्रकारकी शक्ति मानी गई है । सारांश यह है कि यदि पृथ्वीमें पृथ्वीत्व न हो तो पार्थिवकार्य सम्पन्न नहीं हो सकता अत एव पृथ्वीत्व ही शक्ति है । इसी प्रकार पृथ्वीत्वके होने पर भी यदि पार्थिव पटकी उत्पत्ति इष्ट है तब अन्यतन्तु-संयोगरूप चरमसहकारि कारण अवश्य चाहिए । अत एव इसे भी शक्ति मानना चाहिए । क्योंकि जिस प्रकार पृथ्वीत्वके बिना कार्य सिद्ध नहीं होता वैसे अन्यतन्तुसंयोगके बिना भी कार्यसिद्धि नहीं ।

वैशेषिकोंके मतसे पदार्थ और उसका सामर्थ्य अत्यन्त भिन्न हैं क्योंकि उनके मतसे द्रव्य, जाति और गुणका अत्यन्त भेद है ।

यही मत नैयायिकोंको भी इष्ट है ।

१. “अथैवं कविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वम्, सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं च, न परमार्थतो विजायात्कर्मोपाधिरूपे आत्मनीक्षिप्रीक्षितसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते ।” — शां० ब्रह्म० २.१.१४ ।  
 २. ज्यो० पृ० १९३ । ३. व्यायमं० पृ० ३८, ६५ । तात्पर्य० पृ० ३७, १०३ । न्यायकू० पृ० १५९ ।

मीमांसकों ने पदार्थके स्वरूपसे अतिरिक्त—पदार्थगत जाति या सहकारि साकल्यसे अतिरिक्त शक्तिनामक एक अतीन्द्रिय स्वतन्त्र पदार्थकी कल्पना की है ।

बीजके होने पर अंकुरोत्पत्ति होती है और बीजके अभावमें नहीं होती—ऐसा अन्वय व्यतिरेक देख कर बीजको अंकुरका कारण माना जाता है । किन्तु यदि बीज मूषिकाघ्रात हो तब बीजके स्वरूपमें और सहकारिओंमें किसी भी प्रकारकी त्रुटि न होने पर भी उस बीजसे अंकुरोत्पत्ति नहीं होती अत एव मानना पड़ता है कि बीज अंकुरोत्पत्तिमें अकारण भी है । एक ही वस्तु कारण और अकारण नहीं हो सकती । अत एव यदि यह माना जाय कि कार्यकी उत्पत्ति तत्तद् बीजादि वस्तुओंसे नहीं किन्तु तद्गत अतीन्द्रिय शक्तिसे ही होती है—तब ही पूर्वोक्त विरोधका निरास हो सकता है । बीजादिमें जब तक शक्ति अखण्डित रहती है अंकुरोत्पत्ति हो सकती है और जब मूषिकाघ्राणसे या और किसी कारणसे उस शक्तिका नाश हो जाता है तब कार्य उत्पन्न नहीं होता<sup>१</sup> ।

इसी युक्तिके आधार पर वह्निमें दाहशक्तिका भी समर्थन मीमांसकों ने किया है । मणि-मन्त्रादिके अग्निकी शक्तिका जब उपघात होता है तब अग्निका स्वरूप अखण्डित होने पर भी वह दाहकार्य उत्पन्न नहीं कर सकती । अत एव दाहजनक अग्नि नहीं किन्तु अग्निगत अतीन्द्रिय शक्ति ही है<sup>२</sup> ।

इन्हीं युक्तिके बलसे तथा अन्य युक्तिओंके बलसे<sup>३</sup> नैयायिकसंमत द्रव्यादि सभी पदार्थोंसे अतिरिक्त अतीन्द्रिय ऐसे शक्तिनामक स्वतन्त्र पदार्थकी मीमांसकों ने कल्पना की है ।

मीमांसक वस्तुतः वैशेषिकादि की तरह बाह्य पदार्थोंका विवेचन करनेके लिये प्रवृत्त नहीं हुआ है किन्तु कर्मकाण्डका समर्थन करना ही उसका मुख्य ध्येय है । उस समर्थनमें जहाँ पदार्थ विवेचनाका प्रसंग आ जाता है वह उसे करता है । शक्तिको इस प्रकार स्वतन्त्र पदार्थ माननेकी आवश्यकता उसे कैसे हुई इस बातका पता हमें मीमांसकसंमत 'अपूर्वकी' कल्पनाका समर्थन देख कर लग सकता है<sup>४</sup> ।

याग कर्म होनेसे क्षणिक है अत एव प्रश्न हुआ कि यागसे होनेवाला स्वर्गादि फल तो मृत्युके बाद होगा, और मृत्यु पर्यंत यागकी अवस्थिति नहीं, तब यागसे स्वर्गकी उत्पत्ति होगी कैसे ? । इस प्रश्नके उत्तरमें मीमांसकने 'अपूर्वकी' कल्पना की है । याग नष्ट हो जाता है फिर भी यागसे एक 'अपूर्व' उत्पन्न होता है, जिससे स्वर्गकी उत्पत्ति होगी ।

कुमारिल ने कहा है कि कर्मके अनुष्ठानसे पहले, पुरुष और याग स्वर्गकार्यको उत्पन्न करनेमें अयोग्य होते हैं । उसी अयोग्यताका निरास करके पुरुष और क्रतुमें योग्यताको उत्पन्न

१. शास्त्रदी० पृ० ८० । २. प्रकरणपं० पृ० ८१ । ३. "न ब्रह्मं गुणवृत्तिस्त्वात्, गुणकर्म-बहिष्कृता । सामान्यादिषु सत्त्वेन सिद्धा भावान्तरं हि सा ॥"—संग्रहश्लोक न्यायली० पृ० २२ । ४. "एवं यागादेरपूर्वस्वर्गादिसाधनशक्तिकल्पनमूहनीयम्" शास्त्रदी० पृ० ८० । ५. "अपूर्व पुनरस्ति अत आत्मनः क्षिप्यते 'स्वर्गकामो यजेतेति' । इतरथा हि विधानमनर्थकं स्यात्, अङ्गित्वात् यागस्य । बलवद्बलुत्पात्त यागो विनश्येत् फलमसति निमित्ते न स्यात् । तस्मादुत्पादयतीति ।" शास्त्र० २.१.५ । "कदाच विहितं कर्म क्षणिकं विरभातिने । तद्विद्विर्नाम्येत्येवमपूर्वं प्रतिगम्यते ॥" तन्त्र० २.१.५ ।

करना यह अनुष्ठानका कार्य है—यह बात समीको स्वीकार करनी होगी क्योंकि यदि ऐसा न हो तो याग करना न करना तुल्य होगा । यही योग्यता 'अपूर्व' शब्दसे कही जाती है<sup>१</sup> ।

'संस्कार, योग्यता, सामर्थ्य, अपूर्व, शक्ति ये एकार्थक हैं फिर भी 'अपूर्व' शब्दका प्रयोग लौकिक कर्म जन्य शक्तिके लिये नहीं होता है सिर्फ वेदबोधित कर्मजन्य शक्तिके लिये ही होता है<sup>२</sup> ।

कुमारिखने एक दूसरा समाधान भी किया है । उनका कहना है कि शक्तिद्वारा फलकी सिद्धि होती है अथवा फल ही सूक्ष्मशक्तिरूपसे उत्पन्न होता है । कोई भी कार्य हो वह इठात् उत्पन्न नहीं होता किन्तु क्रमशः सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मरूपसे स्थूलरूपमें आविर्भूत होता है । दूधसे दधि इठात् नहीं बन जाता किन्तु दधि अपने अनेक सूक्ष्मरूपों का अनुभव करके नियतकालमें स्थूल दधिरूपको धारण करता है । इसी प्रकार यागसे भी अपने सूक्ष्मतम रूपमें—शक्तिरूपमें स्वर्ग उत्पन्न होता है और कालके परिपाकसे वह स्थूलरूपमें आविर्भूत होता है—ऐसा मानना चाहिए<sup>३</sup> ।

भीमासकों ने शक्ति दो प्रकारकी मानी है । एक सामान्य शक्ति और दूसरी विशेष । सभी पदार्थोंमें अर्थाक्रियाका जो सामर्थ्य है वह सामान्य शक्ति है और नियतकार्योंको उत्पन्न करनेवाली शक्तियाँ विशेष शक्तियाँ हैं । अपूर्व भी एक विशेष शक्ति है<sup>४</sup> ।

अपूर्व सक्रिय भी है और निष्क्रिय भी । चलनादि क्रिया अपूर्वमें नहीं अत एव निष्क्रिय है और कर्ताके साथ सम्बन्धमात्रसे वह कर्ताको देशान्तरादिमें ले जाने आदि क्रिया करता है अत एव वह सक्रिय भी है<sup>५</sup> ।

शक्ति कहाँ रहती है—उसका आश्रय क्या है इसका भी उत्तर कुमारिखने दिया है कि शक्ति प्रत्यक्षगम्य तो है नहीं । वह कार्यानुमेय है अत एव जहाँ मानना उपयुक्त हो वहीं मानना चाहिए<sup>६</sup> । स्वर्गका जनक कर्म है अत एव स्वर्गजनकत्वशक्ति कर्मकी है फिर भी उसका आश्रय कर्म ही हो यह आवश्यक नहीं क्योंकि कर्म तो क्षणिक होनेसे अनन्तर क्षणमें नष्ट हो जाता है । अत एव उसका आश्रय कर्म नहीं किन्तु आत्मा ही मानना चाहिए<sup>७</sup> ।

१. "कर्मस्य प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा । योग्यता साऽस्यगम्या या परा साऽपूर्वमिष्यते ॥" तन्त्र० २.१.५ । २. नैयायिकसंमत 'संस्कार' का जो रूप है वह शक्ति नहीं है । तथापि कुमारिखने शक्तिके लिये संस्कारशब्दका प्रयोग किया है—"यदि हि अनाहितसंस्कारा एव यागा नश्येयुः ।" तन्त्र० पृ० ३९६ । ३. तन्त्रवा० पृ० ३९५ । ४. "यागादेव फलं तद्धि शक्तिद्वारेण सिध्यति । सूक्ष्म-ज्ञप्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते"—तन्त्रवा० पृ० ३९५ । कुमारिखने संमत प्रस्तुत बातका समर्थन पहले समथ और भी नैयायिकसंमत विचारधारा उपस्थित होती है । ५. "सर्वत्र शक्तिसामान्योप-लब्धत्वात् तद्विशेषमात्रावाच्य अपूर्वस्य ।" तन्त्र० पृ० ३९७ । ६. "सत्यपि चास्य चलनादिक्रियारहितत्वे कर्तृसम्बन्धमात्रेण तद्देशान्तरप्रापणादिक्रियासम्बन्धाम्युपगमाद्विभक्त्यतानुपालम्भः ।" तन्त्र० पृ० ३९७ । ७. "शक्तिः कार्यानुमेयत्वात् यद्वैतैवोपपद्यते । तद्वैतैवाम्युपेतव्या स्वाध्यायाभ्यापि वा ॥" तन्त्र० पृ० ३९८ । शास्त्रादी० पृ० ८० । ८. "यदि स्वसमवेतैव शक्तिरिष्येत कर्मणाम् । तद्विनाशे ततो न जाय कर्तृणा न च नश्यति ।" बह्वी ।

अग्निआदिको दाहकादि शक्तिका आश्रय मानने पर कोई आपत्ति आती नहीं अत एव उसका आश्रय अग्नि आदिको मानना चाहिए ।

शक्ति कर्मकी है और वह रहती आत्मामें है यह कैसे संभव है ? इस प्रश्नके उत्तरमें कुमा-  
रिल ने कहा है कि क्रिया और आत्माका अत्यन्तमेद नहीं<sup>१</sup> अत एव कर्म की शक्ति आत्मामें रह  
सकती है । शक्ति स्वयं कार्यक्षम हो इतना ही पर्याप्त नहीं है किन्तु आश्रय भी कार्यक्षम होना  
चाहिए । अत एव मष्ट कर्म अशक्त होनेसे आत्मा को ही शक्त—शक्तियुक्त मानना चाहिए ।

अपूर्व अमूर्त है । अमूर्तमें आश्रयाश्रयिभावका कोई विरोध नहीं । आत्मा और सुखादि  
अमूर्त होने पर भी उनमें जैसे आश्रयाश्रयिभाव है वैसे ही अमूर्त शक्ति और आत्मा का भी  
आश्रयाश्रयिभाव घट सकता है—तत्र० पृ० ३९८ ।

मी मां सकों के इस अपूर्वकी तुलना जैन सम्मत भावकर्मसे करना चाहिए । भावकर्म भी  
अतीन्द्रिय और अमूर्त है । द्रव्यकर्मजन्य<sup>२</sup> होने पर भी वह आत्मा का धर्म है । जैसे मी मां सकों  
ने कर्म—क्रिया को आत्मासे अभिन्न माना है वैसे जैनोंने भी द्रव्यकर्मको आत्मासे कथञ्चिदभिन्न  
माना है । मी मां सकों ने अपूर्वको जैसे कर्म जन्य माना है वैसेही भावकर्म को—जैनोंने द्रव्य-  
कर्मजन्य माना है । मी मां सकों ने जैसे अपूर्वको फलजननमें समर्थ माना है वैसे ही जैनोंने  
भावकर्म को विशिष्ट फलजनक माना है ।

प्रभाकरानुगामी शालिकनाथका कहना है कि शक्तिका आश्रय यदि नित्य है तो वह  
नित्य होगी और यदि अनित्य है तो अनित्य होगी । अनित्य शक्तिकी उत्पत्ति आश्रयके कारणों  
से ही होती है ।

जिस वस्तुसे कमी कार्योत्पत्ति न हो वहाँ शक्ति का नाश माना जाता है और वस्तुका भी  
नाश माना जाता है । किन्तु कुछ कालके लिये कार्योत्पत्ति न हो तो शक्तिका अभिभव मानना  
चाहिए, नाश नहीं । जैसे मणिमन्नादि से दाहक शक्तिका कुछ कालके लिये अभिभव होता है  
नाश नहीं<sup>३</sup> ।

शाङ्गदीपिकाकारके मतसे मन्नादिसे शक्तिका अभिभव नहीं किन्तु नाश होता है ।

मी मां सकों के मतसे वस्तुके साथ शक्तिका मेदामेद है—तत्त्वसं० का० १६१४ ।

नैयायिक संमत संस्कार और उक्त शक्तिका मेद यह है कि नित्याश्रय संस्कार अनित्य है  
तब नित्याश्रया शक्ति नित्य है । अनित्याश्रय संस्कार आश्रयातिरिक्त कारण जन्य है तब शक्ति  
आश्रयकारणातिरिक्त कारण जन्य नहीं<sup>४</sup>—ऐसा शालिकनाथका मन्तव्य है । किन्तु ऐसा  
मानने पर शक्ति और तदाश्रयकी मेदरेखा नहिं बत हो जाती है ।

सुखादिसे शक्तिके मेदको स्पष्ट करनेवाला निम्न लिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

“सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम् ।

शक्तिः क्रियानुमेया स्याद् यूनः कान्तासमागमे ॥”<sup>५</sup>

१. “क्रियात्मनोरत्यन्तमेदभावत्वात्” सही । २. जैन मतानुसार भावकर्म द्रव्यकर्मका जनक भी है ।  
३. नित्य आत्माकी स्वातन्त्र्य नित्य होगी किन्तु कर्मजन्य अपूर्व शक्ति यद्यपि आत्माभित्त है फिर भी  
अनित्य ही है यह अपवाद है । ४. प्रकरणपं० पृ० ८२ । ५. प्रकरणपं० पृ० ८२ । “न हि  
स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते”—श्लोक० सूत्र० २.४७ । ६. अष्टसं० पृ० ७८, सम्मति०  
टी० पृ० ४७८, स्याद्वावर० पृ० १७८ इत्यादिमें उद्धृत ।



जै नों ने नी नी मां स कों की तरह अतीन्द्रिय शक्ति का समर्थन किया है । और नैयायिक के मतका खण्डन किया है<sup>१</sup> ।

‘जै नों के मतसे शक्तिकी कल्पना क्यों आवश्यक है इसे ठीक समझनेके लिये जैन संमत वस्तुस्वरूपको समझना होगा । जै नों के मतसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त वस्तु ही सत् है । ध्रौव्यांशको द्रव्य कहा जाता है । उत्पाद और व्यय—ये पर्याय हैं । वस्तुमें उत्पादशील और विनष्टर अनन्त पर्याय हैं । वे सभी पर्याय अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्यायके अन्तर्गत हैं । वस्तुके अतीन्द्रिय पर्यायोंको अर्थपर्याय कहा जाता है और स्थूल पर्यायोंको व्यञ्जन पर्याय कहा जाता है<sup>२</sup> । अर्थपर्याय ही शक्तिके नामसे व्यवहृत होते हैं । क्योंकि इन पर्यायोंके कारण ही अर्थ नाना कारणोंके उत्पादनमें समर्थ समझा जाता है । शक्तिमत्—वस्तु अपने व्यञ्जन पर्याय—स्थूलरूपमें ही हमारी इन्द्रियोंका विषय बनती है किन्तु जो उसका सूक्ष्मस्वरूप है—अर्थात् अनन्तसामर्थ्य रूप जो उसका स्वरूप है उस रूपसे वह हमारे प्रत्यक्षका विषय नहीं अत एव शक्तिको अतीन्द्रिय कहा जाता है ।

यदि इन अर्थपर्यायोंको—शक्तिओंको अनेक माना न जाय तो एक ही वस्तुको अनेक कारणोंमें समर्थ माना नहीं जा सकता<sup>३</sup> । व्यञ्जनपर्याय ही अर्थपर्याय नहीं हो सकते क्योंकि उनका स्वरूप तो प्रत्यक्ष है किन्तु अर्थपर्यायका बोध तो किसी कार्यको देखकर ही अनुमानसे होता है—स्याद्वादर० पृ० ३०३ ।

वस्तुके साथ पर्यायोंका मेदामेद होने से जैनोंके मतसे शक्तिका पदार्थसे मेदामेद समझना चाहिए—स्याद्वादर० पृ० ३०३ ।

शक्ति द्रव्यरूपसे निष्क और पर्यायरूपसे अनिष्क है—वही० पृ० ३०४ । शक्तिका कारण पदार्थस्वरूप ही है ।

सांख्य सत्कार्यवादी हैं । अत एव वे कारण को ही शक्तितत्त्व मानते हैं । कार्यकी अव्यक्तावस्था का ही दूसरा नाम शक्ति है<sup>४</sup> । तैलके लिये उपादान तिल है अर्थात् तैलके लिये तिल शक्त है और दूसरा पदार्थ अशक्त है इसका मतलब यही है कि तिलमें ही तैल अव्यक्तावस्थामें है । वस्तुतः तिल और शक्तिका मेद नहीं । शक्ति कारणात्मक है ।

इस विषयमें वेदान्त और सांख्य में कोई मेद नहीं । व्यवहारमें जहाँ किसी कारणको किसी कार्यमें शक्त माना जाता है वहाँ शंकराचार्यने शक्तिको कारणात्मक ही बताया है<sup>५</sup> ।

१. तत्त्वार्थश्री० पृ० ५९-६० । सन्मति० टी० पृ० २५४ । न्यायकु० पृ० १५८ । स्याद्वादर० पृ० २८७ । २. “अर्थव्यञ्जनपर्यायैः शक्तिव्यक्तिरूपैरनन्तरुगतोऽर्थः”—सन्मति० टी० पृ० ४३१ । ३. “यथैव हि सहकारफलादौ रूपादिज्ञानानि रूपादिस्वभावमेदनिबन्धनानि तथैकस्यादपि प्रदीपादेर्भावात् बर्तिकादाहृतैलशोषादिविविन्नकार्याणि तावच्छक्तिमेदनिमित्तकानि व्यवतिष्ठन्ते नान्यथा रूपादेर्भावान्त्वं न स्यात् ।”—स्याद्वादर० पृ० ३०५ । अष्टसं० पृ० १८३ । ४. “शक्तिश्च कारणगता न कार्यस्याव्यक्तावाद्या । न हि सत्कार्यपक्षे कार्यस्याव्यक्तताया नान्यस्यां शक्तौ प्रमाणमस्ति । अपमेव हि सिक्तताभ्यस्तिकानां तैलोपादानानां मेदो यदेतेष्वेव तैलमनागतावस्थं न सिक्ततास्ति ।”—सांख्यतत्० का० १५ । ५. “शक्तिश्च कारणस्य कार्यनियमार्थो कल्प्यमाना नान्धा ताप्यसती तस्यात् कारणस्यात्म-भूता शक्तिः”—शां० ब्रह्म० २.१.१८ ।

धर्म की रीति ने भी शक्ति पृथक् न होनेसे पदार्थको ही नानैककार्यकारि माना है । अर्थात् पदार्थ ही शक्त है—शक्ति है तद्व्यतिरिक्त कोई सामर्थ्य उसमें नहीं—प्रमाणवा० २.५३५ । धर्मकी रीतिके मतसे सत्त्व ही अर्थक्रियाकारित्व है, वही शक्ति है और वही पदार्थ है । शान्तरक्षित ने इसी बातका स्पष्टरूपसे समर्थन किया है—

“तत्र शक्तातिरेकेण न शक्तिर्नाम काचन ।

याऽर्थोपत्त्यावगम्येत शक्तश्चाप्यक्ष एव हि ॥

अर्थक्रियासमर्थं हि स्वरूपं शक्तिरक्षणम् ।

एवमात्मा च भावोऽयं प्रत्यक्षाद्व्यवसीयते ॥” तत्त्वसं० १६०७, १६१० ।

३—शक्तिग्राहक प्रमाण ।

भीमासक के मतसे यह एकान्त है कि शक्ति अतीन्द्रिय होनेसे प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय हो नहीं सकती । वह अर्थापत्तिसे गम्य है—श्लोक० शून्य० २५४ ।

नैयायिक के मतसे शक्ति जातिरूप या गुणरूप होनेसे प्रत्यक्ष प्रमाणका भी विषय है—न्यायमं० पृ० ६५ ।

बौद्ध के मतसे शक्ति पदार्थका स्वभाव होनेसे अप्रत्यक्ष नहीं । पदार्थका जहाँ प्रत्यक्ष है वहाँ वह प्रत्यक्ष ही है । यही मत सांख्य और वेदान्त को भी मान्य हो सकता है—तत्त्वसं० १६०७ ।

जैनों का इस विषयमें एकान्त नहीं । शक्तिका द्रव्यरूपसे प्रत्यक्ष और पर्यायरूपसे अप्रत्यक्ष माना गया है । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ६० ।

पृ० २७. पं० १५. ‘शक्ति’ विविधरीतिसे शक्तिका विचार जाननेके लिये देखो—तत्रवा० पृ० ३९०—४०० । श्लोकवा० शून्य० २४८—२५७; अर्थो० १—६; ४७—४८; सम्बन्धा० २५—२९; ३७, ३८; ८९—९७; शब्दनि० ४३—४५; वाक्या० ६० से । तत्त्वसं० पृ० ४५७ । प्रकरणपं० पृ० ८१ । शास्त्रदी० पृ० ८० । व्यो० १९३ । न्यायमं० पृ० ३४—३९१ ६५ । तात्पर्य० पृ० ३७, १०३ । अष्टसं० पृ० १८३ । सन्मति० टी० पृ० ९, २५४ । न्यायकु० १५८—१६४ । प्रमेयक० पृ० १९५—२०२ । स्याद्वादर० पृ० २८६—३०६ ।

पृ० २८. पं० १२. ‘प्रतिपादयिष्यते’ देखो, का० ३४ । क्षणिकत्वनिराकरणके लिये देखो, का० ३५ § २० । का० ५६ § २१ ।

पृ० २८. पं० २१. ‘वेदेश्वरादयः’ वेद, ईश्वर आदि नित्यप्रमाणोंको शान्ताचार्य ने बाधाका संभव होनेसे अप्रमाण कहा है किन्तु धर्म की रीति ने वेदादिका प्रामाण्य विलक्षण ढंगसे खण्डित किया है । उनका कहना है कि जेय ही जब अनित्य है तब तज्जन्य ज्ञान भी अनित्य ही होगा । अत एव नित्य वेदादि प्रमाण नहीं हो सकते—

“नित्यं प्रमाणं नैवास्ति प्रामाण्यात् वस्तुसंगतेः । ज्ञेयानित्यतया तस्याभौव्यात् ॥” प्रमाणवा० १.१० ।

पृ० २८. पं० २३. ‘वेदाश्च’ तुलना—प्रमाणवा० अ० पृ० ४० ।

पृ० २८. पं० २७ ‘तत्त्वम्’—“जीवाजीवास्तवबन्धसंवरनिर्जयमोक्षास्तत्त्वम्” तत्त्वार्थ० १.४ ।

पृ० २८. पं० २९. ‘दर्शयिष्यते’ देखो, का० ११, १२ ।

पृ० २९. पं० ४. 'यद्येन' तुलना - सन्मति० टी० पृ० ३९ पं० ३५ ।

पृ० २९. पं० ३. 'अपौरुषेयत्वम्' मीमांसकों ने वेद को अपौरुषेय माना है । धर्म की ति ने अपने प्रमाणवार्तिक (३.२३९-३३९) और उसकी खोपज्ञवृत्ति में वेद की अपौरुषेयता एवं नित्यताका विस्तारसे खण्डन किया है । दूसरे दार्शनिकोंने प्रायः धर्म की ति की युक्तियोंका ही संकलन करके वेदकी पौरुषेयता सिद्ध की है । प्रस्तुतमें शान्त्याचार्य ने वैसा ही किया है ।

पृ० २९. पं० ४. 'यद्येन' तुलना - "यज्जातीयो यतः सिद्धः सोऽविशिष्टोऽभिकाष्ठवत् ।" प्रमाणवा० ३.२४२ । "अपि च 'यज्जातीयः' यद्रव्यसमानसजातीयः । 'यतो' हेतोः, 'सिद्धः' अन्वयव्यतिरेकाभ्यां । 'सः' तज्जातीयत्वेन 'अविशिष्टः' अन्योऽप्यदृष्टहेतुरपि तस्माद्हेतोर्न भवतीत्येवं संप्रतीयते । किमिव ? 'अभिकाष्ठवत्' । यद्येननादेको यद्विद्वद्, तत्समानस्वभावोऽपरोऽपि तत्समानहेतुरेवादृष्टहेतुरपि संप्रतीयते । अनेन वेदस्यापौरुषेयत्वसाधने प्रतिज्ञाया अनुमानबाधामाह ।.....लौकिकेन शब्देन समानधर्मो वैदिकोऽपि शब्दो लौकिकवत् पुरुषहेतुकः स्यात् न वा कश्चिदपि ।.....अयं हि कार्यस्य धर्मो यत् कारणनिवृत्तौ निवृत्तिः । यदा तु निवृत्तेऽपि पुरुषे वैदिकेषु शब्देषु पौरुषेयं रूपं स्यात् तदा तेन कार्यधर्मो व्यतिवृत्तः स्यात् । 'ततः' कार्यधर्मव्यतिक्रमात् ततः पुरुषात् न किञ्चिद्वाक्यं स्यादिति न कश्चिच्छब्दो लौकिकः 'तथेति' पौरुषेयत्वेन वचनीयः स्यात् । रूपविशेषो वा पौरुषेयाणां वैदिकाद् भिन्नो दर्शनीयो यो रूपविशेष एनं पुरुषाक्यं हेतुमनुविदध्यात् । 'येन' विशेषेण, 'दृष्टस्य' अपौरुषेयत्वेन वेदस्य । 'अनिष्टस्य' वा लौकिकस्य दृष्टविपर्ययो न स्यात् । यथाक्रमं पौरुषेयत्वमपौरुषेयत्वम्वा स्यात् । न च लौकिकवैदिकानां कश्चित् स्वभावभेदोऽस्तीत्युक्तम् ।"- कर्ण० ३.२४२ ।

सन्मतिटीका (पृ० ३९. पं० ३५.) में विस्तारसे लौकिक-वैदिकवाक्योंके अविशेषकी सिद्धि की गई है ।

पृ० २९. पं० ७. 'विशेषः' तुलना - कर्ण० ३.२४२ ।

पृ० २९. पं० ८. 'दुर्मणत्वादिः' तुलना - "दुर्मणत्वानुदासत्त्वह्रिष्टत्वाश्रयतादयः । वैदधर्मा हि दृश्यन्ते नास्तिकादिवचस्त्वपि" तत्त्वसं० का० २७८८ । अष्टसं० पृ० २३७ ।

कुमारिलने तन्नावार्तिकमें लौकिककाव्य आदिसे वेदकी विलक्षणता सिद्ध करते हुए कहा है कि - "प्रपाठकषतुःषष्टिनियतस्वरकैः पदैः । लोकेष्वप्यश्रुतप्रार्थैर्गन्धेदं कः करिष्यति ॥ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रक्तधातममित्येतद्वचः कथम् ॥ किमा-लोच्य क वा दृष्ट्वा वाक्प्रतिच्छन्दमीदृशम् । रचयेत् पुरुषो वाक्यं किं चोद्दिश्य प्रयोजनम् ॥ अग्नेः पुरोहितत्वं च क दृष्टं येन कीर्त्यते । ईलेशब्दप्रयोगश्च क दृष्टस्तोत्र-गोचरः ॥.....स्वतन्त्रो वेद पवैतत् केचलो वक्तुमर्हति । इषे त्वेत्ययमप्यर्थः पुरुषेणो-च्यतां कथम् ॥" इत्यादि । तन्त्रवा० पृ० २३७-३८ ।

प्रभाचन्द्राचार्य ने खण्डन किया है कि दुर्मणत्वादि विशेषता अपौरुषेयताके कारण नहीं किन्तु विज्ञान और करण की पटुताके कारण किसी भी पुरुषके वचनमें हो सकती है । न्यायकु० पृ० ७३० । स्याद्वादर० पृ० ६३२ ।

१. शाबरभा० १.१. अधि० ५, ८ और उसकी टीकाएँ - श्लोकवार्तिक, बृहती आदि । तथा प्रकरणपं० पृ० ९७, १३३ । २. तत्त्वसं० का० २०८५-२८१० । न्यायसं० पृ० २१३ । शास्त्रवा० ६०२-६२६ । तत्त्वो० पृ० ११६ । अष्टसं० का० ७८ । अष्टसं० का० ७८ । तत्त्वार्थ-श्लो० पृ० २३८ । सन्मति० टी० पृ० २९ । न्यायकु० पृ० ७२१ । प्रमेयक० पृ० ३९१ ।

पृ० २९. पं० ९. 'शाबरेणु'—“तथा शाबराणां च केषांचित् स्वनियमस्थानामद्यापि विषाद्यपनयनशक्तियुक्तस्य कारणात् शकुन्धन्येव पुरुषा मन्त्रान् कर्तुम् ।” कर्ण० ३.२४८ ।

पृ० २९. पं० १०. 'मन्त्रत्वम्' तुलना—“अपि च न मन्त्रो नामान्यदेव किञ्चित् । किं तर्हि ? सत्येत्यादि । यथाभूतावधानं सत्यम् । इन्द्रियमनसोर्वमनं तपः । तयोः प्रभाषो विषस्तम्भनादिसामर्थ्यम् । स विद्यते येषां पुंसां ते तथा, तेषां सत्यतपःप्रभाववतां पुंसां समीहितार्थस्य साधनम्, तदेव मन्त्रः ।”-कर्ण० ३.२४८ ।

पृ० २९. पं० २५. 'अवैदिकानाम्' तुलना—“अवैदिकानां च वेदादन्येषां बौद्धादीनामिति । आदिशब्दात् आर्हत-गारुड-माहेश्वरादीनां मन्त्रकल्पानाम् । मन्त्राणां मन्त्रकल्पानां च दर्शनात् । विद्याक्षराणि मन्त्राः । तत्साधनविधानोपदेशाः मन्त्रकल्पाः । तेषां च बौद्धादीनां मन्त्रकल्पानां 'पुरुषकृतेः' पुरुषैः करणात् ।”-वही ।

पृ० २९. पं० २५. 'तत्रापि' तुलना—“तत्रापि बौद्धादिमन्त्रकल्पेऽपि अपौरुषेयत्वे कल्प्यमाने, कथमिदानीमपौरुषेयं वाक्यं सर्वमवितथं स्यात् । किन्तु सिद्ध्यर्थमपि स्यात् । तथाहीत्यादिना एतदेव बोधयति । बौद्धमन्त्रकल्पे हिंसामैथुनात्मदर्शनादयः, आदिशब्दाद्भूतवचनद्वयं अनभ्युदयहेतवो दुःकहेतवो वर्ण्यन्ते । इतरस्मिन्स्वबौद्धमन्त्रकल्पे त एव हिंसादयोऽन्यथा आभ्युदयहेतवो वर्ण्यन्ते । यदि च सर्वे मन्त्रकल्पाः अपौरुषेयाः स्युस्तदा किं हि विद्वद्भिरभिधापि वाक्प्रयत्नमेकत्रापौरुषेये कथं सत्यं स्यात् ।” कर्ण० ३.२४४ ।

पृ० २९. पं० २८. 'जैनानाममन्त्रत्वे' तुलना—“बौद्धादीनां मन्त्रत्वमेव नास्तीति चेदाह—बौद्धादीनाममन्त्रत्वे इति । तदन्यत्रापि तस्माद् बौद्धादिमन्त्रादन्यत्रापि वैदिके मन्त्रे मन्त्रत्वप्रतिपादनाय कोशपानं करणीयम् । न हि काचिद् व्यक्तित्वकिरस्तीत्यभिप्रायः । इष्टविरुद्धं चेत्तत् 'बौद्धादयो न मन्त्राः' इति । तथाहि विषादिकर्मकृतो विषकर्मादीन् कुर्वन्तो बौद्धा अपि मन्त्रा इत्यन्ते । तेन तत्र बौद्धादिषु मन्त्रकल्पेषु अमन्त्रत्वमपि विप्रतिषिद्धम् । विषकर्मादिकरणद्वारेण वैदिकानामपि मन्त्रत्वव्यवस्थापनात् । न च विप्रस्तम्भनादिसामर्थ्ययोगात् वेदवाक्यं लौकिकवाक्यादतिशयबदित्वेनापौरुषेयं युक्तम् ।” कर्ण० ३.२४४ ।

पृ० ३०. पं० १. 'मुद्रामण्डल' तुलना—“पाण्यकुलसन्निवेशो मुद्रा । मण्डलं देवता-विरचनाविशेषः । ध्यानं देवतादिकपश्चिन्तनम् । तैत्तिरीयशब्दस्वभावैः स्वकर्माणि विषाद्य-पनयनादिलक्षणानि क्रियन्ते । न च तानि मुद्रामण्डलध्यानानि अपौरुषेयाणि युज्यन्ते ।” वही ।

पृ० ३०. पं० ३. 'अथ यदि' तुलना—“यदि बोद्धेतरो मन्त्रकल्पौ द्वावपि पौरुषेयो तौ च सत्यप्रभवौ अवितथामिधापिपुरुषानुत्पन्नौ । तत् कथमिदानीं तावत् सत्यप्रभवौ मन्त्रकल्पो बोद्धेतरो परस्परविरुद्धौ युज्येते । एकत्र हिंसादीनामनभ्युदयहेतुत्वेन देश-नादन्यत्राभ्युदयहेतुत्वेन । नैत्यादिना परिहरति । न वै सर्वत्र तौ मन्त्रकल्पो सत्यप्रभवौ ज्ञेयाय विरोधः किन्तु प्रभावयुक्तपुरुषप्रतिज्ञालक्षणावपि तौ मन्त्रकल्पो स्तः । प्रभाववता पुरुषेण 'इमां वर्ण्यवर्णनामभ्यस्यति तान्निधिं चानुतिष्ठति तस्याहं यथाप्रतिज्ञातं अर्थं संपादयिष्यामि' इति या प्रतिज्ञा तल्लक्षणावपि मन्त्रकल्पा भवतः । ततोऽन्यथा बाधपि प्रभावयुक्तौ मन्त्रकल्पो कुर्यादेवेत्यविरोधः ।” वही ।

पृ० ३०. पं० ६. 'अथ वेदेतरयोः' तुलना—“ननु सामान्यतो दृष्टं पौरुषं वचनं वितथमुपलभ्य वचनसाम्यादिदमपि, वितथमवगम्यते । न, अन्यत्वात् । न हि अन्यत्वात्  
म्मा० २५

नित्यकथने प्रत्यक्षं चैतज्जं भवितुमर्हति, अन्वत्वादेव । न हि देवदत्तस्य इयामत्वे यज्ञ-  
दत्तस्यापि इयामत्वं भवितुमर्हति” स्मार्क० १.२ । “ननु वेदावेदयोस्तत्त्वान्यत्वकक्षणो  
विशेषोऽस्त्येव ।.....सत्यमित्याचार्यः । नन्वीदृशो विशेषस्तयोः पारुष्येयत्वापौरुषेय-  
त्वसाधको यस्मात् केवलमनयोरेव लौकिकवैदिकयोर्विशेषः । किमर्हति । द्विष्टकपुराणे-  
तरयोरपि । द्विष्टकैः नञ्नाचार्यैः कृतस्य पुराणस्य इतरस्य च पुराणस्य ईदृशो विशेषोऽस्ति ।  
न च तावता स्वयं व्यवहारार्थं स्वप्रक्रियामेव दीपनः समयपरिकल्पितो नाममेदः संज्ञामेदः  
पुरुषकृतिं बाधते वेदस्य । किं कारणं । अन्यत्रापि पुराणेऽपौरुषेयत्वप्रसंगात् । द्विष्ट-  
केतरपुराणानां नाममेदस्य विद्यमानत्वात् । यदि तु या वेदवाक्ये वर्णपदरचना दृश्यते  
तादृशीं रचनां पुरुषाः कर्तुं न शक्नुयुः, कृतां वा निष्पादितां वा वर्णपदरचनां अकृतसंकेतः  
अवगमनात् विवेचयेद् इयं पुरुषपूर्विकेति तदा व्यक्तमपौरुषेयो वेदः स्यात् ।”  
वर्ण० ३.२४३ ।

५० ३० पं० ७. ‘नाम मेदः’ अशुद्ध है ‘नाममेदः’ ऐसा शुद्ध करना चाहिए ।

५० ३०. पं० १८. ‘दोषाणां पुरुषाभयत्वात्’ -

“शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्तव्यं हीन इति स्थितम् ।

तदभावः क्वचित्साधद् गुणवद्भक्तत्वंतः ॥

तदुपैरपकृष्टानां शब्दे संक्राम्यसंभवात् ।

यथा वक्त्रभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः ॥” श्लोकवा० चोद० ३२-३३ ।

इन श्लोकोंमें कुमारिक ने यही समर्पण किया है कि वेदका प्रामाण्य उसकी अपौरुषेयताके  
कारण ही है । यदि पुरुष वक्ता हो तब वाक्यमें दोषकी आशंका हो सकती है किन्तु यदि  
कोई वक्ता ही नहीं तब दोषकी आशंका भी कैसे ? अतएव वेद सतः प्रमाणसिद्ध है ।

इसके उत्तरमें धर्मकीर्ति ने कहा है कि -

“नापौरुषेयमित्येव यथार्थज्ञानसाधनम् ।

वद्वोऽन्यथापि वक्ष्यादिरुद्धः पुरुषागता ॥” प्रमाणवा० ३.२८३ ।

अर्थात् अपौरुषेयताके कारण ही वेद यथार्थज्ञानका साधन नहीं हो सकता । सर्वत्र पुरुष-  
दोषके कारण ही ज्ञापक साधन अवधार्य ज्ञानका हेतु हो जाता है वह बात नहीं । क्योंकि  
पुरुषदोष न भी हो तब भी ज्ञापक प्रदीप का ऐसा स्वभाव ही है कि रात्रिमें नीलकमलमें वह  
पीतप्रतिभासका जनक होता है । ज्योत्स्नाका भी यह स्वभाव है कि पीतवस्त्रमें भी वह  
शुक्लज्ञानका हेतु होती है । इसी प्रकार ज्ञापक वैदिक शब्दोंके विषयमें भी संका हो सकती है  
कि उनका स्वभाव ही ऐसा है कि वे जितपज्ञानके जनक हैं । इसी बातको अत्यन्त स्पष्ट करके  
धर्मकीर्ति ने अपनी कोपब्रह्मणिमें कहा है । शान्त्याचार्य भी प्रस्तुतमें उन्हींका अनुसरण  
करते हैं -

“भवन्तु नामापौरुषेया वैदिकाः शब्दाः । तथापि संभाव्यमेवैवामयथार्थज्ञानहेतुत्वम् ।  
न हि पुरुषदोषोपधामादेवार्थेषु ज्ञानविभ्रमः । तद्वहितानामपि प्रदीपादीनां नीलोत्पलादिषु  
वितथज्ञानजननात् । तदिमे शब्दाः संस्कारनिरपेक्षाः प्रकृत्या चार्थेषु प्रतिमानहेतवः स्युः  
स्वभावविशेषाद् वक्ष्यादिवत्, वितथव्यक्त्यश्च नियमेन । नियमकारणामावाद्युक्तमिति  
चेद् । न वितथव्यक्तिनियमे किं कारणम् । तस्माद् यथार्थव्यक्तिनियमवद् प्रकृत्या अथार्थ-  
व्यक्तिनियमः किञ्च कल्प्यते । अथवा वक्ष्यादिवदेवार्थेषु भयज्ञानत्वहेतुत्वं स्यात् । न ज्ञापौरुषेया  
अपि वक्ष्यादयः प्रकृत्य अथार्थज्ञानहेतवोऽपि सर्वत्र तथा भवन्ति । तथा शब्दानामपि

अपौदवेयतापीडा कर्तृणामस्मृतेः किल ।  
प्रमाणवा० ख० ३.२८४ । सम्मति० टी० पृ० ११. पं० ९ ।  
पृ० १९. पं० ३४ ।

पृ० ३०. पं० २३. 'प्रत्यक्षेण' तुलना - सम्मति० टी० पृ० ३१. पं० ९ । न्यायकु०  
पृ० ७२० ।

पृ० ३१. पं० २. 'कर्तृरस्मरणं' - शबरस्वामि ने अपने भाष्यमें कर्ताका अस्मरण होनेसे वेदापौरुषेयत्वका समर्थन किया है - १.१.५ । उन्हींका अनुकरण बादके मीमांसकों ने किया है ।

धर्म की रीति ने इस हेतुका खण्डन निम्नशब्दोंमें किया है -

"अपौदवेयतापीडा कर्तृणामस्मृतेः किल ।

सम्यस्याप्यनुवक्तार इति चिन्त्यापकं तमः ॥"

प्रमाणवा० ३.२३९, ४० ।

"यस्यादिदं साधनं अस्तिद्धमनैकान्तिकं च । तत्रास्तिद्धमधिकृत्याह - तथाहीति ।  
स्मरन्ति लौगता वेदस्य कर्तृन् अहंकादीन् । आदिशब्दात् वामकवामदेयविश्वामित्र-  
प्रभृतीन् । हिरण्यगर्भे ब्रह्माणं वेदस्य कर्तारं स्मरन्ति काण्वादा वैशेषिकाः ।" कर्ण० ।

"अनैकान्तिकत्वमप्याह - इदमन्ते चेत्यादि । उपदेशपारम्पर्यं सम्प्रदायः । विच्छिन्न-  
विशेषाद्यप्रदायः पुनश्चकृतत्वसंप्रदायो येषां वटे वटे वैभवणादिशब्दानां ते तथा । अनेका-  
सर्वनामकर्तृत्वमाह कृतकाश्च पौरुषेयाश्च । ततः पौरुषेयेऽपि वाक्ये कर्तृरस्मरणं वर्तते  
इत्यनैकान्तिकीऽयं हेतुः ।" कर्ण० ।

पृ० ३१. पं० ५. 'अहंकादीन्' शीर्षे नि का व के से वि अ ह्नु च (भाग १. पृ० २३५) में  
वैदिक मन्त्रोंके कर्ताओंके जो नाम दिये हुए हैं वे ये हैं - अहंका, वामका, वामदेव, वेत्सामिन्,  
यमतमि, अगिरस, भारद्वाज, वासेह, वात्सप और मृगु । इन्हीं ऋषिओंको बुद्धकाळीन  
शास्त्रोंके पूर्वजस्वरूपसे कहा है ।

इन ऋषिओंमेंसे वामदेव ऋग्वेदकी चौथे मण्डलके कर्ता माने जाते हैं और भारद्वाज  
तथा वसिष्ठ क्रमशः छठे और सातवें मण्डलके । अहंका (अहंका) ऋषिका उल्लेख ऐतरेय  
ब्राह्मण (७.१७) में तथा सांख्यकायन श्रौतसूत्र (१५.२६) में विश्वामित्रके पुत्रस्वरूपसे  
आता है । वामका और मृगु ऋषिका उल्लेख शतपथब्राह्मण (१०.६.५.९; ७.२.१.११)  
में मिलता है । यमतमि (अमरमि) वसिष्ठ ऋषिके विशेषस्वरूपसे ब्राह्मण ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध  
ही है । अगिरसका उल्लेख सेवि के वंशहिता में (६.१.७.३; ७.१.९.१) मिलता है ।

वाक्यके ऋषि ब्राह्मण और श्रौतसूत्रकाळमें अनन्त प्रसिद्ध रहे हैं - Early monastic  
Buddhism p. 26 । सम्मति० टी० पृ० ७०. पं० ३३ ।

पृ० ३१. पं० ५. 'काण्वादाः' - "प्रजापतिर्वा इवमेक आसीत् भारद्वासीश्च शमिदासीत्,  
सं तथोऽतश्चत । तस्मात्तपसश्चात्वारो वेदा अजायन्त इत्याकादेनैव कर्तृस्मरणम्"  
कन्दकी० पृ० २१६ ।

पृ० ३१. पं० ६. 'अथ छिन्नमूलं' तुलना - सम्मति० टी० पृ० ७०. पं० ३३ ।  
पृ० ७२. पं० १५ । न्यायकु० पृ० ७२२, ७२९ ।

पृ० ३१. पं० १३. 'अथ आगमान्तरे' तुलना—सन्मति० टी० पृ० ४२. पं० ३३ ।  
 पृ० ३१. पं० १८. 'यदेदाध्ययनम्' इस अनुमानको शबर स्वामिने मूलसूत्र  
 (१.१.३०) में से फलित किया है । कुमारिलने इसे स्पष्ट शब्दोंमें इस प्रकार रखा है—

“वेदाध्ययनं सर्वं शुद्धाध्ययनपूर्वकम् ।  
 वेदाध्ययनवाच्यत्वाद्बुद्ध्याध्ययनं यथा ॥”

श्लोकवा० वाक्या० ३६६ ।

देखो सन्मति० पृ० ४० । न्यायकु० पृ० ७२२ ।

पृ० ३१. पं० २८. 'एकत्वे' तुलना—“एकत्वे कृतको न स्याद् भिन्नभेदेऽपि भेदेऽपि न भेदेत् ।”  
 श्लोकवा० संवन्वा० १४ ।

पृ० ३२. पं० ८. 'एकार्थानाम्' संतूर्ण पक्ष इस प्रकार है—

“एकार्थानां विकल्पभेदेतरात्यन्तबाधनात् ।  
 समुच्चयोऽपि नैतेषां व्यवहारेऽवगम्यते ॥”

इस पक्षकी टीका इस प्रकार है—

“शङ्कते—एकार्थानामिति । एकशब्दविधया अपि सम्बन्धा विकल्पान्त इति । निराकरोति  
 चेति । यत्र श्लोकस्य शब्दस्य निकैरातैरनातेष्वनामार्थसम्बन्धः कथ्यते यथा पीतशब्दस्यार्थ-  
 ईससम्बन्धो म्लेच्छैश्च इति सम्बन्धः । तत्र म्लेच्छश्लोकस्यात्यन्तबाधः क्रियते । विकल्पे हि  
 पक्षो वा इत्थी वाऽभिधेय इति गम्येतेति । नापि समुच्चय इत्याह—समुच्चय इति ।  
 समुच्चयेऽप्युभावर्थाविति गम्येत । न वैवमस्ति इति ।” न्यायर० पृ० ६४३ ।

पृ० ३२. पं० २३. 'नित्यत्व' तुलना—“प्रयोजनान्तरा इति नित्येऽपि न विहायते”  
 श्लोकवा० शब्द० १९ । “आकाशमपि नित्यं सद्यदा भूमिजलावृतम् ॥ ३० ॥ व्यज्यते तद्-  
 पोहेन जननोत्पत्तिमादिभिः । प्रयोजनान्तरं ज्ञानं तदा तत्रापि दृश्यते ॥ ३१ ॥ वही ।

पृ० ३३. पं० ८. 'शब्दसंस्कार' तुलना—“सा हि स्वाच्छब्दसंस्कारादिभिर्बन्धो-  
 भयस्य वा ।” वही ॥ ५२ ॥ सन्मति० टी० पृ० ३४ ।

पृ० ३३. पं० ९. 'भोत्रं' तुलना—“सकृच्च संस्कृतं भोत्रं सर्वशब्दाद् प्रबोधयेत् ।  
 घटायोग्मीकृतं चक्षुः पटं न हि न बुध्यते ।” श्लोकवा० शब्द० ६०, ६१ । सन्मति० टी०  
 पृ० ३६ ।

पृ० ३३. पं० १२. 'शब्दस्य' तुलना—“तत्र सर्वैः प्रतीयेत शब्दः संस्क्रियते यदि ॥  
 निर्माणस्य निर्माणं स्याद् एकदेशे हि संस्क्रिया ।”-श्लोकवा० शब्द० ५२, ५३ ।

पृ० ३३. पं० १५. 'आकाशम्' तुलना—“आकाशभोजपक्षे च विमुक्त्वात् प्राति-  
 तुष्यता ॥ घटभावेऽपि शब्दानामिति ज्ञानं प्रसज्यते । भोत्रस्य चैवमेकत्वं सर्वप्राप्त्युत्ता-  
 भवेत् ॥ तेनैकश्रुतिषेलायां शृणुयुः सर्वं एव ते ॥” वही ५६-५८ ॥

पृ० ३३. पं० १६. 'अथास्माकं' तुलना—“तेनाकाशैकदेशो वा यद्वा वस्तुवन्तरं  
 भवेत् ॥ कार्यार्थोपनिगम्यं नः भोत्रं प्रतिनरं स्थिरम् ।” वही ६७, ६८ ।

पृ० ३३. पं० २२. 'उभयसंस्कारो' तुलना—“प्रत्येकामिदिता दोषाः स्फुटं कोऽपि  
 संस्कृतौ ।” वही ६९ ।

पृ० ३४. पं० ७. 'तेन' इस शब्दसे लेकर 'का प्रमा' तकका भाग प्रमाणवार्तिक की कारिका है जिसे इस तरह पढ़ना चाहिए—

“तेनाग्निद्वेजं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ ।

कावेष्कुमांसमित्येष नार्थ इत्यत्र का प्रमा ॥” [ प्रमाणत्वा० ३.३१८ ]

हरिभद्र सूरिने इसे शास्त्रवार्तासमुच्चयमें ( का० ६०५ ) उद्धृत किया है ।

इस विषयमें प्रमाणवार्तिक की निम्नलिखित कारिकाएँ अवगाहनके योग्य हैं—

“अर्थोऽयं नाथमर्थो न इति शब्दा वदन्ति न ।

कस्योऽयमर्थः पुरुषैस्ते च रागादिसंयुताः ॥

स एकस्तरवविज्ञान्य इति मेदश्च किं कृतः ।

तद्वत् पुंस्त्वे कथमपि ज्ञानी कश्चित् कथं न वः ॥

प्रमाणमविसंवादि वचनं सोऽर्थविद्यदि ।

न ज्ञात्यन्तपरोक्षेषु प्रमाणस्यास्ति सम्भवः ॥

यस्य प्रमाणसंवादि वचनं तत्कृतं वचः ।

स आगमः इति प्राप्तं निरर्थाऽपौरुषेयता ॥” ३.३१२-३१५ ।

पृ० ३४. पं० १६. 'सामान्यस्य' यहाँ से परपरिकल्पित सामान्यका निरास किया गया है । सामान्यका जैन संमत स्वरूप आगे दिखाया है—देखो कारिका २६ § १ । उसी प्रसंगमें हम भी सामान्यके विषयमें विशेष विचार करेंगे ।

धर्म की तिने सामान्यको निःस्वभाव सिद्ध करनेके लिये बारबार इसी बातको दोहराया है कि जाति व्यक्तिसे न तो भिन्न ही सिद्ध हो सकती है, न अभिन्न । देखो—प्रमाणत्वा० २.२५-२९ । ३.१४९-१५३ इत्यादि । प्रज्ञाकर गुप्त ने भी धर्म की ति का अनुगमन किया है ।

प्रस्तुतमें शास्त्राचार्य ने प्रज्ञाकर का अनुसरण प्रायः शब्दशः किया है—देखो प्रमाणत्वा० अ० पृ० २६४, २७२, २८०, ३६६, ५४४, ७२४ आदि ।

अन्य जैन आचार्य भी इस विषयमें प्रमाणवार्तिक और तदनुगामी दूसरे बौद्ध आचार्योंका अनुसरण कर्के ही भीमांसक और नैयायिक संमत जातिवादका खण्डन करते हैं—देखो तत्त्वसं० का० ७०८ से । अष्टश० का० ६५, अष्टसं० पृ० ३३, २१४, २१९ इत्यादि । सन्मति० टी० पृ० ११०, २३९, ६८९ इत्यादि; न्यायकु० पृ० २८५, प्रमेयक० पृ० ४७०-८१; स्याद्वाचर० पृ० ९५० इत्यादि ।

पृ० ३६. पं० ३. 'तादात्म्य' तुलना—“अथ सति सम्बन्धे ननु कोऽयं तस्य तेन सम्बन्धः—संयोगः, तादात्म्यम्, विशेषणीभावः, वाक्यवाचकभावो वा” । न्यायकु० पृ० १४४ ।

पृ० ३६. पं० ५. 'धुरिका' तुलना—“पूरण-प्रदाह-पाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः”—न्यायकु० २.१.५४ । “स्याद्वयेन सम्बन्धः धुरमोदकशम्भोच्चारणे मुक्तस्य पाटनपूरणे स्याताम्” । शबर० १.१.५ । “सक्यपाययमासाविणिशुसं वेसतो अणेनविहं । अभिहाणं अनियेयातो होह मिण्णं अभिण्णं च ॥ ५७ सुवमिणोमोयशुच्चारणमिह जम्हा उ वयण-सचणत्तं । व वि वेदो न नि दाहो, णमि पूरण तेण मिण्णं तु ॥ ५८॥ जम्हा उ मोयणे अभि-



विद्यमि तत्थेय एवञ्जो होइ । जय होइ सो जजसे तेण जमिण्यं तदग्धातो ॥ ५९ ॥  
बृहत् ० । शास्त्रवा० ६४५ । सन्मति० टी० पृ० ३८६ । न्यायकु० पृ० १४४ ।  
स्याद्वादमं० का० १४ ।

पृ० ३६. पं० १७. 'भेदानुपपन्नमात्' — "य एव लौकिकाः शब्दाः त एव वैदिकाः" —  
शाबर० १.३.३० । "अन्याविशेषाद् वर्णानां साधने किं फलं भवेत् ।" — प्रमाणभा०  
३.२४७ ।

पृ० ३६. पं० २३. 'नापि वाक्यम्' तुलना — "वाक्यं भिन्नं न वर्णैर्म्यो विद्यतेऽनु-  
पलम्भतः । अनेकावयवात्मन्ये पृथक् तेषां निरर्थता ॥" प्रमाणभा० ३.२४८ ।

पृ० ३७. पं० १. 'सार्धकाः' — "प्रत्येकं सार्धकत्वेऽपि मिथ्यानेकत्वकल्पना ॥ एकाव-  
यवगत्या च वाक्यार्थमसिद्धं भवेत् ॥" वही ३.२४९, २५० ।

पृ० ३७. पं० २२. 'वर्णानुपूर्वी' तुलना — "वर्णानुपूर्वी वाक्यं चेन्न वर्णानामभेदतः"  
प्रमाणभा० ३.२५९ ।

पृ० ३७. पं० २६. 'अव्यापित्वे' तुलना — "सर्वत्रानुपलम्भः स्यात् तेषामव्यापिता  
वदि ॥ २५३ ॥ सर्वत्रानुपलम्भः स्यात् युगपद् व्यापिता यदि ।" वही० ।

पृ० ३७. पं० २९. 'नानुपूर्वी स्यात्' तुलना — "देशकालक्रममावो व्याप्तिनित्यत्व-  
वर्धनात् ॥ २६० ॥" वही० ।

"सा ज्ञेयमानुपूर्वी वर्णानां देशकृता वा पिपीलिकानामिव पंक्तौ स्यात्, कालकृता वा  
बीजाङ्गुरादीनामिव । द्वयोरपि देशकालक्रमयोरभावो वर्णानां व्याप्तिनित्यत्वयोर्वर्धनात् ।  
अन्योऽन्यदेशपरिहारेण वृत्तिर्हि देशपौर्वापर्यम्, तच्च सर्वगानामसम्भवि । तस्यान्योऽन्य-  
कालपरिहारेण वृत्तिः कालपौर्वापर्यं च नित्यानामसम्भवि ।" मन्ने० ३.२६० ।

पृ० ३८. पं० ९. 'अयमेव' तुलना — "अयं हि भेदो भेदहेतुर्ध्वं निवृत्तधर्माभ्यासः  
कारणभेदश्च । ततश्चेत् न भेदः अन्यनिमित्ताभावात् एकं द्रव्यं विश्वं स्यात् इत्यादि  
प्रसज्येत —" हेतुविन्दुटी० पृ० ४७ । सन्मतिटीका (पृ० ३) में भी ऐसा ही वाक्य  
उद्धृत है ।

अक्षतरणसमाप्तिके सूचक निन्दको 'हीयेत' शब्दके बाद रखना चाहिए ।

यह वाक्य धर्म की तिका होना चाहिए । देखो, अनेकान्तज० पृ० ४९ ।

पृ० ३८. पं० १४. 'सत्त्वादिप्रसंगान्' तुलना — "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरभ्यान-  
पेक्षणात् । अपेक्षान्ना भावानां कादाचित्कस्य सम्भवः ॥" प्रमाणभा० ३.३४ । १.३८२ ।

पृ० ३८. पं० १६. 'ईश्वरस्य' न्यायसूत्रमें (४.१.१४-४३) एकान्तवादोक्ती परीक्षा  
की गई है । जिसमें प्रसंगसे पुरुषकर्म प्रधान है या ईश्वर इस प्रश्न का भी निराकरण किया  
गया है । मनुष्य प्रयत्न करता है किन्तु फलनिष्पत्ति ईश्वराधीन है । पुरुषकर्मसे रहित ईश्वर  
कुछ भी फल नहीं दे सकता और ईश्वरके अनुग्रहके बिना पुरुषकर्म भी निष्फल ही रह जाते  
हैं — इस प्रकार पुरुषार्थ और ईश्वरकारणतावादमें अनेकान्तकी सिद्धि करके एकान्त पुरुषार्थवाद  
और एकान्त ईश्वरकारणवादका निराकरण किया गया है । — न्यायसूत्रं ४.१.१९-२३ ।

वर्षासे स्पष्ट है कि नै या यि कों को ईश्वर निमित्तकारण रूपसे दृष्ट है<sup>१</sup>। अत एव नाम्ने टीकाकारोंने इस प्रकरणको 'ईश्वरोपादाननिराकरणप्रकरण' ऐसा नाम दिया है और मूलसूत्रोंकी टीकामें वेदान्तसंमत ब्रह्मकी उपादानकारणताका निरास किया है<sup>२</sup>। नै या यि कों के मतसे जगत्का उपादान कारण पार्थिव आदि परमाणु हैं<sup>३</sup>।

ईश्वरकारणवाद प्राचीन है। किन्तु प्राचीन कालमें ब्राह्मणग्रन्थोंमें और उपनिषद् साहित्यमें ब्रह्म या प्रजापतिके रूपमें उसे जगत्का उपादान कारण माना है<sup>४</sup>। नै या यि कों ने अपनी तर्क बुद्धिसे उसे कारण तो सिद्ध किया किन्तु उपादान न मानकर निमित्त कारण माना। वही बात वैशेषिकों ने भी की।

इसके विपरीत ब्रह्मसूत्रमें शंकर आदि आचार्योंने नै या यि क और वैशेषिक संमत निमित्तकारणवादका प्रबल विरोध करके ईश्वरको जगद् का अविद्याता और उपादान सिद्ध किया है।— शॉ० ब्रह्म० २.२.३७-४१।

जैन, मीमांसक, सांख्य, योग और बौद्ध ईश्वरको जगद्का निमित्तकारण या उपादान-कारण कुछ भी नहीं मानते।

ईश्वरकी सिद्धिमें शान्खाचार्यने जो अनुमान उपस्थित किया है उसके लिये तथा कैसे दूसरे अनुमानोंके लिये देखो—न्यायवा० पृ० ४५७-४६७। ज्यो० पृ० ३०१। कंबकी० पृ० ५४। न्यायमं० पृ० १७८। तात्पर्य० पृ० ५९८।

पृ० ३८. पं० १६. 'सर्ववृत्ते' तुलना—“सर्ववृत्तत्वसिद्धौ च सर्ववृत्तत्वमथज्ञतः। सिद्धमव्ययतः कर्ता कार्यरूपादिबेदकः॥” तत्त्वसं० का० ५४।

“सा च बुद्धिः सर्वाधीनतागतातर्कतन्मात्रविषया प्रत्यक्षा नानुमानिकी” —न्यायवा० पृ० ४५६।

पृ० ३८. पं० २०. 'स्वरूपेण' तुलना—“तदज्ञासिद्धता हेतोः प्रथमे साधने यतः। सत्त्विवेशो न योगावयः सिद्धो नावयवी यतः॥” —तत्त्वसं० का० ५६।

इस कारिकाकी व्याख्याका मूलाधार सन्मति टीका है। सन्मति टीका भी अपने पुरोगामि बौद्ध ग्रन्थोंकी श्रुणी है।—देखो सन्मति० टी० पृ० १०२-१०५। तथा तत्त्वसं० द्रव्य-पदार्थपरीक्षा। सन्मतिमें पूर्वपक्ष पृ० ९३ वें से शुरू होता है।

पृ० ३८. पं० २५. 'संस्थानवत्' इस अनुमानसे पर्वतादिमें कार्यत्व सिद्ध किया गया है। देखो ज्यो० पृ० ३०१। न्यायमं० पृ० १७८। तात्पर्य० पृ० ५९९। इसकी समालोचनाके लिये देखो, श्लोका० पृ० ६५९। सम्बन्धाक्षेपपरि० ७४ से। प्रमाणवा० १.१२।

पृ० ३८. पं० २८. 'अवयवी' प्राचीन समयसे ही दार्शनिकोंने स्थूल द्रव्य विशिष्ट

१. “तत्कारितत्वादिशेषं बुद्ध्या निमित्तकारणमीश्वर इत्युपगतं नवति” —न्यायवा० पृ० ४५७।

२. तात्पर्य० पृ० ५९३। ३. “जगतः साक्षादुपादानकारणं किम्? उक्तं बुद्धिब्याधिपरमसूत्रं परमाणुसंज्ञितं व्यक्तमिति”। न्यायवा० पृ० ४५७। ४. आह्वायमं० में प्रो० जगदीश चन्द्रने 'वैदिक साहित्यमें ईश्वरके विविध रूपोंका वर्णन' किया है उसे देखना चाहिए—पृ० ४११। तथा ब्रह्मसूत्र २.२.३७-४१।

सूक्ष्म तत्त्वके साथ क्या सम्बन्ध है इस प्रश्नको नाना प्रकारसे सोचा है । इसी प्रश्नके विचारमें-  
से ही अवयव और अवयवी का विचार भी फलित हुआ है । दृश्य जगतके प्रपञ्चको  
दार्शनिकोंने अपनी अपनी दृष्टिसे माने हुए कुछ ही मूत्र सूक्ष्म तत्त्वोंमेंसे घटाया है । यह  
घटना सभीके मतसे एक ही प्रकारसे नहीं है । नैयायिक—वैशेषिक आरम्भवादके पुरस्कर्ता  
हैं । बौद्ध प्रतीत्यसमुत्पादके द्वारा घटनाको बताते हैं । सांख्य—योग और जैन परिणामवादके  
द्वारा स्थूल विश्वकी योजना सिद्ध करते हैं । मीमांसक कुमारिल भी इसी मतका अनुगामी  
है । और अद्वैतवादिओं ने ब्रह्मविवर्तवादका आश्रय लिया है<sup>१</sup> ।

इतनी पूर्वभूमिकाको ध्यानमें रखकर अब हम अवयवीका विचार करें । अवयवीके विषयमें  
निम्न लिखित बातें विचारणीय हैं ।

( १ ) अवयवीकी सत्ता और स्वरूप

( २ ) अवयवी और प्रत्यक्ष प्रमाण

( १ ) अवयवीकी सत्ताके विषयमें ही नागार्जुन ने आपत्ति की है । उनका कहना है कि  
उत्पत्ति ही जब नहीं घट सकती तब अवयवीकी सत्ता कैसे संभव है<sup>१</sup>? उन्होंने स्कन्ध-  
परीक्षामें घटपटादि 'रूप' के अस्तित्वका ही निराकरण किया है<sup>२</sup> । और अग्नीन्धन  
परीक्षामें उपादानोपादेयभावका निराकरण किया है<sup>३</sup> । अवयवीकी सत्ताकी सिद्धि तब ही  
हो सकती है जब उपादानोपादेयभाव सिद्ध हो, उत्पत्ति सिद्ध हो और रूपस्कन्ध सिद्ध हो ।  
किन्तु नागार्जुन ने इन तीनोंका विस्तारसे खण्डन किया है अत एव उनके मतमें अवयव  
और अवयवी वस्तुसत् नहीं किन्तु काल्पनिक हैं ।

वस्तुबन्धुको विज्ञानाद्वैत सिद्ध करना था । अत एव उनके लिए बाह्यार्थका निराकरण  
अनिवार्य था । बाह्यार्थके विषयमें उन्होंने तीन विकल्प किये हैं—

“न तदेकं न चानेकं विषयः परमाणुशः ।

न च ते संहता यस्मात् परमाणुर्न सिध्यति ॥” विज्ञप्ति० का० ११ ।

इसमें एकका मतलब है अवयवी<sup>४</sup> । इन तीनों पक्षका खण्डन उन्होंने यह कह करके किया  
है कि इन तीनों पक्षमें परमाणुकी सत्ता अनिवार्य है; और परमाणु तो असिद्ध ही है । क्यों कि—

“वद्वेन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता ।

षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥” विज्ञप्ति० का० १२ ।

१. आरम्भवाद आदिके विषयमें सूक्ष्म निरूपणके लिये देवको प्रमाणमी० प्रस्तावना पृ० ६ ।  
२. “न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः । उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः कश्चन केचन ॥”  
भाष्य० ११ । ३. रूपकारणनिर्मुक्तं न रूपमुपपद्यते । रूपेणापि न निर्मुक्तं दृश्यते रूपकारणम् ॥  
निरकारणं पुनः रूपं नैव नैवोपपद्यते । तस्माद्रूपगतत्वात् काश्चित् विकल्पात् विकल्पवेत् ॥ न कारणस्य सदृशं  
कार्यमित्युपपद्यते । न कारणस्यासदृशं कार्यमित्युपपद्यते ॥” वही ४. १, ५, ६ । ४. “अग्नीन्धनाभ्यां  
व्याख्यात आम्भोवादानयोः क्रमः । सर्वो निरवशोऽपि सार्धं घटपटादमिः ॥” वही १०. १५ । “घटादयो  
हि कार्यकारणभू । अवयवाश्च विभूना लक्ष्मणभूता गुणगुणिभूना वा स्युः । तत्र सूक्ष्मवचकसुप्रस-  
क्तिकालकालकव्यायानादयो घटस्य कारणभूताः घटः कार्यभूताः । कपालादयो मीलादयो वा अवयवभूताः,  
वदोऽवयवी । ..... इत्येवं व्यवस्थाय अग्नीन्धनवत् क्रमो बोध्यः ।” वही वृ० । ५. “तदेकं वा स्यात्  
वचानवयविरूपं कल्पते वैशेषिकैः ।” विज्ञप्ति० भा० ११ ।

वसुबन्धु ने स्थूल द्रव्यको एक—अखण्ड—जैसा कि नैयायिक-वैशेषिकों ने अवयवीको माना है—मानने पर भी आपत्ति की है। उनका कहना है कि यदि स्थूल पृथ्व्यादि द्रव्य एक है तब उसमें गमन और अगमन, ग्रह और अग्रह, भिन्न भिन्न पदार्थों की अनेकवृत्ति, प्राप्ति और अप्राप्ति इन सभीकी घटना युगपद् हो नहीं सकती। अत एव अवयवीको एक—अखण्ड द्रव्य माना नहीं जा सकता<sup>१</sup>।

वसुबन्धु के बाद दिग्गज, धर्मकीर्ति आदि आचार्यों ने अवयवीके खण्डनमें इन्हीं मुख्य दलीलोंका उपयोग किया है। और पंडित अशोक ने तो अवयविनिराकरण नामक एक छोटासा प्रकरण ही लिख दिया है।

अगे चलकर अवयवी और सामान्य की चर्चा के प्रसंगमें आचार्यों ने बहुतसी समान दलीलोंका उपयोग किया है। क्योंकि जैसे सामान्य एक है वैसे अवयवी भी एक है। सामान्य अनेकवृत्ति है तो अवयवी भी अनेकवृत्ति है। कृत्स्नैकदेशवृत्तिका विकल्प जैसे सामान्य-विषयक होता है वैसे ही अवयवीके बारेमें भी होता है। और यही बात भेदाभेदके विकल्पके विषयमें भी है। इस प्रकार अवयवी और सामान्यविषयक चर्चाका साम्य देखकर ही जयन्त ने बौद्धोंको आवेशपूर्ण भाषामें जो उत्तर दिया है वह देखने योग्य है—

“अपूर्व एष तर्कमार्गो यत्र प्रतीतिमुत्सृज्य तर्जनीविस्फोटनेन वस्तुव्यवस्थाः क्रियन्ते ।  
.....न च शकुभः पदे पदे वयमेभिरभिनवमरूपमपि किञ्चिदपश्यन्निस्तदेव पुनः पुनः  
प्रकुर्वद्भिः शाक्यनर्तकैः सह कलहमस्तिमात्रं कर्तुम् ।.....किं वा तदस्ति यस्सामान्यसम-  
र्थनावसरे न कथितम् । तस्मात्तथैव नीत्या अवयवमपि सिद्ध एव, तद्वाहिणः प्रत्यक्षस्य  
निरपवादत्वात् ।” न्यायमं० वि० पृ० ५४९ ।

शंकराचार्य ने भी ब्रह्म व्यतिरिक्त बाह्य तत्त्व अनिष्ट होनेके कारण परमाण्वारब्ध अवयवीकी<sup>२</sup> चर्चाके प्रसंगमें परमाणुका खण्डन वसुबन्धु की युक्ति का अवलम्बन करके किया है<sup>३</sup>।

सांख्य भी कार्य और कारणका अमेद इष्ट होनेसे अवयवीकी पृथक् सत्ता नहीं मानते । सांख्यत० का० ९ ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैशेषिक सम्मत अवयवीकी सत्ताके विषयमें दार्शनिकोंने प्राचीन कालसे आपत्ति की है। तब यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इन दार्शनिकोंने जब दृश्य स्थूल अवयवीका निषेध किया अर्थात् दृश्य घट-पटादिकी स्वतन्त्र सत्ताका निषेध किया तब इस दृश्य स्थूल पदार्थके विषयमें अपना क्या क्या मन्तव्य स्थिर किया ? ।

अद्वैतवादिओं ने तो अविद्या—वासना का आश्रय लिया। प्रकृतिपरिणामवादी सांख्य ने स्थूल जगत्को प्रकृतिका परिणाम माना। अर्थात् स्थूल वस्तुका प्रधानसे अमेद ही सिद्ध

१. “यदि वाक्यविच्छिन्नं नानेकं वस्तुषु विषयः तदेकं द्रव्यं कल्प्यते—युधिष्ठां क्रमेणेतितं स्यात्—  
गमनमित्यर्थः । सङ्कल्पादप्रक्षेपेण सर्वस्य गतत्वात् । अर्वागमस्य च ग्रहणं परभागस्य चाग्रहणं युगपद्व  
स्यात् । न हि तस्यैव तदाभी ग्रहणं चाग्रहणं च युक्तम् । विच्छिन्नस्य चानेकस्य दृश्यत्वादिकस्य अनेकव  
वृत्तिर्न स्यात् । अत्रैव हि एकं तत्रैवापरमिति कथं तयोर्विच्छेद इष्यते । कथं वा तदेकं यद् प्राप्तं च ताभ्यां  
न च प्राप्तं अन्तराले तच्छून्यग्रहणात् ।”—विज्ञप्ति० भा० १५ । २. ब्रह्म० शा० २.२.१२-१७ ।  
३. “परमाणूनां परिच्छिन्नत्वात्तत्त्वतो दिशः पश्यती दश वा तावन्निरवयवैः सावयवाको स्यात्” ब्रह्म०  
शा० २.२.१७ ।

किया । जैन और भी मांसक भी परिणामवादी हैं किन्तु दोनोंने अनेकान्तवादके आधारसे सूक्ष्म—परमाणु और स्थूलका भेदाभेद माना । परमाणुवादी—सौत्रान्तिक और वैभाषिक बौद्धों ने कहा दिया कि स्थूल पदार्थ—और कुछ नहीं किन्तु परमाणुपुञ्ज मात्र है ।

अवयवविवादके विरुद्ध प्रथम तो बौद्धों ने इतना ही कहा कि वह परमाणुपुञ्ज मात्र है । किन्तु दार्शनिकोंमें परमाणुकी एक परिभाषा<sup>१</sup> खूब हो गई थी कि वह निरवयव होता है—इसी परिभाषाके प्रकाशमें जब बौद्धों ने परमाणुपुञ्जका विचार किया तब इस परमाणुपुञ्जके बारेमें बौद्धों में ही तीन मत प्रचलित होगये ऐसा कमलशील के स्पष्ट उल्लेखसे मालूम होता है ।

“तत्र केचिद्वाहुः परस्परं संयुज्यन्ते परमाणवः इति, सान्तरा एव नित्यं न दृष्टान्ती-  
त्यपदे, निरन्तरत्वे तु दृष्टस्त्वेत्यन्ये ।”—तत्त्वसं० पं० पृ० ५५३ ।

वस्तुतः परमाणुओंका परस्पर संयोग होता है कि नहीं इस बातको लेकर ही ये मतभेद हुए हैं । प्रथम मतके अनुसार परमाणुओंका परस्पर संयोग होता है और अंतिम दोनों मतोंके अनुसार परमाणुओंका परस्पर संयोग नहीं होता । उन दोनोंमेंसे एकका कहना है कि परमाणुओंमें व्यवधान अवश्य होता है । और दूसरेका कहना है कि व्यवधान होता भी है और नहीं भी होता । जब व्यवधान नहीं होता तब परमाणु निरन्तर होनेसे उनकी ‘स्थूल’ ऐसी सहा है ।

प्रथम मत प्राचीन बौद्धों का है । दूसरा काश्मीरवैभाषिकों का और तीसरा भदन्त (बहुबन्धु) का है, जो कि अभिधर्मकोषकार बहुबन्धुसे प्राचीन है ।

इन तीनों मतों का साधर्म्य यही है कि जब परमाणुपुञ्ज होता है तब भी पुञ्जघटक परमाणुओंके अतिरिक्त वहाँ और किसी द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं होती । इसके विपरीत वैशेषिक और नैयायिकों का कहना है कि परमाणुपुञ्जसे एक अपूर्व अवयवी उत्पन्न होता है । उसकी सत्ता पुञ्जघटक परमाणुओंसे अर्थात् अवयवोंसे भिन्न है । वह सभी अवयवोंको व्याप्तकरके रहता है । अवयवी अनित्य होता है क्योंकि वह कार्य है । ज्यणुकव्यतिरिक्त अवयवीका विनाश स्वयं अवयवविनाशसे होता है । और ज्यणुकावयवीका विनाश अणुओंके विभक्त होनेपर हो जाता है ।

जैनोंके मतसे अवयवी कार्य ही हो यह नियम नहीं । आकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय ये द्रव्य नित्य होते हुए भी सावयव<sup>२</sup> हैं । घटपटादि पुद्गलस्कंध अनित्य होते हुए सावयव हैं । इन नित्य और अनित्य सावयव द्रव्यमें भेद सिर्फ इतना ही है कि नित्य द्रव्यके अवयव कभी पृथक् नहीं होते । वैशेषिक परिभाषाके अनुसार इस प्रकार कह सकते हैं कि जैनोंके मतसे नित्य द्रव्यके अवयव सर्वदा अयुतसिद्ध होते हैं—अपृथक्सिद्ध होते हैं । जैनोंके मतसे परमाणु और कालव्यतिरिक्त कोई ऐसा द्रव्य नहीं जो निरवयव हो । काल भी इसी लिये निरवयव माना गया है कि वह क्षणिक है अत एव उसका स्कंध बन नहीं सकता ।

१. “तथा चोक्तम् ‘आत्मादिमात्ममयं च तथात्मान्तमतीन्द्रियं । अविभाजं विजानीयात् परमाणुमन-  
ककम् ।”—तत्त्वार्थशू० पृ० ४३० । २. आलम्बन० पृ० ९६ । ३. सप्रदेशी और सावयवमें सूक्ष्मत्व है किन्तु उसकी प्रस्तुतमें उपेक्षा की है ।

बौद्ध और जैन मान्यतामें यह भेद है कि बौद्ध परमाणुवादी हैं । अर्थात् परमाणुसे अतिरिक्त या परमाणुपुञ्जसे अतिरिक्त स्कंधकी स्वतन्त्र सत्ता उनके मतसे नहीं है । जैनो के मतसे पुद्गल द्रव्य अणुरूप भी है और स्कंध रूप भी है<sup>१</sup> । जैन संमत स्कंध सिर्फ परमाणुपुञ्ज ही नहीं है किन्तु परमाणुओंका विशिष्ट प्रकारका परिणाम ही स्कंध है । जैन मत आरम्भवादी नै या यिकों मान्य नहीं । बौद्ध क्षणिकवादी हैं अत एव उनको भी वह मत मान्य नहीं, क्योंकि परिणामवाद द्रव्यनित्यताके स्वीकारमेंसे ही फलित हो सकता है ।

जैनो के मतसे अवयव और अवयवीका भेदाभेद है अर्थात् कथंचित् तादात्म्य<sup>२</sup> है । नैयायिक अत्यन्त भेद मानकर भी उनको अयुतसिद्ध कहते हैं । अर्थात् दोनोंको संयुक्त नहीं मानते । वस्तुतः तादात्म्य और अयुतसिद्धिमें नाममात्रका फर्क है । विचारपद्धति के भेदके कारण ही परिभाषामें ऐसा भेद हो जाता है इस बातको भूलना नहीं चाहिए । नैयायिक किसी वस्तुका परिणाम नहीं मानते । उनके मतसे अदृश्य परमाणु दृश्यरूपसे परिणत हो नहीं सकते । फिर भी वे परमाणुओंके मिलने पर स्थूलद्रव्यके दिखाई देनेका इनकार तो कर ही नहीं सकते । अत एव उनके लिए दृश्य अवयवीकी — परमाणुपुञ्जसे अतिरिक्त अवयवीकी कल्पना करनेके सिवाय और कोई चारा ही नहीं रहता<sup>३</sup> । इसीसे उन्होंने अवयवीकी सत्ताको सिद्ध तो किया पर वे उसे संयुक्त घट और जलादिकी भांति अत्यन्त भिन्न — पृथक् सिद्ध न मान कर, उसे अवयवोंसे अपृथक्सिद्ध — अयुतसिद्ध कहने लगे । इस तरह कथंचित् तादात्म्य और अयुतसिद्धिमें वस्तुतः नाम मात्रका भेद है ।

मीमांसकों ने भी कार्य द्रव्यको सिर्फ परमाणुपुञ्ज न मान कर स्वतन्त्र माना है<sup>४</sup> । स्वतन्त्र मान कर भी उन्होंने नैयायिकों की तरह कार्य द्रव्यको अवयवोंसे अत्यन्त भिन्न न मान कर जैनो की तरह अवयव और अवयवीका भेदाभेद ही माना है । तदनुसार अवयवोंकी विशिष्ट अवस्थामें अवस्थिति ही अवयवी कहा जाता है<sup>५</sup> । मीमांसकोंका यह मत उनकी परिणामवाद की स्वीकृतिमें से ही फलित हुआ है । परिणामवादी जैन और मीमांसक भेदाभेदवाद समान-रूपसे मानते हैं जबकि सांख्य परिणामवादी होकर भी अभेदवाद ही मानता है ।

( २ ) अब अवयवी और प्रत्यक्ष प्रमाण — इस प्रश्नके विषयमें विचार करना क्रमप्राप्त है ।

बौद्धों ने परमाणुपुञ्जको ही माना तब उन पर आक्षेप हुआ कि परमाणु अतीन्द्रिय होनेसे परमाणुपुञ्जका भी प्रत्यक्ष हो नहीं सकता । न्यायसूत्रकार ने तो यहाँ तक कह दिया कि यदि अवयवी असिद्ध हो तो संसारमें किसी भी वस्तुका प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता<sup>६</sup> ।

१. “अणवः स्कन्धाश्च” — तत्त्वार्थ० ५.२५ । २. “सर्वथाभिन्तरत्नस्याभावादेवांशिनोरिह” — तत्त्वार्थश्रु० पृ० १२२ । ३. “सर्वाग्रहणं अवयवसिद्धेः” — न्यायसूत्र २.१.३४ । ४. शास्त्रदी० पृ० ४२-४३ । ५. “वयं तु भिन्नाभिन्नवत् । न हि तन्मुन्यः शिरःपाण्यादिभ्यो वा अवयवेभ्यः निष्कृष्टः पटो देवदत्तो वा प्रतीयते । तन्मुपापमादयोऽवयवा एव पटाद्यात्मना प्रतीयन्ते । विद्यते च देवदत्ते ‘अस्त इहाः शिरः’ इत्यादिः कियानपि भेदावभास इत्युपपन्नमुभयात्मकत्वम् । तस्मादवयवानामेवावस्थान्तरमवयवी न द्रव्यान्तरम् । त एव हि संयोगविशेषवशादेकद्रव्यतामापद्यन्ते, तदात्मना च भेदार्थं पटादिं च भिन्नतः पटुच्चा गृह्यन्ते । तेन पटात्मना तेषामेकत्वं अवयवात्मना तु भिन्नात्मन्” — शास्त्रदी० पृ० १०६ । ६. “सर्वाग्रहणमवयवसिद्धेः ।” न्यायसूत्र २.१.३४ ।

बौद्ध इस आक्षेपका जो उत्तर न्यायसूत्रकार के समय पर्यन्त देते होंगे वह यह है—जैसे सेना या वन कोई एक द्रव्य नहीं किन्तु हस्ती, अश्व आदि का समूह ही सेना और आम्नादि अनेक वृक्षों का समूह ही वन कहा जाता है । और सेनाघटक या वनघटक प्रत्येक हस्त्यादि या आम्नादिके प्रत्यक्ष न होने पर भी सेना या वनका प्रत्यक्ष होता है । वैसे ही परमाणुपुञ्ज वस्तुतः एक न होने पर भी एक मादृश पड़ता है और पुञ्जघटक प्रत्येक परमाणु अतीन्द्रिय होनेपर भी पुञ्जका प्रत्यक्ष हो सकता है<sup>१</sup> ।

न्यायसूत्रकार ने सेना-वन-न्यायके अतिरिक्त बौद्ध सम्मत एक और न्यायका भी उल्लेख किया है—जैसे तैमिरिक व्यक्ति एक एक केशकी उपलब्धिका सामर्थ्य न रखते हुए भी केशसमूहका प्रत्यक्ष कर सकता है वैसे ही हम सभी यद्यपि प्रत्येक परमाणुके प्रत्यक्ष करनेमें असमर्थ हैं फिर भी परमाणुपुञ्जका प्रत्यक्ष कर पाते हैं<sup>२</sup> ।

बौद्धों की इन युक्तियों का उत्तर नैयायिकों ने यह दिया है कि अणु अतीन्द्रिय होनेसे परमाणुपुञ्ज का भी प्रत्यक्ष हो नहीं सकता<sup>३</sup> । वनघटक प्रत्येक वृक्षमें या सेनाघटक प्रत्येक अंगमें प्रत्यक्ष होनेकी योग्यता है किन्तु परमाणुपुञ्जके घटक प्रत्येक परमाणुमें वैसी योग्यता नहीं । दूसरी बात यह भी है कि इन्द्रियाँ स्वविषयोंका अतिक्रमण नहीं करती<sup>४</sup> । चक्षु कितनी ही पटु क्यों न हो फिर भी वह गन्धग्राहक नहीं हो सकती । चक्षुरिन्द्रिय के मन्द होनेसे तैमिरिक पुरुषको एक एक केश नहीं दीखता पर केशसमूह दिखाई देता है । परन्तु अतैमिरिकको एक एक केश भी दिखता है और केशसमूह भी । इससे स्पष्ट है कि केशोंमें चक्षुरिन्द्रियके विषय होनेकी योग्यता है । जब कि परमाणुमें तो वह योग्यता ही नहीं । अत एव उनका समूह भी केशसमूह की तरह कैसे दिख सकता है ? ।

इतनी चर्चाका फलितार्थ इतना ही है कि यदि परमाणुको अतीन्द्रिय माना जाय तब परमाणु-पुञ्ज भी अतीन्द्रिय ही रहेगा । परिणामवादी जैन, मीमांसक और सांख्य अतीन्द्रिय परमाणु या प्रकृतिकी तथापरिणति मानकर स्थूल पदार्थको इन्द्रियका विषय मानते हैं परन्तु नैयायिक-वैशेषिकों ने तो स्पष्ट ही कह दिया कि परमाणु या प्रकृतिका तथापरिणाम माननेकी अपेक्षा परमाणुओंसे एक नूतन अवयवीका आरम्भ मानना ही ठीक है । क्योंकि ऐसा माननेसे परमाणु तो अपने स्वभावानुसार अतीन्द्रिय ही बने रहते हैं जब कि अवयवी स्वभावतः अतीन्द्रिय न होनेके कारण दृश्य भी बन सकता है । परन्तु बौद्ध के सामने तो यह समस्या बनी ही रह गई कि परमाणुओंके स्वयं अतीन्द्रिय होने पर भी तदभिन्न पुञ्ज दृश्य कैसे हो जाता है ? ।

इस समस्याको लेकर बौद्धों में अनेक मतभेद हुए होंगे ऐसा जान पड़ता है । न्यायसूत्रमें बौद्ध की ओरसे पूर्वपक्ष किया गया है कि 'यह वृक्ष है' ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं किन्तु अनुमान है<sup>५</sup> । इसी प्रसंगमें न्यायसूत्रकार ने अवयवीको सिद्ध करके उसका प्रत्यक्ष भी सिद्ध किया

१. "सेनावनवत् प्रहणम्"—न्यायसू० २.१.३६ । "अन्वस्तु मन्वते एकैकपरमाणुरन्वस्तिरपेक्ष्योऽतीन्द्रियः । बहवस्तु परस्परापेक्षया इन्द्रियग्राह्याः ।" विश्वसि० त्रि० भाष्य० पृ० १७ । २. "केशसमूहे तैमिरिकोरलब्धिवत् तदुपलब्धिः ।" न्यायसू० ४.२.१३ । ३. "न, अतीन्द्रियत्वाद्युक्तम् ।"—न्यायसू० २.१.३६ । ४. "स्वविषयानतिक्रमेणैन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद्विषयग्रहणस्य तथाभावात् नाविषये प्रकृतिः" न्यायसू० ४.२.१४ । ५. "प्रत्यक्षमनुमानेकदेशग्रहणादुपलब्धे ।" न्यायसू० २.१.३० ।

है । इस पर से हम यह कह सकते हैं कि स्थूल वृक्षादि पदार्थ, जिसे वैशेषिकादि अवयवी कहते हैं, वह प्रत्यक्षका विषय नहीं किन्तु अनुमेय है ऐसा किसी बौद्ध का मत न्याय सूत्र के पहले था । संभवतः वह मत सौत्रान्तिक का ही होगा क्योंकि वह बाह्य पदार्थोंको प्रत्यक्ष नहीं किन्तु अनुमेय मानता है ।

इसी सौत्रान्तिक मतका प्रतिघोष दिग्भागके द्वारा स्थापित और धर्मकीर्तिके द्वारा पोषित बौद्ध तार्किक परंपरामें भी हुआ । कहा जाता है कि वह बौद्ध तार्किक परंपरा सौत्रान्तिक और योगाचारके सिद्धान्तोंके सम्मिश्रणसे निष्पन्न हुई है । इस परंपराके अनुसार प्रमेय दो प्रकारका है—स्वलक्षण और सामान्यलक्षण—

“स्व-सामान्यलक्षणाभ्यां भिन्नलक्षणं प्रमेयान्तरं नास्ति ।” — प्रमाणसमु० वृ० का० २ ।

इसमेंसे प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण और अनुमान का विषय सामान्य है—

“तस्य विषयः स्वलक्षणम् ।... तदेव परमार्थसत् ।... अन्य-सामान्यलक्षणम् । सोऽनुमानस्य विषयः ।” — न्यायवि० पृ० २१-२५ ।

‘यह वृक्ष है’ ‘यह गौ है’ इत्यादि ज्ञान जो कि सविकल्पक और सनिर्देश हैं वे सामान्य विषयक ही हैं क्योंकि स्वलक्षण तो अनिर्देश्य है । अत एव फलितार्थ यही हुआ कि दिग्भागादि के मतसे अवयवी सामान्यलक्षणरूप प्रमेय होने के कारण अनुमानका विषय हो सकता है प्रत्यक्षका नहीं । दिग्भागका यह मन्तव्य प्राचीन सौत्रान्तिक मान्यताका प्रतिघोष मात्र कहा जा सकता है ।

दिग्भाग ने आलम्बन परीक्षा में एक मतविशेषका उल्लेख किया है जिसके अनुसार सञ्चिताकार परमाणु ही प्रत्यक्षके विषय माने गये हैं ।

भाग्य जाकर इसी मतका समर्थक भदन्त शुभगुप्त हुआ जान पड़ता है । उसका कहना है कि परमाणुका उत्पाद और विनाश समुदायरूप में ही होता है । अर्थात् उसके मतानुसार परमाणुका उत्पाद और विनाश प्रत्येकक्षण में होता है पर वह असंयुक्तरूपसे न होकर संयुक्त अर्थात् सञ्चितरूपसे ही होता है । जब कि परमाणु कभी स्वतन्त्र असंयुक्त अवस्थामें है ही नहीं तब प्रत्येक परमाणुके प्रत्यक्ष होने न होने का प्रश्न ही नहीं उठता । इस प्रकार भदन्त शुभगुप्त ने परमाणुपुञ्जके ज्ञानको प्रत्यक्ष मानकर भी परमाणुओंमें स्थूलताके ज्ञानको स्पष्ट ही भ्रम कहा है । शुभगुप्त भ्रमका समर्थन यह कह कर करता है कि—जैसे सदृशापरापर क्षणोंकी उत्पत्तिसे ज्ञाताको नित्यत्वका भ्रम होता है वैसेही सजातीय और अविच्छिन्नदेशोत्पन्न परमाणु-ओंमें भी स्थूलताका ज्ञान मानसिक भ्रम मात्र है ।

१. “प्रत्यक्षो न हि बाह्यवस्तुविसरः सौत्रान्तिकैराश्रितः ।” पट्ट० गुण० का० ११ । २. “स्वलक्षणविषयकं प्रत्यक्षमेव सामान्यलक्षणविषयकमनुमानमेव ।” — प्रमाणसमु० टी० पृ० ६ । ३. “स्वसंवेद्यमनिर्देश्यं रूपमिन्द्रियगोचरः” — प्रमाणसमु० ५ । ४. “साधनं सञ्चिताकारमिच्छन्ति किल केचन-अलम्बनं ३ । ५. “अथापि स्यात्—समुदिता एव उपपद्यन्ते विनश्यन्ति चेति सिद्धान्तात् नैकपरमाणुप्रतिभास इति । यद्योक्तं भदन्तशुभगुप्तेन—“प्रत्येकपरमाणुनां स्वातन्त्र्ये नास्ति संभवः । अतोऽपि परमाणुनामेककाप्रतिभासनम् ॥” इति ।” — तत्त्वर्स० पं० पृ० ५५१ । ६. “तुल्यत्वादिना भदन्त-शुभगुप्तस्य परिहारमाशंकते—‘तुल्यापराक्षणेत्पादाशयः नित्यत्वनिश्चयः । अविच्छिन्नसजातीयग्रहे चेत्स्थूल-विभ्रमः’ ।” — तत्त्वर्स० पृ० ५५२ ।



छुभगुप्त के मन्तव्यका सारांश यह है कि परमाणुका प्रत्यक्ष हो सकता है अत एव स्थूल-पदार्थकी प्रतीतिको सिद्ध करनेके लिये स्वतन्त्र अवयवी माननेकी कोई आवश्यकता नहीं । स्थूल अवयवीका ज्ञान भ्रम मात्र है । और भ्रमके विषयको वास्तविक मानना उचित नहीं ।

नै या यि कौं ने अवयवीको एक और अखण्ड मानकर भी अनेक अवयवोंमें व्याप्त माना है । इस सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर दूसरे दार्शनिकोंने यह आक्षेप किया है कि — अवयवीका प्रत्यक्ष-ग्रहण संभव ही नहीं । क्योंकि किसी भी अवयवीके सभी अवयव कभी प्रत्यक्ष हो नहीं सकते । बहुतसे मध्यभागवर्ती और अपरभागवर्ती ऐसे अवयव हो सकते हैं जिनका प्रत्यक्ष, व्यवहार होने के कारण, संभव ही नहीं । कतिपय अवयवोंके प्रत्यक्षमात्र होने से अवयवीका प्रत्यक्ष हो जायगा ऐसा भी — माना नहीं जा सकता, क्योंकि एक बात तो यह है कि वह उतने ही अवयवोंमें पर्याप्त नहीं, दूसरी बात यह है कि यदि कतिपय अवयवोंके प्रत्यक्षमात्रसे संपूर्ण अवयवीका प्रत्यक्ष हो तब यह मानना पड़ेगा कि पानीमें डूबे हुए महास्तम्भके बाहरी कुछ ही अवयवोंके दर्शनसे संपूर्ण स्तम्भ उपलब्ध हो, किन्तु यह बात प्रतीतिबाधित है । अत एव अवयवीका प्रत्यक्ष संभव ही नहीं ।

इस आक्षेपके उत्तरमें नै या यि कौं ने कहा है कि हम अवयवी और अवयवको अत्यन्त निम्न मानते हैं । अतएव अवयवग्रहण और अवयवविग्रहण का विषय भी अलग है । अनेक अवयवोंके विषयमें सकल और कतिपय ऐसा विकल्प हो सकता है किन्तु जो एक है — अखण्ड है उसके विषयमें ये विकल्प असंभव हैं<sup>१</sup> । अवयवी जो कि एक है — अखण्ड है उसके विषयमें एकदेशसे ग्रहण और दूसरे देशसे अग्रहण संभव ही नहीं । वस्तुतः बात यह है कि जिन अवयवोंका इन्द्रियके साथ सन्निकर्ष होकर ग्रहण होता है उन अवयवोंके 'साथ' अवयवीका भी ग्रहण हो जाता है किन्तु जिन अवयवोंका व्यवधानके कारण ग्रहण नहीं होता उनके 'साथ' अवयवीका भी ग्रहण नहीं होता<sup>२</sup> ।

इस प्रकार ग्रहण और अग्रहण होते हुए भी अवयवीमें भेदका — अनेकताका आपादन संभव नहीं । जैसे देवदत्त यदि चैत्रके साथ देखा गया और मैत्रके साथ न देखा गया तो एतावता देवदत्त दो नहीं हो जाते किन्तु एक ही रहता है वैसे ही अवयवी कुछ अवयवोंके साथ दिखाई दे और कुछ के साथ नहीं तो एतावता वह दो नहीं हो सकता है<sup>३</sup> ।

नै या यि कौं के इस उत्तरमें एक छुट्टि तो रह ही जाती है और वह यह कि यदि अवयवी एक है — अखण्ड है — निरंश है उसमें कृत्रिमिकदेशका विकल्प संभव नहीं तब वह अपने संपूर्णरूपमें दिखाई क्यों नहीं देता ? वह भागशः क्यों दिखता है ? । जलमय स्तम्भ बाहर और भीतर पूर्ण-रूपेण क्यों नहीं दिखता ? । यह कह देना कि एकमें — अखण्डमें कृत्रिमिकदेशका विकल्प करना अनुचित है — मूल आक्षेपका यथार्थ उत्तर नहीं है, न प्रतीतिकी पूरी व्याख्या ही है ।

प्रस्तुत चर्चा में अनेकान्तवाद ही सहायक हो सकता है । यदि अवयवीको अवयवोंसे

१. "एकस्मिन् कृत्रिमिकदेशाव्याप्त्यभावाद्" न्यायभा० पृ० २१४ । २. "इदं तत्त्वं कृतं चेत् इन्द्रियसन्निकर्षादग्रहणमवयवानां तैः सह गृह्यते । चेत् अवयवानां व्यवधानादग्रहणं तैः सह न गृह्यते । न चैतत्कृतोऽस्ति भेद इति" — न्यायभा० २.१.३२ । ३. न्यायभा० पृ० २१६ ।

कथंचिदभिन्न माना जाय तब यह कहा जा सकता है कि चूंकि अवयव अदृश्य हैं अत एव तदभिन्न अवयवी भी अदृश्य है और कथंचिद् भिन्न होनेसे कुछ अवयव अदृश्य हों तब भी अवयवीका दर्शन हो सकता है । तथा अवयवोंसे कथंचिदभिन्न होने के कारण अवयवी उनकी तरह अनेक भी कहा जा सकता है अत एव उसका दर्शनादर्शन भी घट सकता है ।

पृ० ३९. पं० १. 'ननु धर्मिणं' प्रस्तुत प्रश्नका उत्तर पंडित अशोक ने एक दूसरे ढंगसे दिया है—“इह दृश्यमानस्थूलो नीलादिरथो धर्मो; स चानुभवावसितोऽसति बाधके प्रत्यक्षसिद्धो हेतोराभ्यासिद्धिं निवृण्ति । ननु भवन्निरसनेषावयवी प्रतिहायते स कथं प्रत्यक्षसिद्धः । नावयविनमिह धर्मिणं प्रतिपत्ताः सः किन्तु प्रतिभासमानस्थूलनीलादिक-मर्थम् । न तर्हि विदुःधर्मसंसर्गावयविन एकत्वं निविद्धं स्यात् । यद्येवं कस्तर्हि भवतोऽवयवी । एकोऽनेकावयवसमवेतार्थ इति चेत् । स किं प्रतिभासमानात् स्थूलनीलादे-रग्नोऽनग्नो वा । न तावदन्यः, दृश्यत्वेनाभ्युपगमात् । न च प्रतिभासमानस्थूलनीलादे-रवतिरेकेणापरः प्रतिभाति । अनन्यश्चेत् । तस्यैकत्वप्रतिक्षेपे कथमप्रतिषिद्धमेकत्वमवय-विना ।”-अवय० पृ० ७९ । तुलना—व्यो० पृ० ४६ ।

पृ० ३९. पं० ३. 'प्रसङ्गविपर्ययसाधनं' व्याख्या—“प्रसङ्गश्च नाम परप्रसिद्धेन परस्य मनिहापादनमुच्यते ।-न्यायसं० वि० पृ० १०२ । कन्दली पृ० ४३ । “साध्य-साधनयोर्वाप्यव्यापकभावसिद्धौ हि व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको यत्र प्रदर्श्यते तत् प्रसङ्गसाधनम् । व्यापकनिवृत्तौ बाधार्थभाविनी व्याप्यनिवृत्तिः स विपर्ययः ।”-प्रमेयक० पृ० २५७ । प्रमाणवा० मनो० १.८६ ।

पृ० ३९. पं० १६. 'सामस्त्येन' तुलना—

“यद्वा सर्वात्मना वृत्तावनेकत्वं प्रसज्यते ।

एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न कश्चिच्च सः ॥”-तत्त्वसं० का० ६१३ ।

“ऊरुल्लेखेनावृत्तिश्चावयवानामवयव्यभावः” न्यायसू० ४.२.७ । न्यायवा० पृ० २१३, ५०३ । व्यो० पृ० ४४ । कंदली० पृ० ४२ ।

पृ० ३९. पं० १३. 'अहेतोश्च' तुलना—“नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्ष-जात् । अपेक्षातश्च भावानां कादाचित्कस्य संभवः ॥” प्रमाणवा० ३.३४ ।

पृ० ४०. पं० १. 'इतोपि' तुलना—प्रमाणवा० अ० पृ० ११३ ।

पृ० ४०. पं० १. 'चलति' तुलना—“पाण्यादिकस्ये सर्वस्य कम्पमातेर्वितोषिनः । एकस्मिन् कर्मणोऽयोगात् स्यात् पृथक्सिद्धिरन्यथा ॥” प्रमाणवा० १.८६ । अवय० पृ० ८१ ।

पृ० ४०. पं० २. 'एकावयवरागे' तुलना—“दृश्येत रक्ते चैकस्मिन् रागोऽरकस्य वाऽगतिः ॥” प्रमाणवा० १.८७ । तत्त्वसं० का० ५९४ । अवय० पृ० ८७ ।

पृ० ४०. पं० ३. 'आवरणे' तुलना—“एकस्य चावृतौ सर्वस्यावृत्तिः स्यादनावृतौ ।” प्रमाणवा० १.८७ । “स्थूलस्यैकस्वभावत्वे भक्षिकापदमात्रतः । पिधाने पिहितं सर्वमा-कञ्चेताभिमागतः ॥” तत्त्वसं० का० ५९३ । अवय० पृ० ८५ ।

पृ० ४०. पं० ४. 'न चावयवानामेव' तुलना—“तदारम्भकेऽवयवे वर्तत इति चेत्, यद्येवम्—अवयवानामेव रक्तवाद्यवयविकुपमरकमिति रक्तारकं समं दृश्येत ।” तत्त्वसं०

पं० पृ० २०० । “स्यादेतत्-पाण्यादावेकस्मिन्नवयवे कम्पमाने नावयविनः कम्परूपमभ्युपेयम् । अवयव एव हि तदा क्रियावान् दृश्यते । न चेदं मन्तव्यम् । अवयवे क्रियावति तदाधेयेन अवयविनापि क्रियावता भवितव्यम् । यथा रथे चलति तदाकरोऽपि चलतीति ।” अवय० पृ० ८२ ।

पृ० ४१. पं० १३. ‘भूयोऽवयव’-तुलना-“भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षानुगृहीतेनावयवेन्द्रियसन्निकर्षेण ग्रहणात् ।” व्यो० पृ० ४६ । अवय० पृ० ८५, ८७ ।

पृ० ४१. पं० १६. ‘न च’ प्रस्तुत पंक्तिमें ‘प्रतिभासेऽव्यव’ के स्थानमें ‘प्रतिभासेपि व्यव’-ऐसा संशोधन उपस्थित किया है वह पूर्वापरसंदर्भ की दृष्टिसे ही समजना चाहिए । शान्त्याचार्य ने दलील की है कि व्यवहित अवयवीको भी यदि जाना जाय तब तत्संलग्न अन्य भी जाना जा सकता है और इस प्रकार सबको सभी अवयवीका ज्ञान हो जायगा । यह दलील शान्त्याचार्य की ही होना चाहिए । इस दलीलको ध्यानमें रखें तो ‘व्यवहित’ पाठ ही ठीक जंचता है, ‘अव्यवहित’ नहीं ।

सन्मति तर्क टीका में प्रस्तुत प्रसंगमें ‘अव्यवहित’ ही पाठ है । और वहाँ यह संगत है । सन्मति० टी० पृ० १०४ पं० ३ । उपर्युक्त शान्त्याचार्यकृत दलील सन्मतिये नहीं है ।

पृ० ४१. पं० २४. ‘प्रवृत्तेरिति’ यहाँ तक शान्त्याचार्य ने यह सिद्ध किया है कि अवयवीका ग्रहण प्रत्यक्ष या स्मृतिये नहीं हो सकता है । अवयवीके अग्रहणका समर्थन सन्मति तर्क टीका में ( पृ० १०३-१०५ ) विस्तारसे है । प्रस्तुतमें वस्तुतः अवयवीका अग्रहण अभयदेव ने बौद्ध मतानुसार समर्थित किया है । और तदनुगामी शान्त्याचार्य ने भी वैसा ही किया । किन्तु जैन दृष्टिसे अवयवीका ग्रहण होता है कि नहीं, होता है तो किस प्रमाणसे— इस प्रश्नका उत्तर प्रस्तुतमें न तो अभयदेव ने दिया है और न शान्त्याचार्य ने । दोनोंको ईश्वरसाधक कार्यत्व हेतुका खण्डन करना ही अभीष्ट है । अवयवीका विचार इसी प्रसंगमें है अत एव बौद्ध नयका आश्रयण करके नैयायिक संमत अवयवीके खण्डनसे ही दोनोंका उद्देश सिद्ध हो गया । इसीसे प्रस्तुतमें जैन दृष्टिसे अवयवीके स्वरूप और ग्रहणका विचार दोनोंने नहीं किया ।

अवयवीके ग्रहणके विषयमें जैन दृष्टिसे प्रभाचन्द्र ने यह कहा है—“प्रत्यक्षस्पर्शादिसहायेन आत्मना अर्वाकूपरभागभाव्यवयवव्यापकत्व(?)स्य अवयविनो ग्रहणोपपत्तेः । न हि अस्माभिः प्रत्यक्षादिज्ञानपर्याय एव अर्थग्राहकोऽभिप्रेतः येनार्यदोषः स्यात्, किन्तर्हि? तत्परिणत आत्मा ।” न्यायकु० पृ० २३५ ।

अवयवीमें बौद्धों ने विरुद्धधर्मसंसर्गके कारण भेद सिद्ध किया है । जैन दृष्टिसे प्रभाचन्द्र ने उसमें संशोधन यह किया है कि वह भेद कथंचित् माना जाय ऐकान्तिक नहीं । क्योंकि जैन दृष्टिसे अवयवी निरंश नहीं—न्यायकु० पृ० २३५ ।

प्रभाचन्द्र का कहना है कि अवयवी रूपाद्यात्मक भी है । और उसकी सिद्धि प्रत्यभिज्ञा प्रमाणसे होती है । अवयवी अवयवोंसे कथंचिदभिन्न है, वास्तव है और एकानेकस्वभाव है—न्यायकु० पृ० २३६ ।

अवयवीकी चर्चाके लिये देखो—न्यायसू० २.१.३२-३६ । ४.२.५-१७ । न्यायसू० वि० पृ० ५४९-५५१ । व्यो० पृ० ४४ । कंदली पृ० ४१ । वादन्याय पृ० ३८ । प्रमाणवा० १.८६ इत्यादि । प्रमाणवा० अलं० पृ० ११३ । तत्त्वसं० का० ५३१-६२१ । अष्टसं० का० ६२ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ४०५, ११८-१२० । सन्मति० टी० पृ० १०२ । न्यायकु० २२० । प्रमेयक० पृ० ५४० । स्याद्वादर० पृ० ८७३ । श्लोकवा० वन० ७५ । शास्त्रदी० पृ० ४२, १०६ ।

पृ० ४१. पं० २६. 'यथाविधम्' तुलना—“स्थित्वा प्रवृत्तिः संस्थानविशेषार्थकियादिकु । इष्टलिखितलिखितार्थोऽद्यन्ते संशयोऽद्यवा ॥ १२ ॥ लिखं यादगधिष्ठातृमाभावावुत्तिमत् । सन्निवेशादि तद्युक्तं तस्माद् यदनुमीयते ॥ १३ ॥” प्रमाणवा० १ । तत्त्वसं० का० ६१ से । व्यो० पृ० ३०२ । कंदली पृ० ५५ । तात्पर्य० पृ० ६०० । सन्मति० टी० पृ० ११५ । न्यायकु० पृ० १०२ ।

पृ० ४२. पं० १६. 'विरुद्धं' तुलना—अत यथायमिष्टस्य विघातकदपीष्यते ।” तत्त्वसं० का० ७४ ।

पृ० ४२. पं० २७. 'तत्र' इसके बाद शान्साचार्यने ईश्वरकर्तृत्ववादकी असंगति दिखानेके लिये जिन कारिकाओं की रचना की है उनमें से बहुतसी श्लोकवार्तिक और प्रमाणवार्तिकालंकारसे शब्दशः उद्धृत की हैं और शेषकी रचना ईश्वरवादकी चर्चा करनेवाले अन्यग्रन्थोंकी युक्तियोंके आधार पर की है ।

ईश्वरवादके लिये निम्नलिखितग्रन्थ देखने चाहिए—न्यायसू० ४.१.२१ । न्यायवा० पृ० ४५७ । तात्पर्य० पृ० ५९५ । न्यायमं० वि० पृ० १९० । कुसुमांजली स्त० ५ । श्लोकवा० संबन्धाश्लो० ४३ । प्रमाणवा० १.१२ । प्रमाणवा० अलं० पृ० ४४ । तत्त्वसं० का० ४६ । शास्त्रवा० का० १९४ । आतपरीक्षा का० ८ । अष्टसं० पृ० २६८ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३६० । सन्मति० टी० पृ० ९३ । न्यायकु० पृ० ९७ । प्रमेयक० पृ० २६६ । स्याद्वादर० पृ० ४०६ ।

पृ० ४२. पं० २८. 'सचेतनं' तुलना—श्लोक० संबन्धा० ८१ । प्रमाणवा० अलं० पृ० ४४ ।

पृ० ४२. पं० १०. 'कुलाल' तुलना—प्रमाणवा० अलं० पृ० ४४ ।

पृ० ४३. पं० १. 'प्रेक्षावताम्' तुलना—वही पृ० ४४ ।

पृ० ४३. पं० २. 'प्रयोजनम्' तुलना—श्लोक० सं० ५५ । तत्त्वसं० का० १५६ । तत्त्वसं० का० १६९ ।

पृ० ४३. पं० ३. 'प्रयोजनम्' तुलना—वही० ५२ । प्रमाणवा० अलं० पृ० ४४ ।

पृ० ४३. पं० ४. 'छागादीनाम्' तुलना—प्रमाणवा० अलं० पृ० ४८ ।

पृ० ४३. पं० ६. 'क्रीडार्था' तुलना—श्लोक० सं० ५६ । प्रमाणवा० अलं० पृ० ४६, ९५ । तत्त्वसं० का० १६१ ।

पृ० ४३. पं० ७. 'किञ्चित्' तुलना—प्रमाणवा० अलं० पृ० ४९ ।

पृ० ४३. पं० ९. 'एकस्य' तुलना—प्रमाणवा० अलं० पृ० ४६, ९५ ।

पृ० ४३. पं० १०. 'कर्मणां' तुलना—तत्त्वसं० का० १५९ ।

पृ० ४३. पं० १७. 'अथेदंशः' तुलना—प्रमाणवा० अ० पृ० ४२ ।

पृ० ४३. पं० १८. 'स्वभावो' तुलना—तत्त्वसं० का० १५९ ।

पृ० ४४. पं० ३. 'प्रकृत्यन्तर' इत्यादि कारिका और उसका व्याख्यान मूलतः प्रमाण वार्तिकालंकारानुगामी है—पृ० १९० । और परंपरासे सन्मति० टी० पृ० ३०० और न्यायकु० पृ० ८२२ के साथ भी शब्द साम्य है ।

पृ० ४४. पं० ५. 'ते हि' व्योमशिवने भी 'गुणपुरुषान्तरविवेकदर्शनं निःश्रेयससाधनम्' इस सांख्यसंगत वाक्यको उद्धृत करके उसका खण्डन किया है । व्यो० पृ० २० ( घ ) ।

पृ० ४४. पं० ५. 'पुरुषः' "तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य । कैवल्यं भाग्यस्यं ब्रह्मत्वमकर्तृभाषणम् ।" सांख्य० का० १९ ।

पृ० ४४. पं० ६. 'शुद्धे' तुलना—"भोगापवर्गौ बुद्धिरुतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति ? । यथा विजयः पराजयो वा योद्धुषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते, स हि तस्य फलस्य भोकेति एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते, स हि तत्फलस्य भोकेति । बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धः । तदर्थोवसायो मोक्ष इति । एतैः ग्रहणधारणोद्घापोद्घातस्वज्ञानाभिनिवेशाः बुद्धौ वर्तमानाः पुरुषेऽध्वारोक्षितसङ्गाताः, स हि तत्फलस्य भोकेति ।" योगभाष्य २.१८ ।

पृ० ४४. पं० ६. 'अज्ञानतमश्छन्नः' तुलना—"तस्य हेतुरविद्या" योगद० २.२४ । "तथैतदन्यत्रोक्तम्—'व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनु मन्दति आत्मसम्पदं मन्वानः, तस्य चापदमनु शोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः, स सर्वोऽप्रतिबुद्धः' इति ।" योगभा० २.५ । न्यायकु० पृ० ८१५ ।

पृ० ४४. पं० ७. 'ज्ञानम्' यह ज्ञान विवेकरूपाति के नामसे प्रसिद्ध है । इसे प्रकृत्यन्तर-ज्ञान, तत्त्वज्ञान, केवलज्ञान या गुणपुरुषान्तरोपलब्धि भी कहते हैं—

"एवं तत्त्वाभ्यासाच्चास्मिन् मे नाहमित्यपरिशेषम् ।" सांख्य० का० ६३ । विवेकरूपातिरविज्ञावा हानोपायः ।" योगद० २.२६ । "किं ज्ञानं ? गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरूपमित्यर्थः ।"—मात्र० ६३ ।

पृ० ४४. पं० ९. 'विज्ञातस्वरूपा' तुलना—"प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्मषति । या दृष्टास्तीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्येका । सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥" सांख्यका० ६१, ६६ ।

पृ० ४५. पं० १. 'पञ्चबन्ध' तुलना—"पुरुषस्य दर्शनायै कैवल्यार्थं तथा प्रचानस्य । पञ्चबन्धवदुभयोरनिसंयोगात् तत्कृतः सर्गः ।" सांख्यका० २१ ।

पृ० ४५. पं० १३. 'पुद्गलावर्त' पञ्चसंग्रह में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे पुद्गलपरावर्त चार प्रकारका माना गया है ।

द्रव्य पुद्गलपरावर्तका स्वरूप इस प्रकार है—संसारमें भ्रमण करता हुआ एक जीव जितने कालमें समस्त परमाणुओंको ग्रहण करके छोड़ देता है उतने कालको बादर पुद्गल परावर्त और औदारिकादि किसी एक शरीरके द्वारा जितने कालमें समस्त परमाणुओंको ग्रहण करके छोड़ देता है उतने कालको सूक्ष्म पुद्गल परावर्त कहते हैं<sup>१</sup> ।

इसी प्रकार क्षेत्र, काल और भाव पुद्गल परावर्तों के स्वरूप वर्णनके लिये देखो—पञ्चसं० ७३-७५ । पञ्चप्रकर्मग्रन्थ गा० ८६-८८ ।

दिगम्बर शास्त्रोंमें उक्त चारके अतिरिक्त भवपरिवर्तनका वर्णन आता है । और द्रव्यादि पुद्गलपरिवर्तके स्वरूपमें भी थोड़ा मतभेद है । देखो—षट्खण्डागम पुस्तक ४. पृ० ३२५ । सर्वार्थ० २.१० । पञ्चमकर्मग्रन्थ पृ० २८१ ।

पृ० ४५. पं० १४. 'रत्नत्रय' सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन रत्न यहाँ अभिप्रेत हैं ।

यह कारिका उत्पादादिसिद्धि में उद्धृत है—पृ० २१४ ।

पृ० ४५. पं० १६. 'शरीराङ्गिणं' यहाँ से पृथिव्यादिभूतातिरिक्त आत्मतत्त्वके तथा अनुमानप्रामाण्यके निषेधक चार्वाकके खण्डनका प्रारंभ किया गया है ।

पृ० ४५. पं० १८. 'नानुमानं प्रमा'—जिस प्रकार माध्यमिकके सर्वशून्यवादका निषेध करनेके लिये स्ववचनविरोध<sup>२</sup> नामक दोष दिया जाता है उसी प्रकार चार्वाकसमत अनुमानाप्रामाण्यका खण्डन करनेके लिये भी वही दोष दिया जाता है—“स्ववचनविराक्तो यथा नानुमानं प्रमाणम्” न्यायवि० पृ० ८५ ।

'अनुमानप्रमाण नहीं है' चार्वाककी इस मान्यताका स्पष्टीकरण पुरन्दर नामके<sup>३</sup> किसी चार्वाकानुगामीने किया है कि लोकप्रसिद्ध अनुमान चार्वाकको सम्मत है । किन्तु दूसरे लोग लौकिक मार्गका अतिक्रमण करके अनुमान का निरूपण करते हैं अत एव उस अलौकिक अनुमानका प्रामाण्य खण्डित करना ही बृहस्पतिको अभिमत है ।

सारांश यह है कि प्रत्यक्षगम्य वस्तुओंका परस्पर सम्बन्ध जान कर अनुमान किया जा सकता है । किन्तु यदि उस अनुमानका क्षेत्र परोक्ष परलोक आदि तक निस्तीर्ण किया जाय तब वह अनुमान अलौकिक हो जाता है ।

अनुमानकी मर्यादित शक्ति सिर्फ चार्वाकने ही मानी है यह बात नहीं है । भर्तृहरिने भी एक ही विषयमें परस्पर विरोधी अनुमानों की प्रवृत्ति देखकर अनुमान प्रामाण्यमेंसे अपना विश्वास खो दिया<sup>४</sup> ।

पृ० ४५. पं० १८. 'चार्वाक' चार्वाक भूतवादी है । भौतिकवादका प्रारंभ दार्शनिक

१. पञ्चसं० ७२ । २. विग्रहव्या० का० १ । ३. “पुरन्दरस्तु आह—लोकप्रसिद्धमनुमानं चार्वाकेरपि इष्यत एव, यत्तु कैश्चिदलौकिकं मार्गमतिक्रम्यानुमानमुच्यते शक्तिविषयत इति”—तत्त्वसं० पं० पृ० ४३१ । ४. “अवस्थादेशकालानां नेदात्त मित्रास्तु शक्तिषु । भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरिति दुर्बेदा ॥ अनेनानुमितोऽप्यर्थः कुतश्चैरनुमातृभिः । अभियुक्ततरैरन्वैरन्वयैवोपपद्यते ॥” वाक्यरंज० काण्ड १ । तत्त्वसं० का० १४६०-१४६२ ।

विचारोंके साथ साथ ही है । उपनिषद् जैसे प्राचीन ग्रन्थमें भी भौतिकवादके बीजका पता चलता है। “विज्ञानघन पचैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येषानुबिनश्यति । न प्रेत्य संजाऽस्ति ।” बृहदा० २.४.१२ ।

प्राचीन जैन और बौद्ध शास्त्रमें भौतिकवादका स्पष्ट उल्लेख है । सूत्रकृतांगमें (१.१. १-८) कहा है कि कुछ भ्रमण-ब्राह्मण ऐसे हैं जो मानते हैं कि इस विश्वमें पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश ये पांच भूत ही हैं । आत्मा, देही या जीव इन पांचों भूतोंमेंसे ही उत्पन्न होता है । और इन पांचोंके विनाशके साथ ही जीवका भी विनाश हो जाता है ।

एक और मतका भी उल्लेख उसीमें (१.१.११-१२) है जिसके अनुसार यह शरीर ही आत्मा माना गया है । यह मत भी भौतिकवादविशेष ही है ।

इन दोनों मतोंके विषयमें सूत्रकृतांगके द्वितीय श्रुतस्कंधमें (अ० १.) विशेषतः कहा गया है कि ये लोग परलोकको नहीं मानते, पुण्यपापको नहीं मानते, हिंसा-अहिंसाको नहीं मानते और कहते हैं कि शरीर है तब तक जितना भोग किया जा सके करना चाहिए ।

बौद्ध ग्रन्थोंमें अजितकेसकम्बलके सिद्धान्त का वर्णन आता है । वह भी भौतिकवादी ही है—उसका कहना था कि न दान है, न यज्ञ है, न होम है, न पुण्य या पाप है । समुच्चार महाभूतोंसे बना है । मनुष्य जब मरता है तब उसमेंसे पृथ्वी धातु पृथ्वीमें लीन हो जाती है, अप्पाधु जलमें, तेजो धातु तेजमें, और वायु धातु वायुमें लीन हो जाती है । तथा इन्द्रियों आकाशमें मिल जाती हैं । मनुष्य मरे हुए को खाटपर रख कर ले जाते हैं । उसकी निन्दा प्रशंसा करते हैं । और जला देते हैं तब वह भस्म हो जाता है । आस्तिकवाद झूठा है । दाग होमादि कार्य मूर्खता मात्र है इत्यादि ।

महाभारतमें भी भौतिकवादियोंका उल्लेख है । कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें तथा पुराणोंमें भी उल्लेख मिलते हैं ।

इस दर्शन का मुख्य सूत्रग्रन्थ बृहस्पति कृत माना जाता है जो उपलब्ध नहीं । किसी अन्य चार्वाकाचार्य की भी चार्वाक सिद्धान्त प्रतिपादक कृति उपलब्ध नहीं होती । धर्म की ति क्त प्रमाण वार्तिक, हरिभद्रकृत षड्दर्शन समुच्चय और शास्त्रवार्ता समुच्चय तथा माधवाचार्यका सर्वदर्शन संग्रह ही ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें चार्वाक दर्शनका संक्षिप्त वर्णन पूर्वपक्ष रूपसे मिलता है ।

गायकवाड सिरीजमें तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है । उसमें चार्वाक दर्शनका मंडन नहीं है किन्तु इतर दार्शनिक संमत प्रमाणों का खण्डन करके कहा गया है कि जब प्रमाण ही सिद्ध नहीं तब प्रमेयकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? इस प्रकार एक वैतण्डिकके रूपमें तत्त्वोपप्लवसिंह कार जयरशिभद्व दार्शनिकोंके बीच उपस्थित होते हैं ।

प्रो. राधाकृष्णन् का कहना है कि प्राचीन मंत्रवाद और धार्मिक क्रियाकाण्डके विरोध करने में चार्वाक जैसे भौतिकवादियोंको काफी बल लगाना पड़ा है । कालक्रमसे धार्मिक

१. सर्वद० पृ० १ । २. दीव० सामञ्जसफलसुप्त । ३. शांतिपर्व-स्तो० १४१४, २३३०-४३ । शतसप्तर्षि स्तो० ३६१९ । ४. विष्णुपुराण-३.१८.१४-२६ ।

संसारें रूढ़ हो जाती हैं और मनुष्य धार्मिकक्रियाकाण्डोंको यत्नवत् करने लग जाता है तब वैसी संस्थाओंसे और वैसे क्रियाकाण्डोंसे मनुष्य पूरा लाभ नहीं उठा सकता है । ऐसे समयमें मनुष्यको अपने अन्धविश्वासों और बह्मोंसे मुक्त करने के लिये चार्वाक जैसे वादका उत्थान आवश्यक हो जाता है । वस्तुतः भौतिकवाद व्यक्तिके स्वातन्त्र्यवादको अपसर करता है । और आगमप्रामाण्यका बहिष्कार करके तर्कवादका आश्रय लेता है । चार्वाक ने भूतकालीन पीडाजनक भारसे उस समयकी जनताको मुक्त करने के लिये अत्युग्र प्रयत्न किया है । धार्मिक कष्टरताका उसने जो निषेध किया वह उस जमानेमें आवश्यक भी था । फलस्वरूप कष्टरताके स्थानमें आगे जाकर रचनात्मक दार्शनिक विचारों की विविध धाराएँ चली ।

प्र० राधाकृष्णम् का यह कथन भगवान् बुद्ध और महावीरके जमानेको लक्ष्यमें रखकर हुआ है । किन्तु भौतिकवाद का सामान्यलक्षण उन्होंने जो यह बताया कि भौतिकवाद व्यक्तिके स्वातन्त्र्यवाद को प्राधान्य देता है और मनुष्यको रूढ़िवादसे छुड़ाने का कार्य करता है वह जयराशि के दर्शनमें भी चरितार्थ हुआ हम देखते हैं ।

बृहस्पति के दर्शनने उस जमानेमें परलोक के लिये किये जानेवाले नानाप्रकारके वेदप्रतिपादित यज्ञों और क्रियाओंके भारसे मनुष्यको मुक्त करानेका सप्ताहस किया और साथ ही दार्शनिक विचारधाराओं तथा ध्यान और तपस्या जैसे धार्मिक आचारोंके निर्माणके लिये भी मार्ग साफ कर दिया । किन्तु समय की गतिमें पड़ कर ये दार्शनिक विचार भी रूढ़ और स्वतन्त्रबुद्धिशक्तिके घातक ही सिद्ध हुए । बुद्ध या महावीर, गौतम ब्राह्मण, जैमिनी या बादरायण, कपिल या पतञ्जली इन सभी के विचारोंको लेकर भिन्न भिन्न दार्शनिक धाराएँ चलीं । किन्तु समयके चक्रमें पड़कर सभी दार्शनिक धाराएँ भी रूढ़ मान्यताओंमें परिवर्तित हो गईं । वेदके ऋषिओंके वचनोंका जैसा महत्त्व था वैसा ही महत्त्व इन बुद्ध-महावीर आदि सभी दार्शनिकोंके वचनोंका भी हो गया । प्रायः सभी दार्शनिक अपनी बुद्धि और तर्कशक्तिसे स्वतन्त्र विचार करना छोड़ कर उन प्राचीन पुरुषोंके वचनोंका समर्थन करनेमें ही चरितार्थताका अनुभव करने लगे । ऐसे समयमें फिर बृहस्पति जैसे एक चार्वाक की अत्यन्त आवश्यकता थी जो इन सभी आगमाश्रित बुद्धिवादियोंको बताता कि तुम्हारी बुद्धिशक्तिका, तर्कशक्तिका मार्ग अवरुद्ध हो गया है । तुम लोगोंने अपनी तर्कशक्तिको एक खीलेमें बांधकर उसका खैरबिहार रोक दिया है । अतएव देखो तुम तार्किक कहलानेवालोंमें कैसा परस्पर विरोध आता है और तुम्हारे तर्कवादमें कैसा खोखलापन है । जयराशि ने आठवीं शताब्दिमें यही किया । उन्होंने दार्शनिकोंकी ही दलिलोंका उपयोग परस्परके खण्डनमें कर के यह सिद्ध कर दिया कि किसी भी दार्शनिक की कोई बात अविरुद्ध सिद्ध नहीं होती है ।

जयराशि की परंपरा उन्हीं तक सीमित रही हो ऐसा माह्रम देता है । क्योंकि जयराशि की शैलीका तो दूसरे दार्शनिकोंने पूर्वपक्षोंका खण्डन करनेके लिये उपयोग किया है किन्तु 'प्रामाण्यप्रमेय सर्वथा असिद्ध है अतएव परम तत्त्वकी सिद्धि मानी नहीं जा सकती' इस बातका समर्थन जयराशि के बाद किसीने किया हो ऐसा अभी तक देखनेमें नहीं आया । खण्डन-



खास में श्रीहर्ष ने परमब्रह्मका बाधक प्रमाण कोई हो नहीं सकता इस बातको समर्थित करनेके लिये प्रमाणों की अस्तित्व बतलाई है किन्तु उस अस्तित्वके पीछे परम ब्रह्मकी सिद्धि उसको अभिप्रेत है । जब कि जयराशिको प्रमाणकी अस्तित्वके पीछे तत्त्वोपप्लव अभिप्रेत है । जयराशिको बृहस्पतिसंमत भूत भी अनिष्ट है । वह तो कहता है कि बृहस्पति ने चार भूतोंके अस्तित्वकी बात सूत्रबद्ध की है वह उनका सिद्धान्त नहीं है, किन्तु उन्होंने लोकसिद्ध भूतोंका अनुवाद मात्र किया है ।

पृ० ४५. पं० २०. 'प्रतिज्ञादधिप्यते' देखो, पृ० ६१.

पृ० ४५. पं० २६. 'चैतन्यब्रह्म' जैनागमों में चार्वाकमतका निषेध किया गया है । निर्युक्ति, भाव्य, कूर्णि आदि आगमिक टीकाग्रन्थोंमें तथा सन्मतितर्क टीका जैसे दार्शनिक ग्रन्थोंमें भी चैतन्यसाधक प्रमाण उपलब्ध होते हैं । किन्तु प्रस्तुतमें शान्त्याचार्य ने प्रमाण कालिकाकंकार (पृ० ६७—११२) में से ही शब्दशः अवतरण करके जीवतत्त्वकी सिद्धि की है । प्रज्ञाकरके कई श्लोकों को 'तदाह' या 'तदुक्तं' ऐसे निर्देशके बिना ही तथा उनकी युक्तियोंको शब्दशः उतार कर शान्त्याचार्य ने प्रज्ञाकरके पाण्डित्यके प्रति अपना मूक आदर ही व्यक्त किया है ।

यहाँ एक बातका स्पष्टीकरण करना अत्यन्त आवश्यक है । बौद्धों ने चैतन्यकी सिद्धि की है सही । परंतु बौद्धोंके मतसे चैतन्यका अर्थ जीवद्रव्य नहीं है । अपि तु चित्तसंतति है । जैन मतसे ज्ञानधाराका — ज्ञानपर्यायोंका जो स्वरूप है वही बौद्धसंमत चित्तसंतति है । जैसे जैनोंके मतसे ज्ञानपर्याय प्रत्येकक्षणमें बदलते रहते हैं और पूर्वज्ञानका नाश होते ही उत्तरज्ञान पर्याय उत्पन्न होता है । वैसेही बौद्धोंके मतसे पूर्वचित्तका नाश और उत्तर चित्तका उत्पाद होता है । इस प्रकार चित्तकी धारा — चित्तकी संतति अनादि कालसे प्रवृत्त है और आगे भी चलती रहती है ।

बौद्ध पर्यायवादी हैं, द्रव्यवादी नहीं । अत एव उनके मतसे चित्त अर्थात् एकमात्र ज्ञान ही है किन्तु ज्ञानको धारण करनेवाले किसी अन्य द्रव्य का अस्तित्व नहीं । जब कि जैन द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुवादी होनेसे ज्ञानको जीवद्रव्यका गुण कहते हैं । और इसी गुणकी विविध अवस्थाओंको पर्याय । अत एव चैतन्यकी सिद्धिके प्रसङ्गमें जैन-बौद्ध एक होकर चार्वाकको परास्त करें यह स्वाभाविक है । किन्तु इतना करनेके बाद भी जैन और बौद्धों का आपसी शास्कार्य बाकी ही रह जाता है । प्रस्तुत प्रसंगमें शान्त्याचार्य ने चैतन्यके पार्थक्यकी सिद्धि करके ही शास्कार्य पूर्ण किया है किन्तु अन्यत्र अनेकान्तवाद की सिद्धिके प्रसंगमें (पृ० ११७) बौद्धसंमत द्रव्याभाव का निरास किया है ।

बौद्धोंके मतसे चित्तक्षण एकान्त क्षणिक हैं । क्षणिक चित्तोंका उत्तरोत्तर उत्पाद निरन्तर होता रहता है । निरन्तर अपरापर स्पृश चित्त क्षणोंकी उत्पत्तिके कारण सादृश्यमें एवम्बका भ्रम होता है और द्रष्टा इन अनेक चित्तक्षणोंकी संतति — धाराको एक वस्तु समझ लेता है ।

१. "सकम्, अनात्मत्वं चैतन्यं संवामायेकथा न पुनरेकान्वविद्रव्यायेकथा, क्षणिकचित्तानामन्वया-  
नुपपत्तेरित्यपरः । सोप्यनात्मज्ञः । सद्रव्यवत्त्वस्य अनुमानवाचितत्वात् । तथा हि । एकसन्धानाद्विष-  
यबोधात्मकोऽभिप्रेतः । प्रत्यभिज्ञापमानत्वात् दृष्ट्याया यथेरताः ॥" तत्त्वार्थको० पृ० ३३ ।

संतति या संतान एक वस्तु नहीं किन्तु काल्पनिक है, अवस्तु है । अर्थात् अनुयायि कोई जीव द्रव्य संसारमें वस्तुभूत नहीं, काल्पनिक है । और ऐसे अनेक सर्वथा पृथक्भूत काल्पनिक संतान संसारमें विद्यमान हैं जिन्हें हम नाना नामोंसे पुकारते हैं ।

जे न दार्शनिकोंका कहना है कि वस्तुभूत एकत्वका यदि निह्वन किया जाय अर्थात् अनुयायि जीव द्रव्यका निह्वन किया जाय तब संतानकी ही घटना नहीं हो सकती है । संतानकी घटना प्रतीत्यसमुत्पादके बल पर अर्थात् कार्यकारणभावके बल पर की जाती है । पर कार्योत्पत्तिके लिये यह आवश्यक है कि कारण, कार्यके कालमें भी मौजूद रहे । क्षणिक-वादमें ऐसा संभव नहीं । यदि समसामयिकोंमें सव्येतर गोशृंगवत् कार्यकारणभाव बाधित मान-कर कारणकी स्थिति कार्यकालमें न मानी जाय तो कारणको पूर्वकालमें और कार्यको उत्तर-कालमें मानना होगा । किन्तु प्रतिनियत पूर्वभावी वस्तुको ही प्रतिनियत उत्तरभावि कार्यका कारण मानने के लिये अर्थात् प्रतिनियत वस्तुओंमें ही कार्यकारणभाव माननेके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि उन पूर्वापरभावि कारण और कार्यमें अन्यकी अपेक्षा अतिशय या प्रत्यासत्तिविशेष माना जाय अन्यथा कार्यकारणभावकी व्यवस्था हो नहीं सकती । सब सबका कार्य या कारण हो जायगा । वह अतिशय या प्रत्यासत्ति और कुछ नहीं किन्तु कथंचिदैक्य ही है अर्थात् द्रव्य ही है ।

पृ० ४५. पं० २६. 'जन्मादौ' तुलना—“प्राणिनामाद्यं चैतन्यं चैतन्योपादानकारणकं विद्विषतस्त्वात् मध्यचैतन्यविधर्तवत् ।” अष्टसं० पृ० ६३ ।

पृ० ४५. पं० २७. 'अभ्यासपूर्विका' तुलना—“पूर्वाभ्यासस्तृप्त्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसंप्रतिपत्तेः । प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषः ।” न्यायसू० ३.१.१९, २२ । न्यायमं० वि० पृ० ४६९ । बृहती पृ० २०७ । तत्त्वसं० पं० पृ० ५३२ । प्रमेयक० पृ० ११९ । न्यायकु० पृ० ३४७ ।

पृ० ४६. पं० ४. 'अथ' यहाँ से लेकर पं० १९ पर्यन्त शब्दशः प्रमाणवार्तिकालंकारके पृ० ६७ से उद्धृत है ।

पृ० ४६. पं० ४. 'कार्यकारणभावः' कार्यकारणभाव व्यवस्थित नहीं हो सकता है इस बातका समर्थन भर्तृहरि ने भी किया है । देखो वाक्यप० १.३२ से । भर्तृहरिके इस मतका खण्डन धर्म कीर्ति ने किया है—हेतुबिन्दु पृ० १५३ ।

तुलना—प्रमाणवा० ३.३३-३७ । तत्त्वसं० का० १४६०-१४६२, १४७५-७७ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १४९ । अष्टसं० अष्टसं० पृ० ७१-७२ । सन्मति० टी० पृ० ५०, ७० । प्रमेयक० पृ० ११८, ५१३ ।

पृ० ४६. पं० २०. 'न च' यह पंक्ति गद्यमें है । किन्तु पद्यरूपसे छपी है । 'चेतसः' के बाद का पूर्णविराम तथा अवतरणचिह्न निकाल देना चाहिए ।

यहाँ से लेकर आगेका भाग प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० १०५ से उद्धृत है ।

पृ० ४६. पं० २७. 'अपूर्वोत्पन्नस्य' प्रमाणवा० अहं० पृ० १०६ ।

१. भातमी० का० २९ । २. अष्टशती का० २९ । न्यायकु० पृ० ९ ।

पृ० ४६. पं० ३०. 'अथ' 'अथ' शब्दके बाद अवतरण चिह्न रखना चाहिए । कोष्ठ-कान्तर्गत पाठ निकाल देना चाहिए ।

पृ० ४६. पं० ३०. 'देहात्मिका' तुलना—प्रमाणवा० अलं० पृ० ३५ । व्यो० पृ० ३२३ ।

पृ० ४७. पं० १७. 'अथ यदि' प्रमाणवा० अलं० पृ० ७० ।

पृ० ४७. पं० २६. 'यतो मृतस्य' प्रमाणवा० अलं० पृ० ८९ ।

पृ० ४७. पं० २९. 'अथ वैगुण्य' प्रमाणवा० अलं० पृ० ९० ।

पृ० ४८. पं० ९. 'तथा हि' प्रमाणवा० अलं० पृ० ९३ ।

पृ० ४८. पं० १३. 'किञ्च' प्रमाणवा० अलं० पृ० ९३ ।

पृ० ४८. पं० २७. 'चक्षुरादीनि' प्रमाणवा० अलं० पृ० ७० ।

पृ० ४९. पं० ५. 'प्राणापान' प्रमाणवा० अलं० पृ० ८४ ।

पृ० ४९. पं० १६. 'अथ स्थिरो वायुः' वही ।

पृ० ४९. पं० २२. 'नापि देहाश्रितम्'—प्रमाणवार्तिकमें आश्रयाश्रयिभावका निरास करके देहाश्रितचैतन्यका निरास किया गया है—प्रमाणवा० १.६५—७४ । उसीके आधार पर प्रज्ञा करने जो विवरण किया है वही यहाँ उद्धृत है—अलं० पृ० ९६ । अष्टसं० पृ० १८६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १५१ ।

पृ० ५०. पं० २६. 'नापि कायात्मकम्' प्रमाणवा० अलं० पृ० १११ ।

पृ० ५०. पं० २८. 'अन्तःस्पृष्टव्य' प्रमाणवा० अलं० पृ० १०६ ।

पृ० ५१. पं० १. 'अथ' वही पृ० ८६ ।

पृ० ५१. पं० ८. 'अथ' वही पृ० ७२ ।

पृ० ५१. पं० ११. 'चैतन्येन' शरीरादिसे अतिरिक्त आत्मतत्त्वकी सिद्धिके लिये देखो—न्यायसू० ३.१ । न्यायमं० वि० पृ० ४३७ । व्यो० ३९१ । श्लोकवा० आत्मवाद । प्रमाणवा० १.३७ । तत्त्वसं० का० १८५७—१९६४ । ब्रह्मसू० शां० ३.३.५३ । धर्म-संग्रहणी गा० ३६—। विशेषा० गणधरवाद । अष्टसं० पृ० ६३ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६ । प्रमेयक० पृ० ११० । न्यायकु० पृ० ३४१ । स्याद्वादर० पृ० १०८० ।

पृ० ५१. पं० १७. 'अन्त्यसामग्र्य' इस कारिकाकी टीकामें गीमांसक और धर्मकीर्ति संमत सर्वज्ञखण्डन को विस्तारसे पूर्वपक्षरूपसे उपस्थित करके सर्वज्ञकी सिद्धि की गई है । पूर्वपक्ष को उपस्थित करनेमें गद्यकी अपेक्षा पद्य का ही विशेष अवलम्बन लिया है । क्योंकि मूल पूर्वपक्ष गीमांसाश्लोकवार्तिक और प्रमाणवार्तिकमें कारिकाबद्ध ही है । और शान्तरक्षितने भी सर्वज्ञसिद्धिके प्रसंगमें कुमारिलसंमत पूर्वपक्ष कारिकाओंमें ही उपस्थित किया है । शान्त्याचार्यने प्रायः सभी पूर्वपक्षकी कारिकाएँ उक्त तीनों ग्रन्थोंसे ही उद्धृत करके पूर्वपक्षकी योजना की है । कुछ कारिकाएँ ऐसी हैं जो उक्त ग्रन्थोंमें नहीं हैं । उन्हें शायद शान्त्याचार्यने स्वयं निबद्ध किया हो या अन्य किसी ग्रन्थसे उद्धृत किया हो ।

सर्वज्ञवादके तुलनात्मक ऐतिहासिक विवेचन के वास्ते जिज्ञासुओंको प्रमाणगीमांसाका भाषाटिप्पण (पृ० २७) देखना चाहिए ।

उत्पादादि सिद्धि के कर्ताने सर्वज्ञवादकी चर्चा, शान्स्याचार्य की इस टीका के आकारसे ही की हो ऐसा दोनोंकी तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है—उत्पादा० पृ० २०९ ।

पृ० ५१. पं० २९. 'पूर्वमेव' देखो, पृ० २९ ।

पृ० ५६. पं० १०. 'दशोत्पाद्यापि' देखो, पृ० ५२. पं० १-५ ।

पृ० ५६. पं० २४. 'नियोगः' प्रज्ञा करने प्रमाणवार्तिकालंकारके प्रारम्भमें ही नियोगवाद, विधिवाद और भावनावादका विस्तारसे खण्डन करके अपोहवादकी स्थापना की है । अष्टसहस्री' और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें विद्यानन्द ने इन वादोंके विवेचनमें उक्त ग्रन्थसे प्रायः शब्दशः उद्धरण किया है । प्रस्तुतमें शान्स्याचार्य ने भी नियोग, भावना और विधिवादका खण्डन करनेके लिये प्रज्ञा करका ही अनुसरण किया है ।

इन वादोंके विषयमें तुलनात्मक दृष्टिसे विशेष जाननेके लिये न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५५१) और उसकी संपादककृत टिप्पणियाँ देखने योग्य हैं । तथा देखो, सन्मति० टी० पृ० १७३ ।

पृ० ५६. पं० २८. 'प्रचण्डप्रभु' तुलना—प्रमाणवा० अ० पृ० ८ ।

पृ० ५७. पं० २. 'विपर्ययात्' तुलना—वही ।

पृ० ५७. पं० ११. 'तद्धर्मतायामपि' तुलना—वही पृ० ९ ।

पृ० ५७. पं० २०. 'एतच्च' तुलना—वही पृ० १४ ।

पृ० ५७. पं० २५. 'अथ शब्दात्' तुलना—वही पृ० १० ।

पृ० ५८. पं० १. 'भावना' तुलना—वही० पृ० १८ ।

पृ० ५८. पं० ३७. 'उक्तम्' देखो, पृ० ५२. पं० २३ ।

पृ० ५९. पं० १. 'तुल्यजातीय' तुलना—"यस्माच्च तुल्यजातीयपूर्वबीजप्रवृत्तयः । कृपादिबुद्धयस्तासां सत्यभ्यासे कुतः स्थितिः ॥" प्रमाणवा० १.१२८ । तत्त्वसं० का० ३४१४ ।

पृ० ५९. पं० ९. 'धर्माधर्मज्ञता' तुलना—"स्वधर्माधर्ममात्रज्ञसाधनप्रतिषेधयोः । तत्प्रतीतागमप्राज्ञाहेयत्वे हि प्रतिषेधतः ॥ ३१४० ॥ तत्र सर्वज्ञगत्स्वरूपमेव ज्ञत्वसाधने । अस्थाने क्लियते लोकः संरम्भाद् ग्रन्थवादयोः ॥ ३१४१ ॥ निःशेषार्थपरिज्ञानसाधने विफलेऽपि च । सुधियः सौगता यत्नं कुर्वन्त्यन्येन चेतसा ॥ ३३०८ ॥ स्वर्गापवर्गसंप्राप्तिहेतुकोत्तीति गम्यते । साक्षात् केवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते ॥ ३३०९ ॥ तत्त्वसं० । "मुक्तं हि तावत् स्वर्गमोक्षसंप्रापकहेतुज्ञत्वसाधनं भगवतोऽस्माभिः कियते, यत्पुनरशेषार्थपरिज्ञातृत्वसाधनमस्य तत् प्राप्तिकम्, अन्यत्रापि भगवतो ज्ञानप्रवृत्तेर्बाधकप्रमाणाभावात् साक्षादशेषार्थपरिज्ञानात् सर्वज्ञो भवन् न केनचिद्वाध्यत इति ।" तत्त्वसं० पं० पृ० ८६३ ।

पृ० ५८. पं० १५. 'जे एगं जाणइ' तुलना "यथोक्तं—'भावस्यैकस्य यो ब्रह्मा ब्रह्मा सर्वस्य स स्मृतः । एकस्य शून्यता यैव सैव सर्वस्य शून्यता ॥" इति । "आर्यगणनज्ञसमाधिचूनेऽपि—'एकेन धर्मेण यु सर्वधर्मान्, अनुगच्छते मायमरीचिसदृशान् । भगवा-

तुल्यमानलिकानशाब्धतात् सो बोधिमण्डं न विरेष गच्छति ॥" इति ।" मध्यमकवृत्ति पृ० १२८ । विशेषा० गा० ३२० । स्याद्वादमं० का० १४ ।

पृ० ५९. पं० १५. 'सकलकर्म' तुलना—प्रमाणवा० अ० पृ० १३५ ।

पृ० ५९. पं० १८. 'यथाहि' तुलना वही० पृ० ५११ ।

पृ० ६०. पं० २. 'संख्या' तुलना—“विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं शास्त्रम् । संख्या-स्वरूपगोचरफलविषया चतुर्विधा चात्र विप्रतिपत्तिः ।” प्रमाणसमु० टी० १.२ । न्यायवि० टी० पृ० ९ । न्याया० टी० पृ० ८ ।

## द्वितीयपरिच्छेदः ।

पृ० ६०. पं० ५. 'ज्ञानपेक्षं' तुलना—“अयमत्रामिप्रत्ययः—स्वसंवेदनं प्रति निश्चित-ज्ञानानामेकरूपतया साक्षात्करणचतुरस्यात् नास्त्येव भेदः, बहिरर्थं पुनरपेक्ष्य कश्चित् चक्षुरादिसामग्रीबललब्धसत्ताकः स्वावयवव्यापिनं कालान्तरसंचरिण्युं स्वमितकृत्ववि-धत्तमलक्षितपरमाणुपारिमाण्डव्यं संनिहितं विशदनिर्मासं सामान्यमाकारं साक्षात्कुर्वाणः प्रकाशः प्रथते तत्र प्रत्यक्षव्यवहारः प्रवर्तते । यः पुनर्लिङ्गशब्दादिद्वारेण नियतानियत-सामान्याकाराबलोकी परिस्फुटतरहितः स्वस्वात्मनोऽर्धग्रहणपरिणामः समुल्लसति स परोक्षतां स्वीकरोति ।” न्याया० टी० पृ० २५ ।

पृ० ६०. पं० ५. 'प्रमेयस्य' शान्स्याचार्यने द्वितीयपरिच्छेदके प्रारम्भमें दो बातें कही हैं—

( १ ) प्रमेय दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष ।

( २ ) प्रमेय दो हैं अत एव प्रमाण भी दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष ।

शान्स्याचार्य के इस कथनको समझनेके लिये बौद्ध विद्वान् दिग्भाग और धर्मकीर्ति के ऐसे ही मन्तव्योंका योद्धा स्पष्टीकरण आवश्यक है । क्योंकि इन दोनों बातोंका जैनदर्शनमें प्रवेश और स्पष्टीकरण, उन्हीं दोनोंकी विचारधाराके आधार पर हुआ है ।

जैनाचार्योंने इन बातोंको अपनाकर भी जैनदार्शनिक दृष्टिका पुट उन पर दिया है । अत एव तुलनाके साथ साथ विषमताका स्पष्टीकरण और समन्वय भी दिखाना आवश्यक हो जाता है । इस लिये निम्नलिखित मुद्दों पर यहाँ विचार किया जाता है—

१ — दिग्भागसम्मत प्रमाणविग्रह ।

२ — धर्मकीर्तिसम्मत स्वलक्षण और सामान्यका भेद ।

३ — धर्मकीर्तिसम्मत एक ही प्रमेय ।

४ — धर्मकीर्तिसम्मत प्रमाणविग्रह ।

५ — धर्मकीर्तिके मतका संक्षेप ।

६ — जैनदार्शनिकोंका अभिमत, उसका बौद्धोंसे साम्य-वैषम्य तथा समन्वय ।

७ — जैनसम्मत प्रमाणविग्रह और सम्बन्ध ।

१ — दिग्भागने प्रमाण समुच्चय की खोपड़ वृत्तिमें स्पष्ट कहा है कि प्रमेय दो प्रकारका है अत एव दो ही प्रमाण हैं । स्वलक्षण और सामान्यके अतिरिक्त प्रमेय नहीं है । टीकाकारने

स्पष्टीकरण किया है कि खलक्षणको विषय करनेवाला प्रत्यक्ष ही है और सामान्यविषयक अनुमान ही है<sup>१</sup> ।

भावार्थ यह है कि प्रमाणसंग्रह नहीं किन्तु प्रमाणविग्रह दिग्भागसंमत है । अर्थात् एक प्रमेयको विषय करने वाले दो प्रमाण नहीं हैं और साथ ही एक प्रमाणके अनेक विषय भी नहीं हैं । बौद्ध संमत क्षणिकवादमें से ही उक्त सिद्धान्त फलित हुआ है ।

२-धर्म की त्रिं दिग्भागके प्रमाणसमुच्चयका वार्तिककार है । अत एव उसने इस विषयकी गंभीर चर्चा की है । उसने भी दिग्भागके मूल कथनको दोहराया है—

“मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात् शक्यशक्तिः ।

अर्थक्रियायां, केशादिर्नाथोऽनर्थाधिभोक्षतः ॥” प्रमाणवा० २.१ ।

धर्म की त्रिं ने दोनों विषयोंका स्पष्टीकरण विस्तारसे किया है । किन्तु खलक्षण और सामान्यके भेदको संक्षेपमें इस प्रकार अवगत करना चाहिए—प्रमाणवा० २.१-३, २७, २८, ५०-५१ ।

| खलक्षण   | सामान्य  |
|--|--|
| १ अर्थक्रियामें शक्त   | १ अर्थक्रियामें अशक्त  |
| २ असदृश—सर्वतो व्यावृत्त                                     | २ सदृश—सर्वव्यक्तिसाधारण   |
| ३ शब्दाविषय—अवाच्य   | ३ शब्दविषय—वाच्य   |
| ४ स्वातिरिक्तनिमित्तके होने पर स्वविषयक बुद्धिका अभाव        | ४ स्वातिरिक्तनिमित्तके होने पर स्वविषयक बुद्धिका सद्भाव ।                    |
| ५ परमार्थसत्—अकल्पित   | ५ संवृत्तिसत्—कल्पित   |
| ६ सस्वभाव  | ६ निःस्वभाव  |
| ७ वस्तु  | ७ अवस्तु   |
| ८ असाधारण  | ८ साधारण   |
| ९ संकेतस्मरणानपेक्षप्रतिपत्तिकत्व                            | ९ संकेतस्मरणसापेक्षप्रतिपत्तिकत्व  |
| १० सन्निधानासन्निधानसे स्फुट या अस्फुट रूप प्रतिभासभेदका जनक | १० सन्निधानासन्निधानसे स्फुट या अस्फुट रूप प्रतिभासभेदका अजनक <sup>१</sup> । |

३-इस प्रकार खलक्षण और सामान्यका भेद सिद्ध करके धर्म की त्रिं ने सूचित किया है कि परमार्थसत् तो खलक्षण ही है और सामान्य काल्पनिक है । अत एव सामान्य भाव, अभाव और उभयाश्रित है,<sup>२</sup> स्वतन्त्र नहीं । जब सामान्यकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं तब वस्तुतः प्रमेय एक ही है<sup>३</sup> । और वह खलक्षण ही है । उसीसे अर्थक्रियाकी सिद्धि होती है अत एव प्रमाता उसीकी सत्ता या असत्ताकी विचारणामें तत्पर होता है<sup>४</sup> ।

१. प्रमाणसमु० १.३ । २. “विजानाति न विज्ञानमेकमर्थद्वयं यथा । एकमर्थं विजानाति न विज्ञानद्वयं तथा”—सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत १.१२ । ३. “यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानान्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः तत् खलक्षणम् । ...अन्यत् सामान्यलक्षणम् ।” न्यायवि० पृ० २३-२४ । ४. “सामान्यं त्रिविधं तच्च भावाभावोभयाश्रयात्” प्रमाणवा० २.५१ । ५. “मेवं लेकं खलक्षणम्” प्रमाणवा० २.५३ । ६. तस्मादर्थक्रियासिद्धेः सदसत्ताविचारणात्—प्रमाणवा० २.५४ ।

यहाँ प्रश्न होता है कि यदि प्रमेय एक ही है तब दिग्भाग ने दो प्रमेय माना है और स्वयं धर्म की तिने भी प्रारम्भमें प्रमेयद्वैविध्य बताया है उसकी क्या गति होगी ? । इस प्रश्नका उत्तर धर्म की तिने दिया है कि प्रमेय एक ही है किन्तु उसका ज्ञान दो प्रकारसे होता है । अत एव प्रमेयका द्वैत घट सकता है । उसका कहना है कि एक ही प्रमेयकी गति—ज्ञान स्व-पररूपसे होती है । स्वलक्षणका 'स्व'रूप प्रत्यक्ष गम्य है । और 'पर'रूप अनुमानगम्य है । स्वलक्षणका असाधारणरूप 'स्व'रूप है और वही प्रत्यक्षका विषय है । स्वलक्षणका 'पर'रूप सामान्य है या साधारणरूप है । यह साधारणरूप 'पर'रूप इसी लिये है कि वह आरोपित है—कल्पित है और वही अनुमानगम्य है ।

'सामान्य तो आरोपित है अत एव असत् होनेसे प्रमेय हो नहीं सकता इस लिये तद्विषयक अनुमानका प्रामाण्य पृथक् माना नहीं जा सकता' चार्वाक की इस शंकाका भी समाधान धर्म-की तिने किया है । उसने चार्वाक की इस बातको तो मान ही लिया कि असत् प्रमेय हो नहीं सकता । किन्तु साथ ही अनुमानके प्रामाण्यको भी दूसरे ढंगसे सिद्ध किया है । प्रस्तुतमें धर्म की तिने अभिप्रायको टीकाकारने स्पष्ट किया है कि स्वलक्षण ही पररूपसे अवगत होता है तब सामान्यलक्षण कहा जाता है । और वह तो सत् ही है अत एव वह अप्रमेय कैसे ? इस लिये उसका साधन भी प्रमाण ही है । यह स्पष्टीकरण धर्मकीतिने विचारका विवरण है, टीकाकारकी अपनी सूझ नहीं ।

४—एक ही प्रमेय को उपर्युक्त रीतिसे दो प्रकारका सिद्ध करके धर्म की तिने उसी दिग्भाग सम्मत प्रमाणविच्छेदवादका समर्थन किया है । और प्रतिपादित किया है कि प्रमेय दो हैं अत एव प्रमाण भी दो होने चाहिए । इस विषयमें प्रमाणसंख्यवादीकी ओरसे या चार्वाककी ओरसे जो शंकाएँ होती हैं, उसका समाधान करके दिग्भागके मतका स्पष्टीकरण भी धर्मकीतिने किया है ।

प्रत्यक्ष ही सामान्य विषयक हो तो क्या बाधा है इस शंकाका समाधान यों किया है कि प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है और सामान्यका ग्रह विकल्पके बिना नहीं होता । अत एव सामान्यग्राहक प्रत्यक्ष हो नहीं सकता किन्तु अनुमानको ही उसमें प्रमाण मानना चाहिए—प्रमाणवा० २.७५ ।

सामान्यविशेषात्मक तृतीयप्रमेयका असंभव सिद्ध करके उसने प्रमेयद्वैत्वके नियमसे प्रमाण-द्वैत्वका नियम स्थिर किया है—वही० २.७३-८० ।

५—धर्म की तिने के मतका संक्षिप्त सार यह है कि प्रमेय वस्तुतः एक ही है किन्तु उसी एक ही वस्तुकी स्व और पर रूपसे होनेवाली प्रतीतिके आधार पर ही प्रमेयके दो भेद हैं—स्वलक्षण और सामान्य । स्वलक्षण प्रत्यक्ष कहा जाता है क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय है और

१. "तस्य स्वरूपान्ध्या गतेर्मेवद्वयं मतम् ॥" प्रमाणवा० २.५४ । "तस्य स्वलक्षणस्य प्रत्यक्षतः स्वरूपेण, अनुमानतः पररूपेण सामान्याकारेण गतेः मेवद्वयं मतं न तु मूलसामान्यस्य सत्त्वात् ॥" मनो० २. "एकमेवाद्विप्रमेयवादादसत्त्वमेव न भवति"—प्रमाणवा० २.६४ । २. वही २.६५ से । ३. "स्वलक्षणमेव तु पररूपेण गतेः सामान्यलक्षणमिदम्, तच्च सदेवेति कथम् अप्रमेयम् ? ततः तत्साध-नमपि प्रमाणमेव ।" मनो० २.६५ ।

सामान्य परोक्ष कहा जाता है क्योंकि वह परोक्ष प्रमाण—अनुमानका विषय है । अत एव दो ही प्रमेय होनेके कारण प्रमाण भी दो ही हैं<sup>१</sup> ।

परोक्षार्थप्रतिपत्तिका साधन मात्र अनुमान ही है अन्य शाब्दादि नहीं<sup>२</sup> । जो भी परोक्ष प्रमेय हो वह सब कभी विशेषरूपसे—असाधारणरूपसे प्रतीतीका विषय नहीं हो सकता<sup>३</sup> । गमकानुयायी सामान्यरूपकी ही प्रतीति लिङ्गसे होती है अत एव सर्वतोव्यावृत्त खलक्षणरूप विशेषकी प्रतीति अनुमानसे कभी नहीं हो सकती । उसे तो प्रत्यक्ष ही विषय करता है ।

६—जैन दार्शनिकोंने भी वस्तुतः प्रमेय एक ही माना है । और वह है द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु<sup>४</sup> । उस एक ही वस्तुकी विज्ञप्ति अनेक प्रकारकी हो सकती है । एक ही वृक्ष प्रमातासे दूरीके कारण या अन्धकारके कारण अस्पष्टप्रतिभासका विषय बनता है और वही सन्निकट हो तब स्पष्ट प्रतिभासका विषय होता है । किसी वस्तुके सन्निहित होने पर या आलोकके होने पर उसका स्पष्ट प्रतिभास होता ही है यह भी नियम नहीं है; क्योंकि अंजनशलाकाका नेत्रसे अतिसन्निधान होने पर भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता । और आलोकके होने पर भी घूकादिको दिनमें स्पष्ट प्रतिभास होता नहीं । अत एव मानना यह चाहिए कि वस्तुतः प्रमाताकी नाना प्रकारकी शक्ति या योग्यताके कारण ही नाना प्रकारका ज्ञान होता है<sup>५</sup> । अर्थात् प्रमेयमें भेद न होते हुए भी उसकी नाना प्रकारकी विज्ञप्तिमें प्रमाता या उसकी शक्तियाँ ही नियामक तत्त्व हैं । विज्ञप्तिके भेदसे प्रमेयमें वस्तुतः भेद नहीं माना जा सकता किन्तु प्रमाता या उसकी शक्तिओंमें ही भेद मानना उचित है । इन नाना प्रकारकी विज्ञप्तिओंके आधार पर प्रमेयमें भी भेदकी कल्पना उपचारसे की जा सकती है । अर्थात् प्रतीति यदि अस्पष्ट हो तो प्रमेय को भी अस्पष्ट और यदि प्रतीति स्पष्ट हो तब प्रमेयको भी स्पष्ट कहा जा सकता है । ऐसी स्थितिमें विषयी अर्थात् ज्ञानके धर्मका विषय अर्थात् प्रमेयमें उपचार करके ही उक्त व्यवहारोंकी संगति कर लेना चाहिए ।

धर्म की र्ति ने प्रमेय एक ही मानकर ख और पर रूपसे उसीकी प्रतीतिके आधार पर उसका द्वैविध्य सिद्ध किया है वैसे ही जैन दार्शनिकोंने भी द्रव्यपर्यायात्मक एक वस्तुको ही प्रमेय मानकर सामग्रीके भेदसे उसीकी विशद और अविशद रूपसे होनेवाली प्रतीतिके आधार पर उसे प्रत्यक्ष और परोक्ष कहा है—देखो का० १३ ।

इस प्रकार जैन और बौद्ध दोनोंमें वस्तुके स्वरूपके विषयमें मतभेद होते हुए भी प्रमेय एक ही है और यही अपेक्षाकृत नाना है इस विषयमें मतैक्य है ।

१. “न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेवस्याम्यस्य संभवः । तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥” प्रमा-  
णवा० २.६३ । २. “परोक्षार्थप्रतिपत्तेरनुमानाश्रयत्वात्” हेतु० पृ० ३ । “सांनुमानं परोक्षाणा-  
मेकान्तेनैव साधनम् ॥”—प्रमाणवा० २.६२ । ३. “गमकानुगसामान्यरूपेणैव तदा गतिः । तस्मात्  
सर्वः परोक्षायां विशेषेण न गम्यते ॥” प्रमाणवा० २.६१ । ४. “अनेकान्तारमकं वस्तु गोचरः  
सर्वसंज्ञितम् ॥” न्याया० का० २९ । तद्रव्यपर्यायात्मायां बहिरन्तश्च तत्त्वतः ॥” लघी० ७ ।  
५. “महविद्वदमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः । कर्मविद्वदमणिविज्ञप्तिस्तथानेकप्रकारतः ॥” लघी० ५७ ।  
अष्टसं० पृ० २९-३० १२४, १८४, २२६ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२९ । प्रमेयक० २.३ । स्याद्वा-  
दर० २.२ ।



न्यायावतार ( का० १ ) में इतना ही कहा गया कि प्रमेयका विनिश्चय दो प्रकारका है अत एव प्रमाण भी दो हैं । शान्त्याचार्य ने वार्तिकमें स्पष्टीकरण किया कि वस्तुनः प्रमेय एक है किन्तु ज्ञाता की अपेक्षासे उसका द्वैविध्य मानना चाहिए । जिसके दूर-आसन्न होनेपर प्रतिभास भेद हो अर्थात् अस्पष्ट या स्पष्ट प्रतिभास क्रमशः होते हों तो वह प्रमेय प्रत्यक्ष कहा जाता है और इसके विपरीत जो हो वह परोक्ष है । धूमादिलिङ्गज्ञानद्वारा अनुमित वहि दूर या आसन्न हो तब भी तत्कृत प्रतिभासभेद देखा नहीं जाता अत एव वहि परोक्ष प्रमेय है । फलितार्थ यह है कि एक ही वहि किसी प्रमाताकी अपेक्षासे प्रत्यक्ष और किसी अन्यकी अपेक्षासे परोक्ष हो सकता है । एक ही प्रमेयके दो रूप होनेसे प्रमाण भी दो ही हैं । शान्त्याचार्य जिसे प्रत्यक्ष प्रमेय कहते हैं उसे ही धर्मकीर्ति खलक्षण कहते हैं—

“यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः, तत् खलक्षणम् ।” न्याय-विन्दु पृ० २३ ।

और शान्त्याचार्य सम्मत परोक्ष प्रमेय ही धर्मकीर्ति सम्मत सामान्य है—

“अन्यत् सामान्यलक्षणम्” न्यायविन्दु पृ० २४ ।

“विकल्पविज्ञानेनावसीयमानो ह्यर्थः सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासं न भिन्न-  
ति” — न्यायविन्दुटीका पृ० २४ ।

शान्त्याचार्य ने प्रमेयको प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप कहा है । धर्मकीर्ति भी खलक्षणको प्रत्यक्ष और सामान्यको परोक्ष कहता है । जिस प्रकार दिग्भाग और धर्मकीर्ति ने प्रमेय द्वैविध्यके आधार पर प्रमाण द्वैविध्य सिद्ध किया है उसी प्रकार न्यायावतार और उसके वार्तिकमें भी द्वैविध्य सिद्ध किया गया है । इतना तो जैन और बौद्ध का साम्य है किन्तु साम्यकी अपेक्षा जो वैषम्य है वह अधिक महत्त्वका है । वैषम्य भी आपाततः माह्रम होता है, वस्तुतः वह है नहीं । अत एव उसका विवेचन कम महत्त्वका नहीं है ।

बौद्ध दार्शनिक जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है सामान्यको अवस्तुभूत मानते हैं । तब जैन सामान्यको वस्तुभूत मानते हैं । जैन दार्शनिकोंके मतसे वस्तु सामान्य—द्रव्य और पर्याय—विशेषरूप है । अन्य दार्शनिक विरोधादि दोषोंसे भीत हो कर वस्तुको उभयात्मक माननेसे इनकार करते हैं और यही कारण है कि धर्मकीर्ति ने भी उभयात्मक वस्तुवादका निषेध किया है—प्रमाणवा० २.७६-८० । किन्तु जैन दार्शनिकोंको उभयवादमें कोई दोष प्रतीत नहीं होता<sup>१</sup> बल्कि एकान्तवादमें ही दोष माह्रम होता है । धर्मकीर्ति ने वस्तुको एक—विशेष रूप माना फिर भी उसने यदि अनुमानके प्रमेयरूपसे प्रतीत सामान्यको खलक्षणसे अत्यन्त पृथक् न मानकर खलक्षण ही को सामान्यलक्षण माना<sup>२</sup> तब वह खलक्षण एकान्तरूपसे विशेषरूप ही है यह बात सिद्ध हो नहीं सकती । तथापि जैसे जैन दार्शनिक स्पष्ट शब्दोंमें वस्तुको उभयात्मक स्वीकृत करते हैं बौद्ध दार्शनिक वैसा स्वीकार नहीं करके अपने एकान्तवादका समर्थन करते जाते हैं ।

१ प्रमालक्षमकार भी यही मानते हैं—(पृ० ६ तथा का० ३१६) कि प्रमाणसंबन्धका नियमन विषयके आधारसे होता है । २. अष्टसू० पृ० २२६ । ३. “खलक्षणमेव तु पररूपेण गतेः सामान्य-  
लक्षणमिष्टम् । तच्च सदेव ।”—प्रमाणवा० भनो० २.६५ ।

धर्म की तिने वस्तुके स्वरूप और पररूप ऐसे दो रूप माने हैं । जैनों ने भी ये ही दोनों रूप माने हैं । इस अर्थमें दोनोंको उभयवाद इष्ट है फिर भी दोनोंमें मतभेद है । जैनोंके मतसे आपेक्षिक धर्मके मूलमें केवल वासना ही नहीं है<sup>१</sup> । अत एव वस्तुका पररूप आपेक्षिक होते हुए भी स्वरूप के समान ही वास्तविक है । जब कि बौद्धोंके मतसे पररूप कोरी कल्पना के बलसे प्रवृत्त है । उस कल्पनाका उपादान वस्तु नहीं किन्तु वासना है ।

इस प्रकार सामान्य यह वस्तुका पररूप है—अत एव कल्पनामूलक और वासनामूलक है । बौद्धों ने सामान्यको वासनामूलक मानकर भी अर्थसम्बद्ध माना है अन्यथा मरुमरीचिकाकी कल्पना या आकाशकेशादिकी कल्पना और वह्निकल्पनामें भेद ही क्या ? । इस प्रकार दोनों कल्पनाएँ होते हुए भी एक अर्थसे सम्बद्ध है दूसरी असम्बद्ध । जो अर्थसे सम्बद्ध हो वही सामान्य और असम्बद्ध हो वह असत् । इस प्रकार बौद्धोंने सामान्यका उपादान वासना मानकर भी उसे अर्थसे सम्बद्ध ही माना है तब जैन सम्मत आपेक्षिक धर्मोंकी वास्तविकता और बौद्ध-सम्मत आपेक्षिक धर्मोंकी अवास्तविकतामें शब्दतः भेद भले ही हो, अर्थतः कुछ भी भेद नहीं है । जैनों का तो कहना है कि कथञ्चित् तादात्म्यके अभावमें<sup>२</sup> किसी भी प्रकारका सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता है । अत एव सामान्यको यदि अर्थसम्बद्ध माना जाय तो यह कथञ्चित् अर्थाभिन्न ही सिद्ध होगा । ऐसी स्थितिमें वह एकान्तरूपसे अवास्तविक नहीं हो सकता ।

७—पहले ही यह कहा गया है कि बौद्धोंके प्रमाणविप्लववादके मूलमें क्षणिकवाद है । जैनोंको भी पर्यायार्थिक दृष्टिसे क्षणिकवाद इष्ट है । पर्यायनयकी अपेक्षासे वस्तु प्रत्येक क्षणमें नई नई होती है अत एव कोई भी प्रमाण पर्यायनयकी दृष्टिसे गृहीतग्राहि नहीं<sup>३</sup> होता । अत एव जैन दृष्टिसे भी प्रमाणविप्लव स्वतःसिद्ध है । इसी पर्यायवादका आश्रय लेकर प्रस्तुतमें शान्खाचार्यने प्रमाणविप्लववादका आश्रय लिया है । परन्तु जैनदार्शनिक एकान्तवादी तो है नहीं । वे पर्यायनयके समान ही द्रव्यनयको भी महत्त्व देते हैं । इस लिये प्रमाणसंख्य भी जैनसम्मत है । द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे वस्तु स्थिर है, नित्य है । अत एव एक ही वस्तुमें अनेक प्रमाणोंकी प्रवृत्ति संभव है । किन्तु भिन्न भिन्न प्रमाणोंमें उपयोगविशेष होने पर ही प्रमाणसंख्य इष्ट है, अन्यथा नहीं<sup>४</sup> । अर्थात् अग्निविशेषको परोपदेशसे जानकर यदि कोई उसी अग्निको अनुमानसे जानना चाहे तभी उस अग्निमें अनुमानप्रमाणकी प्रवृत्ति हो सकती है । विशेषता यह होगी कि परोपदेशसे अग्निका ज्ञान मात्र सामान्यरूपसे होता है जबकि अनुमानके द्वारा उसी सामान्य वह्निका ज्ञान धूमसम्बद्धरूपसे होता है । उसी अनुमित वह्निको यदि कोई प्रत्यक्ष करना चाहे तो अग्निदेशमें जा कर उसका प्रत्यक्ष ज्ञान भी कर सकता है । किन्तु विशेषता यह होगी कि प्रमाता उस सामान्य वह्निके विशेषधर्म तृणजन्यत्व, पर्णजन्यत्व आदि भी जान लेता है<sup>५</sup> ।

१. ततो वागमिन् सम्बन्धदन्तराणि तावन्तः प्रत्येकं भावस्वभावभेदाः परस्परव्यावृत्ताः । नहि कस्यचित् केनचित् साक्षात्परंपरया वा सम्बन्धो नास्ति इति, निरुपाख्यत्वप्रसङ्गात्”—अष्टश० का० ११ । “न बापेक्षिकता व्याप्ता नीरूपत्वेन”—तत्त्वार्थशू० पृ० १५६ । २. “तस्य संबन्धिभिः कथञ्चित् तादात्म्ये कार्यकारणादीनामपि तदेवास्तु ।” अष्टश० पृ० २१८ । ३. प्रमाणमी० १.१.४ । ४. अष्टश० पृ० ४, और १७१ । प्रस्तुत वार्तिककी का० २३ । ५. प्रमाणसंख्यवाद न्यायवैशेषिकोंको भी इष्ट है—व्यो० पृ० ३२६, ५८६, । कंदली पृ० ६१ । न्यायभा० १.१.३ ।

पृ० ६०. पं० ८. 'ननु' ऐसा ही प्रश्न जैन दार्शनिकोंने बौद्धों से भी किया है । देखो प्रमेयक० २.२ । स्याद्वादर० पृ० २७० ।

इस विषयकी विशेषचर्चाके लिये देखो—प्रमाणवा० अ० पृ० २०७ । प्रमाणवा० मनो० २.१ ।

पृ० ६०. पं० ९. 'अथाकस्माद्' प्रज्ञाकरका यह सिद्धांत है कि परोक्षबहिर्विषयक ज्ञान भी प्रत्यक्ष हो सकता है । यदि ज्ञाता अकस्मात् अर्थात् धूम देखकर व्याप्तिस्मरणके बिना ही बहिकी प्रतीति करता है तब वह बहिका ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है, अन्यथा अनुमान । देखो, प्रमाणवा० अ० पृ० १३५, १४०, ४३६ ।

प्रज्ञाकरके इस सिद्धान्तके खण्डनके लिये देखो—सन्मति० टी० पृ० १६. पं० २२ । प्रमेयक० २.३ । स्याद्वादर० २.२ ।

पृ० ६०. पं० २५. 'अत्रोच्यते' तुलना—“अत्रोच्यते—प्रत्यक्षमपि स्वलक्षणं विषयी-कुर्येत् तत्संभवि विजातीयव्यावृत्त्युपकल्पितं सामान्यं पृष्ठविकल्पेन निश्चिन्वत् तद्विषयमपि, निश्चयविषयेण च प्रत्यक्षविषयव्यवस्था । एवन्तर्हि स्वलक्षणविषयता न स्यादिति चेत् । न । सजातीयव्यावृत्तत्वेनापि ततो निश्चयात् । द्वे च व्यावृत्ती स्वलक्षणे स्तो निश्चिते च प्रत्यक्षबलात् । न चैवमपि अनुमानस्य वैवर्धयम् । न हि सामान्यमित्येष प्रत्यक्षविषयः, परोक्षे तस्याऽप्रवृत्तेः । न च यदेकदाऽपरोक्षं तत् सर्वदा तथा । स्वलक्षणं कदाचिदपरोक्षमपि अन्यदा परोक्षम् । एवं सामान्यमपि । ततोऽपरोक्षे सामान्ये गृहीतायां व्याप्ती परोक्षे तस्मिन्नुमानवृत्तिरिति न कश्चिद्विरोधः । तस्मात् प्रत्यक्षत्वाद्वा विषयद्वैविच्यसिद्धिः, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां वेत्युभयथाप्युपपन्नम् ।” प्रमाणवा० मनो० २.१ ।

“न च प्रत्यक्षपरोक्षातिरिक्तप्रमेयान्तराभावप्रतिपादकप्रमाणान्तराभावादसिद्धो हेतुरिति षक्तव्यम्; अध्यक्षेणैव प्रमेयान्तरविरहप्रतिपादनात् । तद्धि पुरःस्थितार्थसामर्थ्या-नुपजायमानं तदात्मनियतप्रतिभासावभासादेव तस्य प्रत्यक्षव्यवहारकारणं भवति तदन्या-त्मतां च तस्य व्यवच्छिन्नानमन्यदर्थजातं सकलं राश्यन्तरत्वेन व्यवस्थापयत् तृतीय-प्रकाराभावं च साधयति । तत्राप्रतीयमानस्य सकलस्यार्थजातस्यान्यत्वेन परोक्षतया व्यवस्थानादन्यथा तस्य तदन्यात्मताऽव्यवच्छेदे तद्रूपतया परिच्छेदो न भवेदिति न किञ्चिदध्यक्षेणावगतं भवेत् ।” सन्मति० टी० पृ० ५७३ ।

पृ० ६१. पं० २. 'द्रासन्नादि' इस कारिकामें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष विषयकी व्याख्या की गई है । यह व्याख्या न्यायविन्दु गत स्वलक्षण और सामान्यकी व्याख्याकी अनुगामिनी है यह बात पूर्व टिप्पणीमें दोनोंकी तुलनाके साथ बताई गई है ।

प्रमेयकी विशेषरूपसे अर्थात् पंचज्ञानोंकी दृष्टिसे विवेचना प्रमा लक्ष्ममें की गई है जो इस प्रकार है—

“तत्र केवलापेक्षया सर्वस्यापि प्रमेयरशोः प्रत्यक्षत्वात्, अवधिज्ञानापेक्षया कपिद्रव्यं प्रत्यक्षम् अन्यच्च परोक्षम् । मनःपर्यायज्ञानापेक्षया मानुषोत्तरपर्वतान्तर्धर्तिसंक्षिप्तमनोद्रव्यं प्रत्यक्षम्, शेषं परोक्षम् । श्रुतमतिद्वयापेक्षया परोक्षमशेषमिति निश्चयतः, व्यवहारेण पुनरिन्द्रियज्ञानं प्रत्यक्षम्, परोक्षं पुनरनुमानमागमश्च ।” पृ० ५ ।

जयन्तने भी प्रमेयकी प्रत्यक्षता और परोक्षता इन शब्दोंमें स्वीकृत की है—

“प्रत्यक्षत्वं परोक्षोपि प्रत्यक्षोपि परोक्षताम् ।

देशकालादिभेदेन विषयः प्रतिपद्यते ॥” न्यायमं० पृ० ३४ ।

पु० ६१. पं० ४. 'तन्निमित्तम्' प्रमाणभेदका नियामक तत्त्व क्या है इस विषयमें दार्शनिकोंमें निम्नलिखित नामा मत प्रचलित हैं जिनका विवेचन यहाँ संक्षेपसे किया जाता है—

१ बौद्ध तथा कुछ जैनाचार्यसंमत विषयभेद ।

२ भीमांसकसम्मत सामग्रीभेद आदि ।

३ भैयायिकसम्मत विषय, सामग्री और फलभेद ।

४ जैनदार्शनिकसम्मत लक्षणभेद ।

१—प्रमेय दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष अर्थात् स्वलक्षण और सामान्य । अत एव प्रमाण भी दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष । परोक्ष प्रमाण सिर्फ अनुमान है । इस बौद्ध मतका विस्तारसे विवेचन पूर्वकी टिप्पणीमें हो चुका है । इससे स्पष्ट है कि बौद्धोंने प्रमाणभेदका नियामक तत्त्व प्रमेयभेदको ही माना है ।

बौद्ध प्रमाणसंलब्ध न मान कर प्रमाणविलम्ब मानते हैं—यह भी कहा जा चुका है । विलम्बवादके समर्थनमें एक युक्ति यह भी है कि प्रत्यक्षके विषय स्वलक्षणमें अनुमान-शाब्दादि किसी परोक्ष प्रमाणकी प्रवृत्ति मानना नहीं चाहिए क्योंकि ऐसा होनेपर बुद्धिभेद नहीं घट सकेगा । अर्थात् अनुमान और शाब्द बुद्धि भी प्रत्यक्ष जैसी ही होगी क्योंकि विषयभेद नहीं है । अनुमान और प्रत्यक्षबुद्धिमें भेद तो स्पष्ट है अत एव विषयभेद मानना चाहिए । और उसीके कारण प्रमाणमें भेद हुआ है यह मानना चाहिए ।

इसी बात का समर्थन भर्तृहरि ने भी किया है—

“अन्यथैवाग्निसंबन्धाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते ।

अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः संप्रतीयते ॥” वाक्य० २.४२५ ।

बौद्ध विद्वान् प्रमेयभेदके आधार पर प्रमाणका भेद माने यह तो समझमें आ सकता है क्योंकि उस बात की संगति बौद्ध सम्मत क्षणिकवाद, प्रमाणविलम्ब, स्वलक्षण और सामान्य की कल्पना आदि अन्य सिद्धान्तोंसे हो जाती है किन्तु जैन दार्शनिक शान्त्याचार्य जो प्रस्तुत ग्रन्थके प्रणेता हैं और प्रमालक्ष्मकार जिनेश्वर ये दोनों जब उसी बात को मानें तब उसकी संगति जैन दर्शनसंमत अन्य सिद्धान्तोंसे कैसे करना यह एक समस्या है । यह समस्या और भी जटिल हो जाती है जब हम देखते हैं कि अन्य सभी जैन दार्शनिक लक्षणभेदको ही प्रमाणभेदका नियामक मानते हैं और विषयके भेदसे प्रमाणभेद नहीं माना जा सकता—यह दृढतापूर्वक सिद्ध करते हैं ।

इस विषयमें शान्त्याचार्यका स्पष्टीकरण क्या है उसे देखना चाहिए और उसका जैन सिद्धान्त के साथ मेल बैठता है या नहीं इसकी विवेचना करनी चाहिए । अन्य जैन दार्शनिक प्रमाणोंके विषयरूपसे एक ही द्रव्यपर्यायात्मकवस्तुको मानते हैं । इस बातको स्वीकार करते हुए भी शान्त्याचार्यका कहना है कि एक ही प्रमेय प्रमाताकी अपेक्षासे द्विविध हो जाता

१. “तदाहुः—समावविषयारथे च जायते सदशी मतिः । न चाप्यक्षधिया साम्यसेति शब्दानुमानधीः ॥” न्यायमं० पु० ३१ । “आह च—अन्यदेवेन्द्रियग्राहं अन्यः शब्दस्य मोक्षरः । शब्दात् प्रत्येति भिन्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते ॥” न्यायमं० पु० ३१ । ये दोनों कारिकायें अन्वय भी उद्धृत हैं ।  
पृ० २८

है । शास्त्राचार्य की यह बात जैन सिद्धान्तके प्रतिकूल नहीं है । फिर भी यह तो मानना पड़ेगा कि मूलतः प्रमेयोंका इस प्रकारसे शास्त्राचार्यकृत वर्गीकरणका विचार बौद्धों के असरसे अछूता नहीं । यही कारण है कि उनकी प्रत्यक्ष प्रमेयकी व्याख्यामें तथा धर्म की तिष्ठित स्वलक्षणरूप प्रत्यक्ष प्रमेयकी व्याख्यामें वस्तुतः कोई भेद नहीं दीखता । यही बात दोनोंके परोक्ष प्रमेयके विषयमें भी लागू होती है ।

दूसरे जैन दार्शनिक प्रमाणसंख्यवाद को एकस्वरसे मानते हैं यह पूर्व टिप्पणमें कहा जा चुका है । ऐसी स्थितिमें प्रमेयभेदके आधार पर प्रमाणका भेद मानने पर शास्त्राचार्य को प्रमाणसंख्यवाद का त्याग करना पड़ेगा और बौद्धों की तरह विच्छेदवादको अपनाना पड़ेगा । अत एव प्रमाणविच्छेदवाद जैन सिद्धान्तके प्रतिकूल है या नहीं इस बातका निवेचन होना भी जरूरी है ।

प्रमाणसंख्य मान कर भी जैनोंने भी मांसकों की<sup>१</sup> तरह एक ही अर्थके नये नये परिणामोंको प्रमाणका विषय माना है । अर्थात् धर्मोंकी एकताके कारण प्रमाणसंख्य कहा जाता है । वस्तुतः प्रत्येक प्रमाणान्तरमें धर्मों नये रूपमें या यों कहना चाहिए कि प्रत्येक प्रमाणान्तरमें नये नये धर्म प्रतिभासित होते हैं । जैन दर्शनमें धर्म और धर्मोंका एकान्त भेद नहीं है, अत एव प्रत्येक प्रमाणका विषय धर्मकी दृष्टिसे भिन्न होते हुए भी धर्मोंकी दृष्टिसे अभिन्न ही है । इसी धर्मोंकी एकता—अभेदको मुख्य मान कर जैन दार्शनिकोंने प्रमाणसंख्यका समर्थन किया है । परन्तु इस धर्मों या द्रव्यदृष्टि के अतिरिक्त एक दूसरी दृष्टि भी है जो पर्यायको प्रधानता देती है और वह जैन संमत भी है । उसीके अनुसार अर्थात् उसी पर्यायदृष्टिसे सोचा जाय तो प्रमाणविच्छेदवाद जो शास्त्राचार्य के मतसे फलित होता है वह जैन दर्शनके सिद्धान्तसे प्रतिकूल नहीं कहा जा सकता ।

प्रमालक्ष्मकार के मतकी संगति भी इसी प्रकार समझ लेनी चाहिए । क्योंकि प्रमालक्ष्मकार भी इसी मतके समर्थक हैं—

“विधामेयविनिश्चयादिति धर्माग्रन्थकृता प्रमेयभेदाधीनः प्रमाणभेदः, नापरं निमित्तान्तरमस्येतत् प्रतिपादितम् । तथा च व्यापकानुपलब्ध्या प्रमाणान्तराभावमाह ।”  
पृ० ६ । “यतान्येव प्रमाणानि नापरं विषयादते” — प्रमालक्ष्म का० ३१९ ।

२—बौद्धों की तरह भी मांसक कुमारिक के मतसे भी प्रमाणसंख्य संभव नहीं है; क्योंकि प्रमाण अपूर्वार्थक—अगृहीतग्राहि होना चाहिए<sup>२</sup> । अत एव उनके मतसे विषयभेदसे प्रमाणभेद है । प्रमाणभेदमें सिर्फ विषयभेद ही कारण है यह बात नहीं । उनके मतसे विषयभेदके अतिरिक्त सामग्रीभेद भी कारण है । अनुमानसे शब्दप्रमाणका भेद सिद्ध करते हुए कुमारिक ने कहा है—

“तस्मादननुमानत्वं शब्दे प्रत्यक्षवद्भवेत् ।

त्रैकप्यरहितत्वेन तादृग्विषयवर्जनात् ॥” श्लोका० शब्द० १८ ।

१. “यत्रापि व्याप्त परिच्छेदः प्रमाणैकतरेः पुनः । नूनं तथापि पूर्वेण सोऽर्थो नावहतकथा ॥”  
श्लोका० २.१४ । २. भीमांसकोंने एक ही धर्मोंमें प्रमाणान्तरकी प्रवृत्ति मानी है फिर भी प्रमाणसंख्य नहीं माना वह धर्मोंकी सुव्यवस्था को लेकर ही ।

इससे स्पष्ट है कि सामग्री और विषयके भेदसे अनुमान और शाब्दमें पार्थक्य है । इस प्रकार उन्होंने उपमान, अर्थापत्ति और अभावका पार्थक्य उन्हीं निर्दिष्ट दो कारणोंसे सिद्ध किया है—प्रमेयक० पृ० १८३ । स्याद्वादर० पृ० २११ ।

बाही देवसूरिके कथनानुसार कुमारिलके मतसे अभावप्रमाणका पार्थक्य तीन कारणोंसे फलित है—

“एवं स्वरूपभेदात्, गोचरभेदात्, फलस्य भेदाच्च ।

मिथं सिद्धमभावाप्रमाणमपरप्रमाणेभ्यः ॥” स्याद्वादर० पृ० २८३ ।

वस्तुतः यदि सामग्रीभेदको प्रमाणभेदका नियामक माना जाय, जैसा कि कुमारिल ने सभी प्रमाणोंके विषयमें माना है, तो विद्यानन्द का कहना है कि कुमारिल योगिज्ञानका—सर्वज्ञ ज्ञानका विषेध नहीं कर सकता । क्योंकि उसकी सामग्री कुमारिलसंमत सभी प्रमाणोंसे पूर्ण ही है । सामग्रीभेदको प्रमाणभेदका नियामक न मान कर यदि लक्षणभेदको ही नियामक माना जाय तभी प्रमाणसंख्याका ठीक नियमन होता है—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८०—१८१ ।

३—‘शुष्यतु दुर्जनः’ न्यायसे जयन्त ने बौद्ध संमत विषयके भेदसे प्रत्यक्ष और अनुमानका भेद मानकर भी कहा है कि प्रत्यक्ष और अनुमान की सामग्री तथा फलसे, उपमान-शाब्दकी सामग्री तथा फल मिश्र हैं अतः एव इन दो कारणों से भी प्रमाणभेद मानना चाहिए । अर्थात् सामग्री और फलभेद भी प्रमाणभेदका नियामक होना चाहिए यह जयन्त का मत है । न्यायप्रमे० पृ० ३३ ।

४—अन्य सभी दार्शनिकों की चर्चाको देखकर जैन दार्शनिकोंने यही निर्णय किया कि वस्तुतः लक्षणभेद ही प्रमाणभेदका नियामक मानना चाहिए ।

विद्यानन्द ने बौद्धके विषयभेदके सामने भीमांसक संमत सामग्रीवादको उपस्थित किया और भीमांसकसंमत सामग्रीवादमें भी पूर्णतः दोष बतलाकर लक्षणभेदको ही प्रमाणभेदका नियामक तत्त्व सिद्ध किया है—तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८०—१८१ । प्रमाणप० पृ० ३४ ।

सिद्धार्थि ने न्यायावतारके ‘द्विधामेयमिनिश्चयात्’ इस पादका भावार्थ यह किया है कि ज्ञानकी प्रकृति ही दो प्रकारकी होती है—एक तो विशद और दूसरी अविशद । इनके अतिरिक्त और किसी भी प्रकारकी ज्ञानप्रकृति नहीं होती । अतः एव प्रमाणका तीसरा प्रकार हो नहीं सकता ।

“न वैतौ प्रकारौ विज्ञाप्य प्रकारान्तरेण ज्ञानप्रकृतिं पञ्चमः न चापश्यन्तः प्रमाणास्त-  
रपरिकल्पन् क्षमासहे । न च ह्योः प्रथमानयोरेकं निहुवानं उपेक्षामहे ॥” न्याया० टी०  
पृ० २५ ।

सिद्धार्थि ने कहा है कि सामग्रीके भेदसे कोई ज्ञान स्पष्ट होता है और कोई अस्पष्ट । किन्तु ज्ञानकी स्पष्टता या अस्पष्टताका विचार बाह्यार्थ सापेक्ष है । स्वसंवेदनकी दृष्टिसे तो सभी ज्ञान एकैसी साक्षात्कारात्मक हैं । सारांश यह है कि बाह्यार्थका ज्ञान दो प्रकारसे होता है विशद और अविशद । अतः एव दो ही प्रमाण हैं ।

प्रभाचन्द्र और बाही देवसूरिके भी लक्षणभेदसे ही प्रमाणभेद इष्ट है । चक्षुरादि माना

सामग्रीके कारण चाक्षुषादि अनेक प्रत्यक्ष ज्ञानव्यक्तियाँ हो सकती हैं किन्तु उन सभी का एक सामान्य लक्षण वैशेष होनेसे सभी प्रत्यक्ष प्रमाणमें अन्तर्भूत हो जाती हैं । इस प्रकार लिङ्ग-शब्दादि नाना सामग्रीके कारण अनुमानागमादि परोक्षज्ञान व्यक्तियाँ अनेक हो सकती हैं किन्तु उन सभी का अन्तर्भाव एक परोक्षप्रमाणमें इस लिये होता है कि उन सभी का एक सामान्य लक्षण अवैशेष है । इस प्रकार प्रमाणभेदका नियामक लक्षणभेद है, विषयभेद नहीं<sup>१</sup> । यहाँ पर यह बात जान लेना चाहिए कि लक्षणभेदसे प्रमाणभेद जैनोंने माना किन्तु सामग्री-भेद, विषयभेद इत्यादि ही लक्षणभेदके नियामक तत्त्व हैं ।

पृ० ६१. पं० ११. 'इह प्रामाण्यं' तुलना - "प्रमाणभेदव्यवस्थापको हि विषयभेद एव । तदभेदे गृहीतग्राहितया प्रामाण्याभावापत्तेः । कथमन्यथा अनधिगतार्थाधिगम्य प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं प्रणीयते । किन्तु अर्थक्रियार्थिनो नान्यद्विषयान्तरमस्ति यत् परिच्छिन्नम् अन्वय प्रमाणात्तरं स्यात् । न चाविषयस्य प्रमाणविस्तया किञ्चिद्, अर्थ-क्रियोपयोगिन एव चेत्तसः प्रमाणतयेद्वेति" - प्रमातृहम पृ० ७५ ।

पृ० ६१. पं० १६. 'इयं चाग्ने' वार्तिककी आगे आनेवाली कारिकाओंमें 'प्रत्यक्ष और परोक्षके अतिरिक्त और कोई प्रमाण अर्थवत् नहीं है' इसी व्यापकानुपलब्धिकी सिद्धि की गई है - का० १४-१६ ।

पृ० ६१. पं० २१. 'प्रमाणेतर' यह कारिका धर्मकी र्ति की है - "तदुक्तं धर्मकीर्तिना - 'प्रमाणेतर' इत्यादि प्रमाणप० पृ० ६४ । स्याद्वावर० पृ० २६८ ।

पृ० ६२. पं० ५. 'सादृश्यं' तुलना - "गवयस्योपलम्भे च तुरङ्गादी प्रवर्तते । तद्वैसा-दृश्यविज्ञानं यत्तद्व्या प्रमा न किम् ॥" तत्त्वसं० का० १५५९ । प्रमाणवा० अं० पृ० ५७४ । लघी० १९ ।

पृ० ६२. पं० ६. 'यथा' उपमानका यह उदाहरण भी मांसक की दृष्टिसे दिया है ।

पृ० ६२. पं० ६. 'उपमानं' उपमानके १ - स्वरूप, २ - प्रामाण्य, ३ - और फलके विषयमें दार्शनिकोंका जो मतभेद है उसे बताना यहाँ अभीष्ट है ।

१ - उपमानका स्वरूप ।

उपमानके स्वरूपके विषयमें दार्शनिकोंमें निम्न लिखित मतभेद हैं -

(अ) बृद्ध नै या यिक संमत अतिदेशवाक्य ।

(आ) उपवर्णादि भी मांसक और वेदान्त संमत सादृश्य - सादृश्यज्ञान ।

(इ) नवीन नै या यिक संमत सादृश्यप्रत्यक्ष ।

(ई) प्राचीन जैन संमत सादृश्य - वैसादृश्यज्ञान ।

(उ) नवीन जैन संमत संकलनात्मकसादृश्यज्ञान ।

१. "तथा हि - बहुलकक्षणकक्षितं तद् व्यक्तिभेदेऽपि एकमेव यथा वैशेषिककक्षणकक्षितं चाक्षुषादि-प्रत्यक्षम्, अवैशेषिककक्षणकक्षितं च शाब्दादि इति । चाक्षुषादिसामग्रीभेदेऽपि हि उपमानानां वैशेषिक-कक्षणकक्षितत्वेनैवाभेदः प्रसिद्धः प्रत्यक्षरूपज्ञानसिद्धमात्, तद्वत् शाब्दादिसामग्रीभेदेऽपि अवैशेषिककक्षण-कक्षितत्वेनैवाभेदः शाब्दादीनां परोक्षरूपत्वाविशेषात् ।" प्रमेयक० पृ० १९२ । स्याद्वावर० पृ० २८३ ।

(अ) न्यायसूत्रकारने उपमानका लक्षण यह किया है—“प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्य-साधनमुपमानम् ।” १.१.६। इस सूत्रके व्याख्यानमें बृहन्नैयायिकोंमें तथा उल्लोतक-रादिमें मतभेद है। बृहन्नैयायिकोंके मतमें अतिदेश वाक्य ही उपमान प्रमाण है। जयन्तने बृहन्नैयायिकोंके अनुसार इस सूत्रका व्याख्यान इस प्रकार किया है—

“अत्र बृहन्नैयायिकास्तावदेवमुपमानस्वरूपमाचक्षते । संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतीतिफलं प्रसिद्धेतदयोः सादृश्यप्रतिपादकमतिदेशवाक्यमेवोपमानम् । गवयार्थं हि नागरकोऽनव-गतगवयस्वरूपस्तदभिन्नमारण्यकं पृच्छति ‘कीदृग् गवयः’ इति । स तमाह—‘यादृशो गौस्तादृशो गवयः’ इति । तदेतद्वाक्यमप्रसिद्धस्य प्रसिद्धेन गवा सादृश्यमभिदधत् तद्गारकमप्रसिद्धस्य गवयसंज्ञाभिधेयत्वं ज्ञापयतीत्युपमानमुच्यते ।” न्यायमं० वि० पृ० १४१ ।

जयन्तका कहना है कि भाष्यकार भी अतिदेशवाक्यको ही उपमान प्रमाण मानते हैं, और ऐसा माननेमें कोई असंगति नहीं—न्यायमं० वि० पृ० १४२ ।

(आ) शबरने अपने भाष्यमें वृत्तिकार उपवर्षके मतका अनुवाद किया है। उससे उपवर्षसे मत उपमानलक्षणका पता चलता है। भाष्यके टीकाकार और अन्य ग्रन्थकार इस उपवर्षके मतका ही शबरके मतके रूपमें उल्लेख करते हैं। इसका कारण यही है कि शबरने अपने भाष्यमें उसे लिख दिया है।

उपवर्षके मतानुसार उपमानका लक्षण यह है—“उपमानमपि सादृश्यमसिद्धेऽर्थे बुद्धिसुत्पादयति, यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य” । शबर० १.१.५ ।

कुमारिलका कहना है कि अतिदेशवाक्यको उपमान मानने पर आगममें ही उपमान का अन्तर्भाव हो जाता है इसी लिये शबरने (अर्थात् उपवर्षने) उपमानका यह नया लक्षण स्वर किया है। इसके अनुसार सादृश्य उपमान प्रमाण है। क्योंकि उसीसे असिद्धिष्ट गोमें—और गो स्मरणका निधय है—गवयसादृश्यकी बुद्धि होती है अर्थात् ‘वह गो इस गवयके सदृश है’ ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है।

सादृश्य नहीं किन्तु सादृश्यज्ञान उपमान प्रमाण है—ऐसा स्पष्टीकरण टीकाकारोंने किया है—“पूर्वदृष्टे सर्वमात्रेऽर्थे दृश्यमानार्थसादृश्यज्ञानमुपमानम् ।” शास्त्रदी० पृ० ७४ ।

जैसे अनुमानमें ज्ञायमानलक्षणके स्थानमें लिङ्गज्ञानको कारण माना गया है उसी प्रकार उपनिर्दिष्टा कारण भी सादृश्य नहीं किन्तु सादृश्यज्ञान ही माना गया है।

मीमांसा की तरह वैदान्तमें भी उपमान सादृश्यज्ञान ही कहा गया है—“तत्र सादृश्य-

१. “साधरे युक्तः । प्रकाशमावर्तिर्भावाङ्गवर्षोपवर्णितः ।” श्लोकव्या० उप० २ । तत्त्वार्थ० पं० पृ० ४४४ । २. “अत्र च गोस्मरणलोभो भाष्यप्रसङ्गः उपवर्षसमत एव भाष्यकारेण लिखितत्वात् टीकाकारादिभिः भाष्यत्वेनैव कथ्यते ।” शास्त्रदी० युक्ति० पृ० ७४ । ३. शबरने उदाहरणमें गवय-दर्शनको सादृश्यत्वानीय रखा है । इसका मतलब है—सादृश्यविक्षिप्तगवयदर्शनम् अर्थात् “अत्र सर्व-जगत् सादृश्यत्वमुपनिर्दिष्टं पश्यतः ‘गौस्तादृशो गवयः’ इत्याकारकं सादृश्यविक्षिप्तगवयदर्शनम्” —शबर० व्या० पृ० १७ । ४. “अनुमानार्थं ज्ञायमानं किञ्च नु करमं नहि ।” करिका० ६७ । ५. “सादृश्य-दर्शनोत्थं ज्ञानं सादृश्यविक्षिप्तमुपमानम्” —प्रकरणार्थ० पृ० ११० ।



प्रमाकरणं उपमानम् । तथाहि—मगरेषु वृद्धगोपिण्डस्य पुरुषस्य वनं गतस्य नवयेन्द्रिय-  
सन्निकर्षे सति भवति प्रतीतिः ‘अयं पिण्डो गोसदृशः’ इति । तदनन्तरं च भवति ‘अनेन  
सदृशी मदीया मौः’ इति । तत्र अन्वयव्यतिरेकाभ्यां नवयनिष्ठगोसादृश्यज्ञानं करणं  
गोनिष्ठनवयसादृश्यज्ञानं फलम् ।” वेदान्तप० पृ० १७६ ।

( १ ) यद्यपि जयन्त ने वृद्ध नैयायिकों के लक्षणकी संगति बतलाई है और मीमांसकों  
के आक्षेपका उत्तर दिया है । फिर मीमांसकान्तरको उपमान माननेवाले वृद्ध नैयायिक  
ही रहे हैं यह मानना पड़ेगा । क्योंकि उल्लोतकरसे लेकर सभी नैयायिकों ने—जिन्हें  
जयन्त ‘अवतन’ कहके पुकारता है—तथा जयन्त ने मीमांसकान्तरके नये लक्षणको ही  
अपनाया है । और उसीका समर्थन किया है । इन नवीन नैयायिकों के द्वारा उक्त न्याय  
सूत्र की व्याख्या ऐसी की गई है—“अवतनास्तु व्यावक्षते—भुतातिदेशवाक्यस्य प्रमातुर-  
प्रतिज्ञे पिण्डे प्रसिद्धपिण्डसारूप्यज्ञानमिन्द्रियजं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिफलमुपमा-  
नम्”—न्यायमं० वि० पृ० १४२ । अर्थात् इन नवीनोंके मतमें अतिदेशवाक्यस्मृतिसापेक्ष  
सारूप्यप्रत्यक्ष उपमान प्रमाण है ।

प्रस्तुतमें इतना ध्यान रखना चाहिए कि नवीन नैयायिक और मीमांसकसंमत उपमा-  
नके स्वरूपमें वस्तुतः भेद नहीं है किन्तु दोनोंके मतसे उपमान प्रमाणका कार्य—फल भिन्न  
भिन्न है अत एव ‘कार्यभेदात् कारणभेदः’ इस न्यायसे दोनोंको भिन्न भिन्न रूपसे लिया गया  
है । दोनोंके फलभेद—कार्यभेदकी चर्चा आगे की जायगी ।

दूसरी बात यह भी है कि नैयायिक और मीमांसकोंमें सादृश्यके स्वरूपके विषयमें मी-  
मांसिक मतभेद है अत एव सादृश्यज्ञान दोनोंके मतसे भिन्न प्रकारका ही होगा । अत एव  
दोनोंके मतसे सादृश्यज्ञान उपमान होते हुए भी उपर्युक्त प्रकारसे मतभेद होनेके कारण दोनोंके  
मतोंको अलग अलग ही प्रस्तुतमें गिना है ।

( २ ) जैनों के अनुयोगद्वारा सूत्रमें ‘औपम्य’ प्रमाणका निरूपण है । अनुयोगद्वारा की  
शैली यह है कि वस्तुके भेदकथन द्वारा उसका स्वरूप बताना । अत एव उसमें उपमा प्रमाणके  
भेद तो गिना दिये किन्तु लक्षण नहीं बतलाया किन्तु निर्दिष्ट साधर्म्योपनीत और वैधर्म्योपनीत  
ऐसे उपमाप्रमाणके दो भेदोंसे अंदाजा करें तो कहा जा सकता है कि अनुयोगद्वारा  
कारके मतसे सादृश्य-वैसादृश्यज्ञान उपमान प्रमाण है ।

न्यायसूत्रमें उपमानपरीक्षामें पूर्वपक्षमें कहा गया है कि अत्यन्त, प्रायः और एकदेशसे  
जहाँ साधर्म्य हो वहाँ उपमान प्रमाण हो नहीं सकता और इन तीनके अतिरिक्त साधर्म्यका  
अन्य प्रकार नहीं । अत एव उपमान प्रमाण असिद्ध है । किन्तु अनुयोगद्वारामें साधर्म्यो-

१. “तस्माद्यथा लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्तत्तुमहे सति लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्, तच्च प्रत्यक्षम्, तथाजामा-  
हितसंस्कारस्त्वत्पक्षं सारूप्यप्रत्यक्षमुपमानमिति ।” न्यायवा० २.१.४८ । २. भगवतीमें मीमांसकान्तर  
प्रमाणका निरूपण है—शतक ५. उद्देशा ४ । ३. “ते किं तं ओवम्मे ? ओवम्मे दुषिहे पणसे तं  
अहा—साहम्मोवणीए अ वेहम्मोवणीए अ ।” इत्यादि—अनुयो० पृ० २१७ । ४. “असम्प्रतयैकदेश-  
साधर्म्यादुपमानमितिः”—न्यायसू० २.१.४४ । अत्यन्तसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति । न चैवं भवति  
यथा गौरैर्ब गोमिति । पावःसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति न हि भवति यथाऽनङ्गानेर्ब गहिच इति ।  
एकदेशसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति, न हि सर्वेण सर्वं उपमीयते इति”—न्यायभा० ।

पनीत उपमान और वैधर्म्योपनीत उपमान प्रमाणके तीन तीन भेद किये गये हैं और वे उक्त पूर्वपक्षीके द्वारा निबिद्ध भेद ही हैं ऐसा तुलना करनेसे पता लगता है—“से किं तं साहम्मोब-  
णीय? साहम्मो० तिविहे पण्णसे, तं जहा किंचिसाहम्मो० पायसाह० सम्बसाह० । से  
किं तं किंचिसाह०?...जहा मंदरो तथा सरिसवी...जहा समुहो तथा गोप्यं...जहा  
आरुओ तथा अओतो...जहा खंदो तथा कुमुदो...। से किं तं पायसाह०?...जहा गो तथा  
गवयो...। से किं तं सम्बसाह०? सम्बसाहम्मो ओवम्मो नत्थि तथापि तेमेव तस्स  
ओवम्मं कीरइ जहा अरिहंसेहि अरिहंतसरिस्सं कयं...।” अनुयो० पृ० २१७ ।

(उ) जैनो के प्राचीन सूत्र अनुयोगद्वारा के उपमान प्रमाणको आगे जाकर जैन दार्शनिकों ने प्रत्यभिज्ञानके अन्तर्गत कर दिया है । और उसका लक्षण संकलनारूप सम्यग्ज्ञान बताया है । इस प्रत्यभिज्ञानमें अतीत और वर्तमान पर्यायकी संकलनाका ज्ञान होता है । ऐसी संकलनाका विषय सादृश्य हो तब दूसरे लोगोंने उसे उपमान कहा जब कि उसीको जैन-आचार्योंने सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहा है—तत्त्वार्थस्तो० पृ० १९० । परीक्षा० ३.५ । प्रमाणन० ३.५ ।

## २—उपमानका प्रामाण्य

उपमानके प्रामाण्यके विषयमें चार मत निम्नलिखित प्रकारसे हैं—

(अ) उपमानका सर्वथा अप्रामाण्य

(आ) उपमानका अन्यमें अन्तर्भाव

(इ) उपमानका पृथक् प्रामाण्य

(ई) उपमानके प्रामाण्य-अप्रामाण्यका अनेकान्त

(अ) उपमानका सर्वथा अप्रामाण्य बौद्ध संमत है । तत्त्वोपप्लवसिंहकार जयराशि चार्वाक भी इसका प्रामाण्य नहीं मानते । उन्हीं का अनुकरण करनेवाले श्रीहर्ष वेदान्ती और शान्त्याचार्य जैन भी उपमानप्रामाण्यको नहीं मानते ।

शान्तरक्षित और प्रज्ञाकर गुप्त इन दोनों बौद्ध आचार्योंने समान रूपसे यही दलील दी है कि उपमान प्रमाण नहीं है क्योंकि उसका कोई प्रमेय है ही नहीं<sup>१</sup> । दूसरी बात यह है कि यदि सादृश्यप्रतिपादक उपमान प्रमाण माना जाता है तो वैसादृश्यमाहक एक अन्य प्रमाणकी कल्पना करनी चाहिए—तत्त्वसं० का० १५५९ । प्रमाणवा० अहं० पृ० ५७६ ।

शान्तरक्षित ने उपमान और स्मृतिमें अभेद सिद्ध करके स्मृतिकी तरह उसका अप्रामाण्य स्थापित किया है । उनका कहना है कि गो और गवय दोनोंमें कुछ ऐसे अवयव हैं जो तुल्यप्रत्ययकी उत्पत्तिमें हेतु होते हैं । इन अवयवोंके अतिरिक्त सादृश्य या सामान्य ऐसी पृथग्भूत कोई वस्तु नहीं जो तुल्यप्रत्ययकी उत्पत्तिमें हेतु होती हों । अत एव जब हम गवयको देखते हैं तब गोगत उन अवयवोंकी स्मृति भूयोदर्शनके कारण होती है । यही उपमान है । अत एव स्मृतिरूप होनेसे वह प्रमाण नहीं—तत्त्वसं० का० १५४७—४९ ।

चार्वाक प्रत्यक्षप्रमाण मानता है यही सामान्यरूपसे सब की धारणा है किन्तु तत्त्वोपप्लव

१. “प्रमेयवस्त्वभावेन नाभिप्रेताऽस्य मायता ।”—तत्त्वसं० का० १५४३ । प्रमाणवा० अहं० पृ० ५७४ ।

सिंहकार जयराशि चार्वाक हो कर भी प्रत्यक्षको भी प्रमाण नहीं मानता । तब उनके मतमें उपमानके प्रामाण्यका प्रश्न ही नहीं । उनका कहना है कि 'जब प्रत्यक्ष ही प्रमाण नहीं तब प्रत्यक्षमूलक उपमान कैसे प्रमाण हो सकता है ? उन्होंने भी बौद्धों की तरह कहा है कि सादृश्यरूप विषय ही सिद्ध नहीं तब उपमान प्रमेयहीन हो कर प्रमाण कैसे हो सकता है !— तत्त्वो० पृ० ११० ।

श्रीहर्ष ने भी तत्त्वोपप्लव और माध्यमिकों का अनुसरण करके प्रत्यक्षादि सभी का प्रामाण्य खंडित किया है अत एव उनके मतमें भी उपमानका प्रामाण्य नहीं—खण्डन० प्रश्नपरि० ।

जयन्त ने भी मांसक संमत उपमानका अन्तर्भाव स्मृतिमें किया है और इस प्रकार उसका अप्रामाण्य सिद्ध किया है । उनका कहना है कि गवयको देखकर प्रतीति यह होती है कि 'अनेन सदृशो गौः मया नगरे दृष्टः' और यह प्रतीति स्पष्टतया स्मृति है—न्यायमं० वि० पृ० १४७ ।

अकलंकादि अन्य सभी जैनाचार्यों ने उपमानको प्रत्यभिज्ञाके अन्तर्गत माना है—इस बातको आगे कहा जायगा । किन्तु न्यायावतार मूलमें तीन ही प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम माने गये हैं । उपमानके विषयमें मूलमें कुछ भी नहीं कहा गया है । शान्त्याचार्य ने अपने प्रस्तुत वार्तिकमें अन्य जैनाचार्यों का अनुसरण न करके बौद्धों की तरह उन्हींके शब्दोंमें उपमानको अप्रमाण ही सिद्ध किया और अन्य जैनाचार्य संमत उसका प्रत्यभिज्ञामें अन्तर्भाव भी मान्य नहीं रखा । यह उनका मूल न्यायावतारका समर्थन कहा जा सकता है किन्तु इससे अपने समय तक हुए समग्र जैन न्यायके विकास की उपेक्षा भी फलित होती है । प्रस्तुत प्रसंगके अतिरिक्त इसी वार्तिकमें अन्यत्र भी उन्होंने उपमानके प्रामाण्यका निरास किया है—देखो पृ० ५८. पं० १३ ।

प्रस्तुत प्रसंगमें एक और बात भी जानने योग्य है वह यह कि शान्त्याचार्य ने उपमानको तो अप्रमाण ही कहा किन्तु जिस प्रत्यभिज्ञानमें दूसरे जैनाचार्यों ने उपमानका अन्तर्भाव किया है उसे तो प्रमाण ही माना है ।

दूसरे जैनाचार्यों ने प्रत्यभिज्ञाको स्वतंत्र परोक्ष प्रमाण माना है तब शान्त्याचार्य ने प्रत्यभिज्ञाको नैयायिकादि की तरह प्रत्यक्ष ही माना है ।

(आ) अब उपमानके अन्तर्भावके विषयमें विचार करना क्रमप्राप्त है । जो दार्शनिक उपमानको प्रमाण तो मानते हैं किन्तु पृथक् प्रमाण माननेसे इनकार करते हैं वे उपमानका स्वाभिमत किसी न किसी प्रमाणमें अन्तर्भाव कर लेते हैं । उपमानके अन्तर्भावके विषयमें निम्न-लिखित मत पाये जाते हैं—

( १ ) आगममें अन्तर्भाव ।

( २ ) अनुमानमें अन्तर्भाव ।

१. "प्रत्यक्षमूलक उपमानम् । सदृश्यमे वक्ष्याम्यपगमात् ।" तत्त्वो० पृ० ११० । २. देखो, प्रस्तुत वार्तिक पृ० ९२. पं० १८ ।

( ३ ) प्रत्यभिज्ञामें अन्तर्भाव ।

( ४ ) प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव ।

( १ ) प्राचीन नैयायिकों ने अतिदेशवाक्यको उपमान प्रमाण माना है । उस अतिदेश-वाक्य स्वरूप उपमानका अन्तर्भाव आगममें ही हो जाता है ऐसा भी मांसकों ने, वैशेषिकों ने तथा सांख्यों ने कहा है—

“तस्यागमावहिर्भावाद्व्ययैकोपवर्णितम् । पुरुषप्रत्ययेनैव तच्चार्यः संप्रतीयते । तदीय-  
वचनत्वेन तस्यादागम एव सः ॥” श्लोका० उप० २, ३ ।

“आतेन अप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयप्रतिपादनादुपमानं भातवचनमेव”-प्रशस्त०  
पृ० ५७६ ।

“उपमानं तावद् ‘यथा गोस्तथा गवयः’ इति वाक्यम्, तज्जलिता धीरागम एव”  
सांख्यत० का० ५ ।

इनमें भी मांसकों को उपमानका पृथक् प्रामाण्य इष्ट है किन्तु उनके मतसे उसका लक्षण नैयायिकों से भिन्न ही है । अत एव वृद्ध नैयायिकसंमत उपमानको वे आगममें अन्तर्भूत कर लेते हैं । सांख्य और वैशेषिकों को उपमानका प्रामाण्य इष्ट है किन्तु पृथक् प्रामाण्य नहीं । अत एव उक्त लक्षणको वे भी आगममें ही अन्तर्भूत कर देते हैं ।

( २ ) अतिदेशवाक्यके स्पष्टतया आगमरूप होनेसे नवीन नैयायिकों ने उपमानका दूसरा लक्षण किया । इसके अनुसार अतिदेशवाक्यको सुनकर अरण्यमें जानेपर सारूप्य दर्शन होता है अर्थात् गोसदृश गवयका दर्शन होता है तब संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्ति होती है अर्थात् यह गवयपदवाच्य है ऐसी प्रतीति होती है । यह प्रतीति उपमानका फल है अत एव सारूप्यदर्शन कारण होनेसे उपमान प्रमाण कहा जाता है—ऐसा नवीन नैयायिकों ने माना । इस उपमानको तो आगममें अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता था । अतएव उपमानको पृथक् प्रमाण नहीं मानने वाले सांख्यों ने इसे अनुमानमें अन्तर्भूत कर लिया—“बोध्यं ‘गवयश्चाब्धौ गोसदृशस्य वाचकः’ इति प्रत्ययः सोऽपि अनुमानमेव । यो हि शब्दो यत्र दृश्यः प्रयुज्यते सोऽसति दृश्यस्तत्र तस्य वाचकः, यथा गोश्चाब्धौ गोत्वस्य, प्रयुज्यते तत्रैव गवयश्चाब्धौ गोसदृशे इति तत्रैव वाचक इति तज्ज्ञानमनुमानमेव” सांख्यत० का० ५ ।

नवीन नैयायिकों के इस लक्षणको भी शास्त्ररक्षित ठीक नहीं समझते । उनका कहना है कि अतिदेशवाक्यका श्रवण हुआ उसी समय समारूप्यसंबन्ध प्रतिपत्ति हो ही जाती है अत एव गवयदर्शनके बाद उसे माननेपर गृहीतमाहि होनेसे स्पृष्टिकी तरह उपमान अप्रामाण्य ही हो जायगा—तत्त्वसं० का० १५६४-६५ । आगे आकर उन्होंने यह भी कह दिया है कि यदि उपमान को किसी भी तरह प्रमाण मानना ही हो तब उसे सतत्र नहीं किन्तु अनुमानान्तर्भूतकर लेना चाहिए ।

१. “तेषां लघोचरत्वेऽपि भवलेवाहुनैव वा । त्रिकुण्डलिन्यन्वयमस्यैवं प्रतीयते ॥ १५०५ ॥ यो यथा लघोऽस्ती हि गवयद्वुतिगोचरः । सङ्केतप्रद्वानावलो दुहित्वो गवयो यथा ॥ १५०६ ॥” तत्त्वसं० ।

न्या० २९

जैन व्याख्याकार सिद्ध विंने भी उपमान प्रमाणको अनुमानके अन्तर्गत कर लिया है—  
न्याया० टी० पृ० २० ।

प्रमालक्ष्म में भी उपमानका अन्तर्भाव अनुमानमें किया गया है—का० ३१६, ३३४ ।  
विवेक यह है कि प्रमालक्ष्मकार ने भी मांसक संमत उपमानको अनुमानान्तर्गत माना है  
और नैयायिकसंमत उपमानको अधिगतग्राहि होनेसे शान्तरक्षित की तरह अप्रमाण ही माना  
है—प्रमालक्ष्म—का० ३४१ ।

(३) जैन आचार्यों ने उपमानको प्रत्यभिज्ञान नामक परोक्ष प्रमाणान्तर्गत माना है । जैसे  
ऊर्ध्वता सामान्यको विषय करके 'स एवायं' ऐसा संकलनात्मक प्रत्यय होता है वैसे ही  
तिर्यग्गसामान्यको लेकर 'तत्सदृशोऽयं' ऐसा संकलनात्मक प्रत्यय होता है । जैन आचार्यों के  
मतसे ऐसे और भी संकलनात्मक प्रत्यय हो सकते हैं, जैसे—'इदमस्मात् दूरं, इत्थम्' इत्यादि ।  
इन सभी प्रकारके संकलनात्मक ज्ञानोंको प्रत्यभिज्ञानके अन्तर्भूत ही माना गया है—प्रमेयक०  
३.५-१० । त्यादादर० पृ० ४९७ ।

(४) वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में भी मांसक संमत उपमानका अन्तर्भाव  
प्रत्यक्षमें किया है—

“यत्तु गवयस्य चक्षुःसन्निरुद्धस्य गोसादृश्यज्ञानं तत्प्रत्यक्षमेव, अत एव स्वयंमाणायां  
गवि गवयसादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षम् । न हि अन्यद् गवि सादृश्यम्, अन्यच्च गवये ।  
भूयोवयवसामान्ययोगो हि जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते । सामान्ययोगश्च  
यकः । स चेद् गवये प्रत्यक्षो गव्यपि तथा ।” सांख्यत० का० ५ ।

(५) नैयायिक और भी मांसकों ने ही उपमानका पृथक् प्रामाण्य माना है । वेदान्त-  
दर्शन व्यवहारमें भट्टनयका अनुगामि है अतः उसे भी उपमानका पृथक् प्रामाण्य इष्ट है ।  
अन्य किसी दर्शनमें ऐसा नहीं माना गया ।

(६) आचार्य उमास्वामि ने उपमान का विचार नयवादरूप जैन दृष्टि से किया है अतः  
एव उनके मतसे वह प्रमाण है भी और नहीं भी ।

आचार्य उमास्वामि ने जब प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद करके मत्वादि पांचों  
ज्ञानों का उन्हीं दोमें समावेश कर दिया तब उनके सामने प्रश्न हुआ कि नैयायिकादिको  
सम्मत और भगवती<sup>१</sup> जैसे जैन शास्त्रमें निर्दिष्ट प्रमाणके प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और  
आगम ऐसे चार भेदोंके साथ इन दो भेदोंका समन्वय कैसे करना ? । आचार्य उमास्वामि ने  
उत्तर दिया कि उन चारों प्रमाणोंका समावेश मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें कर लेना चाहिए<sup>२</sup> ।  
अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमानका मतिमें और आगमका श्रुतमें अन्तर्भाव कर देना  
चाहिए । इस प्रकार फलित यह होता है कि ये चारों ही प्रमाण परोक्ष प्रमाणान्तर्गत हैं ।  
प्रस्तुतमें यह कहना चाहिए कि उपमान प्रमाण है पर वह परोक्ष है और मतिज्ञान है ।

जैन दृष्टिके अनुसार जो सम्यग्दृष्टि जीव है उसीका मतिज्ञान ज्ञान है अत एव प्रमाण है ।  
और मिथ्यादृष्टि जीवका मतिज्ञान अज्ञान है अत एव अप्रमाण है । इसी दृष्टिसे उमास्वामि ने

फिर कहा कि प्रमाणके निर्दिष्ट चार भेद मिथ्यादृष्टिके द्वारा परिगृहीत होनेसे अप्रमाण ही हैं । इस विचारके अनुसार उपमान यदि मिथ्यादृष्टिका हो तो वह अप्रमाण ही कहा जायगा ।

एक और दृष्टिसे भी उ मा खा ति ने इस विषयका विचार किया है । उनका कहना है कि शब्दनयके मतानुसार कोई जीव मिथ्यादृष्टि या अज्ञ होता ही नहीं । अत एव शब्द दृष्टिसे देखा जाय तो सभी ज्ञान प्रमाण ही हैं । प्रस्तुतमें कहना होगा कि इस विचारसे उपमान प्रमाण ही है ।

### ३.—उपमानका फल ।

उपमानके फलके विषयमें भी विवाद देखा जाता है । इस विषयमें उल्लेखनीय मतभेद नै या यि क और मी मां स कों का है ।

नै या यि कों ने उपमिति को संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतीतिरूप माना है । अर्थात् अतिदेशवाक्यको सुन कर श्रवणमें जानेवाले व्यक्तिको 'अयं गवयपदवाच्यः' ऐसी जो प्रतीति होती है उसे उपमानका फल माना है । किन्तु मी मां स कों ने ऐसा नहीं माना । उनका कहना है कि उपमानका फल समाख्यासंबन्धप्रतीति नहीं किन्तु परोक्ष गौमें गवयसादृश्यका जो ज्ञान होता है अर्थात् 'मद्वहगतो गौः गवयसदृशः' ऐसा जो ज्ञान होता है वही उपमानका फल है । अर्थात् संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतीति नहीं किन्तु परोक्षवस्तुविषयक सादृश्यज्ञान ही उपमिति है ।

५० ६२. पं० ८ 'महिष' तुलना—प्रमाणवा० अंक० ५७६ ।

५० ६२. पं० ८. 'सादृश्याभाव' तुलना—“स्यादेतत्—वैसादृश्यं हि सादृश्याभावः । तस्मादस्त्येवाभावात्तर्गतिरित्याह—अन्योन्येत्यादि । अन्योन्याभावतायां सत्यां यद्यभावरूपं प्रमेयं व्यवस्थाप्यते तदा समम् । कथमित्याह—

“सादृश्यस्य विवेको हि यथा तत्र प्रमीयते ।

सर्वावयवसामान्यविवेको गम्यते तथा ॥” तत्त्वसं० का० १५६०, ६१ ।

५० ६२. पं० १०. 'किमिदं सादृश्यम्' कुमारिल ने सादृश्यका लक्षण इस प्रकार करके उसे धृक् वस्तु सिद्ध किया है—

“सादृश्यस्यापि वस्तुत्वं न शक्यमपवाधितुम् ।

भूयोऽवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरस्य तत् ॥ १८ ॥” श्लोकवा० ।

मतलब यह है कि दो गोव्यक्तियोंमें तो गोत्वरूप एक ही जाति होनेके कारण दोनों साधर्म्य या समानता है किन्तु गो और गवयमें गोत्व या गवयत्वरूप एक जाति नहीं । गोमें गोत्व और गवयमें गवयत्व जाति भिन्न भिन्न होने पर भी दोनोंमें समानताका प्रत्यय जो होता है उसका कारण स्वजातिके अतिरिक्त कुछ दूसरा होना चाहिए और वही सादृश्य है । गो और गवयमें बहुतसे समान अवयवोंका जो योग है वही सादृश्य है । शा ख दी पि का में सादृश्यका लक्षण इस प्रकार किया गया है—“अर्थान्तरयोगिभिः संबंधिसामान्यैरर्थान्तरस्य तादृश-

१. “अप्रमाणान्येव वा । कुतः मिथ्यादर्शनपरिमहात्, विपरीतोपदेशाच्च”—तत्त्वार्थभा० १.१३ ।
२. “चेतनाज्ञानाभावाच्च सर्वजीवानां नास्व कश्चिन्मिथ्यादृष्टिशो वा जीवो विद्यते तस्मादपि विपर्ययान न ज्ञयत इति । अतश्च प्रत्यक्षानुमानोपमानासवचनानामपि प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायत इति ॥” तत्त्वार्थभा० १.३५ ।

योगः सादृश्यम् । यथा गोजातियोगिभिः कर्णाद्यवयवसामान्यैर्गवयजातेयोगो गवयस्य गोसादृश्यम् । गवयसंयोगिभिश्च गोर्धौः तत्सादृश्यम् ।” शास्त्रदी० पृ० ७५ ।

सामान्यका लक्षण तो यह है कि जो अनुवृत्ति प्रत्ययमें निमित्त हो वह सामान्य है । अर्थात् गोत्वसामान्यके कारण सभी गायोंमें ‘अयं गौः’ ‘अयं गौः’ ऐसा प्रत्यय होता है । मी मां स कों का कहना है कि सादृश्य सामान्यरूप नहीं किन्तु उससे भिन्न पदार्थ है क्योंकि सादृश्यके कारण अनुवृत्ति प्रत्यय नहीं होता किन्तु सादृश्य प्रत्यय होता है । सादृश्य सामान्यमें भी उपलब्ध होता है अत एव वह सामान्यसे भिन्न होना चाहिए ।

किन्तु नैयायिकों ने उसे द्रव्यादि सात पदार्थसे अतिरिक्त नहीं माना और उसका लक्षण इस प्रकार किया —

“तद्विभक्त्ये सति तद्वतभूयोधर्मवत्त्वम्” मुक्ता० का० २ ।

इसका मतलब यह है कि जब हम मुखको चन्द्रकी उपमा देते हैं अर्थात् मुखको चन्द्र सदृश कहते हैं तब इसका अर्थ यह है कि चन्द्रसे भिन्न होते हुए भी चन्द्रगत आकादकल्पादि धर्म मुखमें हैं । यही मुखगत चन्द्रसादृश्य है ।

नवीन नैयायिकों ने मी मां स कों की तरह सादृश्यको पृथक् पदार्थ माना है —

“नव्यास्तु सादृश्यमतिरिक्तमेव । न चातिरिक्त्ये पदार्थविभागव्याघातः इति वाच्यम् । तस्य साक्षात् परंपरया वा तत्त्वज्ञानोपयोगिपदार्थमात्रनिरूपणपरत्वात्” दिनकरी का० २ ।

बौद्धों ने तो कह दिया कि जब सामान्य ही सिद्ध नहीं तब ‘भूयोवयवसामान्ययोग’ रूप सादृश्य कैसे सिद्ध हो सकता है—तत्त्वसं० का० १५४४ ।

पृ० ६२. पं० ११. ‘गवयालम्भने’ उपमानके प्रयोजनमें कुमारिभ ने बताया है कि प्रतिनिधिके चुनावमें सादृश्यके ज्ञानकी अपेक्षा है । और सादृश्य ज्ञान उपमानसे होता है । उन्होंने ग्रीहिके अभावमें नीवारको प्रतिनिधि मान कर यह करलेना चाहिए ऐसी बात मी मां सा सूत्र ( ६.३.१३—१७ ) के आधारसे कही है—श्लोकवा० उप० ५३ ।

प्रस्तुतमें शान्त्या चार्थने गवयको गोके प्रतिनिधिरूपसे बताया है । मी मां सा दर्शनमें गोका गवयसे सादृश्य माना गया है किन्तु गवयको गोका प्रतिनिधि बनाया जाय ऐसी विधि देखनेमें नहीं आती फिर भी ऐसी कल्पना बौद्धों ने और जैनो ने मी मां स कों की हिंसाप्रिय प्रकृतिको देखकर की हो तो कोई आश्चर्य नहीं ।

पृ० ६२. पं० १५. ‘प्रमाणैयत्ता’ तुलना—“यथावता च लेशेन प्रमाणत्वव्यवस्थितौ । मेयत्ता स्यात् प्रमाणत्वमन्यथापि प्रमाणतः ॥” तत्त्वसं० का० १५५६ ।

पृ० ६२. पं० १६ ‘न.....विषयवत्’ तुलना—“प्रमेयवत्त्वभावेन नाभिप्रेताऽस्य मानता ॥” तत्त्वसं० का० १५४३ ।

१. प्रशस्त० पृ० ६७७ । २. “अनुवृत्तिप्रत्ययनिमित्ताभावाच्च न सामान्यम्” प्रकरणपं० पृ० ११० । ३. “सामान्येपि सत्वात् यथा गोत्वं नित्यं तथा अश्वत्वमपि नित्यमिति सादृश्यप्रतीतिः” मुक्ता० का० २ । ४. प्रमाणवा० अलं० पृ० ५७६ ।

पृ० ६२. पं० १८. 'अर्थापत्तिः' सिर्फ़ मीमांसक और वेदान्तको छोड़ कर अन्य किसी दार्शनिकने अर्थापत्तिका पृथक् प्रामाण्य माना नहीं । उसका अन्तर्भाव सभीने अनुमानमें ही किया है । इसकी चर्चाके लिये देखो—शाबरभा० पृ० ३८ । श्लोकवा० अर्थापत्तिपरिच्छेद । प्रकरणपं० पृ० ११३ । तत्त्वसं० का० १५८७-१६४७ । न्यायमं० वि० पृ० ३६ । सन्मति० टी० ५७८, ५८५ । न्यायकु० पृ० ५०५ । स्याद्वादर० पृ० २७६ ।

पृ० ६२. पं० २४. 'पूर्वम्' देखो, पृ० १९. पं० ९ ।

पृ० ६२. पं० २४. 'अनियमे' तुलना—सन्मति० टी० पृ० २६ पं० ४० ।

पृ० ६३. पं० ६. 'अभावप्रमाणम्' देखो, प्रमाणमीमांसाका भाषाटिप्पण पृ० २६ ।

पृ० ६३. पं० ७. 'प्रमाणपञ्चकाभावे' तुलना—“प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते । साऽऽत्मनः परिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यावस्तुनि ॥” श्लोकवा० अभाव० ११ ।

पृ० ६३. पं० ८. 'तथा हि' यहाँसे मीमांसकने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि प्रत्यक्षादि भावग्राहि प्रमाणोंसे अभावका ग्रह हो नहीं सकता । प्रारंभमें नैयायिक और वैशेषिकोंके पक्षका खण्डन किया गया है । क्योंकि उनके मतसे अभाव प्रत्यक्ष ग्राह्य है ।

पृ० ६३. पं० २२. 'न तु...लिङ्गम्' तुलना—“न चाप्यत्रानुमानत्वं लिङ्गमावात् प्रतीयते । भाषांशो न तु लिङ्गं स्यात् तदानीं नाऽजिबुक्षणात् ॥ २९ ॥” इत्यादि । वही ।

पृ० ६३. पं० २६. 'नाप्यनुपलब्धेः' तुलना—“प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिर्न तु लिङ्गं भविष्यति । न विशेषणसम्बन्धस्तस्याः सामान्यतो भवेत् ॥ ३८ ॥” वही । बौद्ध और प्राभाकरोंने अनुपलब्धिलिङ्गक अभावव्यवहार माना है—प्रकरणपं० पृ० १२१ ।

पृ० ६३. पं० २८. 'अनवस्था' तुलना—न ज्ञानवगतं लिङ्गं दृश्यते चेदसावपि । अभावत्वाद्भावेन दृष्टेताव्येन हेतुना ॥ ४० ॥ स ज्ञान्येन दृष्टीतव्यो नादृष्टीते हि लिङ्गता । दृष्टीतिर्हि लिङ्गेन स्यादव्येनेत्यन्तता ॥ ४१ ॥” इत्यादि वही ।

पृ० ६४. पं० २. 'धूमे न' इसको 'धूमेन' पढ़ा जाय ।

पृ० ६४. पं० ५. 'अन्योपलब्धिः' अनुपलब्धि हेतुका स्वरूप धर्मोत्तरने इस प्रकार व्याख्यात किया है—“स एव घटविविक्तप्रदेशः, तदालम्बनं च ज्ञानं दृष्ट्यानुपलम्भ-निश्चयहेतुत्वात् दृष्ट्यानुपलम्भ उच्यते । यावज्जेकज्ञानसंसर्गिं वस्तु न निश्चितं तज्ज्ञानं च, न तावद् दृष्ट्यानुपलम्भनिश्चयः । ततो वस्तु अपि अनुपलम्भ उच्यते तज्ज्ञानं च । दर्शननिवृत्तिमानं तु स्वयमनिश्चितत्वाद्यममकम् । ततो दृश्यघटरहितः प्रदेशः तज्ज्ञानं च वचनसामर्थ्यादेव दृष्ट्यानुपलम्भकपक्षे प्रष्टव्यम् ।” न्यायवि० टी० पृ० ३६-४४ । अर्थात् बौद्धोंके मतसे घटविविक्त प्रदेश और घटविविक्त प्रदेशका ज्ञान ये दोनों अनुपलब्धि शब्दके प्रतिपाद्य हैं । उनमें से घटविविक्त प्रदेशका ज्ञान प्रस्तुतमें अन्योपलब्धिशब्दसे विवक्षित है ।

पृ० ६४. पं० ८. 'असद्व्यवहारः' वस्तुतः धर्म की तिने अनुपलब्धि हेतुसे असद्व्यवहार-की सिद्धि होती है यही माना है—“अमूढस्मृतिसंस्कारस्यातीतस्य वर्तमानस्य च प्रतिपद्य-प्रत्यक्षस्य निवृत्तिः अभावव्यवहारसाधनी ।” न्यायवि० पृ० ४४ ।

असद्व्यवहार अर्थात् अभावव्यवहारकी व्याख्या धर्मोत्तरने इस प्रकार की है—“अभावस्य



व्यवहारः - नास्तीति एवमाकारं ज्ञानं शब्दश्च एवमाकारो निःशंकं गमनागमनलक्षणा च मङ्गुलिः कायिकोऽभावव्यवहारः । घटाभावे हि ज्ञाते निःशंकं गन्तुमागन्तुं च न प्रवर्तते । तदेवमेतस्य त्रिविधस्याप्यभावव्यवहारस्य दृष्ट्यानुपलब्धिः साधनी - प्रवर्तिका ।”  
न्यायवि० टी० पृ० ४६ । “इत्यवस्थापनायैकानुपाख्योदाहृतिर्मता ।” प्रमाणवा० ४.२६३ ।

पृ० ६४. पं० ८. ‘एतदुक्तं भवति’ बौद्ध अपने पक्षका समर्थन करता है ।

पृ० ६४. पं० १०. ‘स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धा’ तुलना -

“एकोपलम्भानुभवादिदं नोपलभे इति ।

शुद्धेरुपलभे वेति कश्चिपकायाः समुद्भवः ॥” प्रमाणवा० ४.२७० ।

पृ० ६४. पं० १३. ‘स्मार्यते’ संपूर्ण कारिका इस प्रकार है —

“विद्यमानेऽपि विषये मोहादब्राननुबुधन् ।

केवलं सिद्धसाधर्म्यात् स्मार्यते समयं परः ॥” प्रमाणवा० ४.२६७ ।

व्याख्या - “अभावव्यवहारस्य विषये दृष्ट्यादर्शने विद्यमानेपि केवलं मोहाद् असज्ज्ञान-  
शब्दव्यवहारम् अननुबुधन् - नानुबुधन् परो असद्व्यवहारविषयतया सिद्धेन घटेन  
दृष्टान्तेन दृष्ट्यादर्शनवत्तायाः साधर्म्यात् समयं व्यवहारं स्मार्यते । पूर्वमपि त्वया दृष्ट्या-  
दर्शनमात्रकोऽसद्व्यवहारः प्रवर्तितः तत्सद्भावादिहापि प्रवर्तयेति परः प्रतिपाद्यते ।”  
मनो० ।

पृ० ६४. पं० १६. ‘वादन्याये’ - “एतावन्मात्रनिमित्तोऽयमसद्व्यवहारोऽन्यस्य  
तन्निमित्तस्य अभावात् । सर्वसामर्थ्यविवेको निमित्तमिति चेत्” इत्यादि - वादन्याय  
पृ० २१ ।

पृ० ६४. पं० १८. ‘ननु’ मीमांसक ने यह शंका की है ।

पृ० ६४. पं० १९. ‘स्वभावहेतौ’ - “ननु यथा स्वभावकार्यं (कारण) सिद्ध्यर्थं द्वौ हेतु  
उक्तौ तथा अनुपलब्धिरपि वक्तुं युक्ता हेतुत्वात् । स्वभावानुपलब्धिस्तावत् तादात्म्यप्रति-  
बन्धात् स्वभावहेतोर्न भिद्यत इति स्वभावहेतुनिर्देशादेव निर्दिष्टा । कारणव्यापकानु-  
पलब्धिभ्यां च निषेध्यानुपलब्धिरेव प्रतिपाद्यत इति न ते अपि स्वभावानुपलब्धेर्भिद्येते ।” -  
मनो० पृ० ५०४ ।

स्वभावहेतुमें बौद्ध तार्किकोंने तादात्म्य सम्बन्ध माना है अत एव धर्म की र्ति ने अनुपलब्धिमें  
भी तादात्म्य सम्बन्ध की सिद्धि निम्न कारिकामें की है —

“तत्रोपलभ्येवस्त्वमुपलब्धेर्नचापरम् ।” प्रमाणवा० ४.२६३ ।

मनोरथनन्दी ने इसकी व्याख्या निम्न शब्दोंमें की है । —

“ननु स्वभावानुपलब्धौ कथं तादात्म्यं प्रतिबन्ध इत्याह - तत्रोपलभ्येषु भावेषु विचार्य-  
माणमस्त्वमुपलब्धेर्परं न भवति यदि हि उपलब्धिः कर्मधर्मस्तदा उपलभ्यमानता  
अस्त्वित्वम् । अथ कर्तृधर्मः, ज्ञानम् ; तदा तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाद् भावसत्ताव्यवस्थाम-  
स्योपचारात् सैव सत्ता । यथा चोपलब्धिरेव सत्ता तथा अनुपलब्धिरेवासत्तेति तादा-  
त्म्यमनयोः सम्बन्धः ।” मनो० ।

पृ० ६४. पं० २०. ‘नैष दोषः’ बौद्ध उत्तर देता है ।

पृ० ६४. पं० २४. ‘हेतुना’ व्याख्या - हेतुना समग्रेण यः कार्योत्पादोऽनुमीयते स  
कस्मिन् हेतावन्तर्भवतीत्याह - स स्वभावहेतुरनुवर्णितः । न हि समग्राद्धेतोः कार्यसम्भ-

योऽनुमीयते किन्तर्हि—कार्यार्जनयोग्यत्वम् । तच्चार्थान्तरात्मन्येवंत्वात् हेतुसाकस्यमभावात्  
बन्धयेति । तस्मिन् साध्ये हेतुसाकस्य सभावहेतुत्वे ।” प्रमाणवा० मनो० ३.६ ।

पृ० ६५. पं० ३. ‘नन्वेवं’ मीमांसक बौद्ध पक्षका उत्तर देता है ।

पृ० ६५. पं० ४. ‘योग्यतायाः’ वस्तुतः असङ्गबह्वारकी योग्यता अनुपलब्धि हेतुका साध्य  
है तभी तो उसका अन्तर्भाव सभाव हेतुमें होता है—हेतु० टी० पृ० ५० ।

पृ० ६५. पं० ६. ‘तस्य भावन्यतिरेकेण’ तुलना—“न हि वस्तुव्यतिरिक्तम् असङ्गम-  
प्रमाणस्य मर्षविषयत्वात् । सकलशक्तिविरहलक्षणस्य निरुपाक्यस्य सभावकार्यादेरभावात्  
कुतस्तत्प्रमितिः ।” अष्टश० का० ९ ।

पृ० ६५. पं० १४. ‘सम्बन्धं विना’ तुलना—“कथं तर्हि अभावेन सम्बन्धः ? । न  
कथञ्चित् । किन्तु बुद्धिपरिकल्पित एवास्ती इत्याह—

“तस्मादनर्थात्कम्बिन्धोऽभिजार्थाभिमतेश्वपि ।

शब्देषु वाच्यमेदिन्यो व्यतिरेकास्पदं धियः ॥” प्रमाणवा० २.११७ ।

पृ० ६५. पं० १८. ‘सम्बन्धपूर्वकत्वेन’ विशेषणविशेष्यभाव मी तब होता है जब  
दोनों सम्बन्धिओंमें कोई न कोई सम्बन्ध हो ऐसा प्रतिपादन विद्यानन्द ने स्पष्टतया किया है ।  
उन्ही का अनुगमन प्रमाचन्द्र और देवसूरि ने भी किया है ।

“कथं समवायिभिरसम्बन्धस्य तस्य तद्विशेषणभावो निश्चीयते ?” तत्कार्यश्लो० पृ० २० ६

“नापि विशेषणभावात् सम्बन्धान्तरेण सम्बन्धार्थेष्वेव अस्य प्रवृत्तिप्रतीतेः, दृष्ट-  
विशिष्टः पुरुषः इत्यादिवा । अन्यथा सर्वे सर्वस्य विशेषणं विशेष्यञ्च स्यात् ।” इत्यादि ।  
न्यायकु० पृ० ३०३ स्याद्वाद० पृ० ९६९ ।

पृ० ६५. पं० १९. ‘पुरुषेच्छया’ तुलना—“विशेषणविशेष्ययोः विवक्षापरतन्त्रत्वात्  
पुरुषेच्छानुरोधात् न पारमार्थिकत्वम् । तथा विद्याजी गौरिति गोर्विद्यामिस्यादी विपर्ययो  
विशेषणविशेष्ययोः प्रयोजुरिच्छाबोधेन दृश्यते ।” प्रमाणवा० मनो० २.२२७ ।

पृ० ६६. पं० १३. ‘स्वतन्त्रः’ तुलना—“अभावो हि नाम न कश्चित् स्वतन्त्रो व्यवहार-  
विषयोऽपि तु विवक्षितस्य वस्तुन एव ।” प्रमाणवा० अलं० पृ० ८३३ ।

पृ० ६६. पं० १५. ‘एकदाऽस्ति’ तुलना—“प्राग्भूत्वा क्षमबन्मावोऽनित्य इत्यभि-  
धीयते ॥” प्रमाणवा० २.११० । “न तस्य किञ्चिद् भवति न भवत्येव केवलम् ॥”  
वही ३.२७७ । हेतु० टी० पृ० ८२ ।

पृ० ६६. पं० २२. ‘अकिञ्चित्करत्वेन’ तुलना—

“अपेक्षेत परः कार्यं यदि विद्येत किञ्चन ।

यदाकिञ्चित्करं वस्तु किं केनविषयेष्यते ॥” प्रमाणवा० ३.२७९ ।

पृ० ६७. पं० २. ‘सप्तया भाव्यम्’ तुलना—

“अविनाशात् स पथास्य विनाश इति चेत् कथम् ।

अन्योऽर्थोऽन्यस्य नाशोऽस्तु काष्ठं कस्मान्न दृश्यते ॥” प्रमाणवा० ३.२७० ।

पृ० ६७. पं० ७. ‘उक्तमत्र’ देखो पृ० ६६. पं० २१—२४ ।

पृ० ६७, पं० १०. 'क्षीरे दधि' प्रासंगिक श्लोक ये हैं —

“क्षीरे दधि भवेदेवं दधि क्षीरं घटे पटः ।  
शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ चैतन्यं मूर्तिरात्मनि ॥ ५ ॥  
अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ वायौ रूपेण तौ सह ।  
व्योम्नि संस्पर्शिता ते च न चेदस्य प्रमाणता ॥ ६ ॥” श्लोका० अभा० ।

इसके साथ आस भी मांसा की निम्न कारिकाएँ तुलनीय हैं —

“कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निवृत्ते ।  
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां वजेत् ॥ १० ॥  
सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे ।  
अभ्यन्त समवाये न व्यपदिद्येत सर्वथा ॥ ११ ॥”

पृ० ६७, पं० २३. 'अनवस्था' अर्च टने अनेकान्तवादमें जो अनवस्था दोष दिया है वही यहाँ उद्धृत है—हेतु० टी० पृ० ४३. ।

पृ० ६७, पं० २५. 'सर्वभावाः' तुलना—

“सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः ।  
स्वभावपरमाधार्यां व्यावृत्तिभागिनो यतः ॥” प्रमाणवा० ३.३९ ।

“सर्वभावानां स्वस्वभावव्यवस्थितेः स्वभावसांकर्याभावात् ।” हेतु० टी० पृ० २४ ।  
तथा पृ० २२, १९५ ।

पृ० ६८, पं० ४. 'दृश्यत्वम्' बौद्ध तार्किकोंने अनुपलब्धिके दो प्रकार बताये हैं—  
दृश्यानुपलब्धि और अदृश्यानुपलब्धि । उनमें से दृश्यानुपलब्धि ही अभावव्यवहारकी साधिका  
हे अन्य नहीं । धर्म की र्ति का कहना है कि पिशाचादिके सङ्गा होने पर भी अदृश्यानुप-  
लब्धिका संभव है क्योंकि पिशाचादि पदार्थ स्वयं दृश्य नहीं अत एव अदृश्यानुपलब्धि  
अभावका निश्चय नहीं करा सकती, संशयका हेतु है ।

“अनिश्चयफला ह्येषा मालं व्यावृत्तिसाधने ।” प्रमाणवा० ४.२७७ ।

“विप्रकृष्टविषयानुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा संशयहेतुः, प्रमाणनिवृत्ता-  
वप्यर्थाभावासिद्धेरिति ।” न्यायवि० पृ० ५९ ।

दृश्यत्वा लक्षण धर्म की र्ति ने इस प्रकार किया है—“उपलब्धिलक्षणप्राप्तिः—उपलम्भ-  
प्रत्ययान्तरसाकर्यं स्वभावविशेषश्च । यः सत्सु अन्येषूपलम्भप्रत्ययेषु सन् प्रत्यक्ष एव  
भवति स स्वभावः ।” न्यायवि० पृ० ३६ ।

किसी भी वस्तुकी दृश्यताके लिये दो शर्तें हैं—एक तो चक्षुरादि अन्य समी ज्ञानजनक  
प्रत्ययोंकी उपस्थिति आवश्यक है तथा उस वस्तुका विशेष स्वभाव जिसके कारण प्रत्ययान्तरोंके  
साकल्य होने पर वह अवश्य प्रत्यक्ष हो ।

धर्मों सरने स्पष्टीकरण किया है कि जब किसी वस्तुको कोई द्रष्टा देखनेके लिये प्रवृत्त होता  
है और उसे देखता है तब समज लेना चाहिए उसमें उक्त दोनों बातें हैं । त्रिविप्रकृष्ट  
वस्तुओंका दर्शन उसी पुरुषको इस लिये नहीं होता है कि अन्य सामग्री मौजुद होते हुए भी  
उसमें दूसरी बात—विशेष स्वभावकी कमी है ।

किन्तु यदि पुरुष देखनेके लिये प्रवृत्त ही नहीं होता है तो वह योग्यदेसस्थ दृश्यको भी नहीं देखता क्योंकि दृश्य पदार्थ तो अपने विशेष स्वभावके साथ मौजुद है परंतु प्रत्ययान्तरका सात्त्विक नहीं हुआ और वह विप्रकृष्टको भी नहीं देखता क्योंकि उसमें तो दोनों बाधोंकी कमी है ।

फलित यह होता है कि दर्शनके लिये प्रवृत्त पुरुषकी अपेक्षासे कोई भी पदार्थ प्रत्ययान्तर से निकल होनेके कारण दिखाई न दे यह बात नहीं । स्वभावविशेषकी निकलताके कारण ही न दिखाई दे यह संभव है । तथा देखनेके लिये अप्रवृत्त पुरुषकी अपेक्षासे दृश्य पदार्थ प्रत्ययान्तरकी निकलताके कारण और अदृश्यपदार्थ उभयकी निकलताके कारण दिखाई नहीं देते हैं—न्यायवि० टी० पृ० ३७ ।

धर्म की ति ने पिशाचादिके अतिरिक्त सर्वज्ञ और वीतरागको भी विप्रकृष्ट-पदार्थ माना है । अत एव उनका कहना है कि इन्द्रियगम्य वचनादि जैसे किसी भी हेतुके साथ अतीन्द्रिय सर्वज्ञ और वीतरागका अन्वय सन्दिग्ध ही होगा । व्यतिरेककी असिद्धि तो हो सकती है क्योंकि अभीतराग और असर्वज्ञ अस्पृहादिमें वचनव्यावृत्ति नहीं । किसी भी हेतुके लिये अन्वय और व्यतिरेक दोनों रूपोंकी सिद्धि आवश्यक है । वचनादि हेतुमें अन्वय सन्दिग्ध है और व्यतिरेक असिद्ध । अत एव वह अनैकान्तिक हेत्वामास होगा—न्यायवि० पृ० १०५ ।

किन्तु समन्तभद्र ने अर्हत् की निर्दोषता—वीतरागतामें युक्तिशास्त्रानिरोधि वचनको ही हेतु कहा है और इसीका समर्थन अकलंक और विद्यानन्द ने किया है—आप्तमी० का० ६ ।

समन्तभद्र ने स्पष्ट कहा है कि विप्रकर्षिता भी आपेक्षिक है । हमारे लिये परमाणु आदि भले ही विप्रकृष्ट हों किन्तु उनका प्रत्यक्ष किसी न किसीको तो अवश्य ही होगा । जिसे होगा वही अर्हन् है, वीतराग है । इसी का समर्थन अकलंक ने किया है—वही का० ५ ।

पृ० ६८. पं० ५. 'तद्योग्यत्वम्' इसके बाद पूर्णविराम चिह्न नहीं चाहिए ।

पृ० ६८. पं० ६. 'समारोपितम्'—तुलना—“अथ यो यत्र नास्ति स कथं सत्र दृश्यः । दृश्यत्वसमारोपात् असत्तपि दृश्य उच्यते । यद्येवं संभाव्यते—यद्यसावत्र भवेद् दृश्य एव भवेदिति स तत्राविद्यमानोपि दृश्यः समारोप्यः । कस्य एवं संभाव्यः ? कस्य समग्रानि आत्मजनदर्शनकारणानि भवन्ति । कदा च तानि समग्रानि गम्यन्ते ? । यदा एकज्ञानसंसर्गवस्तुस्ततोपक्रमः । एकैन्द्रियज्ञानप्राप्तं लोकगादिप्रतिष्ठानामिभुक्तं वस्तु-द्रव्यमन्योन्यापेक्षमेकज्ञानसंसर्गं कथ्यते । तयोर्हि सतीर्णकनियता भवति प्रतिपत्तिः, योग्यताया द्योतयि अभिहितत्वात् । तस्मादेकज्ञानसंसर्गमिह दृश्यमाने सत्येकमिदं इतरत् समप्रदर्शनसामग्रीकं यदि भवेद् दृश्यमेव भवेदिति संभावितं दृश्यमारोप्यते ।” न्यायवि० टी० पृ० ३६ ।

पृ० ६८. पं० ८. 'योग्यतास्वभावः' पदच्छेद करके 'योग्यता स्वभावः' इस प्रकार पढ़ें ।

पृ० ६८. पं० १०. 'अत्राहुः' जोड़ने जब अभावको भावाभ्यतिरिक्त सिद्ध करके अनुपलब्धिसे असद्व्यवहारकी उपपत्ति मानकर अभाव प्रमाणका पार्थक्य निषिद्ध किया तब पुनः भीमासक यहाँसे अपना पक्ष रखता है ।

पृ० ६८. पं० १२. 'तत्रैतत् स्यात्' यह शंका जोड़ की है ।

न्या० ३०

पृ० ६८. पं० १२. 'ननु' यह भी मांसकों ने उत्तर दिया है ।

पृ० ६८. पं० १४. 'अत्राहुः' यह बौद्धों ने अपना पक्ष रखा है ।

पृ० ६८. पं० १४. 'प्रतिभासोत्पादादेव' तुलना — "यद्यनपेक्षितभावाभ्यन्तरसंसर्गव्युत्तिमात्रमेव तुच्छरूपं ध्वंसः तदा तत्र कारकव्यापारो नैव संभवति भवनधर्मिण्येव सर्वप्रयत्नः । तस्याप्यभूत्वा भावोपगमात् कार्यता न विवक्ष्यते इति चेत् । न । भवनधर्मिणो भावरूपताप्राप्तेरभावत्वहानेः । यतो भवतीति भावो भण्यते । नापरमहृत्पदेरपि भावशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् । अर्थक्रियासामर्थ्यमिति चेत् । सर्वसामर्थ्यविरहिणस्तर्हि अस्य कथं प्रतीतिविषयता ? न ह्यकारणं प्रतीतिविषयः, अतिप्रसंगात् । तदविषयस्य वा कथं हेतुमत्तावगतिः, वस्तुता वा ? येनोच्यते 'तुच्छरूपमेव तद् वस्तु' इति । प्रतीतिजनकरणे वा कथं न सामर्थ्यसम्बन्धिता ? ।" हेतु० टी० पृ० ८० ।

पृ० ६८. पं० १५. 'तद्विलक्षणेन' तुलना —

"अभावेऽर्थबलाज्जातेरर्थशक्यनपेक्षणे ।

व्यवधानादिभावेऽपि जायेतेन्द्रियजा मतिः ॥" प्रमाणवा० २. ६६ ।

"नाहञ्जा मतिरभावे विषये प्रवर्तते अर्थस्य ग्राह्यस्य बलाज्जातेः । यद्वलेन प्रत्यक्षं प्रवर्तते तदेव प्रतिपद्यते । न चाभावस्य सामर्थ्यं नाम । यदि पुनरर्थसामर्थ्यानपेक्ष्यमस्य तदा ग्राह्यत्वार्थस्य शक्यनपेक्षणे तद्व्यवधानादिभावेऽपि इन्द्रियजा मतिर्जायेत । न चैतदस्ति । ततोऽर्थसामर्थ्यापेक्षि नाभावविषयं भवितुमर्हति ।" मनो० ।

पृ० ६८. पं० १७. 'तत् भाव एव' भी मांसकों ने कहा था कि विधिविकल्पकी उत्पत्ति भावसे और प्रतिषेधविकल्पकी उत्पत्ति अभावसे होती है । किन्तु इसके उत्तरमें बौद्धों ने कहा कि भावकी ही उपलब्धिके अनन्तर उपलब्धिसे ही विधिविकल्प और प्रतिषेधविकल्प की उत्पत्ति होती है क्योंकि भाव स्वभावसे ही पररूपासंकीर्णरूपसे व्यवस्थित है ।

तुलना — "प्रत्यक्षं हि पुरोवस्थितमौत्तराधर्मेण धूमप्रदेशादिकं विधिरूपेण धूमादिस्व-लक्षणं सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्तं च स्वस्वभावव्यवस्थितेः सर्वासामर्थमात्राणां परस्परमसंकीर्णरूपत्वात् तत्सामर्थ्यमाधियथास्थानमनुकुर्वेत् पाश्चात्यविधिप्रतिषेधविकल्पद्वयं जनयति येन धूमप्रदेशाद्यौ धर्मधर्मिणौ तयोश्चौत्तराधर्म्यं 'एवमेतत् नान्यथा' इति विकल्पयति ।" हेतु० टी० पृ० २२ ।

पृ० ६८. पं० २०. 'अत्रोच्यते' यहाँसे भी मांसकों के द्वारा अपने पक्षका समर्थन है ।

पृ० ६८. पं० २२. 'तत्रैतद्भवेत्' बौद्ध उत्तर देता है ।

पृ० ६८. पं० २२. 'नैतत् चारु' भी मांसकों का कथन है ।

पृ० ६८. पं० २३. 'पूर्वोक्त' देखो पृ० ६७ §२१ ।

पृ० ६८. पं० २३. 'उपागतम्' — पंक्ति १ देखो ।

पृ० ६८. पं० २५. 'विषयभेदात्' तुलना —

"मानं कथमभावश्चेत् प्रमेयं चास्य कीदृशम् ।

मेयो यद्वदभावो हि मानमप्येवमिष्यताम् ॥ ४५ ॥

भावात्मके यथा मेये नाभावस्य प्रमाणता ।

तथाऽभावप्रमेयेऽपि न भावस्य प्रमाणता ॥ ४६ ॥" श्लोकवा० अभा० ।

पृ० ६८. पं० २७. 'ननु' बौद्ध स्मरण दिलाता है कि अभाव जनक तो हो नहीं सकता अत एव प्रतिषेधविकल्पका विषय भी हो नहीं सकता यह कहा जा चुका है (पंक्ति १६) ।

पृ० ६८. पं० २७. 'अत्र केचिद्' बौद्धों के द्वारा भी मांसक के प्रति किये गये आक्षेपका उत्तर कोई इस प्रकार देता है कि जनक ही विषय बने यह नियम भावके विषयमें ठीक है । अभाव इस नियमका अपवाद है । बौद्धों को यह भी तो कहा जा सकता है कि तुम्हारे मतमें वस्तु क्षणिक है अत एव ग्राह्य जनक ही हो यह नियम बन नहीं सकता । क्योंकि जिस ग्राह्याकार का प्रतिभास हो रहा है वह तो समकालीन होने से ग्राहकका जनक नहीं । जो जनक था वह तो अतीत हो जानेसे ग्राह्य ही नहीं ।

पृ० ६९. पं० १. 'तत्रैतद्भवेत्' उक्त आक्षेपका उत्तर बौद्ध ने यह दिया कि ज्ञान और ज्ञेयमें ग्राह्यग्राहकभाव सन्दंशयोगोलकवत् नहीं जिससे समकालीनता अपेक्षित हो किन्तु ग्राह्य उसे कहा जाता है जो ज्ञानमें स्वाकारका जनन—स्वाकारका समर्पण करे । अभावका कोई आकार ही नहीं तो स्वाकारका समर्पण कैसे ? ।

इस विषयमें देखो प्रमाणवार्तिक की निम्न कारिकाएँ—

“हेतुभाषादस्ते नान्या ग्राह्यता नाम काचन ।

तत्र बुद्धिर्यदाकारा तस्यास्तद्ग्राह्यमुच्यते ॥ २२४ ॥

भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः ।

हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानकारापेक्षमम् ॥ २४७ ॥

कार्यं ह्यनेकहेतुत्वेऽप्यनुकुर्यदुदेति यत् ।

तत्तेनाप्यत्र तद्वयं गृहीतमिति चोच्यते ॥ २४८ ॥

सर्वमेव हि विज्ञानं विषयेभ्यः समुद्भवत् ।

तदन्यस्यापि हेतुत्वे कथञ्चिद् विषयाकृति ॥ ३६८ ॥

यथैवाहारकालादेर्हेतुत्वेऽपत्यजन्मनि ।

पित्रोस्तदेकस्याकारं भस्ते नान्यस्य कस्यचित् ॥ ३६९ ॥

रूपादेस्तेतसश्चैवमविशुद्धधियं प्रति ।

ग्राह्यलक्षणचिन्तेयमस्मिन्त्या योगिनां गतिः ॥ ५३२ ॥” प्रमाणवा० २ ।

“न हि सन्दंशयोगोलयोरिव ज्ञानपदार्थयोर्ग्राह्यग्राहकभावः ।” मनो० २.२४७ ।

पृ० ६९. पं० ५. 'अत्र वदन्ति' यह भी मांसकों का कथन है । इस कथनमें जैनो का भी ऐकम्य है । क्योंकि उनके मतमें भी ज्ञान और ज्ञेयमें कार्यकारणभाव नहीं ।

पृ० ६९. पं० ९. 'मा भूत्' बौद्ध का कथन है ।

पृ० ६९. पं० १०. 'एतदप्यसत्' भी मांसक का कथन है ।

पृ० ६९. पं० ११. 'कः पुनः' बौद्ध का प्रश्न है ।

पृ० ६९. पं० १२. 'न कश्चित्' भी मांसकका उत्तर ।

पृ० ६९. पं० १३. 'तदकार्य' ज्ञान और ज्ञेयमें कार्यकारणभाव नहीं किन्तु ज्ञानकी विशेष योग्यताके कारण ही प्रतिनियत विषयव्यवस्था हो जाती है ऐसा जैनाचार्यों का मत प्रस्तुतमें तुलनीय है—

“यथासं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः ।

‘मात्रनुकूलतन्त्रयव्यतिरेकं कारणं भाकारणं विषयः’ इति नास्तिशङ्कीतम् ।” लघी० स्वी०  
न्यायकु० पृ० ६७३ ।

पृ० ६९. पं० १५. ‘ननु’ यह बौद्ध की आशंका है ।

पृ० ६९. पं० १५. ‘स्वादय’ यह मीमांसक का समाधान है ।

पृ० ६९. पं० १६. ‘किं पुनः’ बौद्ध की शंका ।

पृ० ६९. पं० १७. ‘प्रतिविषय’ मीमांसक कृत समाधान—

“यदीत्या वस्तुसङ्गातं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।

मानसं नास्तिज्ञानं जायतेऽज्ञानवैकल्या ॥” श्लोकभा० अभाव० २७ ।

पृ० ६९. पं० २०. ‘अन्ये भवते’ दूसरे प्रकारसे किसीने अभावको प्रमेय सिद्ध करके  
तद्वाहक अभावप्रमाणका पार्यक्य सिद्ध किया है ।

पृ० ६९. पं० २२. ‘क्षणमङ्गमज्ञे’ देखो, पृ० ९१, ११८ ।

पृ० ६९. पं० २३. ‘अथ’ बौद्ध का कथन है कि वैलक्षण्यके नियामक विरुद्धधर्माभ्यास  
और कारणभेद हैं—“अथ हि मेवो मेवहेतुर्वा विरुद्धधर्माभ्यासः कारणभेदश्च । तत्रभेद  
न भेदः ‘अन्यमिन्नित्याभावात् एकं द्रव्यं विभ्रं स्यात्’ इत्यादि प्रसज्येत । प्रतिभासमेवोऽपि  
हि इत्येतत्तत्तत्प्रत्ययतया विरुद्धधर्माभ्यासतां नास्तिज्ञानमिति ।” हेतु० टी० पृ० ४७ ।

पृ० ६९. पं० २६. ‘तद्वदभावे’ बौद्धों के प्रति यह आक्षेप है ।

पृ० ६९. पं० २७. ‘अधीन्येत’ बौद्ध पक्षका अनुवाद है ।

पृ० ७०. पं० १. ‘न’ मीमांसक कृत समाधान ।

पृ० ७०. पं० ३. ‘अथ’ बौद्ध कथन ।

पृ० ७०. पं० ५. ‘एतत्’ मीमांसक का उत्तर ।

पृ० ७०. पं० ७. ‘सत्रैतत्’ बौद्ध पक्षका अनुवाद ।

पृ० ७०. पं० ८. ‘ननु’ मीमांसक की आशंका ।

पृ० ७०. पं० १०. ‘एकज्ञानसंसर्गः’ तुलना—“एकज्ञानसंसर्गाद्—इति । एकत्र हि  
ज्ञाने ज्ञापयि तौ स्वाकाङ्क्षारेण संसृष्टौ न साक्षात् । तद्विज्ञानं पदार्थद्वयाकारमाजायमानं  
तयोरात्मनि संसर्गं दर्शयति ।” हेतु० टी० पृ० १७२ ।

पृ० ७०. पं० १३. ‘योग्यता’ तुलना—“यावैती तुल्ययोग्यताकरौ तौ यदि सन्ती  
अवतस्तदा नैवेकाकारमिषता प्रतिपत्तिर्भवति । कस्मात्? असम्भवात् । न ह्येव सन्म-  
योऽस्ति—यत् तुल्ययोग्यताकरणोरेक एव प्रतिभासित नापर इति । तथाहि—अभिहित-  
त्वात् योग्यतायाः कस्तत्र साकारं न समर्प्येत ।” हेतु० टी० पृ० १७२ ।

पृ० ७०. पं० २३. ‘वक्ष्यमाणात्’ जैनों के मतसे तो ज्ञानरूप सत्संवेदन सिद्ध ही है  
किन्तु मीमांसक परोक्षज्ञानवादी है, अत एव उसके किसी ग्रन्थके अवतरणकी अपेक्षासे प्रस्तुत  
कथन को समझना चाहिए । प्रस्तुत ग्रन्थमें तो सत्संवेदनकी सिद्धि पहले आ चुकी है ।  
देखो, पृ० १७ ।

पृ० ७०. पं० २८. ‘आरोपितस्’ बौद्धों के मतसे अनुमानका विषय सामान्य है । सामान्य

अवस्तु होनेसे—काल्पनिक होनेसे उसे यहाँ आरोपित कहा गया है—“अन्यत् सामान्य-  
लक्षणम् । सोऽनुमानस्य विषयः ।” न्यायवि० परि० १. ।

पृ० ७१. पं० ४. ‘ननु’ तुलना—“तत्र यदसाधारणविषयं दर्शनं तदेव प्रमाणम् ।  
तस्मिन् तथा दृष्टे स येन येन असाधारणं ततो मेवं अभिलप्यन्ती अतश्चावृत्तिविषय-  
व्युत्पत्तिरपि प्रत्यक्षबलेन न प्रमाणम्, यथापरिदृष्टाकारग्रहणात् । ..... अर्थकिप्रासाधनस्य  
आलोचना ज्ञानेन दर्शनाददृष्टस्य पुनस्तत्साधनस्य विकल्पेनाप्रतिपत्तेः विधिविकल्पो न  
प्रमाणम् ।” हेतु० टी० पृ० २५-२७ ।

पृ० ७२. पं० १३. ‘निरस्तत्वात्’ देखो, पृ० १४ ।

पृ० ७२. पं० २१. ‘नमूक्तम्’ देखो, पृ० ६३. पं० ११ ।

पृ० ७३. पं० ६. ‘किंच, भावांश्च’ के स्थानमें ‘किञ्च अभावांश्च’ ऐसा पाठ  
होना चाहिए ।

पृ० ७३. पं० १०. ‘न हि’ ऐसा ही वाक्य हेतुविन्दुमें भी है—पृ० १८९ ।  
सन्मति० टी० पृ० २८५ पं० २० ।

पृ० ७३. पं० १६. ‘अभिधास्यते’ देखो पृ० ७४. पं० १३ ।

पृ० ७३. पं० २१. ‘अणोणा’ व्याख्या—“अन्योन्यानुगतयोः परस्परानुप्रविष्टयोः  
‘इदं वा तद् वा’ इति ..... विमर्जनं पृथक्करणं, तद् अयुक्तम्—अद्यतमानकम्, प्रमाणा-  
भावेन कर्तुमशक्यत्वात् । यथा दुग्धपानीययोः परस्परप्रदेशानुप्रविष्टयोः ।” सन्मति० टी०  
पृ० ४५२ ।

पृ० ७४. पं० १. ‘प्रतिगतम्’ तुलना—“प्रतिगतमाभितम् अक्षम् । अत्यादयः क्रान्ता-  
द्यर्थे द्वितीययेति समासः । प्राप्तापन्नालमतिसमासेषु परस्परप्रतिवेधावभिधेयवद्विहे-  
तुति सर्वलिङ्गः प्रत्यक्षशब्दः सिद्धः । अक्षाभितत्वं च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य, न तु  
प्रवृत्तिनिमित्तम् । अनेन तु अक्षाभितत्वेनैकार्थसमवेतमर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते । तदेव  
शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् । ततश्च यत्किञ्चिदर्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं तत् प्रत्यक्षमुच्यते  
यदि तु अक्षाभितत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्याद्विप्रत्ययज्ञानमेव प्रत्यक्षमुच्येत । न मानसादि ।  
यथा गच्छसीति गौरिति गमनक्रियायां व्युत्पादितोऽपि गोशब्दो गमनक्रियोपलक्षितमे-  
कार्थसमवेतं गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति । तथा च गच्छति अगच्छति च यदि गोशब्दः  
सिद्धो भवति ।” न्यायवि० टी० पृ० १०-११ । सन्मति० टी० पृ० ६२. पं० ३ ।  
प्रमाणमी० भाषा० पृ० २३. पं० २४ ।

पृ० ७४. पं० ५. ‘वैशद्यम्’ वैशद्यके लक्षणकी चर्चामें शान्त्वा चार्थने निर्निर्कल्पकम्  
तथा स्पष्टस्वरूप वैशद्यका लक्षण खण्डित किया है । और अन्तमें ‘इदन्त्वेनाक्मासन’रूप  
साक्षात्कारित्वको वैशद्यका सम्यग् लक्षण सिद्ध किया है । मतलब यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान  
विशद होता है अर्थात् साक्षादनुभवरूप होता है ऐसा शान्त्वा चार्थको दृष्ट है ।

नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक और सांख्यो के प्रत्यक्ष प्रमाणके प्राचीन लक्षणोंमें  
प्रत्यक्षकी उत्पादक सामग्रीका या अप्रामाण्यव्यावर्तक विशेषणोंका तो निर्देश हुआ है किन्तु  
प्रत्यक्षका अन्यव्यावृत्त स्वरूप प्रकाशित करनेवाले विशद, स्पष्ट, या साक्षात्कारात्मक जैसे  
शब्दोंका प्रयोग देखा नहीं जाता । दार्शनिक क्षेत्रमें बौद्धों के पदार्पणके साथ ही प्रत्यक्षका



संक्षिप्त और स्वरूपबोधक लक्षण प्रत्यक्षलक्षणमें प्रविष्ट हुआ, एक ओर तो उन्होंने प्रत्यक्षका कल्पनापोड, निर्विकल्प इत्यादि निषेधात्मक लक्षण बताया और दूसरी ओर प्रत्यक्षको विशद प्रतिभास (प्रमाणवा० २.१३०), साक्षात्कारित्वव्यापारयुक्त (न्यायवि० पृ० २०) स्फुटाम (वही पृ० २१), स्पष्ट (प्रमाणवा० २.२८१, २८४) स्फुटामता (वही २.८), स्पष्ट प्रतिभास (वही २.१४८, ५०४) इत्यादि विधेयात्मक रूपसे प्रतिपादित किया। यही कारण है बादके दार्शनिकोंने भी प्रत्यक्षके लक्षणमें इन विशेषणोंको अपनाया। जैन दार्शनिक अकलंकने<sup>१</sup> और विद्यानन्दने<sup>२</sup> तथा तदनुगामी अन्य<sup>३</sup> आचार्योंने प्रत्यक्षको स्पष्ट, विशद या साक्षात्कारि<sup>४</sup> कहा। योग सिद्धान् भासवर्द्धने प्रत्यक्षको अपरोक्षानुभव<sup>५</sup> का साधन कहा और न्यायसिद्धान्तमंजरीकारने 'साक्षात्काररूप-प्रमाकारणम्' (पृ० २) कहा। मीमांसक शालिकर्णने साक्षात्प्रतीतिको प्रत्यक्ष कहा<sup>६</sup>। नव्यन्यायके पिता गंगेशने तो प्राचीन लक्षणका खण्डन करके "प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम्।" (तत्त्वचि० पृ० ५४३) ऐसा प्रत्यक्षका जो लक्षण किया वह बौद्ध असरसे ही किया है ऐसा समझना चाहिए।

यद्यपि इन सभी दार्शनिकोंने प्रत्यक्षको स्पष्ट, विशद या साक्षात्कारात्मक बताया फिर भी बौद्धोंने निर्विकल्पकत्व और स्पष्टत्व का जो समीकरण किया था उसे किसीने मान्य नहीं रखा। यही कारण है कि शान्खाचार्य वैशद्यके लक्षणरूपसे निर्विकल्पकत्वका खण्डन करते हैं। बौद्धों की मान्यता है कि जो स्पष्ट होगा वह निर्विकल्पक ही होगा और जो निर्विकल्पक होगा वह स्पष्ट ही होगा। कल्पनाज्ञान स्पष्ट हो नहीं सकता वह अस्पष्ट ही है<sup>७</sup>। दूसरे दार्शनिकोंने प्रत्यक्षको विशद तो मान लिया किन्तु उसकी ऐकान्तिक निर्विकल्पकता स्वीकृत नहीं की अत एव बौद्धोंके उक्त सिद्धान्तका खण्डन करके ही प्रत्यक्षको स्पष्ट या विशद सिद्ध किया। दूसरे आचार्योंने स्पष्टता और विशदतामें कोई भेद नहीं किया है<sup>८</sup> अत एव प्रत्यक्षको कहीं स्पष्ट कहा और कहीं विशद। पूर्वोक्त बौद्ध उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि कहीं तो वर्म कीर्तिने प्रत्यक्षको स्पष्ट कहा और कहीं विशद। इसी लिये हम बादके दार्शनिकोंमें भी देखते हैं कि किसीने प्रत्यक्षको स्पष्ट कहा और किसीने विशद। किन्तु शान्खाचार्यने विशद और स्पष्टके अर्थमें भी भेद बताया है। उनका कहना है कि प्रत्यक्षका लक्षण विशदता अर्थात् साक्षात्कारित्व—'इदन्तेनावभास' हो सकता है किन्तु स्पष्टता नहीं। क्योंकि दूरदेशस्थित पदार्थका दर्शन अस्पष्ट होते हुए भी प्रत्यक्ष कहा जाता है और बालककी अपेक्षा बृद्धका दर्शन अस्पष्ट होते हुए भी प्रत्यक्षान्तर्गत है। अत एव स्पष्टता प्रत्यक्षका लक्षण नहीं।

१. "स्पष्टं साकारमंजसा" न्यायवि० का० ३। "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं" लघी० ३। २. "विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षम्" प्रमाणप० पृ० ६७। तत्त्वार्थस्तो० पृ० १८४। ३. परीक्षामुख २.३। प्रमाणप० २.२। प्रमाणमी० १.१.१३। प्रमालक्ष्य का० २०। ४. न्याया० टी० पृ० २८। ५. न्याय-सार पृ० २। ६. प्रकरणपं० पृ० ५१। ७. "विकल्पो हि विकल्पितार्थगोचरत्वात्स्पष्टप्रतिभास एव।" प्रमाणवा० मनो० २.५०३। "विभूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते।" "न विकल्पानुविद्धक स्पष्टार्थप्रतिभासिता।" प्रमाणवा० २.२८१, २८३। ८. "विशदं स्पष्टं च ज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्" प्रमेयक० पृ० २१६। "वैशद्यं स्पष्टत्वापरवर्गार्थं स्वीकार्यम्।" स्याद्वादुर० पृ० ३१७।

यही बात विद्यानन्द ने भी कही है—

“अव्यक्षत्वं नहि व्याप्तं स्पष्टत्वेन विशेषतः ।

इतिष्ठपादपात्र्यक्षज्ञानस्यास्पष्टतेक्षणात् ॥” तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२८ ।

उनका कहना है कि कभी कभी प्रत्यक्षज्ञान भी अस्पष्ट होता है क्योंकि स्पष्ट प्रत्यक्षमें जैसा क्षयोपशम होता है वैसा अस्पष्ट अप्रत्यक्षमें नहीं होता ।

“क्षयोपशममेवस्य तादृशोऽसंभवादिह ।

अस्पष्टात्मकसामान्यविषयस्य व्यवस्थितम् ॥” तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२८ ।

तब प्रत्यक्षको स्पष्ट कहा जाता है उसका क्या मतलब है ? यदि अस्पष्ट भी प्रत्यक्ष हो तो प्रत्यक्षके लक्षणमें अकलंक करने “स्पष्टम्” ऐसा विशेषण दिया है उसकी संगति कैसे करना ? इस प्रश्नके उत्तरमें विद्यानन्द ने प्रत्यक्षकी लक्षणभूत स्पष्टताका जो समर्थन किया है उसे यदि शान्त्याचार्य स्वीकृत करते तो असंगतिको स्थान रहता नहीं । तथा विशद और स्पष्टमें भेद करने की आवश्यकता रहती नहीं । विद्यानन्दका कहना है कि पारमार्थिक प्रत्यक्षका लक्षण जब स्पष्टत्व कहा जाता है तब मतिज्ञानादि जो इन्द्रियानिन्द्रियसापेक्ष हैं वे आत्ममात्र-सापेक्ष पारमार्थिक प्रत्यक्ष की अपेक्षा अत्यन्त अस्पष्ट होनेसे प्रत्यक्ष कहनेके योग्य ही नहीं बात एव परोक्ष ज्ञान हैं । किन्तु जब व्यवहार नयका आश्रयण किया जाता है तब मत्यादि ऐन्द्रियक ज्ञान प्रादेशिक स्पष्ट होनेसे प्रत्यक्षान्तर्गत हो जाते हैं<sup>१</sup> । दूरदेशसे जो वृक्षादिका दर्शन अस्पष्ट कहा जाता है वह मात्र अस्पष्ट नहीं किन्तु उसमें संस्थान विषयक स्पष्टता भी है और उसी स्पष्टताकी मुख्यतासे उस ज्ञानमें प्रत्यक्षका व्यवहार अनुचित नहीं<sup>२</sup> ।

शान्त्याचार्यका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि इस व्यवहार और निक्षयके श्रगडेसे अलिप्त रह करके यदि प्रत्यक्षका निर्दोष लक्षण करना हो तो स्पष्टताके स्थानमें वैशद्य शब्द रख करके उसका अर्थ साक्षात्कार करना चाहिए । जिससे अस्पष्ट दूरदेशादि दर्शन भी प्रत्यक्षान्तर्गत हो सके । और अन्य दार्शनिकों को भी उसमें आपत्ति न हो । एक और बात भी है कि सन्मतिटीकाकार अभयदेव ने अस्पष्टत्वकी जो व्याख्या की है उसे मद्दे नजर रखकर यदि शान्त्याचार्य प्रत्यक्षका लक्षण बनाते तब वे स्पष्टत्वको प्रत्यक्षका लक्षण नहीं कह सकते थे । क्योंकि अभयदेवने<sup>३</sup> उस अस्पष्ट ज्ञान को भी प्रत्यक्षान्तर्गत गिना है । अत एव शान्त्याचार्य ने विशद और स्पष्टमें भेद करके विशदशब्दसे ही प्रत्यक्षका बोध कराना चाहा उसमें उनकी विवेकदृष्टि स्पष्ट है<sup>४</sup> ।

अकलंकदेव ने वैशद्यका अर्थ “अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्” (लघी० ३)

१. तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८४ । २. “पादपादिसंस्थानमात्रे इक्षीयस्यापि स्पष्टत्वावस्थितेः ।” — तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५. पं० ३४ । “समन्वयकारादौ ध्यामलितवृत्तादिवैवृत्तमपि अव्यक्षप्रमाणस्वरूपमेव संस्थानमात्रे वैशद्याविसंवादित्वसम्भवात् ।” प्रमेयक० पृ० २२० । ३. “प्रत्यक्षपुद्गावपि अस्पष्टलक्षणप्रतिभासस्य प्रतिपादितत्वात् । यत्र हि विशेषोपसर्जनसामान्यप्रतिभासो जाने तद् अस्पष्टं व्यवस्थिते यत्र च सामान्योपसर्जनविशेषप्रतिभासः सामग्रीविशेषात् तत् स्पष्टमुच्यते ।” सन्मति० टी० पृ० २६० । ४. किन्तु अभयदेव स्वयं स्पष्ट और विशदमें कोई भेद नहीं मानते । उन्होंने स्पष्टके पञ्चाक्षरूपसे विशद शब्दका प्रयोग किया है — सन्मति० टी० पृ० ५५२ ।

किया है । इसी अर्थका अनुसरण देवसूरि ने ( प्रमाणन० २.३ ) किया है । न्यायकुमुद-  
चन्द्र में प्रभाचन्द्र ने उसका यह अर्थ किया है—

“अनुमानादिभ्योऽतिरेकेण आधिक्येन वर्णसंस्थानादिविशेषरूपतया अर्थग्रहणलक्षणेन  
अधुरतरविशेषान्वितार्थवधारणरूपेण वा यद् विशेषाणां नियतदेशकालसंस्थानाद्यर्था-  
काराणां प्रतिभासनम् ।” न्यायकु० पृ० ७४ ।

माणि क्य नन्द ने “प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन प्रतिभासनम्” ( परीक्षासुख २.४ ) ऐसा  
श्रुतलक्षण लक्षण किया है और प्रमेयकमलमार्तण्ड में प्रभाचन्द्र ने उस लक्षणका समर्थन  
भी किया है । किन्तु वादी देवसूरि ने इस लक्षणका खण्डन करके पूर्वोक्त अकलंकके  
मतको ही मान्य रखा है<sup>१</sup> ।

गंगेश ने भी माणि क्य नदी के समान ही प्रत्यक्षका लक्षण स्थिर किया है और नवीन  
नैयायिकों ने उसको स्वीकार किया है<sup>२</sup> ।

आचार्य हेमचन्द्र ने गंगेश और प्राचीन जैनाचार्यों के लक्षणोंको विकल्पसे स्वीकार  
किया है—“प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम् ।” प्रमाणमी० १.१.१४ ।

यशो विजयजी ने अकलंकका ही अनुसरण किया है<sup>३</sup> ।

पृ० ७४. पं० ६. ‘अथ तच्छ्रुतम्’ दूरदेशस्थपादपादिका अस्पष्टदर्शन श्रुतज्ञान मानना  
चाहिए ऐसा किसी का मत यहाँ उल्लिखित है । आचार्य विश्वानन्द ने भी इस मतको  
पूर्वपक्षरूपसे रख कर उसका खण्डन किया है<sup>४</sup> । और स्पष्ट रूपसे उक्तज्ञानको अक्षज प्रत्यक्ष  
सिद्ध किया है तथा उसकी श्रुतज्ञानता निषिद्ध की है—

“इविद्विपादपादिविज्ञानम् अक्षजम्, अक्षाव्यव्यतिरेकानुविधायित्वात् सविद्विपाद-  
पादिविज्ञानवत् । श्रुतज्ञानं वा न भवति साक्षात् परंपरया वा मतिपूर्वकस्याभावात्  
तद्वदेवेति ।” तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२८ ।

विश्वानन्द ने उक्तपूर्वपक्षका आधार “श्रुतमस्पष्टतर्कणम्” इस श्रुतलक्षणको बताया  
है—यह वाक्य किस जैनाचार्यका है इसका पता नहीं । किन्तु आचार्य विश्वानन्द ने स्वयं  
श्रुतकी व्याख्याके प्रसंगमें इसका उपयोग किया है और इस वाक्यांशके आगे “मतिपूर्व”  
ऐसा विशेषण जोड़ कर श्रुतका निर्दोष लक्षण किया है जिससे मात्र अस्पष्टताके कारण किसी  
ज्ञानको श्रुत ज्ञान कहनेकी शक्यता नहीं रह जाती ।

किन्तु शान्त्याचार्य ने उक्त पूर्वपक्षका आधार ‘श्रुतमस्पष्टतर्कणम्’ को न बनाकर  
अकलंकोपज्ञ श्रुतके तीन भेदमेंसे प्रत्यक्षपूर्वक श्रुतको बनाया है ऐसा उनकी चर्चासे  
स्पष्ट है ।

अकलंक ने प्रमाणसंग्रहकी द्वितीय कारिका की खोपज्ञ व्याख्यामें “श्रुतम्

१. परीक्षासुख तथा उसकी टीकाओंमें सर्वत्र “प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषरूपतया वा प्रतिभासनं  
लक्षणम्” ऐसा सूत्र पाठ छपा हुआ है किन्तु मार्तण्डकार प्रभाचन्द्रको उस सूत्रका “अव्यवधानेन  
प्रतिभासनं वैशद्यम्” ऐसा पाठ मान्य है—ऐसा मेरा मतव्य है । २. स्याद्वादर० पृ० ३१७ ।  
३. “ज्ञानाकारणकं ज्ञानम् इति तु वचम्” तत्त्वार्थि० प्र० पृ० ५५२ । मुक्ता० का० ५१ ।  
४. जैनत० पृ० २ । ५. “मतिपूर्व ततो ज्ञेयं श्रुतमस्पष्टतर्कणम्” तत्त्वार्थश्लो० पृ० २३७ ।

अविप्लवं प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम् ।” ऐसा कहा है उसीके आधारसे शास्त्राचार्य ने “अथ त्रिधा श्रुतम्—प्रत्यक्षपूर्वकम्, लैङ्गिकम्, शब्दं चेति” इत्यादि कथन किया है क्योंकि अंतमें जाकर वे “त्रिधा श्रुतमविप्लवम्” ऐसी प्रमाणसंग्रह की कारिकाका निरूपण करते हैं ।

इससे स्पष्ट है कि उक्त पूर्वपक्ष अकलंक का है ।

प्रत्यक्षके विषयमें अन्य ज्ञातव्य बातोंके लिये देखो, प्रमाणसीमासा-भाषाटिप्पण पृ० १३२ ।

पृ० ७४. पं० १७. ‘त्रिधा’ प्रत्यक्षका विभाग दार्शनिकोंने अनेक दृष्टिसे किया है ।

प्रशस्तपादने इन्द्रियज और योगज ऐसे प्रत्यक्षके दो विभाग प्रत्यक्षके कारणके भेदसे या अधिपतिके भेदसे किये हैं । इन्द्रियाँ छः हैं—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र और मन अत एव इन्द्रियज प्रत्यक्षके छः भेद हैं । और योगिके दो भेद हैं—युक्त और वियुक्त अत एव योगज प्रत्यक्ष भी दो तरहका है ।

न्यायसूत्रका आधार लेकरके टीकाकारोंने प्रत्यक्षके निर्विकल्प और सविकल्प ऐसे दो भेद भी किये हैं । ऐसे विभागके समय नैयायिकों की दृष्टि प्रत्यक्षके स्वरूपभेद की ओर विशेषतः है । न्यायसूत्रके भाष्य और वार्तिकमें समस्त प्रत्यक्षसूत्र (१.१.४) को प्रत्यक्ष सामान्यका लक्षणपरक कहा गया है<sup>१</sup> । किन्तु वाचस्पतिने उस सूत्र को प्रत्यक्षके दो भेद—निर्विकल्प और सविकल्पके जुड़े जुड़े दो लक्षणों का संग्राहक माना है । उनका कहना है कि सूत्रस्थ ‘अव्यपदेश्य’ पदसे निर्विकल्पजातीय प्रत्यक्षका और ‘व्यवसायात्मक’ पदसे सविकल्पजातीय प्रत्यक्षका ग्रहण होता है ।

नव्य नैयायिकोंने इन्द्रिय-व्यापारकी विशेषताकी दृष्टिसे प्रत्यक्षका विभाजन किया है । उनके मतानुसार प्रत्यक्षके मुख्य दो भेद हैं लौकिक और अलौकिक । संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव ये छः इन्द्रियोंके लौकिक व्यापार हैं । अत एव इन छः प्रकारके ‘सन्निकर्षरूप लौकिक व्यापारसे जन्य प्रत्यक्षको लौकिक प्रत्यक्ष कहा जाता है । इस लौकिक प्रत्यक्षके मुख्य दो भेद हैं । बाह्येन्द्रियव्यापार-जन्य और अन्तरिन्द्रियव्यापारजन्य । बाह्य चक्षुरादि पूर्वोक्त पाँच इन्द्रियके व्यापारजन्य बाह्य प्रत्यक्ष पाँच प्रकारका है । और अन्तरिन्द्रिय एक मन है अत एव मनोजन्य मामस प्रत्यक्ष एक प्रकारका है ।

अलौकिक व्यापारके तीन भेद हैं—सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगजभर्म । अत एव अलौकिक प्रत्यक्षका भी उक्त तीन अलौकिक व्यापारके भेदसे त्रैविध्य है<sup>२</sup> ।

१. प्रशस्त० पृ० ५५२ । २. “तथादेकद्वित्रिकतुष्टपदपुंसासात् पञ्चपदपरिग्रहेन त्रिकलोकीपुंसात् समस्तं लक्षणमिरयुष्यते” न्यायभा० पृ० ४० । ३. “इह इवी प्रत्यक्षजातिः—सविकल्पिका, सविकल्पिका चेति । तत्र उभयो इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारीति कारणेन संयुक्तीकानि कारणदेवोपात्ता, तत्र निमित्तपक्षेः । तत्राविकल्पिकायाः पदमव्यपदेश्यमिति । सविकल्पिकायाः व्यवसायात्मकमिति ।” तात्पर्य० पृ० १२५ । ४. देवो प्रस्तुत टिप्पण पृ० १४१ । ५. कारिका० का० ५२ से ।

लौकिक प्रत्यक्ष सविकल्प और निर्विकल्प दोनों प्रकारका होता है जब कि अलौकिक एक सविकल्पस्वरूप ही होता है' ।

धर्म की तिने प्रत्यक्षके चार भेद किये हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदन और बोधिप्रत्यक्ष' । ये चारों ही निर्विकल्प होते हैं । प्रत्यक्षका यह विभाजन भी अधिपति की प्रधानता को लक्ष्यमें रख कर किया गया है । इन चार भेदोंमें स्वसंवेदन एक ऐसा भेद है जो स्वरूपबोधक है बाकीके तीन साधनभेदसे भिन्न हैं ।

प्राभाकरों ने प्रत्यक्षका भेद विषयके भेदसे किया है । प्रमेयप्रत्यक्ष, प्रमातृप्रत्यक्ष और प्रमितिप्रत्यक्ष ऐसे प्रत्यक्षके तीन भेद शालिक नाथ ने गिनाये हैं' उससे स्पष्ट है कि शालिक नाथ प्रत्यक्षके भेदका आधार विषयभेद मानता है । उसने प्रमेयप्रत्यक्षके दो भेद किये हैं—सविकल्प और निर्विकल्प । उसके मतमें प्रमेय हैं—द्रव्य, गुण और जाति । उन्हींके साथ इन्द्रियसन्निकर्षसे जो ज्ञान होगा वह प्रमेयप्रत्यक्ष है । और वह निर्विकल्पस्वरूप और सविकल्प-रूप दो प्रकारका है' ।

प्राभाकरों की मान्यता है कि सभी प्रकारकी प्रतीतिओंमें चाहे वह प्रत्यक्ष हो, अनुमिति या स्मरणरूप हो, आत्माका तो प्रत्यक्ष ही होता है । ऐसी कोई प्रतीति हो नहीं सकती जिसमें विषयका प्रतिभास हो किन्तु आत्माका प्रत्यक्ष न हो । अत एव प्रमाता की दृष्टिसे सभी ज्ञान—प्रत्यक्ष या परोक्ष—प्रत्यक्ष ही हैं । किन्तु यदि प्रमेयकी दृष्टिसे ज्ञानका विभाजन किया जाय तब यदि प्रमेय परोक्ष हो तो ज्ञान भी परोक्ष कहा जायगा और जब प्रमेय प्रत्यक्ष होगा प्रतीति भी प्रत्यक्ष कही जायगी । अत एव प्रमाणभेदकी व्यवस्थाका आधार प्राभाकरों के मतानुसार प्रमेयकी प्रत्यक्षता या परोक्षता है । प्रमाता तो सभी प्रतीतिओंमें प्रत्यक्ष ही है' ।

प्राभाकरों का कहना है कि प्रमाता की तरह प्रमिति भी प्रत्यक्ष होती ही है । फर्क यह है कि प्रमेय और प्रमाता को प्रत्यक्ष करनेवाली प्रतीति उन दोनोंसे भिन्न होती है । किन्तु प्रमिति को प्रत्यक्ष करनेवाली प्रतीति भिन्न नहीं किन्तु अभिन्न है । अर्थात् प्रतीति स्वयं प्रत्यक्ष होती है । और प्रमाता और प्रमेय अन्यसे प्रत्यक्ष होते हैं' । मेय और माता तो अप्रकाश-स्वभाव हैं अत एव उनके प्रत्यक्षके लिये प्रकाशकी आवश्यकता है । किन्तु प्रतीति—प्रकाश तो स्वयं प्रकाशस्वभाव है अत एव अन्य प्रकाशकी अपेक्षा नहीं । प्रकाश हो करके अप्रकाशित रहे यह संभव ही नहीं । उसकी सत्ता ही प्रकाशरूप है' ।

१. न्यायकोष पृ० ४९९ । २. न्यायविन्दु पृ० १७ । ३. प्रत्यक्षस्य विशेषमाह—मेयमातृप्र-  
मास्तु सा" प्रकरणपं० पृ० ५२ । ४. "मेयेष्विन्द्रिययोगोत्था द्रव्यजातिगुणेषु सा । सविकल्पाऽवि-  
कल्पा च प्रत्यक्षा बुद्धिरित्युच्यते ॥" प्रकरणपं० पृ० १२७ । ५. "यावती काविरूपाकरणरूपया  
प्रतीतिसात्र साक्षादात्मा प्रतिभाति । न ह्याभ्यन्यनवभासमाने विषया भासन्ते ।.....नन्वेवं तर्हि  
सर्वं प्रत्यक्षं प्रसक्तं ? यद्धि मात्रमिन्द्रियम्, इहमेव । प्रमेयानिमिन्द्रियमिति चेन्न । सर्वत्र प्रमेयस्यापरोक्ष-  
त्वमिवमाभावात् ।.....तेन प्रमेयापेक्षया प्रमाणात्तरस्यपक्षः ।" प्रकरणपं० पृ० ५६ ।  
६. "सर्वोक्ष प्रतीतयः स्वयं प्रत्यक्षाः प्रकाशन्ते । तासाञ्च युक्तमेव स्वात्मनि प्रत्यक्षत्वं मान्यत्वं च ।  
मेवे भावति च व्यतिरिक्ता प्रतीतिः साक्षात्कारवती । सिद्धौ तु न व्यतिरिक्ता ।" प्रकरणपं० पृ० ५६ ।  
७. "अप्रकाशस्वभावानि मेवानि माता च प्रकाशमपेक्षन्ताम् । प्रकाशस्तु प्रकाशात्मकत्वाच्चात्मम-  
पेक्षते ।.....प्रकाशस्य त्वप्रकाशमानस्य सत्तैव नाम्नुपेक्षते ।" प्रकरणपं० पृ० ५७ ।

प्राचीन जैन आगमोंमें इन्द्रियजन्य मतिज्ञानको प्रत्यक्ष भी कहा है और परोक्ष भी कहा है। इस विरोधका समन्वय करके आचार्य जिन भद्र ने कह दिया कि वस्तुतः प्रत्यक्षके दो भेद हैं। एक सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष और दूसरा पारमार्थिक प्रत्यक्ष। जैनदार्शनिकोंने प्रत्यक्ष-शब्दगत 'अक्ष'का अर्थ आत्मा किया है। अत एव जो आत्ममात्रसापेक्ष हो वही पारमार्थिक प्रत्यक्ष है और क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको लोकमें—अन्य दर्शनोंमें प्रत्यक्ष कहा जाता है अत एव वह सांख्यव्यवहारिकप्रत्यक्ष है। यही व्यवस्था प्रायः सभी जैन दार्शनिकोंने स्वीकृत की है<sup>१</sup>।

आचार्य अकलंक ने भी अन्यत्र यही व्यवस्था की है<sup>२</sup> किन्तु उन्होंने अपने प्रमाणसंग्रह में—प्रत्यक्षके तीन भेद किये हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष—प्रमाणसं० पृ० ९७। आचार्य विश्वानन्द ने भी प्रमाणपरीक्षामें प्रत्यक्षके उपर्युक्त तीन भेद बताये हैं—प्रमाणप० पृ० ६८। उन्हीका अनुकरण प्रस्तुतमें शान्त्याचार्य ने किया है और प्रत्यक्षके उक्त तीन भेद गिनाये हैं।

प्रत्यक्षके अन्तर्गत भेदोपभेदोंके लिये देखो—प्रमाणप० पृ० ६८। स्याद्वादर० २.४-२३।

पृ० ७४. पं० २१. 'न मानसादि' यह बौद्धसमत मानसप्रत्यक्ष और स्वसंवेदन प्रत्यक्षके निषेधको लक्ष्य करके कहा गया है।

पृ० ७४. पं० २२. 'इन्द्रियम्' इन्द्रियके विषयमें विस्तृत ऐतिहासिक और दार्शनिक आलोचनाके लिये देखो, प्रमाणमीमांसा—भाषाटिप्पण पृ० ३८।

पृ० ७४. पं० २३. 'ननु' सांख्योंका यह पूर्वपक्ष शब्दशः व्योमवती टीका से लिया गया है। देखो, व्यो० पृ० १५८। कंदली पृ० २३।

पृ० ७५. पं० २०. 'वक्ष्यामः' दूसरे ग्रन्थमेंसे शब्दशः पाठ लेने पर अपने ग्रन्थमें असंगत ऐसी बात भी प्रविष्ट हो जाती है इसका यह उदाहरण है। 'वक्ष्यामः' यह पद व्योमवतीका ज्योंका त्यों शान्त्याचार्य ने उद्धृत कर लिया है। प्रस्तुत वार्तिकवृत्ति में तो 'वक्ष्यामः' कह करके जिस अनुमानका निर्देश किया है उसका कोई प्रसंग आगे आता ही नहीं। किन्तु व्योमशिवको स्वयं व्योमवतीमें उक्त अनुमान का निर्देश करना है अत एव उसने 'वक्ष्यामः' ऐसे पदका प्रयोग किया। शान्त्याचार्य ने अवधानपूर्वक पाठमें काटछांट की नहीं अत एव व्योमशिवका वह पद ज्योंका त्यों उद्धृत हो गया, तुरुन्ता—“तैजसत्वेऽनुमानमिति वक्ष्यामः।” व्यो० पृ० १५९।

प्रस्तुत अनुमानके लिये देखो, व्यो० पृ० २५६। कंदली पृ० ४०।

पृ० ७६. पं० ६. 'वक्ष्यमाणम्' यह भी पूर्ववत् व्योमशिवकी ही उक्ति है—व्यो० पृ० १६०। किन्तु पूर्ववत् प्रस्तुतमें असंगत नहीं क्योंकि शान्त्याचार्य ने आगे जा करके सांख्योंका खण्डन किया है। देखो, पृ० ११३।

१. देखो प्रमाणमी० भाषाटिप्पण पृ० २२। २. “प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंज्ञावधारणः।” लघी० ३। ३. कपीयचक्रकी खविहृतिमें भी अन्यत्र वे ही तीन भेद किये हैं—लघी० ख० ६१।

पृ० ७६. पं० १२. 'प्रतन्यते' सांख्य के पूर्वपक्षका वैशेषिकने जो उत्तर दिया वह यहाँ समाप्त होता है । और ज्योमवतीटीकाका उद्धरण भी यहीं समाप्त होता है । देखो, ज्यो० पृ० १६० ।

पृ० ७६. पं० २१. 'तमः' नैयायिक, वैशेषिक और प्राभाकरों ने 'तम' को अभावात्मक माना है । जैन, भर्तृहरि, भाइ, सांख्य और वेदान्तिओं ने उसे भावात्मक माना है । आशुबेद सांख्यदर्शनानुगामी होनेसे उसमें भी तमको भावात्मक माना है । अन्धकारके विषयमें दार्शनिक चर्चाके लिये देखो, सन्मति० टी० पृ० ५४३ । न्यायकुम्भ-कन्द्र पृ० ६६६ । इन दोनों ग्रन्थकी तुलनात्मक टिप्पणीमें अन्यदर्शनोंकी मान्यताको तत्तद्-दर्शनके ग्रन्थोंसे मूल पाठ उद्धृत करके बताया गया है ।

पृ० ७६. पं० २५. 'लब्धिः'—तुलना—“लम्भनं लब्धिः । का पुनरसौ ? कालावरज-क्षयोपशमविशेषः । यस्तस्मिन्नात्मा ब्रह्मेन्द्रियनिर्वृतिं प्रति व्याप्रियते, तस्मिन्निष्ठ आत्मनः परिणाम उपयोगः ।” सर्वार्थ० २.१८ । “अर्थग्रहणशक्तिः लब्धिः, उपयोगः पुनः अर्थग्रहणव्यापारः ।” लघी० स्व० ५ ।

पृ० ७६. पं० २९. 'गवाक्ष' तुलना—“उबलजा तथाऽऽया तस्मिन्नामे तदुबलज-सरणाओ । गेहगवक्कोवरमे वि तदुबलजाऽणुसरिया वा ॥” विशेषा० गा० ९२ ।

पृ० ७७. पं० ९. 'स्मृति' स्मृत्यादि अत्यन्त परोक्ष ज्ञानोंको भी मानसप्रत्यक्ष बताने की परंपरा अकलंकके ग्रन्थमें देखी जाती है । उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और आभिनिबोधिक ज्ञान अनिन्द्रियप्रत्यक्ष हैं—“अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृति-संज्ञाचिन्ताऽऽभिनिबोधात्मकम् ।” लघी० स्व० ६१ ।

शास्त्रमें इन्द्रिय और अनिन्द्रियसे होनेवाले ज्ञानको मतिज्ञान कहा गया है । अतः एव उन्होंने संपूर्ण मति ज्ञानको सांख्यवैचारिक प्रत्यक्ष मान करके उसके दो भेद किये इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष । शास्त्रमें स्मृति आदि ज्ञानोंको मतिरूप माननेकी भी पद्धति थी । अतः एव उन्होंने स्मृत्यादि ज्ञानोंको अनिन्द्रियप्रत्यक्षके भेदरूपसे बता दिया ।

अकलंककी तरह वादिराजका भी यही मन्तव्य है कि स्मृत्यादि ज्ञान मानसप्रत्यक्ष हैं—प्रमाणनिर्णय पृ० २७ ।

यद्यपि स्मृति, संज्ञा आदि ज्ञानोंको नंदी सूत्र ( सूत्र ३६ ) तथा आवश्यक निर्मुक्तिमें ( गा० १२ ) मति ज्ञान कहा गया है, आचार्य उमास्वामिने भी तत्पार्थसूत्रमें आगमिक उक्त परंपराका समर्थन किया है; तथापि आगमिक परंपराको संपूर्ण मतिज्ञान प्रत्यक्षरूपसे—सांख्यवैचारिकप्रत्यक्षरूपसे मान्य हो ऐसा प्रतीत नहीं होता । क्योंकि नंदी सूत्रमें इन्द्रिय-प्रत्यक्षके भेदरूपसे श्रोत्रादि पांच इन्द्रियोंसे होनेवाले ज्ञानको ही बताया गया है—“इन्द्रिय-पञ्चकं पंचविहं पण्यत्तं तं जहा, सोइन्द्रियपञ्चकं, अकिंशान्द्रियपञ्चकं, आभिन्द्रिय-पञ्चकं, जिह्मिन्द्रियपञ्चकं, फासिन्द्रियपञ्चकं” नन्दी० सू० ४ ।

१. “सत्त्वा सदैव भवन्ति सर्वं आभिनिबोधिन् ।” २. “मतिः स्मृतिः संज्ञा, चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्” तत्पार्थ० १.१३ ।

नन्दी सूत्रमें परोक्षके भेद गिनाते हुए मतिज्ञानके संपूर्ण भेदोपभेदोंको बताया गया है<sup>१</sup>। उसमें मानस अवग्रहादि तथा स्मृत्यादि भी गिनाये हैं। किन्तु सिर्फ इन्द्रिय ज्ञानको ही प्रत्यक्षके भेदरूपसे गिनाया। इससे स्पष्ट है कि नन्दीकारके मतमें सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्षमें सिर्फ इन्द्रिय ज्ञानका समावेश है अनिन्द्रिय ज्ञानका नहीं।

अत एव यह कहना पड़ता है कि अकलंकने स्मृत्यादिको मानसप्रत्यक्ष कहा उसका आधार आगमिक परंपरा नहीं है। उन्होंने अपनी सूत्रों ही ऐसा किया है या किसी अज्ञात परंपराका आधार लेकर किया है इसका निर्णय कठिन है। इतना तो निर्णयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनके इस अभिप्रायको स्वयं उनके टीकाकारोंने तथा विद्यानन्द जैसे तार्किक विचारकोंने पसंद नहीं किया है। किन्तु शान्त्याचार्यके मतानुसार अनन्तवीर्य उक्त मन्तव्यका स्वीकार करते हैं। अनन्तवीर्यकी उक्त मान्यताका आधार हमें प्राप्त नहीं हुआ है।

विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रने तो अकलंकके वचनोंमेंसे ही अपने अभिप्रायको फलित करनेकी कोशिश की है। और अकलंकके मूल अभिप्रायको ही बदल दिया है।

आचार्य विद्यानन्दने उक्त परंपराका परित्याग करके शुद्ध तार्किक दृष्टिसे स्मृति आदि ज्ञानोंको परोक्ष ही कहा है। और आश्चर्य है कि उन्होंने अपने समर्पणमें अकलंककी कारिका भी उद्धृत की है—

“तत्रावग्रहादिधारणापर्यन्तं मतिज्ञानमपि देशतो वैशद्यसङ्ग्राह्यात् सांख्यव्यवहारिकम् इन्द्रियप्रत्यक्षमतीन्द्रियप्रत्यक्षं चाभिधीयमानं न विरुध्यते । ततः शेषस्य मतिज्ञानस्य स्मृति-संज्ञा-विन्ता-ऽऽभिनिबोधलक्षणस्य, भूतस्य च, परोक्षत्वव्यवस्थिते । तदुक्तम् अकलंकदेवैः—

“प्रत्यक्षं विद्यात् ज्ञानं मुख्यसंख्यव्यवहारतः ।

परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणमिति संग्रहः ॥” प्रमाणप० पृ० ३८ ।

इतना ही नहीं उन्होंने स्मृतिको अनिन्द्रियप्रत्यक्ष माननेवालेका खण्डन भी किया है—  
वही पृ० ३९ ।

आचार्य प्रभाचन्द्रने उक्त स्मृतिरूप अनिन्द्रिय प्रत्यक्षकी व्याख्या करते समय कहा है कि अकलंकने स्मृत्यादिको जो मानसप्रत्यक्ष कहा है वह—स्वरूपांशमें स्पष्टताकी अपेक्षासे है। वाक्ष्यार्थकी अपेक्षासे स्मृत्यादि ज्ञान सर्वथा अस्पष्ट होनेसे परोक्ष ही है—न्यायकु० पृ० ३८३ । उनका यह स्पष्टीकरण जैन तार्किकोंकी स्मृत्यादिको परोक्षान्तर्गत करनेकी पद्धतिका एकान्ततः अनुसरण और अकलंकसंमत परंपराको अमान्य करके ही हुआ है। अत एव उन्होंने लघु-व्ययगत “ज्ञानमाद्यम्” (का० १०) इत्यादि कारिकाकी व्याख्या भी स्वमान्यतानुसृत की है जो विद्यानन्द आदिसे विपरीत ही है। उन्होंने व्याख्या की है कि नामयोजनासे पहले होने-वाले अस्पष्ट ज्ञान भी भूत हैं। और ऐसे अस्पष्ट ज्ञानोंमें स्मृति, संज्ञा इत्यादि हैं—न्यायकु० पृ० ४०४ । अर्थात् इनके मतसे स्मृत्यादि मतिरूप है ही नहीं। तब विद्यानन्दका कहना है कि स्मृत्यादि ज्ञान नामयोजनासे पहले मति हैं और नामयोजनाके बाद भूत हैं। स्मृत्यादि



मत्यन्तर्गत हो कर भी परोक्ष हैं ऐसा विद्यामन्दका स्पष्ट अभिप्राय है । अनन्तवीर्य भी स्मृत्यादिको मति और श्रुतरूप मानते हैं—सिद्धिवि० टी० पृ० १०० ।

अभयदेव ने तो एक दूसरा ही रास्ता लिया । उन्होंने उमास्वातिके सूत्रका तत्पर्य बतलाया कि स्मृत्यादि ज्ञानोंका विषय एक है । स्मृत्यादि ज्ञान मतिरूप हैं कि श्रुतरूप या वे कब मति हैं और कब श्रुत—इन प्रश्नोंका उत्तर उन्होंने अपनी ओर से न देकरके अकलंक-विद्यानंद-अनन्तवीर्यसमत मन्तव्यको 'केचित्' के नामसे उद्धृत कर दिया । तथा उसके विरोधमें सैद्धान्तिकोंके मन्तव्यको रखा कि मतिज्ञानके ही स्मृत्यादि शब्द वाचक हैं<sup>१</sup> । सैद्धान्तिकोंके इस मन्तव्यके लिये विशेषावश्यक भाष्य गा० ३९६-४०१ देखना चाहिए ।

पृ० ७७. पं० ११. 'प्रातिभम्' प्रातिभको मानसप्रत्यक्ष माननेवाला कौन टीकाकार शान्स्याचार्यको अभिप्रेत है यह कहना कठिन है ।

न्यायकुमुदचन्द्रमें प्रभाचन्द्रने प्रसंगसे उसे मनोमात्र निमित्तक कहा है<sup>२</sup> । अत एव उनके मतमें वह मानसप्रत्यक्ष हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं । अन्यत्र उन्होंने शब्द, लिङ्ग और अक्षसे—इन्द्रियसे वह उत्पन्न नहीं होता ऐसा भी कहा है<sup>३</sup> ।

न्यायसूत्र मूलमें प्रसंगसे प्रातिभका<sup>४</sup> उल्लेख है किन्तु उसके स्वरूप और सामग्रीके विषयमें न्यायसूत्र मौन है । परन्तु न्यायसूत्रके टीकाकार जयन्तने स्पष्टरूपसे उसे मानसप्रत्यक्ष सिद्ध किया है—

“अपि चानागतं ज्ञानमसदादेरपि कश्चित् ।

प्रमाणं प्रातिभं श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति हृदयते ॥

नानर्थजं न सम्बिद्ध्यं न बाधविधुरीकृतम् ।

न तुष्टकारणं चेति प्रमाणमिदमिष्यताम् ॥.....

प्रमाणं च सन् प्रत्यक्षमेव न प्रमाणान्तरम् । शब्दलिङ्गसारूप्यनिमित्तानपेक्षत्वात् । ननु प्रत्यक्षमपि मा भूद् इन्द्रियानपेक्षत्वात् । मैवम् । मनस एव तत्रेन्द्रियत्वात् ।..... शब्दाद्युपायान्तरविरतौ च आयमानमनवद्यं ज्ञानं मानसं प्रत्यक्षं भवति ।” न्यायमं० वि० पृ० १०६-१०७ ।

वैशेषिकसूत्रमें आर्ष और सिद्धदर्शनका उल्लेख है । इन दोनों ज्ञानकी उत्पत्तिमें कणादने इन्द्रियको नहीं पर धर्मको कारणरूपसे बताया है<sup>५</sup> । प्रशस्तपादने विद्याके मेद गिनाते हुए आर्षको प्रत्यक्षसे स्वतन्त्ररूपसे गिनाया है और उसकी व्याख्याके समय आर्ष ज्ञानको ही प्रातिभ कहा है—“विद्यापि चतुर्विधा-प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा ।” प्रशस्त० ५५२ । “आज्ञायविधात्णामृषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेषु वतुपनिबद्धेषु चात्ममनसोः संयोगात् धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभं यथार्थ-निवेदनं ज्ञानमुत्पद्यते तदार्थमित्याचक्षते । तच्च प्रस्तारेण देवर्षीणाम् । कदाचिदेव लौकिकानां यथा कव्यका प्रवीति श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति हृदयं मे कथयतीति” प्रशस्त० पृ० ६२१ ।

१. सन्मति० टी० पृ० ५५३ । २. “इन्द्रियादिबाह्यसामग्रीनिरपेक्षं हि मनोमात्रसामग्रीप्रभव्यं अर्थतयाभावप्रकारां ज्ञानं प्रतिमेति प्रतिद्वय-‘श्वो मे भ्राता आगन्ता’ इत्यादिवत्” न्यायकु० पृ० ५९६ । ३. प्रमेयक० पृ० २५८ । ४. न्यायसू० ३.२.३४ । ५. “आयं सिद्धदर्शनं च कर्मणः ।” वैशे० ९.२.१३ ।

व्योमशिव ने इस प्रातिभज्ञानको इन्द्रियज तथा अनिन्द्रियज नहीं होनेसे स्पष्ट ही प्रत्यक्ष-व्यतिरिक्त माना है । तथा लिङ्ग और शब्द जन्य भी नहीं अत एव उसका समावेश अनुमान या शाब्दमें भी नहीं किन्तु इसे पृथक् ही प्रमाण मानना चाहिए ऐसा उसका मन्तव्य है—  
व्यो० पृ० ६२२ ।

किन्तु शंकरमिश्र के उल्लेखानुसार इतिकृत् ने आर्षका समावेश योगिप्रत्यक्षमें किया है । स्वयं शंकरमिश्र का कहना है कि जब उत्प्रेक्षासहकृत मनसे उसकी उत्पत्ति होती है तब उसका समावेश मानस प्रत्यक्षमें होता है । वह नियमदर्शनादि लिङ्ग जनित भी होता है ऐसा शंकरमिश्र का कथन है—वैशे० उप० ९.२.१३ ।

योगसूत्रमें प्रातिभज्ञानको सर्वग्राहि बताया है “प्रातिभाज्ञा सर्वम्” योग० ३.३३ । योग भाष्यमें इसके स्वामिरूपसे योगीका उल्लेख है । अत एव कहा जा सकता है कि उनके मतसे प्रातिभ योगिप्रत्यक्षान्तर्गत है ।

अभयदेव ने प्रातिभको आत्माकी विशेषयोग्यताके कारण उत्पन्न मान कर उसे विशद होनेसे प्रत्यक्षान्तर्गत ही माना है । तथा वह इन्द्रिय या अनिन्द्रिय निरपेक्ष है ऐसा भी कहा है—सन्मति० टी० पृ० ५५२ ।

आचार्य विद्यानन्द ने उत्तरप्रतिपत्तिरूप प्रातिभाको श्रुतान्तर्गत माना है । और अभ्यासज प्रातिभाको प्रत्यभिज्ञाके अन्तर्गत किया है । प्रत्यभिज्ञा मतिज्ञानका भेद है किन्तु परोक्ष है प्रत्यक्ष नहीं—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४३ ।

मीमांसकों का कहना है कि प्रातिभज्ञान लिङ्गाबाभासजन्य होनेसे अप्रमाण ही है अत एव वह धर्मग्राहक हो ही नहीं सकता ।—श्लोकवा० ४.३२ । शास्त्रदी० पृ० १९ ।

पृ० ७७. पं० ११. ‘स्वप्नविज्ञानम्’ शान्त्याचार्यके कथनानुसार अनन्त कीर्ति स्वप्न विज्ञानको मानसप्रत्यक्ष (प्रमाण) मानते हैं । अनन्त कीर्तिकृत किसी ग्रन्थमें यह बात देखी नहीं गई अतः कहना कठिन है कि शान्त्याचार्यके कथनका आधार क्या है ।

आचार्य जिनभद्र ने स्वप्नज्ञानकी जो चर्चा की है उसमें उन्होंने यह स्वीकार किया है कि वह मानसज्ञान है । इतना ही नहीं किन्तु कुछेक स्वप्नानुभवको सत्य भी माना है । और स्वप्न-शास्त्रके अनुसार होनेवाले अमुक स्वप्निक दर्शनसे फल भी मिलता है इस बातको भी स्वीकार किया है । किन्तु उनका कहना है कि गमनादिक शारीरिक क्रिया और उसका फल जैसे स्वप्नमें देखे जाते हैं वैसे वस्तुतः होते नहीं हैं ।—विशेषा० गा० २२४-२३४ । जैनत० पृ० ३ ।

आचार्य विद्यानन्द तथा तदनुसारी प्रभाचन्द्र और वादी देवसूरि ने यह स्पष्ट ही स्वीकार किया है कि स्वप्न सत्य और असत्य होते हैं । इनमेंसे सत्य स्वप्न साक्षात् या परंपरासे स्वपरव्यवसायक होते हैं । इससे स्पष्ट है कि स्वप्न मानस प्रत्यक्ष है ।—प्रमाणप० पृ० ५८ । न्यायकु० पृ० १६५ । स्याद्वादर० पृ० १८६ ।

१. न्यायसूत्र-५.२.२९ में अप्रतिभाका लक्षण है—“उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा” उसीसे प्रातिभाका वह लक्षण कलित किया जान पड़ता है ।

प्रशस्तपादने स्वप्नका लक्षण इस प्रकार किया है—“उपरतेन्द्रियप्रामस्य प्रलीनमन-  
स्कल्येन्द्रियद्वारेणैव यदनुभवन् मानसं तत् स्वप्नज्ञानम् ।”.....प्रशस्त० पृ० ५४८ ।

प्रशस्तपादने भी स्वप्नको मानसप्रत्यक्षमें ही गिना है किन्तु वह उनके मतमें अप्रमाण ही है क्योंकि उसका परिगणन उन्होंने अविद्यामें किया है—पृ० ५२० ।

केशवमिश्र के कथनानुसार सभी—स्वप्नज्ञान अथार्थ ही होते हैं और मानसप्रत्यक्ष नहीं किन्तु स्मृतिरूप हैं ।—“स्वप्ने तु सर्वमेव ज्ञानं स्मरणमथार्थं च ।” तर्कभाषा० पृ० ३० ।

पृ० ७७. पं० १२. ‘स्वसंवेदन’ मानसप्रत्यक्ष मात्र स्वसंवेदन ही है—शान्त्याचार्य ने अपने इस मतकी पुष्टि करनेके लिये स्मृतिको अप्रमाण बतलाया या उसके पृथक् प्रामाण्यका ही निरास किया । ऊहको संशयविशेष बता दिया, प्रत्यक्ष और अनुमानके फलभूत अवायका अन्तर्भाव उन्हीं दोनों कर दिया । प्रातिभ और स्वप्नज्ञानके प्रामाण्यका ही अस्वीकार कर दिया । तथा अन्तमें मन की पृथक् सत्ता न मानकर मानसज्ञान( जो सुखादि संवेदनरूप है )का निरास कर दिया । इस प्रकार अन्य आचार्योंको मानसप्रत्यक्षरूपसे जो जो ज्ञान स्वीकृत थे उन सभीका निरास करके शान्त्याचार्य ने स्वसंमत स्वसंवेदनको ही मानसप्रत्यक्ष माना । शान्त्याचार्य की यह मान्यता अपूर्व है । इस विषयमें किसी जैन—जैनेतर दार्शनिककी संमति हो ऐसा अभी तक देखनेमें नहीं आया । ऐसी अपूर्व मान्यताको सिद्ध करनेके लिए उन्होंने जिन विषयोंमें जैन दार्शनिकोंकी अधिकांश संमति थी उनका भी निरास किया । अन्यथा वे बता सकते थे कि स्मृति प्रत्यक्ष नहीं किन्तु परोक्षज्ञान है । किन्तु सर्व जैनदार्शनिक संमत स्मृतिका पृथक् प्रामाण्य निषिद्ध करके उन्होंने इस विषयमें नैयायिक और बौद्धादि दार्शनिकों का साथ दिया । ऐसा करके उन्होंने अपना नैयायिकत्व ही जाहीर करना चाहा हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं । यही बात ऊहके विषयमें भी है । ऊह यदि ईहा अर्थमें लिया जाय तब वह जैनाचार्योंको सर्वसंमतिसे प्रमाण ही है । वे संशय और ईहामें भेदका समर्थन करते हैं । ईहाको संशयविशेष नहीं कहते । ऊहका अर्थ यदि नैयायिक संमत तर्क लिया जाय तब भी वह संशय तो है ही नहीं । इन्द्रियज अवायको या अनुमानके अवयवभूत निगमनरूप अवायको प्रत्यक्ष या अनुमानमें अन्तर्भूत किया जा सकता है किन्तु मनोजन्य अवाय जो आगममें तथा अन्य जैनदार्शनिक ग्रन्थोंमें वर्णित है उसकी क्या गति होगी ? इस विषयमें शान्त्याचार्य सर्वथा मौन हैं । दूसरोंने जैसा मन माना है वैसा न हो, किन्तु जैनों ने जैसा माना है तथा उन्होंने खयं जैसा स्वीकार किया है वैसे मनका तो अस्तित्व मानना ही चाहिए । अन्यथा सुखादिसंवेदनको किस ज्ञानमें उनके मतानुसार अन्तर्भूत किया जायगा ? सुखादिसंवेदन इन्द्रियप्रत्यक्ष तो है ही नहीं और शान्त्याचार्यके मतानुसार मानसप्रत्यक्षमें मात्र स्वसंवेदन है—ऐसी स्थितिमें सुखादिसंवेदन जिसे सभीने मानस माना है उसकी गति क्या होगी ? प्रातिभकी चर्चामें उसके प्रामाण्यको सिर्फ मीमांसक नहीं मानते यह पूर्व टिप्पणमें कहा गया है । मीमांसक को सर्वज्ञ नहीं मानना है अत एव वह प्रातिभ जैसे ज्ञानोंको अप्रमाण कह सकता है किन्तु शान्त्याचार्य जैसे जैनाचार्य भी—अव्यभिचारि प्रातिभज्ञानके प्रामाण्यका

निरास करे यह आश्चर्यकी बात है । सभी जैन और जैन्यायिक-वैशेषिक आचार्योंने अव्यभिचारि होने पर उसका प्रामाण्य स्वीकृत किया ही है । उसे भी शान्स्याचार्यने अप्रमाण बतला कर मानसप्रत्यक्ष ज्ञानकी कोटिसे बहिर्भूत कर दिया । जैसा पहले कहा गया है अन्य जैन दार्शनिकोंने स्वप्नज्ञानको भी अव्यभिचारि होने पर प्रमाण माना है । तब शा-  
न्याचार्यने उसे अप्रमाण बतलाकर मानसप्रत्यक्षसे बहिर्भूत कर दिया । इस प्रकार स्वसंवेद-  
नको ही मानसप्रत्यक्ष सिद्ध करनेकी धूनमें शान्स्याचार्यने अनेक पूर्वस्थापित मान्यताओंको  
उत्थापन किया है । यह कहाँ तक ठीक है इसका निर्णय विद्वान् करें ।

सभी ज्ञान स्वसंवेदित होते हैं अत एव जैन दार्शनिकोंका स्पष्ट मन्तव्य है कि स्वसंवे-  
दनकी दृष्टिसे सभी ज्ञान प्रत्यक्ष हैं । अर्थात् सभी स्वसंवेदन चाहे प्रत्यक्षका हो या परोक्षका  
प्रत्यक्ष ही है । किन्तु सभी स्वसंवेदनोंका समावेश मानसप्रत्यक्षमें—अनिन्द्रियप्रत्यक्षमें करना  
युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता । क्योंकि अतीन्द्रिय प्रत्यक्षका—पारमार्थिक प्रत्यक्षका स्वसंवेदन  
मानस कभी भी नहीं ।

पृ० ७७. पं० २१. 'उक्तम्' देखो, पृ० ७६. पं० २६ ।

पृ० ७७. पं० २५. 'पञ्चभिः' इस कारिकाका पूर्वार्ध प्रमाणवा० २.१३६ वीं कारि-  
काका उत्तरार्ध है । टीकाके अनुसार 'भाष्यव्यवहितेषु या' ऐसा पाठ यहाँ होना चाहिए ।  
यह अष्टाद्वि 'च' और 'व' के लेखनसादृश्यके कारण हुई है ।

न्याय्या—“सङ्क्रान्तकान्तावदनप्रतिविम्बस्य सहकारसुगन्धिनः शीतस्य अमङ्गमरोप-  
शीतस्य स्वातुनो मधुनः सार्वगुणानुभवकाले प्रसरत्संकरपञ्चमनां यूनानां या मतिः पञ्च-  
भिरिन्द्रियबुद्धिभिर्व्यवधानेपि त्वत्पक्षेऽव्यवहितेषु समकालेषु भाति ।” मन्त्रो० २.१३६ ।

पृ० ७७. पं० २६. '[ प्रमा.... ]' यह कोष्ठक रद करना चाहिए ।

पृ० ७८. पं० २. 'अक्रमम्' सर्वज्ञ के ज्ञान-दर्शन-उपयोगकी क्रमिकता, अक्रमिकता और  
एकता के विषयमें जैन दार्शनिकोंकी विप्रतिपत्तिके इतिहासके जिज्ञासुओंको ज्ञान बिन्दु  
प्रकरण की प्रस्तावना देखना चाहिए ।

पृ० ७८. पं० १६. 'एकांशेन' अकलंकने इन्द्रियज ज्ञानको स्पष्ट होते हुए भी—  
प्रादेशिक प्रत्यक्ष कहा है उसी अर्थमें शान्स्याचार्यने प्रस्तुतमें इन्द्रियज ज्ञानको एकांश-  
व्यवसायक कहा है—रुधी० स्व० ६१ । “यदेततोऽर्धज्ञानं तदिन्द्रियाप्यक्षमुच्यते ॥”  
न्यायवि० ४ ।

पृ० ७८. पं० २६. 'बाह्यार्थाभावात्' विज्ञानवादी बौद्धोंने बाह्यार्थके अभावको सिद्ध  
किया है । इस विषयकी चर्चाके लिये देखो, प्रमाणवा० २.३२० से । तत्त्वसं० का० १९६७ ।  
श्लोकवा० निरा० । बृहती । न्यायमं० वि० पृ० ५३६ । अष्टत० पृ० २४२ । सन्मति०  
टी० पृ० ३४९ । न्यायकु० पृ० ११९ । त्याद्वादर० पृ० १४९ ।

पृ० ७९. पं० ३. 'उपलब्धिः' देखो, “उपक्रमः सत्तोच्यते” प्रमाणवा० अलं० मु०  
पृ० ९५ । सन्मति० टी० पृ० २८७ ।

पृ० ७९. पं० २२. 'प्रकाशयोगात्' तुलना—“अदृष्टत्वात्, जडस्य प्रकाशयोगाच्च  
इत्यपि वदतः सौगतस्य न वक्त्रवक्त्रता समुपजायते तथा हि—असावप्येवं वक्तुं शक्नोतिः—  
न्या० ३२

कई वस्तु न सत्ता प्रकाशते, विज्ञानवत्, जडत्वहानिप्रसंगात् । कश्चि परतः प्रकाशमानं कीलङ्घ्यादिप्रतिरिक्तस्य विज्ञानस्यासंबेधेन असत्त्वात् ।” सन्मति० टी० पृ० ८१ ।

पृ० ६०. पं० १. ‘सहोपलम्भनियमः’ तुलना — “सहोपलम्भनियमादमेवो वीज-संख्योः ।” उद्धृत — स्याद्वादर० पृ० १४९ । “सकृत् संबोधमानस्य नियमेन धिया सह । विषयस्य ततोऽन्यत्वं केनाकारेण सिध्यति ॥” प्रमाणवा० २.३८८ । तत्त्वसं० का० २०३०-३१ ।

विराकरणके लिये देखो० तत्त्वो० पृ० १०२ । भामती २.२.२८ । अष्टसं० पृ० २४२ । न्यायकु० पृ० १२२ ।

पृ० ८०. पं० ८. ‘निरालम्बता’ तुलना — “अत एव सर्वे प्रत्यया भनालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्रत्ययवदिति ।” प्रमाणवा० अर्थ० मु० पृ० २२ ।

पृ० ८०. पं० २४. ‘सर्विकल्पकसिद्धौ’ देखो, पृ० ८१. पं० १६. से ।

पृ० ८०. पं० ३१. ‘निरस्तम्’ देखो पृ० ३४. पं० १६ ।

पृ० ८१. पं० १. ‘सामान्यम्’ भारतीय दार्शनिकोंमें सामान्यके विषयमें निम्नलिखित पक्ष हैं —

- (१) बौद्धों का अवस्तुरूपसामान्यवाद ।
- (२) वैशेषिकादि का भिन्नसामान्यवाद ।
- (३) सांख्यादि का अभिन्नसामान्यवाद ।
- (४) मीमांसकों का भिन्नाभिन्नसामान्यवाद ।
- (५) जैनो का अनेकान्तात्मक सामान्यवाद ।

सामान्यके विषयमें चार्वाक की क्या राय है इसका निर्णय करना कठिन है । चार्वाकों का एक मात्र उपलब्ध ग्रन्थ तत्त्वोपप्लवसिंह है । उसमें प्रसंगसे भिन्न, अभिन्न और भिन्नाभिन्न इन तीनों पक्षोंको लेकर सामान्यका खण्डन किया गया है । इससे यह फलित होता है कि जिन दार्शनिकोंने सामान्य को वस्तु सत् माना है उन सभीका खण्डन करना ग्रन्थकारको उच्च प्रसंगमें अभीष्ट है । वस्तुतः बात यह है कि बौद्ध दलीलोंका आश्रय लेकर ग्रन्थकारने वस्तुसत् सामान्यका खण्डन किया है । और अन्यत्र बौद्ध प्रत्यक्षलक्षणपरीक्षाप्रसंगमें सामान्यको काल्पनिक सिद्ध करनेके लिये प्रदत्त सभी बौद्ध युक्तियों का भी भिरास किया है । इस प्रकार किसीकी दलीलें ठीक नहीं है — यही दिखाकर ग्रन्थकारने अपने वक्तव्य तत्त्वोपप्लव को पुष्ट किया है । उनका ध्येय किसी वस्तुका निरूपण नहीं किन्तु किसी स्थिर मान्यताका खण्डन ही है । अत एव चार्वाक संमत सामान्य कैसा है इस विषयमें मौनाश्रयण ही अच्छा है ।

अन्य सभी दार्शनिक सामान्यके प्रतिभासको तो खीकार करते हैं । अत एव उस प्रतिभासके किसी न किसी प्रकारके निमित्त — सामान्यके बारेमें तो कोई विवाद नहीं । किन्तु उस निमित्तभूत सामान्यका स्वरूप क्या हो इसी विषयमें दार्शनिकोंमें विवाद है ।

१. यह वाक्य विभागका हो सकता है । क्योंकि कमलक्षी करने इसे आचार्यीय प्रयोग कहा है — तत्त्वसं० पृ० ५६७ । २. तत्त्वो० पृ० ४ । ३. तत्त्वो० पृ० ४६ । ४. “सामान्यं तच्च विवक्षा-कालेऽप्युचितं विवक्षयः । उचितं च कालेऽप्युचितं विवक्षयः । सर्वं पुनश्च लक्ष्येयमविरोधोऽत्र कश्चिज्जम् ।” उद्धृत — तत्त्वसं० ३, ४ ।

सामान्यके स्वरूपके विषयमें विचार करें इसके पहले यह बता देना आवश्यक है कि वस्तुतः देखा जाय तो सामान्यके बारेमें दो ही पक्ष हैं—एक पक्ष है सामान्यको वस्तुसत् मानने वालोंका जिसमें उपर्युक्त बौद्धातिरिक्त सभी पक्षोंका समावेश है । और दूसरा पक्ष है सामान्यको कारूपनिक माननेवाले बौद्धोंका । अब हम पाँचों पक्षोंका क्रमशः विचार करें—

( १ ) बौद्धोंका अवस्तुरूपसामान्यवाद ।

अन्यत्र हम कह आये हैं कि बौद्धोंके मतसे दो प्रमाण हैं और विषय भी दो हैं । प्रत्यक्ष स्वच्छाक्षरूप वस्तुका ग्रहण करता है और अनुमान सामान्यरूप अवस्तुका । वहीं हमने स्वच्छाक्षर और सामान्यमें क्या भेद है यह दिखाया है—देखो, पृ० २१०—२१५ ।

धर्मकी तिने सामान्यको वस्तुसत् माननेवालोंका विस्तारसे खण्डन प्रमाण वार्तिक तथा उसकी स्रोपह टीकामें किया है—प्रमाणवा० स्त्रो० पृ० १०७—१४१ ।

सभी वास्तवसामान्यवादी दार्शनिकोंके विरुद्ध बौद्धदार्शनिकोंका कहना है कि सामान्य वस्तुसत् नहीं । सामान्यप्रतीतिका विषय बाह्य सामान्य नहीं क्योंकि बाह्य वस्तुएँ तो असंख्य विरुद्धाक्षर हैं । अत एव सामान्यप्रत्यय निर्विषय है । अथवा यों कहना चाहिए कि कल्पित सामान्यविषयक हैं । परस्परव्यावृत्त ऐसे पदार्थोंसे ही एकाकारपरामर्शिनी बुद्धि उत्पन्न होती है जो कि पदार्थोंके परस्परव्यावृत्त स्वरूपका संवरण कर देती है अत एव उनमें अभेदक प्रतिभास होने लगता है । वस्तुतः पदार्थोंमें अभेद नहीं किन्तु भेद ही है । एकाकारपरामर्श होनेका कारण स्रिजातीयव्यावृत्ति है—

“एकार्थप्रतिभासिन्या भाषानाभिप्य मेदतः ।

पररूपं स्वरूपेण यथा संमियते धिया ॥ ६७ ॥

तथा संवृतनानात्वाः संवृत्या मेदिनः स्वयं ।

अभेदिन इवाभासित मेदा रूपेण केनचित् ॥ ६८ ॥

तस्या अभिप्रायवशात् सामान्यं सत् प्रकीर्तितम् ।

वदसत् परमार्थेन यथा संकल्पितं तथा ॥ ६९ ॥” प्रमाणवा० ३ ।

असंख्य व्यावृत्त ऐसे पदार्थोंमें एकाकारप्रत्यय क्यों होता है इस प्रश्नका उत्तर धर्मकी तिने दिया है कि—

“तस्माद् यतो यतोऽर्थानां व्यावृत्तिस्तभिर्वन्धनाः ।

जातिमेदाः प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः ॥” प्रमाणवा० ३.७० ।

एक ही गोको अगोव्यावृत्त होनेसे गो कहा जाता है, अपशुव्यावृत्त होनेसे पशु कहा जाता है, अद्रव्यव्यावृत्त होनेसे द्रव्य कहा जाता है और असंख्यावृत्त होनेसे सत् कहा जाता है । इस प्रकार व्यावृत्तिके भेदसे जातिभेदकी कल्पना की जाती है । जितनी परवस्तुएँ हों उतनी व्यावृत्तियाँ उस वस्तुमें कल्पित की जा सकती हैं । अत एव सामान्य बुद्धि का विषय वस्तुसत् सामान्य नहीं । किन्तु अन्यापोह ही मानना चाहिए ।

१. “परमार्थिकस्य मोक्षस्य निषेधः किंवन्ते न तु कल्पितस्येति ।” कथं० पृ० १११ । “तदात्मानमेव संवृजन्ती बुद्धिः सामान्यविषया प्रतिभासते” प्रमाणवा० स्त्रो० कथं० पृ० ११७ । २. तस्माद् एकस्य भावस्य बाधमिदं पररूपानि तावत्स्यः व्यावृत्तयः तद्वेषकया ।” प्रमाणवा० स्त्रो० पृ० ११९ । ३. “तेनान्यापोहविषयाः श्रोत्राः सामान्यगोचराः ॥ १३३ ॥ अन्धान् बुद्धयमेव वस्तुन्येवामर्शजवाद् ।” प्रमाणवा० ३ ।

( २ ) वैशेषिकादिका भिन्नसामान्यवाद ।

वैशेषिकों ने सामान्यको स्वतन्त्र पदार्थ माना है । सत्ता सामान्य एक होकर भी अनेकवृत्ति है । कणाद ने उसे द्रव्य गुण और कर्मसे अर्थान्तर सिद्ध करनेका भी प्रयत्न किया है । प्रशस्तपादका कहना है कि क्योंकि वह द्रव्यादिसे अर्थान्तर है अत एव वह भिन्न है । यदि द्रव्यादिसे अभिन्न माना जाय तो उसके नाशके साथ सामान्य भी नष्ट हो जाय । और नष्टातिरिक्त द्रव्यादिमें अनुवृत्ति प्रत्यय न हो । प्रशस्तपाद ने उसे सर्वव्यापक नहीं किन्तु खविषयसर्वगत माना है । सामान्य दो प्रकारका है सत्ता पर सामान्य है और द्रव्यत्वादि अपर सामान्य है । पर सामान्य अनुवृत्तिका ही हेतु होता है अत एव वह सामान्य ही कहा जाता है किन्तु द्रव्यत्वादि अनुवृत्तिके अतिरिक्त व्यावृत्तिका भी हेतु होता है अत एव सामान्य की तरह विशेष भी कहा जाता है । अर्थात् उसे सामान्य-विशेष भी कहते हैं ।

मैथ्यापिकों ने भी सामान्यका स्वरूप वैसा ही माना है । यद्यपि वातिककार ने सामान्यको वैशेषिकों की तरह खविषयसर्वगत माना है किन्तु न्यायमंजरीकार जयन्त ने उसे सर्व-सर्वगत ही माना है । क्योंकि एक और अनेकवृत्ति सामान्य यदि व्यापक न माना जाय तब अर्थात् फलित होगा कि वह एक नहीं हो सकता क्योंकि उसके अंश तो हैं नहीं जो अंशतः प्रत्येक व्यक्तिमें रहे । जयन्त ने प्रतीतिका शरण लेकर कह दिया कि वह व्यापक है । अन्तरालमें अनुपलब्धिका कारण व्यक्तिका अभाव है । व्यक्ति ही जातिव्यञ्जक है अत एव उसके अभावमें अन्तरालमें जातिकी अभिव्यक्ति नहीं होती ।

सामान्यको वस्तुसत् माननेवालोंका कहना है कि सामान्यप्रत्ययका विषय सामान्य उसी प्रकार वस्तुसत् है जैसे व्यावृत्तिप्रत्ययका विषय विशेष । यदि विशेषकी सत्ता प्रतीतिके बलसे सिद्ध है तो सामान्यकी सत्ता भी प्रतीतिके बलसे ही सिद्ध है । किसी वस्तुका दर्शन करते समय उसे सजातीयोंके साथ अनुगतरूपसे तथा सजातीय और विजातीयोंसे व्यावृत्तरूपसे यदि देखा न जाय तो उसके व्यक्तित्वका ठीक ठीक निर्णय नहीं हो सकता । किसी वस्तुका निर्णीतज्ञान 'वह यह नहीं है' ऐसे व्यावृत्ति मात्रके ज्ञानसे हो नहीं सकता किन्तु उसमें अनुगत-विधानात्मक प्रत्यय 'वह घट है' इत्यादि भी-आवश्यक है । जब हम उसे घटत्वेन जानते हैं तब हम उसकी पटादिसे सिर्फ व्यावृत्ति-विशेषका ही ज्ञान करते हैं यह बात नहीं किन्तु उसकी अन्य घटोंसे सजातीयता भी जानते हैं । ऐसी दशामें व्यावृत्ति-स्वच्छा-विशेषको ही वस्तुसत् मानना और अनुवृत्तिसामान्यको काल्पनिक मानना यह युक्तिसंगत नहीं ।

१. "सद्विति लिङ्गाविशेषाद् विशेषविज्ञानाभावाद् एको भावः ।" वैशे० १.२.१७ । २. "सद्विति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ।" वैशे० १.२.७ । ३. "द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता । गुणकर्मसु च भावात् कर्म न गुणः । सामान्यविशेषाभावेन च ।" बही १.२.८-१० । ४. प्रशस्त० पृ० ६७८ । ५. बही पृ० ६७७ । ६. "भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वाद् सामान्यमेव । द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषात् ।" वैशे० १.२.४, ५ । ७. न्यायसू० २.२.६८ । न्यायवा० पृ० ३१५ से । न्यायमं० पृ० २९७ । ८. "न, भवन्मुपगम्यात् केन सर्वगतत्वं जातेरमुपगम्यते ? अपि तु खविषये सर्वत्र वर्तते इति सर्वगतेत्युच्यते ।" न्यायवा० पृ० ३१५ । ९. "यथा प्रतीतिरादिवति भगवती तथा भवन्मुपगम्यामः । सर्वसर्वगता जातिरिति चावहुपेयते । सर्वत्राग्रहणं तस्मात् सर्वत्राग्रहणसंक्षिप्येः ।" न्यायमं० वि० पृ० ३१२ । १०. तत्त्वार्थसू० पृ० १०१ । ११. न्यायमं० पृ० ३००, ३११ । शास्त्रदी० पृ० ९९ । न्यायकू० पृ० २८९ ।

प्राभाकरों ने भी प्रतीतिका शरण लेकर जातिका अस्तित्व स्वीकृत किया है<sup>१</sup>। प्राभाकरों ने नैयायिकों के समान ही जातिको व्यक्तिसे भिन्न, नित्य और एक माना है। एकाकार-परामर्शके कारण जातिका निर्णय होता है इस बातको भी स्वीकार किया है। किन्तु कुछ बातोंमें अपना मतभेद भी प्रकट किया है। शालिकनाथ का कहना है कि द्रव्य, गुण और कर्ममें सप्रत्ययकी अनुवृत्ति तद्वत् सत्त्वानामक महासामान्यके कारण नहीं किन्तु सामान्य, विशेष और समवाय की तरह स्वरूपसत्तोपाधिक ही है<sup>२</sup>।

इस मतभेदका कारण यह मालूम होता है कि प्राभाकरों ने जातिको भाट्टों की तरह आकाररूप माना है। और द्रव्य, गुण तथा कर्मका कोई समानाकार है ही नहीं जिससे कि उनमें एक महासामान्य रूप सत्ता जाति मानी जाय<sup>३</sup>।

इसी प्रकार उसने शब्दगत शब्दत्व जातिका भी निषेध किया है। उसका कहना है कि सब ककारमें कत्व जाति और गकारमें गत्व जाति समानाकारके कारण हो सकती है किन्तु ककार और गकारमें कोई आकारसाम्य नहीं जिससे शब्दत्व जाति पृथग् मानी जाय<sup>४</sup>।

इतना ही नहीं किन्तु उसने ब्राह्मणत्वादि जातिका भी निषेध किया है। नैयायिकों ने<sup>५</sup> तथा भाट्टों ने<sup>६</sup> ब्राह्मणत्व जातिको सिद्ध करनेके लिये प्रयत्न किया था। जातिवादके विरोधी बौद्धों ने<sup>७</sup> ब्राह्मणत्व जातिका खण्डन किया है। जैनो ने<sup>८</sup> भी अपने ग्रन्थोंमें जातिवादका प्रबल विरोध किया है। शालिकनाथ ने ब्राह्मणोंके अधिकारविशेषकी तो रक्षा की किन्तु ब्राह्मणशब्द की प्रवृत्तिके निमित्तरूपसे ब्राह्मणत्व जातिको न मानकर लोकप्रसिद्ध ब्राह्मण वंशोंको ब्राह्मण माना। और उन वंशोंमें होनेवालेको ब्राह्मण कहा जाय ऐसा स्पष्टीकरण करके कह दिया कि सन्ततिविशेषप्रभवत्व ही ब्राह्मणशब्दकी प्रवृत्तिमें उपाधि है। बौद्धादिकों की दलीलोंके कायल होकर शालिकनाथ ने ब्राह्मणत्व जातिका निषेध तो किया किन्तु ऐसा करके जो प्रयोजन बौद्धादिकों इष्ट था वह शालिकनाथ को इष्ट न था। इस लिए उसने दार्शनिक दृष्टिसे ब्राह्मण जातिवादका निषेध करके भी लौकिक दृष्टिसे ब्राह्मणोंके अधिकारोंकी रक्षा करके ब्राह्मणोंके जातिमदको पुष्ट ही किया। और इस प्रकार जातिवादके निरासके पीछे जातिमद निरासकी जो बौद्धादिकों की भावना रही उसे शालिकनाथ अपना न सका।

शालिकनाथ ने एक ही वर्तिमें क्रमशः होनेवाली ज्वालाओंमें ज्वालात्व सामान्यका भी निरास किया है। उसका कहना है कि एकाकारप्रत्यय यदि सामान्यको बिना माने घट न

१. “अभिधेयं हि भगवती विषयसमाधायमे धारणम् ।” प्रकरणपं० पृ० २२। २. तस्मात् स्वरूप-सत्तोपाधिक एव सत्त्वद्रव्यो न पुनरेक आकारः सत्ता नाम द्रव्यगुणकर्मणाम् । अपि च काश्यपीयानां जाति समवायविशेषेषु स्वरूपसत्तोपाधिक एव सत्त्वद्रव्यः इत्यनुपपन्नः ।” प्रकरणपं० पृ० २९। ३. “न च नामाजातीयेषु द्रव्येषु सर्वपमहीचरादिषु गुणेषु सम्प्रसादिषु समाकारानुभवो भवति केवलं तु सत्त्वदिति ब्रह्ममात्रमेव प्रयुज्यते ।” - वही पृ० २८। ४. “न हि ककारगकारयोरेकाकारमनुगतं परास्त्वन्वी भवीत समुन्मिषति ।” वही पृ० ३०। ५. न्यायमं० पृ० ४२२। ६. श्लोकवा० धर्म० २५-२९। तत्त्ववा० १.२.२। ७. धम्मपद गा० ३९३, ३९६। कर्ण० पृ० ६१८। प्रमाणवा० मलं० छि० पृ० ६२। तरवसं० का० ३५७५ से। ८. उक्त० २५.३३। सम्मति० टी० पृ० ६९७। न्यायकु० पृ० ७६७। स्याद्वादर० पृ० ९५८। ९. “अतः प्रतिविद्यायां जातौ जातिमदम किम् ।” तरवसं० का० ३५७५।



सके सभी जातिको मानना चाहिए । प्रस्तुतमें मेदाग्रहणरूप भ्रम माननेसे काम चल जाता है अत एव अवाञ्छित सामान्यकी कल्पना अनावश्यक है—प्रकरणपं० पृ० ३१ ।

### ( १ ) सांख्यदिका अभिन्नसामान्यवाद ।

सांख्यो ने जड़ जगत्को प्रकृतिका परिणाम माना है । प्रपञ्चविस्तारमें प्रकृति अनुस्यूत है । अत एव वह सांख्यों के मतसे सामान्य है । “सांख्यैस्तु...अनुपपन्नस्य सामान्यस्याभ्युपगमात्” । न्यायप्र० पं० पृ० ५४ । किन्तु नैयायिक और वैशेषिकों के समान प्रकृति—सामान्यको एक, निष्प्र, व्यापक और अनुस्यूत मानते हुए भी उन्होंने उसे अपने परिणामरूप व्यक्तिओंसे अख्यन्त भिन्न नहीं माना है । नैयायिकों के मतमें भिन्न भिन्न व्यक्तियाँ सामान्यका कार्य नहीं, आश्रय हैं । जब कि सांख्यों के मतसे जो भी पुरुष व्यतिरिक्त दिखता है वह सब प्रकृतिका कार्य—आविर्भाव—परिणाम है । नैयायिकों के समान सांख्यों ने कार्यकारणका अख्यन्त मेद न मान कर अख्यन्त अमेद माना है । अत एव सांख्यों के मतसे कार्य—व्यक्ति—परिणाम—विकारका कारण—प्रकृति—सामान्यसे अमेद ही है<sup>१</sup> ।

वेदान्त के अनुसार धुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये द्रव्यात्मक<sup>२</sup> ही हैं । तदनुसार एक ब्रह्म ही पदार्थ है अत एव वही सामान्यरूप<sup>३</sup> है जब कि नैयायिक संमत घटत्वादि भिन्न जाति द्रव्यसे अख्यन्त भिन्न मानी जाती है । उसकी सिद्धि वे अनुमानसे करते हैं । वेदान्तपरिभाषा में कहा गया है कि—“घटोऽयमित्यादि प्रत्यक्षं हि घटत्वादिसङ्गावे मानं न तु तस्य जातिरपेक्षितः । जातित्वरूपस्याभ्याससिद्धौ तत्साधकानुमानस्याप्यनवकाशात् ।” पृ० ३० ।

शब्दाद्वैतवादी मर्तृहरिके मतसे भी शब्दब्रह्म सामान्य कहा जायगा क्योंकि सारा प्रपञ्च शब्दब्रह्मसे ही होता है । सभीमें शब्द अनुस्यूत है<sup>४</sup>—वाक्यपं० १.१ ।

### ( ४ ) मीमांसकोंका भिन्नभिन्नसामान्यवाद ।

भाट्ट मीमांसकों ने जाति और व्यक्ति का मेदामेद माना है<sup>५</sup> । जयन्त ने यह ठीक ही आक्षेप किया है कि बौद्धों के वृत्तिविकल्प आदि आक्षेपोंसे डरकर ही मीमांसकों ने जाति और व्यक्तिका मेदामेद माना है<sup>६</sup> । परन्तु जयन्त के आक्षेपका यदि यह भी अर्थ लिया जाय कि बौद्धों के आक्षेपोंसे डरने की कोई बात नहीं । उन आक्षेपोंसे सत्यके निकट नहीं पहुँचा जा सकता—तब तो यह एक भारी भ्रम होगा । उन आक्षेपोंसे बचकर सामान्यकी जटिल समस्याको कैसे छुल्लाना इसी लिचारेमेंसे मीमांसकों ने जाति और व्यक्तिमें मेदामेद माना

१. “अव्यतिरिक्त सांख्यदर्शनेन” कार्य० पृ० १९४, २२३ । २. शां० ब्रह्म० २.२.१७ । ३. “वेदान्तवादिना च सामान्यमेव विषयो ह्येषः आत्माद्वैततया सर्वत्र वृत्तत्वात्” न्यायवि० टीकादि० प्र० परि० । न्यायप्र० टिप्पणी पृ० ८४ । ४. “अनुविदेककल्पत्वाद् बीबीहृदयकेन च । वाचः सारमपेक्षन्ते तद्व्यवहारोपकाङ्क्षयः” स्वाध्यास० पृ० ११ में उद्धृत । ५. “तस्मात् प्रमाणबलेन भिन्नभिन्नत्वमेव युक्तम् ।” शास्त्रदी० पृ० १०० । ६. “यद्यपि वृत्तिविकल्पादिभ्यो विभ्यसेवाभ्युपगमं तत्रभवता इति सिद्धम् ।” न्यायमं० वि० पृ० ३११ ।

है । क्योंकि जयन्त की तरह ऐकान्तिक भेदवाद मानने पर बौद्धकृत आक्षेपोंसे बचना संभव ही नहीं ।

स्वयं जयन्त ने उन आक्षेपोंका जो जवाब दिया<sup>१</sup> है उसमें उसने तर्कसे काम न लेकर केवल अपनी मान्यतासे येन केन प्रकारेण चिपके रहनेका ही प्रयत्न किया है । किसी भी तटस्थ व्यक्तिको जयन्तकृत समाधानसे संतोष हो नहीं सकता । अत एव बौद्धों के आक्षेपोंसे डर कर ही सही पर यदि मीमांसकों ने सामान्यके बारेमें नैयायिकों के विरुद्ध कुछ नया मार्ग सिद्धा है तो उसमें सत्यके निकट पहुंचनेका प्रयत्न ही है ऐसा समझना चाहिए ।

कुमारिल ने वस्तुको ही सामान्यविशेषात्मक माना है । उसका कहना है कि सामान्यको छोड़ विशेषका, और विशेषको छोड़ सामान्यका सद्भाव नहीं हो सकता<sup>२</sup> । अत एव वस्तुको सामान्यविशेष उभयात्मक ही मानना चाहिए । उसे वैदान्तिकी तरह मात्र सामान्यरूप या बौद्धों की तरह मात्र विशेषरूप नहीं माना जा सकता । और न नैयायिकों तथा वैशेषिकों की तरह सामान्य और विशेषको अस्मन्त भिन्न ही माना जा सकता है । ऐसा माननेका मुख्य कारण यही है कि हमें जब वस्तुविषयक बुद्धि होती है तब वह बुद्धि व्यावृत्ति और अनुगमात्मक होती है । यदि वस्तु व्यावृत्त्यनुगमात्मक न होती तो तज्जन्य वैसी बुद्धि भी नहीं होती । अत एव वस्तुको सामान्यविशेषात्मक ही मानना चाहिए ।

जब वस्तुसे सामान्य और विशेषका अभेद हो गया तब नैयायिकों के समान मीमांसक सामान्य और विशेषका परस्परमें आत्मन्तिक भेद मान नहीं सकते । अत एव कुमारिल ने सामान्य और विशेषमें आत्मन्तिक भेद का निराकरण किया है । उसके मतमें सामान्य विशेषात्मक है और विशेष सामान्यात्मक है क्योंकि निर्विशेष सामान्य और निःसामान्य विशेषका जब सद्भाव ही नहीं तब अर्थात् ही फलित हो जाता है कि सामान्य और विशेषका आत्मन्तिक भेद नहीं है<sup>३</sup> ।

जैसे जयन्त ने आकाशके समान सामान्यको व्यापक सिद्ध किया है उसी प्रकार कुमारिल ने भी उस मतका विकल्पसे समर्थन तो किया है<sup>४</sup> किन्तु उसने अपना मत यही रख रिया है कि उसे स्पष्टमत मानना चाहिए, व्यापक नहीं<sup>५</sup> । प्रायः यह देखा गया है कि दार्शनिक चर्चाके समय कुमारिल वेदप्रामाण्यमें अबाधक ऐसे परस्पर विरोधी मतोंका स्वीकार करता है । क्योंकि उसका मुख्य उद्देश है वेदप्रामाण्यकी रक्षा । अन्य चर्चा तो प्रासंगिक है । अत एव ऐसी प्रासंगिक चर्चाके समय कुमारिल परस्पर विरोधी मन्तव्योंका स्वीकार और समर्थन कर लेता है, जब कि विरोधी दोनों मन्तव्योंमें तर्कका सद्भाव हो । यही कारण है कि प्रस्तुतमें उसने सामान्यको व्यापक और अव्यापक माना ।

१. न्यायमं० सि० पृ० ३११ । २. निर्विशेषं न सामान्यं अवेष्टकमित्यवयवः । सामान्यविशेषात्मक विशेषात्मकदेव हि ॥” न्योक्तव्यं आहृति० १० । ३. “अवेष्टकस्य बुद्धिः व्यावृत्त्यनुगमात्मिका । कार्ये आत्मन्तिकेन विभक्त्यै च न सिद्धति ॥” यही ५ । ४. “तेन सामान्यवेदेऽपि सामान्यत्वविशेषयोः ॥” यही ११ । ५. यही २६-३० । ६. “विशेषवेदे च सामान्यं व्यापकं । बुद्धौ पक्षः न सामान्यविशेषात्मिकस्यैव नाम किंचन ॥” यही २५ ।

कुमारिण ने पिण्डसे जातिका तादात्म्य माना है<sup>१</sup> अत एव अर्थात् ही उसके मतमें नैयायिक—वैशेषिकों के समान सामान्यका ऐकान्तिक एकरूप नहीं किन्तु वह एक और अनेकरूप है । एक ही वस्तुकी एकता और अनेकतामें दृष्टिभेदसे विचार किया जाय तो कोई विरोध नहीं ऐसा कुमारिण का मन्तव्य है । और सामान्य तथा विशेषमें भेदाभेद मानने पर भी कोई विरोध नहीं यह भी कुमारिण ने माना है<sup>२</sup> ।

गोत्व जाति स्वरूपसे तो एक ही है किन्तु शाबलेयात्मक गोत्वसे बाहुलेयात्मक गोत्वका भेद है । इस प्रकार जातिमें एकता स्वरूपकृत है और अनेकता व्यक्तिभेदकृत है । इसी प्रकार विशेषमें भी एकता और अनेकता निर्विरोध सिद्ध हो सकती है । व्यक्ति व्यक्त्यन्तरसे स्वरूपसे भिन्न है किन्तु जालपेक्षया अभिन्न ही है<sup>३</sup> । इस प्रकार अपेक्षामेदसे विचार किया जाय तो विरोधको अवकाश नहीं रहता ऐसा कुमारिण का मन्तव्य है ।

वस्तु उभयात्मक होते हुए भी कभी सामान्य गौण हो जाता है और विशेषका प्रतिभास होता है, कभी विशेष गौण हो जाता है और सामान्यका प्रतिभास होता है । किन्तु जब वस्तुका युगपत् प्रतिभास होता है तब न तो भेदबुद्धि ही होती है और न अभेदबुद्धि ही किन्तु अखण्ड का भान होता है । यह अवस्था निर्विकल्पज्ञानके समय होती है । ऐसी अवस्थामें वह वस्तु शब्दागोचर होती है । इससे हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि वस्तु न तो केवल सामान्य-रूप है और न केवल विशेषरूप किन्तु शबल है<sup>४</sup> ।

जाति और व्यक्तिका जब भेदाभेद है तब अर्थात् ही फलित होता है कि जाति को वैशेषिकों की तरह भी मांसक एकात्म्य निलय नहीं मान सकते । पार्थसारथिका कहना है कि ज्ञाप्ति निलय भी है और अनिलय भी । जाति जातिरूपसे निलय है और व्यक्तिरूपसे अनिलय है । सिर्फ जाति ही निलानिलय हो सो बात नहीं । व्यक्ति भी जातिरूपसे निलय है और स्वरूपसे अनिलय है<sup>५</sup> ।

नैयायिकों के समान जाति प्रत्यक्षग्राह्य है ऐसा कुमारिण ने माना है<sup>६</sup> ।

प्राभाकरों की जातिविषयक मान्यता और कुमारिण की तद्विषयक मान्यतामें अत्यधिक भिन्नता है । प्राभाकरों की मान्यता नैयायिकों के सन्निकट है जब कि भाट्टों की मान्यता अनेकान्तवादसे रंगी हुई है । मूलतः भी मांसादर्शन का विषय तत्त्वज्ञान नहीं । किन्तु कर्मकाण्डोपयोगि वेदमन्त्रोंके त्रिनियोगका विचार करना है । अतएव भी मांसक टीकाकारोंके सामने वैशेषिक या सांख्यिकों के समान कोई तत्त्वविषयक सुनिश्चित परंपरा नहीं । यही कारण है कि तत्त्वविचारमें कुमारिण और प्राभाकरोंका मार्ग अत्यन्त भिन्न होगया । जिसको जिस

१. “कस्यात् साक्षादित्येव गोत्वं यस्यात् तदात्मकम् । तादात्म्यमस्य कस्याच्चेत् स्वभावादिति गम्य-  
ताम् ॥” यही ४७ । २. “विरोधस्यावदेकान्ताद्भक्तुमन्न न युज्यते । सामान्यान्वयविज्ञात्वे विशेषे  
नैकवृत्तिता ॥ सामान्यान्वयवृत्तित्वं विशेषात्सैकभाषतः । एवञ्च परिहर्तव्या भिन्नाभिन्नत्वकल्पना ॥ केन-  
विज्ञात्वात्मनैकत्वं नामात्वं चास्य केनचिद् । सामान्यस्य तु यो भेदं ब्रूने तस्य विशेषतः ॥ दर्शयित्वाभ्युपेतव्यं  
विशेषैवम् च जातिवः । यही ५४-५७ । ३. “एकत्वेऽप्याकृत्यैवैकवृत्तत्वं व्यवस्थपेक्षया ॥ बहुत्वे हि  
व्यावर्तकैरेकत्वं जालपेक्षया । एकानेकभिधाने च सद्वाः स्थितसकयः ॥” यही वचन ८५, ८६ ।  
४. श्लोकवा० आहु० ५९-६३ । ५. शास्त्रदी० पृ० १०१ । ६. श्लोकवा० वचन २५ ।

विषयमें जो परंपरा अच्छी प्रतीत हुई उसने अपनी दृष्टिसे उसका समर्थन किया । इस विचारके प्रकाशमें यदि हम कुमारिख का उपर्युक्त जातिविषयक मत देखें तो कहना होगा कि कुमारिख के ऊपर अनेकान्तवादी जैनों की गहरी छाप है ।<sup>१</sup> इसके विपरीत यह कहना कि जैनों ने अपना अनेकान्तवाद कुमारिख से सीखा यह एक भ्रम होगा । कुमारिख के पहले भी जैनों में अनेकान्तवाद प्रसिद्ध ही रहा । इसका उदाहरण सम्प्रति तर्क और नयचक्र है । सम्प्रति तर्क निश्चित ही कुमारिख से पहले की कृति है । तथा नयचक्र और उसकी टीका भी । क्योंकि उनमें कुमारिख के श्लोकवार्तिक का कोई उल्लेख नहीं ।

कुमारिख जैनों के समान अनेकान्तवादको ही पकड़ कर बैठे नहीं रहता । यही कारण है कि उसने जातिका अनेकान्तवादी समर्थन करके भी वैशेषिकों की दलीलोंको लेकर जातिके वैशेषिक संमत स्वरूपकी संगति बिठानेका प्रयत्न किया है ।<sup>१</sup> इस परसे स्पष्ट है कि कुमारिख वस्तुतः अनेकान्तवादी नहीं पर उसे वह पसंद जरूर है ।

कुमारिख का तो कहना है कि मीमांसा शास्त्रमें स्वामिमत पदार्थोंकी स्थापना करके कोई नया तत्त्वदर्शन स्थिर करना इष्ट नहीं किन्तु लोकप्रसिद्ध पदार्थोंको लेकर ही मीमांसा शास्त्र अपना व्यवहार चला लेता है । अत एव जाति और पंक्तिमें लोकको मेद दिखता है तो हमने मेद बताया है । यदि मेद बाधित भी हो तो भी इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं ।<sup>१</sup> इससे भी स्पष्ट है कि कुमारिख ने जातिका जो अनेकान्तवादी वर्णन किया है वह जैनों से उधार लिया है । पदार्थवर्णनमें उसका खास कोई भुवमत नहीं ।

( ५ ) जैनोंका अनेकान्तात्मक सामान्यवाद ।

जैन मतानुसार सामान्य दो प्रकारका है । तिर्यग्सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य । देशिक विस्तारमें समानताकी बुद्धिका कारण तिर्यग्सामान्य है जब कि कालिक विस्तारमें समानताकी बुद्धिका कारण ऊर्ध्वतासामान्य है । सामान्य सदृशपरिणतिरूप है । सदृशपरिणतिका मतलब है समान परिणति । अत एव नैयायिक और वैशेषिकों की तरह यह एक नहीं; किन्तु प्रत्येक व्यक्ति व पर्यायनिष्ठ होनेसे अनेक है । क्योंकि अनेकमें ही समानताका मान हो सकता है एकमें नहीं । जैन सम्मत द्विविध सामान्य और सांख्यानुसारी प्रकृतिरूप सामान्यमें तत्त्वतः कोई मेद नहीं है । क्योंकि प्रकृति, जैसे अपने अनेक देशिक कार्यप्रपञ्चमें अनुगत होकर रही है वैसे ही वह अपने कालिक परिणामप्रवाहमें भी अनुस्यूत है । इसी कारण से प्रकृति परिणामिनिय कहलाती है । परिणामवादी वेदान्तीका चिह्न और शब्दाद्वैतीका शब्दब्रह्म सांख्यसम्मत प्रकृतिकी तरह परिणामिनिय ही है । अत एव वह भी तिर्यग् और ऊर्ध्वतासामान्यकी व्याख्यामें ही आ जाता है । नैयायिकादिसम्मत सामान्य निय ही है जबकि जैनसम्मत सामान्य अनिय भी है । क्योंकि सदृशपरिणतिकी उत्पत्ति भी उन्हीं कारणोंसे होती है जिन कारणोंसे व्यक्ति व

१. "मीमांसकस्य प्रयेन सर्वत्र जैनोचिह्नमस्तीति" स्याद्वाचस्पत्येन पृ० ८३३ । २. श्लोकवा० वन० ३३ स्ते । ३. "इति निगदितमेव श्लोकसिद्धेः पर्यायैर्व्यवहृतिरिह साधे न स्वतन्त्राभ्युपेतेः । भवति च अवदन्ना जातिपक्षपादित्वेन, यद्वा तु न वदतेऽस्ती नैव बाधोऽस्ति कश्चित् ।" श्लोकवा० वन० ९७ ।  
पृ० ३३

पर्याय स्वयं उत्पन्न होते हैं<sup>१</sup> । न्यायादि सम्मत सामान्य व्यापक है जब कि जैनसम्मत सामान्य अव्यापक है । क्योंकि सदृशपरिणाम व्यक्ति व पर्यायरूप होनेसे उनसे अभिन्न है ।

सामान्यकी अनेकता, अनित्यता, अव्यापकता, व्यक्त्यभिन्नता जैनदर्शनमें एकान्तरूपसे इष्ट नहीं है<sup>२</sup> क्योंकि दूसरोंके एकान्तको निरस्त करनेके लिए ही उसने अनेकता आदिको सिद्ध किया है । अत एव एकाकारपरामर्शका कारण सदृशपरिणाम कथञ्चिदेकानेक, कथञ्चिद् निष्कामिक, कथञ्चिद् सर्वगतासर्वगत और व्यक्तिसे कथञ्चिद्विभामिम रूप ही अनेकान्तदृष्टिसे फलित होता है । सामान्यके ऐसे स्वरूपका वर्णन तो भी माँसक करते हैं; किंतु सामान्यके वैसे वर्णनमें उनकी निष्ठा नहीं । क्योंकि वे उस अनेकान्तवादी वर्णनके साथ एकान्तवादको भी मिला देते हैं और अपने पक्षको निश्चित नहीं कर पाते ।

बौद्धोंने उपादानोपादेयभावके स्थानमें प्रतीत्यसमुत्पादवाद स्वीकार करके वस्तुको एकान्तरूपसे क्षणिक सिद्ध किया है । जैनोंका मार्ग उसके ठीक विपरीत है । जैन दर्शनमें द्रव्यको ऊर्ध्वता-सामान्य कह कर उसे निष्क, ध्रुव, स्थिर कहा है, जिसका तात्पर्य अन्वयिपर्यायप्रवाहके अविच्छेदमें है नहीं कि कूटस्थनित्यतामें । जैन सम्मत द्रव्य या ऊर्ध्वतासामान्यकी व्याख्या सांख्यसम्मत प्रकृतिके स्वरूपमें बराबर लागू होती है । अनेकान्तवादी जैनदर्शनकी तो व्याप्ति यही है कि जो प्रमेय होगा वह अनेकान्तात्मक होगा । इस न्यायसे द्रव्य मात्र निष्कामिक फलित होता है ।

वेदान्त और मर्तृहरि सम्मत ब्रह्म और शब्दसे जैन सम्मत द्रव्यका यही मुख्य भेद है कि जैनदर्शनानुसार द्रव्यके कार्य मायिक या आविर्भावक नहीं, किंतु जैसी सत्यता द्रव्यकी वैसी ही कार्योक्ती है, दोनों सच हैं मिथ्या एक भी नहीं है जब कि ब्रह्म और शब्दका प्रपञ्च मायिक है आविर्भावक है । एक सच है और दूसरा मिथ्या । यह भी भेद है कि ब्रह्म और शब्द एकान्त निष्क और व्यापक हैं जब कि जैनसम्मत द्रव्य कथञ्चिद् वैसा है ।

वैशेषिक और नैयायिक सम्मत समवायिकारण ही जैनदृष्टिसे ऊर्ध्वतासामान्य है । न्याय-वैशेषिकके मतानुसार आकाश, काल, दिग्, आत्मा और मन ये पाँच एकान्त निष्क ही हैं जब कि पार्थिवदि कार्य-अवयवी अनित्य हैं । परन्तु उनके मतमें कोई भी द्रव्य जैनमतकी तरह निष्कामिक नहीं है । और न जैनमतकी तरह कार्य तथा समवायिकारणके बीच कथञ्चिद्भेदाभेद है ।

जैन दर्शनने सामान्यको ऐसा माना है कि जिससे बौद्धोंके द्वारा दिये गये सब दोषोंका निवारण हो जाता है । वस्तुतः देखा जाय तो सामान्यको तब तक ही दूषित किया जा सकता है जब तक उसकी सिद्धिमें एकान्तवादका आश्रय लिया जाता है । अनेकान्तवाद तो सर्वदोष-भक्षी है अत एव अनेकान्तवादका आश्रयण करके सामान्यके स्वरूपका जो निर्णय किया जाता है उसमें दोषोंको अवकाश नहीं रहता । इस बातको विज्ञानन्द ने अतिसंक्षिप्तमें बड़े सुंदर ढंगसे कहा है—तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९९ ।

१. “स्वकारणादेव हि तावत्सकण्डुलम्बं यत् तथापि चां बुद्धिमुत्पादयति” न्यायकु० पृ० २८६ ।

२. तत्त्वार्थश्लोक० पृ० ९९-१०० । प्रमेयक० ४.३-६ । स्वात्मवद० ५.३-५ ।

पृ० ८१. पं० ११. 'ऊर्ध्वतारूपम्' व्याख्या — “परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृद्विष्यत्वादिषु ।” परी० ४.६ । “पूर्वापरपरिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं कटककङ्कणाद्यनुगामिकाञ्जनवदिति ।” प्रमाणन० ५.५ ।

पृ० ८१. पं० ११. 'तिर्यग्भूषं' व्याख्या — “सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ।” परी० ४.५ । प्रतिव्यक्ति तुल्या परिणतिस्तिर्यक्सामान्यं शबलशाबलेयादिपिण्डेषु गोत्वं यथा ।” प्रमाणन० ५.४ ।

पृ० ८१. पं० १५. 'विशेषः' — “विशेषश्च । पर्यायव्यतिरेकमेवात् । एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्षविषादादिवत् । अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेकः गोमहिषादिवत् ।” परी० ४.७-१० । “विशेषोपि द्विरूपो गुणः पर्यायश्चेति । गुणः सदृभावी धर्मो यथात्मनि विज्ञानव्यक्तिशक्त्यादिरिति । पर्यायस्तु क्रमभावी यथा तत्रैव सुखदुःखादिरिति ।” प्रमाणन० ५.६-८ ।

पृ० ८१. पं० १९. 'कल्पनाज्ञानम्' बौद्धों ने निर्विकल्पज्ञानको प्रत्यक्ष प्रमाण माना है । उसके विरोधमें यहाँ कहा गया है कि कल्पनाज्ञान प्रत्यक्ष है । बौद्ध कल्पनाज्ञानको अर्थात् सविकल्पक ज्ञानको प्रत्यक्ष नहीं मानते । उनके मतसे वह अनुमान, शब्द या अप्रमाण हो सकता है किन्तु प्रत्यक्ष नहीं ।

शब्दार्थयोजना या शब्दार्थयोजनाकी योग्यता होनेसे ज्ञानको कल्पना ज्ञान कहा जाता है इस बौद्ध मन्तव्यको अमान्य करके प्रस्तुतमें शास्त्रार्थ ने सामान्यविशेषात्मक व्यवसायको कल्पनाज्ञान कहा है और उसी कारणसे प्रत्यक्षको सविकल्पक कहा है ।

तुलना — “प्रत्यक्षं कल्पनाऽप्योढमभ्रान्तमिति केचन । तेषामस्पष्टरूपा स्यात् प्रतीतिः कल्पनाऽथवा ॥ स्वार्थव्यवसितिर्नान्या गतिरस्ति विचारतः ।” तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८५ ।

पृ० ८१. पं० २१. 'कल्पना' तुलना — “अभिलाषसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना ।” न्यायवि० पृ० १३ । “कैयं कल्पना — किं गुणचलनजात्यादिविशेषणोत्पादितं विज्ञानं कल्पना, आहो स्मृत्युत्पादकं विज्ञानं कल्पना, स्मृतिरूपं वा, स्मृत्युत्पाद्यं वा, अभिलाषसंसर्गनिर्भासं वा, अभिलाषवती प्रतीतिर्वा कल्पना, अस्पष्टाकारा वा, अतास्त्रिकार्थगृहीतिरूपा वा, स्वयं वा अतस्त्रिकी, त्रिरूपाद्विकृतोऽर्थदृग्वा, अतीतानागतार्थनिर्भासा वा ।” तत्त्वो० पृ० ३२ । न्यायकु० पृ० ४६ ।

पृ० ८१. पं० २५. 'विशेषणविशेष्यभावः' तुलना — “विशेषणविशेष्यत्वं द्वयोर्न परमार्थतः । कदाचित् कस्यचित् कश्चिद्विशेष्यदितया मतः । न खलु पारमार्थिको विशेषणविशेष्यभावः । कदाचिद्विशेष्यस्यापि विशेषणत्वेन प्रतीतेः । ततो बुद्धिरेव सा तथाभूता प्रतीयते ।” प्रमाणन० अलं० मु० पृ० १२५ ।

पृ० ८२. पं० १. 'पूर्वमेव' देखो, पृ० ४९. पं० २२ ।

पृ० ८२. पं० ९. 'अनवस्थाम्' “तन्नामान्तरपरिकल्पनायामनवस्था” अष्टस० अष्टस० पृ० १२१ ।

“स्वामिधानविशेषस्य निश्चयो यद्यपेक्षते ।

स्वामिलापान्तरं नूनमनवस्था तदा न किम् ॥” तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७ ।

सन्मति० टी० पृ० २४९ ।

पृ० ८२. पं० १२. 'अणूनाम्' तुलना—“स्वप्नेऽपि निरंशक्षमिकानैकपदमाशु रूपस्य तस्यासंबेदनात् ।” सन्मति० टी० पृ० २५१ ।

पृ० ८२. पं० १५. 'प्रत्यक्षं' धर्म की रिति ने कहा है—

“प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति ।” प्रमाणवा० २. १२३ ।

इसीके उत्तरमें शास्त्र्या चार्थ का प्रस्तुत कथन है—

“प्रत्यक्षं कल्पनायुक्तं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति ।”

पृ० ८२. पं० १६. 'ननु' यहाँसे बौद्ध की आशंका है । इसका उत्तर क० ३१ में दिया गया है ।

“तस्माच्चार्येषु न हाने स्थूलाभासस्तदात्मनः ।

एकत्र प्रतिषिद्धत्वाद् बहुष्वपि न संभवः ॥” प्रमाणवा० २. २११ ।

देखो, प्रमाणवा० अलं० २. २११ ।

पृ० ८२. पं० २४. 'पिण्डः' संपूर्ण कारिका इस प्रकार हैं—

“वद्भूतेन युगपद्योगात् परमाणोः पञ्चशता ।

वर्णां समानवेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः ॥”

विज्ञप्ति० १२ । सन्मति० टी० पृ० २५२ ।

पृ० ८३. पं० ३. 'अथ' बौद्धपक्ष पर यह शंका है । उसका समाधान बौद्ध ने 'नैतदस्ति' (पं० ४) से किया है ।

पृ० ८३. पं० १९. 'परमाणवः' परमाणु अतीन्द्रिय होनेसे उसमें प्रत्यक्ष होने की योग्यता नहीं है किन्तु सजातीय परमाणुओंका समूह होता है तब वे अस्थूलरूप होने पर भी स्थूलरूपसे प्रत्यक्ष होते हैं—यह मत भदन्त शुभगुप्तका है । उसीको यहाँ पूर्वपक्ष रूपसे रखा है । देखो तत्त्वसं० पं० पृ० ५५१-५५२ ।

पृ० ८४. पं० ४. 'उक्तम्' देखो, पृ० ८१. पं० २४ ।

पृ० ८४. पं० ९. 'निराकरणात्' देखो, पृ० ८१. पं० २५ ।

पृ० ८४. पं० २६. 'प्रत्यभिज्ञान' बौद्ध क्षणिकवादी होनेसे ऊर्ध्वतासामान्यरूप द्रव्य अर्थात् एकत्वकी साधक प्रत्यभिज्ञाको अप्रमाण मानता है । विशेष चर्चाके लिये देखो, प्रमाणवा० स्वो० कर्ण० पृ० ४९४ से । तत्त्वसं० का० ४४६ से । प्रमाणवा० अलं० लि० पृ० ३४७, ७६२ । आत्मी० का० ५६ । न्यायकु० पृ० ४११ । न्यायमं० वि० पृ० ४४९ । प्रमाणमी० भाषाटि० पृ० ७५ ।

पृ० ८४. पं० ३१. 'जन्ममृत्यु' तुलना—“यदि कालकलाव्यापिवस्तुग्रहणमक्षतः । सर्वकालकलालम्बे ग्रहः स्यान्मरणावधेः ॥” प्रमाणवा० अलं० पृ० ७६२ ।

पृ० ८६. पं० ७. 'भावा' टिप्पणीमें दिया हुआ क० प्रतिगत पाठ 'भावो' ठीक है । उसे मूलमें ले लेना चाहिये और अ० ब० सु० प्रतिगत 'भावा' पाठान्तररूपसे टिप्पणीमें रखना चाहिए । देखो, प्रमाणवा० १. ४५ ।

पृ० ८६. पं० ३१. 'अनुमानत्वे' इस पद्यके प्रथम पादमें ९ अक्षर हैं ।

पृ० ८७. पं० १३. 'प्रतिपादयिष्यते' देखो, पृ० ९१ ।

पृ० ८७. पं० १४. 'प्रतिपादयिष्यते' देखो, पृ० ९२ § २५ से । तथा का० ३८-३९ ।

पृ० ८८. पं० १. 'गुडध्वेत्' ये दोनों पद्य अर्ध ट कृत हैं और उन्होंने कई पद्योंके साथ इनको भी हेतु बिन्दु टीका में उद्धृत किया है—हेतु० टी० पृ० १०६ का आलोक । तुलना—“तथाहुः भीहेमसूरिपादाः—‘गुडोऽपि कफहेतुः स्यान्नागरं पित्तकारणम् । द्रव्यात्मनि न दोषोऽस्ति गुडनागरमेवजे ।’ इति” अष्टसं० वि० पृ० १७२ । हेतु० टी० पृ० १०६ । धर्मसं० टी० पृ० १४६A ।

पृ० ८८. पं० १६. 'संख्या' तुलना—“संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः । प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥” आप्तमी० ७२ ।

पृ० ८८. पं० १६. 'नरसिंहाकारमेव' “गवये नरसिंहे वाप्येकज्ञानावृत्ते यथा । भागं जात्यन्तरस्यैव सदृशं प्रतिपद्यते ॥” वाक्य० २.९२ । “अस्वशब्दाभिधानास्तु नरसिंहा-दिजातयः” वही० का० ३ जाति० ४८ । “न च नरसिंहाभ्यामारब्धो नरसिंहः, अपि तु जात्यन्तरमेवात्र शब्दरूपे वस्तुनि समवेतम्, चित्र इव रूपे चित्रत्वमिति ।” वही टीका । “सादृश्यं नरसिंहादौ युक्तं जात्यन्तरे सति । तत्र ह्यवयवाः सिद्धाः प्राक्संयोगविभागिनः ॥” श्लोका० वाक्याधि० १२५ । “यदुक्तम्—भागोऽसिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः । तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते ॥” तत्त्वो० पृ० ७९ ।

पृ० ८८. पं० २०. 'नान्वयो' तुलना—“तथा चोक्तम्—नान्वयस्तद्विभेदत्वाच्च भेदो-न्वयवृत्तितः । मृदेवद्वयसंसर्गवृत्ति जात्यन्तरं हि तत् ॥” अनेकान्तज० पृ० ११९ । तत्त्वार्थभा० सि० टी० पृ० ३७७ ।

पृ० ८८. पं० २७. 'विरोधो' तुलना—“द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः । अविकल-कारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावाद्विरोधगतिः । शीतोष्णस्पर्शवत् । परस्परपरिहारस्थित-लक्षणतया वा, भावाभाववत् ।” न्यायवि० पृ० ९६ । सन्मति० टी० पृ० २४१ ।

पृ० ८८. पं० ५. 'दैवरक्ताः' तुलना—“दैवरक्ताः किंशुकाः । क एनानधुना रञ्जयति ।” प्रमाणवा० अलं० मु० पृ० ४३ ।

पृ० ८९. पं० ८. 'निर्हेतुविनाशवादो'—बौद्धों ने वस्तुकी क्षणिकता सिद्ध करनेके लिये वस्तुका विनाश निर्हेतुक माना है । इसके विवेचनके लिये देखो, प्रमाणवा० ३.२६९-२८३ । कर्ण० पृ० ५१० । तत्त्वसं० का० ३५७ से ।

खण्डनके लिये देखो—न्यायवा० पृ० ४०३ । तात्पर्य० ५४६ । न्यायकु० ३८६ ।

पृ० ८९. पं० १५. 'नित्यानित्यत्वयोः' तुलना—“अध्यक्षेण नित्यानित्यमेव तद्वच-गम्यते अन्यथा तद्वचमाभावप्रसङ्गात् ।” अनेकान्तज० पृ० ९६ । आप्तमी० का० ५६ ।

पृ० ८९. पं० २२. 'अथ परस्पर' तुलना—सन्मति० टी० पृ० २४१ ।

पृ० ९०. पं० १७. 'प्रतिपादितम्' देखो० का० १६ ।



पृ० ९०. पं० १९. 'निरस्तत्वात्' देखो० पृ० १६ ।

पृ० ९०. पं० २१. 'प्रतिपादयिष्यामः' - देखो, पृ० ९१ ।

पृ० ९०. पं० २४. 'सत्त्वम्' सत्त्व या सत्ताके स्वरूपके विषयमें नानामतवादोंके लिये देखो, प्रमाणमी० भाषाटी० पृ० १२६ ।

पृ० ९०. पं० २४. 'अर्थक्रिया' देखो, प्रमाणमी० भाषाटी० पृ० ५८ ।

पृ० ९०. पं० २७. 'सत्तासंबन्धेन' तुलना - हेतु० टी० पृ० १४५ । ज्यो० पृ० १२४ सन्मति० टी० १०९, ११० ।

पृ० ९१. पं० ६. 'सौमत्तैरेव' अर्थक्रियाकारित्वरूप शक्तिको सत्त्वा लक्षण मान करके बौद्धों ने यह तर्क किया है कि क्योंकि क्रमसे या अक्रमसे एकान्तनिष्ठ वस्तुमें अर्थक्रिया घट नहीं सकती अत एव एकान्त निष्ठ वस्तु सत् नहीं । "शक्तिर्हि वस्तुलक्षणम् । सर्वशक्तिविरतिर्हि वस्तुभावस्य लक्षणम् । अक्षणिकं हि न कदाचित् कश्चित् समर्थं क्रमयोगपद्याभ्याम् अर्थक्रियाया अभावात् ।" हेतुवि० लि० पृ० २४ ।

"तथा हि क्रमयोगपद्याभ्यां कार्यक्रिया व्याप्ता प्रकारान्तराभावात् । ततः कार्यक्रियाशक्तिव्यापकयोस्तयोरक्षणिकत्वे विरोधात् निवृत्तेः, तद्व्याप्तायाः कार्यक्रियाशक्तेरपि निवृत्तिरिति सर्वशक्तिविरतलक्षणमसत्त्वमक्षणिकत्वे व्यापकानुपलब्धिराकर्षति, विरुद्धयोरेकत्रायोगात् । ततो निवृत्तं सत्त्वं क्षणिकत्वेष्टावतिष्ठमानं तदात्मतामनुभवति ।" हेतु० टी० पृ० १४६ ।

"क्रमाक्रमविरोधेन नित्या नो कार्यकारिणः ।" तत्त्वसं० का० ७६ ।

"क्रमेण युगपच्चापि यत्सादर्थ्यक्रियाकृतः ।

न भवन्ति स्थिरा भावा निःसंस्थास्ते ततो मताः ॥" वही० का० ३९४ ।

ज्यो० पृ० ३८६ । कंदली० पृ० ७३ ।

पृ० ९१. पं० १२. 'एकान्तक्षणिकम्' - बौद्धों ने अर्थक्रियाकारित्वको क्षणिकका ही धर्म मान कर क्षणिक ही वस्तुसत् है ऐसा सिद्ध करना शुरू किया तब अक्षणिकवादीओं ने उसे अक्षणिकका ही धर्म मानकर कहा कि क्षणिक वस्तु क्रमाक्रमसे अर्थक्रियामें असमर्थ होनेसे वस्तुसत् नहीं ।

"क्रमेण युगपच्चापि यतस्तेऽर्थक्रियाकृतः ।

न भवन्ति ततस्तेषां व्यर्थः क्षणिकताभ्रयः ॥" तत्त्वसं० का० ४३१ ।

यह कथन भदन्त योगसेनका है । वह बौद्ध होने पर भी आत्मस्थिरता मानता होगा अत एव उसने एकान्त क्षणिकमें भी अर्थक्रियाकी अघटना सिद्ध की है । योगसेनका अनुकरण करके अन्य दार्शनिकोंने भी क्षणिकमें अर्थक्रियाका विरोध बताया है - न्यायमं वि० पृ० ४५३ । तात्पर्य० पृ० ५५६ । न्यायकु० पृ० ३७९ । स्माद्वादमं का० ५ ।

पृ० ९१. पं० १६. 'क्रमः' तुलना - "क्रमो नाम परिपाटिः कार्यान्तरासाहित्यं कैवल्यमङ्गरादेः, यौगपद्यमपि तस्यापरैः बीजादिकार्यैः साहित्यम् ।" हेतु० टी० पृ० १४७ ।

पृ० ९१. पं० १८. 'द्विविधं कारणम्' तुलना - "अथ सामग्रीकारणमाभिस्त्योच्यते..." हेतु० टी० पृ० ९३ । "अथ कारणशब्देन सामग्रीव्यपदेशविषयाः सहकारिण उच्यन्ते..." वही० पृ० ११० ।

पृ० ९१. पं० २०. 'एकमेव' तुलना—“सामग्रीजन्यस्वभावत्वात् कार्यस्य ।.....तदुक्तं 'तस्यैवैकस्य जनने समर्थाः नान्यस्य' न चानेकस्माद् भवदनेकं प्राप्नोति । यतो नास्माकं भवतामिष कारणमेव कार्यात्मतामुपैति ।” वही पृ० ९३ ।

पृ० ९१. पं० २२. 'तथाहि' तुलना—“तस्मादवस्थामेदेषि यदेकाकारपरामर्शप्रत्यय-निबन्धनतया स्वसंततिपतितकार्यप्रवृत्तिनिमित्तं तद् उपादानकारणम् । यत् सन्तानान्तरे प्रागवस्थापेक्षविशेषोदयनिबन्धनं तत् सहकारिकारणम् । सा चेयं भावार्ता सहेतुपरम्प-रायता प्रवृत्तिर्या किञ्चित्कार्यं स्वसन्तानव्यवस्थानिबन्धनं जनयन्ति, अपरं च सन्ताना-न्तरव्यपदेशनिबन्धनम् ।” वही पृ० ९५ ।

पृ० ९१. पं० २९. 'व्यापारः' तुलना—“भवनधर्मेणि च कार्ये तेषां प्राग्भाव एव व्यापारः, तदन्यस्यायोगात् । यदि हि व्यापृतादन्य एव व्यापारः तदा तत् एव कार्योत्पादाद् व्यापारवतः कारकत्वमेव दीयते ।” हेतु० टी० पृ० ९० ।

पृ० ९२. पं० 'मृतेन' तुलना—न हि मृताच्छिखिनः केकायितसम्भवः ।” न्यायकु० पृ० १० ।

पृ० ९२. पं० १६. 'तदुक्तम्' देखो पृ० ८०. पं० २९ ।

पृ० ९२. पं० १८. 'ननु द्रव्यस्य' तुलना—

“अन्वयप्रत्ययात् सिद्धं सर्वथा बाधवर्जितात् ।

तद् द्रव्यं बहिरन्तश्च मुख्यं गौणं ततोऽपरम् ॥” तत्त्वार्थसू० पृ० ११२ ।

पृ० ९३. पं० २१. 'लूनपुनर्जात' तुलना—“केशगोलकदीपादावपि स्पष्टावभासनात् ।” प्रमाणवा० २.५०४ । “लूनपुनर्जाते केशादौ, मायाकारदर्शिते गोलकादौ क्षणविनाशि-दीपादौ स्पष्टावभासनात् ।” प्रमाणवा० मनो० ।

पृ० ९३. पं० २९. 'सर्वस्य' अनेकान्तवादके खण्डनमें धर्म की र्ति का यह कथन है । जै ना चा यों ने धर्म की र्ति के इस तर्कका जवाब विविध प्रकारसे दिया है—आचार्य अकलंक का जवाब आवेश तथा तर्कपूर्ण होनेके उपरान्त जैसेको तैसावाली नीतिका अनुसरण करके दिया गया है—

“तत्र मिथ्योत्तरं जातिः यथानेकान्तविद्विषाम् ॥

वधुशूरादेरमेदत्वप्रसङ्गादेकचोदनम् ।

पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ॥

सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।

तथापि सुगतो बन्धो मृगः स्वाद्यो यथेष्ट्यते ॥

तथा वस्तुबलादेव मेदामेदव्यवस्थितेः ।

चोदितो वधि स्वादेति किमुद्गमभिधावति ? ॥” न्यायवि० ३७१-४ ।

आचार्य हरिभद्रने इस प्रश्नका उत्तर विस्तारसे स्याद्वा दकुचोद्यपरिहार नामक स्वतन्त्र-ग्रन्थ लिख कर दिया है किन्तु वह उपलब्ध नहीं । उन्होंने किसी अन्यका उद्धरण देकर अनेकान्तजयपताकामें इस कुतर्कका उत्तर दिया है, अनेकान्तज० पृ० २९६ ।

अन्य जै ना चा यों ने भी इन्हींका अनुकरण करके उत्तर दिया है—सन्मति० टी० पृ० २४२ । न्यायक० पृ० ६२१ । स्याद्वादर० पृ० ८३७ ।

आचार्य विद्यानन्द ने कहा है कि धर्म की र्ति कृत वह आरोप अनेकान्तवादमें नहीं किन्तु अभावका अपह्नव करनेवाले सांख्यों के मतमें युक्तिसंगत हो सकता है—अष्टसं० पृ० ९३ ।

पृ० ९३. पं० २९. 'सप्तमङ्गी' तुलना—“नात्र दोषः, गुणप्रधानव्यवस्थाविशेषप्रतिपादनार्थत्वात् सर्वेषां भ्रान्तानां प्रयोगोऽर्थवान् । तद्यथा द्रव्यार्थिकप्राधान्ये पर्यायगुणभावे च प्रथमः । पर्यायार्थिकस्य प्राधान्ये द्रव्यगुणभावे च द्वितीयः ।” इत्यादि—राजवा० पृ० १८१ । तत्त्वार्थशू० पृ० १२८ । सन्मति० टी० पृ० ४४१ ।

पृ० ९४. पं० ५. 'फलविप्रतिपत्तिम्' जैन और जैनेतर दार्शनिकोंमें प्रमाण और उसके फलके विषयमें जो मतभेद है उसके विवेचनके लिये देखो, प्रमाणमी० भाषाटी० पृ० ६६ । प्रस्तुतमें अन्य जैनाचार्यों से शान्त्याचार्य के मतमें जो विलक्षणता है उसीका निर्देश करना अभीष्ट है ।

न्यायावतार ( का० २८ ) और आसमीमांसा ( का० १०२ ) दोनोंमें अज्ञाननाशको प्रमाणका साक्षात् फल कहा गया है । अज्ञाननाश ही स्वपरव्यवसाय है ऐसा टीकाकारोंने स्पष्टीकरण किया है । अत एव प्रमाण और फलका कथंचित् अमेद है ऐसा फलित होता है—यह जैनाचार्यों का मत है ।

कथंचिदभिन्न अज्ञाननिवृत्तिरूप फलके अलावा जैनाचार्यों ने कथंचिदभिन्न ऐसी हानोपादनोपेक्षा बुद्धिर्जोको भी प्रमाणका व्यवहित फल माना है—न्याया० २८ । आसमी० १०२ ।

किन्तु प्रस्तुतमें वार्तिक और वृत्तिमें शान्त्याचार्य ने प्रमाण और फलके अमेद पक्षका ही वर्णन किया है । हानादि व्यवहित फलोंके विषयमें मौनावलम्बन किया है । प्रस्तुत वार्तिक न्यायावतारके ऊपर है यह तो स्वयं ग्रन्थकारने प्रारंभमें कह दिया है तब प्रमाणफलके साक्षात् और परंपरासे दो प्रकारोंका वर्णन करना कमप्राप्त था किन्तु प्रस्तुतमें शान्त्याचार्य ने ऐसा न करके प्रमाणके साक्षात् फलका ही वर्णन किया । इससे वार्तिककारका सूत्रकारसे स्वातन्त्र्य ही व्योक्त होता है । मात्र अमेदपक्षका वर्णन करके भी शान्त्याचार्य ने अन्य जैनाचार्योंके भेदाभेद पक्षकी उपेक्षा ही की है । उस उपेक्षाका कारण उनके ऊपर विज्ञानवादी बौद्धोंका प्रभाव ही है ऐसा समजना चाहिए । क्योंकि विज्ञानवादी के ही मतसे प्रमाण और फलका पारमार्थिक भेद नहीं । पारमार्थिक दृष्टिसे उन दोनोंका अमेद ही है । इसी विचारको उन्होंने जैन दृष्टिसे अपनानेका प्रयत्न किया है । जैन दृष्टिसे इस लिये कि जैनाचार्यों ने प्रमाण और फलका अमेद जो माना है वह एक आत्मामें प्रमाण और फलका अमेद होनेके कारण । अर्थात् एक ही आत्मा प्रमाण और फलरूपसे परिणत होता है अत एव प्रमाण और फलका अमेद है । बौद्धों ने आत्मा तो माना नहीं है । उनके मतसे एक ही ज्ञान अपेक्षामेदसे, व्यावृत्तिके भेदसे प्रमाण और फल कहा जाता है । अत एव शान्त्याचार्य ने उक्त बौद्ध मन्तव्यको इन शब्दोंमें जैन दृष्टिसे संगत करनेका प्रयत्न किया है—

“नात्मनः परमार्थेन प्रमाणं भिद्यते किन्तु आत्मैव ज्ञानावरणक्षयोपशमवान् प्रमाणं स एव प्रतीतिरूपत्वात् फलमिति ।” पृ० ९४. पं० २१ ।

अन्य जैनाचार्यों ने शान्त्याचार्य निर्दिष्ट युक्तिका प्रयोग साक्षात् फल और प्रमाणके अमेदको सिद्ध करनेमें नहीं किन्तु व्यवहित अत एव भिन्न ऐसी हानादि बुद्धिओंका प्रमाणसे कथंचिदमेद सिद्ध करनेमें किया है यह खास ध्यान देनेकी बात है ।

दूसरी यह भी बात मार्केकी है कि अन्य जैनाचार्य मेद और अमेद दोनोंको पारमार्थिक मानते हैं और प्रमाण तथा फलके मेदको काल्पनिक या सांश्रुतिक माननेवाले बौद्धोंका निराकरण करते हैं, तब शान्त्याचार्य बौद्धपक्षपाती होकर अमेदको पारमार्थिक मानते हैं और मेदको काल्पनिक, यह बात उनके ऊपर निर्दिष्ट उद्धरणसे स्पष्ट है ।

यद्यपि प्रस्तुत फलवर्णन प्रसंगमें शान्त्याचार्य ने व्यवहित फलोंका वर्णन नहीं किया किन्तु उनको व्यवहित फल सर्वथा अमान्य या ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि वार्तिकके प्रारंभकी कारिका ( १ )

“हिताहितार्थसंप्राप्तिसिद्धयोर्यस्यिद्वन्धनम् ।  
तत् प्रमाणं प्रवक्ष्यामि सिद्धसेनार्कसूत्रितम् ॥”

में स्पष्ट ही हानोपादान क्रियामें प्रमाणको कारण माना है ।

पृ० ९४. पं० ११. ‘यदि भिन्नविषयम्’ तुलना -

“नेष्टो विषयमेदोऽपि क्रियासाधनयोर्द्वयोः ।  
एकार्थत्वे द्वयं व्यर्थं न च स्यात् क्रमभाविता ॥ ३१४ ॥  
तस्माद्विषयमेदोऽपि न ॥ ३५१ ॥” प्रमाणवा० २ ।

“भिन्नप्रमाणफलवादिनं प्रति बौद्धेनोक्तम् यदि प्रमाणफलयोर्मैदोऽभ्युपगम्यते तदा भिन्नविषयत्वं स्यात् प्रमाणफलयोः । न चैतद्युक्तम् । न हि परम्परादिके छेदने कदिरप्राप्ते सति फलशो छेदो भवति । तस्मात् प्रमाणफलयोरेकविषयत्वाद्मेद इति ।” तत्त्वसं० पं० पृ० ३९९ ।

पृ० ९४. पं० १९. ‘न हि प्रमाणम्’ तुलना - “तथा हि न ज्ञानं जनयदर्थं प्रापयति । अपि तु अर्थे पुरुषं प्रवर्तयत् प्रापयत्यर्थम् । प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव । न हि पुरुषं हठात् प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम् ।” न्यायवि० टी० पृ० ५ । “न हि ज्ञानेन अर्थो हस्ते गृहीत्वाऽन्यतो निवर्तनीयः ।” हेतु० टी० पृ० १९६ । प्रमेयक० पृ० २५ । स्याद्वादर० पृ० ४४ ।

पृ० ९४. पं० २३. ‘आकारः प्रमाणम्’ सौत्रान्तिक बौद्ध बाह्यार्थवादी हैं । उनके मतसे आकार, मेयरूपता, अर्थरूपता, सारूप्य, तादृश्य, सादृश्य, ज्ञानात्मभूतविशेष, अनाकार-न्यावृत्ति इत्यादि शब्दोंसे प्रतिपाद्य ज्ञानांश प्रमाण है । प्रमाणवार्तिकमें सारूप्यको प्रमाण-

१. परी० ५.३ । प्रमाणन० ५.८-११ । २. “सा च तस्यात्मभूतैव तेन नार्थान्तरं फलम् ॥ ३०७ ॥ क्रियाकरणयोरैक्यविरोध इति चेदसत् । धर्ममेदाभ्युपगमाद् वस्तुवभिन्नमितीष्यते ॥ ३१८ ॥ एवंमकारा सर्वैश्च क्रियाकारकसंस्थितिः ॥ ३१९ ॥” प्रमाणवा० २ । “धर्ममेदस्य व्यावृत्त्युपपत्तिरित्युक्तम्” मनो० । “वयानुवर्तनं चेयं मेयमानफलस्थितिः । क्रियतेऽविद्यमानाणि प्राक्प्रादहिकसंविदात् ॥ ३५७ ॥ अन्यैकस्य भावस्य नामा क्पावभासिनः । सत्यं कथं स्युराकारालदेकत्वस्य हासितः ॥ ३५८ ॥” प्रमाणवा० २ । ३. अष्टसं० पृ० २८४ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १२६ । प्रमेयक० पृ० ६२७ । प्रमाणन० ६.२१ । न्या० ३४

माननेवाले सौत्रान्तिकों का वर्णन (प्रमाणवा० २.३०१-३१९) हुआ है। इससे पता चलता है कि उनके मतमें एक ज्ञानके कल्पित दो अंश प्रमाण और प्रमिति रूपसे व्यवहृत होते हैं। अत एव प्रमाण और फलका अभेद ही है। यही बात न्यायविद्गुरुओं में भी कही गई है।

सौत्रान्तिकों का कहना है कि ज्ञान यद्यपि अनेक कारणोंसे उत्पन्न होता है, किन्तु उसका साक्ष्य चक्षुरादिसे न होकर अर्थसे ही होता है। जैसे पुत्र मातापितादि अनेक कारणोंसे उत्पन्न होनेपर भी माता या पिताके ही आकारको धारण करता है, इसी प्रकार अनेक कारणोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी आलम्बन प्रत्ययके आकारका होता है। यही आकार विषयव्यवस्थापक होता है। अर्थात् प्रतीतिको किसी एक विषयमें नियत करनेके लिये यही आकार साधकतम है अत एव यही आकार प्रमाण है।

सौत्रान्तिकों का कहना है कि यह आकार ज्ञान अर्थात् प्रतीतिसे भिन्न नहीं है। एक ही ज्ञान व्यावृत्तिके भेदसे प्रमाण और फल कहा जाता है। नैयायिकादिकी तरह सौत्रान्तिकों को प्रमाण और फलमें जन्यजनकभाव—कार्यकारणभाव इष्ट नहीं है किन्तु व्यवस्थाय-व्यवस्थापकभाव इष्ट होनेसे एक ही वस्तुमें प्रमाण और फलका अभेद माननेमें कोई विरोध नहीं। एक ही बुद्धि या ज्ञान अनाकारव्यावृत्त होनेसे प्रमाण और यही अनभिगतिव्यावृत्त होनेसे प्रमिति है।

सौत्रान्तिकों के इस आकारवादका खण्डन सभी दार्शनिकोंने किया है। स्वयं धर्मकीर्ति ने भी वह आकार अर्थजन्य नहीं किन्तु वासनाकृत है ऐसा स्थापित करनेके लिये बाह्य वस्तुके आकारका संभव ज्ञानमें नहीं ऐसा स्थापित किया है—सूत्रवा० ४.७९। शास्त्रदी० पृ० ५४। प्रमाणवा० २.३२०। तत्त्वो० पृ० ५२। व्यो० पृ० ५२८। न्यायमं० वि० पृ० ५४३। अष्टसं० पृ० ११८, १३५, २४०। तत्त्वार्थस्तो० पृ० १२४, १६९। सन्मिति० टी० पृ० २४६, ४६०। प्रमेयक० पृ० १३०। न्यायकु० पृ० १६७। प्रमाणन० ४.४७।



१. प्रमाणवा० २.३१५। २. वही० २.३०७। ३. “तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणकस्य कार्यवतीतिरूपत्वात्। कार्यसाक्ष्यमस्य प्रमाणम्, तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेः।” न्यायवि० पृ० २५-२६। ४. “अर्थेन घटवत्सो न हि सुखवार्थरूपताम्। अन्यः स्वमेवाज्ज्ञानस्य भेदकोऽपि कथञ्चन ॥ ३०५ ॥ तस्मात् प्रमेयाभिगतेः साधनं भेदरूपता ॥ ३०६ ॥” प्रमाणवा० २। तत्त्वसं० का० १३४४। “सर्वमेव हि विज्ञानं विषयेभ्यः समुद्भवत्। तदव्यवस्थायि हेतुत्वे कथञ्चिद्विषयाकृति ॥ ३१८ ॥ नैयायिकाकाराणां हेतुत्वेऽप्यसंजग्मनि। पित्रोक्तदेकस्याकारं घटे मान्यस्य कल्पविद् ॥ ३१९ ॥ तदेतत्त्वेन तुल्येऽपि तदर्थवैविध्ये मतम्। विषयत्वं तद्वशेन तदभावे न तज्जवेत् ॥ ३२० ॥” प्रमाणवा० २। ५. प्रमाणवा० २.३०७, ३१५, ३१८। “अभिगतिज्ञानात्ममूलविशेष [साक्ष्य] बोद्धुं व्यवस्थाप्य व्यवस्थापकभाव एवितथ्य उभयोरपि ज्ञानस्वरूपात्मत्वात्।” मनो० २.३०५। “नास्त्यत्र कार्यकारणात्मकः क्रियाकारणभावः किन्तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावः। स च तादात्म्येऽपि भविष्यः।” वही २.३१५। ६. “अनाकारव्यावृत्तिः प्रमाणम्। अनभिगतिव्यावृत्तिः फलम्।” वही २.३१८।

### ३. अनुमानपरिच्छेदः ।

पृ० ९५. पं० १७. 'अथ' प्रथम वैशेषिक और नैयायिकसंमत सामान्यको दूषित करने के लिये यहाँसे उनकी ओरसे पूर्वपक्षकी योजना की गई है ।

पृ० ९६. पं० १०. 'दोहि' व्याख्या—“आभ्यामपि द्व्यर्थिक-पर्यायार्थिकनयभ्यां प्रणीतं शास्त्रम् उल्लेखेन वैशेषिकशास्त्रप्रणेता, द्रव्य-गुणादेः पदार्थषट्कस्य नित्यानित्य-काम्नारूपस्य तत्र प्रतिपादनात्...ततश्च यतश्च द्रव्यं तथापि मिथ्यात्वम्, तत्प्रदर्शित-पदार्थषट्कस्य प्रमाणबाधितत्वात् ।...यस्मात् स्वविश्वप्रधानद्रव्यवस्थितान्योन्यविरुद्धमे-भयनयाधितं तत्, अन्योन्यविरुद्धव्यवस्थितस्य सिद्ध्यतश्चादिनाऽविनाशतत्वात् ।” सन्मति० टी० ।

पृ० ९६. पं० १२. 'अथविषय' मीमांसक और सांख्यपक्षको दूषित करनेके लिये उनकी ओरसे पूर्वपक्षकी योजना यहाँसे की गई है ।

पृ० ९६. पं० १८. 'किञ्च' तुलना—सन्मति० टी० पृ० ३४०, ३९१ ।

पृ० ९६. पं० २२. 'व्यक्ति' तुलना—“तत्र देशान्तरे वस्तुमात्रमात्रे कथं भुते ? इदमन्ते वृत्तिमात्रो न तस्मिन्मिति न कथ्यते ॥ ८०६ ॥ न हि तेन सहोपपत्त्या नित्यत्वाभा-व्यवस्थिताः । तत्र प्रागविभुत्वेन न चाप्राप्त्यन्यतोऽक्रियाः ॥ ८०७ ॥” तत्त्वसं० । प्रमाणम् ० ३.१५२, १५४ ॥

पृ० ९६. पं० २६. 'न वाति' वह कारिका अमान्यकार्तिक की है—३.१५१, १५२ ।

पृ० ९६. पं० ३१. 'अप्यप्योह' सामान्यको मनुष्य नहीं किन्तु कल्पनिक मानव अन्वयोपोहस्वरूप माननेवाले बौद्धपक्षका दूषण यहाँसे किया गया है । अपोहकी चर्चाके लिये देखो, प्रमाणम् ० २.१६३ से । सन्मति० टी० १७३ । न्यायकु० पृ० ५५१ ।

तुलना—सन्मति० टी० पृ० १८६ । न्यायकु० पृ० ५३३ । उत्पन्नम् ० पृ० ६७ ।

पृ० ९७. पं० ३. 'किमानयामि' तुलना—प्रमाणम् ० अंक० पृ० ३८५ ।

पृ० ९७. पं० ७. 'किञ्च' तुलना—न्यायकु० पृ० ५३१ ।

पृ० ९७. पं० १९. 'वासनानाम्' तुलना—न्यायकु० पृ० ५३२ ।

पृ० ९८. पं० १०. 'सर्वे भावाः' व्याख्या—“यदि च एव कृतकः स एवमिच्छो जेदा-भावात् तदा प्रतिज्ञार्थकदेशो हेतुः स्वादित्याह—सर्वे भावाः समानेन स्वस्वभावव्यव-स्थितेः—आत्माभीषकपञ्चव्यवस्थितत्वात् स्वभावपरभावाभ्यां सजातीयान् विजातीयान् आवृत्तिभाविनो—वस्मन् केचिन्मिमांसा तस्माद्यतो यतोऽस्वरूपादर्थान् व्यावृत्तिः अर्थानां तद्विवक्षणाः—तत्तद्व्यावृत्तिमिमिच्छा अस्तिमेवास्तद्विशेषावगाहिनाः—तत्सलक्षणभावाः कल्पन्ते शब्दैः स्वभावावयवतया । यतः शब्दः कश्चिदर्थव्यवस्थां कुर्वन्तस्माद्विभेदऽवस्था-कृतकमित्यादेः व्यावृत्त इति तत्तद्व्यवच्छेदप्रतिपादनार्थं शब्दकृतकमित्यादिनां अस्म-योऽनन्यशब्दवाच्यतया कल्पन्ते । तस्मात् स्वभावाभेदेपि कृतकत्वमित्यत्वादीनां येन धर्मेण नास्ति 'अनित्य' इत्यनेन यो विशेषो नित्याद् व्यावृत्तिः संप्रतीयते न स विशेषः शक्यः ततः—अनित्यशब्दाद् अन्येन कृतकत्वेन प्रत्येकम् । तेन—कारणेन साम्यसाधन-योर्मिमांसा व्यवस्थितिः ।” अन्ते०

५० ९९. पं० १०. 'परोक्षं द्विविधम्' न्यायावतारका वार्तिक होनेसे शान्त्याचार्य ने न्यायावतारका अनुसरण करके परोक्षके अनुमान और आगम ऐसे दो भेद बताये हैं । किन्तु अन्य जैनाचार्यों ने अकलंकोपज्ञ परोक्षके सृष्टि, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ऐसे पांच भेद माने हैं । लघी० १० परी० ३.२ । प्रमाणन० ३.२ । प्रमाणमी० १.२.२ ।

५० ९९. पं० १६. 'परोक्षम्' तुलना—“प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लवम् । परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः ॥” प्रमाणसं० का० २ ।

५० ९९. पं० १७. 'श्रौतं त्रिविधम्' तुलना—“श्रुतम् अविप्लवम्-प्रत्यक्षानुमानागम-निमित्तम् ।” प्रमाणसं० ५० ९७. पं० ६ ।

५० ९९. पं० २४. 'प्रत्यभिज्ञा' शान्त्याचार्य ने प्रत्यभिज्ञाको प्रत्यक्ष या अनुमानमें अन्तर्गत किया है किन्तु अन्य जैनाचार्यों ने उसे परोक्ष प्रमाणके भेद रूपसे पृथक् माना है । मूलकारके अनुसरण करनेके कारण शान्त्याचार्य ने अन्य सभी जैनाचार्योंके मतकी उपेक्षा की है और नैयायिकादि अन्य दार्शनिकोंसे मैत्री ।

५० १००. पं० ५. 'अष्टाविंशति' “ते किं तं आभिनिबोहियमाणं? आभि० दुविहं पण्णसं । तं जहा-सुयनिस्सियं च असुयनिस्सियं च ।...असुयनिस्सियं चउत्विहं पण्णसं । तं जहा-उप्पत्तिया, वेणइया, कम्मया परिणामिया । बुद्धी चउत्विहं बुद्धा पंचमा नोवळम्भई ।...सुयनिस्सियं चउत्विहं—पण्णसं । तं जहा-उग्गहे इहा अवाभो धारणा ।...उग्गहे दुविहे पण्णसे । तं जहा-अरुग्गहे य वंजणुग्गहे य ।...वंजणुग्गहे चउत्विहं पण्णसे । तं जहा-सोइंदियवंजणुग्गहे, धाणिंदिय०, जिम्मिंदिय०, फासिंदिय० ।...अरुग्गहे चउत्विहं पण्णसे । तं जहा, सोइंदिय० चरिंदिय०, धाणिंदिय०, जिम्मिंदिय०, फासिंदिय०, नोइंदिय०, ईहा चउत्विहं पण्णसा... । अवाय चउत्विहं पण्णसे... । धारणा चउत्विहं पण्णसा... । एवं अट्ठवीसइविहस्स आभिनिबोहियमाणस्स...” नन्दी० सू० २६-३५ ।

५० १००. पं० १०. 'श्रौतम्' श्रुतज्ञानकी सूक्ष्मचर्चाके लिये देखो ज्ञानविन्दु ५० ६ तथा उसकी प्रस्तावना ५० २० ।

५० १००. पं० १२. 'सुयकारणं' व्याख्या “यतो-यस्मात् कारणात् स-शब्दो वक्त्राभिधीयमानः ओद्गतस्य श्रुतज्ञानस्य कारणं-निमित्तं भवति, श्रुतं च वक्ष्यतश्च श्रुतोपयोगरूपं व्याख्यानकरणादौ, तस्य-वक्त्राभिधीयमानस्य शब्दस्य कारणं जायते इति मतः तस्मिन् श्रुतज्ञानस्य कारणभूते कार्यभूते वा शब्दे श्रुतोपचारः क्रियते । ततो न परमार्थतः शब्दः श्रुतम्, किन्तूपचारतः इत्यवोधः । परमार्थतस्तर्हि किं श्रुतम्? इत्याह—सुयं विवत्थादि । परमार्थतस्तु जीवः श्रुतम् । ज्ञानज्ञानिनोरनन्यभूतत्वात् । तथा च पूर्वमभिहितम्—भृणोतीति श्रुतम्—मात्मैवेति । तस्मात् भूयत इति श्रुतमिति कर्मसाधनपक्षे ब्रह्मश्रुतमेवाभिधीयते, भृणोतीति श्रुतमिति कर्मसाधनपक्षे तु भावश्रुतमात्मैवेति न काचिदन्नात्मभावतः श्रुतज्ञानस्य ।” विजयेन्द्र० नृ० ९९ ।

५० १००. पं० १०. 'श्रुतनिःसृता च' प्राकृत आगमवाक्यका अनुवाद है । उक्त आगमवाक्यका पूर्व टिप्पणमें निर्देष्ट हो चुका है ।

श्रुतनिःसृतमतिक्रम लक्षण जिन मद्र ने इस प्रकार किया है—

“पुणं सुचपरिकम्मियमइस्स जं संपयं सुयाईयं ।

तं निस्सियमिपरं पुण अविस्सियं मइवउत्तं तं” # विजयेन्द्र० १६९ ।

**व्याख्या**—“व्यवहारकालात् पूर्वं यथोक्तरूपेण श्रुतेन परिकर्मिता-आहितसंस्कारा  
प्रतिर्यस्य स तथा तस्य साध्यावेर्यत् सांप्रतं व्यवहारकाले श्रुतातीतं श्रुतनिरपेक्षं ज्ञानमुप-  
जायते तच्छ्रुतनिमित्तमवग्रहादिकं सिद्धान्ते प्रतिपादितम् । इतरत् पुनरश्रुतनिमित्तम्,  
तद्यौत्पत्तिव्यादिमतिव्युत्पन्नं ब्रह्मव्यम्, श्रुतसंस्कारानपेक्षया सहजत्वात् तस्य ।” विशेषा०  
पृ० १६९ ।

पृ० १००. पं० १५. ‘तदेकधा’ वार्तिककारको यह खातब्रय है कि वह मूलकारका  
विरोध भी करे । इसी खातब्रयका उपयोग प्रस्तुतमें शान्स्याचार्यने किया है । न्यायावतार  
मूलमें प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों प्रमाणोंके स्वार्थ और परार्थ ऐसे दो भेद किये गये हैं ।  
शान्स्याचार्यने प्रत्यक्षका तो क्या सर्वसंमत अनुमानका द्वैविध्य भी खण्डित किया है । उनका  
कहना है कि लिङ्गके बलसे जैसे स्वयं वादी परोक्ष अर्थका ज्ञान करता है वैसे ही प्रतिवादी  
श्रोता भी करता है फिर अनुमानके स्वार्थ और पदार्थ ऐसे भेद करने की क्या आवश्यकता है ।

शान्स्याचार्यने वचनरूप परार्थ अनुमानको उपचारसे भी प्रमाण मानने पर आपत्ति की  
है कि ऐसा मानने पर अनवस्था होगी । उनकी वह आपत्ति एक वैतण्डिकको शोभा  
देनेवाली है । परार्थानुमानके प्रामाण्यमें किसी भी वादीका विवाद नहीं ।

अनुमानके विशेष विवेचनके लिये देखो प्रमाणमी० भाषा० पृ० १३८ ।

पृ० १०२. पं० ७. ‘अन्यस्यासाधनाद्’ न्यायावतार मूलमें हेतुवचनको परार्थानुमान  
कह करके फिर पक्षादिवचनात्मक भी कहा—

“साध्याविनाशुबो हेतोर्वैचो यत् प्रतिपादकं ।

परार्थमनुमानं तत् पक्षादिवचनात्मकम् ॥” न्याया० १३ ।

इस विरोधका निरास करते हुए टीकाकार सिद्धार्थ ने कहा है कि परार्थानुमानके अवयवोंका  
अनियम न्यायावतारकारको इष्ट है ।

स्वयं मूलकारने पक्ष, हेतु और दृष्टान्तके लक्षणोंका प्रणयन किया है और अन्तर्व्याप्तिस्थलमें  
दृष्टान्तकी अनावश्यकता भी प्रदर्शित की है इससे भी यही प्रतीत होता है कि न्यायावतार-  
कारको अवयवका नियम करना अभीष्ट नहीं किन्तु टीकाकारने जैसा तात्पर्य निकाला है वही  
ठीक है ।

किन्तु प्रस्तुतमें शान्स्याचार्य अपना खातब्रय दिखाते हैं । उनका कहना है कि अनुमानके  
हेतु और साध्य सिर्फ ये दोनों ही अवयव हैं अन्य नहीं ।

अन्य दार्शनिकोंके अवयव सबन्धी मन्तव्यके विषयमें देखो प्रमाणमी० भाषा० पृ० ९४ ।

पृ० १०२. पं० ४. ‘प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्’ देखो, का० ५४. पृ० ११२ ।

पृ० १०२. पं० १०. ‘ननु प्रतिज्ञामन्तरेण’ प्रतिज्ञाका प्रयोग अनावश्यक है ऐसा  
धर्मकीर्तिका मन्तव्य है—

“अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाहं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि तस्यासाधनाङ्गस्य साधन-  
वाङ्मये उपादानं वादिनो निग्रहस्थानं व्यर्थमभिधानात् ।...ननु च विषयोपदर्शनाय प्रति-  
ज्ञावचनमसाधनाङ्गमपि उपादेयमेव । न । वैयर्थ्याद्, असत्यमि प्रतिज्ञावचने यथोक्ताङ्ग  
साधनवाङ्मयाङ्गवलेवेष्टार्थसिद्धिरित्यपार्थक्यं तस्योपादानम् ।” वादन्याय पृ० ३१-३५ ।





पृ० ४४ । तात्पर्य० पृ० १३६ । न्यायमं० वि० पृ० १२१ । श्लोका० अनु० १२ ।  
कंदली० पृ० २०९ ।

पृ० १०४. पं० ९. 'अपरे' व्याप्तिका ग्रहण अनुमानसे होता है—यह किस दार्शनिकक,  
मन्तव्य है कहना कठिन है । दार्शनिकोंने इस पक्षका खण्डन तो किया है किन्तु वह मत  
किसका है इस विषयमें कुछ निर्देश नहीं किया है । देखो, ऊषी० स्व० का० ११ । न्यायकु०  
पृ० ४३३ । प्रकरणपं० पृ० ३९ । न्याया० टी० पृ० ५१ । इत्यादि ।

पृ० १०४. पं० ९. 'अन्ये' व्याप्तिग्राहक तर्क स्वतन्त्र प्रमाण है यह मत अन्य जैन  
दार्शनिकोंका है । न्यायावतारके टीकाकार सिद्धार्थिको भी तर्कप्रामाण्यका स्वातन्त्र्य मान्य है—  
न्याया० टी० पृ० ५१ ।

पृ० १०४. पं० १७. 'यो हि' तुलना—“यो हि सकलपदार्थव्यापिनी क्षणिकताम्  
इच्छति तं प्रति कस्यचित् खपक्षस्यैवामावात् ।” हेतु० टी० पृ० १५. पं० २० । प्रमा-  
णमी० पृ० ४४.४४७ ।

पृ० १०४. पं० २०. 'प्राणादिः' विवेचनाके लिये देखो प्रमाणमी० भाषाटिप्पण पृ०  
८३ । Buddhist Logic Vol. I p. 338., Vol II p. 208 ।

पृ० १०५ पं० १२ 'सम्बन्धमन्तरेण' बौद्धों ने अविनाभाव के नियामक तादात्म्य और  
तदुत्पत्ति इन दो सम्बन्धोंकी कल्पना की है—“स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य वस्तुतः  
तादात्म्यात् साध्यार्थादुत्पत्तेः अतस्त्वभावस्यातदुत्पत्तेः तत्राप्रतिबन्धत्वभावत्वात् ।”  
न्यायवि० पृ० ४१ । प्रमाणवा० ३.३० । हेतु० टी० पृ० ८ ।

शास्त्रार्थ ने प्रस्तुत में उसी कल्पना को लक्ष्य में रख कर पूर्वपक्ष किया है ।

अन्य दार्शनिकोंने अविनाभाव के नियामक रूपसे किसी भी सम्बन्ध की अनिवार्यता निश्चित  
नहीं की है । यही कारण है कि अन्य दार्शनिकोंने स्वभाव और कार्यसे अतिरिक्त हेतुओंकी भी  
सम्बन्धता मानी है ।

जैसा कि जयन्त के मतसे हेतु और साध्यमें व्याप्ति—अविनाभाव—नित्य साहचर्यका होना  
ही पर्याप्त है । व्याप्तिको सूक्ष्म विचार करके भी तादात्म्य और तदुत्पत्ति में सीमित करने की  
अपेक्षा स्थूल दृष्टिसे इतना कहना ही पर्याप्त है कि साध्य-साधन में नित्य साहचर्यरूप सम्बन्ध  
है । क्योंकि सीमित करने पर कार्य और स्वभाव ही हेतु होंगे किन्तु विचार करने पर स्पष्ट  
होता है कि कार्य और स्वभाव से अतिरिक्त भी कई प्रकारके हेतुओंकी सिद्धि होती है—  
न्यायमं० वि० पृ० ११३—११७ ।

स च स्पष्टिका कहना है कि साध्य और साधन में कई प्रकार के सम्बन्धकी कल्पना की  
जा सकती है । अत एव साध्य-साधनके सम्बन्ध की संख्याका नियम करना ठीक नहीं ।  
सम्बन्ध कोई भी हो किन्तु जो स्वभावसे ही किसीसे नियत होगा वही गमक होगा । मतलब  
यही है कि एक सामाजिक सम्बन्ध अर्थात् अविनाभाव—अन्यथानुपपत्ति ही पर्याप्त है । अन्यथा-  
नुपपत्ति क्यों है इसका नियम किया नहीं जा सकता । कहीं कार्यकारणभावप्रयुक्त, कहीं पूर्वा-  
परभावप्रयुक्त, कहीं सहचारप्रयुक्त इत्यादि अनेकरूप अविनाभाव हो सकता है इन कार-

शोंकी—सम्बन्धोंकी इपत्ताका निश्चय कठिन है—“तस्माद्यो वा उ वाऽस्तु सम्बन्धः । केवलं यस्यासौ स्वाभाविको नियतः स एव गमको गम्यश्चेतरः सम्बन्धीति युज्यते ।” तस्मादुपाधि प्रयत्नान्विष्यन्तोऽनुपलभमाना नास्तीत्यवगम्य स्वाभाविकत्वं सम्बन्धस्य निश्चि-  
नुमः ।” तात्पर्यं० पृ० १६५ ।

वैशेषिक सूत्रमें (९. २. १) चार प्रकारके ‘सम्बन्धका उल्लेख है किन्तु प्रशस्त पादने स्पष्टीकरण किया है कि सूत्रमें कार्यादिका ग्रहण हेतुसंख्याके अवधारणार्थ नहीं किन्तु निदर्शनार्थ है । अत एव सूत्रनिर्दिष्ट सम्बन्धोंसे अतिरिक्त सम्बन्धके कारण भी कोई हेतु हो सकता है । वस्तुतः सम्बन्धसामान्यका ग्रहण ही पर्याप्त है विशेष सम्बन्धोंका नियम नहीं किया जा सकता ।

“शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम् । कस्माद् व्यतिरेकदर्शनात् ।” एवमादि तत् सर्वं ‘अस्येदम्’ इति सम्बन्धमात्रवचनात् सिद्धम् । प्रशस्त० वि० पृ० २०५ । कंदली० पृ० २११ ।

जैनों में भी अविनाभावरूप एक सामान्यसम्बन्ध ही पर्याप्त माना है । अविनाभावके नियामक सम्बन्धोंकी संख्या नियत नहीं की है—परी० ३.१५-१६; ४१-४४ ।

भीमासकोंको भी अविनाभाव—व्याप्तिरूप एक सम्बन्धसामान्य ही इष्ट है । व्याप्तिनियामक अन्य सम्बन्धोंकी संख्याका नियम नहीं किया जा सकता है ऐसा उनका मन्तव्य है—शास्त्रदी० पृ० ६० । प्रकरण पं० पृ० ६४ ।

पृ० १०५. पं० २२. ‘कालादिपरिकल्पनात्’ हेतुका त्रैरूप्य लक्षण मानने पर पक्ष-सत्त्व—अर्थात् हेतुका पक्षवृत्तित्व एक आवश्यक अंग सिद्ध होता है । किन्तु ‘शकटका उदय होगा, कृत्तिकाका उदय होनेसे’, इत्यादि अनुमानोंमें कृत्तिकाका उदय पक्षधर्म नहीं फिर भी उससे शकटोदय सिद्ध होता है अत एव पक्षवृत्तित्व अव्याप्त होनेसे हेतुलक्षण नहीं । इस आक्षेपके उत्तरमें बौद्धोंने कहा कि ऐसे स्थलमें काल या देशको पक्ष मानकर हेतुकी पक्षधर्मता सिद्ध की जा सकती है—

“यद्येवं तत्कालसम्बन्धित्वमेव साध्यसाधनयोः । तदा च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमानं चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम् ।” प्रमाणवा० कर्ण० पृ० ११ ।

वैशेषिक दर्शनमें भी त्रैरूप्य हेतुलक्षणरूपसे मानागया है । प्रशस्त पादने ‘अनुमेयेन सम्बद्धम्’ का अर्थ किया है कि “यदनुमेयेन अर्थेन देशविशेषे कालविशेषे वा सह-चरितम् ।” प्रशस्त० वि० पृ० २०१ ।

वार्तिककारमे प्रस्तुतमें अन्य जैनाचार्योंका अनुसरण करके पक्षधर्मताकी सिद्धिके लिये की गई कालादि धर्मोंकी कल्पनाका निरास किया है ।

पृ० १०६. पं० १. ‘विशेषेऽनुगमामावात्’ इत्यादि अनुमानका दूषण चार्वाक के किसी मन्थाश्रित है । जयराशि ने इस पक्षांशका अनेक प्रकारसे अर्थ करके अनुमानके प्रामाण्यका निरास किया है । और अन्य दार्शनिकोंने भी इसका उत्तर विस्तारसे दिया है—तत्त्वो० पृ०

१. तात्पर्य० पृ० १६४ । २. तुलना—श्लोकवा० अर्थापत्ति० १७ । प्रमाणसं० पृ० १०४ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १९८-२०० । प्रमाणप० पृ० ७१ । न्यायकु० पृ० ४४० । स्याद्वादर० पृ० ५१९ ।

७२, ७३, ८२, ८९ । न्यायमं० वि० ११९ । शास्त्रदी० पृ० ६३ । प्रवृत्तपं० पृ० ७१ । सन्मति० टी० पृ० ५५४ । न्यायकु० पृ० ६९ । स्याद्वादर० पृ० २६३ । प्रमाणज्ञा० कर्ण० पृ० ३५१ ।

प्रमेयकमलमार्तण्ड में इसके उत्तरार्धकी पूर्ति टिप्पणमें की गई है, यथा—

“नानुमानं प्रमाणं स्यान्निश्चयाभावतस्ततः ।” प्रमेयक० टि० पृ० १७७ ।

पृ० १०६. पं० ८. ‘पक्षलक्षणम्’ विशेष विवेचनके लिये देखो,—प्रमाणमीमांसा-भाषा-टि० पृ० ८७-९० ।

पृ० १०६. पं० २५. ‘समानतत्रैः’ दिगम्बरैरित्यर्थः । देखो—प्रमाणसं० पृ० ९७ पं० ६ ।

पृ० १०६. पं० २९. ‘हेत्वाभासान्’ विशेष विवेचनके लिये देखो—प्रमाणमी० भाषा-टि० पृ० ९६, १४२ ।

पृ० १०७. पं० १६. ‘असिद्धः’ दिगम्बराचार्य अकलंकने प्रमाणसंग्रहमें कहा है कि—

“असिद्धः सिद्धसेनस्य विदुसो देवनन्दिनः ।

द्वेषा समन्तभद्रस्य सत्त्वादिरचलात्मनि ॥” प्रमाणसं० का० ५६ ।

सिद्धिविनिश्चयमें भी यही कारिका है किन्तु वहाँ उसका अन्तिम पद प्रमाणसंग्रह जैसा नहीं किन्तु प्रस्तुत वार्तिकसे मिलता हुआ होगा ऐसा सिद्धिविनिश्चयकी टीका देखनेसे प्रतीत होता है—सिद्धिवि० टी० पृ० ३२३ ।

यह कारिका न्यायविनिश्चयमें उद्धृत है—पृ० ५०२ । वहाँ भी उसका अन्तिम पाद ‘हेतुरेकान्तसाधने’ ऐसा है । अतएव वार्तिककी प्रस्तुत कारिकाका सीधा सम्बन्ध सिद्धिविनिश्चय की कारिकासे हो तो कोई आश्चर्य नहीं ।

वार्तिककारने दिगम्बराचार्य पूज्यपाद—देवनन्दीके स्थानमें श्वेताम्बराचार्य मल्लवादीका उल्लेख किया है । मल्लवादीका नयचक्र प्रसिद्ध है । वह ग्रन्थ दोनों संग्रहायमें प्रमाणभूत माना जाता है—प्रमाणसं० का० ७७ । न्यायवि० का० ४७७ । तत्त्वार्थ-श्लो० पृ० २७६ ।

पृ० १०७. पं० १९. ‘पूर्वमेव’ देखो—पृ० ९६. पं० ३१ ।

## ४. आगमपरिच्छेदः ।

पृ० १०९. पं० २. ‘ननु शब्दस्य’ बौद्ध आगम को प्रमाणभूत नहीं मानता है । उसीकी यह आशंका है ।

बौद्धका कहना है कि शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं<sup>१</sup> । अतएव शब्दसे किसी भी अर्थका बोध नहीं हो सकता ।

१. “वाङ्मा अर्थाः शब्दस्य न रूपम्, नापि शब्दोऽधीनाम् । येनाभिज्ञात्मतया व्यवस्थामेवेति कृतकवा-  
नित्यत्ववद् भविनाभावित्वात् । नापि शब्दा विवक्षाजन्मानो नाप्यव्यजन्मानो विवक्षाव्यङ्गाः नार्था-  
यत्ताः ।” प्रमाणज्ञा० श्लो० पृ० ४१६ । “शब्दानां बहिरर्थे प्रतिबन्धाभावात्” हेतु० टी० पृ० २ ।  
हेतु० आलोक० पृ० २३९ ।

धर्म की ति ने तो यह नियम किया है कि परोक्षार्थप्रतिपत्ति अनुमानाश्रित ही है । अतएव शब्दादिको किसीप्रकार प्रमाण मानना भी हो तबभी अनुमानसे उसका पार्थक्य नहीं । शब्द अनुमान ही होगा, उससे पृथक् नहीं ।

पृ० १०९. पं० ३. 'ये यत्र' तुलना — "ये यत्र भावतः कृतसमया न भवन्ति न ते परमार्थतस्तमभिदधति यथा साक्षादिमति पिण्डेऽध्वशब्दोऽकृतसमयः, न भवन्ति च भावतः कृतसमयाः सर्वस्मिन् वस्तुनि सर्वे ध्वनय इति व्यापकानुपलब्धेः ।" तत्त्वसं० पं० पृ० २७६ । सन्मति० टी० पृ० १७४ पं० १९ ।

पृ० १०९. पं० ५. 'अशक्यक्रियत्व' तुलना —

"अशक्यं समयस्याऽस्य जातेऽजाते च कल्पनम् ।

नाऽजाते समयो युक्तो भाविकोऽध्वविषयवत् ॥

नापि जाते गृहीतानां पूर्वं धावामनुस्मृतौ ।

क्रियते समयस्तत्र विरातीते कथं नु तत् ॥" तत्त्वसं० का० ८७६-८७७ ।

सन्मति० टी० पृ० १७६. पं० ११ ।

पृ० १०९. पं० १२. 'अथ' तुलना — तत्त्वसं० का० ८७८ ।

पृ० १०९. पं० १५. 'कल्पितविषय' तुलना —

"अनादिधासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः ।

शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मी भावाभावोभयाभयः ॥

परमार्थैकतानत्वे शब्दादामनिबन्धना ।

न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु दर्शनान्तरमेदिषु ॥

अतीताजातयोर्वापि न च स्यादनुतार्थता ।

वाचः कस्यापि विलेपा बौद्धार्थविषया मता ॥"

प्रमाणवा० ३.२०४ २०७, २१२ । ३.२८६ ।

"निवेदितं तावत् यथा पते शब्दा न स्वलक्षणविषयाः । अनादिकालीनवासनाप्रभवे विकल्पे प्रतिभासिनमर्थे विषयत्वेनात्मसात् कुर्वन्ति ।" प्रमाणवा० स्त्रो० पृ० ३८४ ।

पृ० १०९. पं० १६. 'सम्बन्धकरणं' तुलना — "स चायं चक्षुर्ग्राह्यः सन् स्वबुद्धौ तदन्यविषयेन रूपेणाप्रतिभासमानः कथं तथा स्यात् । ... नानुमानात् प्रतिपत्तिः, लिङ्गाभावात् दृष्टान्तासिद्धेः ।" प्रमाणवा० स्त्रो० पृ० ४२४-५२५ । सन्मति० टी० पृ० २३५. पं० २७ ।

पृ० १०९. पं० २१. 'तदयुक्तं' तुलना —

"अन्यथैवात्रिसम्बन्धाद्वाहं दग्धोऽभिमन्यते ।

अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रकाश्यते ॥"

वाक्यप० २.४२५ । तत्त्वसं० ८७९ ।

पृ० ११०. पं० ५. 'अथार्थापत्त्या' तुलना — "अत एव अर्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यापि शक्तिसम्बन्धकल्पना निरस्ता ।" प्रमाणवा० कर्ण० पृ० ४२७ । सन्मति० टी० पृ० २३५ पं० ७ ।

१. "परोक्षार्थप्रतिपत्तेरनुमानाश्रयत्वात्" हेतु० पृ० ३ । २. "तत्तत्र शब्दादीनां सति प्रमा-  
न्येऽनुमानवा" हेतु० टी० पृ० ४ ।

पृ० ११०. पं० १०. 'संकेतव्यवहार' तुलना—सन्मति० टी० पृ० १७५ ।

पृ० ११०. पं० १३. 'अथ' यह पूर्वपक्ष नैयायिकके मतको लेकर हुआ है—  
“व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः” न्यायसू० २. २. ४५ । तत्त्वसंग्रह० पं० पृ० २८१ ।  
सन्मति० टी० पृ० १७७. पं० १९ ।

पृ० ११०. पं० १८. 'तथाहि' तुलना—सन्मति० टी० पृ० २३३. पं० ६ ।

पृ० ११०. पं० २६. 'अथ' तुलना—सन्मति० टी० पृ० २३४. पं० १ । यह पक्ष भाट्टोंका है—देखो शास्त्रदी० अ० १. पा० ३. अधि० १०. पृ० ५१ ।

पृ० १११. पं० १४. 'नाक्रमात्' संपूर्ण कारिका इस प्रकार है—

“नाक्रमात् क्रमिणो भावो नाप्यपेक्षाऽविशेषिणः ।

क्रमाद् भवन्ति धीः कायात् क्रमं तस्यापि शंसति ॥” प्रमाणवा० १.४.५ ।

व्याख्या—“नाक्रमात् क्रमिणः कार्यस्य भावः । क्रमरहितत्वात् कारणस्य । तन्निष्पा-  
द्यानि कार्याणि सकृज्जायेरन् । क्रमवतः सहकारिणोऽपेक्ष्य क्रमाज्जनयिष्यतीति चेत् ।  
नाप्यविशेषिणः स्थिरैकरूपस्य परैरनाधेयविशेषस्य परेषां सहकारिणामपेक्षास्ति । तस्मात्  
क्रमाद् भवन्ती धीः कायात्, क्रमं तस्यापि कायस्य शंसति ।” मनो० १.४.५ ।

पृ० १११. पं० १७. 'ताप-च्छेद' तुलना—

“तापाच्छेदाभिकषाद्वा कलघौतमिवामलम् ।

परीक्ष्यमाणं यच्चैव विक्रियां प्रतिपद्यते ॥

तापाच्छेदाच्च निकषात्सुवर्णमिव पण्डितैः ।

परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्रचो न तु गौरवात् ॥”

तत्त्वसं० का० ३५४४, ३५८८ ।

ज्ञानसारसमुच्चय ३१ ।

पृ० ११२. पं० १४. 'अथ न ददाति' वीतराग कोप और प्रसाद रहित होनेसे उनकी आराधना निष्फल है इस शंकाका समाधान अतिविस्तारसे जिनभद्रने किया है । उसका सारांश यही है कि जैसे दानादि शुभाशुभ क्रियाओंका फल स्वायत्त है—अपने परिणाम पर निर्भर है उसी प्रकार वीतरागकी पूजाका फल भी अपने परिणाम पर ही निर्भर है अतएव यद्यपि जिन और सिद्ध वीतराग होनेसे कुछ फल देते नहीं तथापि उनकी आराधनासे आत्माके परिणाम विशुद्ध होते हैं और उसी विशुद्ध परिणामका शुभ फल मिलता है अतएव उनकी आराधना करना चाहिए ।

यह नियम नहीं किया जा सकता कि जो जो कोपादि रहित होगा वह फलद नहीं होगा—निष्फल होगा । क्योंकि अज्ञादि कोपादिरहित होते हुए भी निष्फल नहीं । और देखा तो यह गया है कि कोपादिविरहित ही सब वस्तुएँ फलद होती हैं—अनुग्रह और उपचातकी जनक होती हैं । जैसे चिन्तामणि, विष, गुड, मरीचादि औषधियाँ, इत्यादि ।

‘यदि कोपादि विरहित हीसे फलावाप्ति मानी जाय तब राजादिके द्वारा कुपित होनेपर धन-हरण और प्रसन्न होनेपर धनप्रदान होता देखा गया है—वह नहीं होना चाहिए’—इस शंकाका—समाधान जिनभद्रने यह किया है कि वस्तुतः धनके हरण या धनकी प्राप्ति में स्वकृत कर्म ही कारण है । राजादिका कोपादि निमित्त मात्र है ।

वस्तुतः जिन भगवान्की पूजा उनको प्रसन्न करनेके लिये नहीं की जाती किन्तु अपने चित्तकी प्रसन्नताके लियेही की जाती है क्योंकि धर्म और अधर्म दूसरोंकी—प्रसन्नता या कोपादिके पर निर्भर नहीं किन्तु अपने भावकी शुभाशुभताके ऊपर निर्भर हैं । अतएव वीतराग की पूजा निष्फल न होनेसे करणीय है । विशेषा० गा० ३२२८ से

पृ० ११२. पं० १७. 'पूर्वापरव्याघातः' दूसरोंके शास्त्रवचनोंमें परस्पर विरोध किस प्रकारका है उसका प्रदर्शन धर्म की रीतिने निम्न कारिकामें किया है—

“विरोधोऽज्ञानप्राया परीक्षापथश्च तद्यथा ।

अधर्ममूल रागादि ज्ञानं चाधर्मनाशनम् ॥” प्रमाणवा० ४. १०७ ।

इसकी व्याख्यामें प्रज्ञा करने जिन दो श्लोकोंको उद्धृत किया है शान्त्याचार्य ने भी उन्हींको प्रस्तुतमें उद्धृत किया है—प्रमाणवा० अलं० लि० पृ० ६४३ ।

तुलना—न्यायकु० पृ० ६३४ । स्याद्वादमं० का० ६ ।

पृ० ११२. पं० २९. 'विधि' यह कारिका नयचक्र की है—देखो—नयचक्र लिखित पृ० ६ ।

पृ० ११२. पं० १. 'सत्यत्वम्' बुद्ध को अर्थात् बुद्ध वचनको प्रमाण माननेमें धर्म की-रीतिने हेतु दिया है कि भगवान् बुद्धने अपने दोषोंके क्षयका जो मार्ग प्रत्यक्ष किया था उसीका उपदेश दूसरोंको किया था । उनकी तो प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरोंके हितकी दृष्टिसे होती थी, वे ज्ञानी थे, कृपावन्त थे; वे निष्प्रयोजन झूठ क्यों बोलते—अतएव भगवान् प्रमाणभूत हैं—

“तायः स्वहृष्टमार्गोक्तिः वैफल्यद्वक्तिकानृत्तम् ।

दयालुत्वात् परार्थं च सर्वारम्भाभियोगतः ॥” प्रमाणवा० १. १४७, ८ ।

“दयया श्रेय आचष्टे ज्ञानात् सत्यं ससाधनम् ।” वही १. २८४ ।

इतनाही नहीं किन्तु उनके उपदेशमें विसंवाद भी नहीं इसलिये भी वे प्रमाण हैं । अर्थात् बुद्धने वस्तुका स्वरूप जो बताया कि सब कुछ क्षणिक होनेसे दुःखरूप हैं और दुःखरूप होनेसे अनात्म है—उसमें कोई बाधा नहीं यह भी बुद्धके प्रामाण्यमें हेतु है—“उपदेशतथाभावः” वही १. २८५ ।

निष्कर्ष यह है कि बौद्धों के मतसे तत्त्वका स्वरूप अनित्य, दुःख और अनात्म इन तीन शब्दों में कहा जाता है और वही सत्य है । इसके विपरीत मल्लवादी का कहना है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन शब्दोंमें ही वस्तुका सत्यस्वरूप कहा गया है अतएव तदुपदेष्टा भगवान् ही प्रमाण है और अन्य अप्रमाण ।

पृ० ११२. पं० ११. 'द्वन्द्विओ' कारिका का पूर्वार्थ इस प्रकार है—

“तिथ्यवरवयणसंगह-विसेसपत्त्यारमूलधागरणी ।”

व्याख्या—“तरन्ति सर्वसारापेवं येन तत् तीर्थं-द्रावशाङ्गं तदाधारो वा सङ्गः-तत् कुर्वन्ति उत्पद्यमानमुत्पादयन्ति तत्स्वाभाव्यात् तीर्थकरनामकर्मोदयादेति...तीर्थकराणां वचनम्-आचारादि, अर्थतस्तस्य तदुपदिष्टत्वात्-तस्य संग्रहविशेषौ-द्रव्यपर्यायौ-

१. “अनित्यात् प्राह तेनैव दुःखं, दुःखाविद्यात्मकम् ।” प्रमाणवा० १. २५६ । “यद्विषयं तं दुःखं । यं दुःखं तदगता ।” संयुक्तविकार्य ३. २२ । विमुक्तिमग्ग २१. ७-८ ।

सामान्यविशेषशब्दाव्यावृत्तियौ-तयोः प्रस्तारः-प्रस्तीर्यते येन नयराशिना संग्रहादि-  
केन स प्रस्तारः । तस्य संग्रहव्यवहारप्रस्तारस्य मूलव्याकरणी-आद्यवक्ता ज्ञाता वा  
द्रव्यास्तिकः...पर्यवस्यति । शेषास्तु नैगमादयो विकल्पा मेदाः अनयोर्द्रव्यार्थिकपर्याया-  
र्थिकयोः ।” सन्मति० टी० पृ० २७१ ।

पृ० ११३. पं० १२. ‘कापिलम्’ जैनेतर दर्शनोंको जैनसंमत नयोंके आभास मानकर  
दुर्नयोंमें समाविष्ट करनेका प्रारम्भ संभवतः सिद्ध सेन ने किया है । उन्होंने स्पष्टरूपसे कापिल  
दर्शनको द्रव्यार्थिकमें, बौद्धदर्शनको पर्यायार्थिकमें और काणाद दर्शनको द्रव्यपर्याय-उभयनयमें  
समाविष्ट किया है और उन सभीको मिथ्यावाद कहा है ।-सन्मति० ३. ४८, ४९ ।

इसी प्रकार हरिभद्र अकलंक, विश्वानन्द आदिने क्रमशः स्वसमयप्रसिद्ध दर्शनोंकी  
नयवादों में जो घटना की उसका उपयोग करके उ० यशोविजयजीने सातों दुर्नयोंके साथ  
दर्शनान्तरोंको जोड़ दिया है वह इस प्रकार-

१. नैगमाभास = वैशेषिक और नैयायिक
२. संग्रहाभास = वेदान्त, समी अद्वैतदर्शन, सांख्य
३. व्यवहाराभास = सांख्य<sup>१</sup>, चार्वाक
४. ऋजुसूत्राभास = तायागत-सौत्रान्तिक<sup>२</sup>
५. शब्दनयाभास = शब्दब्रह्मवाद, तायागत (वैभाषिक)<sup>३</sup>
६. समभिरूढाभास = योगाचार<sup>४</sup>
७. एवंभूताभास = माध्यमिक<sup>५</sup>

पृ० ११३. पं० १७ ‘सत्कार्यवादः’ प्रस्तुतमें शान्खाचार्यने सत्कार्यवादके पूर्वोत्तरपक्षकी-  
रचना तत्त्वसंग्रह और सन्मतिटीकाके आधारसे की है-तत्त्वसंग्रह का० ८ से । सन्मति० टी०  
पृ० २८२ से ।

पृ० ११३. पं० २८. ‘नहि’ तुलना तत्त्वसं० का० १६ । सन्मति० टी० पृ० २९६ ।

पृ० ११४. पं० ९. ‘हेतुमत्त्वादि’ इस पूर्वपक्षवचनका मूलधार निम्न कारिका है-  
उसमें सांख्य मतानुसार व्यक्त और अव्यक्तका वैधर्म्य वर्णित है-

“हेतुमदित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।

सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥” सांख्यका० १० ।

पृ० ११४. पं० २३. ‘परिणामो’ तुलना-“अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ  
धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः ।” योगसू० भा० पृ० ३०५ । “तद्भावः परिणामः । अनादि-  
रादिमाश्च ।” तत्त्वार्थ० ५.४१, ४२ । “धर्मादीनां द्रव्याणां यथोक्तानां च गुणानां स्वभावः  
स्वतत्त्वं परिणामः ।” तत्त्वार्थभा० ५.४१ ।

पृ० ११५. पं० १०. ‘सलिलात्’ तुलना-

“न चान्ये न च नानान्ये तरङ्गा ह्युद्ध्यन्विताः ।

विज्ञानानि तथा सप्त चित्तेन सह संयुताः ॥

१. यशोविजयजीने अन्यत्र नयविवेक प्रकरणोंमें सांख्यको संग्रहाभासमें समाविष्ट किया है किन्तु  
अनेकान्तव्यवस्थामें व्यवहाराभासमें सांख्यका समावेश किया है-पृ० ३१ । २ अनेका० पृ० ५५  
सन्मति० टी० पृ० ३१८ ।



उदयेः परिणामोऽसौ तरङ्गाणां विचित्रता ।

आलयं हि तथा चित्रं विज्ञानाख्यं प्रवर्तते ॥” लंकावतार १०. ३८६, ३८७ ।

तत्त्वार्थश्लो० पृ० ११८. पं० १७ ।

४० ११५. पं० १०. ‘अहेः’ तुलना—

“तस्मात्तुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्प्रकः ।

पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलाविषु सर्पवत् ॥” श्लोकवा० आत्म० २८ ।

“यथाहेः कुण्डलावस्था व्यपैति तदनन्तरम् ।

सम्भवत्यार्जिषावस्था सर्पत्वं त्वनुवर्तते ॥” तत्त्वसं० का० २२३ । न्यायवि०

का० ११७ ।

४० ११५. पं० १२. ‘आविर्भावः’ तुलना तत्त्वसं० का० २६—२७ । सन्मति० टी० पृ० २९९. पं० २२ ।

४० ११५. पं० १९. ‘बुद्धिः’ तुलना—“बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ।” न्याय-सू० १.१.१५ ।

४० ११५. पं० ३०. ‘मिथ्यात्वमिति’ तुलना—द्रव्यास्तिकनयवादी सांख्योका खण्डन निम्न प्रन्थों में देखना चाहिए—ब्रह्मसू० शां० २. २. १—१० । प्रमाणवा० त्वो० कर्ण० पृ० ३२० । तत्त्वसं० का० ७—४५ । न्यायसं० वि० पृ० ४८७ । व्यो० पृ० ५४३ । कंदली० पृ० १४३ । आत्मी० का० ३७—४० । सन्मति० टी० पृ० २९६ । न्यायकु० पृ० ३५४ । प्रमेयक० पृ० २८५ । स्याद्वादसं० का० १५ ।

४० ११६. पं० २. ‘सर्वव्यापित्वं’ आत्माके परिमाणके विषयमें उपनिषद्के ऋषिओंने नाना कल्पनाएँ की हैं । किन्तु पर्यवसान उसे व्यापक माननेमें हुआ इसका प्रमाण दार्शनिक सूत्रोंमें मिल जाता है । क्योंकि वेदान्तसूत्रके व्याख्याता निंबार्क, मध्व, रामानुज और कृष्णके अलावा सभी दार्शनिकसूत्रकारोंने और उनके व्याख्याताओंने आत्माको व्यापक ही माना है और सिद्ध किया है । वैदिक दार्शनिक रामानुजादि और अवैदिक दार्शनिक जैनोंने क्रमशः आत्माको अणुपरिमाण और देहपरिमाण माना है । आत्माको अणुपरिमाण माननेकी तथा देहपरिमाण माननेकी परंपराका दर्शन उपनिषदोंमें होता है । किन्तु उपनिषद्काळके बादके सभी वैदिक दार्शनिक आत्माके परिमाणकी अन्य सभी कल्पनाओंका निरास करके उसे सिर्फ व्यापक मानने लगे ।

उपनिषदोंमें आत्मपरिमाणके विषयमें जो कल्पनाएँ की गई हैं वे ये हैं—

कौषितकी उपनिषद्के ऋषिके मतसे आत्मा शरीरव्यापी है । उनका कहना था कि जैसे झुरा अपने म्यानमें, जैसे अग्नि अपने कुण्डमें व्याप्त है वैसे ही आत्मा शरीरमें नख और रोम पर्यन्त व्याप्त होकर रहता है<sup>१</sup> ।

जैनाचार्योंका भी यही मत है ।

बृहदारण्यकमें कहा गया है कि आत्मा चावल या यवके दाने जितना है<sup>१</sup> ।

१. “तथाया झुरः झुरधाने हितः, चित्रंभरो वा चित्रंभरकुलावे एवमेवैव प्रज्ञात्मा हृदं शरीरमनुप्रविष्टं वा कोमम्यः वा नखेभ्यः” । कौषी० ४, २० । २. “यथा ग्रीहिर्वा यवो वा स एव सर्वस्वेजानः” बृहदा० ५.६.१ ।

अनेक बार विभिन्न उपनिषदोंमें यह कहा गया है कि आत्मा अंगुष्ठपरिमाण है<sup>१</sup> ।

छान्दोग्योपनिषद्में प्रादेशपरिमाण होनेका उल्लेख है<sup>२</sup> । प्रादेशका मतलब है बिड़स्त<sup>३</sup> ।

इसप्रकार परिमाणको उत्तरोत्तर बढ़ाते ऋषिओंकी कल्पना व्यापक तक पहुँच गई । मुण्डक उपनिषद्में कहा है कि आत्मा नित्य है, विमु है, सर्वगत है—“नित्यं विभुं सर्वगतम्” मुण्डको० १.१.६ ।

इसीको दार्शनिक ऋषिओंने अपनाया ।

प्रो० रानडेका कहना है कि इन परस्पर विरोधी मन्तव्योंमेंसे किसको ठीक मानना इसका जब निर्णय करना कठिन होगया तो किसीने कह दिया कि “शरीरप्रादेशांगुष्ठमात्रमणोर-  
व्यण्ड्यं ध्यात्वा”—मैत्री० ६.३८ इत्यादि ।

इतना ही नहीं किन्तु विरोधके समन्वयकी भावनासे किसीने तो यहाँ तक कह दिया कि आत्मा अणुसे भी छोटा है और महत्से भी महान् है<sup>४</sup> । किन्तु इस कथनकी संगति क्या हो सकती है इसका स्पष्टीकरण उपनिषदोंमें नहीं । यही कारण है कि बादके दार्शनिकोंने उसे सिर्फ व्यापक मानना ही उचित समझा ।

जैन दार्शनिकोंने देहपरिमाण और व्यापकताका समन्वय अपनी दृष्टिसे किया है । केवल-  
ज्ञानकी दृष्टिसे आत्माको व्यापक और आत्मप्रदेशकी दृष्टिसे अव्यापक—अर्थात् शरीरव्याप्त  
माना जा सकता है ऐसा द्रव्यसंग्रहकी वृत्तिमें ब्रह्मदेवने कहा है<sup>५</sup> ।

उपाध्याय यशोविजयने कहा है कि समुद्रात दशामें आत्मा लोकव्यापी होता है उसी बातको  
चढ़ाकर दूसरोंने आत्माको व्यापक माना है जो अर्थवाद मात्र है<sup>६</sup> । उन्होंने अन्यत्र आत्माकी  
लोकप्रमित प्रदेशमें व्याप्त होनेकी शक्तिके कारण उसे विमु कहा है और आवरणके कारण उसे  
देहपरिमाण माना है—

“शक्त्या विभुः स इह लोकमितप्रदेशः ।

व्यक्त्या तु कर्मकृतसौवशरीरमानः ॥” न्यायसूत्रण्डखाद्य ।

आत्माकी व्यापकताकी चर्चाके लिये देखो० वैशे० ७. १. २२ । व्यो० पृ० ४१० ।  
कंदली पृ० ८८ । न्यायमं० वि० पृ० ४६८ । प्रकरणपं० पृ० १५८ सन्मति० टी०  
पृ० १३३ । न्यायक० पृ० २६१ । प्रमेयक० पृ० ५७० । स्याद्वादमं० का० ९ ।

पृ० ११६. पं० ४. ‘यस्याप्यभ्युपगमः सोपि’ इसे इस प्रकार शुद्ध करना चाहिए—  
‘यस्याप्यभ्युपगमः [ प्रत्यक्ष आत्मा इति ] सोपि’

प्राचीन न्याय और वैशेषिक दर्शनमें आत्माका प्रत्यक्ष नहीं किन्तु अनुमान माना गया था

१. “अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति” । कठो० २.२.१२ । मैत्री० ६.३८ । २. “प्रादेश-  
मात्रमभिधिमानमात्मानम्” छान्दो० ५.१८.१ । मैत्री० ६.३८ । ३. अभिधानचि० ३.२५९ ।  
४. A Constructive survey of Upanishadic Philosophy—P. 138.  
५. “अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मास्तु अन्तोर्निहितो गुहायाम् ।” कठो० १.२.२० । छान्दो०  
३.१४.३ । ६. केवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे ज्ञानापेक्षया व्यवहारनबेल लोकालोकाव्यापकः, न च प्रदेशा-  
पेक्षया ।” द्रव्यसं० सू० गा० १० । ७. शास्त्रवा० यशो० टी० पृ० ३३८ ।

किन्तु उद्घोषितकर और उससे बाद के नवीन नैयायिकोंने आत्माका मानस प्रत्यक्ष माना है—  
देखो—प्रमाणमीमांसा भाषा० पृ० १३७ ।

पृ० ११६. पं० २०. 'सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात्' तुलना—“तथा धर्माधर्मयोरात्म-  
गुणत्वात् तदाभयस्याव्यापकत्वेन स्वावभेकाव्यवहलनम्, चायोस्तिर्यग्गमनम्, अनुमन-  
सोस्त्वाद्यं कर्मेति तयोः स्वाभयसंयोगापेक्षितत्वात् ।” व्यो० पृ० ४११ । सन्मति० टी०  
पृ० १४५ ।

पृ० ११७. पं० १. 'एकान्तामेदवादिनो' जो लोग उत्पाद और विनाशकृत मेद नहीं  
मानते उन्हें प्रस्तुतमें आचार्यने अमेदवादी कहा है । अर्थात् आकाश, काल, दिग्, आत्मा और  
मनको एकान्त नित्य माननेके कारण नैयायिक और वैशेषिक एकान्तामेदवादी हैं । और  
शब्दको एकान्तनित्य भी मांसक मानता है अतएव शब्दकी अपेक्षासे भी मांसक भी एकान्तामे-  
दवादी है । इसी दृष्टिसे 'एतेन आकाशकालदिगात्ममनःशब्दानां कैवल्यं औद्यमरूप-  
गच्छन्तोऽशुद्धनयवादिनो निरस्ताः' (पृ० ११६. पं० १) इस कथनको समझना चाहिए ।

पृ० ११७. पं० ४ 'विनाशस्याहेतुकत्वात्' दिग्गागादि बौद्धोंने वस्तुकी क्षणिकताको  
तार्किकभूमिका पर लेजाकर कहा है कि यदि वस्तुको अनित्य मानना हो तब उसकी स्थिति  
एक क्षण, जो कि अभिभाष्य समय रूप है, उससे अधिक नहीं मानी जासकती है । वह  
उत्पन्न हुई यही उसका विनाश है । यदि वह एकाधिक क्षण स्थायी होजाय तब वह नित्य हो  
जायगी । यदि उसको अनित्य मानना हो तो उसके विनाशको उसके स्वभावरूप मानना होगा  
विनाश और वस्तुको अभिन्न मानना होगा ।

उत्पत्ति और विनाशका काल एकही है । अतएव फलित यही होता है कि जिन कारणोंसे  
वस्तु उत्पन्न हुई तदतिरिक्त कारणोंकी आवश्यकता विनाशके लिये नहीं—ऐसा मन्तव्य दिग्गाग  
का रहा होगा इसका पता उद्घोषितकरके “अथोत्पन्नः विनष्टः इत्येककालः । उत्पत्तिविनाशो  
एककालौ” (न्यायभा० पृ० ४१५) इस बौद्धपूर्वपक्षसे चलाता है । इसी निहेतुक विनाश-  
वादका समर्थन धर्मकीर्ति आदिने किया है—

“अहेतुत्वाद्विनाशस्य स्वभावावबुद्धिः ।

सावेक्षणां हि भाष्यानां नावश्यमावतेत्यते ॥” प्रमाणवा० ३.१९३ ।

“येषां तावत् विनाशो दृश्यते तेषां यदि न प्रतिकर्षणं विनाशः स्यात् तदा विनाशप्रती-  
तिरेव न स्यात् । तथा हि यदि द्वितीये क्षणे भावस्य स्थितिरादासी संप्रदेव तिष्ठेत् ।  
द्वितीयेऽपि क्षणे क्षणद्वयस्यापि स्वभावत्वात् । तदा च तेनापरक्षणद्वयं स्वातन्त्र्यम्—इति  
न विनाशो भावस्य स्यात् । दृश्यते च । तस्मात् विनाशप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या प्रतिकर्षण-  
विनाशानुमानम् ।” प्रमाणवा० स्त्रो० कर्ण० पृ० ३६९ । हेतुवि० टी० पृ० १४१ ।

इन तार्किक बौद्धोंने सत्त्व और क्षणिकत्वका अविनाभाव माना है । ऐसा कोई सत् नहीं  
जो क्षणिक नहीं । संस्कृत—असंस्कृत सभी—वस्तुएँ यदि सत् हैं तो क्षणिक ही मानना चाहिए ।  
अन्यथा असत् ही होंगी—“यत् सत् तत् क्षणिकमेव” हेतु० पृ० ४४ ।

१ “न चात्र विनाशो नाम कश्चिद्, भाव एव हि नाशः ।” प्रमाणवा० स्त्रो० पृ० ३६६ । “नो हि  
भावः क्षणस्वभावी विनाश इति गीयते ।” तत्त्वसं० का० ३७५ । “तत् स्वभाववत् तदव्यतिरेकिणो  
भावस्य पक्षिण्यतो एव निष्पद्यत्वात् ।” तत्त्वसं० पं० का० ३७६ ।

“यदि तु व्योमकालाद्याः सन्तः स्युस्तु तथा सति ।  
नातिकामन्ति तेऽप्येन क्षणभङ्गं कृता इव ॥ ३९१ ॥  
तथा हि सन्तो ये नाम ते सर्वे क्षणभङ्गिनः ।  
तद्यथा संस्कृता भावास्तथासिद्धा भवन्तरम् ॥ ३९२ ॥  
सन्तश्चामी त्वयेष्यन्ते व्योमकालेभ्यरावयः ।  
क्षणिकत्वविद्योने तु न ससैषां प्रसज्यते ॥ ३९३ ॥ तत्त्वसं० ।

शान्तरक्षितने क्षणिक शब्दका अर्थ भी स्पष्ट कर दिया है—

“उत्पादान्तरास्यापि स्वरूपं यच्च वस्तुनः ।  
तदुच्यते क्षणः सोऽस्ति यस्य तत् क्षणिकं मतम् ॥ ३९८ ॥  
अस्तस्यप्यर्थमेवे च सोऽस्त्यस्येति न बाध्यते ।  
इच्छारक्षितसङ्केतमात्रभावि हि वाचकम् ॥ ३९९ ॥” तत्त्वसं० ।

अब प्रश्न यह है कि क्या दिग्गादि योगाचार-सौत्रान्तिक बौद्धोंने क्षणिकताका जैसा अर्थ लिया है और उसकी जैसी सर्ववस्तुमें व्याप्ति मानी है, वैसाही अर्थ और उसकी वैसीही व्याप्ति भगवान् बुद्धको अभिप्रेत थी ? ।

उत्तर स्पष्ट है, कि ऐसा नहीं था । इस विषयमें प्रथम यह बात ध्यान देनेकी है कि भगवान् बुद्ध ने उत्पाद, स्थिति और व्यय इन तीनोंके भिन्न क्षण माने थे ऐसा अंगुत्तरनिकाय और अभिधर्मग्रन्थोंके देखनेसे प्रतीत होता है । अंगुत्तरमें संस्कृतके तीन लक्षण बताये गये हैं संस्कृत वस्तुका उत्पाद होता है, व्यय होता है और स्थितक अन्यथात्व होता है<sup>१</sup> । इससे फलित होता है कि प्रथम उत्पत्ति फिर जरा और फिर विनाश इस क्रमसे वस्तुमें अनित्यता—क्षणिकता सिद्ध है । उत्पत्ति, स्थिति और विनाश एककालिक नहीं । उत्पत्ति, स्थिति और विनाशके तीन क्षण भिन्न होते हैं ऐसा अभिधम्मत्थ संग्रहमें चित्तकी आयु बताते हुए स्पष्टरूपसे कहा है । और चित्त ही सब वस्तुमें चञ्चल अधिक है । अर्थात् चित्तक्षण क्षणिक है इसका मतलब है कि वह तीन क्षणतक है । प्राचीन बौद्धशास्त्रमें मात्र चित्त—नाम ही को योगाचारकी तरह वस्तुसत् माना नहीं है किन्तु नामके अतिरिक्त रूप—बाह्य भौतिक पदार्थ भी—वस्तुसत् माना है और उसकी आयु योगाचारकी तरह एकक्षण नहीं, खसमत चित्तकी तरह त्रिक्षण नहीं किन्तु १७ क्षण मानी गई है । ये १७ क्षण भी समयके अर्थ में नहीं किन्तु १७ चित्तक्षणके अर्थमें लिया गया है अर्थात् वस्तुतः एकचित्तक्षण = ३ क्षण होनेसे ५१ क्षणकी आयु रूपकी मानी गई है<sup>२</sup> ।

यदि अभिधम्मसंग्रहकारने जो बताया है वैसा ही भगवान् बुद्धको अभिप्रेत हो तो कहना होगा कि बुद्धसमत क्षणिकता और योगाचारसमत क्षणिकतामें महत्त्वपूर्ण अन्तर है ।

दूसरी बात यह है कि योगाचारसे भी प्राचीन सर्वास्तिवाद है । उस वादमें भी प्राचीन मार्गका अवलंबन दिखाई देता है । सर्वास्तिवादांजने योगाचारकी तरह मात्र विज्ञान—नामको ही वस्तुसत् नहीं माना किन्तु नाम और रूप दोनोंको पारमार्थिक माना है । इतना ही नहीं

१. “तिप्पीमालि भिक्खवे संजलसस संजलक्षणाणि ।...उत्पादो पज्जायति, यवो पज्जायति, ठितस्स अज्जयत्तं पज्जायति ।” अंगुत्तर० तिकनिपाट । २. “उत्पादति विज्जवसेन ज्ञानत्थं एकचित्तक्षणं नाम । तालि एव सत्तरस चित्तक्षणानि रूपमन्नाम आयु ।” अभिधम्मसंग्रहो ४.८ ।

किन्तु दोनोंकी क्षणिकताकी कल्पनामें भी अनील-आसमानका अन्तर है । योगाचारने निरपवादरूपसे सर्वक्षणिकताका सिद्धान्त स्वीकार किया है । उसके मतमें सत्त्व और क्षणिकताकी व्याप्ति है<sup>१</sup> । इसके विरुद्ध सर्वास्तिवादियोंके मतसे सत्त्व की त्रैकालिक अस्तित्वसे व्याप्ति है । जो सत्त्व है अर्थात् वस्तु है वह तीनों कालमें अस्ति है । 'सर्व' वस्तुको तीनों कालमें 'अस्ति' माननेके कारण ही उस वादका नाम सर्वास्तिवाद पड़ा<sup>२</sup> है । वस्तुकी विभिन्न अवस्थाएँ ही अनित्य हैं क्षणिक हैं<sup>३</sup>, वस्तु तो त्रिकालवर्ति होनेके कारण नित्य है ।

सर्वास्तिवादियोंने रूपपरमाणुको नित्यमानकर उसीमें पृथ्वी, अप्, तेज और वायुरूप होनेकी शक्ति मानी है<sup>४</sup> । यही मत जैनोका भी है । और सांख्योका भी यही मत है कि एक ही प्रधानमें पांचोभूतरूपसे आविर्भूत होनेकी योग्यता है । मूलतत्त्व एक ही है । सर्वास्तिवादी, जैन और सांख्य ये तीनों मूलतत्त्वको समान रूपसे नित्य मानते हैं ।

सर्वास्तिवादियोंने नैयायिकोंके समान परमाणुसमुदायजन्य अवयवीको अतिरिक्त नहीं किन्तु परमाणुसमुदायहीको अवयवी माना है । दोनोंने परमाणुको नित्य मानते हुए भी समुदाय और अवयवीको अनित्य माना है । सर्वास्तिवादियोंने एक ही परमाणुकी अन्य परमाणुके संसर्गसे नाना अवस्थाएँ मानी हैं और उन्हीं नाना अवस्थाओंको या समुदायोंको अनित्य माना है,<sup>५</sup> परमाणुको नहीं ।

सर्वास्तिवादका यह परमाणुसमुदायवाद सांख्योके प्रकृति-परिणामवादसे, जैनोके द्रव्य-पर्यायवादसे और मीमांसकोंके अवस्था-अवस्थातावादसे जितना अधिक सन्निकट है उतनाही अधिक दूर वह योगाचारके क्षणिकैकान्तवादसे है । परमाणुसमुदायकी क्षणिकताको योगाचारने तर्ककी भूमिका पर लेजाकर क्षणिकैकान्तवादकी कोटिमें रख दिया और परमाणुकी वास्तविक नित्यताको काल्पनिक सन्तानमें सन्निहित कर दिया । परिणाम यह हुआ कि सर्वास्तिवाद और योगाचारका मार्ग अलग-अलग विरुद्ध हो गया । मगवान बुद्धके एकही अनित्यताके उपदेशको एकने समुदायमे घटाया तो दूसरोने सर्व वस्तुओंमें स्थापित किया ।

सर्वास्तिवादका समावेश हीनयानमें किया जाता है । महायानी विद्वानवाद और माध्यमिकोंके संवृतिसत्य और पारमार्थिक सत्यके सिद्धान्तको अश्वघोषने स्फुट किया है । और अधिक तर्कसंगत करके उस सिद्धान्तको भूततथतावादमें उसने परिणत कर दिया है । इस भूततथतावादको महायानके अन्यवादोंकी तुलनामें उच्च स्थान प्राप्त है । इतना ही नहीं किन्तु वह वाद संपूर्ण विकसित महायान समझा जाता है<sup>६</sup> । इस भूततथतावादका प्रतिपादन अश्वघोषने अपने ग्रन्थ Awakening of Faith ( श्रद्धोत्पादशास्त्र<sup>७</sup> )में किया है ।

१. तत्त्वसं० का० ३२१-३२४ । २. It means rather the doctrine which lays down that substance of all things has a permanent existence throughout the three divisions of time." Systems of Buddhist Thought, p. 103. ३. वही p. 134, 137 etc. ४. वही पृ० १२५ । ५. वही पृ० १२१, १३७ आदि । ६. Systems of Buddhist Thought, p. 252. ७. मूलसंस्कृत ग्रन्थ लुप्त है । परमार्थ और शिक्षाप्रदके चीनी अनुवादके आधारसे सुझावने अंग्रेजी अनुवाद किया है ।

भूततथतावादका प्रतिपादन पढ़ते हुए जैनों के द्रव्य-गुण-पर्यायवादका निश्चय और व्यवहारनयसे किया हुआ विचार सामने आ जाता है ।

जैन संमत आत्माकी तरह भूततथताके दो रूप अन्वेषणमें बताये हैं । पारमार्थिक और सांस्कृतिक—व्यावहारिक । पारमार्थिक भूततथता वह है जो विश्वका परमतत्त्व है । और व्यावहारिक भूततथता संसारके रूपमें है अर्थात् जन्म और मृत्युके रूपमें । जैनोंने जिसे नैश्चयिक आत्मा कहा है वही रूप भूततथताका है । फर्क यही है कि जैनोंने नैश्चयिकआत्माको एकमात्र परमतत्त्व नहीं माना । तदतिरिक्त एक अजीवतत्त्व भी माना है । अथवा एक दूसरी दृष्टिसे देखा जाय तो कुन्दकुन्दाचार्य जिसे सत् कहते हैं वही भूततथताके निकट है । सांख्योंकी प्रकृति जो समस्तभौतिकपदार्थ और चित्तका मूलतत्त्व है वह भी भूततथताके समीप है ।

भूततथताके व्यावहारिकरूप अर्थात् सांस्कृतिकरूप संसारके मुख्य तीन रूप है—द्रव्य, गुण और क्रिया । संसारकी अर्थात् व्यवहारकी ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें ये तीन न हों । गुण और क्रिया (भाव—पर्याय) उत्पत्ति और विनाशको प्राप्त होते हैं किन्तु द्रव्य ध्रुवमावी है । व्यावहारिक आत्माका जो रूप जैनोंने माना है या सांख्योंने प्रपञ्चका जो रूप माना है उसके समीपका यह भूततथताका सांस्कृतिकरूप है ।

योगाचार बौद्धोंने एकान्तमेदको ही परमतत्त्व माना है । विज्ञानाद्वैतका मतलब ब्रह्माद्वैतकी तरह एक मात्र विज्ञानका अस्तित्व तो है किन्तु इसका मतलब यह कदापि नहीं कि सब विज्ञान भी एक हैं । धर्म की र्तिने सन्तानान्तरसिद्धि लिखकर इस वक्तव्यको स्पष्ट किया है जिससे यह स्पष्ट है कि विज्ञानाद्वैत मानकर भी योगाचार एकान्त अमेदवादी नहीं किन्तु मेदवादी है । जबकि इसके विपरीत भूततथतावादके अनुसार परम तत्त्वमें सबका समन्वय है । और वह सांख्योंकी प्रकृतिके समान और जैनोंके सामान्य द्रव्यके समान निश्चय है ।

बौद्धोंके ऐसे सिद्धान्तोंकी तुलना जब हम दिग्नागादि प्रतिपादित पूर्वोक्त धर्मिकैकान्तवादसे करते हैं तब यही कहना पड़ता है कि भगवान् बुद्धको अभिप्रेत वही हो सकता है जो सर्वस्तिवाददि प्राचीनवादोंमें प्रतिपादित है ।

अतएव 'विनाशस्य अहेतुकत्वात्' जैसे धर्मिकैकान्तके साधक हेतुका प्रयोग दिग्नागादि तार्किक योगाचारोंके ग्रन्थोंमें ही मिले तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं । इस हेतुका खण्डन उद्घोषितकर तथा कुमारिल आदिने किया है । इससे वह धर्मकीर्तिसे पड़लेके बसुबन्धु और दिग्नागके ग्रन्थमें होना चाहिए । उसीका उपयोग धर्मकीर्तिने भी किया है यह स्पष्ट है ।

१. वही पृ० २५४ पं० १६ । २. वही पृ० २५४ । ३. वही पृ० २५५ ।

v. "Bhūtatathatā implies oneness of the totality of things or Dharmadhatu—The great all-including whole, the quintessence of the doctrine. For the essential nature of the Soul is uncreated and eternal." Awakening of faith p. 55-56. Systems of Buddhist Thought p. 255 ।

५ न्यायवा० पृ० ४१३ । श्रुतवा० शब्दनि० २४ । १. "तदेवं विनाशं प्रत्यक्षेणामसामर्थ्य-वेद्यमानां तदेवयोगेन कृतककणस्य सत्त्वका पूर्वाचार्यद्विजां प्रतिपाद्य"—हेतुविशुद्धीका पृ० १४३ । प्रमाणवा० ३.१९३, २३९ ।

धर्मकीर्तिके बादके सभी दार्शनिकोंने उक्त क्षणिकसाधक हेतुका निरास करनेका प्रयास किया है ।

पृ० ११७. पं० ५. 'ये यद्भावम्' तुलना—“प्रयोगस्तु एवम्—ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षाः ते तद्भावनियताः । तद् यथा भवत्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने” हेतुवि० टी० पृ० १४३ । प्रमाणवा० स्तो० कर्ण० पृ० ३६१ ।

पृ० ११७. पं० १०. 'कालान्तरस्यापित्वे' तुलना—हेतुवि० टी० पृ० १४१ । देखो, प्रस्तुत टिप्पण पृ० २८० “तेषां तावद्विनाशो दृश्यते तेषां यदि न प्रसिद्धिपणं विनाशः स्यात् तदा विनाशप्रतीतिरेव न स्यात् । तथाहि यदि द्वितीये क्षणे भावस्य स्थितित्वात्सौ सर्वदैव तिष्ठेत् । द्वितीयेपि क्षणे क्षणद्वयस्यापि स्वभावत्वात् ।” प्रमाणवा० स्तो० कर्ण० पृ० ३६९ ।

पृ० ११७. पं० १५. 'किं पर्युदासरूपः' तुलना—हेतुवि० टी० पृ० ८० ।

पृ० ११७. पं० २६. 'अथ प्रसज्यरूपम्' तुलना—हेतुवि० टी० पृ० ८० । प्रमाणवा० कर्ण० पृ० ३६७ ।

पृ० ११७. पं० २९. 'केनचिद्रूपेण' तुलना—“केनचिद्रूपेणोन्मज्जनम् हि भवन्नम् ।” हेतुवि० टी० पृ० ८१ पं० १० ।

पृ० ११८. पं० १०. 'यद्यहेतुत्वं' तुलना—“यद्यकारणत्वाभिस्यो विनाशः, कार्यस्योत्पादो न प्राप्नोति । उत्पन्नस्य च भावस्य विनाशेन सहावस्थानमिति च दोषः । ततश्च भावानामभावाविरोधावत्यन्तमवस्थानमिति । अथास्तन् विनाशः, एवमपि सर्वनित्यत्वं विनाशाभावात् ।” न्यायवा० पृ० ४१४ ।

पृ० ११७. पं० १४. 'अथ' तुलना—“परस्य स्वकारणव्यतिरिक्तस्योत्तरकालं मुद्रावेर्नाशकस्याभावाद्हेतुकमिच्छामः ।” तत्त्वसं० पं० पृ० १३८ ।

पृ० ११८. पं० १९. 'स्वहेतोः' तुलना—“न हि नाशो भावानां कुतश्चिद् भवति । तद् भावस्वभावो भवेद् भावस्यैव स्वहेतुभ्यः तद्वर्त्मणो भावात् ।” प्रमाणवा० स्तो० पृ० ५१० ।

पृ० ११८. पं० १९. 'न पुनः' तुलना—“न तस्य किञ्चिद्भवति न भवत्येव केवलम्” प्रमाणवा ३.२७७ । “न ह्ययं विनाशोऽन्यो वा कश्चिद्भवतीत्याह । किन्तर्हि । स एव भावो न भवतीति ।” वही० स्तो० पृ० ५२३ । “तेनायमर्थः प्रथमे क्षणे भावोऽभूतो भवति । द्वितीये क्षणे तस्य न भावो भवति नाभावो वा नापि स्वरसहानिर्वा भवति । केवलं स्वयमेव निवर्तते ।” कर्ण० पृ० ५२३ ।

पृ० ११८. पं० २४. 'अथ' तुलना—“नाशस्तु प्रसज्यप्रतिषेधरूपो निःस्वभावत्वात्” मनो० ३.२७८ ।

पृ० ११९. पं० ८. 'पर्युदास' तुलना—“पर्युदास एवैको न अर्थश्च स्यात् । सर्वत्र विधेः प्राधान्यात् । सोऽपि वा न भवेत् । यदि हि किञ्चित् कुतश्चित् निवर्त्येत तदा तस्य-

१. व्यो० पृ० ३९९ । न्यायमं० वि० पृ० ६१, ४५७ । तात्पर्य० पृ० ४५७ । प्रकरणपं० मीमांसाजीवरक्षा पृ० ७ । शास्त्रदी० पृ० १४५ । अष्टशं का० ४१ । सन्मति० टी० पृ० ३८८ । न्यायकु० पृ० ३८६ । स्याद्भावरं पृ० ७८७ ।

तिरेकि संस्पृश्यैत तत्पर्युदासेन । तच्च नास्ति । सर्वत्र निवृत्तिर्भवति इत्युक्ते वस्तुवत्सर-  
स्यैव कस्यचित् विधानात् ।” हेतुजि० टी० पृ० ८१ । कर्ण० पृ० ५२४ ।

पृ० ११९. पं० ९. ‘तद्व्यतिरेकि’ अशुद्ध है । इस प्रकार शुद्ध करना चाहिए—  
“तद्व्य[त्तिरेकि]” देखो, ऊपरका टिप्पण ।

पृ० १२०. पं० २. ‘जीणाममोक्षम्’ जीमोक्षकी दार्शनिक चर्चा संस्कृतमें शाकटायनने  
सर्वप्रथम की हो ऐसा जान पड़ता है । उनके पहले चर्चा चल पड़ी थी । इसमें तो संदेह  
नहीं किन्तु उस चर्चाको व्यवस्थित रूप सर्व प्रथम उन्होंने दिया है यह इसलिये संभव जान  
पड़ता है कि जीमोक्षका समर्थन करनेवाले भेताम्बर दार्शनिक ग्रन्थ और जीमोक्षका  
विराकरण करनेवाले समस्त दिगम्बर दार्शनिक ग्रन्थ शाकटायनके जीमुक्ति प्रकरणको ही  
आधारभूत मानकरके चलते हैं । भेताम्बर अपने पक्षके समर्थनमें उक्त प्रकरणका उपयोग करते  
हैं और दिगम्बर उक्त प्रकरणकी प्रत्येक युक्तिको पूर्वपक्षमें रखकर उसका खण्डन करते हैं ।

आचार्य जिनभद्रने युक्तिपुरःसर वक्ताका समर्थन करनेका प्रयत्न किया है किन्तु जीमुक्तिकी  
चर्चा उन्होंने नहीं की । आचार्य कुन्दकुन्दने इस प्रश्नको उठाया है किन्तु वह दार्शनिक  
ढंगकी चर्चा न होकर आगमिक मालूम होती है । उनके बादही इस चर्चाने गंभीर रूप  
पकड़ा है इसमें तो संदेह है ही नहीं । पूज्य पाद जैसे आचार्य मात्र निषेध करके ही चुप रह  
जाते हैं विशेष युक्ति नहीं देते । अकलंक ने भी विशेष चर्चा नहीं की ।

प्रतीत होता है कि जीमुक्तिकी चर्चा प्रथम यापनीय और दिगम्बरोंके बीच शुरू हुई ।  
यापनीयोंने जीमोक्षका समर्थन किया । उन्होंनेकी युक्तिओंको भेताम्बरोंने अपमाया । आचार्य  
हरिभद्रने इस चर्चाको भेताम्बरीय ग्रन्थोंमें प्रविष्ट की हो ऐसा जान पड़ता है । आचार्य  
हरिभद्रने इस चर्चाको यापनीयोंसे लिया है इस विषयमें सन्देहको स्थान नहीं । क्योंकि  
उन्होंने छलितविस्तरामे इस विषयमें प्रमाणभूत यापनीय तत्त्वको साक्षी रूपसे उद्धृत किया है ।  
छलितविस्तरा पृ० ५७ ।

इसके बाद तो यह चर्चा मुख्य रूपसे भेताम्बर और दिगम्बरोंके बीच हुई है । किन्तु  
दोनोंकी चर्चाकी मूल मिति शाकटायनका जीमुक्तिप्रकरण ही रहा है । उसीके आधार पर  
अभयदेव, प्रभाषन्द्र, वादीदेवसूरि और यशोविजयजीने इस चर्चाको उत्तरोत्तर पल्लवित की है ।

प्रस्तुतमें शास्त्राचार्यने भी मुख्यरूपसे शाकटायनके प्रकरणको ही पूर्वोत्तरपक्षकी चर्चाका  
आधार बनाया है जो तुलनासे स्पष्ट होगा ।

पृ० १२०. पं० ५. ‘रत्नत्रयस्य’ तुलना—

“अस्ति जीनिर्वाणं पुंश्च यद्विकलहेतुकं स्त्रीषु ।

न विरम्यते हि रत्नत्रयसंपत् निर्बृतेहेतुः ॥” जीमु० २ । सन्मति० टी० पृ०

७५२ । न्यायकु० पृ० ८४५ ।

१. देखो जीमुक्तिप्रकरणमें पूर्वपक्ष । २. विशेषा० गा० २५५८ से । ३. सूत्रप्राकृत ( वटप्राकृत-  
तान्तर्गत ) गा० २३-२६ । ४. सर्वार्थ० १०.९ । राजवा० पृ० ३६६ । ५. सन्मति०  
टी० पृ० ७५१ । न्यायकु० पृ० ८६५ । प्रमेयक० पृ० ३२८ । शास्त्रवा० यशो० पृ० ४२४-  
४३० । स्याद्वावर० ( उद्धृत ) पृ० ११२२ ।



पृ० १२०, पं० ९. 'यद्विकल' तुलना - सन्मति० टी० पृ० ७५२ पं० १० ।

पृ० १२०, पं० ५. 'अमबोऽभिहिते' तुलना -

"रत्नत्रयं विकलं क्रीत्वेन यथामरादिभावेन ।

इति वाक्यात् न तत्र प्रमाणमासागमोऽव्यङ्ग्यः ॥

आनीते जिनवचनं भ्रष्टे चरति धार्मिकाऽक्षयलम् ।

नास्यास्यसंभवोऽस्यां नाद्विरोधगतिरस्ति ॥" स्त्रीमु० ३, ४ ।

पृ० १२०, पं० ११. 'अथावस्तात्' तुलना -

"सप्तमपृथिवीगमवायभाषमव्याप्तमेव मन्यन्ते ।

विर्वाणामावेनापश्चिमतन्वो न तां यान्ति ॥" स्त्रीमु० ५ । सन्मति० टी० पृ०

७५२, पं० ३६ । प्रमेयक० पृ० ३२८ । न्यायकु० पृ० ८६६ ।

पृ० १२०, पं० २४. 'नोत्कृष्टभुता' तुलना -

"वादविकुर्बणत्वादिलिखिविरहे भुते कनीयसि च ।

जिनकल्पमनःपर्ययविरहेषि न सिद्धिविरहोऽस्ति ॥

वादादिलिख्यभाववद् अभविष्यद् यदि च सिद्धभावोपि ।

तासामभारविष्यद् यथैव अम्बूयुगादारात् ॥" स्त्रीमु० ७, ८ । न्यायकु०

पृ० ८६७ ।

पृ० १२०, पं० २५. 'न च वस्त्रेण' तुलना -

"यदि वस्त्राद्विमुक्तिः त्यजेत तद्, अथ न कल्पते दातुम् ।

उत्सङ्गप्रसक्तिकेचनवद्, अन्यथा दूषको दूष्येत ॥" इत्यादि

स्त्रीमु० १०-२१ । सन्मति० टी० पृ० ७४७, ७४९ । न्यायकु० पृ० ८६८ ।

प्रमेयक० पृ० ३३० ।

पृ० १२१, पं० १२. 'अवन्धाः' तुलना -

"अप्रतिबन्धत्वात् चेत् संयतवर्गेण धार्मिकासिद्धिः ।

बन्धतां ता यदि ते नोनत्वं कल्प्यते तासाम् ॥"

इत्यादि स्त्रीमु० २४-२६ । सन्मति० टी० पृ० ७५४ । न्यायकु० पृ० ८६९ ।

प्रमेयक० पृ० ३३० ।

पृ० १२१, पं० १८. 'अतिसंक्लिष्टत्वात्' तुलना -

"महता पापेन क्रीमिस्थात्वसहायकेन न सुदृष्टिम् ।

क्रीत्वं चिन्तयति, तत्र तदङ्गे क्षपणेऽपि निर्माणम् ॥" स्त्रीमु० ३३ ।

पृ० १२१, पं० १९. 'मायाप्रधानत्वात्' तुलना -

"मायादिः पुरुषाणामपि देशाधि( देशादि )प्रसिद्धभावश्च ।

वर्णां संस्थानानां तुल्यो वर्णत्रयस्यापि ॥" स्त्रीमु० २८ । सन्मति० टी० पृ०

७५४ । न्यायकु० ८६९ ।

पृ० १२१, पं० २०. 'शीलाम्बु' तुलना - स्त्रीमु० २९-३०, ३२ ।

पृ० १२१, पं० २५. 'अङ्गसमय' तुलना - स्त्रीमु० ३५-४० ।

पृ० १२२, पं० ६. 'चतुर्दश' तुलना - स्त्रीमु० ४१ ।



# परिशिष्ट

## १. न्यायावतारकी तुलना ।

कारिका १. “स्वपराव्यवसायकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ।” बृहत्सू० ३३ ।

“प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्वे प्रमाणे तथा भवे” बृह० ५५ ।

“प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः ।

परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः ॥” लघी० ३ ।

“प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लवम् ।

परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः ॥” प्रमाणसं का० २ । न्यायवि०

४४९, ४७० ।

“व्यवसायात्मकं ज्ञानमार्याप्राप्तकं मतम् ।

ब्रह्मणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते ॥

तत्प्रत्यक्षं परोक्षं च द्विवैद्यान्नान्यसंविदाम् ।

मन्तर्भावाच्च युज्यन्ते नियमाः परकदिपताः ॥” लघी० ३०, ३१ ।

“स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।

तद्वैद्या । प्रत्यक्षेतरमेदात् ॥” परी० १.१; २.१, २ ।

“स्वपरव्यवसायि प्रमाणम् ।” प्रमाणन० १.२ ।

“तत् द्विमेवं प्रत्यक्षं च परोक्षं च ॥” प्रमाणन० २.१ ।

प्रमाणलक्ष्मणी प्रथम कारिका यही है । वार्तिक और वृत्तिकार शान्त्याचार्य और प्रमाणलक्ष्मकार जिनेश्वरने ‘द्विधा मेयविनिश्चयात्’ इस पद्यांशको प्रमाणविप्लववादके अर्थमें व्याख्यात किया है और तात्पर्य निकाला है कि प्रमाणमेद प्रमेयमेदाधीन है, देखो, टिप्पण पृ० २१७-२१८ ।

इस सिद्धान्तके लिये तुलना करो, दिग्भाग-प्रमाणसमु० वृ० १. २ ।

“न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः ।

तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥

इयेकसंख्यानिरासो वा प्रमेयद्वयदर्शनात् ।” प्रमाणवा० २.३३, ३४ ।

“मानं द्विविधं विषयद्वैविध्यात् ।” वही २.१ ।

का० २-३. “शास्त्रं मोहनिवर्तनम्” प्रमाणवा० १.७ ।

“असंमोहाय लक्षणम्” प्रमाणवा० ४.२८ ।

“यदि तर्हि व्यवहारेण प्रामाण्यं प्रमाणलक्षणशास्त्रं तर्हि किमर्थम्? शास्त्रं हि निर्द्वै(?)ष्ट मयि न वचनमात्रात् तथा भवति अपि तु व्यवहाराविसंवादादेव । स चेदस्ति व्यर्थकं शास्त्रमित्याह “शास्त्रं मोहनिवर्तनम्”-प्रमाणवा० अ० पृ० ३६ । पृ० ७७४ ।

“धर्मार्थिभिः प्रमाणावेर्लक्षणं न तु युक्तिमतः ।

प्रयोजनाद्यभावेन तथा चाह महामतिः ॥

प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारस्य तत्कृतः ।

प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम् ॥” हरि० अष्टक० १३.४.५ ।

“प्रामाण्यं यदि शास्त्रगम्यमथ न प्राणर्थसंवादानात्,

संख्यालक्षणगोचरार्थकथने किं कारणं चेत्तस्मात् ।

या ज्ञातं सकलानामार्थविषयज्ञानाविरोधं बुधाः,

प्रेक्षन्ते तदुदीरितार्थगहने सन्देहविटिष्ठतये ॥” न्यायवि० ३८.५ ।

का० ४. यही कारिका पददर्शनसमुच्चयमें शब्दशः है—पद० का० ५३ ।

“प्रत्यक्षं विद्युत् ज्ञानम्” लघी० ३ ।

“अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिमासमम् ।

तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम् ॥” लघी० ४ ।

“प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमज्ञता ।” न्यायवि० ३ ।

“प्रत्यक्षमज्ञता स्पष्टम्” लघी ४६९ ।

“साक्षात्प्रतिर्हि प्रत्यक्षम्” प्रमाणना० अलं० पृ० ३१ ।

“एवं तर्हि कथं प्रत्यक्षानुमानयोः लक्षणमेव । उक्तमत्र । स्पष्टेतरप्रतिमासमेदात् ।”

लघी पृ० ३०७ ।

विशेष तुलनाके लिये देखो ‘वैशद्य’ शब्दका टिप्पण पृ० २३७ ।

का० ५. “त्रिरूपास्त्रिगतोऽर्थदृक्” प्रमाणसमु० परि० २ । न्यायवि० पृ० २९

न्यायप्र० पृ० ७. पं० १४ ।

“लिङ्गात् साध्यादिप्रामाण्यमिन्द्रियैकलक्षणात् ।

लिङ्गिधीरनुमानम् ॥” लघी० १२, १३ । न्यायवि० १७० । परी० ३.१४ ।

प्रमाणन्त० ३.१० । प्रमाणसी० १.२.१३ । प्रमाणलक्ष्म २१, ४५ ।

का० ५-७. यहाँ प्रो० वैद्य और जेकोबीका यह कहना है कि प्रस्तुतमें जो अनुमानमें भ्रान्तताका निवारण किया गया है वह धर्मकीर्तिके मतका निराकरण है क्योंकि धर्मकीर्तिने ही सर्व प्रथम प्रत्यक्षको अभ्रान्त कह कर यह सूचित किया था कि अनुमान भ्रान्त होता है ।

अन्य सुनिश्चित प्रमाणोंसे जब सिद्धसेनका समय धर्मकीर्तिके पूर्वमें ही स्थिर होता है तब प्रस्तुतमें यह दलील नहीं दी जा सकती कि इन कारिकाओंमें धर्मकीर्तिका खण्डन है । तब भी इस अभ्रान्तपदके विषयमें जो यह कहा जाता है कि सर्व प्रथम धर्मकीर्तिने ही इसे प्रत्यक्ष लक्षणमें प्रयुक्त किया है, उसका भी निराकरण आवश्यक है । प्रत्यक्ष लक्षणमें अभ्रान्त पदकी योजनाका इतिहास बताते समय प्रो० चारबिदस्कीने स्पष्ट ही कहा है कि सर्वप्रथम असंगने अभ्रान्तपदका ग्रहण किया था । किन्तु दिग्भागेने उसे अनावश्यक समझ छोड़ दिया । और फिर धर्मकीर्तिने उसका ग्रहण किया ।

वस्तुतः असंगसे भी पहले सौत्रान्तिक मैत्रेयनाथने उसका ग्रहण प्रत्यक्ष लक्षणमें किया था । इतनाही नहीं किन्तु धर्मकीर्तिके ‘तिमिरांशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहितविभ्रमम्’

१. Buddhist Logie Vol. I. p. 155. Sanmati Tarka-Intro. p. 13.

२. Journal of the Royal Asiatic Society 1929. p. 464.

( न्यायवि० पृ० १३ ) इस सूत्रका बूल भी उतनाही पुराना है । मैत्रेयनाथने सात प्रकारके अम बताए हैं और उन अमोंसे रहितको अभ्रान्त कहा है ।

न्यायविन्दु टीकाटिप्पणमें मल्लवादीने कहा है कि वस्तुतः योगाचारकी दृष्टिसे प्रत्यक्ष लक्षणमें अभ्रान्त पद अनावश्यक होते हुए भी धर्मकीतिने सौत्रान्तिककी दृष्टिसे अभ्रान्त-पदका ग्रहण किया है । इससे स्पष्ट है कि अभ्रान्तपद यह धर्मकीर्तिकी नई सूत्र नहीं किन्तु योगाचारके पूर्ववर्ती सौत्रान्तिकका अनुकरण है । इस बातको प्रो० दूचीने स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया है ।

वस्तुतः देखा जाय तो योगाचार निरालम्बनवादी हैं । अतएव प्राक्षप्राहकमाधको लेकर जो भी प्रमाणप्रमाण व्यवहार है उसे भ्रान्त ही मानते हैं । उनके मतमें न सिर्फ अनुमान ही, न सिर्फ प्रत्यक्ष ही, किन्तु सभी बाह्यालम्बन प्रत्यक्ष भ्रान्त हैं । अनुमानके लक्षणको समाप्त करके श्रमप्राप्त प्रत्यक्षकी अभ्रान्तता सिद्ध करनेके बजाय अनुमानकी अभ्रान्तता सर्वप्रथम सिद्ध की गई है इसीसे यह अम होता है कि सिद्धसेन धर्मकीर्तिकी खण्डन कर रहा है क्योंकि धर्मकीर्तिके टीकाकारोंने प्रत्यक्षमें अभ्रान्तपद देखकर 'भ्रान्तं हि अनुमानं' ( न्याय-वि० टी० पृ० १३ ) कहा है तथा स्वयं धर्मकीर्तिने—“अभिप्रायाविर्वादादपि भ्रान्तेः प्रमाणता” ( प्रमाणवा० २. ५३ ) कहा है ।

सिद्धसेनने अनुमानको अभ्रान्त सिद्ध करने के लिये जो अनुमानप्रयोग किया है उसमें 'समक्ष'—प्रत्यक्षको इष्टान्त बनाया है । 'प्रत्यक्ष' को भी पूर्वपक्षीने भ्रान्त माना है । तभी सौ सिद्धसेनको यह कहना पड़ा है कि “न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं प्रमाणत्वविनिश्चयात् ।” ( ६ ) इत्यादि । पूर्वपक्षी सिर्फ अनुमान या सिर्फ प्रत्यक्षको ही भ्रान्त मानता हो यह बात नहीं किन्तु उसने तो सकल प्रतिमासको ही भ्रान्त माना है । तभी तो सिद्धसेन ने अन्तमें कह दिया कि “सकलप्रतिमासस्य भ्रान्तत्वासिद्धितः स्फुटम् ।” ( ७ ) इत्यादि । ऐसी स्थितिमें सिद्धसेनके सामने पूर्वपक्षीके रूपमें धर्मकीर्ति नहीं है क्योंकि उन्होंने तो प्रत्यक्षको स्पष्टरूपसे अभ्रान्त कहा ही है ।

अतएव जब अभ्रान्तपदका प्रयोग धर्मकीर्तिसे भी पहलेके मैत्रेयनाथके योगाचारभूमिशब्दमें मिलता है और धर्मकीर्तिकी खण्डन उपर्युक्त युक्तिसे संभव नहीं तब यही मानना पड़ता है कि प्रस्तुतमें योगाचार सम्मत निरालम्बनवादके 'सर्वमालम्बने भ्रान्तम्' इस सिद्धान्तका ही खण्डन है ।

योगाचारमतमें वस्तुके तीन प्रकारके स्वभाव माने गये हैं—कल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न । लोकमें जो वस्तुएँ भिन्न भिन्न आकार प्रकारकी दीखती हैं यही परतन्त्र स्वभाव है । परिनिष्पन्न—परमार्थ प्राक्षप्राहकभावशून्य है किन्तु सैद्धांतिक कारण प्राक्षप्राहकरूपसे परमार्थका ग्रहण होता है—यही तो अम है । इसका निरूपण अनेक प्रकारसे योगाचारके ग्रन्थोंमें हुआ है और इसी निरालम्बनवादका प्रस्तुतमें खण्डन है । अतएव यहाँ सिद्धसेनके पूर्ववर्ती ग्रन्थोंमेंसे कुछ अवतरण दिये जाते हैं—जिनमें अम-भ्रान्ति जैसे शब्दोंका ग्रहण हुआ है—

१. देवो, बही p. 464 । २. वही । ३. निवरणके लिये देवो. प्रमाणवा० अलं० पृ० ४१४ ।  
न्यायविन्दुटीकाटिप्पण पृ० १९ ।

पृ० ३४

“य एव कल्पितो भावः परतन्त्रः स एव हि ।” लंका० १०.२९८ ।

“भ्रान्तिनिमित्तं संकल्पः परतन्त्रस्य लक्षणम् ।” वही १०.१३८ ।

“तेन ग्राह्यग्राहकेण परतन्त्रस्य सत्त्वा सर्वकालमत्यन्तरहितता या स परिनिष्पन्न-  
भावः” विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि पृ० ४० ।

“भ्रान्तेः सन्निभयः परतन्त्रः” महायानसूत्रालंकार पृ० ५८ ।

“विद्यते भ्रान्तिभावेन यथाक्यान् न विद्यते ।

परतन्त्रो यतस्तेन सदसल्लक्षणो मतः ॥” त्रित्वभावनिर्देश १२ ।

“यथा मायायन्त्रपरिगृहीतं भ्रान्तिनिमित्तं काष्ठलोष्टादिकं तथाऽभूतपरिकल्पः परतन्त्रः  
स्वभावो वेदितव्यः । यथा मायाकृतं तस्यां मायायां हस्त्यश्वसुवर्णाधाकृतिस्तद्भावेन  
प्रतिभासिता तथा तस्मिन्भूतपरिकल्पे द्वयभ्रान्तिग्राह्यग्राहकत्वेन प्रतिभासिता परिकल्पित-  
स्वभावाकारा वेदितव्या ।” महायानसूत्रालंकार पृ० १५ ।

दिग्मागने प्रत्यक्षमें अभ्रान्तपदका ग्रहण नहीं किया है अतएव वह और तदनुसारी अन्य  
विभ्रमको भी प्रमाण मानते हैं ( देखो तत्त्वसं० का० १३२४ ) उसीको लक्ष्यमें रखकर ही  
सिद्धसेनने कहा है कि — “भ्रान्तं प्रमाणमित्येतत् विरुद्धं वचनं यतः” —

तुलना — “पीतशंखादिबुद्धीनां विभ्रमेपि प्रमाणताम् । अर्थकियाऽविलंबादादपरे  
संप्रचक्षते ॥” तत्त्वसं० का० १३२४ ।

न्याया० की प्रस्तुत कारिकाओंकी तुलना — न्यायवि० का० ५१-५४, तथा प्रमालक्ष्म  
१६७ से करना चाहिये ।

कारिका ८-९, “विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः ।” इत्यादि कारिकाको  
हरिमद्रने<sup>१</sup> भदन्त दिनकी कही है । संभव है दिन और दिग्माग अभिन्न हों । इस कारिकामें  
प्रतिपादित सिद्धान्त कि शब्दका संबन्ध बाह्यार्थसे नहीं है, शब्द बाह्य अर्थका प्रतिपादन नहीं  
करते, शब्द विकल्पसे उत्पन्न होते हैं और विकल्पको उत्पन्न करते हैं, आचार्य धर्मकीर्तिने भी  
अपनाया है और समर्थन किया है ।

“अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः

शब्दार्थः” प्रमाणवा० ३.२०४ ।

“शब्दार्थः कल्पनाज्ञानविषयत्वेन कल्पितः ।

धर्मो वस्त्वाश्रयासिद्धिरस्योक्ता न्यायवादिना ॥” वही २११ ।

“विकल्पवासनोद्भूताः समारोपितगोचराः ।

जायन्ते बुद्ध्यस्तत्र केवलं नार्थगोचराः ॥” वही २८६ ।

उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि शब्द परम अर्थका वाचक कभी नहीं हो सकता । अन्यथा  
एक ही अर्थके प्रतिपादनमें दार्शनिकोंका विवाद क्यों होता —

“परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिवन्धना ।

न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु दर्शनान्तरभेदिषु ॥” वही २०६ ।

इसी सिद्धान्तके विरुद्ध प्रस्तुत कारिकामें ‘परमार्थाभिधायिनः’ तथा “तत्त्वोपदेशकृत”  
ये विशेषण दिये गये हों तो आश्चर्य नहीं ।

और भी तुलना करो—

“सम्बद्धानुगुणोपायं पुरुषार्थमिधायकम् ।

परीक्षाधिकृतं वाक्यमतोनधिकृतं परम् ॥” वही २१५ ॥

इस कारिकाकी व्याख्या और प्रस्तुत न्याया० की कारिकाकी सिद्धविकृत व्याख्यामें अत्यधिक साम्य है ।

धर्मकीर्तिने शास्त्रका लक्षण इस प्रकार किया है—

“शास्त्रं यत् सिद्धया युक्त्या स्ववाचा च न बाध्यते ।

दृष्टेऽदृष्टेऽपि तद् प्राह्यमिति चिन्ता प्रवर्तते ॥” वही ४.१०८ ॥

और भी तुलना करो—न्यायसू० १.१.७-८ । शास्त्रवा० २. २८ । प्रमाणसं० ३३ । लघी० २८ । न्यायवि० ३८७ । परी० ३. ९९ । प्रमाणन० ४. १ ।

कारिका ९, यह कारिका रत्नकरण्डश्रावकाचारमें भी है । प्रो० हीराबालने वर्ष ८ के ‘अनेकान्त’ मासिकमें निश्चित किया है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार समन्तभद्रकृत नहीं । पंडित मुखलाळजीने यह सिद्ध किया है कि प्रस्तुत कारिका न्यायावतारकी ही है । ऐसी स्थिति में यही कहना चाहिए कि रत्नकरण्ड में ही न्यायावतारसे यह कारिका ली गई है ।

कारिका १०, “स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनेच्छया” यह वाक्य विभागका है—प्रमाणवा० अ० पृ० ५४१ । ५७२ । “परार्थमनुमानं तु स्वद्वयार्थप्रकाशकम्”—इस विभागकृत परार्थानुमानकी तुलना न्याया० के परार्थमानके साथ करने योग्य है । इस लक्षणवाक्यके लिये देखो, प्रमाणवा० मनो० ४.१ । श्लोकवा० निरा० न्यायरत्ना० पृ० २५२ । प्रमाणवा० अलं० पृ० ५७२ ।

इसी प्रकार प्रशस्तपादमें भी परार्थानुमानके लक्षणमें ‘स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनम्’ यह पद पड़ा हुआ है—प्रशस्त० पृ० ५७७ । माठर० ५ ।

कारिका ११-१२, ‘द्वयोरपि’ इसमें ‘अपि’ पदके द्वारा और १२ वीं संपूर्ण कारिकासे न्यायावतारकारने यही सूचित किया है कि अनुमानकी तरह प्रत्यक्षको भी परार्थ मानना चाहिए ।

विभागने अनुमानके ही स्वार्थ-परार्थरूप दो भेदोंकी स्पष्टता की है । न्यायप्रवेशके प्रथम पद्य—

“साधनं कूषणं चैव साभासं परस्संविदे ।

प्रत्यक्षमनुमानं च साभासं त्वात्मसंविदे” ॥ से यही सूचित होता है । धर्मकीर्तिने उन्हींका अनुकरण किया है । धर्मकीर्तिके टीकाकार प्रज्ञाकरने इन शब्दोंमें प्रत्यक्षकी परार्थताका निराकरण किया है—

“यद्यनुमानोत्पादनाद्वचनम् अनुमानं प्रत्यक्षोत्पादनात् वचनमपि परार्थं प्रत्यक्षं भवेत् ।  
मेदं स्मरन्तम्—

यथा गृहीतसम्बन्धस्मरणे वचनात् सति ।

अनुमानोदयस्तद्वन्न प्रत्यक्षोदयः कश्चित् ॥

१. उत्तरार्ध इस प्रकार है—“पक्षधर्मत्वसम्बन्धसाध्योक्तेरन्वयवर्जनम् ।” यह कारिका प्रमाणसमुच्चयकी है—प्रमाणवा० अलं० पृ० ५७२ ।

त्रिरूपलिङ्गकारणे नियमेनानुमोदयः ।

साम्प्रतीतार्थमात्रस्य वचनेष्वपि तु ॥

न वचनमात्राव्यक्तं परस्योवेति । ननु 'पश्य सृगो भावति' इति दृश्यते दर्शनोदयः ।  
न । तत्राप्यनुमानस्यानन्तरत्वात् । तथाहि -

तदर्थोन्मुक्ततायां स पश्यत्येवं नियुज्यते ।

मया प्रतीतमेतच्च सामर्थ्यात्प्रतिपादितम् ॥

'अभिमुखी भव सृगदर्शने' इति नियोनवचनमेतत् । अभिमुखीभाष्यं यथा मम तथा  
तथापि । तत् पथमभिमुखीभवने हेतूनां व्यापार इति स्वरूपं प्रवर्तत इति अनुमानमेव ।"  
प्रमाणत्वा० अहं० पृ० ५३४ ।

कौ स्त्रो ने परार्थं प्रत्यक्ष इत्युच्ये नही माना है कि प्रत्यक्षार्थ - स्वलक्षण - वचनमोचर नहीं ।  
इसके विपरीत जैनों ने प्रत्यक्षगोचरको वाच्य माना है । उसी दृष्टिसे वस्तुतः परार्थप्रत्यक्षकी  
कल्पना की गई है । अकलंक अदि किसी जैनदार्शनिकने प्रत्यक्षकी परार्थता प्रतिपादित नहीं  
की है । सिर्फ देवसूरि ने न्यायावतारका आश्रय लेकर परार्थ प्रत्यक्षका वर्णन किया है  
( स्याद्वादर० पृ० ५५७ ) यह एक आश्चर्य है ।

न्यायप्रवेशकी टीकामें हरिभद्रने कहा है - "साधनदूषणे एव सामासे परसंविदे  
परावबोधाय, न प्रत्यक्षानुमाने । प्रत्यक्षानुमाने एव सामासे आत्मसंविदे आत्मावबोधाय,  
न साधनदूषणे आत्मसंविदलक्षणात् तयोः ।" न्यायप्र० वृ० पृ० १०-११ ।

कारिका १३, दिग्गने परार्थ अनुमानका लक्षण दो प्रकारसे किया है एकमें तो हेतुवचनको  
और दूसरेमें पक्षादिवचनको परार्थ अनुमान कहा है । उन दोनों प्रकारका समावेश सिद्धसेनने  
प्रस्तुत करिकामें किया है ।

"पक्षादिवचनामीति साधनं" यह न्यायमुखमें परार्थ अनुमानका लक्षण है ब्रह्मीका  
अनुकरण न्यायप्रवेशमें है - यथा -

"तत्र पक्षादिवचनानि साधनम्, पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्वि प्राप्तिप्रकाशप्रतीतोर्थः प्रति-  
पाद्यत इति ।" इस लक्षणका ग्रहण सिद्धसेनने इन शब्दोंमें किया है - "तत् पक्षादि-  
वचनात्मकम् ।"

प्रमाणसमुच्चयमें परार्थ अनुमानका लक्षण दिग्गने किया है कि "परार्थमनुमानं तु  
स्वदृष्टार्थप्रकाशनम्" इस वाक्यांशमें 'अर्थ' शब्दका अर्थ 'हेतु' है ऐसा मीमांसाश्लोकवार्तिकने  
निम्नपद्यसे सूचित होता है -

"न च व्याप्रियतेऽन्यत्र वचनं प्राप्तिप्रकाशं प्रति ।

स्वनिश्चयाय यो हेतुस्तस्यैव प्रतिपादनात् ॥" पृ० २५३ ।

इतना ही नहीं किन्तु प्रकाशक और मनोरथनन्दिने दिग्गने उक्त लक्षणकी जो व्याख्या  
की है उससे भी फलित यही होता है कि हेतुवचन परार्थ अनुमान है -

"स्वेन दृष्टं स्वदृष्टं वादिप्रतिवादिभ्यां स्वदृष्टस्य इत्यर्थः । यदि प्राप्तिप्रकाशेवामपि,  
[वादे] तेषामधिकारात् ।...तत्र स्वदृष्टोऽर्थः त्रिरूपम् लिङ्गम् ।" प्रमाणत्वा० अहं०  
पृ० ५३३ ।

१. प्रमाणत्वा० मनो० में उद्धृत - पृ० ४१३ । श्लोकत्वा० निरा० न्यायरत्ना० में उद्धृत  
पृ० २५२ ।

“तत्र ‘परार्थानुमानं [ तु ] स्वदृष्टार्थप्रकाशनम्’ इति आचार्यीयलक्षणम् । खेन इष्टः स्वदृष्टः । स्वदृष्टासावर्थ्येति त्रिरूपो हेतुः । तस्य प्रकाशनं वचनम्, अनुमानहेतु-त्वादित्यर्थः ।” प्रमाणवा० मनो० ४.१ ।

प्रमाणसमुच्चयवृत्ति जो दिग्भागकृत ही है उसका एक वाक्य प्रज्ञाकरने उद्धृत किया है उससे भी यही प्रतीत होता है कि दिग्भागको हेतुवचन परार्थानुमानरूपसे इष्ट था—“ततः ‘त्रिरूप-लिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्’ इति प्रमाणसमुच्चयवृत्तिर्विरुध्यते ।” प्रमाणवा० अलं० पृ० ५३५ ।

इस दिग्भागप्रोक्त लक्षणका भी संप्रह सिद्धसेनने इन शब्दोंमें किया है—साध्याविनाशुद्धो हेतोर्वैधो यत् प्रतिपादकं ।”

तुलना—“पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्” प्रशस्त० पृ० ५७७ । मा० ५ । “त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्” न्यायवि० पृ० ६१ । परी० ३.५५, ५६ । प्रमालक्ष्म का० ५५ । प्रमाणमी० २.१.१-२ । प्रमाणन० ३.२३ ।

कारिका १४-१६. दिग्भागे पक्षका लक्षण दो प्रकारसे किया है । एक है न्यायमुखमें और दूसरा है प्रमाणसमुच्चयमें । विशेषता यह है कि न्यायमुखमें स्वयंशब्दवर्जित पक्षलक्षण है तब प्रमाणसमुच्चयमें स्वयंशब्दसहित ।

न्यायमुखमें पक्षका लक्षण यह है—

“साध्यात्वेनेप्सितः पक्षो विरुद्धार्थानिराकृतः ।”

इसके लिये देखो प्रमाणवा० अलं० पृ० ६१३, ६२८, ६३४ । प्रमाणवा० मनो० ८६ । प्रमाणसमुच्चयमें पक्षका लक्षण इस प्रकार है—

“सकृदेणैव निर्देष्टव्यः स्वयमिष्टोऽनिराकृतः ।”

इसके लिये देखो, प्रमाणवा० अलं० ६७६ । प्रमाणवा० मनो० ४. २८ ।

पक्षप्रयोग कर्तव्य है या नहीं इसके विषयमें दिग्भागका मन्तव्य क्या हो सकता है तत्सम्बन्धी प्रकाश हमें पूर्वोक्त दिग्भागकथित परार्थानुमानके लक्षणोंसे मिलता है । देखो, कारिका १३ की तुलना ।

न्यायमुखके लक्षणके अनुसार तो पक्षका वचन परार्थानुमानमें होता है ऐसा फलित होता है किन्तु प्रमाणसमुच्चय जो उनके भिन्न भिन्न अनेक ग्रन्थोंके मन्तव्योंका विकसित निष्कर्षमात्र है उसमें तो उन्होंने जो लक्षण परार्थानुमानका किया है उससे यही फलित होता है कि दिग्भागको पक्षप्रयोग अभिमत नहीं था क्योंकि उसने प्रमाणसमुच्चयमें परार्थानुमानका जो लक्षण किया है उसका अर्थ कुमारिलसे लेकर बादके सभी टीकाकार जो करते हैं उससे यही फलित होता है कि हेतुवचन परार्थ अनुमान है । स्वयं दिग्भागने प्रमाणसमुच्चयकी वृत्तिमें त्रिरूपलिङ्गाख्यानको परार्थानुमान कहा है । इसका मतलब यही होगा कि पक्षप्रयोग अनावश्यक है । देखो, पूर्वोक्त १३ वीं कारिकाकी तुलना ।

प्रमाणसमुच्चयके वार्तिककार धर्मकीर्तिने पक्षप्रयोग अनावश्यक बताया है ( प्रमाणवा० ४.१६-२७ ) वह उनकी सतत सूझ नहीं किन्तु उन्होंने यह स्पष्ट ही कहा है कि स्वयं



दिग्भागको भी यही बात इह थी । इससे भी कही कहा जा सकता है कि दिग्भागको पक्षबचन अभीष्ट नहीं था । दिग्भागकी एक कारिका इस प्रकार है —

“सन्निध्यवदन्त्येषां निश्चयोत्पादनेच्छया ।

पक्षधर्मत्वसम्बन्धसाध्योत्तेरव्यवर्जनम् ॥” — प्रमाणवा० अंक० में उद्धृत पृ०

५७२ ।

इस कारिकामें आये हुए ‘साध्योक्ति’ शब्दसे पक्षप्रयोगको आवश्यक समझनेवाले यह शंका करते थे कि दिग्भागने पक्षप्रयोग आवश्यक माना है किन्तु इस शंकाका निरास कथं धर्मकीर्तिनि किया है तथा प्रकाश करने उक्त कारिकाके अर्थको स्पष्ट किया है उससे भी यही ज्ञात होता है कि दिग्भागको पक्षप्रयोग अभीष्ट नहीं था ।

“हेत्वर्थविषयत्वेन तदशक्तोक्तिरीरिता ।” प्रमाणवा० ४.१८ ।

“ननु भाचार्यस्य पक्षबचनमसाधनत्वेनेहमिति कथं ज्ञायत इत्याह—हेतोरर्थः साध्यः, स विषयोऽस्य इति हेत्वर्थविषयः तत्रैव साध्याद्योपदर्शकत्वेन तस्य पक्षबचनस्य साध्य-साधनं प्रति अशक्तस्य उक्तिरीरिता—निर्दिष्टा भाचार्येण—‘तन्नानुमेयनिर्देशो हेत्वर्थविषयो मतः’ इत्यनेन प्रम्येन । ततो ज्ञायते पक्षबचनमसाधनमिहभाचार्येणेति । मनो० ४.१८ ।

प्रकाश करने दिग्भागकी उक्तकारिकाके अंशका इस प्रकार व्याख्यान किया है — “अशक्तं तु योऽनुमेयनिर्देशः स हेत्वर्थविषयत्वेन, न साधनत्वेन, अतः साक्षात् साधनत्वप्रतिरोधात् तस्य साध्यस्य उत्तेरशक्तता कथिता । कथं तर्हि—पक्षधर्मत्वसम्बन्धसाध्योक्तिनिर्देशाभ्युपगमः । नास्यायमर्थः—पक्षधर्मस्य सम्बन्धस्य साध्योक्तिरेति । अस्मि तु—सम्बन्धोक्ति-संगता साध्योक्तिः सम्बन्धसाध्योक्तिः । यत् कृतं तद्वनित्यमिति व्याख्यन्तर्गता साध्योक्तिर्न प्रतिहाररूपेण । अवश्यं हि साधने व्यापकत्वं साध्यस्योपदर्शनीयम् ।” प्रमाणवा० अंक० पृ० ५७२ ।

दिग्भागके न्यायमुखके किसी टीकाकारने पक्षप्रयोग संबंधी पूर्वपक्षका जो परिहार किया था वह परिहार भी धर्मकीर्तिको जंचा नहीं और उसने उक्त पूर्वपक्ष और परिहार दोनोंको विडम्बना मात्र बताया है—इससे भी यही फलित होता है कि पक्षप्रयोगकी अनावश्यकता बतानेवाले धर्मकीर्ति नहीं किन्तु दिग्भाग है—प्रमाणवा० मनो० ४. २७ । प्रमाणवा० अंक० पृ० ५८२ ।

इस बातकी साक्षी भर्तृहरि भी देते हैं कि पक्षप्रयोगकी अनावश्यकता बौद्धोंने सिद्ध की थी । भर्तृहरि धर्मकीर्तिसे पहले हुए हैं । अत एव यह कहा जा सकता है कि धर्मकीर्तिके भी पहले पक्षप्रयोग बौद्धपरंपरामें प्रतिपादित हुआ था । संभवतः वह कथन दिग्भागके मन्तव्यको लेकर ही हो—वाक्य० कां० ३. पृ० १०९ ।

सिद्धसेनने दिग्भागके इसी मन्तव्यका—

“तत्प्रयोगोऽत्र कर्तव्यो हेतुर्गोचरदीपकः ॥”

इत्यादि कारिकाओंमें निरास किया है ।

कारिका १४ पृ०, न्यायसू० १.१.३३ । न्यायवि० पृ० ७९ । प्रमाणवा० ४.८३ । न्यायप्र० पृ० १ । न्यायवि० १७२ । प्रमाणसं० का० २० । परी० ३.२० । प्रमाणन० ३.१४ । प्रमाणमी० १.२.१३ ।

कारिका १४ उ०. परी० ३.३४ । प्रमाणल० ३.२८ । प्रमाणमी० २.१.८ ।

कारिका १६. प्रभाचन्द्रने इस उपमाका उपयोग किया है—न्यायकु० पृ० ४३७ ।

कारिका १७. न्यायसू० १.१.३४, ३५ । न्यायप्र० पृ० १. पं० ८ । न्यायवि० पृ० ४२-४३ । परी० ३.९४ । प्रमाणल० ३.२९-३२ । प्रमाणमी० २.१.४-६ । न्यायकु० पृ० ४२३ ।

कारिका १८-१९. न्यायसू० १.१.३६, ३७ । असंगने दृष्टान्तके साधर्म्य और वैधर्म्य भेद माने हैं—J. R. A. S. 1929 p. 476. न्यायप्र० पृ० १, पं० १५ । न्यायवि० का० ३८० । परी० ३. ४७-४९ । प्रमाणल० ३.४२-४७ । प्रमाणमी० १.२.२०-२३ ।

कारिका २०. न्यायविन्दुमें हेतुके साधर्म्य और वैधर्म्य प्रयोगसे ही साधर्म्य और वैधर्म्य दृष्टांत कैसे गतार्थ हो जाते हैं इसका धर्मकीर्तिने स्पष्टीकरण किया है अतएव पृथक् दृष्टान्तका विवरण अनावश्यक उन्होंने बताया है—न्यायवि० पृ० ११७-१२१ । प्रमाणसं० का० ३२, ५० । न्यायवि० का० ३८१ । परी० ३.३७-४२ । प्रमाणन० ३.२८, ३३-३८ । प्रमाणमी० १.२.१८, १९ ।

प्रो० दूचीका कहना कि दिग्भागके पहले के कुछ बौद्धदार्शनिकोंने दृष्टान्तका प्रयोग अनावश्यक माना है—देखो J. R. A. S. 1929. p. 487.

ऐतिहासिक क्रम यह जान पड़ता है कि जबतक हेतुका लक्षण सुनिश्चित नहीं हुआ था तबतक दृष्टान्तके बलसे ही साध्यको हेतुके द्वारा सिद्ध किया जाता था । जब तक ऐसी स्थिति रही तबतक हेतुके साथ दृष्टान्तका पृथक् अवयवके रूपमें प्रयोग नितान्त आवश्यक माना जाता था । किन्तु जबसे हेतुका लक्षण स्थिर हुआ यानि साध्य और साधनकी व्याप्तिका पता लग तब अन्तर्व्याप्तिका सिद्धान्त आविर्भूत हुआ और उसीके बलसे साध्यकी सिद्धि हेतुसे की जाने लगी । यह सिद्धान्त वसुबन्धु और दिग्भागेसे पहले का है । वसुबन्धु और दिग्भागने फिस्से अन्तर्व्याप्तिके सिद्धान्तको मानते हुए भी दृष्टान्तकी उपयोगिता व्याप्ति स्मारकरूपसे मानी यानि दृष्टान्तको पृथक् अवयव न मानकर हेतुके ही अन्तर्गत कर लिया । अतएव फलितार्थ यह हुआ कि वह साधनावयव तो रखा नहीं किन्तु पूर्ववत् अत्यन्त निरूपयोगी भी नहीं माना गया और न एकान्त आवश्यक ही माना गया । यही सिद्धान्त धर्मकीर्तिका भी है ।<sup>१</sup>

आचार्य सिद्धिसेनका भी यही मन्तव्य है । जो उन्होंने १८-२० कारिकाओंमें प्रतिपादित किया है ।

कारिका २१. "यत्पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविद्वजं न्यायाभासः स इति ।" न्यायमा० १.१.१ ।

"प्रत्यक्षार्थानुमानात्प्रसिद्धेन निराकृतः ।" यह दिग्भागेसंगत बाधित—निराकृत पक्षाभास है । दिग्भागी इस कारिकाको प्रज्ञाकरने उद्धृत किया है—प्रमाणवा० अलं० पृ० ६७७ ।

विशेष तुलनाके लिये देखो—प्रमाणमी० भाषा० पृ० ८८ ।

१. "अज्ञावहेतुभावी हि दृष्टान्ते तद्वैदिमः ।

अज्ञावहेते विदुषां बाधो हेतुनेव हि केवलः ॥" प्रमाणवा० ३.२६ ।

दिग्भागे निराकृत पक्षाभासोंका परिष्कृतरूप जैसा धर्मकीर्तिने स्थिर किया है—सिद्धसेनने भी कुछ ऐसा ही किया है—

१ दिग्भाग — प्रत्यक्षनिराकृत, अनुमाननि० स्ववचननि० आसनि० प्रसिद्ध०

२ धर्मकीर्ति " " " प्रतीति०

३ न्यायावतार " " " लोकनि०

सिद्धसेनसंमत स्ववचननिराकृत यद्यपि दिग्भागी उक्त कारिकामें नहीं किन्तु दिग्भागसंमत है जो कि प्रशास्त्रपादमें तथा कुमारलिङ्गमें है—श्लोकवा० अनु० ६२, ६३ । Buddhist Logic Vol 1, सिद्धसेनका लोकनिराकृत और दिग्भागाका प्रसिद्धनिराकृत अभिन्न है । किन्तु लोकनिराकृतसे धर्मकीर्तिसंमत प्रतीतिनिराकृत अधिक व्यापक है । प्रतीतिमें धर्मकीर्तिने सकल तिरस्कारानोंका समावेश किया है । किन्तु लोकप्रसिद्धिका क्षेत्र कुछ संकुचित है ऐसा लोकविरुद्धके उदाहरणसे मालूम होता है—“लोकविरुद्धो यथा शुचि नरक्षिरः कपालम् ।” न्यायप्र० पृ० २. पं० २० । “प्रतीतिनिराकृतो यथा अचम्भः शशीति ।” न्यायवि० पृ० ८४ । प्रतीतिविरुद्धका यह धर्मकीर्तिका उदाहरण नया नहीं है । उसका उल्लेख धर्मकीर्तिसे भी पहले होनेवाले कुमारलिङ्गने सर्वलोकविरुद्धके उदाहरणरूपसे किया है—

“चन्द्रशब्दामिषेयत्वं शशिनो यो निषेधति ।

स सर्वलोकसिद्धेन चन्द्रज्ञानेन बाध्यते ॥” श्लोकवा० अनु० ६४, ६५ ।

तुलना करो—परी० ६. १५-२० । प्रमाणन० ६. ४०-४५ । प्रमाणमी० १.२.१४ ।

कारिका २२-२३. ‘ईरितम्’ पद न्यायावतारके पूर्वोक्त हेतुलक्षणका स्मारक है, देखो का० १७ ।

“अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये विडम्बिताः ।

हेतुत्वेन परैस्तैषां हेत्वाभासस्वमीक्ष्यते ॥” न्यायवि० ३४३ । ३२३ । प्रमा-

णसं० का० ४०-५० । न्यायवि० ३६५-७१ । न्यायप्र० पृ० ३. पं० ८ । न्यायवि० ८८ से । परी० ६. २१-३९ । प्रमाणन० ६. ४७-५७ । प्रमाणमी० २.१.१४-२१ । प्रमाणमी० भाषा० पृ० ९६-१०३ ।

कारिका २४-२५, देखो प्रमाणमी० भाषा० पृ० १०४-१०८ ।

इन दोनों कारिकामें ‘न्यायविदीरिताः’ शब्द है । संभव है ‘न्यायविद्’ शब्दसे दिग्भाग अभिप्रेत हो ।

कारिका २६, देखो, प्रमाणमी० पृ० भाषा० १०८-१२४ ।

कारिका २७, देखो वही—पृ० २७ से । प्रमालक्ष्म २८२ ।

कारिका २८. “अज्ञानादेर्न सर्वत्र व्यवच्छेदः फलं न सत् ।” प्रमाणसमुच्चयकी इस कारिका (१.२३) का खण्डन प्रस्तुत में है ।

“उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः ।

पूर्वां वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य सगोचरे ॥” आसमी० १०२ । सर्वार्थ०

१.१० । न्यायवि० ४७६ । परी० ५. १ । प्रमालक्ष्म ३१६ । प्रमाणन० ६. १-५ । प्रमाणमी० १.१.३४, ३८, ४०—

वादी देवसूरिने केवलज्ञानका फल सुख भी है इस न्यायावतारके मतकी असंगति होनेसे उपेक्षा की है—स्याद्वादर० पृ० ९९५ ।

“ननु उपेक्षावत् केवलज्ञाने सुखस्यापि फलत्वं वक्तुमुचितमन्यथा ‘केवलस्य सुखोपेक्षे’ इति पूर्वोक्तार्थवचनविरोधो दुष्परिहर इति चेत् । सत्यम् । किन्तु न सद्व्यपक्षो-  
द्धमोऽयं केवलज्ञानस्य सुखफलत्वपक्षः, इत्युपेक्षितोऽस्माभिः । सुखस्य हि संसारिणि  
सद्व्यपक्षमौद्यफलत्वम् । मुक्ते तु समस्तकर्मक्षयफलत्वं प्रमाणोपपन्नम् । न पुनर्ज्ञान-  
फलत्वम् ।”

कारिका २९ “तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपम् ।” युक्त्यनु० ४७ ।

“अनन्तधर्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्त्विह ।

“येनोत्पादव्ययधौव्ययुक्तं यत् सत् तदिष्यते ।

अनन्तधर्मकं वस्तु तेनोक्तं मानगोचरः ।” षड्द० ५५, ५७ ।

“ततः सिद्धं व्यवर्थायात्मकं, उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं वस्तुतत्त्वमन्तर्बहिष् प्रमेयम् ।  
एकान्तस्यानुपलब्धेः तदनेकान्ताप्रार्थः ।” लघी० स्व० ९ । लघी० ६२ ।

“व्यावहारिकप्रकृत्यादिप्रक्रियाप्रविभागेन यथा पारमार्थिकादनेकान्तात्मकादर्थोपपत्तयः  
तदंशमेकान्तं व्यावहारिकं तत्प्रतिपत्त्युपायं प्रकाशयन्नयो न मिथ्यात्वमनुभवत्, निरपेक्ष-  
त्वस्यैव मिथ्यात्वात्” । लघी० स्व० ७२ ।

“स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः ।” आत्मी० १०३ ।

“प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः ।” राजवा० १.३३.१ । ४.४२.१६,

१७ । प्री० ४.१ । प्रमालक्ष्म ३९५ । प्रमाणन० ५.१ । प्रमाणमी० १.१.३० ।

कारिका ३० “उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ ।

स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा ॥” लघी० ४२ ।

कारिका ३१ “यः कर्ता कर्ममेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च ।

संसर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः ॥” शास्त्रवा० ९० ।

“तत्र ज्ञानादिधर्मभ्यो भिन्नाभिन्नो विवृत्तिमान् ।

शुभाशुभकर्मकर्ता भोक्ता कर्मफलस्य च ॥

चैतन्यलक्षणो जीवः” षड्द० ४८, ४९ । प्रमालक्ष्म ३०३-७ ।

प्रमाणन० ७.५५-५६ । प्रमाणमी० १.१.४२ ।

## २. न्यायावतारसूत्रवार्तिकतुलना ।

कारिका १, प्रमाणवा० १.५ न्यायवि० ४ ।

का० २, यह कारिका न्याया० की है । प्रमालक्ष्मकी प्रथम कारिका भी यही है ।

का० ३, पू० लघी० स्व० ३ । लघी० ५५ ।

का० ३, उ० लघी० ६० ।

का० ४, वाक्यप० १.५० । प्रमाणवा० २: ३२९ । २. ४४४ । अष्टश० का० ३१ ।

प्रमालक्ष्म का० १५४ । स्याद्वादम० का० १२ ।

का० ६, प्रमाणवा० १.१० ।

का० ७, तत्त्वसं० का० ५६, ६१ ।

का० ८, पू० तत्त्वसं० का० ७४ ।

का० ८, उ० प्रमाणवा० अरु० पृ० १९०

न्या० ३८

- का० ९. उ० प्रमाणवा० अलं० पृ० ५०९ । न्यायवि० का० ३६४ ।  
 का० ९. उ० न्यायवि० का० ३५९ ।  
 का० १०. प्रमालक्ष्म ३८२ ।  
 का० १२. पू० न्यायवि० का० ३६० ।  
 का० १२. उ० न्यायवि० का० ९ ।  
 का० १३. प्रमाणवा० २. ५९ । न्यायवि० पृ० २३ ।  
 का० १४. पू० प्रमाणवा० २. ६४ ।  
 का० १४. उ० तत्त्वसं० का० १५५९ । लघी० १९ ।  
 का० १५. पू० प्रमालक्ष्म ३६४ ।  
 का० १५. उ० श्लोकवा० अभाव० १ । तत्त्वसं० १६४८ प्रमालक्ष्म ३८२ ।  
 का० १६. प्रमाणवा० ४. २७४ । प्रमाणवा० अलं० पृ० ६ । प्रमालक्ष्म० ३९२ ।  
 का० १७. प्रकरणपं० पृ० ५१ । प्रमाणसं० पृ० ९७ । प्रमाणप० ६८ ।  
 का० १७. उ० प्रमाणमी० १. १. १४ ।  
 का० २१. न्यायवि० १६८ ।  
 का० २२. पू० न्यायवि० ४ ।  
 का० २३. पू० न्यायवि० ३ । लघी० ७ ।  
 का० २३. उत्पादविसिद्धि पृ० ७२ और १३२ में उद्धृत ।  
 का० २५. „ पृ० २२ में उद्धृत ।  
 का० २९. „ पृ० २६ में उद्धृत ।  
 का० ३०-३१. „ पृ० २८ में उद्धृत ।  
 का० ३४. आत्मी० का० ३६ । न्यायवि० ११४-११५ । १२५, १२६ ।  
 उत्पादा० पृ० ११९ में उद्धृत ।  
 का० ३५. आत्मी० ५९ । उत्पादा० पृ० १२२ में उद्धृत ।  
 का० ३६. प्रमाणसं० १. ९ से प्रमाणवा० २. ३०७ । प्रमाणवा० अलं० पृ० २८ ।  
 वही मु० पृ० ३, प्रमालक्ष्म का० ३१६ ।  
 का० ३९. प्रमाणसं० का० २ । न्यायवि० ४६९-७० ।  
 का० ४१. न्यायवि० का० १७० । लघी० १२, १३ । प्रमालक्ष्म, २१, ४५ ।  
 का० ४३. न्यायवि० ३२३ ।  
 का० ४५. न्यायवि० ३४४, ३८१ ।  
 का० ४७. “द्वयोरेकामिसम्बन्धात्” इत्यादि सम्बन्ध परीक्षाकी कारिका जो जैन  
 ग्रन्थोंमें उद्धृत है—प्रमेयक० पृ० ५०६ । स्याद्वादर पृ० ८१३ । उससे भावसाम्य है ।  
 का० ४९. न्यायवि० १८४, १८५ ।  
 का० ५०. न्यायवि० १७२, १७३ । प्रमालक्ष्म १०२-१०५ ।  
 का० ५२. प्रमालक्ष्म का० ७२ ।  
 का० ५३. स्याद्वादर० में (पृ० १२३२) उद्धृत । प्रमाणसं० का० ५६ ।  
 का० ५४-५५. ज्ञानसारसमुच्चय ३१ । तत्त्वसं० ३३४४, ३५८८ । तत्त्वसं०  
 पं० पृ० १२ । पञ्चस्तु १०२०-२३ । प्रमालक्ष्म ११४, १३८, १३६ ।  
 का० ५६ यह पक्ष नयचक्रका है । उत्पादा० पृ० २२२ में उद्धृत ।

### ३. न्यायवतारसूत्रकारिकासूची ।

|                             |    |                           |    |                           |    |
|-----------------------------|----|---------------------------|----|---------------------------|----|
| अनुमानं तदुभयान्तं          | ५  | न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं   | ६  | भ्रान्तं प्रमाणमित्येतद्  | ६  |
| अन्तर्जालेन साध्यत्वं       | २० | नवानामेकनिष्ठानां         | २० | कोकलवधनाम्नां च           | २३ |
| अनेकान्तमित्येकं वस्तु      | २१ | परस्य तदुपायत्वात्        | २१ | वायुके साधने प्रोक्त      | २६ |
| अन्वयानुपपत्त्यर्थं         | २२ | परार्थे मानमाक्यार्थं     | २२ | विपक्षे योऽन्वयान्वय      | २३ |
| अन्वयाभावाभिप्रेतं          | २५ | परार्थमनुमानं तत्         | २३ | वैधर्म्येनात्र दृष्टान्तं | २५ |
| अपरोक्षतयाभेद               | ७  | प्रतिपाद्यत्वं यः सिद्धः  | २३ | अर्थो क्वात्तद्वत्तद्वाचे | २० |
| अपक्षक्षपहेतुत्वाः          | २४ | प्रत्यक्षं च परोक्षं च    | २३ | संपूर्णोपेक्षितिमात्रं    | २० |
| असिद्धत्वाप्रतीतो यो        | २३ | प्रत्यक्षं प्रतिभास्यत्वं | २३ | सकलप्रतिभास्यत्वं         | ७  |
| आद्योपक्रममुक्तत्वं         | ९  | प्रत्यक्षं सकलार्थात्मं   | २३ | सकलवर्णमुक्तत्वं          | २० |
| वृत्तदेवविशिष्टोऽर्थो       | २९ | प्रत्यक्षप्रतिपक्षार्थं   | २९ | सर्वसंख्यवहर्तुणां        | ३२ |
| केवलस्य सुखोपेक्षे          | २९ | प्रत्यक्षमितरपक्षे        | २९ | साधर्म्येन स दृष्टान्तः   | ३८ |
| क्याचते यत्र दृष्टान्ते     | ३९ | प्रत्यक्षेनानुमानेन       | ३९ | साधर्म्येनात्र दृष्टान्तं | ३४ |
| तत्त्वमाहितयोत्पत्तिं       | ८  | प्रत्यक्षेनानुमानेन       | ८  | साधर्म्येनात्र दृष्टान्तं | ३४ |
| तत्त्वोपदेयकत्वात्          | ९  | प्रत्यक्षेनानुमानेन       | ९  | साधर्म्येनात्र दृष्टान्तं | ३४ |
| तत्त्वयोगोऽत्र कर्तव्यो     | ३४ | प्रमाणं स्वपराभासि        | ३४ | साधर्म्येनात्र दृष्टान्तं | ३४ |
| तदुपपत्तिरसिद्धे            | २९ | प्रमाणं साधर्म्येनात्र    | २९ | साधर्म्येनात्र दृष्टान्तं | ३४ |
| तद्व्याप्तिरसिद्धिः क्वात्  | ३  | प्रमाणकम्पनसोको           | ३  | साधर्म्येनात्र दृष्टान्तं | ३४ |
| दूषणं निरवधे तु             | २६ | प्रमाणकं कं साक्षात्      | २६ | साधर्म्येनात्र दृष्टान्तं | ३४ |
| दृष्टान्तादुत्पत्तिः क्वात् | ८  | प्रमाणदिव्यवस्थेवं        | ८  | साधर्म्येनात्र दृष्टान्तं | ३४ |
| द्विबोधोपदेयमात्रं          | ३० | प्रमाणा साधर्म्येनात्र    | ३० | साधर्म्येनात्र दृष्टान्तं | ३४ |
| वायुमग्न्यादयोऽपि           | ३१ | प्रमाणा साधर्म्येनात्र    | ३१ | साधर्म्येनात्र दृष्टान्तं | ३४ |
| वायुमग्न्यादयोऽपि           | ३१ | प्रमाणा साधर्म्येनात्र    | ३१ | साधर्म्येनात्र दृष्टान्तं | ३४ |



## ४. न्यायावतारसूत्रशब्दसूची ।

|                   |           |                                   |                     |                        |                    |
|-------------------|-----------|-----------------------------------|---------------------|------------------------|--------------------|
| अक्ष              | २१        | धातुपक                            | १६                  | नाममित्तहेतुगोचरमोहिन् | १५                 |
| अज्ञानविवर्तन     | २८        | मय                                | २९, ३०              | निर्घात                | २२                 |
| अद्वैतविरोधक      | ९         | निरवय                             | २६                  | विरुद्ध                | ६, २३              |
| अनादिसिधनात्मिका  | ३२        | न्यायविद्                         | २०, २४, २५          | विरुद्धारेकित          | १५                 |
| अनुमान            | ५, ११, १३ | पक्ष                              | १४                  | विहृतिमत्              | ३१                 |
| अनिवृत्ति         | २५        | पक्षाविवचनात्मक                   | १३                  | विषय                   | २९                 |
| अवेकान्तात्मक     | २९        | पक्षाभास                          | २१                  | वैधर्म्य               | १९, २५             |
| अवेकाभितक         | २३        | परमार्थानिर्भाषिन्                | ८                   | व्यवहार                | २                  |
| अन्तर्ध्वंसि      | २०        | परार्थ                            | १०, १३              | व्याप्ति               | १८                 |
| अन्वधानुपपन्नत्व  | २२        | परार्थत्व                         | ११                  | व्यामृष्टमनस्          | ३                  |
| अपरोक्षता         | ४         | परोक्ष                            | १, ४                | व्यामृष्ट              | ८                  |
| अप्रतीत           | २३        | प्रतिपाद्य                        | २१                  | व्यामृष्ट              | ९                  |
| अप्रतीति          | २२        | प्रतिभास                          | १२                  | सुतवर्त्यन्            | ३०                 |
| अप्रामा           | ५         | प्रत्यक्ष                         | १, ४, ६, ११, १२, २० | संवेद                  | २२                 |
| अर्थ              | ३९        | प्रत्यक्षप्रतिपक्षार्थप्रतिपादिन् | १२                  | संपूर्णार्थविविधविद्   | ३०                 |
| असिद्ध            | २३        | प्रत्यक्षानिराकृत                 | १४                  | संबन्धकारण             | १८                 |
| आदानदानधी         | २८        | प्रत्यापन                         | १५                  | संविद्                 | २९                 |
| आलोपक             |           | प्रमाण                            | १, २, ३, ६, ७, १८   | संज्ञय                 | ३५                 |
| अज्ञात            | २६        | प्रमाणरश्म                        | ५                   | सककाप्रतिभास           | ७                  |
| अपेक्षा           | २८        | प्रमाणत्वविविध                    | ६                   | सककार्थमसततप्रतिभासक   | ३७                 |
| कर्ता             | ३१        | प्रमाणलक्षण                       | २                   | सककारणमुक्तप्रमाण      | ३७                 |
| कापयवहन           | ९         | प्रमाणाविव्यवस्था                 | ३२                  | समक्षवत्               | ५                  |
| कैवल्य            | २७, २८    | प्रमाता                           | ३१                  | साधन                   | १८, १९, २५, २६     |
| गोचर              | २९        | प्रयोग                            | १४, १७              | साधर्म्य               | १८, २४             |
| गोचरदीपक          | १३        | प्रयोजन                           | २, १                | साधय                   | १९, २०, २५, १८     |
| ग्रहणेक्ष         | ४         | प्रतिद्वार्थप्रकाशन               | ११                  | साधयनिष्ठावक           | ५                  |
| जीव               | ३१        | फल                                | २८                  | साध्यसिद्धि            | १७                 |
| ज्ञान             | १, ४      | बाधविजित                          | १                   | साध्याविविकल           | २४                 |
| तत्त्वमाहित       | ८         | बाधित                             | २१                  | साध्याभ्युपगम          | १४                 |
| तत्त्वोपदेशक      | ९         | भोक्ता                            | ३१                  | साध्याविनाशु           | ५, १३              |
| तत्त्वोपपत्ति     | १७        | भ्रान्त                           | ६                   | सिद्ध                  | २१                 |
| तत्त्वमता         | २२        | भ्रान्तत्वसिद्धि                  | ७                   | सुख                    | २८                 |
| तत्त्वमोहनिवृत्ति | ३         | मान                               | ८, १०               | स्वादावशुत             | २९                 |
| वृत्त             | २६        | मेयविविध                          | १                   | स्वनिश्चयवद्           | १०                 |
| वृत्तभास          | २६        | छिन्न                             | ५, २१               | स्वपराभासिन्           | १                  |
| वृत्तान्त         | १८, १९    | कोक                               | २१                  | स्ववचन                 | २१                 |
| वृत्तान्तदीप      | २४, २५    | वस्तु                             | १२                  | स्वसंवेदनसंसिद्ध       | ३३                 |
| वृत्तान्तव्याहृत  | ८         | वाक्य                             | ८, १०               | स्वान्यनिर्भासिन्      | ३१                 |
| वृत्त             | २६        | वादिन्                            | २६                  | स्वान्यनिर्भासिन्      | ७                  |
|                   |           |                                   |                     | हेतु                   | १३, १४, १५, १७, २२ |

## ५. न्यायवतारसूत्रवार्तिककारिकासूची ।

|                               |    |                                |    |                              |    |
|-------------------------------|----|--------------------------------|----|------------------------------|----|
| अतादृशेऽपि बोधवत्वात्         | ३६ | तथैवाभेदविज्ञादाद्             | ३४ | भिन्नदेशस्वरूपाणां           | ३० |
| अथास्तु युगपन्नासो            | ३२ | तथा व्याख्यानव्यापेक्षा        | ४६ | भिन्नमक्ति समानं तु          | ३३ |
| अनवस्था प्रसज्येत             | ४७ | तन्निमित्तं द्विधा मानं        | १४ | भेदज्ञानात् प्रतीयन्ते       | ३४ |
| अनात्मवेदने ज्ञाने            | ४  | तापश्चेदकथैः सुखं              | ५४ | मनःसंश्लेष जीवस्य            | २० |
| अन्यसामग्र्यवहेतुः            | ३१ | तापो ह्यासम्प्रीतत्वं          | ५४ | पक्षोक्तं नागमापेक्षं        | ४० |
| 'अन्यथानुपपन्नत्वं'           | ४३ | तेन तत्कल्पनाज्ञानं            | २७ | यत्तन्निमित्तो ततो ज्ञानो    | २० |
| अन्यथेहादिकं सर्वं            | ४० | दीपवज्रोपपत्तेर                | ४  | यथा सर्वगमपक्षं              | ५३ |
| अन्यस्यासाधनादाह              | ४२ | दूरासन्नादिभेदेन               | १३ | यदि स्यात् पक्षधर्मत्वं      | ४८ |
| अनाधोऽपि च नैवास्ति           | १६ | द्रव्यपर्यायसामान्य            | २३ | योगजं चेति वैशद्यं           | १७ |
| अयोगे प्रतिभासोऽपि            | २९ | द्वेषा समन्तभद्रस्य            | ५३ | रूपाद्यस्तिद्विषोऽस्तिद्वो   | ५३ |
| अयोपत्तेर्न मानत्वं           | १५ | न जडस्यावभासोऽस्ति             | २४ | ल्लिङ्गाद्विज्ञिति यश्चानं   | ४१ |
| अवभासो व्यवसायो               | ३  | न नास्तीति यतो ज्ञानं          | १६ | कैवलात् प्रत्यभिज्ञादि       | ३८ |
| अविस्पष्टास्त्येव स्युः       | २३ | न भिन्नविषयं ज्ञानं            | २४ | यत्ततोऽपौरुषेयत्वं           | ७  |
| प्रतिज्ञः सिद्धयेनस्य         | ५३ | 'नान्यथानुपपन्नत्वं'           | ४३ | यस्तु तत् कल्पनाज्ञानं       | ३३ |
| भावुतिप्रक्षयज्ञानं           | १० | नास्तिकिर्न च वैकल्यं          | ४९ | 'विधिनियमभङ्गवृत्ति'         | ५६ |
| बाह्यारसक्तित्वेन             | ११ | नास्त्युक्तैः                  | २९ | विनाम्यन्वयमाभासौ            | ४६ |
| इहं साधयितुं शक्यं            | ५० | नित्यत्वे सर्वदा मोक्षो        | ९  | विपरीतो विज्ञेयश्च           | ३७ |
| उपचारेण चेत् तत् स्यात्       | ४२ | नित्यमेकान्ततः सत्त्वात्       | ५३ | विरुद्धं चेद्व्यातेन         | ८  |
| कथं सरवं विना तेन             | ४५ | निरक्षरपरमाणूनां               | २८ | वेदनं च परोक्षं च            | २३ |
| कथः पूर्वोपराचातः             | ५५ | नैतदस्ति यतो नास्ति            | ३३ | वेदेभ्यरावयो नैव             | ६  |
| कार्यकारणसंज्ञावः             | ४४ | परोक्षं द्विविधं प्राहुः       | ३८ | व्यतिरेकोनुपपत्तिमेव         | ४५ |
| काकवेपुल्लबोधवारण             | ९  | परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि         | ३९ | संविधिव्यां निमित्तमेव       | ४३ |
| कृत्तिकोदयपूरयेः              | ४८ | परोपदेशजं श्रौतं               | २६ | संवितितद्वप्रतिज्ञेये        | २५ |
| चटनीक्षिपुर्बर्णे             | ३५ | पर्यवस्यन्ति पर्यायाः          | ३७ | संविधिज्ञा हि भावानां        | ३५ |
| चकाति योचितं यत्र             | ३३ | पूर्वमेव परोक्षस्य             | ८  | सद्देष्टुकमस्तीह             | ३० |
| आतमिष्टिप्रयजं ज्ञानं         | १८ | प्रकृतेरभ्युपगमं               | ३६ | सदशः परिणामो यः              | २६ |
| जिनसोऽपि सर्वेषु              | २३ | प्रतीतेस्तु फलं नाभ्यद्        | २८ | तत्किंचादिकं नैव             | ३  |
| धीर्वाक्काय कर्मैर्निर्मुक्तौ | १८ | प्रत्यक्षं कल्पनायुक्तं        | ५  | समानपरिणामस्य                | ४९ |
| 'जिनादभ्यक्तासममवृत्त'        | ५६ | प्रत्यक्षं च परोक्षं च प्रा०   | १७ | सादृश्यं चेत् प्रमेयं स्यात् | ३४ |
| ज्ञानवैश्वं प्रमेयस्य         | ३२ | 'प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्वि०' | ४४ | साध्याभावं विना हेतुः        | ५२ |
| ज्ञानवैश्वंमन्येषां           | २३ | प्रत्यक्षं विज्ञेयं ज्ञानं     | ४३ | साध्याभासमक्षपरत्वात्        | ५० |
| ज्ञानद्रव्यवतो नास्ति         | २५ | प्रत्यक्षपूर्वकात्तत्वात्      | ४३ | सूत्रं सूत्रकृता कृतं        | ५७ |
| ज्योतिः साक्षात्कृतिः         | ३२ | प्रत्येति हि यथा वाची          | ४  | स्वल्पपूरादिकमिमेके          | १९ |
| तत् प्रत्यक्षं परोक्षं तु     | १३ | प्रमाणं नावयैकदवाद्            | १५ | स्वल्पविज्ञानमित्यप्ये       | ३९ |
| तत् प्रमाणं प्रवक्ष्यामि      | १  | 'प्रमाणं स्वपराभासि'           | ३३ | सकृदेन विज्ञेयेन             | ७  |
| तन्नेष्टिप्रवचनमप्यक्षं       | २२ | प्रमाणपक्षकाभावे               | ५  | हिताहिताभेदमासि              | ३  |
| तत्त्वोक्तं यदि कल्पेत        | ३० | प्रमाणपक्षसंज्ञावः             | ३३ |                              |    |
| तथापि कल्पना नैवा             | ३२ | वाचनात् संज्ञकाभासे            | ५  |                              |    |



## ६. न्यायावतारसूत्रवार्तिकशब्दसूची ।

| [ अ ]              |            | [ ज ]            |                                  |
|--------------------|------------|------------------|----------------------------------|
| अकम                | २१         | अह               | २४                               |
| अलु                | ३०         | अगदान्ध          | ४                                |
| अनुमान             | २९         | अिग              | २१, ३९                           |
| अतामूय             | ३६         | अीय              | २०                               |
| अवचक्ष             | २३         | अीर्वा           | १८                               |
| अवचक्षा            | ४७         | अेन              | ५६                               |
| अवात्मक            | ५१         | आत्रये           | १२                               |
| अवात्मवेदन         | ४          | आन               | २, ४, १०, १६, १७, १८, २१, २४, ४१ |
| अविनिर्गम          | १७, १८     | आनकीगपय          | २०                               |
| अनुपपत्ति          | ४५         | आनसूत्रवय        | २५                               |
| अनुपपत्तिमत्       | ५२         | आनाहृति          | २०                               |
| अनुपपक्षता         | ४४         | अोति             | १२                               |
| अनुमान             | ४१         | [ त, द, ध, न ]   |                                  |
| अपचक्ष             | १६, २२, ५१ | तयवेदन           | १२                               |
| अपरज्ञान           | ८          | तयार्थवेदन       | ६                                |
| अन्वयसामप्रबन्धेत् | ११         | तर्क             | ४४                               |
| अन्वयानुपपत्त्य    | ४३         | तदात्म्य         | ४४                               |
| अन्वय              | ४६         | ताप              | ५४                               |
| अन्वयविचक्षण       | ४५         | तर्शन            | २१                               |
| अन्वयावेक्षा       | ४६         | तीपवत्           | ४                                |
| अपौक्यवेत्त        | ७          | तुरासजादिनीद     | १३                               |
| अभाष               | १५, १६     | तृष्य            | २३, २६, ३२                       |
| अभेद               | ३४         | धर्म             | ५१                               |
| अभेदसिद्धान्त      | ३४         | ध्वमि            | ४८                               |
| अवोता              | २९         | मिध              | ५१                               |
| अर्थ               | २५         | मिधार्थ          | ३६                               |
| अर्थापत्ति         | १५         | मिधम             | १५, ५६                           |
| अर्थय              | ३          | मिधमग्रह         | ४९                               |
| अवभास              | ३, २४      | मिरस             | २९                               |
| अवभासन             | १७         | मिरसपरमाणु       | २८                               |
| अविस्मय            | २३         | मिरसमितिभासन     | ३३                               |
| असक्ति             | ४९         | [ प ]            |                                  |
| असम्भत्त           | ५०         | पक्षचर्मैव       | ४८                               |
| असंयुक्त           | २९         | परमाणु           | २८                               |
| असिद्ध             | ५२, ५३     | परिणाम           | २६                               |
| [ आ ]              |            | परोक्ष           | २, ५, १३, २२, ३०, ३८, ३९         |
| आगम                | ५४         | [ य, ब, छ ]      |                                  |
| आत्मवेक्ष          | ४०         | यद               | ३५                               |
| [ इ ]              |            | याज्ञिक्य        | ४८                               |
| आगमावध             | २१         | येद              | ५४, ५५                           |
| आत्मन्             | ४६         | [ क ]            |                                  |
| आप्त               | ५४         | कर्तृसाधन        | ८                                |
| आप्तमणीतत्त्व      | ५४         | कल्पना           | ३२                               |
| आहुतिप्रक्षय       | १०         | कल्पमाज्ञान      | २०, ३३                           |
| आहारासक्तिचैतन्य   | ११         | कल्पमायुक्त      | २८                               |
| [ इ ]              |            | कय               | ५४, ५५                           |
|                    |            | कार्य            | ८                                |
| इदम्भ              | १७         | कार्यकारणसम्बन्ध | ४४                               |
| इदृषात             | ४५         | कार्यकृत्        | ११                               |
| ईश्वर              | ५२         | कार्यकृत्तुल्य   | ९                                |
| ईश्वर              | ४४         | कार्यादिपरिकल्पन | ४८                               |
| उपचार              | ४२         | कुलकाम्यास       | ९                                |
| उद्                | १९         | कुलिकोदय         | ४८                               |
| पृकाम्भसाधन        | ५३         | कुलिकव्यवसायक    | ४५                               |
| देहिम्य            | १७         | [ ग ]            |                                  |
| [ क ]              |            | गोचर             | २३                               |
|                    |            | ग्राहक           | ५                                |
| कर्तृसाधन          | ८          | [ घ, ङ, छ ]      |                                  |
| कल्पना             | ३२         | घट               | ३५                               |
| कल्पमाज्ञान        | २०, ३३     | घातुक्य          | ४८                               |
| कल्पमायुक्त        | २८         | छेद              | ५४, ५५                           |
| कय                 | ५४, ५५     | [ ङ ]            |                                  |
| कार्य              | ८          | [ च ]            |                                  |
| कार्यकारणसम्बन्ध   | ४४         | चक्षुर्मात्र     | ४८                               |
| कार्यकृत्          | ११         | परमाणु           | २८                               |
| कार्यकृत्तुल्य     | ९          | परिणाम           | २६                               |
| कार्यादिपरिकल्पन   | ४८         | परोक्ष           | २, ५, १३, २२, ३०, ३८, ३९         |
| कुलकाम्यास         | ९          | [ ट ]            |                                  |
| कुलिकोदय           | ४८         | [ ठ ]            |                                  |
| कुलिकव्यवसायक      | ४५         | [ ड ]            |                                  |
| [ ग ]              |            |                  |                                  |
| [ घ, ङ, छ ]        |            |                  |                                  |
| [ च ]              |            |                  |                                  |
| [ छ ]              |            |                  |                                  |
| [ ज ]              |            |                  |                                  |
| [ झ ]              |            |                  |                                  |
| [ ञ ]              |            |                  |                                  |
| [ ट ]              |            |                  |                                  |
| [ ठ ]              |            |                  |                                  |
| [ ड ]              |            |                  |                                  |
| [ ढ ]              |            |                  |                                  |
| [ ण ]              |            |                  |                                  |
| [ त ]              |            |                  |                                  |
| [ थ ]              |            |                  |                                  |
| [ द ]              |            |                  |                                  |
| [ ध ]              |            |                  |                                  |
| [ न ]              |            |                  |                                  |
| [ प ]              |            |                  |                                  |
| [ फ ]              |            |                  |                                  |
| [ ब ]              |            |                  |                                  |
| [ भ ]              |            |                  |                                  |
| [ म ]              |            |                  |                                  |
| [ य ]              |            |                  |                                  |
| [ र ]              |            |                  |                                  |
| [ ल ]              |            |                  |                                  |
| [ व ]              |            |                  |                                  |
| [ श ]              |            |                  |                                  |
| [ ष ]              |            |                  |                                  |
| [ स ]              |            |                  |                                  |

१. अक्षः कतिपयवृत्तः ।

६. न्यायावतारसूत्रवार्तिकसम्बन्धी ।

३०३

|                   |                  | [ य, र, ल ]         |        |                 |                |
|-------------------|------------------|---------------------|--------|-----------------|----------------|
| परोपदेशक          | ३९               | शुगपभास             | ३२     | शूल             | २४             |
| पक्षाथ            | १३, २६, ३९       | योग्य               | १०, २९ | शौत             | ३८, ४०         |
| पूर               | ४८               | योग्यत्व            | ९, ३९  | संबन्ध          | ४०             |
| पूर्वापराभास      | ५५               | रामादिसंक्षय        | ५४     | संबन्धित्व      | ४०             |
| प्रकृति           | ८                | कपायसिद्धि          | ५२     | संयुक्त         | २९             |
| प्रतिभास          | १३, २९           | कक्षण               | ४२     | संयोग           | २९             |
| प्रतिवादिन्       | ४१               | किन्न               | ४१     | संनिहितव्यतिरेक | २५             |
| प्रतीति           | ३९               | किन्नसमुच्चय        | ३८     | संनिहित         | ३५             |
| प्रत्यक्ष         | १, ५, १३, १४, २८ | किन्नित्            | ४१     | संज्ञाभास       | ५              |
| प्रत्यक्षपूर्वक   | ४४               | केतिक               | ३८     | सद्यदेष्टुक     | ४५, ५१         |
| प्रत्यक्षवत्      | ३०               |                     |        | सद्यदेष्टुक     | १०             |
| प्रत्यभिज्ञादि    | ३८, ३९           |                     |        | सद्यदेष्टुक     | २३             |
| प्रमाण            | १, २, ३, ६, ३६   |                     |        | सन्निकर्षादिक   | ३              |
| प्रमाणवत्तत्वाभास | १५               |                     |        | समन्वय          | ५३             |
| प्रमाणवत्तत्वाभास | ३०               |                     |        | समानपरिणाम      | ४९             |
| प्रमेय            | १२, १४, १६       |                     |        | सर्वांग         | ५१             |
| माणादि            | ४६               |                     |        | साक्षात्कृति    | १२             |
| मासिम             | १९               |                     |        | साक्ष्य         | १४             |
| मेक्षासुक्रम      | ५१               |                     |        | साधन            | ४६, ४९         |
| [ फ-म ]           |                  |                     |        | साधनानुपपत्त्य  | ५०             |
| फल                | ३६               |                     |        | साध्य           | ४३, ४६, ५०     |
| वाचविवर्जित       | २                |                     |        | साध्याभास       | ५२             |
| वाचसंभव           | ६                |                     |        | साध्याभास       | ५०             |
| वाक्यवस्तुतत्वात् | ४                |                     |        | साध्याभास       | २३, २६         |
| कुम्भि            | ३५               |                     |        | साध्याभास       | ३०             |
| मल                | ५६               |                     |        | साध्याभास       | ५३             |
| भाव               | ३५               |                     |        | साध्याभास       | ३०             |
| भूतवादि           | ७                |                     |        | साध्याभास       | ५३             |
| मेव               | ३४               |                     |        | साध्याभास       | ३०             |
| मेवज्ञान          | ३४               |                     |        | साध्याभास       | ५३             |
| मेवज्ञानभासिनी    | ३५               |                     |        | साध्याभास       | ३०             |
| मति               | ३९               |                     |        | साध्याभास       | ५३             |
| मनःसंज्ञ          | २०               |                     |        | साध्याभास       | ३०             |
| मन्त्रवादिन्      | ५३               |                     |        | साध्याभास       | ५३             |
| महत्              | २९               |                     |        | साध्याभास       | ३०             |
| भाव               | १४, ४०           |                     |        | साध्याभास       | ५३             |
| मायक              | १५               |                     |        | साध्याभास       | ५३             |
| मायकमन्त्र        | ५५               |                     |        | साध्याभास       | ५३             |
| मेवविनिर्णय       | २                |                     |        | साध्याभास       | ५३             |
| मोक्ष             | ९                |                     |        | साध्याभास       | ५३             |
| मौक्तिक           | ३५               |                     |        | साध्याभास       | ५३             |
|                   |                  | [ श, ख, ह ]         |        |                 |                |
|                   |                  | शक्य                | ५०     | कपराभासित्व     | २              |
|                   |                  | सम्बन्धसमुच्चय      | ३८     | कक्ष            | ४              |
|                   |                  | शब्दार्थयोजन        | २०     | कक्षवेदन        | १९             |
|                   |                  | सम्बन्धोक्तविवर्जित | ३२     | हितादिद्वार्थ   | १              |
|                   |                  | शासन                | ५६     | हेतु            | ४२, ४६, ५२, ५३ |



## ७. न्यायावतारवार्तिकवृत्तिगतानां वाद-वादि-ग्रन्थ- ग्रन्थकाराणां सूची ।

|                   |              |                      |                       |                              |                     |
|-------------------|--------------|----------------------|-----------------------|------------------------------|---------------------|
| अद्वैतवादिन्      | २५.१२        | जैन                  | २९.२५, २६, २८, २९;    | वार्तिककार                   | ७७.१३               |
| अनन्तकीर्ति       | ७७.११        |                      | ३८.२९; ५८.२५; ७३.२०;  | विचारकछिका                   | ११२.१९              |
| अनन्तवीर्य        | ७७.१०        |                      | १०७.६; ११३.४; ११९.२७  | वेद                          | २८.२३; ३०.६, ९, १९; |
| अनेकान्तवाद       | ११९.२४       | जैमिनि               | ५८.१२                 | ३१.५, ७, ८, १८; ३४.५; ३६.१७, |                     |
| अनन्तराजपुत्र     | ११९.२८       | ज्ञानवादिन्          | ८७.२७                 | २०; ३८.५, १५; ५२.२०; ५३.     |                     |
| अर्हत्            | १२२.६        | ज्ञानशून्यवादिन्     | ८०.११                 | २२; ५७.२६; ११३.५             |                     |
| अवैदिक            | २९.२५        | क्षिप्रिडक           | ३०.७                  | वैदिक                        | ३०.१३; ३८.१०१       |
| अशुद्धनयवादिन्    | ११६.१        | दिगम्बर              | १०१.१०                | ५७.१०१; ६३.१६, १८;           |                     |
| अष्टक             | ३१.५         | द्रव्यास्तिकनयवादिन् | ११५.२९                | वैभाषिक                      | ९८.६                |
| अश्वत्थवेदनवादिन् | ६७.२८        | धर्मकीर्ति           | ५४.३४                 | वैशेषिक                      | ७७.२३; १०७.६        |
| आकारवादिन्        | ९५.३         | नयचक्रविधाय          | १०८.११                | शान्ति                       | १२२.१८              |
| असम               | १००.११       | नास्तिक              | १७.२                  | शाबर                         | २९.९                |
| ईश्वरवादिन्       | ४१.२४        | नित्याणुवादिन्       | ३८.३०                 | सकार्यवाद                    | ११२.१७              |
| एकाग्रवाद         | ११९.२४       | निरात्मवादिन्        | २१.२४                 | सत्यभामादि                   | १२१.२१              |
| एकान्तवादिन्      | १०७.१४;      | निर्हेतुकविनाशवाद    | ८९.८                  | सदसदात्मकवस्तुवादिन्         | २८.१२               |
|                   | ११९.१३       | बुद्ध                | ५३.१७, २०, ५५.१३, १२१ | समन्तभद्र                    | १०८.१६              |
| एकाग्रमेववादिन्   | ११७.४        | बौद्ध                | ३१.४; ११३.१२          | सम्बन्धापौरुषेयवादिन्        | ३१.२४               |
| एकाग्रमेववादिन्   | ११७.३        | भट्ट                 | ६२.१२                 | सर्वज्ञवाददीका               | ५९.३१               |
| कर्मवाद           | ३१.५         | मल्लवादिन्           | १०८.११; ११२.२८;       | सर्वज्ञवादिन्                | ८७.२७               |
| कर्मव्यती         | ३०.२६        |                      | १२२.१२                | सांख्य                       | ४४.१; १०७.५; ११३.१३ |
| काम्यकुम्भ        | ३७.२७        | माध्यमे              | ३७.२७                 | सिद्धसेन                     | १३.१४; ९५.८;        |
| कापिक             | ११३.१२       | मीमांसक              | ३०.२७; ३३.१२,         |                              | १०७.१८;             |
| चन्द्रकुम्भ       | १२२.१६       |                      | १६; १२२.५             | सिद्धसेनार्क                 | ७८.१०               |
| चार्वाक           | ४५.१८, ६१.२३ | मीमांसा              | ५६.१०                 | सीतादि                       | १२१.२३              |
| चूडामणि           | ५९.३०        | वर्षमान              | १२२.१७                | सीगत                         | ६२.१२, १३; ७७.      |
| जिन               | ४५.६         | वादव्याय             | ६४.१६                 | २३; ९१.६, १६, १८; १०२.३०     |                     |
| जिवाग्रणीत        | ११३.५        | वार्तिक              | ५०.१५                 | हिरण्यगर्भ                   | ३१.५                |
| जिवागम            | १८०.५        |                      |                       |                              |                     |



## ८. न्यायावतारसूत्रवार्तिकवृत्तिगतानां शब्दानां सूची ।

|                            |                 |                   |                           |                      |                           |
|----------------------------|-----------------|-------------------|---------------------------|----------------------|---------------------------|
| अक्ष                       | ३९.२२           | अनुगतकार          | ८४.२३                     | अन्वापोह             | ९६.३१:                    |
| अक्षिन्                    | ३९.२४           | अनुगमाभाव         | १०६.१                     | अविषया               | ५७.२९                     |
| अकरणाधीनता                 | ५९.१९           | अनुपपन्न          | १७.२                      | अन्वोपकथित           | ६४.५                      |
| अकार्यकारण                 | ६९.१३:          | अनुपपत्ति         | १०५.२०                    | अन्वय                | १०४.११; १०५.२१:           |
| अभूत                       | ६९.१३           | अनुपपत्तिश्च      | २५.२५; ६३.२६;             | अवोप१३.१०; अन्व१२.१० |                           |
| अक्ष                       | २७.३; ३०.२४;    |                   | ६४.१८; ६५.१; ६८.२, ३;     | अपरिच्छिन्न          | ४०.५५                     |
| अक्रम                      | ५९.१२           | अमास              | ३१.१६; व्यापक             | अपारमार्थिकत्व       | ७८.२८                     |
| अक्रियाकप                  | २०.११           |                   | १२.१४                     | अपेक्षा              | ४७.२०                     |
| अग्निहोत्र                 | ३४.७            | अनुपकम्भ          | १९.२०, अद्वय              | अपोह                 | ९७.७; पक्ष९८.२२:          |
| अजनक                       | ६८.२८; ०९ ६८.१६ |                   | १९.२१; दद्वय १९.२२        | अप्राविचय            | ५७.१३                     |
| अजन्म                      | २०.५            | अनुभवस्तिष्ठ      | ८४.१०                     | अपौरुषेय             | ३१.२३; ३६.१०;             |
| अज्ञात                     | १५.२८           | अनुमा             | ८६.१४;                    |                      | ०९२९.१; ३४.१२             |
| अज्ञान                     | २०.३२           | अनुमान            | १४.२४; १६.१३;             | अप्रच्युत            | १७.२                      |
| अतिशय                      | ५२.९;           |                   | १५; १९.४; १६; १८; २२.२७;  | अप्रतिभासमान         | ४१.२०                     |
| ज्ञान                      | ५२.२५           |                   | २३.१, ४; २५.५, १४; ३०.२३. | अप्रतीति             | १८.५                      |
| अतीन्द्रिय                 | ५१.२३; ५२.२६    |                   | ३१.१, ७; ३५.२९; ३८.२४;    | अप्रत्यक्षोपकम्भ     | १८.३०                     |
| वर्णन ५२.१२; ०६ ५८.१६      |                 |                   | ४१.२८; ४५.१०; ५६.२६;      | अप्रमत्त             | १२१.३                     |
| विज्ञान                    | ५८.१७           |                   | ६०.९; ६१.२३; ६३.१२; ७०.   | अप्रमाण              | ११.१८; २२.१६              |
| अनुब्रह्मपता               | ८५.११           |                   | २०, २८; ८५.१९; ८६.३७; ८७. | अप्रवर्तक            | ५७.२३                     |
| अद्वयानुपकम्भ              | १९.२१           |                   | ३; ९३.१४; ९५.१४; १०१.१९;  | अप्रवृत्तिमिदृष्टिक  | ७३.१०                     |
| अद्वय                      | ३३.१८; ११६.११   |                   | १०४.९; १०७.२५; ११०.५;     | अप्राणादिमत्प्रसङ्ग  | १०४.२२                    |
| अद्वैत                     | २५.२            |                   | ११६.३; ११७.२०.६           | अप्राण्यकारित्व      | ३७.२८; ७४.                |
| अधर्म                      | ११२.१६          | अनुपेक्षगतज्ञान   | ५४.३७                     |                      | २५; ७५.६                  |
| अधिकरण                     | १२०.३०          | अनुपयुक्तकारता    | ३४.२५                     | अप्रामाण्य           | २७.१४, २७; ११२.२८         |
| अधिकारित्व                 | ४४.२९           | अनेकवृत्ति        | ३९.३                      | अवाहित               | २८.१६; ०९ २२.             |
| अध्याक्ष                   | ३७.७; ५६.२५;    | अनेकान्तात्मन्    | ८८.२४                     |                      | ८; २६.१६; २६.२२; २७.१;    |
| ५८. २७; ७२. १६; अति-       |                 | अनेकान्तात्मन्    | १०८.२१                    |                      | ०६३३३३३ १६.१३             |
| न्द्रिय ७७.५, ९; इन्द्रियज |                 | अनेकान्तिक        | १०७.१२; १०८.              | अभाव [प्रमेय]        | २८.१३; ६१.२९;             |
| ७८. १६. योगज ७८.१८         |                 |                   | ८, १३;                    |                      | ६३.८; ६५.५; ६६.१४, ३०;    |
| अनपेक्ष                    | ११७.५           | अन्तर             | ८३.६                      |                      | ६७.२६; ६८.९, १५, २८; ६९.  |
| अनभिमत                     | १२.५            | अन्तरङ्ग          | ९२.१७                     |                      | २०, २७; ७०.२; ७३.२०; ९०.  |
| अनर्थसंशयनिवृत्त्यर्थ      |                 | अन्तरूपद्वय       | २४.२४                     |                      | १६, १८; ११७.१५, २८; ११८.  |
| अनवस्था                    | १०७.२५          | अन्वकारणसामग्री   | ३९.९                      |                      | १६; ११९.८; अक्ष ६७.२७;    |
| अनात्मविद्                 | २०.२६           | अन्वचीजादिसामग्री | ६१.१७                     |                      | ७२.२१; अद्वय १५.२२;       |
| अनात्मवेदन                 | १८.५            | अन्व-मूक          | १८.४                      |                      | अजनक ६६.६; ज्ञान ६८.१८;   |
| अनाक्षरणीयत्व              | १२.२७           | अन्वयानुपपत्ति    | १०४.११                    |                      | अतिराकरण ६६.२६;           |
| अनित्य                     | ९०.२५           | अन्वयानुपपन्न     | १०२.२९;                   | अभाव [प्रमाण]        | १९.२०; ५२.२९;             |
| अनिन्द्रिय                 | ७४.१९           |                   | ०९ १०४.१०;                |                      | ५८.२६; ७२.३; प्रमाण ३१.   |
| अनिवर्त्येकारारम्भक        | ४८.१            | अन्यनिषेध         | ९७.२९                     |                      | १८; ६३.६; ६९.१९; प्रमाणता |
| अनिवर्तप्रमाण्य            | २१.१२           | अन्यापेक्ष        | १४.२६                     |                      | ५६.२५                     |
| अनुगत                      | ८४.२५           |                   |                           |                      |                           |

|                           |                 |                            |                      |                               |
|---------------------------|-----------------|----------------------------|----------------------|-------------------------------|
| अभिधक्काकार               | ११०.२२          | अधिककारण                   | ५१.२२                | १६;६०.२७;७७.२७;९२.६,          |
| अभिधान                    | १७.१६           | अधिधा                      | २४.२८;२५.१           | ९४.४१; ११६.२.२० °अधा-         |
| अभिधेय                    | ११.१०           | अभिभाभावनिमित्त            | १०३.२९               | शक १८.११ °व्यापार १८.७        |
| अनेव                      | २५.१२;१८;८४.२३; | अधिष्ठा                    | २९.२०                | आदर्श-कत्रादि ३२.३०           |
| °ज्ञान८४.२३;°अव्यवसाय     |                 | अधिसंवाहित्व               | २६.२२;२९             | आहित्व ३३.६                   |
| ६२.२१                     |                 | अव्यवस                     | ११४.९                | आविधानव्य १२.३;१२.१९          |
| अव्यवस                    | ५२.२४;५९.२      | अव्यवसानुष्ठान             | १२.४                 | आधार ३५.६;५०.२१;°आवेवता       |
| अव्यवस                    | १०३.६०          | अव्यवस                     | ११२.२९               | ३५.५; °आवेवभाव १७.            |
| अलोका [ कीलाव. ]          | १२०.२           | अलङ्घनीयत्व                | ६७.२१                | १;८२.१ °आवेवमूल १६.           |
| अव्यवसायकन्याय            | ११२.१           | अलस                        | ३७.१३;११९.१२         | २२ °द्वेष २७.३                |
| अव्यवसाय                  | ३७.२८           | अलसत्वाति                  | २३.२६                | आवेवता ३५.५                   |
| अव्यवसिद्ध                | १६.२२;३६.५२     | अलसता                      | ३१.१७;४७.१९;६७.      | आनुपूर्वी ३७.२९               |
| अव्यवसिद्धि               | १६.२२           |                            | १२;६९.२७             | आप्तमनीयत्व १२.२७             |
| अर्थ ८०.१९;११०.२;°किवा२२. |                 | अलसत्व                     | २२.५                 | आरोप्य ४७.३०                  |
| १; ७१.१७; ९२.१३;९४.       |                 | अलस्यवहार                  | ३४.६;८;७३.१३         | आकषयिज्ञान २१.२५              |
| १०;९५. १६ °किवाकारित्व    |                 | अलसमवधिद्वेषत्वकूप         | २९.१                 | आलोका ४१.१                    |
| ८७.५;९७. २७;°किवाज्ञान    |                 | अलसधनाङ्ग                  | १०२.८                | आवरण ३३.९;३७.१६;७५.९;         |
| २२.४;°किवाविरोध ३५.       |                 | अलसमर्थोत्पाद              | ८९.७                 | °विनाश ३३.८                   |
| २५; °तथात्मप्रकाशनशक्ति   |                 | अलसिद्ध                    | ३८.२१;१०७.१३;१८;     | आविर्भाव ११५.१२               |
| २७.१२;°वर्तमान ३६.९°निषेध |                 |                            | १०८ स्वरूप° १०७.३;   | आश्रय ३५.२१;°आश्रयिभाव        |
| ७९. १७ °परिच्छेदक ९४.     |                 | समिद्धत्व° १०७. ३;         |                      | ४९.२२;°आश्रयिभाव-             |
| १८; °प्रकाशकत्वाव्यवसायप- |                 | भाग° १०७. ४. वादि°         |                      | प्रतिषेध ४९.२२                |
| पत्ति १८.२; °प्रतीति ३२.  |                 | १०७. ५; प्रतिवादि°         |                      | आश्रितत्व २०.२२               |
| २०;° प्राकङ्ग १९.५; °वत्  |                 | १०७.६;आश्रय° १०७.          |                      | आलक्षित ४५.२७                 |
| ३१. १५;° वत् ३१. ११;      |                 | ७;समिद्धवाश्रय° १०७.       |                      | इन्द्रिय २२.२८;७४.२२;         |
| °आवृत्त ३३.१९; °वेदन      |                 | ८;°तोज्ञान १२.१४           |                      | ७६.७;१६;°अव्यवस्यतिरेका-      |
| १७.२२;° संशयोत्पादन १२.   |                 | अवृत्त                     | ४०.१८; °वत् १११.     | मुक्तिवादि ८६. ३३; -आर्ह-     |
| ७; °आकारता ९४. २३;        |                 | २४; °आकार ४०.१७            |                      | कारिकत्व ७४. २३; -मौलिक       |
| °अधिपति ९४. ९; °अभाव      |                 | अवृत्त                     | ४०.२७                | ७४. २२; -अव्यवसायित्व         |
| ७८.२७ °अक्षित्व ८०.१;     |                 | अवृत्त                     | ३१.२                 | ७४. २५ °ज ७८.१६; °ज्ञान       |
| अर्थापत्ति १९.४;३१.१८     |                 | अवृत्त                     | १३.४;१२              | १०१.९; °व्यापार ७१.२२         |
| ३२.१७;६३.१६;११०.५         |                 | अवृत्त                     | ११९.१३;°तामस         | इष्ट १०६.११;-                 |
| अर्हत्                    | २८.२७;४५.१५     | अवृत्त                     | ३८.७ °ता ३९.१३; °त्व | °विषय ४२.१४                   |
| अर्हत्कारव                | २४.१७           | अवृत्त                     | ११७.४;११८.१०         | ईश ४२.२८                      |
| अव्यवस्य                  | ९४.१            | आकार                       | ६९.५;९४.२३           | ईश्वर १६.५;२८.२३ ३८.          |
| अव्यवसायमान               | ४१.२०           | आकाश                       | ३२.२४;३३.१५          | १६;४२.१७;५६.१६                |
| अव्यवस्य                  | ३८.१५;४०.१६;    | आकृति                      | ११०.१३               | उत्पत्तप्रज्ञातव्यतिरोध ७५.१४ |
| १०२.६;                    |                 | आगम                        | ५३.६;६३.१६;          | उत्पादव्यय ११९.२४;-           |
| अव्यवसिन् ३८.२८;३९.१५;४०. |                 | °गम्यत्व ५५.४; °त्याग १०१. |                      | °बोध्य ९०.२६;- °बोध्य-        |
| १,७,१६,२४;४१.१९,१३;°      |                 | ९; °विधि ५९.७; °अन्तर      |                      | निधायकत्व ११३.१;-             |
| °रूप ८०.१९                |                 | ३१.८;११२.१६;११९.२६         |                      | उपकरण १२०.२९                  |
| अव्यवसायकारण              | १५.३            | आत्मन् १६.४;१७.१;१७.       |                      | उपकार ३५.२१;- °कत्व           |
| अभाव                      | ७७.९,१६;१०१.७   | २५;३३.१७;४४.११;४५.४,       |                      | ३९.९                          |

|                    |                    |                      |                    |                      |                      |
|--------------------|--------------------|----------------------|--------------------|----------------------|----------------------|
| उपकारादिभाव        | ८१.३१              | काचपत्र              | १९.२               | क्षीनवेद             | १२२.१                |
| उपकाराभाव          | ६९.७               | कामादिभावना          | ५८.२१              | क्याति               | २३.१४;—मत्त          |
| उपकारोपकारत्व      | ८१.३०              | कारकजग               | २०.५               | २३. २६;—मर्कटिकत्व   | २४.                  |
| उपचार              | १०२.३              | कारण                 | ४९.१९;९१.१८;       | ३०;—आत्म             | २४.१४;२३;            |
| उपनय               | १०२.८,१०,३१        | ९२.१५;११९.१३;१२०.९;  |                    | क्षिपीत              | २३. २६;—स्मृति-      |
| उपमा               | ५८.३३;६२.६;        | १२१.१;—भवत्वा        | १५.३;              | प्रमोद               | २४.१३                |
|                    | ६३.२०              | अधिक                 | ५१.२२; उपादान      | सिद्ध                | ३०.१८                |
| उपयोग              | ७६.२६              | ८.२०; गुणज्ञान       | २१.१४;             | गुह-नागर             | ८७.३२;८८.२           |
| उपकृतिप्रतिषेध     | ६४.४               | २२.२७;—गुणनिश्चय     | २७.                | गुण                  | १५.१९;२३.०;५१.       |
| उपकृतिवृत्तगमास    | ४०.१०              | ७; सहकारि            | २१.१६;             | १३; ८०.२९;—ग्रहण     | १५.                  |
| उपादान             | ४८.२६; कारण ४८.    | सामग्री              | ५१.२२              | २१;—ग्रहण            | १५.२१                |
| २०१;—विकार         | ४८.१३              | कार्य                | ३४.२४;४१.२४;४९.२०; | गृहीतग्राहिरव        | २२.१६;२६.४           |
| उपादेय             | ४८.१४              | ५१.२२;९२.८;१५;११९.   |                    | ग्रहण                | ७२.१६;११२.१          |
| उपापनिश्चय         | १२.९               | १३;१२०.९; °अनुत्पादक |                    | ग्रहोपराग            | ५१.२३;—नाति-         |
| उपापमोद            | ७०.२०              | १४.२५;               |                    | जात्यकर्तृ           | ५१.२८                |
| उपापमोष            | ११.१३              | °कारणप्रवाह          | २१.३०;             | प्राज्ञत्व           | ६९.३,१४              |
| उपेक्षणीय          | ६३.४               | °कारणभाव             | १९.२४;८१.          | प्राज्ञाकार          | ६९.१,१२              |
| उभयकपत्व           | ९३.२७              | ३१;८९.१०; °कारणभा-   |                    | चक्र                 | २१.२२;२५.२८          |
| उभयात्मक           | ८७.२८;११९.११       | वत्त्व               | ६६.९; °कारणभा-     | चक्षुष               | १७.५;४८.२७;७२.       |
| ऊर्ध्वठाकन         | ८१.११              | वाच्यवत्त्वा         | ४६.४;—जन-          | १३;७४.२८;७५.१०;७६.   |                      |
| ऊर्ध्वठासामान्य    | ८४.१४;—            | कत्व                 | ६९.२२;—°ताहेतु     | १६;७७.४;—°आधिकार्यता |                      |
| °माहि ९३.२१        |                    | ४३.३४;°त्व           | ३८.१७;             |                      | ४९.४                 |
| ऊह                 | ७७.९,१६;१०१.७      | ३८.२४,२७;—°रूपता     |                    | चान्दनाम्ब           | ८५.२८                |
| एककार्यकरण         | ८९.९               | ३८.३०                |                    | चित्त                | ४८.२६;४९.२३          |
| एकज्ञानसंसर्ग      | ७०.१०;७९.१८        | काक                  | १०५.२५             |                      | ११२.२१               |
| एकज्ञत्व           | ३९.१०              | कीटसंख्यापरिज्ञान    | ५४.३८              | चित्र                | ४७.२१;—°अज्ञेय ८०.२२ |
| एककन               | १७.२               | कूटत्व               | ९१.१;—             | चेतस                 | ४८.२६;५०.२५          |
| एकसामग्र्यधीनत्व   | ६९.६               | °नित्य-९०.२५         |                    | —कायात्मक न          | ५०.२६;               |
| एकान्तक्षयिक       | ९१.१२              | कृतक                 | ३१.२८              | —कायाश्रितं न        | ५०.२५                |
| एकान्तसाधन         | १०८.२३             | रूपा                 | ४३.४               | चेतस्य               | ४५.२४;४६.१४          |
| एकार्थसमवाय        | २०.२८              | रूपीवत्              | १२.७               |                      | ४७.२१;५०.२३,३०;      |
| एकोपक्रमानुभव      | ७०.८               | केवलज्ञान            | ४४.१०;४५.४         | °कारणत्व             | ४७.६                 |
| कपक्षिकत्व         | १३.१०              | कोशपान               | २९.२८              | बोद्धता              | २९.१                 |
| कर्तृ              | ३१.२;४२.७,९,११,१४; | कोष्ठ                | ३२.२७              | जड                   | ७९.२२                |
| °त्व               | १०५.९              | केवल्य               | ९१.१६              | जनक                  | ६८.२८;६९.३५-         |
| कर्म               | १८.२२;३१.१५;४२.३८; | कम                   | ३३.२५;—°बोधपथ      | °त्व                 | ३५.११;६९.२           |
| ४३.११;४७.१५;—वासना |                    | ३५.२५;८७.५           |                    | जन्मन्               | ४५.२८;११९.१३         |
| २१.२८;—नाधिपत्य    | ४८.२०              | क्रियाकारकव्यपदेश    | १७.२६              | जन्मजनकभाव           | ८१.३१                |
| कवचना              | ८१.२१;८४.४;        | क्रियाकृप            | २०.११              | जन्मत्व              | २०.२३                |
| ११०.२१;°अपोह       | ८६.५;—             | कीटाणां (प्रवृत्ति)  | ४३.६               | जाग्रहता             | ७९.६                 |
| °ज्ञान             | १६.१८;८१.२०        | क्षयिक               | ८७.१०;९१.२७;—      | जाति                 | ९६.२५;११०.१६,२६;     |
| कविय               | १७.२६;             | °ता                  | १०४.१७;१०५.९       | १११.५;—°अन्तर        | ८८.१९;               |
| °गोचर              | ९४.४;              | °ममादी               | ८६.३७-°त्व         | २१;—°आधिकार्यता      | ११०.२६;              |
| काकवृत्तपरीक्षा    | १२.४               |                      |                    |                      |                      |

|   |   |  |
|---|---|--|
| — <sup>०</sup> शानोपसंहार ५४.१७;                  | शुद्धादिमादिवाच्य ११३.१                           | लिकी सूक्तयो ११३.९;पवां-                       |
| — <sup>०</sup> शायक ३५.१६;—प्रति-                 | सूची ७१.४   | पनय ९३.२९ शुद्धप्रत्यास्तिक                    |
| मासाभावा ११०.१८;मेव                               | सुमंगल्य २९.७                                     | ११३.१९;—शुद्धपर्यायास्तिक                      |
| ९८.१३;— <sup>०</sup> कक्षित ५४.                   | रक्त्य ८५.१५                                      | ११३.१९;—शुद्धाशुद्ध ११३.                       |
| १६;— <sup>०</sup> कारण ४६.२६                      | रक्त्य ६८.७;७९.१९                                 | १२   |
| जिन ११.७;७८.४                                     | रक्त्य-लिकित्य ९८.५,२३;—                          | नामाप्रकृतिकार्य ७५.२९                         |
| जीव २८.२७;५१.२४;१००.                              | <sup>०</sup> पक्षीकरण १११.२९                      | नालिकेरद्वीपायात ३८.२९                         |
| १६;— <sup>०</sup> प्रत्य ४५.२७;५०.२१;             | रक्षाण्य ४१.९९;१०३.१०;                            | नावा ५०.७;११८.१०                               |
| — <sup>०</sup> स्वाभाव्य ४५.१२                    | १०४.१७  | निःशेषकारण १२०.१०                              |
| ज्ञात १५.२७                                       | देव ५२.३७   | निगमन १०२.८;१०३.४,३०                           |
| ज्ञातृ ६०.६                                       | देवा ८३.१०;                                       | नित्य ८७.९;— <sup>०</sup> नित्यात्मक           |
| ज्ञान १४.५;१७.१,५;१८.१;                           | <sup>०</sup> काक-स्वभावाभेद ८८.                   | ८७.२५;९०.२२;— <sup>०</sup> नित्या-             |
| २५.२५,२९;२७.३,१;४५.                               | १६; <sup>०</sup> विशेष १०५.२६                     | सम्ब ९२.१३;— <sup>०</sup> त्व ३२.२३;           |
| १५;५४.७;५९.३७;६०.२७;                              | देव ४३.३०— <sup>०</sup> कर्मा ( मति )             | — <sup>०</sup> परमाध्वारक्त्य ३३.२३;           |
| १००.१६;— <sup>०</sup> अनुगत ८४.२५;                | ४३.३०;— <sup>०</sup> आत्मिका ( मति )              | <sup>०</sup> वर्णारक्त्य ३३.२३                 |
| — <sup>०</sup> अन्तर ९४.१०;— <sup>०</sup> अभिधान- | ४३.३०;— <sup>०</sup> गुणा ( मति ) ४६.             | निबन्ध ६२.१९;११३.३,                            |
| प्रकृति १७.१६;— <sup>०</sup> आकार ४१.             | ३०;— <sup>०</sup> आश्रित ४९.२२                    | ७;१२०.१४;— <sup>०</sup> प्रकृ १०६.५;—          |
| ५;८०.२०;९७.२८;— <sup>०</sup> आत्म-                | दोष २७.९;३०.१८;                                   | अभिमानाव १०३.२९                                |
| भेद ८०.९;— <sup>०</sup> आहृतिक्षय                 | अक्ष २७.३;— <sup>०</sup> अभाव                     | निकोप ५७.२६                                    |
| ४५.१५;— <sup>०</sup> केवळ ४४.१०;४५.               | २३.७;— <sup>०</sup> आधार २७.३                     | नियोग ५६.२२,२७;५७.१;                           |
| ४;— <sup>०</sup> प्रतिभासभेद ४१.३;—               | प्रत्य २२.२१;३४.२४;३९;                            | ५८.२;१०९.११                                    |
| <sup>०</sup> वत् ५४.३५;— <sup>०</sup> वाक्यो-     | १७;८०.३०;८३.२८,३०;८४.                             | नियोज्य ५७.२६                                  |
| होति ८२.४   | २३; ९५.१५,१७;१०५.१०;                              | निराग ९१.२४                                    |
| ज्ञापकाव १८.२९                                    | ११७.५;११८.८;                                      | निराकम्बन ५७.१३;८०.८;                          |
| ज्योतिर्विद् ५२.१९                                | <sup>०</sup> अकिञ्चन ११३.९                        | निर्गुण १५.१९                                  |
| ज्वरहरतलकचूकारण १२.५                              | — <sup>०</sup> प्रहण १५.२०;— <sup>०</sup> पञ्च-   | निर्माण १२०.९५;                                |
| तत्पुत्रत्व १६.२०                                 | सामान्यविशेष ७८.२५                                | <sup>०</sup> हेतु १२०.५                        |
| जव २८.२७  | धर्म ६७.१९;— <sup>०</sup> अधर्म ५९.१४;            | निर्विकल्पकवर्तन ९२.४                          |
| जद्वज्जपिष् २०.३१                                 | — <sup>०</sup> अधर्मज्ञता ५९.१४;५९.९              | निवर्तन ८९.१,८                                 |
| जवाभासजा १७.२६                                    | <sup>०</sup> क ५५.७;— <sup>०</sup> कृत्यविशेष ५५. | निवर्तनिवर्तकभाव ८९.१०                         |
| जगुत्पत्ति ३६.३                                   | १;— <sup>०</sup> धर्मिभाव ५७.२०                   | निवर्तनिकारारम्भक ४८.२                         |
| जजावनिवत ११७.५                                    | — <sup>०</sup> साधकत्व ६२. ११                     | निवृत्ति ८९.१२                                 |
| जगुत्पत्ता ६९.११                                  | धर्मिन् ३९.१;६७.१९;                               | निश्चयप्रत्यक्ष ७८.१९                          |
| जगुत्पत्त २०.२२                                   | १०५.२५  | निश्चितप्रामाण्य २१.१२                         |
| जमव ४४.२४;७६.२१                                   | धूम ४६.६;४७.१;                                    | निश्चितत्व ८५.१५                               |
| जर्क १०३.३०;१०४.३,९,                              | ध्यान ३०.१  | निषेध ९६.३३                                    |
| जाद्वत्त्व ३६.४;९६.२०,९८;                         | धोव्य ११३.१३;११६.१                                | निष्पद्योजन १२.१३                              |
| — <sup>०</sup> जगुत्पत्ति १०३.३१                  | ध्वंस ११७.२२                                      | पक्षदेशिक् ११.७                                |
| जापादि ११२.६                                      | ध्वंसि ३२.२८;— <sup>०</sup> धर्म ३२.३०            | पक्षधर्म १०२.११;— <sup>०</sup> पक्षसंहार       |
| जिरोभाव ११५.२४                                    | जगर्ष ६६.२६;११९.८                                 | १०२.१६;— <sup>०</sup> त्व १०५.२१;              |
| जिर्वग्रूप ८१.११                                  | जग ११३.९;— <sup>०</sup> जग-संग्रह-जग-             | <sup>०</sup> वचन १०२.१४;— <sup>०</sup> संलग्न- |
| जुष्टकथ २८.१३;११८.२५                              | हारजुष्टकथमजुष्टकथमजुष्ट-                         | वचन १०२.१९                                     |
| जैकथ १०३.१०;—                                     | —११३.९;— <sup>०</sup> प्रत्यास्तिक-पर्यावा-       | पक्षकक्षण १०६.८                                |
| <sup>०</sup> वचन १०२.२५                           |   | पक्षवचन ४५.१                                   |

|                      |                          |                                |                          |                                |
|----------------------|--------------------------|--------------------------------|--------------------------|--------------------------------|
| वद-कुडी              | ३३.२८                    | प्रकृति                        | ४४.५, ११, ३०; ११४.१;     | °ता ६०.२२; °त्व ७३.४; -        |
| पविकाशि              | ३१.२०                    | -°दुस्वान्तरज्ञान              | ४४.१                     | °सिद्धि ६१.२९; -सिद्धय-°       |
| पव                   | ३८.४                     | प्रशोभ्येव                     | ५८.१३                    | ७८.१९; -अवहारी° ७८.१८; -       |
| पदार्थ               | २८.२७; ५१.२४;            | प्रतिक्षणविनाशिन्              | ५०.२०                    | °साम्यवाच्य ५२.४               |
|                      | ६७.१४; ८७.२६;            | प्रतिज्ञा                      | १२.२१; ५२.१; ५३.२९;      | प्रत्यभिज्ञा ३९.१९; ८६.३२; ८८. |
|                      | °संकर ६७.९               |                                | ५५.९; १०२.१०, २३;        | २३; ९९.१५; १०१.१, °प्रत्यक्ष   |
| परमसिद्ध             | ७८.३०                    | अर्थकदेशात्                    | ८७.२९                    | ९२.१८; ९३.२१,                  |
| परमाणु               | ३८.२८; ८२.१७;            | प्रतिपादनाभिप्राय              | ३६.९                     | प्रत्यभिज्ञान ५०.१९; ८४.२६;    |
|                      | ८३.२३; ८४.११; ९२.२९; -   | प्रतिबन्धग्रह                  | २३.१                     | ९३.८; ९९.२६                    |
|                      | °रूप ८०.१९-°समूह ८३.३०   | प्रतिबिम्ब                     | १२.२४                    | प्रत्ययत्व ८०.८                |
| पररूप                | ६७.१३; ६८.१; ११९.१२      | प्रतिभा                        | ७७.१०                    | प्रत्ययमेव ८६.७; °मेवित्व      |
| परलोक                | ४६.३१; ६१.२८; -          | प्रतिभास                       | ६१.६; ६८.१६, २८;         | ३२.३१                          |
|                      | °अनुमान ५१.८             |                                | ६९.१; -°जनकत्व ६९.२०;    | प्रथमाक्षसन्निपात ८४.१२        |
| परलोकिन्             | ४६.२५                    | धर्म ८३.३; °निबन्धन ६५.१५      |                          | प्रदीप ११.१९; वत् १८.१         |
| परवचन                | १०१.२७                   | -°मेव ७०.२०;                   |                          | प्रधान ११४.१४; °अन्तरज्ञान     |
| परस्परपरिहार         | ८८.२७                    | °समानकाक्षव ६९.२               |                          | २८.२३                          |
| परस्परसङ्कीर्णस्वभाव | ६७.२४                    | प्रतिभास्य ८५.७; °मेव ७०.७     |                          | प्रध्वंस ६७.३; °अभाव ९०.१८     |
| परामन्               | ६७.१२                    | प्रतिवादिन्                    | १२.१८                    | प्रमाण ११.१८; १३.१३; १४.५;     |
| पराधीनमान            | १०२.२१                   | प्रतिवाद्यसिद्ध                | १०७.६                    | १६.३, ७; १६.१०; १७.५;          |
| परिमह                | १२०.२७                   | प्रतिविध्यमानपदार्थस्मरण       | ६९.१७                    | २६.२२; २८.२३; ३५.१४; ५४.       |
| परिणाम               | ८०.३२;                   | प्रतिविध्यमानवस्तूपकडिप्रतिषेध |                          | ४०; ५९.११; ६१.१५; ७१.५;        |
|                      | °असिद्धि ११४.१५          |                                | ६३.२७                    | ९४.१७, २०; ९४.२३; १०८.२        |
| परिष्कृत             | ४०.२४                    | प्रतिविध्यमानवस्तुग्रहणस्वभाव  |                          | -अबाधित २८.१६; °आभास           |
| परोक्ष               | १८.८; १९.४; ६०.७, ८      |                                | ६३.२६                    | १३.२६; °गोचरकारिन् ५६.         |
|                      | २५; ६१.९, १३; ७३.२८;     | प्रतिविध्यमानवस्तुस्वभाव       | ६४.६                     | १८; -°जनन १६.३; °त्व १५.९;     |
|                      | ७८.२४; ९५.११, १४; ९६.    | प्रतिविध्यमानस्मरण             | ७०.९                     | -°दशक ५६.१२; °पञ्चक ५३.        |
|                      | २८; ९९.८, १२, १५;        | प्रतिषेधविकल्प                 | ६८.२७; ७१.६              | २४; °भूत १३.१३; °लक्षण २६.     |
|                      | °अर्थ १०१.२४             | प्रतिसंधान                     | ८८.२३                    | २४; °विषयवत् २६.२०; °विषय      |
| परोपदेश              | १००.१०                   | प्रतीति                        | ९४.२०; १११.२७            | ६०.६; °सिद्ध १७.२६             |
| पर्याय               | ८०.२८; ८४.२३; ९२.        | प्रत्यक्ष                      | ११.७, १९; १४.१०; १६.     | प्रमाता १६.१०                  |
|                      | १५, १७; °नय ९३.२९; -     |                                | १४; १८.८; १९.१८; २१.१६;  | प्रमादादि १२१.११               |
|                      | आत्मक ८३.३०; -           |                                | २२.२७; २३.२; २५.४, १०,   | प्रमोच २३.२९                   |
|                      | °अक्षि ११३.१०;           |                                | १३; ३०.२३; ३१.७; ३५.२९;  | प्रयत्नान्तर ३२.२३             |
| पर्युवास             | ६६.२६; ११९.८;            |                                | ३७.७; ४५.१६; ६०.७, ८;    | प्रयोजन ११.१०, १६; २२.१; २६.   |
|                      | °रूप ९६.३१; ११७.१६       |                                | ६०.२५; ६१.६, १३; ६३.८;   | २४; ४२.३२; ५४.५; ११२.१२;       |
| पारतन्त्र्य          | ८१.२५                    |                                | ७०.२०; ७२.१८; ७३.१३, २८; | प्रवर्तक २१.१०; °त्व ९४.१८     |
| पुच्यपाप             | ५५.४                     |                                | ७४.१; ८१.११; ८२.१२; ८३.  | प्रवृत्ति १७.१६; ९४.१०         |
| पुत्रकावर्त          | ४५.१३                    |                                | ३१; ८६.३३; ८७.६, २४; ९२. | प्रसङ्गविपर्ययसाधन ३९.३        |
| पुरुष                | ४४.५, ३०; ५२.३५;         |                                | २३; ९३.१३, १६, २०; ९८.१; | प्रसङ्गप्रतिषेध ६६.२८          |
|                      | ११४.२; °आश्रयत्व ३०.     |                                | १०४.९; १०९.१६; ११२.१;    | प्रसङ्गरूप ९६.३१; ११७.२६       |
|                      | १८; °प्राप्त्यर्थ १२.२४; |                                | ११६.४; °आदिबाधित १०६.    | प्राणादिमात्र १०४.२४           |
|                      | १११.१९; ११२.९            |                                | ११; °अनुपपन्नसाधक १९.    | प्राकृत्य १९.११                |
| प्रकाश               | ७९.२८; °योग ७९.२२        |                                | २४; °ऐन्द्रिय° ७४.१९;    | प्रागभाव ६७.५; ९०.१८; ९२.९     |
|                      |                          |                                |                          | प्राणावान ४९.५; °कार्यता ४९.   |



|                              |                            |                          |                           |                    |                   |
|------------------------------|----------------------------|--------------------------|---------------------------|--------------------|-------------------|
| अक्षिप्त                     | ७७.११, १७                  | ९८.१०; ११७.२०; -°अक्ष    | मिथ्यात्व                 | २३.१४; २४.१६;      |                   |
| अक्षान्त                     | ८१.३०                      | ७२.१२; ७३.६; -°अक्ष      | २७.३१; -°हेतु             | ३०.१८              |                   |
| अक्षकर्म                     | ७१.३३; ७४.१९               | आत्मक ९०.१७; -°एक        | मिथ्येतर                  | १२.२६              |                   |
| अक्षकारिण                    | ७२.१३                      | परमार्थ ६८.१; -°अक्षि    | मीमांसा                   | ५६.१६              |                   |
| अक्षान्त १७.१; २३.१२; २७.२०; |                            | २९.१३; २१                | सुम्रा                    | ३०.१               |                   |
| २९.१; ७४.१; ६१.११; ७०.       | आत्मना                     | २१.२; ५८.१               | सूचना                     | १२०.२७             |                   |
| ११; ८६.३२; १२०.४; १११.१९;    | सिद्ध                      | ११६.२९; -°प्रत्यय-       | सूचनय                     | ११३.१०             |                   |
| -°अक्षि २२.३; -°सिद्धय २२.   | विषयत्व ७०.४               |                          | मेवकमुक्ति                | ७१.२६              |                   |
| ८; २३.१०; २७.१२;             | मेव                        | २५.३; १०.२१.३८.९;        | मोक्ष                     | ४४.१०              |                   |
| सिद्धि २१.१२                 | ६७.२०; ८४.२३; -°अनुमान     |                          | प्राप्तिकर्मफल            | ४४.१२              |                   |
| आक्षिप्तकर्म                 | ३२.५                       | ७०.२६; -°ज्ञान ८४.२२; -  | पुनरप्युक्तानुत्पत्ति     | १८.१२              |                   |
| आक्षिप्तकर्म                 | ३२.४                       | °वर्तन ९२.२०; -°अवधार    | योग                       | ७४.१९; -           |                   |
| प्रकाशपूर्वकारिण             | ११.१५                      | ३९.९                     | °अ ७४.२०; ७८.१            |                    |                   |
| प्रकाश ११.०; १३.२०; २०.२०;   | भोक्तृ                     | ४४.४०                    | योगिज्ञान                 | ७८.८               |                   |
| ६२.११; ९४.९; -°विप्रतिपत्ति  | भोग                        | २१.४                     | योग्यता ७०.१२; १३; ७२.१६; |                    |                   |
| ९४.५                         | भोग्यरूपा                  | ४४.३०                    | ९४.२८                     |                    |                   |
| वर्णनामान                    | १२१.४                      | भोग्यव्यय                | ४६.१५                     | योग्यत्व           | ९१.१७             |
| वहिरक्ष                      | ९३.१७                      | भौतिक                    | ७४.२२                     | रचनावत्            | ३८.२५; १८         |
| वहिर्यात्रिप्रहण             | १०३.११                     | धर्महेतु                 | २८.२                      | रक्षण              | ४५.१४; १२०.५      |
| आवक २३.१३; २८.३; -°अभाव      | ज्ञान                      | २४.१३; २८                | रागादि                    | ४४.२२              |                   |
| २६.३१; -°अभावसिद्धय २८.      | आश्रित                     | ३४.२४; २५.३; २८.१        | रूपसामान्यत्व             | ५२.२               |                   |
| ४६; -°उत्पत्ति २२.२५; ०      | मन्त्रक                    | ३०.१                     | रूपादिवैपरीत्य            | २३.२१              |                   |
| °अभाव १८.२; १०४.३            | मति                        | ४६.३०; १००.३०;           | रक्षण                     | १३.३०; ६०.३        |                   |
| वाचिस्त्व                    | २२.५; २३.११;               | वेदात्मिका ४६.३०; -°वेद- | कक्षितकक्षणा              | १११.२              |                   |
| ७९.६                         | कार्या ४६.३०; वेदगुण       |                          | कक्षय                     | १४.१               |                   |
| अधिभोक्तृत्व                 | १०६.२०                     | ४६.३०                    | कक्षि                     | ७६.२५              |                   |
| आत्म                         | २३.१३; २७.२१               | मदराक्षि                 | ४७.३                      | काक्षिकवितोष       | ७१.१०             |
| आत्मवाचकत्व                  | २६.३                       | मनस                      | २७.३; ४८.२०; ७६.          | छिन्न              | ६३.१३; २२.१०१.१७; |
| वाच्यविज्ञान                 | २८.५                       | २; ७७.२०, २७.३०. ७८.     | ७; -°अभिलक्षि ३३.२१;      | १९. -°मूल २१.१७; - |                   |
| वाक्याधीनत्व                 | ७८.२६                      | °परिकल्पना १८.२३; -      | °अक्षि ९९.१३; -           | °वक्ष ३१.१३        |                   |
| हुति २२.२९; ४२.५. ७३.५;      | °विज्ञान ४९.१, ५; -°संकल्प |                          | छिन्नि                    | १०१.१७             |                   |
| ८६.२०; ८८.१०; ११५.१०.        | ७८.७ -°संक्रान्ति ५१.३;    |                          | छिन्निक                   | ७३.१६; ७४.१३;      |                   |
| -°अनुमानकक्षा ८६.२०; म-      | °समाय १८.११. °सम्बन्ध      |                          | ९९.१५; १०१.१३             |                    |                   |
| कक्षा ५३.२०; मत्कार्यपूर्वक  | ११३.१४;                    |                          |                           |                    |                   |
| ३८.१०; मत्पूर्वक ४२.७;       | मन्त्र २९.१; -°अर्थवाद ५३. |                          |                           |                    |                   |
| आत्मवाचकत्व ८६.२१            | ३ -°त्व २९.१०              |                          |                           |                    |                   |
| अक्ष                         | २४.५३                      | मन्त्रादीनि १२.२५; १७.१२ |                           |                    |                   |
| अक्षय                        | ११३.२३                     | महासूत्रपरिणाम           |                           |                    |                   |
| अक्ष                         | ११३.२३                     | साधुविवाहोपदेश           |                           |                    |                   |
| आत्मविज्ञ                    | १०७.४                      | मान                      |                           |                    |                   |
| आत्म                         | ४४.२०; ६६.३०; ६७.          | ५६.१०; ६१.१४; -          |                           |                    |                   |
| ६०; ६८.२४; १०१.१८;           | °सिद्धा ५९.१०              |                          |                           |                    |                   |
|                              | मानस ७२.२८; ७४.२१; ७७.२०;  |                          |                           |                    |                   |
|                              | मिथ्याज्ञान १७.१७; ६१.१५;  |                          |                           |                    |                   |

|                                |                              |                             |
|--------------------------------|------------------------------|-----------------------------|
| अथाव्यव्यभिचारीभावः २३,        | विरोध १७.२७; ३९.२०; ६५.      | व्यञ्जक ३२.३०; ३३.८; ३७.१९  |
| २४;—उभयकपाल २३.२७.             | २५; ८७.२१; ८८.२७; ८९.१५;     | व्यतिरेक ५७.१९; १०४.११,     |
| उभयात्मक ८७.२८; ११९.११;        | —अविरोध ६६.५; °क ६६.५        | १६.२३;—°मुख १९.१७           |
| —नित्यानित्यात्मक २३.२३;—      | विलक्षणता ६९.२६              | व्यतीतममसू ५९.१४            |
| निराश २१.२४—भावाभावात्मक       | विवक्षा १२.१; २३; ३६.९       | व्यभिचार ४२.१०              |
| ९०.१७;—°व्यवस्थापकत्व १६.      | विशद ५८.२१                   | व्यभिचारित्व १०८.१६         |
| १८; सत्त्वसारमक २३.२४;         | विशेष २९.७; ३४.१९; ८१.१५,    | व्यवसाय १७.१४, १६           |
| —सामान्यविशेषात्मक २३.२४;      | ९०.१२; ९५.२३; ९६.२८;         | व्यवहारप्रत्यक्ष ७८.१८      |
| —°स्वभाव १६.१                  | १०१.६; १०७.१९; ११०.१३;       | व्याकरण ५२.१७               |
| वाक्य १२.२३; २९.१; ३१.२३;      | ११२.५;—°कारणादिबुद्धिकृत     | व्यापकानुपलब्धि १२.१४       |
| ३६.२३; ३७.९, २२; ५७.           | ११२.५                        | व्यापार २०.३, २०            |
| १३;—°अर्थ ५७.६; ५८.१           | विशेषण ३०.११; °विशेष्यभाव    | व्यापित्व ३२.२३             |
| वाचकत्व ३३.२४                  | १५.२२; ६५.९, १८; ८१.२५       | व्याप्ति १०३.१०; ८७.६;      |
| वाचिका ३२.१७                   | विशेष्य ३०.१२                | °अस्मरण १००.१; °ग्रहण       |
| वाच्यवाचकभाव ३६.१४             | विषय ७८.१३, २५; ९५.१५; ९६.   | ८७.१; ८७.१०; °ग्राहक        |
| वाच्यवाचकसम्बन्ध १०८.१७        | २९; °कोष २७.२;—              | ९३.२०;                      |
| वाच्यशक्ति ३२.१७               | °द्वैविध्य ६०.२४; °मेव ४१.३; | व्याप्यव्यापकभाव १९.२५      |
| वाचिन् १२.१७                   | ७०.२६ °वृत्ता ६१.१३;         | व्यावृत्ताकारा ८७.२१        |
| वायु ३२.२७; ४९.१७              | °विप्रतिपत्ति ७८.१२, २०;     | व्यावृत्ति ६७.२४; ९८.१२     |
| वासना ९७.१९;—°प्रतिबोध         | °विषयिभाव ३६.१४; °विषयि-     | व्याहारादिभिन्न ६१.२६       |
| ९८.२९                          | लक्षण ३६.४; °व्यवस्थापनार्थ  | शक्ति १८.२१; २७.११, १५; ३०. |
| विकलादेश ९४.२                  | १०२.१९; °व्यवस्थिति ८८.७     | १४; ३२.१०; ४४.२४; ६२.       |
| विकल्प ३२.४; ६८.२१;            | विसंवाद ७९.५                 | २४; ९९.२९; °मत् २७.         |
| °विज्ञान २०.१; ३७.८            | वीतराग ११२.१२                | १५; ९१.१; °रूपता ४४.        |
| विज्ञान २४.२३;—अनात्मविद्°     | वृत्ति ३५.५; ७६.७; °विकल्प   | २३                          |
| २०.२६                          | ६९.१२;                       |                             |
| वितर्क ७७.९                    | वेदन १७.२४                   | शब्द ११.१९; १२.२७; ३२.२०,   |
| विधि ४३.१८; ५८.४; ९६.३२;       | वेदाध्ययन ३१.१५; °व ३१.१९    | २२; ३३.१२; ३६.६; ५६.        |
| ११३.२, ६; °रूपपोह ९७.२९        | वेद्य १७.२४                  | २९; ५७.१०; २६; ८२.६;        |
| °वाक्य ५६.१६; ५८.६; १२२.       | वैदिक ३१.१४                  | ९८.४, १४; १००.१४, १८;       |
| ५; °विकल्प ७१.४                | वेधर्मप्रयोग ११३.१           | १०१.३०; १०९.२; ११०.         |
| विनाश ११७.४;—निश्चयव्यक्षणा    | वेधर्मवत् १०२.१३             | २; १११.१९;—°अर्थ ९६.        |
| २१.२५;—°हेतु ११७.७             | वेपरीत्य २३.१४               | ३२; °अर्थयोजना ८२.७;        |
| विपक्षव्यावृत्ति १०५.११        | वैकल्य १०९.५                 | °अर्थ १००.२४; °उल्लेखि-     |
| विपर्यय १८.१; २३.११; °आक्रान्त | वैलक्षण्य ६२.८; ६९.२३; ७०.७  | ज्ञान ८२.४; °ग्रहण १५.      |
| १७.१३                          | वैराग्य ५८.१८; ७४.५          | २१;—°जमित ९९.१३;            |
| विभावा ५९.१०                   | वैशिष्ट्य ९५.२८              | °व्यग्रहण १५.२२; °निर्मित   |
| विषय ४२.२२; १०७.१०; १०८.       | वैश्वर्य ३१.१४               | ८१.२२; °निष्पत्ति ३६.       |
| ८, ११, १३; °धर्मसंसर्ग ३९.     | व्यक्त ११४.९                 | १०; °प्रमाण्य ११२.९         |
| १५; °धर्माक्रान्तता ४०.१;      | व्यक्ति ३४.१६; ३५.५; ५४.१६;  | °योजित ८२.६; °विकल्प        |
| °धर्मात्मता ३९.११; °धर्मा-     | ११०.२६;—°उपलक्षण             | १४.१४; °संस्कार ३३.८        |
| व्यास ३८.९; ३९.१०; °धर्मा-     | १११.९                        | शरीर ४२.२३; } °रहितत्व ४२.  |
| व्याप्तिता ३९.२५               | व्यग्रय ३७.१८                | ५०.२६ } १८ °अन्तरसं-        |
|                                |                              | चार ५१.१                    |

www.jainelibrary.org

८. म्यावाकथारसूत्रवार्तिकवृत्तिगतानां शब्दानां सूची ।

३१३

|                         |                         |                            |
|-------------------------|-------------------------|----------------------------|
| कुल २०.३२;—हुःक २०.२६   | “उपनीत ८५.२१            | सत्ताभ्यप्रतिपन्न ८६.१४    |
| कानपाग ४३.१             | सतःप्रमाण ११.६          | सत्त्वभावव्यवस्थिति ९८.१०; |
| कानकरणाभिभाव ३६.९       | समवर्जन ७८.२८           | सत्त्वभावस्थिति ३७.२५      |
| किर १७.२                | समग्रद्वान्त्र ७९.१     | साकारजनन ३५.३              |
| कौट्य ८२.१६;८३.५        | समप्रत्यय ८०.८          | साकारार्पण ७१.४            |
| कान ११२.१०              | सप्तभिज्ञान ७७.११,१०    | सार्थपरार्थमेव १०१.५३      |
| स्वर्णमेन्द्रिय ७२.१४   | समाप्तिकसरीरसङ्कार ५१.२ | साधोऽनुमान १०२.२०          |
| कण्ड ४०.१८;             | सप्रतिपन्नवचक ८७.३      | हिंसा १२१.४,११             |
| “अवयव ३१.६              | सभाव ४३.१०;६४.२५.       | हित १३.३,१५;—अहित ११.१०    |
| रुद्र ४०.२९;            | —“हेतु ६४.१९;           | “अहितार्थ—३१.१२            |
| “असङ्गप्रतिभासमेव ४१.१  | सरूप ६८.१;११९.१२;       | हेतु ५०.२१;५१.१९;१०२.८;    |
| कारण ३१.६;३७.०;७०.      | ११८.१६;“वाचकत्व ५८.५    | १०३.६,२६;१०७.१४,१९;        |
| १०;८५.२२;९२.५           | सर्गकाम ३४.८;५६.२०;     | “कलभाव ५७.१९               |
| कार्य ८५.२८             | सकक्षण ९७.२८;९८.१;      | हेत्वाभास १०६.२९;          |
| स्थिति २३.२९;४१.२४;     | संसंवेदन १५.२५;७७.१३;   | हेतोपादेयत्व ५४.३९         |
| ७७.९,१३. “प्रमोच २४.१६; | ७८.१६;९८.२६;            |                            |
|                         | “प्रमल १५.१०;           |                            |

## ९. न्यायावतारसूत्रवार्तिकवृत्तिगतानामवतरणानां खोपज्ञकारिकाणां च सूची ।

|   |        |  |        |
|---|--------|--|--------|
| अभिहोत्रं जुहुयात् [ मैत्रा० १.३६ ]           | ३४.७   | असिद्धावाश्रयासिद्धिः                        | ५८.३०  |
| अग्नेर्निहृतौ ताम्रस्य [ प्र० अलं० पृ० ९४ ]   | ४८.२२  | आकारमन्तरेण                                  | ९४.२८  |
| अद्वयसमवेगसमये                                | १२१.२५ | इति निखिलविधानां [ स्त्रो० ]                 | ४३.३९  |
| अणोष्णानुगयाणं [ सन्मति० १.४७ ]               | ७३.२१  | इति निगदितमेतत् [ स्त्रो० ]                  | ५१.१४  |
| अतश्च व्यक्तितमेदानां                         | ५४.१८  | इति वाक्यस्य ये वाक्यं                       | ५८.२   |
| अनुव्यवृपता केयं                              | ८५.११  | इत्यन्यलक्षणतमःपदलं निरस्य [ स्त्रो० ]       | ९५.७   |
| अथ तद्वचनेनैव [ तरवसं० का० ३१८८ ]             | ५३.८   | उच्चारित्यस्मि पाप् [ ओष० ७४८ ]              | १२१.७  |
| अथ प्रत्ययमेवेति                              | ८५.७   | उपदेशो हि बुद्धादेः [ तरवसं० का० ३२१७ ]      | ५३.१७  |
| अथ स्मृत्युपनीतेन                             | ८५.२१  | एकस्यात् प्रत्यभिज्ञानं                      | ८६.२५  |
| अथाव्यनुत्तया भाति                            | ८५.९   | एकसाक्षविचारेषु [ तरवसं० का० ३१६४ ]          | ५२.१५  |
| अथानित्यः सहेतुः स्यात्                       | ४३.१९  | एकस्य क्षणिका वृत्तिः                        | ४३.९   |
| अथेदसः स्वभावोऽस्य                            | ४३.१७  | एकार्थसमवायस्य                               | २०.२८  |
| अनात्मविधि विज्ञाने                           | २०.२६  | एतच्च फलवज्ज्ञानं [ तरवसं० का० ३२०३ ]        | ५४.४   |
| अनित्यं यत्संभूतं [ प्रमाणवा० ३.२५१ ]         | ३७.१४  | एतावतैव सीमांसां [ तरवसं० ३१४३ ]             | ५५.५   |
| अनिर्विष्टफलं सर्वं                           | १३.१५  | एवं क्षणिकपर्यायं [ स्त्रो० ]                | ५१.१२  |
| अनुमानत्वेपि नैयास्याः                        | ८६.३१  | एवं जिनवरकथितं [ स्त्रो० ]                   | १२२.७  |
| अनुमानादस्ते नाभ्यत्                          | ८५.३९  | एवं तावदसिद्धत्वं                            | ५६.५   |
| अनुमानेन नो बाध्यम्                           | ८६.१९  | एवं सप्तनयान्मुञ्चेः [ स्त्रो० ]             | १२२.९  |
| अनुमा बाध्यतेऽध्यक्षात्                       | ८६.२३  | कप्पह निगन्धाणं                              | १२०.२७ |
| अन्यस्मिन्नहि सर्वज्ञे [ तरवसं० का० ३२३४ ]    | ५५.३४  | कर्मेणाभीशता प्राप्ता                        | ४३.११  |
| अन्यार्थवत्तेति [ स्त्रो० ]                   | ११.८   | कल्पनापोषमध्यक्षं                            | ८६.५   |
| अन्योन्यसहकारित्वात् [ प्र० अलं० पृ० ९४ ]     | ४८.२४  | कश्चिज्ज्ञातः किलान्येन [ प्र० अलं० पृ० १७ ] | ४६.१६  |
| अन्योन्याभयदोषोपि                             | ८६.१३  | कसाप्साक्षादिमत्त्वेव                        |        |
| अपौरुषेयता नो चेत्                            | ५८.३२  | [ श्लोकवा० आहु० ४७ ]                         | ९६.१९  |
| अप्रत्यक्षोपक्रमस्य                           | १८.३०  | कारणाबुद्धताप्यस्याः                         | ८६.९७  |
| अप्रामाण्येन युक्ततायाः                       | ८६.११  | कार्यकारणभावाद्वा [ प्रमाणवा० ३. ३० ]        | १०३.२८ |
| अर्थस्यासंभवे भावात्                          | ८६.२१  | कार्यकारणसत्तावात्                           | ५१.११  |
| अवज्ञानं हीने [ स्त्रो० ]                     | १२२.२० | किं वा मेदेन पूर्वस्मिन्                     | ८५.३   |
| अवस्थाकारणं वस्तु [ प्र० अलं० पृ० ९४ ]        | ४८.१८  | किं दृष्टे प्रत्यभिज्ञानं                    | ८४.२३  |
| अविशेषेपि बाह्यस्य                            | २१.१   | किञ्च किं दृष्टतां वेति                      | ८५.१   |
| असत्यार्थं च तद्वक्तव्यं                      | ५६.७   | किञ्च तत्कारणयोगेन [ प्र० अलं० पृ० १३८ ]     | ५९.२४  |
| असत्वरणमुपादानं [ सांख्य० ९ ]                 | ११३.१४ | किञ्चिन्मात्रविशुद्धोऽपि                     | ४३.७   |
| असद्वा इदमग्ने [ तैत्ति० २.७ ]                | ६३.१८  |  |        |
| असर्वज्ञप्रणीतास्तु [ तरवसं० का० ३१९० ]       | ५३.१२  |  |        |
| असामान्यस्य लिङ्गत्वं [ श्लोकवा० अनुसू० १५० ] | १०७.२८ |  |        |

१. स्वभावतस्तत्त्ववर्तिकवृत्तिगतानाम् अवतरणानां स्वोपज्ञकारिकाणां च सूची । ३१५

|   |        |
|---|--------|
| कुर्वन्तु कण्ठशैलेः                               | ४३.२९  |
| कुलककरसंपर्कः                                     | ४२.१०  |
| कुलितेन स्वसत्त्वेन [ तत्त्वसं० का० ३१८७ ]        | ५३.७   |
| कलश्याः पुष्पायांश्च                              | ५४.१   |
| कलात्मकविद्याऽभ्यासः                              | ८६.१५  |
| कल्पिका हि सा [ तावत्० पृ० १२ ]                   | २०.१०  |
| कलिं वधि मधेदेवं [ श्लोकवा० अभा० ५ ]              | ६७.१०  |
| कर्मद्वारे कुर्वन्तः                              | ११२.१८ |
| कर्तव्यैः सुतराः [ स्तो० ]                        | १२१    |
| कृत्वा ककहेतुः स्वात् [ हेतु० टी० पृ० १०१ ]       | ८८.१   |
| कृत्वा वस्तुसंज्ञं [ श्लोकवा० अभा० २७ ]           | ७२.२७  |
| कृत्वा चेति यो दोषः                               | ५८.१६  |
| कलौक्षितुवर्ज्या [ भाष्यी० का० ५९ ]               | ८८.१२  |
| कलहिरन्वया दृष्टः [ प्र० अर्थ० पृ० ७१ ]           | ४८.१२  |
| कलाम्पगतं दुष्टं [ भाष्यक० पृ० ५७ ]               | ११२.२१ |
| विद्यं विप्रकराज्ञातं [ प्र० अर्थ० पृ० ६७ ]       | ४६.९   |
| कलाक्षीणां पुरीषादेः                              | ४३.५   |
| कलात् कर्तव्यं वाक्यं                             | ४२.१२  |
| कलादुष्कृत्यजोदे                                  | ५४.२०  |
| कलितं न मरुत्तं य जीवो [ प्रवच० १.१७ ]            | ११२.५  |
| कलिकाभाष्यतः सिद्धाः [ स्तो० ]                    | ४५.१२  |
| कल्यं यो मरिय उच्यते [ भाष्य० लि० ९७९ ]           | ७८.९   |
| के एते वाच्ये [ भाष्य० १.३.४.१२२ ]                | ५९.१५  |
| कलिभारिर्विनिर्दिष्टः                             | ५८.१२  |
| कलावैभान्यनिर्दिष्टे [ तत्त्वसं० का० ३१३६ ]       | ५५.१२  |
| कलात्वात्त्वत्त्वं दूरं [ ,, ,, ३१३५ ]            | ५२.१७  |
| कलात्वात् सुखज्ञेः कलिः [ प्रमाणवा० ६.१२ ]        | ५४.१५  |
| कलोक्तिर्विद्यं श्रद्धांति [ तत्त्वसं० का० ३१३६ ] | ५२.१९  |
| तत्त्वद्वयभाष्यतमात्रं                            | ५६.१५  |
| तेषां परं पुनर्वस्तु [ श्लोकवा० प्रव० १२० ]       | ७३.३   |
| तत्र नैवं विनिर्दिष्टोऽपि                         | ५५.२०  |
| तत्र पूर्वमद्वैतं न जायते                         | ८५.१३  |
| तत्र पूर्वोत्तराभ्यां                             | ८४.२८  |
| तत्र सर्वव्याप्यत्वम् [ तत्त्वसं० का० ३१४१ ]      | ५४.१   |
| तत्त्व विद्यं कारणाव्यक्तात्                      | ८५.३३  |
| तथा कतिपयेभ्यः                                    | ५४.१२  |
| तत्त्वोक्त्यैव लोकेन                              | ५४.२६  |

|  |        |
|--|--------|
| तथा वेदेतिहासादि [ तत्त्वसं० का० ३१३७ ]          | ५२.२१  |
| तथा हि चान्दने गच्छे                             | ८५.२९  |
| तथा हि रक्तशिरसः [ प्र० अर्थ० पृ० ७० ]           | ४७.१३  |
| तद्वत्तद्विषयो भावाः [ प्रमाणवा० २.२५१ ]         | २०.११  |
| तद्वत्तत्त्वजातीयं                               | ५९.१   |
| तदा स्वकारणादेव                                  | ८१.८   |
| तदेन्द्रियसमुत्पत्त्यं                           | ५८.२१  |
| तदेवं दोषदुष्टस्य                                | ५६.१   |
| तदेव तत्रोत्पत्त्यं [ प्र० अर्थ० पृ० १०६ ]       | ४३.२८  |
| तद्रूपक्षीजात् कमलादिभेदः [ प्र० अर्थ० पृ० ७० ]  | ४७.१५  |
| तस्मादतिशयज्ञानैः [ तत्त्वसं० का० ३१३९ ]         | ५२.२५  |
| तस्मादुत्पत्त्यगतं [ प्रमाणवा० १.३३ ]            | ५४.१७  |
| तस्माद्यतो यतोऽधीनां [ प्रमाणवा० ३.४० ]          | ९८.१२  |
| तस्माद्यो येन तन्मतेन [ प्रमाणवा० ३.४१ ]         | ९३.१४  |
| तस्य चाप्यनुमानेन [ श्लोकवा० अनुभा० १५१ ]        | १०७.३० |
| तस्य सर्वज्ञता प्राप्ता नैकं                     | ५८.२८  |
| तस्य सर्वज्ञता प्राप्ता सिद्धं                   | ५८.२०  |
| तृणौषधिकतादृक्                                   | ५४.१४  |
| तेनाभिहोत्रं जुहुयात् [ प्रमाणवा० ३.११८ ]        | ३४.७   |
| तेनावाभ्यासमप्यस्याः                             | ८६.९   |
| तेनैव चेद्विधीयते                                | ४३.२३  |
| तेषां समत्वमारोग्यं                              | ४७.२८  |
| त्रिधा श्रुतमविच्छेदं [ प्रमाणसं० का० २ ]        | ७४.१२  |
| व्यवष्टिभो न पञ्चवर्गं [ सम्प्रति० १.३ ]         | ११३.११ |
| वशाद्व्यस्तन्तरं व्योम्नः [ तत्त्वसं० का० ३१६८ ] | ५२.२३  |
| दशोत्पाद्यानि मानानि                             | ५६.१०  |
| दुर्लभत्वात् समाधातुः [ प्रमाणवा० १.६० ]         | ४८.७   |
| दूरं पश्यतु वा मा वा [ प्रमाणवा० १.३५ ]          | ५४.४१  |
| द्वयमानार्थेदुष्येन                              | ८५.३१  |
| देहात्मिका देहायां                               | ४६.३०  |
| दोहि वि णदहि [ सम्प्रति० ३.४९ ]                  | ९६.१०  |
| द्वितीयोऽपि यदा सोयं                             | ८५.५   |
| द्विष्टसंन्यसिनिः [ प्र० अर्थ० पृ० २ ]           | २३.३   |
| धर्मज्ञत्वनिर्देशस्तु [ तत्त्वसं० ३१२८ ]         | ५५.६   |
| धर्मयोर्भेद इष्टो हि [ श्लोकवा० अभा० २० ]        | ६७.१९  |
| धर्माधर्मज्ञतामात्रात्                           | ५९.३   |
| धर्माधर्मौ तयोः कार्यं                           | ५९.१४  |
| धर्मो धर्मान्तरोत्पन्नः [ प्र० अर्थ० पृ० ६७ ]    | ४६.६   |
| धर्मो धर्माद्यभाभूतः [ प्र० अर्थ० पृ० ६७ ]       | ४६.१२  |

३१३ ९. श्यायावतारसूत्रवार्तिकवृत्तिगतानाम् अवतरणानां खोपककारिकाणां च सूची ।

|   |        |  |        |
|---|--------|--|--------|
| नवतारवराहादि                                    | ५८.८   | पिण्डः स्वाद्युमानकः [ विप्र० वि० १२ ]             | ८२.२७  |
| न च मन्त्रावैवादातां                            | ५३.३   | पूर्वकाकमिच्छिहे न                                 | ८५.२७  |
| न चागमविधिः कश्चिद् तस्मिन्                     | ५९.७   | पूर्वकाकादियोगित्वे                                | ८५.१७  |
| न चागमविधिः कश्चिद् [ तत्त्वसं० का०<br>३१८० ]   | ५२.३३  | पुत्रिण्यादिमहाभूत०                                | ५४.२२  |
| न चापुनरिति सर्व्व                              | ५३.५   | प्रकादिबहिर्निर्गम्यते                             | २१.३   |
| न चावस्थाभनम्यापि                               | ८४.३०  | प्रत्यक्षं च परोक्षं च [ न्याया० १ ]               | ७३.२८  |
| न चैवं कदाचिदेव [ प्रमाणवा० १.१२९ ]             | ५९.३   | प्रत्यक्षतोऽपि नाक्षानां                           | ८६.२९  |
| न चावधिनिर्णयेनैवा [ श्लोकवा० भभा० १८ ]         | ६३.९   | प्रत्यभिज्ञानिर्णयं                                | ८७.३   |
| न चरः सिंहकपत्वात्                              | ८८.१८  | प्रत्यभिज्ञावमानत्वं                               | ८६.१   |
| न प्रमाणमभावात्                                 | ५८.३६  | प्रमाणपक्षकं वन [ श्लोक० भभाव० १ ]                 | ५३.२७  |
| नमः स्वतः प्रमाणाव [ लो० ]                      | ११.६   | प्रमाणेतरसामान्य०                                  | ३१.२१  |
| न चाति न च तन्नासीत् [ प्रमाणवा० ३.१५१.२ ]      | २३.२३  | प्रयोजनं विनाप्यन्य                                | ४३.३   |
| नरः कोप्यति सर्व्वज्ञः [ तत्त्वसं० का० ३१३० ]   | ५५.२६  | प्रतिज्ञानि प्रमाणानि [ न्याया० २ ]                | २३.२३  |
| नरात् कदाचिद्व्यवहारः [ तत्त्वसं० का० ३२१६ ]    | ५३.३७  | प्रज्ञोपि हि नरः सूक्ष्मात् [ तत्त्वसं० का० ३१३१ ] | ५२.१३  |
| न स कश्चिद् पुत्रिण्यादेः [ प्रमाणवा० १.३९ ]    | ४७.८   | प्राज्ञापक   | ७४.१   |
| न हि जन्ममकं                                    | ७३.१०  | प्रामाण्यं वस्तुनिर्णयं                            | ७०.२६  |
| न हि ज्ञात्वा [ शब्दो० भ० ८ ]                   | ११२.२३ | मेकावतां यतो वृत्तिः                               | ४३.१   |
| न हि नीकोत्पन्नज्ञानं                           | ८५.२३  | वक्तव्यकोत्पन्नमुद्यैः                             | ५९.५   |
| न हि प्रमाणं गते गृहीत्वा                       | ९४.१७  | वाचाककल्पिकं [ लो० ]                               | ५९.३३  |
| न तु तत्त्व तन्निमित्तो [ श्लोक० ७४९ ]          | १२१.९  | बुद्धादयो ह्येवञ्चाः [ तत्त्वसं० का० ३२२७ ]        | ५३.१६  |
| नाकमाव कश्चिन्नो भावाः [ प्रमाणवा० १.४५ ]       | १११.१४ | भावे तु पूर्वकाकादेः                               | ८५.१६  |
| नाकमाव कश्चिन्नो भावाः                          | ८९.७   | निष्कामः सिद्धुःकादिः                              | २१.७   |
| नामावैकत्वकोपः काव                              | २१.९   | भूमेर्वं पृथ्वेस्तद्वः                             | ५४.२७  |
| नापुमानं प्रमेलेयत् [ लो० ]                     | ४५.१८  | भूतस्यान्वयत उत्पत्तिः [ प्र० भक्त० पु० ८५ ]       | ४९.९   |
| नाम्यचो मेदकपत्वात्                             | ८८.२०  | मदुरं न हि सर्व्वं काव [ हेतु० टी० पु० १०६ ]       | ८८.३   |
| नासामर्थ्यं न चैकत्वं                           | ४३.१५  | मनुष्यत्वे सतीत्येवं                               | ५८.१२  |
| नित्यं सत्यमसत्यं वा [ प्रमाणवा० ३.३४ ]         | ४७.१९  | मूकप्रकृतिरनिच्छतिः [ सांख्य० ३ ]                  | ११४.१  |
| निष्कल्पव्यापित्वेऽपि                           | ३२.२३  | पृथे विचारित्वेहासात् [ प्रमाणवा० १.६१ ]           | ४८.१३  |
| निमित्तं तु पुनस्तत्                            | ५८.२४  | पञ्चातीयैः प्रमाणेस्तु [ श्लोक० २.११३ ]            | ५२.६   |
| निवृत्तिव्यवस्थेन                               | २१.५   | ननापि चोपपुन्यन्ते                                 | ५४.१३  |
| निरले कुमलव्याप्ते [ लो० ]                      | ४५.६   | वशात्पतिसयो दृष्टः [ श्लोकवा० १.११४ ]              | ५२.६   |
| निरङ्कुलसत्ता इव                                | ८६.१७  | परसंयमोपकाराव [ लीलु० श्लो० १३ ]                   | १२०.२९ |
| निर्विरोधं न सामान्यं [ श्लोकवा० भावति०<br>१० ] | ९०.११  | परं सत्यं नाम कोपेत् [ तत्त्वसं० का०<br>३१३५ ]     | ५५.१७  |
| निर्विरोधं इत्यर्थं वा                          | ८५.३५  | परसाध्यवाचनावोक्तम्                                | ५३.१६  |
| पञ्चभिर्व्यवधानेऽपि [ प्रमाणवा० ३.१३३ ]         | ७७.२४  | पथा च चक्षुषा सवीर्य [ तत्त्वसं० का०<br>३१३९ ]     | ५५.३३  |
| पञ्चमकर्तृ च पदं                                | १२०.३  | पथः स दृष्टः शरदादिकाकं [ प्र० भक्त०<br>पु० १३९ ]  | ५९.२८  |
| परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि                          | ९९.१६  | यदि तदुपपत्ता भाति                                 | ८५.१५  |

९. न्यायावतारवार्तिकसूत्रसिगतानाम् अवतरणानां स्तोपककारिकाणां च सूची । ३१७

|   |        |   |        |
|---|--------|---|--------|
| यदि कुदातिरिक्तोऽन्वः [ उपसर्गं का०<br>३२३० ]       | ५५.१३  | सरीराजिज्जमात्मानं [ स्तो० ]                  | ४५.१३  |
| वदीवागमसत्त्वत् [ ,, ,, ३२३२ ]                      | ५५.१०  | सरीरात्पुनर्गतत्वेन                           | ५४.३०  |
| वदेव इति उत्कीर्णं                                  | ३३४.१  | शीकाशुनोवदेका [ को० ]                         | ३२३.२० |
| नक्षत्रमागतो न्यायिः                                | ८९.३   | सुभाष्येन कृपाशुभः                            | ४३.१३  |
| नक्षत्रवैद्यं ज्ञानं                                | ३७.२२  | श्रुतलिः सुता च                               | ३००.३० |
| नक्षत्रेव हि सम्माने                                | २३.२७  | सूयन्ते जामन्ताः [ उपसर्गसं० का० २० ]         | ३२०.३३ |
| नक्षत्रवैद्यं ज्ञानसर्वं                            | ५५.१८  | पक्षसत्तलि निहन्वन्ते                         | ३३२.२५ |
| नक्षत्रं कुदो न सर्ववैद्यः [ उपसर्गं० का०<br>३२३३ ] | ५५.३२  | सर्वसत्तिकाव्याप्तिः                          | ४३.२५  |
| वेऽपि च विद्वत्सूक्तत्वात् [ उपसर्गं० का०<br>३२३४ ] | ५५.७   | सर्वशुभत्वात् [ वेता० २.३ ]                   | ५२.३७  |
| वेऽपि सम्पादयः सिद्धाः [ उपसर्गं० का०<br>३२३८ ]     | ५३.२१  | संस्वाप्तसम्पत्वाभ्यस्तं                      | ५३.१२  |
| वेपि साक्षितत्वा दद्याः [ उपसर्गं० ३२३० ]           | ५२.११  | सत्वेतनं यदा कर्म                             | ४३.२८  |
| रत्नप्रवाक्यं कुतश्च [ को० ]                        | ४५.१४  | सत्प्रमेयत्वमित्येतत्                         | ५५.२४  |
| कदाः क्षोभप्रवृत्त्याः                              | ५४.८   | सम्प्राप्तकारणं यत्तु [ प्र० अर्थ० पु० १४ ]   | ४८.२०  |
| कम्पुपयोगी [ उपसर्गं० २.१८ ]                        | ७३.२५  | स माह कुक्षेजीवन्ते [ प्र० अर्थ० पु० १० ]     | ४६.१८  |
| किञ्चिज्ज्ञानप्रमाणानां [ कोकवा० अनुभा०<br>१५३ ]    | ३०८.१  | समयः प्रतिमर्त्य वा [ कोकवा० अनुभा०<br>१३ ]   | ३३.२५  |
| यत्ततोऽपीत्येवरत्नं                                 | ५३.३   | समकालस्तुविचारि                               | ५२.१२  |
| यत्तेजानन्तमेवम                                     | ५४.२८  | समकालवदव्यतिष्ठत् [ उपसर्गं० का०<br>३२३८ ]    | ५३.३१  |
| सिद्धावत्ये यत्तः पक्षः                             | ५५.१९  | समुच्चयोऽपि नैवेद्यां [ कोकवा० अनुभा०<br>१७ ] | ३२.१२  |
| सिद्धुत्तं वाच्यो हेतुरेव [ प्रमाणवा० ३.२३ ]        | ३०३.२५ | सर्विको यदि सौरभ्यं [ को० १ ]                 | २३.१३  |
| सिद्धिवाक्यक कुम्भेन                                | ५८.१   | सर्वैकसदसं किञ्चिद् [ उपसर्गं० का०<br>३३१५ ]  | ५३.१५  |
| सिद्धेरपि सिद्धेयत्वे                               | ५८.७   | सर्वैकसाधनविधौ [ को० ]                        | ३०८.२३ |
| सिद्धेऽभिप्रायं च वैतर्क्यं                         | ५८.१८  | सर्वैकसत्तत्वा धारणं [ उपसर्गं० का०<br>३२८२ ] | ५३.१८  |
| सिद्धेयः परिहाराय                                   | ५३.२१  | सर्वैको दम्बते तावत् [ उपसर्गं० का०<br>३२८३ ] | ५२.३१  |
| सिद्धेयः पुंति दम्बन्ते                             | ५८.१४  | सर्वैको यत्तव्यभिधतः [ उपसर्गं० का०<br>३२३६ ] | ५५.१५  |
| सिद्धेयैऽनुगमाभावात्                                | ३०६.१  | सर्वैकमापुसंयमि [ उपसर्गं० का० ३२३२ ]         | ५५.३   |
| सिद्धताः यत्तुक्त [ वेता० ३.३ ]                     | ५२.३३  | सर्वैकोऽनयकयत्वे [ प्रमाणवा० ३.१८१ ]          | ९३.२०  |
| सिद्धमगतकोऽन्यत्वात् [ कोकु० को० ३ ]                | ३२०.२१ | सर्वोऽसं क्रमिकत्वेन                          | ८५.३७  |
| श्रीहिन्दामाकमीवार                                  | ५४.१०  | सर्वैकवाः सत्त्वभावः                          | ३७.२५  |
| वेदाहममे [ वेता० ३.७ ]                              | ५२.३५  | सर्वे भावाः सत्त्वभावेन [ प्रमाणवा० ३.३९ ]    | ९८.१८  |
| वेदाहममे पुनश्च महात्मं                             | ५३.१७  | सर्वेषां परतन्त्रत्वात्                       | ४३.३३  |
| व्यक्तिकम्पमन्त्रावा वेद                            | ९३.२२  | समिकल्पकमात्मनः                               | ८५.२५  |
| व्यक्तिगतो न वेदज्ञः                                | ९३.२४  |   |        |
| व्योक्तश्च पुनश्चः वातम्                            | ५४.३२  |   |        |
| व्यक्त्या हि यदा हेतुः                              | ५५.२२  |   |        |
| व्यक्त्यावापुताकय                                   | ९८.३   |   |        |
| वरीरवेद्या वाच्यः                                   | ४९.१३  |   |        |



३१८ ९. श्वेतांबरसंस्कारसूत्रकारिकृतसिद्धांतानाम् अवतरणानां श्लोकांशकारिकाणां च सूची ।

|  |        |   |       |
|--|--------|---|-------|
| सहोदोर्होतुरस्यास्तु                       | ४३.२१  | आर्यते समर्पयतः [ प्रमाणवा० ७.१६० ]           | ६४.१३ |
| ना भिय सद्यो [ तिहोवा० १७५ ]               | १००.२१ | स्वधर्माधर्ममात्रशः [ तत्त्वसं० का० ३१४ ]     | ५३.३५ |
| सामान्यं नाहुमानेन [ श्लोकवा० अनुमा० १४९ ] | १०७.२९ | स्वरूपपरकपात्रात् [ श्लोकवा० अनुमा० १२ ]      | ६७.१५ |
| सिताभयिपितो [ तत्त्वसं० का० ३२३१ ]         | ५५.२८  | स्वधर्मज्ञानं दृष्टं च [ श्लोकवा० अनुमा० २८ ] | ७२.५  |
| सुखकारणं ज्ञानो सो [ तिहोवा० २९ ]          | १००.१२ | कार्यकलाः [ मैत्र्यु० २.३६ ]                  | ५३.२० |
| सुरिभ्यश्चकृत् [ स्तो० ]                   | १२२.१६ | आत्मकमेव कथितं तेषाम्                         | ४३.२० |
| श्लोकान्मेव तदुच्यते                       | ४३.३३  | हेतुना च। सममेव [ प्रमाणवा० ३.९ ]             | ३४.२४ |
| श्लोकश्लोकान्तरादयं                        | ५८.१४  | हेतुमतेष्वेव तदवका [ " १.३४ ]                 | ५४.३९ |



## १०. टिप्पणगत वाद और कड़ी ।

|                       |  |                       |  |   |   |
|-----------------------|--|-----------------------|--|---|---|
| अन्त्यादिवाद          | १३८, १३९, १४०  | तत्त्वान्त            | २७७  | कषा-१-१३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९ |   |
| अन्तिमैकान्तवाद       | २०४  | तत्त्वोपपन्नवादी      | १३७  | २८३                                     |   |
| अन्त्यैकवाद           | २७०  | दिग्गम                | २०३, २४५   | महावाद                                  | ३०३, ३४२  |
| अन्त्यवादी            | १५८, १६०, १६५, १७०, १७१, १७८, १९३, १९३   | ब्रह्मपुनर्प्राप्तवाद | २८२  | अन्त्यैकैकान्त                          | १९२   |
| अन्त्यैकवादी          | १७४  | ब्रह्मप्राप्तवाद      | २८२  | अन्त्यैक                                | १७३, १८३  |
| अन्त्यैकवादी          | १७४  | ब्रह्माधिक्यवादवादी   | २७८  | अन्त्यैकवादि                            | १९५   |
| अन्त्यैकवाद           | १७२, १९४, १९८, २३२, २५७, २५८   | नान्यैकवादि           | १७४  | अन्त्यैक                                | २२६   |
| अन्त्यैकवादी          | २५७  | निराकृत्यवाद          | १५६  | माह                                     | १५३, २४४, २५३, २५४  |
| अन्त्यैकवाद           | २०९  | निराकृत्यवादी         | १६१  |   | २५६, २७५  |
| अन्त्यैक-अन्त्यैकवादा | २८२  | मिथुनविवाहवाद         | २६१, २८०   | माधवावाद                                | २०९   |
| अन्त्यैकवादी          | २८०, २८३   | मेवाधिक               | १३७-१४२, १४४, १४५, १४८, १५०, १५५, १५६, १५८, १६१, १६२, १६६, १६९, १७१, १७८, १८१, १८३, १८९, १९४-१९६, १९८, २००, २०५, २०९, २१०, २२०, २२१, २२२, २२४-२२९, २३०, २३०, २४१, २४४, २४८, २४९, २५२-२५८, २६६-२६८, २७१, २७५, २७७, २८०, २८२ | भूतलभवावाद                              | २८२, २८३  |
| आधुनिकवाद             | २४४  | न्याय ( दर्शन )       | २५८, २७९, १७५  | सेववाद                                  | १७२   |
| आकारवाद               | २६३  | न्यायदर्शन            | १७५  | सौत्तिकवाद                              | २०४   |
| आरम्भवाद              | १९२  | परमाधुवादी            | १९४  | महावाणी                                 | २८३   |
| ईश्वरकारणवाद          | १९०  | परमाधुसुधाववाद        | २८२  | माध्यमिक                                | १६१, १६२, १७६, २०३, २२४, २७७, २८२   |
| ईश्वरवाद              | २०१  | परिणाम वाद            | १९२, १९५   | मीमांसक                                 | १३९, १४१, १४५, १४८, १४९, १५३, १५६, १६६, १७०, १७१, १८०-१८४, १८७, १८८, १८९, १९१, १९२, १९४-१९६, २०८, २१०-२२९, २२४-२३१, २३३-२३८, २४७, २४८, २५४-२५६, २५८, २६७, २७२, २८०, २८२ |
| कर्मवाद               | २४६, २५२   | परिणामवादी            | १९४-१९६, २५७   | मीमांसादर्शन                            | २५६   |
| कर्मवीरवैमार्थिक      | १९४  | परोक्षज्ञानवादी       | २३६  | मीमांसाशास्त्र                          | २५७   |
| कर्मिकवाद             | २११, २१५   | प्रकृतिपरिणामवाद      | २८२  | वापनीय                                  | २८५   |
| कर्मिकैकान्तवाद       | २८२, २८३   | प्रासाकर              | १४८, १५३, १७३, २४२, २४४, २५३, २५६  | योग ( दर्शन )                           | १९१, १९२  |
| कर्मवाद               | १७४  | प्रतीत्यसमुत्पादवाद   | १९२, २५८   | योगाचार                                 | १६१, १६३-१६५, १९७, २०७, २८१, २८२, २८३   |
| कार्वाक               | १६०, १६१, १७१, २०३, २०६, २१२, २१४, २२३, २७२, २७७   | वाक्यवादी             | १६०, १७६, २६५, २७६, २८१, २८२   | योग                                     | २३८   |
| कर्म                  | १३६, १३९, १४०-१४१, १४५-१५२, १५४, १५५, १५७, १५८, १६९, १७०, १७२, १८१, १८२, १८५, १८९, १९१, १९४-१९६, २००, २०४, २०६, २०८, २१३-२२०, २२२-२२४, २२६, २२८, २३५, २३६, २३८, २४०, २४२, २४४, २४५, २४८, २४९, २५३, २५७, २५८, २६३-२६५, २७२, २७७, २७८, २७९, २८२, २८३ | बुद्ध                 | २७६, २८१, २८२  | विज्ञानवाद                              | १६६, १७१, २८२   |
|                       |  | बौद्ध                 | १३३-१४५, १४७, १४८-१५२, १५५, १५६, १६१, १६४, १६६, १६९, १७२, १७५, १८३, १८९, १९१-१९७, २००, २०४, २०६, २१०, २२८-२३८, २४३, २४८-२५१, २५३-२५५, २५८-२६२, २६४, २६५,   | विज्ञानवादी                             | १६५, २४९, २६४   |
|                       |  |                       |  | विज्ञानाद्वैत                           | १९२, २८३  |
|                       |  |                       |  | विधिवाद                                 | २०९   |
|                       |  |                       |  | विभक्त्यवाद                             | १७२   |
|                       |  |                       |  | वेदान्त                                 | १३८, १४४, १४५, १८२, १८३, १९१, २२०, २२१, २२६, २२९, २५४, २५८, २७७   |

|                |                          |               |               |           |                          |
|----------------|--------------------------|---------------|---------------|-----------|--------------------------|
| वेदान्ती       | १७७, २४४, २५५, २५७       | सम्बन्धहीन    | १७७, २५७,     | सौम्य     | १४१, १४४, १४५, १४८,      |
| वैश्वानर       | १९४, २७७                 | साधर          | १५३           |           | १९२, १९३, १९६, १८२, १८३, |
| वैशेषिक        | १३७, १४२, १४४, १४८,      | सूक्तवाद्     | १६१, १६६-१६८, |           | १९१-१९३, १९५, १९६,       |
|                | १५५, १६३, १७८, १७९,      |               | १७१, २०३      |           | २०२, २२५, २३७, २४३, २४४, |
|                | १९१-१९४, १९६, १९७,       | नेताम्बर      | १५०, १८५      |           | २५४, २५६-२५८, २६४,       |
|                | २१५, २२५, २२९, २३७, २४२, | सर्वास्तिवादि | २८२           |           | २६७, २७७, २७८, २८२, २८३  |
|                | २७७, २७९, २८०            | सत्कार्यवाद्  | २७७           | सौम्य     | २६२                      |
| कण्वकवाद्      | २७७                      | सत्कार्यवादी  | १६२, १८२      | सौम्यवादि | १४९, १९४, १९६,           |
| सम्बन्धहीन     | १७१                      | सदेकान्तवाद्  | १७१           |           | २६५, २६६, २७७, २८१       |
| सम्बन्धहीनवादी | २५४                      | सर्वास्तिवाद् | २८१, २८२      | हीनयान    | २८२                      |



## ११. टिप्पण्यगत ग्रन्थकार ।

|                        |   |                         |  |                          |  |
|------------------------|---|-------------------------|--|--------------------------|--|
| अंगिरस                 | १८४   | केतवर्षिण               | २४८  | प्राचलिन्युटीकाकर        | १३६  |
| अनन्त                  | १३५, १२६, १३३, १५०,<br>१५१, १७२, २२४, २३३, २३८,<br>२३९-२४१, २४३, २४५, २४६,<br>२४९, २६३, २६८, २७०, २७३,<br>२८५                                   | कीदित्त                 | २०४  | देखो, चर्चोचर            |  |
| अनन्तकीर्ति            | २४७   | गीरीश                   | २३८, २४०   | प्राचलान्तर              | १३५, १३३   |
| अनन्तपीर               | १३१, १३३, २४५,<br>२४६   | जगदीशचन्द्र             | १४१  | देखो, प्राचलान्तर        |  |
| अनन्तदेव               | १३१, १३३, १३९, १४३,<br>१५१, १७४, २००, २१९, २४३,<br>२४७, १८५   | जगन्नाथ                 | १२८, १३३, १४६, १५३,<br>१६८, १९३, २१६, २१९, २२२,<br>२२४, २४६, २५२, २५४, २५५,<br>२७१   | प्राचलित्वात्ममन्त्रिकार | २३८  |
| देखो, अन्वयिनीकाकर     |   | जगन्नाथ                 | १५०, १५८, २०४-<br>२०६, २२३, २२४, २४३   | प्राचलित्वात्ममन्त्रिकार | १९५, १९६, १९१  |
| अर्जुन                 | १३१, १३३, १४३, २३२,<br>२६१  | देखो तत्त्वोपपन्नकार    |  | पराशरि                   | १३०, १३३   |
| देखो, हेतुविन्युटीकाकर |   | जिनेश्वर                | १२६, १२७   | परमार्थ                  | २८२  |
| अजोड                   | १९३, १९९  | देखो, प्रमाकर्मकार      |  | प्राचलित्वात्ममन्त्रिकार | २४०  |
| अजोड                   | २८२   | विश्वभक्तगणि            | १३६, २४३, २४७,<br>२६८, २७५, २८५  | प्राचलित्वात्ममन्त्रिकार | १३९, २५६   |
| अजोड                   | १८३   | तत्त्वार्थसूत्रकार      | १३३  | पुराण                    | २०३  |
| अजोड                   | १२५, १३१, १३३,<br>१४२, १६९, २२१, २२२, २८०,<br>२८३   | देखो, अन्वयिनी          |  | दृग्गण्य ( देवगन्धी )    | १२०,<br>२४३, २८५   |
| देखो, चर्चोचर          |   | विश्वभक्तगणि            | १३६, २४३, २४७,<br>२६८, २७५, २८५  | प्रमाकर्मकार             | १४१, १४२, १५६, १५७,<br>१७३, १७४, १७७, १८९, २०६,<br>२०८, २०९, २१६, २४६                            |
| अजोड                   | २२०, २२१  | तत्त्वार्थसूत्रकार      | १३३  | प्रमाकर्मकार             | १५३, १६०, १६६-१६९,<br>१८१, २२३, २४९  |
| अजोड                   | १३२, १३५, १४७,<br>२२६, २४४, २४६   | देखो, अन्वयिनी          |  | प्रमाकर्मकार             | १३५, १३७, १३९,<br>१३९, १४२, १५१, १५३, १५८,<br>१६१, १७७, १८४, २००, २१९,<br>२३१, २४०, २४५-२४७, २८५ |
| देखो, अन्वयिनीकाकर     |   | विश्वभक्तगणि            | १२५, १३०, १४१, १६४,<br>१९३, १९७, २१९-२१२, २१४,<br>२५०, २८०, २८१, २८३   | प्रमाकर्मकार             | १३७, २१४,<br>२१७, २१८  |
| अजोड                   | २२०, २२१  | देवसूत्रि               | १३१, १३३, १३६, १३७,<br>१७३, २१९, २२१, २४०, २४७,<br>२८५   | देखो, जिनेश्वर           |  |
| अजोड                   | १३२, १३५, १४७,<br>२२६, २४४, २४६   | चर्चोचर                 | १२५, १२७, १४३,<br>१५०, १५५, १६४, १६८, १७७,<br>१८३, १८४, १८७, १८९, १९०,<br>१९३, १९७, २०४, २०७, २०८,<br>२१०-२१५, २२०, २२२, २३०,<br>२३२, २३३, २३८, २४२, २५१,<br>२६०, २६३, २६४, २६६, २६९,<br>२७४, २७६, २८०, २८३, २८४ | प्रमाकर्मकार             | १४६, १६९, १७३,<br>२४१, २४६, २४८, २५२, २७२,<br>१२६  |
| देखो, अन्वयिनीकाकर     |   | चर्चोचर                 | १२५, १३१, १३३, १३४,<br>१५०, १६४, २२९, २३२  | कुविसागर                 | १२६  |
| अजोड                   | १३१, १३३, १३४,<br>१९४, २१०  | देखो, प्राचलिन्युटीकाकर |  | दृग्गण्य                 | २०३-२०५  |
| अजोड                   | १३२   | प्राचलिन्युटीकाकर       |  | प्रमाकर्मकार             | २०९  |
| अजोड                   | १८७   | प्राचलिन्युटीकाकर       |  | मर्त्यदेवि               | १३५, १५२, १७५, २०३,<br>२०७, २१७, २४४, २५४, २५८   |
| अजोड                   | १२८   | प्राचलिन्युटीकाकर       |  | अजोड                     | १४१  |
| अजोड                   | २८३, २८५  | प्राचलिन्युटीकाकर       |  | भारद्वाज                 | १८७  |
| अजोड                   | १२६, १२७, १३०, १३१,<br>१३३, १३४, १४१, १५३, १६९,<br>१७९, १८०, १८१, १८४, १८६,<br>१८८, १९३, २०८, २१८, २१९,<br>२२१, २२४, २२८, २५५, २५६,<br>२५७, २८३ | प्राचलिन्युटीकाकर       |  | आसर्वज्ञ                 | २३८  |
| अजोड                   | १२६, १२७, १३०, १३१,<br>१३३, १३४, १४१, १५३, १६९,<br>१७९, १८०, १८१, १८४, १८६,<br>१८८, १९३, २०८, २१८, २१९,<br>२२१, २२४, २२८, २५५, २५६,<br>२५७, २८३ | प्राचलिन्युटीकाकर       |  | दृग्गण्य                 | १८७  |
| अजोड                   | १२६, १२७, १३०, १३१,<br>१३३, १३४, १४१, १५३, १६९,<br>१७९, १८०, १८१, १८४, १८६,<br>१८८, १९३, २०८, २१८, २१९,<br>२२१, २२४, २२८, २५५, २५६,<br>२५७, २८३ | प्राचलिन्युटीकाकर       |  | अजोड                     | २४८  |
| अजोड                   | १२६, १२७, १३०, १३१,<br>१३३, १३४, १४१, १५३, १६९,<br>१७९, १८०, १८१, १८४, १८६,<br>१८८, १९३, २०८, २१८, २१९,<br>२२१, २२४, २२८, २५५, २५६,<br>२५७, २८३ | प्राचलिन्युटीकाकर       |  | अजोड                     | १२६  |
| अजोड                   | १२६, १२७, १३०, १३१,<br>१३३, १३४, १४१, १५३, १६९,<br>१७९, १८०, १८१, १८४, १८६,<br>१८८, १९३, २०८, २१८, २१९,<br>२२१, २२४, २२८, २५५, २५६,<br>२५७, २८३ | प्राचलिन्युटीकाकर       |  | अजोड                     | २३०  |

|                      |   |                          |  |
|----------------------|---|--------------------------|--|
| મહાપાદી              | ૨૭૩   | ચિંતામણ્ડ                | ૧૨૮, ૧૩૧, ૧૩૩, ૨૧૦, ૨૧૪, ૨૧૫, ૨૧૭, ૨૧૮, ૨૨૩, ૨૨૪, ૨૨૮, ૨૩૭-૨૪૧, ૨૪૩, ૨૪૫, ૨૪૬, ૨૫૦, ૨૬૦, ૨૬૪, ૨૬૫,           |
| માનિકવદ્યમ્પી        | ૧૪૯, ૨૪૦                                    | ૧૩૪, ૧૩૭, ૧૫૦, ૧૫૧, ૧૫૭, |  |
| માધવાચાર્ય           | ૨૦૪   | ૧૭૦-૧૭૨, ૨૦૯, ૨૧૯,       |  |
| વમતમિ                | ૧૮૭   | ૨૩૧, ૨૩૩, ૨૩૮, ૨૪૦, ૨૪૩, |  |
| જસોભિજય              | ૧૭૪, ૨૪૦, ૨૪૭, ૨૭૮, ૨૮૫                     | ૨૪૫-૨૪૭, ૨૫૮, ૨૬૪        | ૨૬૮-૨૭૧, ૨૭૩, ૨૭૪, ૨૮૫   |
| કોગસેન               | ૨૬૨   | કૃષિકાર (મીમાંસક)        | ૧૬૭, ૧૬૮   |
| રાધાકૃષ્ણ            | ૨૦૪   | વેસ્તામિત્ર              | ૧૮૭  |
| રામદે                | ૨૭૯,  | વ્યાસ                    | ૧૩૨,   |
| રામાનુજ              | ૧૬૨, ૧૬૩, ૨૭૮                               | વ્યોમશિષ્ય               | ૧૪૬, ૧૭૨, ૨૦૨, ૨૪૩, ૨૪૭  |
| વજ્રમ                | ૨૭૮   | શંકર                     | ૧૩૧, ૧૪૪, ૧૮૨, ૧૯૨, ૧૯૩  |
| વજ્રવજ્ર (મદ્યમ)     | ૧૯૪   | શંકરમિત્ર                | ૨૪૭  |
| વજ્રવજ્ર             | ૧૯૨-૧૯૪, ૨૮૩                                | શંકરસ્વામી               | ૧૩૨, ૧૬૭, ૧૮૭, ૧૮૮, ૨૨૧  |
| વાચસ્પતિ             | ૧૩૧, ૧૩૨, ૧૩૫, ૧૪૪, ૧૬૫, ૧૬૯, ૨૨૬, ૨૪૧, ૨૭૧ | શાકટાખ્ય                 | ૨૮૫  |
| વાત્સાખ્ય            | ૧૨૫, ૧૩૨, ૧૪૦                               | શાન્તરાક્ષિત             | ૧૩૦, ૧૩૩, ૧૩૯, ૧૪૩, ૧૮૩, ૨૦૮, ૨૨૩, ૨૨૫, ૨૨૬, ૨૮૧   |
| વેલો, શ્વામ્યાખ્યકાર |   | શાન્તવાચાર્ય,            | ૧૨૫, ૧૨૯, ૧૩૩, ૧૩૪, ૧૩૬, ૧૩૯, ૧૪૬, ૧૪૭, ૧૪૮, ૧૪૯, ૧૫૦-૧૫૭, ૧૭૩, ૧૭૪, ૧૮૩, ૧૮૪, ૧૮૫, ૧૯૧, ૨૦૦, ૨૦૧, ૨૦૬, ૨૦૮- |
| વાલિરાજ              | ૨૪૪   |                          |  |
| વામદેવ               | ૧૮૭   |                          |  |
| વાર્તિકકાર           | ૧૪૦, ૧૫૨                                    |                          |  |
| વેલો, કણ્ઠોત્કાર     |   |                          |  |
| વાર્તિકકાર           | ૧૩૬, ૧૭૪                                    |                          |  |
| વેલો, શાન્તવાચાર્ય   |   |                          |  |
| વાલેટ્ટ              | ૧૮૭   |                          |  |
|                      |   |                          | ૨૧૦, ૨૧૪, ૨૧૫, ૨૧૭, ૨૧૮, ૨૨૩, ૨૨૪, ૨૨૮, ૨૩૭-૨૪૧, ૨૪૩, ૨૪૫, ૨૪૬, ૨૫૦, ૨૬૦, ૨૬૪, ૨૬૫, ૨૬૮-૨૭૧, ૨૭૩, ૨૭૪, ૨૮૫   |
|                      |   |                          | વેલો, વાર્તિકકાર   |
|                      |   |                          | લાઠિકાખ્ય ૧૪૧, ૧૫૩, ૧૮૧, ૨૩૮, ૨૫૩  |
|                      |   |                          | કિશાનમ્બ ૨૮૨   |
|                      |   |                          | વીકાક ૧૩૧  |
|                      |   |                          | જુમગુલ ૧૯૭, ૧૯૮, ૨૬૦   |
|                      |   |                          | ઝીઝર ૧૩૧   |
|                      |   |                          | ઝીઝર ૨૦૬, ૨૨૩, ૨૬૪   |
|                      |   |                          | સમ્મતિટીકાકાર ૧૩૧, ૧૩૪, ૧૩૬, ૧૩૭   |
|                      |   |                          | વેલો, જન્યદેવ  |
|                      |   |                          | સમન્તભાઈ ૧૨૫, ૨૩૩  |
|                      |   |                          | સિદ્ધિ ૧૨૬, ૧૩૧, ૧૩૨, ૧૩૭, ૨૧૯, ૨૨૬, ૨૬૯, ૨૭૧  |
|                      |   |                          | સિદ્ધસેન ૧૨૫, ૧૨૬, ૧૩૬, ૧૫૬, ૧૭૪   |
|                      |   |                          | સુવર્ણી ૨૮૨  |
|                      |   |                          | દરિમમ ૧૨૭, ૧૩૧, ૧૩૩, ૧૭૩, ૧૮૯, ૨૦૪, ૨૩૩, ૨૮૫   |
|                      |   |                          | દેવુવિનુટીકાકાર ૧૩૧  |
|                      |   |                          | વેલો, જર્નલ  |
|                      |   |                          | દેવમખમ્બ ૧૫૮, ૨૪૦  |



## १२. टिप्पणगत ग्रन्थ ।

|                     |                          |                               |                          |                             |                          |
|---------------------|--------------------------|-------------------------------|--------------------------|-----------------------------|--------------------------|
| अंगुत्तरनिकाय       | २८१                      | ज्ञानविन्दु                   | १४७, २४९, २६८,           | तर्कभाषा                    | २४८                      |
| अनुयोगहारसूत्र      | २२२, २२३                 | ज्ञानसारसमुच्चय               | २७५                      | तात्पर्यटीका                | १३१, १३५, १४०,           |
| अनेकान्तवचनपत्रिका  | १३१, १९०,                | तत्त्वविम्व्यासनि             | २३८, २४०,                |                             | १५२, १५३, १५५, १६९, १७३, |
|                     | २६१, २६३                 | तत्त्ववैसाखी                  | १३२                      |                             | १७४, १७८, १८३, १९१, २०१, |
| अनेकान्तवचनसूत्र    | २७७                      | तत्त्वसंग्रह                  | १३१, १३४, १३५,           |                             | २४१, २६१, २६२, २७१, २७२  |
| अभिज्ञानसंग्रह      | २८१                      |                               | १३८, १३९, १५५, १६४, १८१, | तैत्तिरीयसंहिता             | १८७                      |
| अभिज्ञानविम्व्यासनि | २१९                      |                               | १८३, १८४, १८९, १९१, १९७, | दिनकरी                      | २२८                      |
| अर्थसाध             | २०४                      |                               | १९९, २०१, २०३, २०७, २०९, | दीर्घनिकाय                  | १८७                      |
| अवयवविम्विराकरण     | १९३, १९९,                |                               | २२०, २२१, २२३, २२५, २२७, | द्रव्यसंग्रहसूत्रि          | २७९                      |
|                     | २००                      |                               | २२९, २४९, २५०, २५३, २६०, | धम्मपद                      | २५३                      |
| अहसहस्री            | १३०, १५०, १७२, १८४,      |                               | २६१, २६२, २६६, २६७, २७४, | धर्मसंग्रहणी                | २०८                      |
|                     | १८९, २०७, २१५, २३१, २५८, |                               | २७५, २७७, २७८, २८०, २८१, | धर्मसंग्रहणीटीका            | २६१                      |
|                     | २८४                      |                               | २८२                      | नन्दीसूत्र                  | १३१, १४७, २४४,           |
| अहसहस्री            | १५०, १५१, १५५,           | तत्त्वसंग्रहसंक्षिप्ता        | १३४, १३५,                |                             | २४५, २६८                 |
|                     | १५६, १६६, १७२, १७४,      |                               | १४३, १६४, २०७, २६०, २६५, | नवचक्र                      | २५७, २७३, २७६            |
|                     | १८१-१८४, १८९, २०१,       |                               | २७४, २७५, २८०, २८४       | न्यायकण्ठवी                 | १३१, १३३, १७३,           |
|                     | २०७-२०९, २१४, २१५,       | तत्त्वार्थविम्व्याससूत्र      | १४७, १७०,                |                             | १७५, १८७, १९१, १९९, २०१, |
|                     | २४९, २५०, २५९, २६५, २६६  |                               | १८५, २४४, २७७            |                             | २१५, २४३, २६२, २७१, २७२, |
| अहसहस्रीविवरण       | १७४, २३१                 | तत्त्वार्थविम्व्यासभाष्य      | १४७, २२६                 |                             | २७८, २७९                 |
| आत्मतत्त्वविवेक     | १२५                      |                               | २२७, २७७                 | न्यायकण्ठमुद्रचन्द्र        | १३१, १३४,                |
| आपस्तम्बश्रौतसूत्र  | १२९                      | तत्त्वार्थविम्व्यासभाष्यटीका  |                          |                             | १३६, १६९, १७१, १७२, १७६, |
| आश्वपदीक्षा         | २०१                      | ( सिद्धसेन )                  | २११                      |                             | १५४-१५६, १६७, १७३, १७४,  |
| आश्वमीर्मासा        | १४३, १४८, १५०,           | तत्त्वार्थविम्व्यासभाष्यटीका  |                          |                             | १७६-१७८, १८२-१८४,        |
|                     | १५१, १७२, २०७, २३१, २३३, | ( हरिमन्त्र )                 | १३१                      |                             | १८७-१९०, २००-२०२,        |
|                     | २६०, २६१, २६४, २७८       | तत्त्वार्थवैराजवार्तिककाङ्कार | २६४                      |                             | २०४-२०९, २२९, २३१, २३६,  |
| आत्मव्यवपरीक्षा     | १९४, १९७                 | तत्त्वार्थवैराजवार्तिक        | १२८, १३१,                |                             | २४०, २४४-२४७, २४९,       |
| आवयवकर्मिर्मुक्ति   | १२७, २४४                 |                               | १३३, १३४, १३७, १४१, १४५, |                             | २५०, २५२, २५३, २५८-२६३,  |
| अष्टादाशिसिद्धि     | २०३, २०९, २६७            |                               | १४६, १४९-१५३, १५५-१५७    |                             | २६६, २६७, २७१-२७३,       |
| अष्टाव्यवसनसूत्र    | २५३                      |                               | १७०, १७२, १७५, १८२-      |                             | २७६, २७८, २७९, २८४, २८५, |
| आग्नेय              | १८७                      |                               | १८४, १९४, १९५, २०१,      |                             | २८६                      |
| कठोपनिषद्           | २७९                      |                               | २०६-२०९, २१३, २१५, २१९,  | न्यायकोष                    | २४२                      |
| ऐतरेयब्राह्मण       | १८७                      |                               | २२३, २३१, २३८-२४०,       | न्यायकण्ठकालाव              | २७९                      |
| कारिकावली           | २३१, २४१                 |                               | २४५, २४७, २५२, २५८, २५९, | न्यायप्रवेश                 | १३३, २५४                 |
| कुसुमाञ्जलि         | २०१                      |                               | २६३-२६६, २७२, २७३, २७८   | न्यायप्रवेशसूत्रि           | १३१                      |
| कण्वकण्वकशास्त्र    | २०५, २२४                 | तत्त्वोपल्लवसिंह              | १४६, १५१, १५७,           | न्यायप्रवेशसूत्रिसंक्षिप्ता | १३४, २५४                 |
| कैविलिनी            | २७८                      |                               | १६१, १७३, १८४, २०४, २२४  | न्यायविन्दु                 | १४९, १५४, १६४,           |
| किसुकी              | १६५                      |                               | २५०, २५९, २६१, २६६, २७२  |                             | १७६, १९७, २११, २१४, २१६, |
| कान्दोपनिषद्        | २७९                      | तत्त्ववार्तिक                 | १७९-१८१, १८३,            |                             | २२९, २३२, २३३, २३४, २३८, |
| कैवल्यसंभाषा        | २४०, २४७                 |                               | १८४, २५३                 |                             |                          |

|  |  |  |
|--|--|--|
| ૨૪૨, ૨૫૫, ૨૬૧, ૨૬૬, ૨૭૩,<br>૨૭૮  | વાતજલમહાભાષ્ય ૧૩૩  | પ્રમાણવાર્તિકાલંકાર  |
| આવશિષ્ટીકા ૧૨૫, ૧૩૧, ૧૩૬,<br>૧૩૫, ૧૩૬, ૧૫૦, ૧૬૩, ૧૬૪,<br>૧૭૦, ૧૭૬, ૨૧૦, ૨૧૪, ૨૨૨,<br>૨૩૩, ૨૩૪, ૨૬૫   | પારસ્કરશુદ્ધાસૂત્ર ૧૨૯   | ૧૩૫, ૧૩૮, ૧૩૯, ૧૪૧, ૧૪૨,<br>૧૪૮, ૧૫૧, ૧૫૨, ૧૫૬, ૧૫૭,<br>૧૬૪, ૧૬૫, ૧૭૨-૧૭૫, ૧૭૮,<br>૧૮૨, ૧૯૫, ૨૦૧, ૨૦૨, ૨૦૬-<br>૨૧૦, ૨૧૬, ૨૨૦, ૨૨૩, ૨૨૪,<br>૨૨૮, ૨૩૧, ૨૪૫, ૨૫૦, ૨૫૩,<br>૨૫૮-૨૬૧, ૨૬૪, ૨૭૬   |
| આવશિષ્ટીકાટિપ્પણી ૨૫૪  | મકરણપત્રિકા ૧૩૪, ૧૪૧,<br>૧૫૨, ૧૫૬, ૧૬૭, ૧૬૮, ૧૭૩,<br>૧૭૯, ૧૮૧, ૧૮૩, ૧૮૪, ૨૨૧,<br>૨૨૮, ૨૨૯, ૨૩૮, ૨૪૨, ૨૫૩,<br>૨૫૪, ૨૭૧-૨૭૩, ૨૭૫, ૨૮૪  | પ્રમાણસંગ્રહ ૧૨૫, ૧૨૯, ૧૩૬,<br>૧૪૫, ૨૪૦, ૨૪૧, ૨૪૩, ૨૬૮,<br>૨૭૨, ૨૭૩  |
| આંધ્રભાષ્ય ૧૨૫, ૧૩૨, ૧૪૦,<br>૧૫૨, ૧૬૮, ૨૧૫, ૨૨૨, ૨૪૧,  | પ્રમાણનિર્ણય ૨૪૪   | પ્રમાણસમુચય ૧૨૫, ૧૪૧, ૧૫૭,<br>૨૧૧,   |
| આંધ્રમહાભાષ્ય ૧૨૮, ૧૨૯, ૧૩૬,<br>૧૪૧, ૧૪૫, ૧૪૬, ૧૫૩, ૧૫૪,<br>૧૫૫, ૧૬૬, ૧૬૮, ૧૬૯, ૧૭૩-<br>૧૭૫, ૧૭૮, ૧૮૩, ૧૮૪, ૧૯૧,<br>૧૯૩, ૧૯૫, ૨૦૧, ૨૦૭, ૨૦૮,<br>૨૧૬, ૨૧૭, ૨૧૮, ૨૨૧, ૨૨૨,<br>૨૨૪, ૨૨૫, ૨૪૬, ૨૪૭, ૨૫૨,<br>૨૫૩-૨૫૫, ૨૬૦, ૨૬૨, ૨૬૬,<br>૨૭૧, ૨૭૩, ૨૭૮, ૨૭૯, ૨૮૪ | પ્રમાણપરીક્ષા ૧૫૦, ૨૧૯, ૨૨૦,<br>૨૩૮, ૨૪૩, ૨૪૫, ૨૪૭, ૨૭૨  | પ્રમાણસમુચયદીકા ૧૩૫, ૧૯૭,<br>૨૧૦   |
| આંધ્રલોકાવલી ૧૭૯   | પ્રમાણમીમાંસા ૧૨૮, ૧૫૦, ૧૫૩,<br>૧૭૫, ૧૯૨, ૨૧૫, ૨૩૮, ૨૪૦,<br>૨૬૮, ૨૭૦, ૨૭૧,   | પ્રમાણસમુચયવૃત્તિ (વિગ્રાગ)<br>૧૬૪, ૧૯૭, ૨૧૦   |
| આંધ્રવાર્તિક ૧૨૫, ૧૩૧, ૧૩૨,<br>૧૩૬-૧૪૧, ૧૪૬, ૧૫૫, ૧૬૫,<br>૧૬૬, ૧૬૮, ૧૬૯, ૨૦૧, ૨૨૨,<br>૨૪૧, ૨૫૨, ૨૬૧, ૨૭૧, ૨૮૦,<br>૨૮૩, ૨૮૪   | પ્રમાણમીમાંસાભાષ્યટિપ્પણ ૧૩૫,<br>૧૫૧, ૧૫૬, ૨૦૮, ૨૨૫, ૨૩૭,<br>૨૪૧, ૨૪૩, ૨૬૦, ૨૬૨, ૨૬૪,<br>૨૬૫, ૨૭૦, ૨૭૧, ૨૭૩, ૨૮૦   | પ્રમાણકથા ૧૨૬, ૧૩૬, ૧૫૨,<br>૨૧૬, ૨૧૮, ૨૨૦, ૨૨૩, ૨૩૮  |
| આંધ્રવિનિર્ણય ૧૨૫, ૧૫૩,<br>૧૫૬, ૨૩૮, ૨૪૫, ૨૬૩, ૨૭૦,<br>૨૭૩   | પ્રમાણવાર્તિક ૧૨૫, ૧૨૭, ૧૩૭-<br>૧૩૯, ૧૪૧, ૧૪૩, ૧૪૬, ૧૫૦,<br>૧૫૨, ૧૫૩, ૧૫૫, ૧૫૬, ૧૬૪,<br>૧૭૫, ૧૮૩, ૧૮૪, ૧૮૬, ૧૮૭,<br>૧૮૯-૧૯૧, ૧૯૫, ૨૦૧, ૨૦૪,<br>૨૦૭-૨૦૯, ૨૧૧-૨૧૪,<br>૨૩૦-૨૩૨, ૨૩૪, ૨૩૫, ૨૩૮,<br>૨૪૦-૨૪૧, ૨૬૦, ૨૬૧,<br>૨૬૫, ૨૬૭, ૨૬૯, ૨૭૧,<br>૨૭૪, ૨૭૬, ૨૮૦, ૨૮૩ | પ્રમાણકથાવૃત્તિ ૧૨૬<br>પ્રમેયકથાકથાલંકાર ૧૨૫, ૧૨૬,<br>૧૨૮, ૧૩૧, ૧૩૩, ૧૩૫, ૧૩૬,<br>૧૩૯, ૧૪૦-૧૫૪, ૧૫૬,<br>૧૬૦-૧૬૨, ૧૬૫, ૧૭૩, ૧૭૪,<br>૧૮૩, ૧૮૪, ૧૮૬, ૧૯૫, ૨૦૧,<br>૨૦૭, ૨૦૮, ૨૧૩, ૨૧૬, ૨૧૯,<br>૨૨૦, ૨૨૩, ૨૩૮-૨૪૦, ૨૪૬,<br>૨૫૮, ૨૬૪-૨૬૬, ૨૭૩,<br>૨૭૮, ૨૭૯, ૨૮૫, ૨૮૬ |
| આંધ્રસાર ૨૩૮   | પ્રમાણવાર્તિકકર્ણકમોચીકા<br>૧૩૮-૧૪૦, ૧૮૪-૧૮૭,<br>૨૫૧, ૨૫૩, ૨૫૪, ૨૬૦, ૨૭૨-<br>૨૭૪, ૨૭૮, ૨૮૦, ૨૮૪, ૨૮૫   | પ્રસસ્તપાદ્ભાષ્ય ૨૨૫, ૨૨૮,<br>૨૪૧, ૨૪૬, ૨૪૮, ૨૫૨, ૨૭૨  |
| આંધ્રસૂત્ર ૧૨૯, ૧૫૨, ૧૮૯, ૧૯૦,<br>૧૯૫-૧૯૭, ૧૯૯, ૨૦૧, ૨૦૭,<br>૨૦૮, ૨૨૨, ૨૪૧, ૨૪૬, ૨૪૭,<br>૨૫૨, ૨૭૮  | પ્રમાણવાર્તિકસનોરચનભિદીકા<br>૧૫૫, ૧૫૬, ૧૯૦, ૧૯૫, ૨૧૨,<br>૨૧૪, ૨૧૬, ૨૩૦, ૨૩૪, ૨૩૫,<br>૨૩૮, ૨૪૫, ૨૬૩, ૨૬૫-૨૬૭,<br>૨૭૦, ૨૭૫, ૨૮૪  | પ્રસારસિ ૧૩૫<br>સુદી ૧૫૩, ૧૬૭, ૧૬૮, ૧૭૩,<br>૧૮૪, ૨૦૭, ૨૪૫,   |
| આંધ્રાવતાર ૧૨૫, ૧૨૬, ૧૨૮,<br>૧૩૫-૧૩૭, ૧૫૬, ૨૧૩, ૨૧૪,<br>૨૧૬, ૨૨૪, ૨૩૪, ૨૬૮, ૨૬૯.   | પ્રમાણવાર્તિકસનોરચનભિદીકા<br>૧૫૫, ૧૫૬, ૧૯૦, ૧૯૫, ૨૧૨,<br>૨૧૪, ૨૧૬, ૨૩૦, ૨૩૪, ૨૩૫,<br>૨૩૮, ૨૪૫, ૨૬૩, ૨૬૫-૨૬૭,<br>૨૭૦, ૨૭૫, ૨૮૪  | સુદ્ધકથામાળ્ય ૧૯૦<br>સુદ્ધારણ્યક ૨૭૮<br>સુદ્ધારણ્યકવાર્તિક ૧૭૭, ૨૦૪<br>મહાસૂત્ર ૧૪૪, ૧૬૫, ૧૯૧  |
| આંધ્રાવતારદીકા ૧૩૧, ૧૩૨,<br>૧૩૪-૧૩૭, ૧૪૬, ૧૫૨, ૨૧૦,<br>૨૧૧, ૨૨૬, ૨૩૮, ૨૭૧  | પ્રમાણવાર્તિકસોપજ્ઞવૃત્તિ<br>૧૮૪, ૧૮૬, ૧૮૭, ૨૫૧, ૨૭૩,<br>૨૭૪, ૨૮૦, ૨૮૪   | મહાસૂત્રસંકરભાષ્ય ૧૩૮,<br>૧૩૯, ૧૪૪, ૧૪૬, ૧૪૮, ૧૪૯<br>૧૯૧, ૨૦૮, ૨૫૪, ૨૭૮  |
| વચ્ચમકર્તીપ્રશ્ન ૨૦૩   |  | સંગવલી ૨૨૨, ૨૨૬,<br>૨૫૬, ૨૬૫, ૨૫૭  |
| વચ્ચસંગ્રહ ૨૦૨, ૨૦૩  |  |  |
| વધુઓપર્ણસંગ્રહ ૧૩૧   |  |  |
| વરીકાસૂત્ર ૧૨૬, ૧૪૯, ૧૫૨,<br>૨૨૩, ૨૩૮, ૨૪૦, ૨૫૯, ૨૬૫,<br>૨૬૮   |  |  |

|                            |                          |                            |                          |                              |                          |
|----------------------------|--------------------------|----------------------------|--------------------------|------------------------------|--------------------------|
| अध्यात्मविभाग              | १२३, १२९                 | विशेषावश्यकभाष्य           | १२७, १२८,                | श्लोकवार्तिकसामर्थ्यटीका     | १५४                      |
| महाध्यात्मविभाग            | १७७                      | १४७, २०८, २१०, २४४, २४६,   |                          | श्लोकवार्तिकम्भावरत्नाकर     |                          |
| महाध्यात्मसूत्रांशकार      | १७७                      | २४७, २६८, २७६, २८५         |                          |                              | १५४, १८८                 |
| भाट्टरहसि                  | २०२                      | विशेषावश्यकभाष्यवृहत्सुति  | २६८, २६९                 | पदसङ्गणक                     | २०३                      |
| भाष्यमिश्रकारिका           | १७७, १२२                 | विमुक्तिभाग                | २७६                      | पददर्शनसमुच्चय               | १२७, २०४                 |
| भाष्यमिश्रकारिकावृत्ति     | १६२                      | वेद                        | १२६, १४९, १८३, १८४,      | पददर्शनसमुच्चयटीका (गुणरत्न) | १२७                      |
|                            | २१०                      |                            | १८५, १८६                 |                              |                          |
| मीमांसासूत्र               | २२८                      | वेदान्तपरिभाषा             | २२२, २५४                 | संयुक्तनिकाय                 | २७६                      |
| मुक्तावली                  | २२८, २४०                 | वैदिकिकसूत्र               | १२९, १५५, २४६,           | सम्प्रदायान्तरसिद्धि         | २८३                      |
| मुक्तावलीपरिचय             | २७९                      |                            | २५२, २७२, २७९,           | सम्प्रदायिक                  | २५७                      |
| मैत्रीसुपरिचय              | २७९                      | वैदिकिकसूत्रोपस्कार        | २४७                      | सम्प्रदायिकटीका              | १३१, १३३,                |
| योगदर्शन                   | २०२, २४७                 | व्याकरणमहाभाष्य            | १३०                      | १३४, १३६, १३९, १४०, १४६,     |                          |
| योगरहसिसमुच्चय             | १२७, १७३                 | व्योमजाली                  | १४६, १५५, १५७,           | १५१, १५३, १५४, १५६, १५७,     |                          |
| योगरहसिसमुच्चयटीका         | १३३                      |                            | १६२, १७२, १७३, १७५, १८३, | १६७, १७३, १७४, १७६, १८१-     |                          |
| योगविन्दु                  | १२७                      |                            | १९१, १९९-२०२, २०८,       | १८४, १८७-१९१, २००, २०१,      |                          |
| योगभाष्य                   | १३२, २०२, २४७,           |                            | २१५, २४३, २४४, २४७, २६२, | २०६, २०७, २०९, २१६, २२९,     |                          |
|                            | २७७                      |                            | २६६, २७८, २८०, २८४       | २३७, २३९, २४४, २४६, २४७,     |                          |
| रघुवंश                     | १२८                      | शतपथब्राह्मण               | १८७                      | २४९, २५०, २५३, २५९-२६४,      |                          |
| राजवार्तिक                 | २८५                      | शाबरभाष्य                  | १५२, १६७, १७०,           | २६६, २६७, २७३-२७५, २७७       |                          |
| रंकावतार                   | १७७, २७८                 |                            | १७५, १७९, १८४, १८६, १८७, | २८०, २८४, २८५, २८६           |                          |
| रघुवीरकाव्य                | १२९, २३६, १४८,           |                            | १८९, १९०, २२१            | समयसार                       | १७५                      |
|                            | २३३, २२०, २३८, २३९,      | शाबरभाष्यव्याख्या          | २२१, २२९                 | सम्बन्धपरिभाषा               | १७७                      |
|                            | २४३, २४५, २६८            | शास्त्रदीपिका              | १३९, १४५, १७३,           | सर्वज्ञसिद्धि                | १२७                      |
| रघुवीरकाव्यसुपरिचय         | १२५,                     |                            | १७९, १८०, १८३, १९५, २०१, | सर्वदर्शनसंग्रह              | २०४                      |
|                            | १५१, २३६, २४३, २४४, २४९, |                            | २२१, २२७, २२८, २४७, २५२, | सर्वार्थसिद्धि               | १२७, २०३, २११,           |
|                            | २७१                      |                            | २५४, २५६, २६६, २७२, २७३, |                              | २४४, २८५                 |
| रुद्रितनिकारा              | २८५                      |                            | २७५, २८४                 | सांख्यकारिका                 | २०२, २७७                 |
| रुद्रितनिकाराश्रितसूत्र    | १२९                      | शास्त्रवात्सल्यसमुच्चय     | १३१, १८४,                | सांख्यतत्त्वकौमुदी           | १४४, १८२,                |
| रुद्रितनिकाराप्रतीक        | १२८                      |                            | १८९, १९०, २०१, २०४       |                              | १९३, २२५, २२६            |
| राजपदीय                    | १३५, १५२, १५७,           | शास्त्रवात्सल्यसमुच्चयटीका |                          | सांख्यतत्त्वश्रितसूत्र       | १८७                      |
|                            | १७६, १७७, २०३, २०७, २१७  | (वसोविजय)                  | २७९, २८५                 | सिद्धिबिम्ब                  | २७३                      |
|                            | २६१, २७४                 | श्रुतार्थोद्भाष            | २८२                      | सिद्धिबिम्बटीका              | १३१,                     |
| राजपदीयटीका                | १७७                      | श्रीभाष्य                  | १६३                      |                              | १३३, १३४, २४६, २७३,      |
| राजपदीय                    | १३०, २०१, २३०,           | श्लोकवार्तिक (जिनेश्वर)    | १२६                      | सूत्रप्रामाण्य               | २८५                      |
|                            | २६९                      | श्लोकवार्तिक (कुमारिक)     |                          | सूत्रकृतसूत्र                | १३१, २०४                 |
| राजपदीयटीका                | १२३                      |                            | १२६, १२८, १२९, १३३, १३४, | श्रीमुक्तिप्रकरण             | २८५, २८६                 |
| विग्रहव्याख्यान            | १६१, १६२, २०३            |                            | १४१, १४५, १४६, १४९, १५४, | स्याद्वाक्कुचोपनिषद्         | २६३                      |
| विचारकलिका                 | १२६                      |                            | १७६, १८१, १८३, १८४, १८६, | स्याद्वाक्कुचोपनिषद्         | १९०, १९१,                |
| विज्ञप्तिमात्रासिद्धि      | १९२,                     |                            | १८८, १९१, २०१, २०८, २१८, |                              | २१०, २६२, २७६, २७८, २७९  |
|                            | २६०                      |                            | २२१, २२५, २२७-२२९, २३२,  | स्याद्वाक्कुचोपनिषद्         | १३१, १३२,                |
| विज्ञप्तिमात्रासिद्धिभाष्य | १९२                      |                            | २३४, २३६, २४७, २४९, २५०, |                              | १३४-१३६, १३९, १४१,       |
|                            | १९३                      |                            | २५३, २५५-२५७, २६१, २६६,  |                              | १४६, १४८, १५२, १५५, १५६, |
|                            |                          |                            | २७१, २७२, २७८, २७९       |                              | १६०,                     |



|                           |                          |           |                       |
|---------------------------|--------------------------|-----------|-----------------------|
| १०३, १०४, १०५,            | हेतुविम्वुटीका           | १३१, १३२, | Constructive Survey   |
| १८१, - १८४, १८५, २०१,     | १४३, १५०, २३१, २३२, २३४, |           | of Upanishadic Phi-   |
| २०८, २१३, २१४, २१५, २२०,  | २३६, २३७, २३९-२४३, २४५,  |           | losophy 279           |
| २२६, २२९, २३१, २३८, २४०,  | २७०, २७१, २७३, २७४, २८०, |           | Early Monastic Bu-    |
| २४३, २४७, २४९, २५०, २५३,  | २८३, २८४, २८५            |           | ddhism 187            |
| २५४, २५७, २५८, २६३, २६४,  | हेतुविम्वुटीकाकोश        | २६१, २७३  | Indian philosophy 205 |
| २६५, २७२, २७३, २८४, २८५,  | Awakening of Faith       | २८२       |                       |
| हेतुविम्वु १३३, १००, २१३, | Buddhist Logic           | १६३,      | Systems of Buddhistic |
| २३७, २४२, २७०, २७४, २८०,  | १६४, २७१                 |           | Thought २८२, २८३      |



## १३. टिप्पणगत शब्दों और विषयोंकी सूची ।

|                                   |           |                               |           |                                |           |
|-----------------------------------|-----------|-------------------------------|-----------|--------------------------------|-----------|
| अगुहीचार्यप्रापण                  | १४९       | अन्वयानुपपत्ति                |           | इयमन्वयवर्गीके विषयमें भाषा    |           |
| अग्रह                             | १६७       | -अविनाभावविनामिका             | २७१       | मत् १९३, का विनाश १९४,         |           |
| अक्षरचक्रान                       | १५७       | अन्वयोद्                      | २५१, २६७  | जैनमत १९४, बौद्ध-जैनमुख-       |           |
| अतिदेशाचार्य                      | २२०, २२१, | अपूर्व अर्थका मतकव            | १४९       | न १९५, सीमांतकमत १९५,          |           |
|                                   | २२५, २२७  | अपूर्व                        | १७९       | प्रत्यक्षकी चर्चा १९५, का      |           |
| अनुकारकसम्बन्धोद्घोषासला          | १५१       | देखो, शक्ति                   |           | अनुमान १९६, अनेकान्त           |           |
| अनुकारभारकचर                      | १५१       | अपूर्वार्थक                   | १२८, १४९  | १९८, जैनदृष्टिसे ग्रहण २००,    |           |
| अद्वैतानुपकटिप                    | २३२       | अपौरुषेयत्व                   | १८४       | अमिल है-                       | २५८       |
| अधवास                             | १७०       | अप्रतिष्ठा                    | २४७       | अभाव                           | २४८       |
| अनभिगतार्थैकान्त्य                | १५१       | अवाचित                        | १५०       | अविद्या १५७, १६५, १७०, १७५,    |           |
| अनन्यत्वसाध                       | १५७       | अभाव,                         |           | १७६, १७७,                      |           |
| अनर्थ                             | १६४       | -प्रमाणका पार्थक्य            | २१९       | अविनाभाव                       |           |
| अनाकारव्यावृत्ति                  | २६५       | -बौद्धसंमत भावाव्यतिरिक्त     |           | -के निवामककी चर्चा २७१         |           |
| अनिर्वचनीयकथाति                   | १६५, १६९  | २३३, -व्यवहार २२९, प्रमेय     |           | अवितर्कवाद                     | १५०, १६३, |
| अनुपकटिप                          | २२९       | और लङ्गादिप्रमाण              | २३३       | अवितर्कवादित्व                 | १५१       |
| अनुपगम्यचतुष्टय                   | १३१       | अभिधेयप्रयोगन                 | १२८, १३४  | अव्यपदेश्य                     | १६४,      |
| अनुवृत्ति                         | १५३       | अज्ञान्य                      | १५०, १६४  | अव्यभिचारि                     | १५०       |
| अनुमान                            |           | अनुवृत्तिसिद्धि               | १२५       | असत्कथाति                      | १६१, १६९  |
| -ज्ञान्य किस दृष्टिसे ?           | १६३       | अर्थ                          | १३५       | असत्प्रवहार                    | २२९, २३१  |
| -प्रासाध्य                        | २०३, २१२, | के भेद                        | १३५       | असम्भ्रमज्ञान                  | १५७       |
| -का विषय सामान्य २१२, २३६         |           | अकौटिक                        | १३६       | भाकार                          | २६५       |
| -से आन्वादि भिन्न हैं २१८,        |           | अर्थकिवाकारित्व               | १८३, २६२, | भागम                           |           |
| २१९, -परोक्षान्वयित २२१,          |           | अर्थग्रहण                     | १४९       | -प्रासाध्यविशेष                | १३४       |
| २६८, में 'अपमानका अन्तर्भाव       |           | अर्थपर्याय                    | १८२       | -में अपमानका समावेश २५५        |           |
| २२५, -में अर्थोपपत्तिका अन्तर्भाव |           | अर्थप्राकट्य                  | १५४       | -परोक्षका भेद                  | २६८       |
| २२९, में 'प्रत्यभिज्ञाका अन्त-    |           | अर्थकपता                      | २६५       | -पृथक् प्रमाण नहीं २७३,        |           |
| भाव २६८, का साम्याचार्यको         |           | अर्थोपकार                     | १४९       | -बुद्धवचनके प्रामाण्य में हेतु | २७६       |
| कार्य-परार्थभेद अंतर्मत है        |           | अर्थोपपत्ति                   | २१९, २२९  | अतमा                           |           |
| २६९, के अवयव                      | २६९       | अकौटिककथाति                   | १७३       | -आत्मव्यापाररूप प्रमाण १५३     |           |
| से व्याप्तिका ग्रह                | २७१       | अकौटिकार्थ                    | १६३       | -से बुद्धबुद्धादि अभिन्न १५५   |           |
| -पक्षधर्मत्वद्वयहेतुमूलक          |           | अकौटिकार्थकथाति               | १६३       | -के विषयमें चार्वाक २०४        |           |
| २७२, का चार्वाकसंमत दूषण          |           | अवधि                          | १७०, १७१  | -स्तिद्धि                      | २०८       |
|                                   | २७२       | अवभास                         | १४८       | -परिमाण                        | २७८       |
| अनुव्यवसाय                        | १४८       | अवयव-अवयवी का देख             | १४२,      | -प्रत्यक्ष, अनुमान २७९         |           |
| अनेकान्त                          |           |                               | १४४       | -नैक्यिक, व्यावहारिक २८३       |           |
| -आदिवाक्यमें                      | १३४       | कारणिक                        | १९२       | आत्मकथाति १६३, १६५, १६९,       |           |
| -का धर्मक्षीरिहृतसंज्ञक और        |           | अवयवी १४२, १४४, १९९, २०१,     |           | १७४                            |           |
| उसका उत्तर                        | २६३       | २८२, सत्तामें नागार्जुनादि की |           | आदिवाक्य                       |           |
| अनेकान्तात्मक                     | २५८       | आपत्ति १९२                    |           | -का स्वरूप और स्थान १२९,       |           |

|                    |                |                         |                    |                     |                     |
|--------------------|----------------|-------------------------|--------------------|---------------------|---------------------|
| -बर्चाका प्रारंभ   | १२९,           | कर्म                    | २५४                | देखो, सामान्य       |                     |
| -का प्रतिपाद       | १२९,           | कल्पना                  | २५९                | कालिभैरव            | २५१                 |
| -का प्रयोजन        | १३२,           | कल्पनाज्ञान             | २५९                | ज्ञान               | १५५                 |
| -में अनेकान्त      | १३४            | कल्पनापेक्ष             | १६४                | ज्ञानदर्शानुपयोग    |                     |
| -अनुमान का आगम है  | १३४            | कार्य                   |                    | -कमिकता, अकमिकता और |                     |
| आधारादेवभाव        | १४३, १४४       | -वासनाकुल               | १२७,               | पुकता               | २४९                 |
| भास                |                | -का प्रकृतिले अनेक      | २५४                | जातुव्यापार         | १५३                 |
| भाषाबाहिसंभव       | १२६            | -की सत्यता और मायिकता   | २५८                | तरङ्ग               | १८३                 |
| भाष्यभाव           | १३१            | कार्यकारणभाव            | १७१, २०७           | तरङ्गज्ञान          | १५०, २०१,           |
| भाकम्पन            | १६१, १६७       | -समवायत्वाधीन           | १४३                | समुत्पत्ति          | २७१                 |
| भाष्यभाविभाव       | १४३, १८१,      | -समकाकमें नहीं          | १४४                | तमस                 |                     |
|                    | २०७,           | -का दो प्रकारसे विचार   | १७६                | -भाव का अभावकथ      | २४४                 |
| भार्य              | २४६            | -ज्ञान और ज्ञेयमें नहीं | २३५                | तर्क                |                     |
| भूमिद्वय           | २४३            | -प्रभाव और फलमें नहीं   | २६६                | का प्रमाण           | १५१, परोक्षमें      |
| का प्राप्तिकारित्व | १४१            | काक                     | १२४                | अन्तर्भाव           | २६८, व्याप्तिमाहक   |
| भूमिद्वयज्ञान      | १६४            | कुतर्क                  | १७३                |                     | २७०                 |
| झंझर               | १६३, १७७, १८३, | केवळज्ञान               | २०२, २७९           | वादात्मक            | १९५, २१५, २७१       |
| -कारणवाद           | १९०            | किवा                    | २८३                | वाङ्मय              | २६५                 |
| उत्पत्ति           |                | किवाकारक                |                    | विवर्तमान           | २५९                 |
| -विराकरण           | १९२            | -अवधारमें नामानुमेद     | १५२                | दर्शन               | १३७                 |
| उत्पाद             | २८१            | क्षयिक                  | २६२, २८१           | दुर्मेजत्व          | १८४                 |
| उपभाव              | २१९            | क्षयिकता                | १४९                | दृश्यत्व            | २३२                 |
| -का स्वकथ          | २२१            | -की मायत्वाका विकासक्रम | २८०                | दृश्यानुपकथि        | २३२                 |
| -का प्रमाण         | २२३            | क्षयिकत्व               | २८०                | दृश्यानुपक्रम       | १५४                 |
| -का अन्तर्भाव      | २२४            | मयक्षयिकत्व             | १०३                | दोष                 | १८६                 |
| -का प्रथमप्रमाण    | २२६            | मयक्षयिकत्व             | २२८                | दृष्ट               | १३९, १४३, १४५, १४९, |
| -अनेकान्त          | २२६            | गुण                     | १४३, १७९, २५४, २८३ |                     | २५८, २६०, २८३       |
| -का फल             | २२७            | गुणगुणी                 | १४२                | दृष्टकृष्य          | १९२                 |
| -का प्रयोजन        | २२८            | गुणगुणानुपरोपकथि        | २०२                | दृष्टकर्म           | १८१                 |
| उपमिति             | २२७            | गुणीतावेप्रमाण          | १५०                | दृष्टकथ             | २१५                 |
| उपकथि              | २४९            | ग्राहक                  | २३५                | दृष्टदर्शानुमेद     | १४९, २१३            |
| उपलम्भ             | २४९            | ग्राहक                  | २३५                | दृष्टार्थिकत्व      | १५५                 |
| उपादानोपादेयभाव    | १९२, २२८       | ग्राह्य                 | २३५                | धर्म                | २१८                 |
| उपेक्षणीय          | १२५, १३५       | ग्राह्यग्राह्यभाव       | १६४, १४१           | धर्म-धर्म           | १४२, १४४            |
| कर्त्तृताकथ        | २५९            | विषय                    | २८१                | धर्म                | २१८                 |
| कर्त्तृतासामान्य   | २५७, २५८,      | विग्रह                  | २४७                | ममत्कार             |                     |
|                    | २६०            | वैतन्य                  |                    | मध्य और भाव         | १२७                 |
| कह                 | २४८            | वितस्तंति और वीरहृदय    | २०६                | मय                  |                     |
| पुकारपरामर्श       | २५१, २५८       | प्रत्यक्षकभाव           | २३६                | पूर्वभावमें नवाभास  |                     |
| पुष्पानुमेद        | २८३            | प्राप्ति                | १७९, २५६, २५७      | की वदना             | २७७                 |
| प्रेमिद्वयज्ञान    | १६६,           | प्रकृत्य                | २५३, प्राप्तिभाव   | प्राप्तिभाव         | १६१                 |
| वीर्य              | २२२            |                         |                    | वीर्य               | २०९                 |
| कथन                | १४०, १४१       |                         |                    |                     |                     |

|                             |   |                             |               |                               |               |
|-----------------------------|---|-----------------------------|---------------|-------------------------------|---------------|
| निराकरण                     | १६१, १६२, १६६,<br>२५०                                       | -बुद्ध                      | १२१, १२७      | आध्यात्मिक और व्यावहारिक      |               |
| निर्णय                      | १५०   | -बौद्धसंमतनिर्यिकरण         | १२७           | १२६, अष्टवर्षाधिके मतमें      |               |
| निर्यिकरण                   | १६४, २५९, २६०   | -नैवायिकामिमत्त             | १४०           | १४७, नैवायिकामिके मतमें       |               |
| निर्णय ( मय )               | २८३   | -सामग्रीक                   | १४६           | १४८ ज्ञानमाहकज्ञानका १४८,     |               |
| परमाणु                      | १९२, १९४-१९७,<br>२३३, २६०, २८२                              | -इन्द्रिय                   | १४६           | का निवामक क्या १४८, बौद्ध,    |               |
| परमाणुपुञ्ज                 |   | -कक्षणचक्रों                | १४९           | मीमांसक, जैन, धर्मकीर्ति नादि |               |
| -के तीन मत                  | १९४   | -आत्मव्यापार                | १५३           | १४९, -१५३, आत्मव्यापार        |               |
| -का प्रत्यक्ष               | १९६   | -अनुभूति                    | १५३           | १५३, का निवाम १५६, १६२,       |               |
| परिणाम                      | २५४, २७७  | -व्यावहारिक और पारमार्थिक   | १६३           | वेदका १८६, विन्द्या १७२,      |               |
| परोक्ष                      | २१३, २२०  | -अनेकाल                     | १७२           | फलविप्रतिपत्ति                |               |
| -मेद                        | २६८   | -प्रसिद्ध है                | १७४           | साम्यचार्यकी विशेषता २६४      |               |
| परोक्षार्थप्रतिपत्ति        | २१३   | -कृतव्यवहार                 | १७४           | अनेकपक्ष                      | २६६           |
| पर्याय                      | १३९, १४५,   | -के निवामकतरव               | १७४           | बाधक                          | १७४           |
| पर्यायद्वि                  | २१५   | -संस्कृत और विष्णु २११, २१५ |               | ज्ञान                         | १७४           |
| पर्यायमय                    | १५५   | -साकरव                      | २६५           | बाधकापकभाव                    | १५७, १५६      |
| पारमार्थिक सत्य             | २८२   | -फल                         | १२५, १३५, १४० | बाधारहितव                     | १५३           |
| पुत्रकर्मव्य                | १९५   | -मेदका निवामक क्या है २१७   |               | बाधार्थ                       | १५३           |
| पुत्रकपरावर्त               |   | प्रमाणसंज्ञक                | २३१           | -का अभाव                      | २४९           |
| -चार प्रकार                 | २०३   | जैन २१५, २१८                |               | महा                           | २५८           |
| पुरुषकर्म                   | १९०   | नैवायिक वैशेषिक संमत २१५    |               | माहाभरतजाति                   | २५३           |
| पूर्वापरव्यापार             | २७६   | प्रमाणविशेष                 |               | भावकी                         | १८१           |
| प्रकृति                     | १४४, २५४, २५७, २५८,<br>२८३                                  | विभागसंमत २११ धर्मकीर्ति-   |               | भूतलपता                       | २८३           |
| प्रकृत्यन्तरविज्ञान         | २०२   | संमत २१२, जैन संमत २१५,     |               | अम                            | १५६, १५७      |
| प्रतिज्ञा                   | २६९   | २१८                         |               | आहित                          | १५७           |
| प्रतिषेधविकरण               | २३४   | प्रमिति                     | १४०, २६५      | मंगक                          | १६६           |
| प्रत्यक्ष                   | १४०, १६७, २१२, २१३,<br>२१६, २१९, २२०, २२३, २२६,<br>२५९, २६० | प्रमेय दोमेद २१०, के मेदसे  |               | मति                           | १७०, १७३, २२६ |
| -प्रादेशिक                  | २४९   | प्रमाण मेद २१०, २११, धर्म.  |               | मतिज्ञान                      | २२६, २४४      |
| -विश्वता                    | २३७   | कीर्ति संमत एक २११, जैन     |               | -की प्रत्यक्षता               | २४३           |
| -बौद्धकृतकक्षण              | २३८   | मतकी तुलना २१३ पंच          |               | मय                            | १५४           |
| -जैनविका                    | २३८   | ज्ञानकी अपेक्षासे २१६,      |               | -का निषेध                     | २४८           |
| -स्पष्टता और विश्वतामें मेद |   | कथंयका मत २१६, की अने-      |               | मन्त्रव्य                     | १८५           |
| २३८, -मेद                   | २४१   | कान्तात्मकता                | २५८           | महेश्वर                       | १२६           |
| -सांध्यव्यवहारिक            | २४४   | प्रयोजनादिभव                | १३०           | मातृसंप्रत्यक्ष               | २४६, २४९      |
| प्रत्यभिज्ञा                | २४७, २६०  | प्रवर्तकत्व                 | १३५           | -स्वसंवेदन है                 | २४८           |
| प्रत्यभिज्ञान               | २२३, २२४, २२६   | प्रकृतिसामर्थ्य             | १५१           | माया                          | १७०, १७६, १७७ |
| -अन्तर्भाव                  | २६८   | प्रतिज्ञाधीनवाति            | १६२           | मिथ्याज्ञान                   |               |
| प्रपञ्च                     | १६५   | प्रतिभ                      | २४८           | -का जवरामिके मतमें अभाव       | १५७           |
| प्रमाण                      |   | के विषयमें नामात्म          | २४३           | -मुक्त और व्यावहारिक १५८      |               |
| -भगवान्                     | १२७   | साम्यचार्यसंमत आमात्राणव    |               | -मातृसमायकी दृष्टिसे १५९      |               |
|                             |   | २४९                         |               | -धार्मिककी अकृपाति १६०        |               |
|                             |   | प्रपकरव                     | १३५           | -माध्यमिककी अकृपाति           | १६१           |
|                             |   | प्रमाणव                     |               |                               |               |

|                                 |                 |                                 |                                |                |
|---------------------------------|-----------------|---------------------------------|--------------------------------|----------------|
| -सांख्यिकी                      | अतिबोधव्याप्ति  | -कुमारिकसंमत उभयात्मकता         | व्यवसाय                        | १४८, १५०, १५१, |
|                                 | १६२             |                                 |                                | २५९,           |
| -योगाचारकी                      | आत्मकमति        | -स्वभावद्वारा उत्तर             | व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभाव       |                |
|                                 | १६३             | -की उत्पत्ति-व्यवस्थाव्यात्मकता |                                | २६६            |
| -मीमांसककी                      | कौटिलिकार्थ-    |                                 | व्यवहारमय                      | २८३            |
| -कमति                           | १६६, -प्रभाकरकी | -संस्कृतका कक्षण                | व्यापार                        | २६३            |
| अवस्थाति                        | १६६             | वाच्यवाचकभाव                    | व्याप्ति                       | २७१            |
| -नैयायिकविकी                    | विपरीत          | वास्तव्य १३९, १४८, १६१, १६४,    | -ग्रहण                         | २७१            |
|                                 |                 | १६५, १७०, १७६, १९३, २१५         | व्यावृत्ति                     | १४३            |
| कमति                            | १६९,            | विकल्पवृत्ति                    | मेव                            | १३९, २५१       |
| दोषमीमांसा                      | १६९             | विचारकत्व                       | व्यावृत्त्यनुगमात्मक           | २५५            |
| -प्रत्यक्षेतरजन्य               | १७०             | विजातीयव्यावृत्ति               | क्षयित                         |                |
| -सहज और आहार्य                  | १७०             | विज्ञान                         | -की कल्पनाका बीज               | १७६            |
| -प्रामाण्यविचार                 | १७२             | विद्या                          | -का स्वरूप                     | १७६            |
| मिथ्यात्व                       | १५७, १७६        | विधिबिकल्प                      | -धर्मवादीके मतसे               | १७६            |
| मिथ्यामयत्व                     | १५७             | विनाश                           | -शब्दाद्वैतीके मतसे            | १७७            |
| मुद्रा-भण्डक                    | १८५             | विपरीतकमति                      | -धर्मकीर्ति और प्रभाकरका       |                |
| मेवकल्पता                       | २६५             |                                 | मत                             | १७७            |
| संसार्य                         | १६३             | विपर्यय                         | -शंकरका मत                     | १७८            |
| साम                             | १७९             | -सहज और आहार्य                  | -वैशेषिक नैयायिकका मत          |                |
| सोमिज्ञान                       | १६३             | विभंग                           |                                | १७८            |
| योग्यता                         | १४१, १८०        | विग्रह                          | -मीमांसकका मत                  | १७९            |
| रक्षण                           | २०३             | विवक्षा                         | -के दो प्रकार                  | १८०            |
| रूप १९३, २८१, -परमाणु           | २८२             | -का भूक                         | -सक्रिय-निष्क्रिय              | १८०            |
| रूपकपित्व                       | १७५             | विवेकावस्थाति                   | -का भाव                        | १८०            |
| रक्षण                           | १३६             |                                 | -अमूर्त                        | १८१            |
| कक्ष-कक्षका तादात्म्य १३६,      |                 | विवेकाग्रहण                     | -अपूर्व और भावकर्मकी           |                |
| १३७, का अनुवाद या विधान,        |                 | विशेष २५२, २४, २५५, १५९,        | सूचना                          | १८१            |
| १३६, आत्मोक्त-प्रमाणभूत         |                 | विशेषणविशेषभाष                  | -प्रभाकरोंका मत १८१, -का       |                |
|                                 | १३६             |                                 | मेवामेव १८१, -सुखादिते         |                |
| कौटिलिकार्थ                     | १६६             | विषयदोष                         | भिन्न १८१, जैनमत १८२-          |                |
| जन                              | १४५, १९६        | विषयव्यवस्थापक                  | नित्यानित्य १८२, सांख्यमत      |                |
| वस्तु                           |                 | विवरण                           | १८२, - शंकराचार्यका मत         |                |
| -बौद्धके मतसे क्षयिक १३८,       |                 | -की पूजाकी सफलता                | १८२, - धर्मकीर्ति १८३, -ग्राहक |                |
| १४९, २५८, २८०, जैनसंमत          |                 | वैकल्प्य                        | प्रमाण १८३-वस्तुका कक्षण २६२   |                |
| व्यवस्थाप्यव्यवस्थापक १४९, २१३, |                 | -का नियामक                      | शब्द                           |                |
| २१४, वस्तुमेवका आधार            |                 | वैशय                            | वाक्यार्थमें अप्रमाण १३३       |                |
| १३८, १३९, वस्तुमेवका आधार       |                 | -जैन-बौद्धविकी दृष्टिसे         | साब्दिक व्यवहार सांख्यिक       |                |
| नामसेव नहीं १७३, की अनेक        |                 | -के भावा कक्षण                  |                                | १३६            |
| प्रकारसे निश्चि १३६, धर्म-      |                 | वैसाद्वयशास                     | ब्रह्म २५८, १७७, २५४, २५७      |                |
| कीर्तिकृत उभयात्मकता का         |                 | व्यंजनपदार्थ                    | नय                             | २२६            |
| निरास                           | २१४             | व्यभिचारिज्ञान                  | नाकद                           | २१८            |
| -धर्मकीर्तिसंमत वस्तुके दो रूप  |                 | व्यय                            | न्याय                          | १३१            |
|                                 | २१५             |                                 |                                |                |

| शाब्द   | मीमांसकमत १४५, जैनमत १४५, नव्यनैयायिकमत १४६ | सांख्यका अमित्र सामान्यवाद ५३८         |
|---|---|--|
| प्रक्रियामेदसे मेव १७५  | समवाधिकारण २५८                              | -वेदान्तमत २५४                         |
| प्रक्रियाका विकास १७५   | समारोपव्यवच्छेदक १५०                        | -व्यवच्छेदीका मत २५४                   |
| प्रवृत्ति-कहेत, कक्षण प्रवृत्ति- १३२, शरीर-शब्दरूप, अर्थरूप १३२, साकार्य संग्रहके तीनरूप १३२  | समारोपव्यवच्छेदक १५१                        | -मीमांसकोका भिन्नाभिन्न सामान्यवाद २५४ |
| श्रुत १७०२, ४७, ज्ञान २२६, दूरवेक्षण वस्तुका अस्पष्ट दर्शन श्रुत है वा नहीं ? २४०, ज्ञान के तीन भेद २४० निःश्रुत २६८, अज्ञान १७०, १७१ | सर्वज्ञ २३३, २०८                            | -जैनमत २५७                             |
| संकलना २२३  | सन्निकट २५९                                 | -तिर्यगुच्चीता सामान्य २५७             |
| संकलनात्मक २२०  | सन्निकट्यक १६४                              | -जैनमतकी मुकना २५८, २६०                |
| संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्ति २२५, २२७  | सहोपक्रमनियम २५०                            | देखो, जालि                             |
| संतान २०६, २०७  | साक्षात्कारित २३७                           | सामान्यविशेषात्मक २५५                  |
| संप्रयोग १७१  | सादृश्य २२०, २२१, २२२                       | साक्य २६५                              |
| संबन्ध १३१, २१५, २७१, संयोग   | -कुमारिककृत कक्षण २२७                       | प्रत्यक्ष २२२                          |
| वैशेषिक-नैयायिकमत १३७, बौद्धमत १३७, वेदान्तमत १३८, जैन १३९, मीमांसकमत १३९   | -सामान्यसे भिन्न २२८                        | साक्यमन १६१                            |
| संवादकज्ञान १७४   | -नैयायिकमत २२८                              | सिद्धदर्शन २४६                         |
| संवादकत्व १५१   | -बौद्धमत २२८                                | मुक्त                                  |
| संवृत्तिसत्य २८२  | -प्रतिव्यक्ति भिन्न १३९                     | -की धर्मकीर्तिसंमत ज्ञानरूपता १५५      |
| संशय १५७  | -प्रमाण २६५                                 | -ज्ञानसंमत ज्ञानसे भेद १५५             |
| संस्कार १८०, १८१  | -ज्ञान २२०, २२१, २२७                        | -न्यायवैशेषिकसंमत ज्ञानभेद १५५         |
| सत्त्ववाति १६२, १६९   | -वैसादृश्यज्ञान २२२                         | -प्रकृतिका परिणाम १५५                  |
| सत्य २८०, २६२   | साधकत्व १४०, १५०                            | सुनिश्चितासंभवज्ञावकत्व १५१            |
| सदृशपरिणति २५७  | साधकत्वसत्त्व १५१                           | सुपुत्ति १६१                           |
| सदृशपरिणाम २५८  | सामर्थ्य १८०                                | सेना १९६                               |
| सन्निकट १३७, १४०, प्रमाण १४०, कुमारिकमत १४१   | सामान्य १६४, १९७, २३६                       | जीमोक्ष २८५                            |
| जैनमत १४१, के छः भेद १४१, शास्त्रिकनाथका मत १४१   | -धर्मकीर्तिकृत निराकरण १८९                  | स्कंध १९५                              |
| सहभंगी २६४  | -अवयवीके साथ मुकना १९३                      | स्थिति २८१                             |
| समवाय १४२, अद्वैतवादमत १४४, २५४, सांख्यमत १४४   | -स्वलक्षणका पररूप २१२                       | स्थूलद्रव्य १९२                        |
|   | -सामान्य २१२                                | स्थूलपदार्थ १९३                        |
|   | -वासनामूलक २१५                              | नागामत १९३                             |
|   | -अवस्तुभूत २१४                              | स्पष्टत्व २३७                          |
|   | -वस्तुभूत २१४                               | समुत्ति २२३, २२४, २२५                  |
|   | -परोक्ष २१४                                 | -मात्रसप्रत्यक्षरूप २४४                |
|   | -अपूर्वतासामान्य और सामान्य का प्रत्यय २२६  | -प्रमाण २४८                            |
|   | -आवर्तिका मत २५०                            | -प्रमोद १६७, १६८, १६९, १७३             |
|   | -बौद्धोंका अवस्तुरूप सामान्यवाद २५१         | -साप्तरक्षित २२२, २२५                  |
|   | -वैशेषिकादिका भिन्न सामान्यवाद २५२          | -अवन्त २२७                             |
|   | -प्राभाकरोंका मत २५३                        | -परोक्षान्तर्गत प्रमाण २६८             |

| स्वप्न                     | सङ्ग्रहण | १६४, १९७,          | हिताहितार्थ    | १२५                        |
|----------------------------|----------|--------------------|----------------|----------------------------|
| मानसशास्त्रकी दृष्टिसे     | १५९      | सामान्यसे वैद्यक्य | २११            | हेतु                       |
| मानस प्रत्यक्ष है          | २४७      | स्वसंवेदन          | १४८, १५१, १५६, | काकादि धर्मिको मानकर पक्ष- |
| केशवमिश्रके मतसे स्मृतिरूप | २४८      |                    | २४८, २४९       | धर्मत्व                    |
|                            | २४८      | शास्त्राचार्यका मत | २४८            | हेतुनास                    |
| शास्त्राचार्यका मत         | २४९      | स्वार्थनिर्मिति    | १५१            |                            |
| रामानुजका मत               | २६३      | स्वार्थव्यवसाय     | १५०, १५१       | विषयक वार्तिककी तुलना      |
| स्वप्रकाश                  | १४८      | स्वार्थविगमरथ      | १५१            | २७३                        |

---

सरस्वती पुस्तक भंडार

हाथीखाना, रतनपोल

अमदावाद - 380001